GL H 615.536
CHA V 1
125794
LBSNAA

लाल बहादुर ... अकादमी
L.B.S. Nati... istration
MUSSOORIE

पुस्तकालय
LIBRARY

अवाप्ति संख्या
Accession No. 14071

वर्ग संख्या
Class No. 615.536

पुस्तक संख्या
Book No. चरक भाग-1

॥ श्रीः ॥

महर्षि अग्निवेश प्रणीत

चरक-संहिता

चरक और दृढ़बल से प्रतिसंस्कृत

(हिन्दी अनुवाद)

सूत्र-निदान-विमानात्मक

प्रथम खण्ड

अनुवादक—

कविराज श्री अत्रिदेवजी गुप्त,

विद्यालंकार, भिषग्रत्न

(गुरुकुल विश्वविद्यालय)

प्रकाशक—

भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, बनारस।

ब्राञ्च—कचौड़ीगली, बनारस।

द्वितीय संस्करण]

सर्वाधिकार स्वरक्षित

[मूल्य १२)

दो शब्द

श्रीचरकसंहिता आयुर्वेद में एक सर्वमान्य पुस्तक है। इसका पठन पाठन आयुर्वेद के विद्यार्थि के लिये अति आवश्यक है। वास्तवमें चरकसंहिता का तथा दूसरे ग्रन्थों का स्पष्टीकरण जितना पढ़ाने में होता है, उतना पढ़ने के समय नहीं होता। यही कारण है कि आयुर्वेद सम्प्रदाय के मुख्य आचार्य श्री गंगाधर जी कविराज, श्री योगीन्द्रनाथ सेन जी श्रीचरकसंहिता पर जल्पकल्पतरु और चरकोपस्कार टीकायें लिखकर आयुर्वेद के प्रेमियों का बहुत उपकार किया। इनमें चरकोपस्कारभाष्य तो विद्यार्थियों के लिये बहुत ही उत्तम और लाभ दायक है। पढ़ते समय विद्यार्थी की मनोवृत्ति बहुत ही विचित्र रहती है; खास कर आजकल के आयुर्वेद कोलेज की जीवन में; जब कि उसको पाश्चात्य विद्या भी सत्तर प्रतिशत सीखनी होती है। ऐसी अवस्था में तो वह उत्तीर्ण, होकर उपाधि ही प्राप्त करने का इच्छुक रहता है। इसमें कोई दो चार अपवाद भी होते हैं। यह वृत्ति हमारे यहां ही हो–यह बात नहीं; पाश्चात्य देशों में भी इसका–मनुष्य धर्म के स्वभाव के अनुसार परिचय मिलता है। इसके लिये संक्षिप्त प्रकाशन, या सारांश रूप में पुस्तकें छोटी–छोटी प्रकाशित की जाती हैं। यह पुस्तकें सस्ती, छोटी तथा आवश्यक सब बिषयों से पूर्ण रहती हैं। इनमें विद्यार्थी को जहाँ आर्थिक भार से बचत होती है वहां श्रेणी में सुना सब विषय समझने में सरलता रहती है।

इसी कारण से या अन्य कारणों से बंगला में, मराठी में या तेलगु में जो भी अनुवाद चरकसंहिता या दूसरे आयुर्वेद ग्रन्थोंके हुए हैं, वे सस्ते, तथा मूल के साथ साथ अनुवाद रूप में ही हैं। उनको स्पष्ट करने के लिये किसी भी अर्वाचीन रूप की सहायता नहीं ली गई और इन ग्रन्थों के पढ़ने से सफल वैद्य बने हैं, ऐसा हमारे देखने में भी है।

मेरी अपनी मान्यता यह है कि आयुर्वेद के विचारों को आयुर्वेद के ही दृष्टि कोण से देखा या समझा जा सकता है; और इन्हीं के दृष्टि कोण से देखने और समझने की कोशिश करनी चाहिये। इस अर्वाचीन चिकित्साशास्त्र से हमारे शास्त्र का समन्वय सिद्धान्तों में हो ही नहीं सकता। दोनों पद्धतियां भिन्न हैं, और भिन्न रहेंगी यह कोई आवश्यक नहीं कि दोनों को एक किया जाय। होम्योपैथ अपनी पद्धति का ऐलोपैथी के साथ गोट-जोड़ा नहीं करता। 'आयुर्वेद'

शब्द और 'एलोपैथी' ये दोनों शब्द ही भिन्न हैं, और इनके अर्थों में तो जमीन और आसमान का अन्तर है। इतनाही नहीं अपितु छत्तीस का सम्बन्ध है। फिर दोनों कैसे एक हो सकते हैं। इसलिये इस प्रकार को मिलाकर पुस्तकें लिखना-प्राचीन ग्रन्थों के प्रति न्याय मैं नहीं समझता। साथ ही आधुनिक विज्ञान प्रति दिन उन्नति पर है, आज से पच्चीस साल के पहले के सिद्धान्त-आज बहुत कुछ बदल गये; आज के सिद्धान्त-कल नहीं बदलेंगे यह कोई नहीं कह सकता। ऐसी अवस्था में इन पुस्तकों में केवल अंग्रेजी पुस्तकों का उलथा देना युक्तिसंगत मैं नहीं समझता।

इन सब बातों का विचार करके मैंने आयुर्वेद के दृष्टिकोण का विचार करते हुए विद्यार्थियों की दृष्टि से, उनकी रुचि के अनुसार यह अनुवाद किया है। यह अनुवाद आज से बीस साल पहले का है, इस संस्करण में भी इसकी पुनरावृत्ति नहीं कर सकता। केवल कुछ थोड़े से स्थानों को छोड़कर। क्योंकि संस्करण बहुत दिनों से समाप्त था विद्यार्थियों की मांग थी। इसलिये इसको प्रकाशित करना जल्दी थी। प्रथम प्रकाशक-श्री आर्यसाहित्य मण्डल लिमिटेड अजमेर वालों को कई बार इसके लिये कहा-परन्तु लड़ाई के कारण तथा अन्य असुविधा के कारण वे इसका प्रकाशन नहीं कर सके। कानून के अनुसार पब्लिशर बनने का या पब्लिश करने का सबको अधिकार नहीं। इसके सिवाय कागज की असुविधा। इसलिये मुझे किसी ऐसे पब्लिशर की इच्छा थी जो इस समय इन असुविधाओं में भी इसका प्रकाशन शीघ्र कर दे। श्रीकैलाशनाथजी भार्गव अमर मालिक भार्गव पुस्तकालय काशी वाले से पत्र व्यवहार हुआ। और अब तो उन्होंने इसको छापना भी स्वीकार किया जिसका फल यह है कि इस समय में कागज कम्पोजिटर आदि की कठिनाई होते हुए भी यह छप सका। इसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं। अग्रिम संस्करण में सम्भव हुआ तो इसकी पुनरावृत्ति हो सकेगी।

आशा है कि जिस प्रकार वैद्य समाज ने, विद्यार्थियों ने इसकी पहला संस्करण अपनाया था उसी प्रकार इसका यह भी दूसरा संस्करण अपनायेंगे। इति शम्

गुरुकुल कांगड़ी
१-७-४८

अत्रिदेवगुप्त

चरक-संहिता

विषय-सूची

सूत्रस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः (पृ० १–२८)

दीर्घञ्जीवितीयः—ऋषिभरद्वाज का इन्द्र के पास गमन। रोगों का प्रादुर्भाव। ऋषियों की सभा। रोग शान्ति के उपाय पर विचार। इन्द्र के पास जाने के लिये भरद्वाज का निश्चय भरद्वाज का इन्द्र से त्रिस्कन्ध आयुर्वेद का ग्रहण। भरद्वाज से ऋषियों का आयुर्वेद-अध्ययन। आत्रेय पुनर्वसु का छः शिष्यों को उपदेश। प्रथम तन्त्र-प्रणेता अग्निवेश। भेड आदि अन्य तन्त्रकार। आयुर्वेद का लक्षण। आयु का लक्षण आयु के पर्यायवाची शब्द सामान्य और विशेष। आयुर्वेद के प्रकाश करने का प्रयोजन। द्रव्य। गुण। इन्द्रियों के अर्थ। कर्म। समवाय। द्रव्य का लक्षण। गुणों का लक्षण। कर्म का लक्षण। सामान्य आदि छः कारण उनके कार्य धातुओं के विषम होने का कारण। सुख दुःखों का आश्रय आत्मा का स्वरूप। रोगप्रकृति रोगों का प्रतीकार और उनके भेद। वायु का लक्षण पित्त का लक्षण कफ का लक्षण। साध्य रोगों की शान्ति रसों की उत्पत्ति। रसों द्वारा दोषों की शान्ति द्रव्य के भेद जंगम द्रव्य भौम द्रव्य। औद्भिद द्रव्य के चार भेद उनके अंग। मूलिनी वनस्पतियां उनकी गणना इनके कर्म। फलिनी वनस्पतियां इनके कर्म। चार प्रकार के स्नेह इनके कर्म आठ प्रकार के मूत्र। मूत्रों के सामान्य गुण। आठ प्रकार के दूध उनके सामान्य गुण। दूध के कर्म। दूध वाले वृक्ष उनके गुण। उपसंहार। औषधि ज्ञान का प्रयोजन, न जानी हुई औषधियों से हानियां। वैद्य के कर्त्तव्य। अध्याय संग्रह।

द्वितीयोऽध्यायः (पृ० २८–३७)

अपामार्गतण्डुलीयः—शिरोविरेचनोपयोगी द्रव्य। वमनकारक द्रव्य। विरेचन द्रव्य। आस्थापन और अनुवासन के द्रव्य। मात्रा और काल के विचार की आवश्यकता। रोगियों के लिये विशेष आहार द्रव्य, यवागू और विलेपीपाक। उपसंहार।

तृतीयोऽध्यायः (पृ० ३७–४५)

आरग्वधीयः—त्वक्-रोगोंपर ३२ योगों का वर्णन

चतुर्थोऽध्यायः (पृ० ४५–६२)

षड्विरेचनशताश्रितीयः—विरेचन का शब्दार्थ संशमन चिकित्सा। विरेचन के छः सौ योग विरेचन ओषधियों के ६ आश्रय कषाय की पांच योनियां। कषाय कल्पना की ५ विधि। कषायों के लक्षण। महाकषाय। ५०० कषायों की कल्पना। उत्तम वैद्य।

पञ्चमोऽध्यायः (पृ० ४५–८५)

मात्राशितीयः—आहार की मात्रा आहार के चार प्रकार। मात्रा में खाने का फल। स्वस्थवृत्त। धूम्र प्रयोग की विधि। स्नैहिक धूम वैरेचनिक धूम। धूम्रपान के गुण। धूम्रपान के आठ काल। ठीक प्रकार से पान किये हुए धूमपान का लक्षण। अधिक धूम्रपानसेउत्पन्न उपद्रव और उनकी चिकित्सा। धूम्रपान के अयोग्य जन। धूम पीने की विधि। धूमपान के आसन। नलिका की बनावट। अयोग्य रूप में पिये धूम के लक्षण। अतियोग के रूप में धूमपान के लक्षण। नस्य प्रयोग। अणु तैल की विधि। दन्तधावन की विधि। दातुन करने से लाभ। जीभ को साफ़ करने की विधि। दातुन के लिये उत्तम वृक्ष स्नेहगण्डूष के गुण। शिर पर तैल लगाने से लाभ। कान मे तैल डालने से लाभ। शरीर पर तैल लगाने की विधि। पांव में तैल मर्दन के गुण। उबटन लगाना। स्नान का फल। स्वच्छ वस्त्र पहिनने के गुण। गन्ध माला आदि धारण करने के गुण। रत्न, आभूषण आदि धारण करने से लाभ। दीर्घायु के लिये आवश्यक शुचिकर्म : जूता पहिनने के गुण। दण्ड धारण के गुण। संक्षेप से स्वस्थवृत्त। उपसंहार।

षष्ठोऽध्यायः (पृ० ८५–९४)

तस्याशितीयः—भोजन पर आश्रित आदान और विसर्ग काल का वर्णन। दो अयन। हेमन्तकाल की परिचर्या। हेमन्त ऋतु में त्याज्य। वसन्त की ऋतुचर्या। ग्रीष्मचर्या–वर्षाकाल की ऋतुचर्या। शरद्ऋतु की परिचर्या। हंसोदक का लक्षण। ओकःसात्म्य। उपसंहार।

सप्तमोऽध्यायः (पृ० ९४-१०६)

न वेगान्धारणीय:—मल मूत्र आदि के न रोकने का आदेश। उनके रोकने से हानियां और चिकित्सा। मन के निन्दित कार्य। वाणी के निन्दित कर्म-शरीर के निन्दित कर्म। व्यायाम से लाभ। अधिक व्यायाम से हानियाँ। हितकारी कार्यों के सेवन का क्रम। प्रकृति। तदनुसार हित सेवन का उपदेश-कारण से उत्पन्न होने वाले रोगों से बचने के उपाय। आगन्तुज रोगों के प्रतिकार। सेवन करने योग्य मनुष्य। उपसंहार।

अष्टमोऽध्यायः (पृ० १०७-११९)

इन्द्रियोपक्रमणीयः—इन्द्रिय और उनके अर्थ और मन का वर्णन। पांच इन्द्रिय, उनके ग्राह्य पांच द्रव्य। उनके पांच ग्राह्य अर्थ। अध्यात्म गुण। द्रव्याश्रित कर्म। इन्द्रिय और उनके साथ

ग्राह्य विषयों के समयोग, अयोग, हीनयोग मिथ्यायोग और अतियोग। उनके परिणाम। सद्वृत्त शिक्षा। भोजन विषयक सद्वृत्त। शौचसद्वृत्त। स्त्रियों के सहयोग में सद्वृत्त। गुरुजनों के प्रति सद्वृत्त। अध्ययन के सम्बन्ध में सद्वृत्त। शिष्टाचार। इति स्वस्थचतुष्कः।

नवमोऽध्यायः (पृ० ११९-१२३)

खुड्डाकचतुष्पादः—चिकित्सा के क्षुद्र चार चरण। चिकित्सा का लक्षण। वैद्य के गुण। द्रव्य के गुण। परिचारक के गुण-रोगी के गुण। चिकित्सा के मुख्य कारण-वैद्य। मूढ़ वैद्य-उसके दोष। उपसंहार।

दशमोऽध्यायः (पृ० १२३-१३०)

महाचतुष्पादः—चिकित्सा का प्रयोजन। चिकित्सा करने और न करने पर विचार-मैत्रेय-आत्रेय संवाद। चिकित्सा की प्रत्यक्ष सफलता। रोगों के साध्यासाध्य पर विचार। सुखसाध्य—कृच्छ्रसाध्य। साध्य व्याधियों के तीन भेद। असाध्य और याप्य रोग। सुखसाध्य व्याधि के लक्षण। याप्य व्याधि के लक्षण। असाध्य व्याधि के लक्षण। वैद्य का कर्त्तव्य। उपसंहार।

एकादशोऽध्यायः (पृ० १३०-१४८)

त्रिस्रेषणीयः—तीन एषणाओंका वर्णन। प्राणैषणा, धनैषणा, परलोकैषणा। नास्तिकता पर विचार-परलोक और आत्मा की सत्ता पर विचार। नास्तिक मतों का खण्डन। सत् असत् की चार प्रकार की परीक्षा। आप्तों के लक्षण। आप्तोपदेश-प्रत्यक्ष अनुमान-युक्ति। इन के द्वारा पुनर्जन्म का निर्णय। आप्तागम-वेद का निर्णय। प्रत्यक्ष अनुमान युक्ति इन के द्वारा निर्णय। तीन प्रकार के उपस्तम्भ। तीन प्रकार का बल. रोग के तीन आयतन-पांचों ज्ञानेन्द्रिय और मन के अतियोग, अयोग, मिथ्यायोग। सात्म्य-असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग। मिथ्यायोग—प्रज्ञापराध। काल—काल के अतियोग, अयोग, मिथ्यायोग। काल परिणाम। रोग के तीन प्रकार। मानस रोगों की औषध। तीन रोगमार्ग—शाखा मर्मस्थ और कोष्ठ। सात रोगमार्ग। मध्यम रोगमार्ग। आभ्यन्तर रोगमार्ग। भिषक् वैद्य के तीन प्रकार। छद्मचर वैद्य का लक्षण। सिद्ध साधित वैद्य—सद्-वैद्य के लक्षण। औषध के तीन प्रकार—दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय और सत्वावजय। औषध के तीन प्रकार-अन्तःपरिमार्जन-बहिःपरिमार्जन, शस्त्रप्रणिधान। संग्रह।

द्वादशोऽध्यायः (पृ० १४८-१५५)

वातकलाकलीयः—वायु के अंशांश-विकल्पना पर विचार। सांकृत्यायन कुश का मत। कुमारशिरा भारद्वाज का मत। कांकायन का मत। धामार्गव बडिश का मत। वार्योविद का मत। मरीचि का मत। वार्योविदमरीचि-संवाद। मरीचि-काप्य संवाद। पुनर्वसु आत्रेय का मत। उपसंहार।

त्रयोदशोऽध्यायः (पृ० १५८-१७२)

स्नेहाध्यायः—अग्निवेश का प्रश्न पुनर्वसु का प्रतिवचन। स्नेहों के दो प्रकार के उत्पत्तिस्थान—स्थावर और जंगम। सब तैलों में सर्वश्रेष्ठ तिल तैल और स्नेहों में घृत। स्नेहों के गुण स्नेहपान गुण—उससे हानियाँ। स्नेह की २४ प्रकार की प्रविचारणाएं। स्नेह की तीन मात्रा प्रधान, मध्यम, ह्रस्व। कौनसा स्नेह किसके लिये हितकारी। स्नेह के अयोग्य व्यक्ति। स्निग्ध, अस्निग्ध, अति स्निग्ध के लक्षण। स्नेहन कालमें हिताहित। उपसंहार।

चतुर्दशोऽध्यायः (पृ० १७२-१८४)

स्वेदाध्यायः—स्वेदविधि। स्नेहन, स्वेदन के गुण—उपयोगिता—उसके परिणाम। स्वेदन की अवधि—अतिस्वेदन के लक्षण और उपचार। स्वेदन देने योग्य व्यक्ति। स्वेद-योग्य व्यक्ति। स्वेदन द्रव्य। नाड़ीस्वेद। उपनाहविधि। संकरस्वेद। प्रस्तरस्वेद। नाड़ीस्वेद। परिषेकस्वेद। अवगाहस्वेद जेन्ताकस्वेद। अश्मघनस्वेदविधि। कर्षूस्वेद। कुटीस्वेदविधि। भूस्वेदविधि। कुम्भीस्वेदविधि। कूपस्वेद। होलाकस्वेद। अग्निरहित स्वेद। स्वेदके दो प्रकार, अग्निस्वेद, निरग्नि—इनके भेद। उपसंहार।

पञ्चदशोऽध्यायः (पृ० १८४-१९५)

उपकल्पनीयः—चिकित्सा के पूर्व उचित साधनों के संग्रह का प्रयोजन। आयुर्वेद के ज्ञान-अज्ञान की तुलना—अग्निवेश-आत्रेय संवाद। संशोधन के उपयोगी नाना प्रकार के उपकरणों का संग्रह। स्नेहन, स्वेदन की विधि। वमन के अयोग, सम्यक्योग और अतियोग के विशेष लक्षण। उत्तर उपचार-उपसंहार।

षोडशोऽध्यायः (पृ० १९५-२०८)

चिकित्साप्राभृतीयः—सद् वैद्य और असद् वैद्य के प्रयोगों में भेद। सम्यक् विरेचन के लक्षण। विरेचन के अतियोग के लक्षण। संशोधन योग्य व्यक्ति। संशोधन का फल। अतियोग होने पर क्या करना चाहिये। धातुओं की समता और विषमता पर विचार। उपसंहार।

सप्तदशोऽध्यायः (पृ० २०८-२३०)

कियन्तःशिरसीयः—शिरोरोग, हृद्रोग, वात आदि दोषों के संसर्गों से उत्पन्न रोग क्षय-और-पिडका और दोषों की गति के सम्बन्ध में अग्निवेश का प्रश्न। गुरु आत्रेय पुनर्वसु का प्रतिवचन। सिर में उत्पन्न होने वाले पांच प्रकार के शिरोरोग। वातजन्य शिरोरोग के लक्षण। पित्तजन्य, कफजन्य और त्रिदोषजन्य शिरोरोग के लक्षण। पांच प्रकार के हृदय रोग। वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य, और त्रिदोषजन्य हृदयशूल के लक्षण। कृमिजन्य हृद्रोग के लक्षण। वात आदि दोषों के संसर्ग से उत्पन्न विकारों के ६२ भेद। दोषों के उपद्रव। अट्ठारह प्रकारके क्षय। ओज का स्वरूप। क्षय के कारण।

मधुमेह के कारण। सात पिडकाएं। विद्रधि, पिडका। विद्रधि का निदान स्राव के लक्षण। साध्य-असाध्य विद्रधि के लक्षण। मेद के दोष से उत्पन्न पिडकाएं—शराविका, कच्छपिका, जालिनी। सर्षपी, अलजी, विनता आदि—इनके उपद्रव दोषों की तीन प्रकार की गति। तीन प्रकार की और गति, संचय, प्रकोप और शमन—संचय के दो भेद—प्राकृत और वैकृत। उपसंहार।

अष्टादशोऽध्यायः (पृ० २२१-२३१)

त्रिशोथीयः—तीन प्रकार का शोथ (सूजन)—उसके पुनः दो प्रकार निज और आगन्तु। आगन्तु शोथ का निदान-चिकित्सा। निज शोथ के कारण और सामान्य लक्षण। वातजन्य शोथ के लक्षण। शोथ के दो, तीन, चार, और सात प्रकार। वात, पित्त, कफ और सन्निपात आदि से उत्पन्न शोथों के लक्षण। कष्टसाध्य शोथ। शोथ के उपद्रव। उपजिह्विका, गलशुण्डिका, गलगण्ड, गलग्रह, विसर्प, पिडका और शंखक के लक्षण। गुल्म, प्लीहा, उदर, आनाह, का लक्षण। रोहिणी रोग,। मृदु, दारुण भेद से साध्य-असाध्य रोग के लक्षण। पीड़ा, वर्ण, समुत्थान, कारण, स्थान, संस्थान नाम भेद आदि के कारण रोग के असंख्य भेद। दोषों के प्राकृत और विकृत के लक्षण। उपसंहार।

ऊनविंशोऽध्यायः (पृ० २३१-२३७)

अष्टोदरीयः—उदर रोग आदि ४८ प्रकार के रोगों की गणना और उनके भेदों के नाम से निर्देश। आठ प्रकार के उदर रोग। सात प्रकार के कुष्ठ। छः प्रकार के अतीसार। पांच प्रकार के गुल्म। चार प्रकार का अपस्मार। तीन प्रकार का शोथ। दो प्रकार का ज्वर। दो प्रकार के व्रण—दो आयाम—दो प्रकार की गृध्रसी—दो प्रकार का कामला—दो प्रकारका आम दो प्रकार का वातरक्त—एक प्रकार का ऊरुस्तम्भ—एक प्रकार का संन्यास—एकप्रकार का महागद। बीस प्रकार की क्रिमि जातियाँ—बीस प्रकार के प्रमेह—बीस प्रकार के योनिरोग। उपसंहार।

विंशोऽध्यायः (पृ० २३७-२४६)

महारोगाः—चार प्रकार के रोग, इनकी समानता, लिंग और आयतन भेद से असंख्य रोग—उनका भेदक कारण। दो प्रकारके विकार—सामान्य और नानात्मज। अस्सी प्रकार के वातविकार। चालीस पित्तविकार। उनके लक्षण। बीस कफजन्य रोग। उनके लक्षण। उपसंहार।

एकविंशोऽध्यायः (पृ० २४६-२५५)

अष्टौनिन्दितीयः—आठ निन्दित पुरुष। विशेष रूप से निन्दित दो, अतिस्थूल और अतिकृश स्थूल पुरुष के दोष, कारण और लक्षण। अतिकृश के दोष, कारण और लक्षण। आदर्श पुरुष। स्थूल को कृश बनाने के लिये उपाय। कृश रोग की चिकित्सा। निद्रा के उचित सेवन से लाभ। दिन में सोने के योग्य व्यक्ति,

उनको दिन में सोने से लाभ। दिन में सोने का उचित काल-ग्रीष्म ऋतु–अन्य ऋतुओं में दिन में सोने से हानियाँ। रात्रिजागरण के दोष। निद्रोत्पादक उपाय। अनुचित निद्रा को रोकने के उपाय। उपसंहार।

द्वाविंशतितमोऽध्यायः (पृ०२५६-२६१)
लंघनबृंहणीयः—वैद्य का लक्षण लंघन, बृंहण, स्नेहन, स्तंभन के सम्बन्ध में अग्निवेश का प्रश्न। आत्रेय पुनर्वसु का प्रतिवचन। लंघन, बृंहण, स्वेदन, स्तम्भन के लक्षण। लंघन, बृंहण आदि कारक द्रव्यों के कारण। लंघन के योग्य व्यक्ति। बृंहण के योग्य द्रव्य और व्यक्ति। विरूक्षण करने योग्य व्यक्ति और द्रव्य। स्तम्भन द्रव्य और स्तंभन योग्य व्यक्ति। सम्यक् लंघन और लंघन के अतियोग के लक्षण। सम्यक् बृंहण और बृंहण के अतियोग के लक्षण। रूक्षण के सम्यक्योग और अतियोग। स्तम्भन के सम्यक्योग और अतियोग के लक्षण। लंघन आदि छः क्रियाओं के अयोग, हीनयोग के दुष्परिणाम।

त्रयोविंशतितमोऽध्यायः पृ० २६२-२६६
सन्तर्पणीयः—सन्तर्पणजन्य रोग के कारण। रोगों के लक्षण—उनकी चिकित्सा। अपतर्पण और तज्जन्य रोग—उनका उपशमन।

चतुर्विंशतितमोऽध्यायः पृ० २६७-२७५
विधिशोणितीयः—विशुद्ध रक्त का लाभ। रक्त दूषित होने के कारण और लक्षण। चिकित्सा। विशुद्ध रक्त का लक्षण। विशुद्ध रक्त वाले पुरुष का लक्षण। मद के लक्षण। मूर्च्छा के लक्षण। अपस्मार और संन्यास के लक्षण। इन के उपाय। उपसंहार।

पञ्चविंशतितमोऽध्यायः पृ०२७५-२९१
यज्जःपुरुषीयः—पुरुष और रोग की उत्पत्ति पर ऋषियों का संवाद। पारीक्षि मौद्गल्य का मत पुरुष और रोगों का उपादान कारण 'आत्मा' है। शरलोमा का मत पुरुष और रोगों का उत्पादन 'सत्त्व' है। वार्योविद का मत प्राणियों और रोगों का उत्पत्ति मूल 'रस' है। कुशिक हिरण्याक्ष का मत पुरुष और रोग ६ धातुओं से उत्पन्न होते हैं। शौनक का मत रोगों और पुरुष की उत्पत्ति माता पिता से हुई। भद्रकाप्य का मत कर्म से पुरुष और रोग उत्पन्न होते हैं। भरद्वाज का मत कर्त्ता से स्वभावतः पुरुष और रोग उत्पन्न होते हैं। कांकायन का मत सुख दुःख, चेतन अचेतन का कर्त्ता प्रजापति है। आत्रेय भिक्षु का मत पुरुष और रोगादि काल से उत्पन्न होते हैं पुनर्वसु आत्रेय का सिद्धान्त पञ्च महाभूतों से पुरुष और उनसे ही रोग उत्पन्न हुए। इस पर पुरुषों और रोगों की वृद्धि के कारण के विषय में काशिपतिवामक का प्रश्न। भगवान् आत्रेय का प्रतिवचन हिताहित सेवन। अग्निवेश आत्रेय संवाद हित अहित का लक्षण। आहार द्रव्य पर विचार। हित आहार।

अहित आहार। हित और अहित उपयोगी द्रव्य। श्रेष्ठ द्रव्य। श्रेष्ठ का लक्षण। द्रव्यों के नौ उत्पत्ति स्थान। उपसंहार।

षड्विंशोऽध्यायः (पृ० २९१–३२२)

आत्रेयभद्रकाप्यीयः—ऋषि संवाद। रस के विषय में भद्रकाप्य का मत रस एक है ब्राह्मण शाकुन्तेय का मत रस दो हैं पूर्णाक्ष मौद्गल्य का मत रस तीन हैं हिरण्याक्ष कौशिक का मत रस चार होते हैं कुमारशिरा भरद्वाज का मत रस पांच हैं। वार्योविद् का मत रस छः हैं वैदेह निमि का मत रस सात हैं धामार्गव बडिश का मत रस आठ हैं बाल्हीक भिषक् कांकायन का मत रस अगणित हैं। पुनर्वसु आत्रेय का मत रस छः हैं रसों की उत्पत्ति, कर्म, रुचि और प्रभाव। रस विवेचन। द्रव्यों के भेद उनके कर्म। कर्म, वीर्य, काल, अधिकरण, उपाय, तथा फल के लक्षण। द्रव्य, देश, काल, प्रभाव से द्रव्यों के ६३ भेद। रसों के भेद, दो दो रस के १५ भेद। तीन २ रसों के बीस भेद। चार चार रसों के १५ भेद। पांच २ रसों के छः भेद। एक २ रस के छः भेद, सर्वयोग ६३ रस। वैद्यप्रशंसा। अनुरस। अतिरिक्त दश गुण। इनके लक्षण। रसों की उत्पत्ति। रसों के अनुसार द्रव्यों के गुण कर्म। मधुर रस। अम्ल रस। लवण रस। बहुत उपयोग से हानियां। कटु रस के गुण अति सेवन से हानियां। तिक्त रस के गुण उसके अति सेवन से हानियां। कषाय रस के गुण और उसके अति सेवन से हानियां। रसानुसारी द्रव्यों का वीर्य। रसों में तर-तमयोग। विपाक। पदार्थों के वीर्य ८ प्रकार के। विपाक का लक्षण, प्रभाव। छः रसों के लक्षण। विरोधी आहारों के लक्षण उनके गुण दोष हितकारी अन्न। कालविरुद्ध, देशविरुद्ध अग्निविरोधी, परस्परविरोधी, सात्म्यविरोधी, दोषविरोधी, संस्कारविरुद्ध, वीर्यविरोधी, कोष्ठविरोधी, अवस्थाविरुद्ध क्रमविरुद्ध, परिहारविरोधी, पाकविरोधी, संयोगविरोधी, सम्पद्विरुद्ध, और शास्त्रविरुद्ध आहारों का वर्णन। विरोधी अन्न सेवन से रोगों की उत्पत्ति। विरुद्ध अन्न सेवन से उत्पन्न रोगों का प्रतिकार। उपसंहार।

सप्तविंशोऽध्यायः (पृ० ३२२–३७४)

अन्नपानविधिः—प्राणरूप अन्न का स्वरूप। प्राणों का मूल जाठराग्नि अन्न इन्धन–अन्नपान विधि का विस्तार से वर्णन। जल, क्षार, घृत, दूध, मद्य, सिरका, फाणित, पिण्याक, दालें, मधु आदि के सामान्य गुण दोष। आहार पदार्थों के १२ वर्ग शूकधान्यवर्ग। शमीधान्यवर्ग। मांसवर्ग। विलेशय वारिशय जलचर जंगलीमृग विकिर प्रतुद प्रसह और आनूप ये मांस के आठ उत्पत्ति स्थान। इन मांसों के गुण। शाकवर्ग। फलवर्ग। हरितवर्ग। मद्यवर्ग। जलवर्ग। दुग्धवर्ग। इक्षु-

वर्ग । कृतान्नवर्ग । आहारयोनिवर्ग । प्रशस्त धान्य । त्याज्य मांस । त्याज्य शाक । अनुपान । उनके गुण । जल के अनुपान के अयोग्य व्यक्ति । खाद्य पदार्थों में गुरु लघु विचार । उपसंहार।

अष्टाविंशोऽध्यायः (पृ० ३७४-३८५)

विविधाशितपीतीयः—शरीर के सब धातुओं का अन्न से सम्बन्ध । आहार से उत्पन्न तीन पदार्थ रस, किट्ट और मल हितअहित आहार और रोग एवं आरोग्यविषयक अग्निवेश का प्रश्न आत्रेय पुनर्वसु का समाधान । धातुगत रोग-रसजन्य रोग । रक्तजन्य, मांसजन्य, मेदजन्य, मज्जाजन्य और शुक्रजन्य रोग । अपथ्याहार से मलों का प्रकोप । धातुजन्य विकारों की चिकित्साओं का निर्देश । उपसंहार । इत्यन्नपानचतुष्कम् ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः (पृ० ३८५-३९०)

दश प्राणायतनीयः—प्राण के दश स्थान । प्राणाभिसर वैद्य के लक्षण । रोगाभिसर वैद्य के लक्षण । छद्मवेषी वैद्यों का वर्णन । उपसंहार ।

त्रिंशत्तमोऽध्यायः

(पृ० ३९१-४०७)

अर्थ दशमहामूलीयः—हृदय में आश्रित दस धमनियां । हृदय के पर्याय । हृदय का महत्त्व । दस महामूल धमनियों का प्रतान । धमनी के पर्याय । सेवन योग्य पदार्थ । आयुर्वेद के ज्ञाता के लक्षण । वाक्यार्थ 'अर्थावयवशः निरूपण' । आयुर्वेद का मूल वेद अथर्ववेद । आयु के समानार्थक पर्याय । आयुर्वेद का लक्षण । आयु का लक्षण । आयुर्वेद की नित्यता आयुर्वेद के आठ अंग । आयुर्वेद के अधिकारी । वैद्य की परीक्षा । चरक तन्त्र के आठ स्थान उनके अध्यायों की पृथक् २ गणना और नाम से निर्देश । तन्त्रयुक्ति । ग्रन्थ संक्षेप । प्रतिवादी उत्पादी वैद्याभास को पराजय करने का प्रकार । तन्त्रविज्ञों और गर्वीले वैद्यों के स्वरूप । उपसंहार । इति सूत्रस्थानम् ॥

निदानस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः (पृ० ४०८-४२१)

ज्वरनिदानम्—निदान के पर्याय। रोग के तीन प्रकार—आग्नेय, सौम्य और वायव्य । निदानात्मक अर्थात् रोग के पर्याय । पूर्वरूप लिंग उपशय, सम्प्राप्ति के लक्षण । सम्प्राप्ति के भेद । ज्वर निदान । वातज्वर के लक्षण । पित्तज्वर सम्प्राप्ति और लक्षण । कफज्वर सम्प्राप्ति और लक्षण । सन्निपात व सांनिपातिक ज्वर । आगन्तुज्वर सम्प्राप्ति-लक्षण । ज्वर-ज्वर के भेद ज्वर के पूर्वरूप ज्वर की उत्पत्ति ज्वर का परिणाम । ज्वर के चिकित्सासूत्र । जीर्ण ज्वर में घृतपान । संस्कार सिद्ध घृत-घृत की श्रेष्ठता । उपसंहार ।

द्वितीयोऽध्यायः

(पृ० ४२१-४२८)

रक्तपित्तनिदानम्—रक्तपित्त का लक्षण । पित्त प्रकोप से रक्त का दोष । लोहित पित्त वा रक्तपित्त नाम पड़ने

का हेतु । रक्तपित्त के पूर्वरूप । रक्तपित्त के उपद्रव । रक्तपित्त के दो मार्ग साध्य असाध्य के विचार । रक्तपित्त का इतिहास । उर्ध्वगामी रक्तपित्त साध्य । अधोगामी रक्तपित्त याप्य । उभयमार्गगामी रक्तपित्त असाध्य । द्विदोषज वा त्रिदोषज रक्तपित्त की चिकित्सा । साध्य रोग के असाध्य हो जाने के कारण । असाध्य रक्तपित्त के लक्षण । उपसंहार

तृतीयोऽध्यायः

(पृ० ४२८-४३६)

गुल्मनिदानम्—गुल्म के पांच भेद—वातगुल्म, पित्तगुल्म, कफगुल्म, निचयगुल्म, रक्तगुल्म । इनके सम्बन्ध में अग्निवेश का प्रश्न । वातगुल्म । सम्प्राप्ति और लक्षण । वात के साथ पित्त प्रकोप के कारण । पित्तगुल्म की सम्प्राप्ति । वात के साथ कफ प्रकोप के कारण । कफगुल्म की सम्प्राप्ति । सान्निपातिक गुल्म । रक्तगुल्म । रक्तगुल्म की सम्प्राप्ति । गुल्म का पूर्वरूप उपसंहार

चतुर्थोऽध्यायः

(पृ० ४३६-४५०)

प्रमेहनिदानम्—प्रमेहों की संख्या । रोगों के विपाक भाव-अभाव । कफप्रमेह के कारण । कफप्रमेह के दूष्य । कफप्रमेह की सम्प्राप्ति । विकृत कफ के दश गुण । कफजन्य दश प्रमेह । जैसे उदकमेह, इक्षुवालिकामेह, सान्द्रमेह, सान्द्रप्रसादमेह, शुक्लमेह, शुक्रमेह, शीतमेह, सिकतामेह, शनैर्मेह, आलालमेह । पित्तप्रमेहों के कारण और सम्प्राप्ति । पित्तजन्य छः प्रमेह । क्षारमेह, कालमेह, नीलमेह, लोहितमेह मञ्जिष्ठामेह और हारिद्रमेह । पित्त प्रमेहों का विशेष विज्ञान । वातजमेह के कारण । उनके प्रकार वसाप्रमेह, मज्जमेह, हस्तिमेह, मधुमेह । सब वातज मेह असाध्य । वातप्रमेहों का विशेष विज्ञान । प्रमेहों के पूर्वरूप । प्रमेह के उपद्रव चिकित्सा । प्रमेह किन को होता है । उपसंहार ।

पञ्चमोऽध्यायः

(पृ० ४५०-४५४)

कुष्ठनिदानम्—कुष्ठ रोग की उत्पत्ति । कुष्ठ के सात भेद । तर-तम भेद से कुष्ठों के असंख्य भेद । कुष्ठ रोग के कारण । कुष्ठ रोग के पूर्वरूप । कापाल कुष्ठ । उदुम्बर कुष्ठ । मण्डल कुष्ठ । ऋष्यजिह्व कुष्ठ । पुण्डरीक कुष्ठ । सिध्म । काकणक कुष्ठ । साध्य असाध्य भेद । उपद्रव । उपसंहार ।

षष्ठोऽध्यायः

(पृ० ४५४-४६३)

शोषनिदानम्—शोष के चार कारण । शोष का कारण साहस, । शोष रोग का कारण वेग-संधारण, । क्षय का विवरण । शुक्रक्षय । शोष का कारण विषमाशन । राजयक्ष्मा शब्द की निरुक्ति । शोष के पूर्वरूप । राजयक्ष्मा के ११ रूप । राजयक्ष्मा के साध्य और असाध्य रूप । उपसंहार ।

सप्तमोऽध्यायः
(पृ० ४६३–४७२)

उन्मादनिदानम्—पांच प्रकार के उन्माद । उन्माद का लक्षण । उन्माद के पूर्वरूप वातोन्माद के लक्षण । पित्तजन्य उन्माद के लक्षण । सान्निपातिक उन्माद । उन्माद की चिकित्सा । आगन्तुज उन्माद । उन्माद का प्रारम्भ । आगन्तुज के लक्षण । आघात काल । उन्माद उत्पन्न करने का प्रयोजन । उन्माद के भेद । उपसंहार ।

अष्टमोऽध्यायः
(पृ० ४७२–४८०)

अपस्मारनिदानम्—चार प्रकार का अपस्मार । निदान और सम्प्राप्ति । अपस्मार का लक्षण । अपस्मार के पूर्वरूप वातजन्य अपस्मार के लक्षण । पित्तजन्य अपस्मार । कफजन्य अपस्मार । सान्निपातिक अपस्मार । चिकित्सा सूत्र । भिन्न २ रोगों की उत्पत्ति । साध्य और असाध्य । रोग ज्ञान का फल । एक रोग के कारण दूसरा रोग । शुद्ध प्रयोग का लक्षण । कारण भेद । लक्षण भेद । चिकित्सा विधान । सुखसाध्य और कृच्छ्रसाध्य । साध्य और असाध्य । उपसंहार । इति निदानस्थानम् ॥

विमानस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः
(पृ० ४८१–४९४)

रसविमानम्—विमानस्थान का प्रयोजन । छः रस तीन दोष । रसों के प्रभाव । द्रव्य के प्रभाव । सात्म्य । सात्म्य के भेद । प्रवर मध्यम और अवर । आहार विधि उसके आठ अंग । करण । संयोग । राशि । देश । काल । उपयोग संस्था । उपयोक्ता । आहार विधि । आहार के सद्गुणों का उपदेश । उपसंहार ।

द्वितीयोऽध्यायः
(पृ० ४९४–५०१)

त्रिविधकुक्षीयं विमानम्—पेट में तीन भाग । आहार की अमात्रा. हीन मात्रा. अधिक मात्रा । उनके दोष आहार की अति मात्रा से हानियां । आमप्रदोष के दो प्रकार-विषूचिका और अलसक । अलसक का स्वरूप । असाध्य अलसक । साध्य अलसक की चिकित्सा । विषूचिका का उपाय । आम प्रदोष में औषध का प्रयोग । अपतर्पण का प्रयोग । अन्न पाचन के सम्बन्ध में अग्निवेश का प्रश्न और आत्रेय पुनर्वसु का उत्तर । उपसंहार ।

तृतीयोऽध्यायः
(पृ० ५०१–५१६)

जनपदोद्ध्वंसनीयं विमानम्—जनपदनाशक रोग के प्रतीकार का उपदेश । जनपदनाशक रोग के फैलने के कारण प्रश्न और उत्तर । आरोग्यनाशक वायु के लक्षण । रोगकारी जल के लक्षण । नाशकारी रोगों के पूर्व, देश में उपस्थित लक्षण । विपरीत ऋतु के लक्षणों वाला काल । आयु-रक्षक उपाय । वायु आदि में विगुणता उत्पन्न होने का

कारण, अधर्म। अधर्म की युगों के अनुसार उत्पत्ति और उसके दुष्परिणाम। आयु के समय और परिणाम विषयक अग्निवेश का प्रश्न तथा आत्रेय ऋषि का प्रतिवचन। दैव और पुरुषकार का लक्षण तीन प्रकार की आयु। आयु का काल। अकाल-मरण पर विचार। काल मृत्यु और अकाल मृत्यु पर विचार। ज्वर में उष्ण जल देने विषयक प्रश्न। आत्रेय का उत्तर। ज्वर में उष्ण जल के गुण। निदान से विपरीत चिकित्सा। अपतर्पण तीन प्रकार के उनके उपयोग के अवसर। त्याज्य रोगी। उपसंहार।

चतुर्थोऽध्यायः

(पृ० ५१९-५२४)

त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीयम्-तीन प्रकार के रोग विशेषों का विज्ञान आप्तोपदेश, अनुमान और प्रत्यक्ष। आप्तोपदेश का निरूपण। प्रत्यक्ष और अनुमान के लक्षण। आप्तोपदेश से क्या जानें। प्रत्यक्ष से क्या जानें। अनुमान से क्या जानें उपसंहार।

पञ्चमोऽध्यायः

(पृ० ५२४-५३१)

स्रोतोविमानम्—शरीर गत अनेक धातुवाही स्रोतों का वर्णन। प्राणवह स्रोतों के दुष्ट होने पर लक्षण. जलवह स्रोत अन्नवह स्रोत। रसवह स्रोत। रक्तवह स्रोत। मांसवह स्रोत। मूत्रवह स्रोत। पुरीषवह स्रोत। स्वेदवह स्रोत। स्रोतों के पर्याय। स्रोतों के प्रकोप के कारण। स्रतों के दोष का लक्षण। स्रोतों के प्रकृतिसिद्ध रूप। उपसंहार।

षष्ठोऽध्यायः (पृ० ५३१-५४१)

रोगानीकं विमानम्—प्रभाव भेद से रोगों के प्रकार भेद। दस प्रकार के रोग। दो मानस दोष रजस् और तमस्। इनके कुपित होने के तीन कारण अनुबन्ध्य-अनुबन्ध भेद से रोगों में भेद। बल के भेदों से शरीरस्थ अग्नि के चार प्रकार। अग्नि भेद से मनुष्यों के चार प्रकार वात, पित्त, कफ प्रकृति के पुरुषों का विवेचन। आरोग्य प्रकृति। सम प्रकृति। वातल, पित्तल और श्लेष्मल तीन प्रकार के रोगी। वात, पित्त और श्लेष्म प्रकृति के पुरुषों के लक्षण इनके अनुकूल आहार विहार। उपसंहार।

सप्तमोऽध्यायः

(पृ० ५४१-५५)

व्याधितरूपीयं विमानम्—व्याधि के ज्ञान में भ्रम। चार प्रकार के कृमि। दो प्रकार का मल। उन में उत्पन्न कृमि। उनका प्रभाव और चिकित्सा। रक्तजन्य कृमि। पुरीषजन्य कृमि। उनका उपाय अपकर्ष विधि. प्रकृति विघात। कृमि-कोष्ठ के रोगी का उपचार। आस्थापनबस्तिक्रिया की विधि। विरेचन। अनुवासन। शिरो विरेचन। कृमियों के प्रकृतिविघात की रीति। शिरोरोग पर चिकित्सा। उपसंहार।

अष्टमोऽध्यायः

(पृ० ५९५-६१८)

रोगभिषग्जितीयम्—शास्त्रपरीक्षा। शास्त्र के गुण। आचार्य का लक्षण। शास्त्र को दृढ़ करने के उपाय शास्त्र के अध्ययन की विधि! अध्यापन-विधि। गुरु शिष्य के परस्पर कर्त्तव्य। दीक्षा। आचार्य का शिष्य को उपदेश। संभाषा-विधि। तद्विद्यसंभाषा। (संवाद) अनुलोम संभाषण विगृह्य संभाषा। प्रतिवादी के तीन प्रकार। तीन प्रकार की परिषत्। प्रतिवादी को विग्रह करने के उपाय। प्रतिलोम संभाषण का प्रकार। वाद की मर्यादा। ४४ आवश्यकीय ज्ञातव्य-वाद का लक्षण। जल्प वितण्डा। प्रतिज्ञास्थापना, प्रतिष्ठापना, हेतु, उत्तर, दृष्टान्त। सिद्धान्त ४ प्रकार के। शब्द प्रत्यक्ष अनुमान ऐतिह्य औपम्य संशय प्रयोजन सव्यभिचार। जिज्ञासा व्यवसाय। अर्थप्राप्ति, अनुयोज्य। अननुयोज्य अनुयोग प्रत्यनुयोग वाक्यदोष न्यून अधिक अनर्थक अपार्थक विरुद्ध। वाक्यप्रशंसा। छल सामान्यछल वाक् छल अहेतु तीन प्रकार के प्रकरणसम संशयसम वर्ण्यसम। अतीतकाल उपालम्भ परिहार। प्रतिज्ञाहानि अभ्यनुज्ञा हेत्वन्तर अर्थान्तर। निग्रहस्थान। कारण करण कार्ययोनि-कार्य-कार्यफल। अनुबन्ध, देश, काल, उपाय प्रवृत्ति आदि के सम्बन्ध में विशेष विज्ञान। इनकी परीक्षा। दश विध परीक्षा। कारण-परीक्षा। करण-परीक्षा कार्ययोनि-परीक्षा-कार्य-कार्यफल-परीक्षा। अनुबन्ध-देश कार्य-देश आदि की व्याख्या। आतुर परीक्षा। प्रकृति आदि भाव। श्लेष्मप्रकृति। पित्तप्रकृति। वातप्रकृति। समधातुप्रकृति। विकृतियों से परीक्षा। सार से परीक्षा। शरीररचना से परीक्षा। प्रमाण से परीक्षा। तीन प्रकार के प्रकरण। सात्म्य से परीक्षा। सत्त्व से परीक्षा। आहार से अभ्यवहरण-शक्ति से परीक्षा। वयस् से परीक्षा। काल का विवेचन संवत्सर। रोगी की दशा में कार्य प्रकार की अपेक्षा से काल, अकाल। प्रवृत्ति। उपाय। परीक्षा का प्रयोजन। वमनोपयोगी द्रव्य। विरेचन द्रव्य। रसों की अपेक्षा से द्रव्यों का वर्गीकरण। मधुरस्कन्ध। अम्लस्कन्ध। लवणस्कन्ध। कटुकस्कन्ध। तिक्तस्कन्ध। कषायस्कन्ध। ६ हों वर्गों के उपयोग में वैद्य का कर्त्तव्य। अनुवासन द्रव्य शिरोविरेचन-द्रव्य। उपसंहार। इति विमानस्थानम्॥

ओ३म्

चरकसंहिता

सूत्रस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

अथातो दीर्घञ्जीवितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अब यहां से 'दीर्घ-जीवतीय' नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था [1] ॥ २ ॥

ऋषि भरद्वाज का इन्द्र के पास गमन

दीर्घं जीवितमन्विच्छन् भरद्वाज उपागमत् ।
इन्द्रमुग्रतपा बुद्ध्वा शरण्यममरेश्वरम् ॥३॥

दीर्घ काल तक जीवन की इच्छा से उग्रतपस्वी भरद्वाज मुनि देवों के राजा इन्द्र को शरण योग्य जानकर उनके पास गये ॥ ३ ॥

१. निष्प्रयोजन और अभिधेयरहित अर्थ में बुद्धिमानों की प्रवृत्ति नहीं होती ! इसलिये सब से प्रथम शास्त्र का प्रयोजन अभिधेय और सम्बन्ध बतलाना चाहिये ।

कहा भी है—

अभिधेयफलज्ञानविरहस्तिमितोद्यमाः ।
श्रोतुमल्पमपि ग्रन्थं नाद्रियन्ते हि साधवः ॥
सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्त्तते ।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥

इस शास्त्र का प्रयोजन 'धातुसाम्य' है । कहा भी है—'धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्' 'धातुसाम्य' का अर्थ विषम हुए धातुओं को समान करना और समान धातुओं का रक्षण करना है । अथवा रोगी के रोग का निवारण करना और स्वस्थ

ब्रह्मणा हि यथा प्रोक्तमायुर्वेदं प्रजापतिः ।
जग्राह निखिलेनाऽऽदावश्विनौ तु पुनस्ततः ॥ ४ ॥
अश्विभ्यां भगवाञ्छक्रः प्रतिपेदे ह केवलम्[१] ।
ऋषिप्रोक्तो भरद्वाजस्तस्माच्छक्रमुपागमत् ॥ ५ ॥

आरम्भ में ब्रह्माने यथावत् आयुर्वेद का उपदेश किया उसको प्रजापति [दक्ष] ने पूर्ण रूप से ग्रहण किया । दक्ष से दोनों अश्विनीकुमारोंने, अश्विनीकुमारों से इन्द्र ने ग्रहण किया । इसी कारण ऋषियों से प्रेरित होकर भरद्वाज मुनि इन्द्र के पास आये[२] ॥ ४–५ ॥

विघ्नभूता यदा रोगाः प्रादुर्भूताः शरीरिणाम् ।
तपोपवासाध्ययनब्रह्मचर्य्यव्रतायुषाम् ॥ ६ ॥
तदा भूतेष्वनुक्रोशं पुरस्कृत्य महर्षयः ।
समेताः पुण्यकर्माणः पार्श्वे हिमवतः शुभे ॥ ७ ॥

जब तप, उपवास, ब्रह्मचर्य्य, अध्ययन, व्रत और आयु, इन में विघ्न करनेवाले रोग उत्पन्न हो गये; तब प्राणियों पर दया कर के पुण्यात्मा महर्षिगण पवित्र हिमालय के पार्श्व में एकत्र हुए ॥ ६–७ ॥

अङ्गिरा जमदग्निश्च वसिष्ठः कश्यपो भृगुः ।
आत्रेयो गौतमः सांख्यः पुलस्त्यो नारदोऽसितः ॥ ८ ॥
अगस्त्यो वामदेवश्च मार्कण्डेयाश्वलायनौ ।
पारीक्षिर्भिक्षुरात्रेयो भरद्वाजः कपिञ्जलः ॥ ९ ॥

पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा करना है । जैसा कि सुश्रुत ने कहा है:—

"व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः स्वस्थस्य परिरक्षणञ्च" ।

अभिधेय-सम्बन्ध—हेतु, दोष और द्रव्य ये स्कन्धत्रय और रोगों के उत्पन्न न होने की विधि का बतलाना ।

शास्त्र और प्रयोजन का उपेय-उपाय सम्बन्ध है ।

भगवान् का लक्षण—"उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥"

१—अश्विनीकुमारों से इन्द्र ने पढ़ा ही था, पढ़ाया नहीं था, इन्द्र को शिष्य की चाह थी, क्योंकि बिना पढ़ाये विद्या संशय रहित नहीं बनती ।

२. सुश्रुत में—"ब्रह्मा प्रोवाच, ततः प्रजापतिरधिजगे, तस्मादश्विनौ, अश्विभ्यामिन्द्रः ।"

विश्वामित्राश्वरथ्यौ च भार्गवश्च्यवनोऽभिजित् ।
गार्ग्यः शाण्डिल्यकौण्डिन्यौ वार्क्षिर्देवलगालवौ ॥ १० ॥
सांकृत्यो वैजवापिश्च कुशिको बादरायणः ।
बडिशः शरलोमा च काप्यकात्यायनावुभौ ॥ ११ ॥
काङ्कायनः कैकशेयो धौम्यो मारीचिकाश्यपौ ।
शर्कराक्षो हिरण्याक्षो लोकाक्षः पैङ्गिरेव च ॥ १२ ॥
शौनकः शाकुनेयश्च मैत्रेयो मैमतायनिः ।
वैखानसा वालखिल्यास्तथा चान्ये महर्षयः ॥ १३ ॥
ब्रह्मज्ञानस्य निधयो यमस्य नियमस्य च ।
तपसस्तेजसा दीप्ता हूयमाना इवाग्नयः ॥ १४ ॥
सुखोपविष्टास्ते तत्र पुण्यां चक्रुः कथामिमाम् ।

अंगिरा, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप, भृगु, आत्रेय, गौतम, सांख्य, पुलस्त्य नारद, असित, अगस्त्य, वामदेव. मार्कण्डेय, आश्वलायन, पारीक्षि, भिक्षु, आत्रेय, भरद्वाज, कपिञ्जल, विश्वामित्र, आश्वरथ्य, भार्गव, च्यवन, अभिजित्, गार्ग्य, शाण्डिल्य, कौण्डिन्य, वार्क्षि, देवल, गालव, साङ्कृत्य, वैजवापि, कुशिक, बादरायण, बडिश, शरलोमा, काप्य, कात्यायन, काङ्कायन, कैकशेय, धौम्य, मारीचि, काश्यप, शर्कराक्ष, हिरण्याक्ष, लोकाक्ष, पैङ्गि, शौनक, शाकुनेय, मैत्रेय, मैमतायनि, वैखानस, वालखिल्य और अन्य ब्रह्मज्ञान, यम,[1] नियम और तप के तेज से चमकते हुए, आहुति से उज्वल अग्नि के समान तेजस्वी महर्षि लोग वहां सुख से विराज कर, इस पुण्यशाली कथा को इस प्रकार कहने लगे ॥ ८–१५ ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ॥ १५ ॥
रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च ।
प्रादुर्भूतो मनुष्याणामन्तरायो महानयम् ॥ १६ ॥
कः स्यात्तेषां शमोपाय इत्युक्त्वा ध्यानमास्थिताः ।
अथ ते शरणं शक्रं ददृशुर्ध्यानचक्षुषा ॥ १७ ॥
स वक्ष्यति शमोपायं यथावदमरप्रभुः ।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का मूल कारण आरोग्य

---

१. यम—अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहा यमाः ॥ यो० सू० ॥
नियम—शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥यो०सू० ॥

ही है।[1] रोग इस आरोग्य, अभ्युदय तथा जीवन (आयु) को नाश करने वाले हैं। मनुष्यों के लिए ये रोग बड़े विघ्नरूप हो गये हैं। इसलिए इन रोगों की शान्ति का उपाय क्या होना चाहिए? ऐसा कहकर वे सब ऋषि ध्यान मग्न हो गये। उन्होंने अन्तश्चक्षु से इन्द्र को अपनेको शरण देने वाले के रूप से देखा और जान लिया कि देवों का राजा इन्द्र ही शान्ति का उपाय कहेगा ॥१६–१७॥

क: सहस्राक्षभवनं गच्छेत्प्रष्टुं शचीपतिम् ॥ १८ ॥
अहमर्थे नियुज्येयमत्रेति प्रथमं वच: ।
भरद्वाजोऽब्रवीत्तस्मादृषिभि: स नियोजित: ॥ १९ ॥

प्रश्न उपस्थित हुआ कि शचीपति इन्द्र से पूछने के लिये इन्द्र के भवन तक कौन जाय? ऋषि भरद्वाज ने सबसे प्रथम कहा कि—इस कार्य में मुझको नियुक्त किया जाये। इसलिए अंगिरा आदि ऋषियों ने भरद्वाज ऋषि को ही इस कार्य में नियुक्त कर दिया ॥ १८–१९ ॥

स शक्रभवनं गत्वा सुरर्षिगणमध्यगम् ।
ददर्श बलहन्तारं दीप्यमानमिवानलम् ॥ २० ॥

इन्द्र के भवन में जाकर, उन्होंने देवर्षियों के मध्य में प्रदीप्त अग्नि के समान तेजस्वी, बल नाम असुर को मारने वाले इन्द्र को देखा ॥ २० ॥

सोऽभिगम्य जयाशीर्भिरभिनन्द्य सुरेश्वरम् ।
प्रोवाच भगवान्धीमानृषीणां वाक्यमुत्तमम् ॥ २१ ॥

बुद्धिमान भरद्वाज ने इन्द्र के सन्मुख जाकर जयसूचक आशीर्वादों से इन्द्र का अभिनन्दन करके, ऋषियों का उत्तम वचन प्रस्तुत किया ॥ २१ ॥

व्याधयो हि समुत्पन्ना: सर्वप्राणिभयंकरा: ।
तद् ब्रूहि मे शमोपायं यथावदमरप्रभो ॥ २२ ॥

हे अमरप्रभो! सब प्राणियों को भय देने वाली व्याधियां उत्पन्न हो गई हैं इसलिये आप इनकी शान्ति का उपाय उपदेश करें ॥ २२ ॥

तस्मै प्रोवाच भगवानायुर्वेदं शतक्रतु: ।
पदैरल्पैर्मतिं बुद्ध्वा विपुलां परमर्षये ॥ २३ ॥

---

१ कहा भी है—"आयतनं विद्यानां मूलं धर्मार्थकाममोक्षाणाम् ।
श्रेय: परं किमन्यत् शरीरमजरामरं विहायैकम् ॥" रसहृदयतंत्र ॥

२ योग्य शिष्य ही विनयपूर्वक गुरु से शास्त्रों को सुनने का अधिकारी है। यथा:—तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन: ॥ गीता ॥

भगवान् इन्द्र ने महर्षि भरद्वाज को महामति जान कर थोड़े ही शब्दों में संक्षेप से आयुर्वेद का उपदेश किया ॥ २३ ॥

हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम् ।
त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामहः ॥ २४ ॥
सोऽनन्तपारं त्रिस्कन्धमायुर्वेदं महामतिः ।
यथावदचिरात् सर्वं बुबुधे तन्मना मुनिः ॥ २५ ॥
तेनाऽऽयुरमितं लेभे भरद्वाजः सुखान्वितम् ।
ऋषिभ्योऽनधिकं तच्च शशंसानवशेषयन् ॥२६॥
ऋषयश्च भरद्वाजाज्जगृहुस्तं प्रजाहितम् ।
दीर्घमायुश्चिकीर्षन्तो वेदं वर्धनमायुषः ॥ २७ ॥

हेतु (रोगों का कारण), लिंग (रोगों के चिन्ह), औषध, (संशोधन और संशमन रूप चिकित्सा), स्वस्थ एवं रोगी दोनों के लिए परम गति और जिस का पितामह (ब्रह्मा) ने प्रथम ज्ञान किया था, उस तीन सूत्र[1] वाले पुण्य, श्रेष्ठ और नित्य, सनातन[2] आयुर्वेद का इन्द्र ने उपदेश किया । महामति भरद्वाज मुनि ने एकाग्रचित्त होकर इस अनन्त और अपार[3] और तीन स्कन्धों वाले आयुर्वेद को यथावत् शीघ्र ही सम्पूर्ण जान लिया । भरद्वाज मुनि ने इस

१ त्रिःसूत्र—हेतु, दोष और द्रव्य संग्रह रूप:

हेतुसंग्रह—कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च ।
द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसंग्रहः ॥

दोषसंग्रह—वातः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः ।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ॥

द्रव्यसंग्रह—किंचिद्दोषप्रशमनं किंचिद् धातु-प्रदूषणम् ।
स्वस्थवृत्तौ मतं किंचित् त्रिविधं द्रव्यमुच्यते ॥

अथवा 'त्रिसूत्र' शब्द से वात, पित्त और कफ का ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि सम्पूर्ण आयुर्वेद शास्त्र इन्हीं में ओत-प्रोत है । जैसा कि सुश्रुत में—"वातपित्तश्लेष्माण एव देहसंभवहेतवः । तैरेवाव्यापन्नैरधो मध्योर्द्ध्वसन्निविष्टैः शरीरमिदं धार्यते-आगारमिव स्थूणाभिः । अतः त्रिस्थूणामित्येके ।"

२—सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात् । चरक ॥

३ - नास्ति आयुर्वेदस्य पारम्, तस्मादप्रमत्तः शश्वदभियोगमस्मिन् गच्छेत् । ॥ चरक ॥

आयुर्वेद के द्वारा ही सुख से युक्त दीर्घ आयु प्राप्त की। और उसने ऋषियों को न अधिक और न कुछ कम, ज्यों का त्यों ही सम्पूर्ण शास्त्र का उपदेश किया। दीर्घ आयु करने की इच्छा वाले ऋषियों ने भी लोक की हितकामना से इस आयुवर्धक आयुर्वेद को भरद्वाज से ग्रहण किया ॥ २४–२७ ॥

महर्षयस्ते ददृशुर्यथावज्ज्ञानचक्षुषा।
सामान्यं च विशेषं च गुणान् द्रव्याणि कर्म च ॥ २८ ॥
समवायं च, तज्ज्ञात्वा तन्त्रोक्तं विधिमास्थिताः।
लेभिरे परमं शर्म जीवितं चाप्यनश्वरम् ॥ २९ ॥

ज्ञान की चक्षु से ऋषियों ने सामान्य, विशेष, गुण, द्रव्य, कर्म, समवाय का यथावत् पूर्णरूप से दर्शन किया। इन को यथावत् जानकर आयुवद विधि से हितकारक पदार्थों का सेवन और अहितकारी पदार्थों का त्याग कर परम सुख, आरोग्य और दीर्घ जीवन प्राप्त किया [1] ॥ २८–२९ ॥

अथ मैत्रीपरः पुण्यमायुर्वेदं पुनर्वसुः।
शिष्येभ्यो दत्तवान् षड्भ्यः सर्वभूतानुकम्पया ॥ ३० ॥
अग्निवेशश्च भेडश्च जतूकर्णः पराशरः।
हारीतः क्षारपाणिश्च जगृहुस्तन्मुनेर्वचः ॥ ३१ ॥

तत्पश्चात् सब प्राणियों में मैत्री बुद्धि रखने वाले पुनर्वसु आत्रेय ने सब प्राणियों पर दया का अनुभव करके इस पवित्र आयुर्वेद का छः शिष्यो को उपदेश किया।

अग्निवेश, भेड, जतूकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणि इन छः शिष्यों ने मुनि के उस उपदेशवचन को ग्रहण किया ॥ ३०–३१ ॥

बुद्धेर्विशेषस्तत्रासीन्नोपदेशान्तरं मुनेः।
तन्त्रस्य कर्ता प्रथममग्निवेशो यतोऽभवत् ॥ ३२ ॥
अथ भेडादयश्चक्रुः स्वं स्वं तन्त्रं कृतानि च।
श्रावयामासुरात्रेयं सर्षिसंघं सुमेधसः ॥ ३३ ॥
श्रुत्वा सूत्रणमर्थानामृषयः पुण्यकर्मणाम्।
यथावत्सूत्रितमिति प्रहृष्टास्तेऽनुमेनिरे ॥ ३४ ॥
सर्व एवास्तुवँस्तांश्च सर्वभूतहितैषिणः।
साधु भूतेष्वनुक्रोश इत्युच्चैरब्रुवन् समम् ॥ ३५ ॥
तं पुण्यं शुश्रुवुः शब्दं दिवि देवर्षयः स्थिताः।
सामराः परमर्षीणां श्रुत्वा मुमुदिरे परम् ॥ ३६ ॥

१—धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्। वैशेषिक०

अहो साध्विति घोषश्च लोकाँस्त्रीनन्वनादयत् ।
नभसि स्निग्धगम्भीरो हर्षाद् भूतैरुदीरितः ॥ ३७ ॥
शिवो वायुर्ववौ सर्वा भाभिरुन्मीलिता दिशः ।
निपेतुः सजलाश्चैव दिव्याः कुसुमवृष्टयः ॥ ३८ ॥
अथाग्निवेशप्रमुखान् विविशुर्ज्ञानदेवताः ।
बुद्धिः सिद्धिः स्मृतिर्मेधा धृतिः कीर्तिः क्षमा दया ॥ ३९ ॥
तानि चानुमतान्येषां तन्त्राणि परमर्षिभिः ।
भवाय भूतसंघानां प्रतिष्ठां भुवि लेभिरे ॥ ४० ॥

अग्निवेश की बुद्धि विशेष थी, मुनि आत्रेय के उपदेशमें कोई अन्तर नहीं था। अग्निवेश ही सब से प्रथम आयुर्वेद-तंत्र का कर्त्ता हुवा। इसके पीछे भेड आदि बुद्धिमान् शिष्यों ने भी अपने अपने तंत्र बना कर बहुत से ऋषियों के साथ विराजमान आत्रेय मुनि को सुनाये। पुण्यकर्मा अग्निवेश आदि ऋषियों द्वारा भली प्रकार से सूत्र रूप से गुंथे हुए आयुर्वेद शास्त्र को सुनकर वे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उसका प्रसन्नता से अनुमोदन भी किया कि ठीक प्रकार से ग्रथित (गूंथा) हुआ है। सब प्राणियों पर दयालु उन ऋषियों की सब ने ही प्रशंसा की। सब ने एक साथ उच्चस्वर से कहा कि आपने प्राणियों पर बहुत उत्तम रूप से दया की है। स्वर्ग में स्थित देवों के सहित नारद आदि देव-ऋषियों ने भी उन परम ऋषियों के पुण्य शब्द को सुना। इस को सुनकर वे भी बहुत प्रसन्न हुए। समस्त प्राणियों ने हर्ष से अति स्नेह युक्त एवं गम्भीर शब्द से साधुवाद दिया। इस साधुवाद की ध्वनि आकाश में फैल कर तीनों लोकों को गुंजा दिया। सुखदायक वायु बहने लगा, सब दिशायें प्रकाश से चमकने लगीं, जल से भी दिव्य कुसुम बरसने लगे।

(बुद्धि) उपलब्धि, (सिद्धि) साध्य-साधन, (स्मृति) पूर्व अनुभूत अर्थ का स्मरण, (मेधा) धारण करने की शक्ति, (धृति) मन की संतुष्टि, (कीर्त्ति) यश, (क्षमा) अपकारी के प्रति अनपकार की इच्छा, (दया) प्राणियों के दुःख हटाने की इच्छा, ये ज्ञानमय देवता अग्निवेश आदि ऋषियों में प्रविष्ट हुए अर्थात् ये शुभ गुण इन में आये।

महर्षियों द्वारा अनुमोदित उक्त ऋषियों के शास्त्र लोगों के परम कल्याण के लिये पृथिवी पर प्रतिष्ठा को प्राप्त हुए॥ ३२-४० ॥

आयुर्वेद का लक्षण—

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम् ।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते ॥ ४१ ॥

हित, अहित, सुख और दुःख यह चार प्रकार की 'आयु' है। इस आयु का हित-अहित, पथ्यापथ्य, और इस आयु का मान-परिमाण यह सब जिस शास्त्र में कहा हो, तथा आयु का लक्षण जिसमें हो, उसे 'आयुर्वेद'[1] कहते हैं। हित आयु, अहित आयु, सुखी आयु, दुःखी आयु, चार प्रकारकी आयु है ॥४१॥

आयु का लक्षण—

शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो, धारि जीवितम् ।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते ॥ ४२ ॥

(शरीर) पंच महाभूतों से बना, आत्मा का अधिष्ठान, (इन्द्रिय) भौतिक इन्द्रियां, (सत्त्व) मन, (आत्मा) द्रष्टा, भोक्ता, जीव और ईश्वर, इनके संयोग का नाम 'आयु' है। आयु निरन्तर चलने वाला होने से 'आयु' कहाता है [एति गच्छतीति आयुः ।]

आयु अर्थात् जीवन के पर्य्यायवाची शब्द—(धारि) शरीर को धारण करता है, (जीवित) प्राणों को धारण करता है, (नित्यग) निरन्तर चलता है, (अनुबन्ध) प्राणों के साथ सम्बन्धित है, और 'चेतनानुवृत्ति' इन पर्यायों से बतलाया जाता है[2] ॥ ४२ ॥

तस्याऽऽयुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः ।
वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम् ॥ ४३ ॥

यह आयुर्वेद सब से अधिक श्रेष्ठ पुण्यजनक है [क्योंकि अन्य ज्ञान पारलौकिक हित को ही बतलाते हैं] यह आयुर्वेद इहलोक और परलोक दोनों के हितों को कहता है, ऐसा ज्ञानियों का मत है[3] ॥ ४३ ॥

सामान्य और विशेष—

सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम् ।
ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु ॥ ४४ ॥
सामान्यमेकत्वकरं विशेषस्तु पृथक्त्वकृत् ।
तुल्यार्थता हि सामान्यं विशेषस्तु विपर्ययः ॥ ४५ ॥

सब पदार्थों का सब कालों में 'सामान्य'—समान [गुण आदि] धर्म ही वृद्धि का कारण होता है, और 'विशेष'—अर्थात् विभेद या विपरीत होना ही ह्रास का कारण होता है। दोनों का शरीर के साथ सम्बन्ध सब पदार्थों की

१—"आयुरस्मिन्विन्दति वेत्ति वा आयुर्वेदः ।" सुश्रुत ॥
२—तत्रायुश्चेतनानुवृत्तिः जीवितमनुबन्धो धारि चेत्येकोऽर्थः ॥ सु० ॥
३—अत्राऽऽयत्तमैहिकमामुष्मिकं च श्रेयः ॥ सुश्रुत० ॥

वृद्धि और ह्रास का कारण है। सब कालों में शरीर के अन्दर दोनों ही धर्म रह सकते हैं। इसलिये शरीरमें वृद्धि और क्षय शरीरका बनना (Metabolism) और शरीर का टूटना (Ketabolism) दोनों क्रियायें हर समय होती रहती हैं। एकत्व बतलाने वाला धर्म 'सामान्य' है। और 'पृथग्-भाव' बतलाने वाला धर्म 'विशेष' है।[1] क्योंकि समान धर्म का होना यह सामान्य है, और इससे विपरीत होना विशेष है ॥ ४४–४५ ॥

सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत् ।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ४६ ॥
स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम् ।
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं संप्रकाशितः ॥ ४७ ॥

(सत्त्व) मन, (आत्मा) चेतना और 'शरीर' इन तीनों से बने हुए को "लोक"[2] कहते हैं। यह तीनों मिलकर तिकन्टी, या तिपाई की तरह 'लोक' को धारण किये हुए हैं। इस संयोग से बने हुए पुरुष में जन्म-मरण आदि

---

१ समान गुण वाले—इसका अर्थ यह है कि द्रव्य, गुण, कर्म, इनमें सम्पूर्ण रूप में समान गुण वाले पदार्थ ही ग्रहण करने चाहिये।

जिस प्रकार खट्टा आंवला भी खट्टे पित्त को नहीं बढ़ाता, अपितु शीतवीर्य होने से पित्त का शमन करता है, क्योंकि पित्त उष्ण है।

द्रव्यसमान से विपरीत प्रभाव—तैजस क्षार से श्लेष्मा का क्षय
गुण ,, ,, ,, ,,—द्रव कांजी से श्लेष्मा का लघु-रूक्ष गुण के कारण क्षय,
कर्म ,, ,, ,, ,,—नींद से वायु का नाश, भागने से कफ का क्षय होना,

सामान्य और विशेष का स्वरूप—तुल्यार्थता अर्थात् समानार्थक होने का नाम सामान्य और विपर्यय का अर्थ 'विशेष' है।

"सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्"। वैशेषिक द० ॥

कहा भी है—

सर्वेषां सर्वदा वृद्धिः तुल्यद्रव्यगुणक्रियैः।
भावैर्भवति भावानां विपरीतैर्विपर्ययः ॥

२. "षड्धातुसमुदिता लोक इति शब्दं लभन्ते।"

तिकन्टी—में एक बल्ली या स्तम्भ के निकाल लेने से वह खड़ी नहीं रह सकती, इसी प्रकार इन तीनोंमें से एकके न होनेसे 'पुरुष' स्थिर नहीं रह सकता।

सब स्थित हैं। यह सत्त्वादि समुदाय पुरुष कहलाता है, और वह चेतन द्रव्य है, यही आयुर्वेद का अधिकरण है और इसी के लिये यह आयुर्वेद प्रकाशित किया गया है ॥ ४६–४७ ॥

खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः ।
सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम् ॥ ४८ ॥

आकश आदि (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी—ये पांच महाभूत), आत्मा, मन, काल, और दिशा ये द्रव्यों का संग्रह है। इन्द्रियों सहित द्रव्य चेतन हैं और इन्द्रियों से रहित द्रव्य अचेतन हैं [1] ॥ ४८ ॥

अत्र कर्म्मफलं चात्र ज्ञानं चात्र प्रतिष्ठितम् ।
अत्र मोदः सुखं दुःखं जीवितं मरणं स्वता ॥

पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः 'पुरुष' उच्यते । तस्मिन् क्रियाः । सोऽधिष्ठानम् ।

१. "पृथ्व्यापस्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि।" वैशे०

शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम् ।
पञ्चभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वं गतमुच्यते ॥ चरक ॥

"तत्र आकाशं शब्दगुणम्, शब्दस्पर्शगुणो वायुः शब्दस्पर्शरूपगुणोऽग्निः; शब्दस्पर्शरूपरसगुणा आपः, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथिवी ।

तेषामेकगुणः पूर्वे, गुणवृद्धिः परे परे ।
पूर्वपूर्वो गुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः ॥

आत्मा का रूप—

प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसो गतिः ।
इन्द्रियान्तरसंचारः प्रेरणं धारणं च यत् ॥
देशान्तरगतिः स्वप्ने पञ्चत्वग्रहणं तथा ।
दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णा सव्येनावगमस्तथा ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः ।
बुद्धिः स्मृतिरहंकारो लिङ्गानि परमात्मनः ॥

मन का लक्षण—

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावो मनसो लिङ्गमिति कणादः

लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च ।
सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षेण वर्त्तते ।
वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्याच्च वर्त्तते ॥ चरक ॥

गुण—

सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः ।
गुणाः प्रोक्ताः,

अर्थ (इन्द्रिय और मन के ग्राह्य विषय), गुरु आदि, बुद्धि, इच्छा से लेकर प्रयत्न तक और पर आदि अभ्यास पर्यन्त गुण हैं ।

इन्द्रियों के अर्थ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—मन के अर्थ चिन्तन, विचार, ऊहना, ध्यान, संकल्प, गुरुत्व, लघुत्व, शीत, उष्ण, स्निग्ध रूक्ष, मन्द, तीक्ष्ण, स्थिर, सर, मृदु, कठिन, विशद, पिच्छिल, श्लक्ष्ण, खर, स्थूल, सूक्ष्म, सान्द्र, द्रव, ये बीस, तथा इच्छा, द्वेष, सुख दुःख और प्रयत्न, पर, अपर युक्ति, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परिणाम, संस्कार और अभ्यास ये गुण हैं ।

"रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्यापरिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परापरत्वे बुद्धयः सुखदुखे इच्छा द्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः ।।" वै० द०

कर्म—

प्रयत्नादि कर्म चेष्टितमुच्यते ।। ४९ ।।

प्रयत्न जन्य चेष्टा शरीर का व्यापार कर्म कहाता है ।

उत्क्षेपणमपक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि ।। वैशे०

भ्रमणं रेचनं स्पन्दनोर्ध्वज्वलनमेव च ।
तिर्य्यग् गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते ।।

प्रयत्नपूर्वक अर्थात् चेष्टापूर्वक क्रिया का नाम 'कर्म' है ।

"आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म" ।। वै० ।। ४९ ।।

समवाय का लक्षण—

समवायोऽपृथग्भावो भूम्यादीनां गुणैर्मतः ।
स नित्यो, यत्र हि द्रव्यं न तत्रानियतो गुणः ।। ५० ।।

पृथिवी आदि द्रव्यों का (आत्रेय भद्रकाप्यीय २६ वें अध्याय में कहे हुए)

काल का लक्षण—सूक्ष्मामपि कलां न लीयते, संकलयति वा भूतानि इति कालः । वैशे०

दिशा का लक्षण—अस्मादिदं पूर्वेण अस्मादिदं पश्चिमेन इत्यादयः प्रत्यया यतो भवन्ति सा दिक् । इत इदमिति यतस्तद्दिशां लिङ्गम् । वैशे०

जिससे यह व्यवहार किया जाय कि यह इससे पूर्व या पश्चिम में है, उसका नाम 'दिशा' है ।

अपने गुणों से पृथक् न होना 'समवाय'[1] है। अर्थात् द्रव्य गुणों के बिना नहीं रह सकते और गुण बिना द्रव्य के नहीं रह सकते।

यह समवाय सम्बन्ध नित्य है, (संयोग की तरह अनित्य नहीं) क्योंकि जहां पर द्रव्य है, वहां पर गुण नहीं रहता ऐसा नहीं, अपितु निश्चित ही है। जहां द्रव्य है वहां गुण भी है। इस लिये द्रव्य और गुण का नियत सम्बन्ध होने से इनका सम्बन्ध भी नियत ही है ॥ ५० ॥

द्रव्य का लक्षण—

यत्राऽऽश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत्।

तद् द्रव्यं,

जिसमें कर्म और गुण आश्रित हैं,और जो समवायि कारण है,वह 'द्रव्य' है।

गुण का लक्षण:—

समावायी तु निश्चेष्टः कारणं गुणः ॥ ५१ ॥

द्रव्य के साथ समवाय सम्बन्ध वाला, निश्चेष्ट (निष्क्रिय) एवं कारणवान् गुण है। गुण-निर्गुण होते हैं, गुण में गुण नहीं होता, जैसा कि लिखा है—

"गुणा गुणाश्रया नोक्ताः" ॥ ५१ ॥

कर्म्म का लक्षण —

संयोगे च वियोगे च कारणं द्रव्यमाश्रितम्।

कर्त्तव्यस्य क्रिया कर्म कर्म नान्यदपेक्षते ॥ ५२ ॥

जो कि द्रव्य का आश्रय लेकर रहता है, तथा संयोग और विभाग में कारण है, उसका नाम 'कर्म' है। कर्म किसी अन्य कर्म की अपेक्षा नहीं करता [द्रव्य और गुण परस्पर एक दूसरे के समवाय की अपेक्षा करके कारण बनते हैं] तथा—कर्त्तव्य कार्य का अनुष्ठान रूप कर्म है।

"एकं द्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षं कारणमिति कर्म्मलक्षणम्" वैशे०

किये हुवे सद्वृत्त, शान्ति, मंगल—पाठ आदि अनुष्ठान भी कर्म्म हैं, ये अध्यात्म कर्म हैं ॥ ५२ ॥

इत्युक्तं कारणं, कार्यं धातुसाम्यमिहोच्यते।

धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम् ॥ ५३ ॥

---

१ समवाय का लक्षण—

अयुतसिद्धानां [जो कभी भी पृथक् नहीं होते] आधार्याधारभूतानां इहेति प्रत्ययहेतुः सम्बन्धः स समवायः। वैशे०

जैसे तन्तु और वस्त्र का या मिट्टी और घड़े का समवाय सम्बन्ध है।

इस प्रकार सामान्य आदि छः कारणों का वर्णन किया गया है। अब उनका कार्य्य कहा जाता है। इस शास्त्र में 'धातुओं का साम्य करना' ही कार्य्य है [घट-पट आदि कार्य नहीं है]। इस शास्त्र का—प्रयोजन भी धातुओं को समान रखना ही है।

क्षीण हुए धातु बढ़ाने चाहिये, बढ़े हुए घटाने चाहिये और समान का रक्षण करना चाहिये। जैसा कि आगे कहेंगे—

'प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणं, आतुरस्य विकारप्रशमनञ्च' ॥५३॥

धातुओं के विषम होने का कारण -

कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च।
द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसंग्रहः ॥ ५४ ॥

काल [शीत-वर्षा ग्रीष्म रूपी संवत्सर अथवा परिणाम],बुद्धि, और इन्द्रियार्थ [इन्द्रियों के विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध] इन तीन के अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग होने से दोनों प्रकार की शारीरिक और मानसिक व्याधियां उत्पन्न होती हैं[1] ॥ ५४ ॥

शरीर सत्त्वसंज्ञं च व्याधीनामाश्रयो मतः।
तथा सुखानां योगस्तु सुखानां कारणं समः ॥ ५५ ॥

शरीर और सत्त्व (मन) ये दोनों ही [पृथक् रूप से एवं सम्मिलित रूप में] रोगों की अधिष्ठान भूमि हैं[2]। और जिस प्रकार ये दोनों व्याधियों का आश्रय स्थान हैं, इसी प्रकार सुख का भी आश्रय स्थान यही हैं।

सुख का कारण – काल, बुद्धि और इन्द्रियों के विषयों का, सम [उचित रूप में] योग होना ही आरोग्य का कारण है। कहा भी है—

"सुखहेतुर्मतस्त्वेकः समयोगः सुदुर्लभः" ॥ ५५ ॥

आत्मा का स्वरूप कहते हैं—

निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः।
चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः ॥ ५६ ॥

---

१. "त्रीण्यायतनानीत्यर्थानां, कर्मणः कालस्य चातियोगायोगमिथ्यायोगाः। असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति त्रयस्त्रिविधविकल्पा हेतवो विकारकारणम्" ॥ "समयोगयुक्तास्तु प्रकृतिहेतवो भवन्ति"। च० ॥

२. वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः।
केशलोमनखाग्रान्तमलद्रवगुणैर्विना ॥ चरक ॥

निर्विकार[1] और सूक्ष्म आत्मा, मन, शब्दादिगुण, इन्द्रियां द्वारा चैतन्य में कारण हैं, वह नित्य है, साक्षी है, क्योंकि वह सब क्रियाओं को देखता है। अचेतन शरीर और मनके चैतन्य में यह आत्मा ही कारण है; और वह नित्य है।

रोग प्रकृति—

वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ॥ ५७ ॥

संक्षेप रूप में शारीरिक दोषों के कारण वात, पित्त और कफ हैं। और मानसिक दोषों के कारण रज और तम हैं[2]। शारीरिक कोई भी रोग इन वात, पित्त, कफ के विना नहीं हो सकता ॥ ५७ ॥

इनका प्रतीकार—

प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वो दैवयुक्तिव्यपाश्रयैः।
मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः ॥ ५८ ॥

शारीरिक दोष दैव व्यपाश्रय और युक्ति-व्यपाश्रय औषधियों से शान्त हो जाते हैं। मानसिक दोष ज्ञान (आत्मा आदि के), विज्ञान अर्थात् शास्त्र ज्ञान, (धैर्य्य) चित्त की स्थिरता, (स्मृति) अनुभूत पदार्थ का स्मरण, (समाधि) विषयों से मन को हटा कर आत्मा में लगाना इनसे शान्त हो जाते हैं।

दैव-व्यपाश्रय—मणि, मन्त्र, ओषधि, बलि, उपहार, होम, नियम प्रायश्चित्त आदि कर्म जो कि दैव को आश्रय कर किये जाते हैं।

युक्ति-व्यपाश्रय अर्थात् योजना, युक्ति को आश्रय कर किये गये संशोधन, संशमन आदि कर्म ॥ ५८ ॥

वायु का लक्षण—

रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः।
विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुतः संप्रशाम्यति ॥ ५९ ॥

वायु-रूक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल अर्थात् गतिशील, विशद अर्थात् अपि-

---

१. स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ॥ श्रुतिः।

२ वायु को प्रथम लिखा है, क्योंकि वात जन्य रोग ही सब से अधिक हैं, 'अशीतिर्वात-विकाराः' एवं 'वायुरेव भगवान्' वायु सबसे प्रबल है।

सर्वेषाञ्च व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एव मूलं तल्लिङ्गत्वात् दृष्टफलत्वादागमाच्च। यथा हि कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितं सत्त्वरजस्तमांसि न व्यतिरिच्यते। एवमेव कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितमव्यतिरिच्य वातपित्तश्लेष्माणो वर्तन्ते ॥सुश्रुत० ॥

च्छिल और खर (कठोर) है। वह इन से विपरीत गुण वाले स्निग्ध, उष्ण गुरु, स्थूल, स्थिर, पिच्छिल और मृदु द्रव्यों से शान्त होता है।

शीत से वायु बढ़ता है और उष्णता से कम होता है, इसलिये वायु को वैद्यक शास्त्र में शीत-प्रकृति माना है। वैशेषिक दर्शन में इस को अनुष्णाशीत कहा है—'अनुष्णाशीतः स्पर्शस्तु पवने मतः' ॥ वै० ॥ ५६ ॥

पित्त का लक्षण—

सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु ।
विपरीतगुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति ॥ ६० ॥

स्नेहसहित अर्थात् थोड़ा स्निग्ध, उष्ण (गरम), तीक्ष्ण [शीघ्र कार्य करने वाला, सूई की तरह तेज़], द्रव, अम्ल (खट्टा), सर (गमनशील), और कटु रस है। पित्त विपरीत गुण वाले द्रव्यों से शीघ्र ही शान्त हो जाता है ॥६०॥

कफ का लक्षण—

गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छिलाः ।
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः ॥ ६१ ॥

गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, मधुर, स्थिर, और पिच्छिल ये कफ के गुण हैं। इन से विपरीत गुण वाले पदार्थों से ये गुण शान्त होते हैं। [इन गुणों के शान्त होने से गुणी कफ भी शान्त हो जाता है] ॥ ६१ ॥

साध्य रोगों की शान्ति—

विपरीतगुणैर्देशमात्राकालोपपादितैः ।
भेषजैर्विनिवर्त्तन्ते विकाराः साध्यसंमताः ॥ ६२ ॥
साधनं न त्वसाध्यानां व्याधीनामुपदिश्यते ।
भूयश्चातो यथाद्रव्यं गुणकर्म प्रवक्ष्यते ॥ ६३ ॥

विपरीत गुण वाले [हेतु-विपरीत, व्याधि-विपरीत और हेतु और व्याधि दोनों के विपरीत और कार्य करनेवाले] द्रव्यों की देश-मात्रा, काल के अनुसार योजना करने पर औषध से साध्य व्याधियां शान्त हो जाती हैं, असाध्य रोग अच्छे नहीं होते। और जो रोग औषधियों से असाध्य हैं उन के लिए औषध का उपदेश भी नहीं किया जाता। इसके आगे फिर विस्तार से एक-एक द्रव्य के गुण कर्म को आचार्य कहेंगे ॥ ६२–६३ ॥

रसों की उत्पत्ति—

रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा ।
निर्वृत्तौ च, विशेषे च प्रत्ययाः खादयस्त्रयः ॥ ६४ ॥

रसनेन्द्रिय से ग्राह्य गुण रस है। इस रस की उत्पत्ति में आधार कारण जल और पृथिवी हैं। इस रस के भेद करने में आकाश, वायु और अग्नि ये तीनों निमित्त कारण होते हैं। वास्तव में रस की उत्पत्ति स्थान जल है और पृथ्वी इसका आधार है। क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से मिल जाता है। "विष्टं ह्यपरं परेण" न्याय०। जल और पृथ्वी में आकाश, वायु और अग्नि का भी अंश समाविष्ट रहता है। कहा भी है—

तेषामेकगुणं पूर्वं गुणवृद्धिः परे परे।
पूर्वः पूर्वो गुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः॥

इसीलिए, इस एक रस के छः भेद हो जाते हैं। जैसे—पृथिवी और जल की अधिकता से मधुर, पृथ्वी और अग्नि की अधिकता से अम्ल, जल और अग्नि की अधिकता से लवण, वायु और अग्नि की अधिकता से कटु, वायु और आकाश की अधिकता से तिक्त और वायु और पृथ्वी की अधिकता से कषाय रस बनता है॥ ६४॥

स्वादुरम्लोऽथ लवणः कटुकस्तिक्त एव च।
कषायश्चेति षट्कोऽयं रसानां संग्रहः स्मृतः॥ ६५॥

स्वादु मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय ये छः संक्षेप से रस हैं। विस्तार से इनके परस्पर संयोग से ६३ भेद हो जाते हैं॥ ६५॥

रसों के द्वारा दोषों की शान्ति—

स्वाद्वम्ललवणा वायुं, कषायस्वादुतिक्तकाः।
जयन्ति पित्तं, श्लेष्माणं कषायकटुतिक्तकाः॥ ६६॥

स्वादु, अम्ल और लवण ये रस वायु का शमन करते हैं, कषाय, मधुर और तिक्त रस पित्त का, कषाय, कटु और तिक्त रस कफ को शान्त करते हैं। कटु, अम्ल और लवण रस पित्त को कुपित अर्थात् उत्पन्न करते और बढ़ाते हैं, स्वादु, मधुर अम्ल और लवण रस कफ को, कटु, तिक्त और कषाय रस वायु को बढ़ाते हैं। इन रसों में प्रत्येक रस के द्रव्य, गुण और कर्म आगे (आत्रेय भद्रकाप्यीय नामक २६ वें अध्याय) में विस्तार से कहेंगे॥ ६६॥

द्रव्य के भेद—

किञ्चिद्दोषप्रशमनं किञ्चिद्धातुप्रदूषणम्।
स्वस्थवृत्तौ हिते किञ्चित् त्रिविधं द्रव्यमुच्यते॥ ६७॥

द्रव्य तीन प्रकार के हैं। (१) कुछ द्रव्य वात आदि दोषों का शोधन एवं शमन करते हैं। जैसे—तेल वायु का, घी पित्त का और मधु कफ का

शमन करता है और (२) कुछ द्रव्य शरीरको धारण करनेवाले वात आदि वा रस आदि को दूषित वा कुपित करते हैं और (३) कुछ द्रव्य स्वास्थ्य का रक्षण करते हैं, वे स्वस्थ अवस्था के लिए हितकारी हैं। जैसे—लाल चावल, सांठी के चावल, जौ, जीवन्ती शाक आदि। "शमनं कोपनं स्वस्थहितं द्रव्यमिति त्रिधा॥" वाग्भटः॥

तत्पुनस्त्रिविधं ज्ञेयं जाङ्गमौद्भिदपार्थिवम्।
मधूनि गोरसाः पित्तं वसा मज्जासृगामिषम्॥ ६८॥
विण्मूत्रं चर्म रेतोऽस्थि स्नायुः शृङ्गं खुरा नखाः।
जङ्गमेभ्यः प्रयुज्यन्ते केशा लोमानि रोचनाः॥ ६९॥

द्रव्य फिर तीन प्रकार के हैं (१) (जांगम) प्राणियों से उत्पन्न होने वाले, और (२) (औद्भिद) भूमि को भेदन करके पृथ्वी में से उत्पन्न होने वाले वनस्पति आदि, (३) (पार्थिव) भूमि से उत्पन्न होने वाले, खनिज।

जंगम द्रव्य—

मधु (शहद)[1] गोरस, दूध, घी, आदि, पित्त, वसा (चर्बी), मज्जा, रक्त, मांस, विष्ठा, मूत्र, चर्म, वीर्य, अस्थि, स्नायु, सींग, नख, खुर, (केश) शिर के बाल, (रोम) शरीर के बाल, रोचना अर्थात् गोरोचना, ये जंगम-प्राणियों से लेकर व्यवहार में लाये जाते हैं॥ ६८-६९॥

भौम द्रव्य—

सुवर्णं समलाः पञ्च लोहाः ससिकताः सुधा।
मनःशिलाले मणयो लवणं गैरिकाञ्जने॥ ७०॥
भौममौषधमुद्दिष्टम्, औद्भिदं तु चतुर्विधम्।
वनस्पतिर्वीरुधश्च वानस्पत्यस्तथौषधिः॥ ७१॥

स्वर्ण, और इसका मल (शिलाजीत) पांच प्रकार के लोह जैसे रांगा, सीसा ताम्बा, चांदी और लोहा, (सिकता) बालू, (सुधा) चूना, पार्थिव विष, मनः शिला, (आल) हरताल, (मणि) स्फटिक आदि, लवण सैन्धव आदि, [गैरिक] गेरु, (अंजन) सुरमा, ये पार्थिव औषध कहे हैं औद्भिद द्रव्य चार प्रकार के हैं। वनस्पति, वीरुत्, वानस्पत्य और ओषधि॥ ७०-७१॥

फलैर्वनस्पतिः, पुष्पैर्वानस्पत्यः फलैरपि।
ओषध्यः फलपाकान्ताः, प्रतानैर्वीरुधः स्मृताः॥ ७२॥

(१) जिनमें विना पुष्प के फल आता है, वे 'वनस्पति' हैं, जैसे गूलर, वट

१. माक्षिकं भ्रामरं क्षौद्रं पौत्तिकं मधुजातयः।

पिलखन आदि, (२) जिनमें फल और पुष्प दोनों आते हैं उनको 'वानस्पत्य' अर्थात् वृक्ष कहते हैं, जैसे आम, जामुन आदि, (३) जो फल आने पर नष्ट हो जाते हैं, उनको 'ओषधि' कहते हैं जैसे धान, चावल, जौ, गेहुं आदि और (४) जो लता के समान फैलने वाली हैं उनको 'वीरुध्-कहते हैं जैसे गिलोय आदि ॥७२॥

औद्भिद पदार्थों के काम में आने वाले अंगः—

मूलत्वक्सारनिर्यासनालस्वरसपल्लवाः ।
क्षाराः क्षीरं फलं पुष्पं भस्म तैलानि कण्टकाः ॥ ७३ ॥
पत्राणि शुङ्गाः कन्दाश्च प्ररोहाश्चौद्भिदो गणः ।

मूल, त्वचा, (सार) अन्दर का स्थिर सार भाग, (निर्यास) गोंद, (नाड़) नाल, (स्वरस) पीड़न करके द्रव्य से निकाला हुआ रस, (पल्लव) पत्ते आम, जामुन आदि के, क्षार, (क्षीर) दूध, थोर आदि के फल, पुष्प, भस्म, तैल मिलावे आदि का; कांटे, पत्ते, शुंग अर्थात छोटे २ कांटे जो वृक्ष पर होते हैं जैसे सिम्बल के, कन्द अर्थात् फलहीन औषधियों के मूल, (प्ररोह) अंकुर यह 'औद्भिद गण' है । वनस्पतियों के ये उपरोक्त अंश काम में आते हैं ॥ ७३ ॥

मूलिन्यः षोडशैकोनाः फलिन्यो विंशतिः स्मृताः ॥ ७४ ॥
महास्नेहाश्च चत्वारः पञ्चैव लवणानि च ।
अष्टौ मूत्राणि सङ्ख्यातान्यष्टावेव पयांसि च ॥ ७५ ॥
शोधनार्थाश्च षड् वृक्षाः पुनर्वसुनिदर्शिताः ।
य एतान् वेत्ति संयोक्तुं विकारेषु स वेदवित् ॥ ७६ ॥

जिन वनस्पतियों का मूल प्रयोग करने योग्य है वे 'मूलिन' हैं । ऐसी वनस्पतियां सोलह हैं, और जिन वनस्पतियों का फल उपयोगी है वे 'फलिनी' हैं, ऐसी वनस्पतियां उन्नीस हैं । चार महास्नेह हैं जैसे घी, तैल, वसा, और मज्जा; पांच प्रकार के नमक हैं, आठ प्रकार के मूत्र और आठ ही प्रकार के दूध हैं और संशोधन के लिये छः वृक्ष पुनर्वसु आत्रेय ने कहे हैं । जो विद्वान् वैद्य रोगों में इन सब का प्रयोग करना जानता है वह आयुर्वेद को भली प्रकार से जानता है ॥ ७४–७६ ॥

सोलह 'मूलिनी' ओषधियों की गणना—

हस्तिदन्ती हैमवती श्यामा त्रिवृदधोगुडा ।
सप्तला श्वेतनामा च प्रत्यक्श्रेणी गवाक्ष्यपि ॥ ७७ ॥
ज्योतिष्मती च बिम्बी च शणपुष्पी विषाणिका ।
अजगन्धा द्रवन्ती च क्षीरिणी चात्र षोडशी ॥ ७८ ॥

१ हस्तीदन्ती (चका), २ हैमवती (श्वेत वच), ३ श्यामा (त्रिवृत), ४ त्रिवृत् (लाल जड़ वाली निशोथ), ५ अधोगुडा (विधारा), ६ सप्तला (शिका काई), ७ श्वेतनाम (श्वेत कोयल), ८ प्रत्यक् श्रेणी (दन्ती जमालगोटा), ९ गवाक्षी (इन्द्रायण), १० ज्योतिष्मती (माल कंगनी), ११ बिम्बी (कन्दूरी), १२ शणपुष्पी (झन झनियां), १३ विषाणिका (उत्तरण), १४ अजगन्धा (डूकु), १५ द्रवन्ती (जंगली एरण्ड), १६ क्षीरिणी (छिरवी) ये सोलह हैं ॥ ७७-७८ ॥

इनके कर्म—

शणपुष्पी च बिम्बी च छर्दने हैमवत्यपि ।
श्वेता ज्योतिष्मती चैव योज्या शीर्षविरेचने ॥ ७९ ॥
एकादशावशिष्टा याः प्रयोज्यास्ता विरेचने ।
इत्युक्ता नामकर्मभ्यां मूलिन्यः, फलिनीः शृणु ॥ ८० ॥

ऊपर कही हुई सोलह मूलिनी ओषधियों में, शणपुष्पी, बिम्बी, और हैमवती (श्वेतवचा) ये तीन वमन कार्य में प्रयोग करनी चाहिये, श्वेत अपराजिता, ज्योतिष्मती ये दोनों शिरोविरेचन में, और शेष ग्यारह वनस्पतियां विरेचन कार्य में प्रयोग करनी चाहिये । सब कामों में इनके मूल ही काम में लाने चाहिये। इस प्रकार से ये सोलह 'मूलवाली, वनस्पतियां नाम और कर्म सहित कह दी गयी हैं । 'फलिनी' वनस्पतियों का नाम सुनो ॥ ७९-८० ॥

शङ्खिन्यथ विडङ्गानि त्रपुषं मदनानि च ।
आनूपं स्थलजं चैव क्लीतकं द्विविधं स्मृतम् ॥ ८१ ॥
धामार्गवमथेक्ष्वाकु जीमूतं कृतवेधनम् ।
प्रकीर्या चोदकीर्या च प्रत्यक्पुष्पा तथाऽभया ।
अन्तः कोटरपुष्पी च हस्तिपर्ण्याश्च शारदम् ॥ ८२ ॥
कम्पिल्लकारग्वधयोः फलं यत्कुटजस्य च ।
धामार्गवमथेक्ष्वाकु जीमूतं कृतवेधनम् ॥ ८३ ॥

शंखिनी, विडङ्ग (वायविडग), त्रपुष (खीरा, ककड़ी) मदन (मैनफल), आनूप क्लीतक (जल में पैदा होने वाली मुलहैठी), स्थलज क्लीतक (शुष्क भूमि में पैदा होने वाली मुलहैठी), धामार्गव (बड़ी तुरई) इक्ष्वाकु (कड़वी तुरई), जीमूत (वन्दाल), कृतवेधन (तुरई), कडुवी प्रकीर्य्या और उदकीर्य्या (दो प्रकार के करंज), प्रत्यक् पुष्पा (अपामार्ग), अभया (हरड़), अन्तःकोटरपुष्पी (घाव पत्ता), शारदा हस्तिपर्णी । (हस्तिपर्णी के

शरद् ऋतु में उत्पन्न फल), कम्पिल्लक (कमीला), आरग्वध (अमलतास), कुटज (कूड़े का फल, इन्द्र जौ), ये १६ 'फलिनी' वनस्पतियां हैं ॥ ८१-८३ ॥

इनके कर्म—

मदनं कुटजं चैव त्रपुषं हस्तिपर्णिनी ।
एतानि वमने चैव योज्यान्यास्थापनेषु च ॥ ८४ ॥
नस्तः प्रच्छर्दने चैव प्रत्यक्पुष्पा विधीयते ।
दश यान्यवशिष्टानि तान्युक्तानि विरेचने ॥ ८५ ॥

धामार्गव, इक्ष्वाकु, जीमूत, अमलतास, मैनफल, कूड़े का फल, खीरा, और हस्तिपर्णी के शरद ऋतु में उत्पन्न फल ये आठ वनस्पतियां वमन, आस्थापन और निरूह बस्ति कर्म में प्रयोग करना चाहिये ।

अपामार्ग (चिरचिटे) का फल नस्य कर्म में प्रयोग करना चाहिये । और शेष दस वनस्पतियों का प्रयोग विरेचन कार्य में करना चाहिये । इस प्रकार से ये १६ 'फलिनी' वनस्पतियां नाम और कर्म्म द्वारा कह दी हैं ॥ ८४-८५ ॥

चार प्रकार के स्नेह—

नामकर्मभिरुक्तानि फलान्येकोनविंशतिः ।
सर्पिस्तैलं वसा मज्जा स्नेहो दृष्टश्चतुर्विधः ॥ ८६ ॥

सर्पि (घी), तैल, वसा (चर्बी) और मज्जा (अस्थियों वा गुदालयों के भीतरी भाग का स्नेह, चिकनाई) ये चार कहे हैं ॥ ८६ ॥

इनके कर्म कहते हैं:—

पानाभ्यञ्जनबस्त्यर्थं नस्यार्थं चैव योगतः ।
स्नेहना जीवना बल्या वर्णोपचयवर्धनाः ॥ ८७ ॥
स्नेहा ह्येते च विहिता वातपित्तकफापहाः ।

ये चारों स्नेह (पान) शरीर में मुख मार्ग से देने, शरीर पर मालिश करने, (बस्ती) गुदा या उपस्थमार्ग से देने, और (नस्य) नाक से देने में प्रयुक्त होते हैं । ये स्नेह शरीर का स्नेहन करते हैं, शरीर को जीवन देते हैं, शरीर का तर्पण करते हैं, बल और शक्ति को बढ़ाते हैं । ये स्नेह वात, पित्त और कफ को नष्ट करते हैं ॥ ८७ ॥

लवण—

सौवर्चलं सैन्धवं च बिडमौद्भिदमेव च ॥ ८८ ॥
सामुद्रेण सहैतानि पञ्च स्युर्लवणानि च ।

पांच प्रकार के नमक हैं । (१) सैन्धव (सेन्धा नमक) सब नमकों में श्रेष्ठ

है (२) सौवर्चल (संचल), (३) (बिड) काला नमक, (४) (औद्भिद) काच नमक और (५) सामुद्र, समुद्र के पानी से तैय्यार किया हुआ, ये पांच प्रकार के लवण या नमक हैं ॥ ८८ ॥

लवणों के कर्म —

स्निग्धान्युष्णानि तीक्ष्णानि दीपनीयतमानि च ॥ ८९ ॥
आलेपनार्थे युज्यन्ते स्नेहस्वेदविधौ तथा ।
अधोभागोर्ध्वभागेषु निरूहेष्वनुवासने ॥ ९० ॥
अभ्यञ्जने भोजनार्थे शिरसश्च विरेचने ।
शस्त्रकर्मणि वर्त्यर्थमञ्जनोत्सादनेषु च ॥ ९१ ॥
अजीर्णानाहयोर्वाते गुल्मे शूले तथोदरे ।
उक्तानि लवणानि, ऊर्ध्वं मूत्राण्यष्टौ निबोध मे ॥ ९२ ॥

ये नमक स्निग्ध, उष्ण, तीक्ष्ण और दीपनीय अर्थात् विशेष रूप से अग्नि बढ़ानेवाले हैं । ये नमक आलेपन में, स्नेहन में, और स्वेदन कार्य में, अधोभाग-विरेचन और ऊर्ध्व-विरेचन द्वारा दोषों को बाहर निकालने में, निरूहण में, अनुवासन में, अभ्यङ्ग में, भोजन में, और शिर के विरेचन में, शस्त्र कर्म में, वर्त्ति अर्थात् फल वर्त्ति आदि में, अञ्जन में, उबटन में, अजीर्ण में, अफारे में, वायु रोग में, गुल्म में, शूल रोग में, और उदर रोगों में प्रयोग किये जाते हैं । ये पांचों प्रकार के नमक कह दिये ॥ ८९-९२ ॥

आठ मूत्र—

मुख्यानि यानि ह्यष्टानि सर्वाण्यात्रेयशासने ।
अविमूत्रमजामूत्रं गोमूत्रं माहिषं तथा ॥ ९३ ॥
हस्तिमूत्रमथोष्ट्रस्य हयस्य च खरस्य च ।

अब जो मुख्य आठ मूत्र आत्रेय ऋषि ने कहे हैं वे सुनिये—

(१) भेड़ का मूत्र, (२) बकरी का मूत्र, (३) गाय का मूत्र, (४) भैंस का मूत्र, (५) हाथी का मूत्र, (६) ऊँट का मूत्र, (७) घोड़े का मूत्र और (८) गधे का मूत्र ये आठ प्रकार के मूत्र हैं[1] ॥ ९३ ॥

मूत्रों के सामान्य गुण—

उष्णं तीक्ष्णमथो रूक्षं कटुकं लवणान्वितम् ॥ ९४ ॥
मूत्रमुत्सादने युक्तं युक्तमालेपनेषु च ।

---

१. गोऽजाविमहिषीणां तु स्त्रीणां मूत्रं प्रशस्यते ।
खरोष्ट्रेभनराश्वानां पुंसां मूत्रं हितं स्मृतम् ॥" भावप्रकाश ।

युक्तमास्थापने मूत्रं युक्तं चापि विरेचने ॥ ९५ ॥
स्वेदेष्वपि च तद्युक्तमानाहेष्वगदेषु च ।
उदरेष्वथ चार्शःसु गुल्मकुष्ठकिलासिषु ॥ ९६ ॥
तद्युक्तमुपनाहेषु परिषेके तथैव च ।
दीपनीयं विषघ्नं च क्रिमिघ्नं चोपदिश्यते ॥ ९७ ॥
पाण्डुरोगोपसृष्टानामुत्तमं सर्वथोच्यते ।
श्लेष्माणं शमयेत्पीतं मारुतं चानुलोमयेत् ॥ ९८ ॥
कर्षेत्पित्तमधोभागमित्यस्मिन् गुणसंग्रहः ।
सामान्येन मयोक्तस्तु, पृथक्त्वेन प्रवक्ष्यते ॥ ९९ ॥

ये आठों प्रकार के मूत्र गरम, तीक्ष्ण, रूखे, कटु रस, और लवण रस से युक्त हैं। आठों प्रकार के मूत्र उत्सादन में, आलेपन में, प्रलेपन में, आस्थापन में निरूह में, विरेचन में, स्वेदन में, नाडीस्वेद में, आनाह अर्थात् अफारे में, अगद अर्थात् विषनाशक औषधियों में प्रयुक्त होते हैं।

उदर रोगों में, अर्श रोग में, गुल्म, कुष्ठ (कोढ़) और किलास (कुष्ठ का भेद), उपनाह, पुलटिस आदि में, परिषेक अर्थात् सेचन कार्य में, प्रयुक्त होते हैं। ये मूत्र (दीपन) अग्निदीपक, (विषघ्न) विषनाशक, और (क्रिमिघ्न) कृमिनाशक कहे जाते हैं। ये पाण्डु रोगियों के लिये पान, आहार और भेषज आदि कल्पना में उत्तम, हितकारी हैं। पिया हुवा मूत्र श्लेष्मा (कफ) को शमन करता है, वायुको अनुलोमन करता है, और पित्त को अधोमार्ग में खींचता है, पित्त का विरेचन करता है। ये आठों मूत्रोंके सामान्य से गुण कह दिये हैं ॥९५-९९॥

आठों मूत्रोंमें से एक एक के जो पृथक् २ गुण है वह आगे कहे जाते हैं—

अविमूत्रं सतिक्तं स्यात्स्निग्धं पित्ताविरोधि च ।
आजं कषायमधुरं पथ्यं दोषान्निहन्ति च ॥ १०० ॥
गव्यं समधुरं किंचिद्दोषघ्नं क्रिमिकुष्ठनुत् ।
कण्डूलं शमयेत्पीतं सम्यग्दोषोदरे हितम् ॥ १०१ ॥
अर्शःशोफोदरघ्नं तु सक्षारं माहिषं सरम् ।
हास्तिकं लवणं मूत्रं हितं तु क्रिमिकुष्ठिनाम् ॥ १०२ ॥
प्रशस्तं बद्धविण्मूत्रविषश्लेष्मामयार्शसाम् ।
सतिक्तं श्वासकासघ्नमर्शोघ्नं चौष्ट्रमुच्यते ॥ १०३ ॥
वाजिनां तिक्तकटुकं कुष्ठव्रणविषापहम् ।
खरमूत्रमपस्मारोन्मादग्रहविनाशनम् ॥ १०४ ॥

१. भेड़ का मूत्र थोड़ा तिक्त, स्निग्ध एवं पित्त का अविरोधी है, वह न तो पित्त को बढ़ाता है, और न पित्त को शमन करता है।

२. बकरी का मूत्र कषाय और मधुर रस, स्रोतों के लिये हितकारी है, और त्रिदोषनाशक है।

३. गाय का मूत्र कुछ मधुर, दोषनाशक, कृमि, और कुष्ठ का नाशक है। इसके पीने से खाज शमन होती है, एवं वात आदि से उत्पन्न पेट के रोगों में हितकर है।

४. भैंस का मूत्र बवासीर, शोथ, और उदर रोगों को नाश करने वाला, थोड़ा खारा और मलभेदक है।

५. हाथी का मूत्र नमकीन, कृमि और कुष्ठ रोग वाले पुरुषों के लिये हितकारी है। अवरुद्ध मल और मूत्र रोग अलसक रोग, विष रोग, श्लेष्म जन्य रोगों और बवासीर में श्रेष्ठ है।

६. ऊँट का मूत्र थोड़ा तिक्त, श्वास, कास और अर्श रोग का नाशक है।

७. घोड़ों का मूत्र तिक्त और कटु, कुष्ठ, विष और व्रण का नाशक है।

८. गधे का मूत्र अपस्मार, (मृगी, हिस्टीरिया) उन्माद आदि (पागलपन) का नाशक है ॥ १००-१०४ ॥

आठ प्रकार के दूध—

इतीहोक्तानि मूत्राणि यथासामर्थ्ययोगतः।
अतः क्षीराणि वक्ष्यन्ते कर्म चैषां गुणाश्च ये ॥ १०५ ॥
अविक्षीरमजाक्षीरं गोक्षीरं माहिषं च यत्।
उष्ट्रीणामथ नागीनां वडवायाः स्त्रियास्तथा ॥ १०६ ॥

इस प्रकार से इस शास्त्र में सामान्य और विशेष दोनों प्रकार से यथासामर्थ्य अर्थात् मूत्रों की जैसी जैसी शक्ति है, वैसे गुण कह दिये हैं।

अब आठ प्रकार के दूध, इन के कर्म और गुण भी कहे जाते हैं:—
१. भेड़ का, २. बकरी का, ३. गाय का, ४. भैंस का, ५. ऊँटनी का, ६. हथिनी का, ७. घोड़ी का और ८. स्त्रियों का दूध ॥१०५-१०६॥

सब दूधों के सामान्य गुण—

प्रायशो मधुरं स्निग्धं शीतं स्तन्यं पयः स्मृतम्।
प्रीणनं बृंहणं वृष्यं मेध्यं बल्यं मनस्करम् ॥ १०७ ॥
जीवनीयं श्रमहरं श्वासकासनिबर्हणम्।
हन्ति शोणितपित्तं च संधानं विहतस्य च ॥ १०८ ॥
सर्वप्राणभृतां सात्म्यं शमनं शोधनं तथा।

तृष्णाघ्नं दीपनीयं च श्रेष्ठं क्षीणक्षतेषु च ॥ १०९ ॥
पाण्डुरोगेऽम्लपित्ते च शोषे गुल्मे तथोदरे ।
अतीसारे ज्वरे दाहे श्वयथौ च विधीयते ॥ ११० ॥
योनिशुक्रप्रदोषेषु मूत्रेषु प्रदरेषु च ।
पुरीषे ग्रथिते पथ्यं वातपित्तविकारिणाम् ॥ १११ ॥

सब दूध प्रायः[1] मधुर रस, स्निग्ध, शीत, (स्तन्य) दूध बढ़ाने वाले, (प्रीणन) पुष्टि देने वाले, (बृंहण) शरीर को बढ़ाने वाले; (वृष्य) वीर्य-वर्धक, (मेध्य) बुद्धि के लिये हितकारी, (बल्य) शरीर को बल देने वाले, (मनस्कर) मन को प्रसन्न करने वाले, (जीवनीय) जीवन के लिये हितकारी, (श्रमहर) थकावट को मिटाने वाले, श्वास और कास (कफ, कास को छोड़-कर शेष समस्त कासों को) मिटाने वाले हैं। दूध रक्त पित्त का नाश करता और टूटे हुए को जोड़ने वाला है, सब प्राणियों के लिये सात्म्य दोषों को शमन अर्थात् स्वस्थान में स्थित दोषों को शान्त करने वाला है, प्यास का नाश करने वाला, अग्नि वर्धक, क्षीण और क्षत रोगियों के लिये हितकारी, पाण्डु रोग वातपित्त, शोष, गुल्म, उदर अतीसार ज्वर (जीर्ण ज्वर), दाह, (श्वयथु) शोथ रोग में विशेष करके पथ्य है। योनि रोगों में, शुक्र रोगों में, मूत्रकृच्छ्र रोग में, मलावरोध में; पथ्य और हितकारी है। वह वात-पित्त रोगियों के लिये भी पथ्य है ॥१०७–१११॥

दूध के कर्म्म कहते हैं:—

नस्यालेपावगाहेषु वमनास्थापनेषु च ।
विरेचने स्नेहने च पयः सर्वत्र युज्यते ॥ ११२ ॥
यथाक्रमं क्षीरगुणानेकैकस्य पृथक्पृथक् ।
अन्नपानादिकेऽध्याये भूयो वक्ष्याम्यशेषतः ॥ ११३ ॥

यह दूध नस्य कर्म में, अवगाहन क्रिया में, आलेपन में, वमन में, आस्था-पन में, बस्ति में, विरेचन में, स्नेह कर्म में, सब स्थानों पर रसायन अर्थात् वाजीकरण आदि में भी प्रयुक्त होता है। यहां पर आठों प्रकार के दूधों के गुण-कर्म सामान्य रूप में कह दिये हैं। आगे 'अन्न पान विधि' नामक अध्याय (सूत्रस्थान अ० २७) में क्रमानुसार प्रत्येक दूध के गुण-कर्म पृथक् पृथक् सम्पूर्ण रूप से कहेंगे ॥११२–११३॥

अथापरे त्रयो वृक्षाः पृथग्ये फलमूलिभिः ।

---

१ प्रायः शब्द से ऊँटनी के दूध का निषेध है। ऊँटनी का दूध नमकीन है।

स्नुह्यर्काश्मन्तकास्तेषामिदं कर्म पृथक्पृथक् ॥ ११४ ॥
वमनेऽश्मन्तकं विद्यात्स्नुहीक्षीरं विरेचने ।
क्षीरमर्कस्य विज्ञेयं वमने सविरेचने ॥ ११५ ॥

अब शोधन के लिये कहे हुए छः वृक्षों में तीन का दूध और तीन की त्वचा ग्रहण की जाती है। इनमें प्रथम दूधवाले तीन वृक्ष फलिनी और मूलिनी वनस्पतियों से पृथक् हैं, उन के नाम १. स्नुही (थोर); २. अर्क (आक) और ३. अश्मन्तक हैं। अश्मन्तक का दूध वमन के लिये; स्नुही का दूध विरेचन के लिये और आक का दूध वमन और विरेचन दोनों कार्यों के लिये जानना चाहिये * ॥ ११४–११५ ॥

इमांस्त्रीनपरान् वृक्षानाहुर्येषां हितास्त्वचः ।
पूतिकः कृष्णगन्धा च तिल्वकश्च तथा तरुः ॥ ११६ ॥
विरेचने प्रयोक्तव्यः पूतिकस्तिल्वकस्तथा ।
कृष्णगन्धा परीसर्पे शोथेष्वर्शःसु चोच्यते ॥ ११७ ॥
दद्रुविद्रधिगण्डेषु कुष्ठेष्वप्यलजीषु च ।
षड्वृक्षाञ्छोधनानेतानपि विद्याद्विचक्षणः ॥ ११८ ॥

दूसरे–शेष तीन वृक्ष हैं–जिनकी त्वचा हितकारी है। उन वृक्षों के नाम—पूतीक (करंज), कृष्णगन्धा और तिल्वक (लोध्र) हैं। इन में करंज और लोध वृक्ष की छाल विरेचन कार्य में प्रयुक्त होती है। और कृष्णगन्धा की छाल परि सर्प (वीसर्प, एकज़ीमा, त्वग् रोग में), शोथ, अर्श रोग, दद्रु (दाद), विद्रधि, गण्डमाला, कुष्ठ और अलजी नामक नाना रोगों में प्रयुक्त होती है।

शिरोविरेचन में इसका प्रयोग रोग-भिषग्जितीय अध्याय (विमानस्थान अ० ८) में कहेंगे ॥ ११६–११८ ॥

इन ऊपर कहे हुए छः वृक्षों को शोधनकारक जाने।

उपसंहार—

इत्युक्ताः फलमूलिन्यः स्नेहाश्च लवणानि च ।
मूत्रं क्षीराणि वृक्षाश्च षड्ये दृष्टाः पयस्त्वचः ॥ ११९ ॥

फलिनी १९, मूलिनी १६, स्नेह ४, लवण ५, मूत्र ८, दूध ८, और शोधन वृक्ष ६, जिनके दूध और त्वचा काम में आते हैं वे कह दिये हैं ॥११९ ॥

---

* अश्मन्तक के समान कार्य करने वाला वृक्ष अष्टा है जो महाराष्ट्रों में होता है, इसका दूध वामक है।

ओषधीर्नामरूपाभ्यां जानते ह्यजपा वने ।
अविपाश्चैव गोपाश्च ये चान्ये वनवासिनः ॥ १२० ॥

बकरियां चराने वाले, भेंड़े चराने वाले, गौवें चराने वाले और अन्य तपस्वी या भील आदि जो कि जंगल में रहते हैं ये लोग ओषधियों को नाम रूप और आकृति से पहिचानते हैं ॥ १२० ॥

न नामज्ञानमात्रेण रूपज्ञानेन वा पुनः ।
ओषधीनां परां प्राप्तिं कश्चिद्वेदितुमर्हति ॥ १२१ ॥
योगविन्नामरूपज्ञस्तासां तत्त्वविदुच्यते ।
किं पुनर्यो विजानीयादोषधीः सर्वथा भिषक् ॥ १२२ ॥
योगमासां तु यो विद्याद्देशकालोपपादितम् ।
पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य स विज्ञेयो भिषक्तमः ॥ १२३ ॥

ओषधियों के नाम जान लेने मात्र से, अथवा रूप से पहिचान लेने से भी कोई ओषधि के सम्यक् प्रयोग को नहीं जान सकता । इसीलिये शास्त्र में इनका वर्णन किया जाता है ।

जो वैद्य ओषधियों को नाम, रूप, और उनके योग और प्रयोगों सहित जानता है, वह तो तत्त्ववित् है ही, जो वैद्य ओषधियों को सभी प्रकार से समझता है; उसके लिये कहना ही क्या ? और जो व्यक्ति प्रत्येक पुरुष के बल, शरीर, आहार, सार, सात्म्य, सत्त्व प्रकृति और वयस का विचार करके देश, काल, मात्रा के अनुसार ओषधि को जानता है वह वैद्यों में श्रेष्ठ है ॥१२१-१२३॥

न जानी हुई ओषधियों से हानियाँ—

यथा विषं यथा शस्त्रं यथाग्निरशनिर्यथा ।
तथौषधमविज्ञातं विज्ञातममृतं यथा ॥ १२४ ॥
औषधं ह्यनभिज्ञातं नामरूपगुणैस्त्रिभिः ।
विज्ञातमपि दुर्युक्तमनर्थायोपपद्यते ॥ १२५ ॥

जिस प्रकार न जाना हुआ (मूढ़ आदमी से प्रयुक्त किया हुआ) विष, जिस प्रकार शस्त्र, जिस प्रकार अग्नि और जिस प्रकार अशनि (वज्र) या (बिजली) मृत्यु के कारण बनते हैं, उसी कार नाम रूप गुण से न जानी हुई औषधि भी मृत्यु का कारण हो सकता है और नामरूप और गुण से जानी हुई औषधि अमृत के समान है । नाम, रूप एवं गुण से न

जानी हुई औषध या जाना हुई भी देश काल आदि का विचार न करके देने से अनिष्ट के लिए होती है, वह भारी अनर्थ-उत्पन्न करती है ॥ १२४-१२५ ॥

योगादपि विषं तीक्ष्णमुत्तमं भेषजं भवेत् ।
भेषजं चापि दुर्युक्तं तीक्ष्णं संपद्यते विषम् ॥ १२६ ॥
तस्मान्न भिषजा युक्तं युक्तिबाह्येन भेषजम् ।
धीमता किञ्चिदादेयं जीवितारोग्यकाङ्क्षिणा ॥ १२७ ॥

तीक्ष्ण प्राणनाशक विष भी सम्यक् प्रकार से प्रयोग करने पर उत्तम औषध का कार्य करता है । औषध भी अनुचित प्रकार से प्रयोग करने पर तीक्ष्ण-प्राण नाशक विषका काम करती है ।

इसलिये अनुचित रूप में प्रयोग को जाने वाली औषधि के विष के समान होने के कारण आयु एवं आरोग्य को चाहने वाले बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिये कि, देश काल-मात्रा आदि का विचार न करके देने वाले मूढ वैद्य से दी हुई औषध को कभी ग्रहण न करे ॥ १२६-१२७ ॥

कुर्यान्निपतितो मूर्ध्नि सशेषं वासवाशनिः ।
सशेषमातुरं कुर्यान्न त्वज्ञमतमौषधम् ॥ १२८ ॥

इन्द्र के हाथ से छूटा हुआ वज्र यदि मनुष्य के सिर पर गिर पड़े तो उससे बचना सम्भव हो सकता है, परन्तु मूर्ख वैद्य से दी हुई औषधि रोगी को समाप्त ही कर डालती है, इससे बचना असम्भव है ॥ १२८ ॥

दुःखिताय शयानाय श्रद्दधानाय रोगिणे ।
यो भेषजमविज्ञाय प्राज्ञमानी प्रयच्छति ॥ १२९ ॥
त्यक्तधर्मस्य पापस्य मृत्युभूतस्य दुर्मतेः ।
नरो नरकपाती स्यात्तस्य संभाषणादपि ॥ १३० ॥

जो प्राज्ञमानी-अपने को बुद्धिमान् गिनने वाला वैद्य, औषध को न जानकर दुःखी, अचेत पड़े, वैद्य में श्रद्धा करने वाले रोगी को औषध देता है, ऐसे धर्म को छोड़ देने वाले विश्वासघाती, मृत्यु के समान साक्षात् यम और दुर्मति, अज्ञ, मूढ़ वैद्य के साथ बोलने से भी मनुष्य नरकगामी होता है, फिर स्पर्श आदि से क्यों नहीं होगा ॥ १२९-१३० ॥

वरमाशीविषविषं कथितं ताम्रमेव वा ।
पीतमत्यग्निसंतप्ता भक्षिता वाऽप्ययोगुडाः ॥ १३१ ॥
न तु श्रुतवतां वेषं बिभ्रता शरणागतात् ।
गृहीतमन्नं पानं वा वित्तं वा रोगपीडितात् ॥ १३२ ॥

साँप का विष अथवा ताम्बे को उबाल कर पीना या आग में लाल किये हुए लोहे के गोले खा लेना, कहीं अधिक अच्छा है, परन्तु वैद्य का वेष पहिनकर शरण में आये हुए रोगी से, अन्न, पान अथवा धन ग्रहण करना अच्छा नहीं ॥ १३१-१३२ ॥

वैद्य को क्या करना चाहिये ?

भिषग्बुभूषुर्मतिमानतः स्वगुणसंपदि ।
परं प्रयत्नमातिष्ठेत् प्राणदः स्याद्यथा नृणाम् ॥ १३३ ॥

इसलिये वैद्य बनने की इच्छा करने वाले, बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिये कि, वैद्य के गुणों को प्राप्त करने में अत्यधिक प्रयत्न करे जिससे कि वह मनुष्यों के रोगों को दूर करके प्राण देने वाला सिद्ध हो[1] ॥ १३३ ॥

तदेव युक्तं भैषज्यं यदारोग्याय कल्पते ।
स चैव भिषजां श्रेष्ठो रोगेभ्यो यः प्रमोचयेत् ॥ १३४ ॥

जो औषध रोग को शान्त करने में समर्थ है; वही ठीक प्रकार से प्रयुक्त की हुई औषध है और जो रोगों से रोगियों को मुक्त करे, वह ही वैद्यों में श्रेष्ठ वैद्य है ॥ १३४ ॥

सम्यक्प्रयोगं सर्वेषां सिद्धिराख्याति कर्मणाम् ।
सिद्धिराख्याति सर्वैश्च गुणैर्युक्तं भिषक्तमम् ॥ १३५ ॥

सब प्रकार के कर्मों की सिद्धि, सफलता, उन कर्मों के सम्यक् प्रयोग को बतलाती है। सफलता ही सब गुणों से युक्त वैद्य की श्रेष्ठता को भी बतलाती है। अर्थात् सफलता से ही वैद्य का नाम चमकता है ॥ १३५ ॥

अध्याय का संग्रह—

तत्र श्लोकाः ।

आयुर्वेदागमो हेतुरागमस्य प्रवर्तनम् ।
सूत्रणस्याभ्यनुज्ञानमायुर्वेदस्य निर्णयः ॥ १३६ ॥
सम्पूर्णं कारणं कार्यमायुर्वेदप्रयोजनम् ।
हेतवश्चैव दोषाश्च भेषजं संग्रहेण च ॥ १३७ ॥
रसाः संप्रत्ययद्रव्यास्त्रिविधो द्रव्यसंग्रहः ।
मूलिन्यश्च फलिन्यश्च स्नेहाश्च लवणानि च ॥ १३८ ॥
मूत्रं क्षीराणि वृक्षाश्च षड्ये क्षीरत्वगाश्रयाः ।
कर्माणि चैषां सर्वेषां योगायोगगुणागुणाः ॥ १३९ ॥

---

१. वैद्यगुण-सम्पत्—श्रुतेः पर्यवदातत्वं बहुशो दृष्टकर्म्मता ।
दाक्ष्यं शौचमिति ज्ञेयं वैद्ये गुणचतुष्टयम् ॥

वैद्यापवादो यत्रस्थाः सर्वे च भिषजां गुणाः ।
सर्वमेतत्समाख्यातं पूर्वाध्याये महर्षिणा ॥ १४० ॥

आयुर्वेद का मर्त्यलोक में आना, हेतु-रोगों का उत्पन्न होना, भरद्वाज मुनि द्वारा मर्त्यलोक में शास्त्रों का प्रचार, अग्निवेशादि का तन्त्र बनाना, अग्निवेशादि द्वारा बनाये हुए तन्त्रों के लिये ऋषियों से दी हुई आज्ञा, हिताहित आदि लक्षण रूप सामान्यादि छः कारण, कार्य्य-धातुओं को समान करना आयुर्वेद का प्रयोजन है, संक्षेप से रोगों के कारण, काल, बुद्धि, इन्द्रियार्थ का अतियोग, अयोग, मिथ्यायोग हो: दोष वात, पित्त, कफ, इनकी औषध; आकाश आदि तीन, द्रव्य, जल और पृथिवी, इनके साथ, रसमधुर आदि, द्रव्यसंग्रह; शमन आदि; एवं जंगम आदि के भेद से, मूलिनी–हस्तिदन्ती आदि सोलह; फलिनी–शंखिनी आदि उन्नीस; स्नेह घी आदि चार, महास्नेह; लवण–सौवर्चल आदि पांच; मूत्र आठ; क्षीर आठ, दूध वाले वृक्ष, छाल वाले स्नुही, पूतीक आदि छः वृक्ष; इनके वमन-विरेचन आदि सब कर्म; औषध के सम्यक् योग से जो गुण और असम्यक् योग से जो दुर्गुण हैं; मूढ़ वैद्य की निन्दा और सब गुणों से युक्त वैद्य के लक्षण; यह सब इस प्रथम 'दीर्घञ्जीवितीय' नामक अध्याय में महर्षि भगवान् आत्रेय ने सम्यक् प्रकार से कह दिया है ॥१३६-१४०॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने सभाषाभाष्ये भेषज-चतुष्के दीर्घञ्जीवितीयो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

अथातोऽपामार्गतण्डुलीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

वमन आदि पांच कर्म स्वस्थ एवं रोगी दोनों व्यक्तियों के लिये उपयोगी हैं। इसलिये पूर्व अध्याय में कहे हुए वमन आदि के द्रव्यों को अन्य द्रव्यों के साथ मिला कर इस अध्याय का अवतरण करते हैं।

अपामार्ग (चिरचिटा) के बीजों का तुष रहित करके, तण्डुल बना कर काम में लाना चाहिए, यह बताने के लिये 'अपामार्ग-तण्डुलीय' अध्याय है।

अपामार्गस्य बीजानि पिप्पलीर्मरिचानि च ।
विडङ्गान्यथ शिग्रूणि सर्षपांस्तुम्बुरूणि च ॥ ३ ॥

अजाजीं चाजगन्धां च पीलून्येलां हरेणकाम् ।
पृथ्वीकां सुरसां श्वेतां कुठेरकफणिज्जकौ ॥ ४ ॥
शिरीषबीजं लशुनं हरिद्रे लवणद्वयम् ।
ज्योतिष्मतीं नागरं च दद्याच्छीर्षविरेचने ॥ ५ ॥
गौरवे शिरसः शूले पीनसेऽर्धावभेदके ।
क्रिमिव्याधावपस्मारे घ्राणनाशे प्रमोहके ॥ ६ ॥

अपामार्ग (चिरचिटे) के तण्डुल, पिप्पली, मरिच, वायविडंग, सहंजना के बीज, श्वेत सरसों, तेजबल के बीज, जीरा, अजमोदा (तिलवन), पीलू, एला (छोटी इलायची), हरेणु (रेणुका, मेंहदी के बीज), पृथ्वीका (कलौंजी), सुरसा (काली तुलसी), श्वेता (अपराजिता), कुठेरक (मरवा), फणिज्जक (तुलसी का भेद), शिरीष बीज (सिरस के बीज), लशुन (लहसन), दोनों हरिद्रा (हल्दी और दारु हल्दी), दोनों लवण (सैन्धव और सौवर्चल), ज्योतिष्मती (मालकंगनी), और नागर (सोंठ) ये शिरोविरेचन के लिये उपयोग में लानी चाहिये ।

इन उपरोक्त औषधियों में 'श्वेता' और 'ज्योतिष्मती' ये दो द्रव्य 'मूलिनी' औषधियों में गिने गये हैं । इसलिये इनका मूल ग्रहण करना चाहिये, और अपामार्ग (चिरचिटा) के तण्डुल उपयोग में लाने चाहियें ।

(गौरव) शिर के भारीपन में (शिरःशूल) शिर के दुखने में, (पीनस) नाक से दुर्गन्ध युक्त स्राव, कफ आता हो, (अर्द्धावभेदक) आधा शिर दुःखता हो, (कृमि-व्याधि) कृमि जन्य शिरो रोग में, (अपस्मार) मृगी में, (घ्राण नाश) घ्राण शक्ति के नष्ट होने पर और (प्रमोहक) मूर्छा इन रोगों में शिरो विरेचन के रूपमें प्रयोग करना चाहिये ॥ ३–६ ॥

वमनकारक द्रव्य—

मदनं मधुकं निम्बं जीमूतं कृतवेधनम् ।
पिप्पलीकुटजेक्ष्वाकूण्येला धामार्गवाणि च ॥ ७ ॥
उपस्थिते श्लेष्मपित्ते व्याधावामाशयाश्रये ।
वमनार्थं प्रयुञ्जीत भिषग देहमदूषयन् ॥ ८ ॥

मदन (मैनफल), मधुक (मुलहेठी), नीम (नीम की छाल), जीमूत (कडुवी तुरई), कृतवेधन (कडुवा तुम्बा), पिप्पली, कुटज (कुड़ा), इक्ष्वाकु (कडुवी घिया या आल), एला (छोटी इलायची) धामार्गव (तुरई

कड़ुवी) ये दस वस्तुएँ कफपित्त जन्य व्याधि में अथवा आमाशय में आश्रित व्याधि की अवस्था में, शरीर को हानि किये बिना वैद्य वमन के लिये देवे ।

इनमें मदन, मधुक, जीमूत, कृतवेधन, कुटज, इक्ष्वाकु और धामार्गव इनका फल लेना चाहिये और पिप्पली इलायची का भी फल तथा नीम की छाल लेनी चाहिये ॥ ७–८ ॥

विरेचन द्रव्य—

त्रिवृतां त्रिफलां दन्तीं नलिनीं सप्तलां वचाम् ।
कम्पिल्लकं गवाक्षीं च क्षीरिणीमुदकीर्यकाम् ॥ ९ ॥
पीलून्यारग्वधं द्राक्षां द्रवन्तीं निचुलानि च ।
पक्काशयगते दोषे विरेकार्थं प्रयोजयेत् ॥ १० ॥

त्रिवृत (निशोथ) त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला), दन्ती (जमालगोटा), नीलिनी (नील का मूल), सप्तला (शिकाकाई), वच, कम्पिल्लक (कमीला), गवाक्षी (इन्द्रायण), क्षीरिणी (खिरनी) उदकीर्य्या (नाटा करञ्ज), पीलू फल, आरग्वध (अमलतास), द्रवन्ती (बड़ा जमाल गोटा), निचुल (हिज्जल फल), ये वस्तुएं दोष के पक्काशय में स्थित होने पर विरेचन के लिये देनी चाहिये (शरीर में अन्यत्र स्थित होने पर नहीं') ।

इन में त्रिवृत, नागदन्ती, सप्तला गवाक्षी, क्षीरिणी, और द्रवन्ती का मूल लेना चाहिये, और नीलिनी, तथा वच का भी मूल और शेषों का फल ग्रहण करना चाहिये ॥ ९–१० ॥

आस्थापन और अनुवासन के द्रव्य—

पाटलां चाग्निमन्थं च बिल्वं श्योनाकमेव च ।
काश्मर्यं शालपर्णीं च पृश्निपर्णीं निदिग्धिकाम् ॥ ११ ॥
बलां श्वदंष्ट्रां बृहतीमेरण्डं सपुनर्नवम् ।
यवान् कुलत्थान् कोलानि गुडूचीं मदनानि च ॥ १२ ॥
पलाशं कत्तृणं चैव स्नेहांश्च लवणानि च ।
उदावर्ते विबन्धेषु युञ्ज्यादास्थापने सदा ।
अत एवौषधगणात्संकल्प्यमनुवासनम् ।
मारुतघ्नमिति प्रोक्तः संग्रहः पाञ्चकर्मिकः ॥ १४ ॥

पाटला (पाढल), अग्निमन्थ (अरणी), बिल्व (बेल), श्योनाक (टेंटु, सोनापाठा), काश्मरी (गम्भारी), शालपर्णी (सलवन), पृश्निपर्णी (पोठापर्णी), निदिग्धिका (कटेरी, भटकटैया), बला (खरैंटी), श्वदंष्ट्रा (गोखरू)

बृहती (बड़ी कटेरी), एरण्ड (एरण्डमूल), पुनर्नवा (सांठी घास), यव (जौ), कुलत्थ (कुलथी), कोल (बेर), गुडूची (गिलोय), मदन (मैनफल), पलाश (ढाक), कत्तृण (रोहिष तृण), स्नेह (चारों स्नेह घी आदि), लवण (पांचों नमक) ये उनतीस द्रव्य (उदावर्त्त) अपान वायु की ऊर्ध्व गति होने पर, विबन्ध मल मूत्र आदि के अवरोध में और आस्थापन नामक बस्ति कर्म में प्रयोग करने चाहियें। इन्हीं औषधियों से अनुवासन बस्ति बना कर वायु को नष्ट करने के लिये प्रयोग करनी चाहिये। यह संक्षेप में पंच कर्म (वमन, विरेचन, नस्य, आस्थापन और अनुवासन) कह दिये हैं ॥ ११-१४ ॥

तान्युपस्थितदोषाणां स्नेहस्वेदोपपादनः ।
पञ्च कर्माणि कुर्वीत मात्राकालौ विचारयन् ॥ १५ ॥

प्रवृत्त होने के लिये तैयार दोष वालों को स्नेहन और स्वेदन कराके, शरीर-बल की अपेक्षा से मात्रा और काल का विचार करके वैद्य पंच कर्मों को करावे ॥ १५ ॥

मात्रा और काल के विचार करने की आवश्यकता :

मात्राकालाश्रया युक्तिः, सिद्धिर्युक्तौ प्रतिष्ठिता ।
तिष्ठत्युपरि युक्तिज्ञो द्रव्यज्ञानवतां सदा ॥ १६ ॥

पदार्थों की योजना मात्रा और काल पर अवलम्बित है। शरीरबल, अग्निबल, आयु, व्याधिबल, दोषबल आदि के अनुकूल मात्रा और विशेष समय में प्रयुक्त हुआ द्रव्य भली प्रकार अपने कार्य को कर सकता है।[1] सिद्धि चिकित्सित क्रिया की सफलता युक्ति में आश्रित है। योजना को जानने वाला वैद्य द्रव्य-औषध को जानने वालों में से सदा श्रेष्ठ है। ऊपर स्वस्थ तथा आतुर पुरुषों के लिये पंच कर्मों का उपदेश कर चुके ॥ १६ ॥

रोगियों के लिये आहार विशेष यवागूः—

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि यवागूर्विविधौषधाः ।
विविधानां विकाराणां तत्साध्यानां निवृत्तये ॥ १७ ॥

इसके आगे यवागू से अच्छे होने वाले नाना प्रकार के रोगों के नाश के लिये नाना प्रकार की औषधियों से सिद्ध यवागू (लाप्सी) कहेंगे ॥ १७ ॥

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः ।
यवागूर्दीपनीया स्याच्छूलघ्नी चोपसाधिता ॥ १८ ॥

---

१. जिस प्रकार मृदु-विरेचक औषधियां रात्रि को सोते समय लेने से उत्तम गुण करती हैं।

चूंकि आरोग्य का मूल साधन कोष्ठाग्नि है, इस लिये सब से मुख्य वस्तु कोष्ठाग्नि है। अतः अग्नि को सन्दीपन करने के लिये यवागू कहते हैं,

(१) पिप्पली, पिप्पली मूल (पीपला मूल), (चव्य) चविका, (चित्रक) चीता, सोंठ इन से बनाई हुई यवागू (दीपनी) अग्निवर्धक और शूलनाशक होती है[1] ॥ १८ ॥

यवागू तीन प्रकार की है, १. यवागू जो छः गुने जल में पकती है, २. मण्ड चौदह गुने जल में और ३. विलेपी चार गुने जल में पकाई जाती है।

दधित्थ-बिल्व-चाङ्गेरी-तक्र-दाडिम-साधिता।
पाचनी ग्राहिणी पेया, सवाते पाञ्चमूलिकी ॥ १९ ॥

(२) दधित्थ (कैथ), बिल्व (बेलगिरी-गूदा), चांगेरी (चोपतिया), तक्र (छाछ), दाडम (अनारदाना) इन से बनाई हुई यवागू 'पाचनी' पाचन करने वाली 'ग्राहिणी' अर्थात् स्तम्भक वा मल को रोकने वाली है।

(३) पंच मूल बृहत्पञ्चमूल-शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कटेरी, बड़ी कटेरी और गोखरू-यह पांच वातहर हैं इनसे साधित यवागू वातविकार के लिये उपयोगी है ॥ १९ ॥

शालपर्णी-बला-बिल्वैः पृश्निपर्ण्या च साधिता।
दाडिमाम्ला हिता पेया पित्तश्लेष्मातिसारिणाम् ॥ २० ॥

(४) शालपर्णी (सालवन), बला (खरैंटी), बिल्व (बेलगिरी), और पृश्निपर्णी (पीठापर्णी) इन से बनाई तथा अनार के रस से खट्टी की हुई यवागू पित्त-श्लेष्म जन्य अतिसार रोग में हितकारी है ॥ २० ॥

पयस्यर्धोदके छागे ह्रीबेरोत्पलनागरैः।
पेया रक्तातिसारघ्नी पृश्निपर्ण्या च साधिता ॥ २१ ॥

(५) बकरी का जितना दूध हो, उससे आधा पानी इस में मिला कर (मिलित परिमाण छः गुना), ह्रीबेर (नेत्रवाला), उत्पल (कमलगट्टा) और सोंठ, और पृष्ठपर्णी (पिठवन) ये एक कर्ष मात्रा लेकर यवागू सिद्ध करनी चाहिये। यह यवागू रक्तातिसार को नष्ट करती है ॥ २१ ॥

१. पिप्पली आदि सब साधन द्रव्य मिलकर एक कर्ष अर्थात् चार मासे लेने चाहिये। इसको थोड़ा कूट लेना चाहिये, पकाने में आधा पानी जलाना चाहिये, पानी की मात्रा के भेद से नाना भेद हो जाते हैं।

दद्यात्सातिविषां पेयां सामे साम्लां सनागराम्।
श्वदंष्ट्राकण्टकारीभ्यां मूत्रकृच्छ्रे सफाणिताम्॥ २२॥

(६) अतिविषा (अतीस), नागर (सोंठ) इनके कषाय अथवा कल्क से छः गुने जल में यवागू सिद्ध करे, इसे अनार के रस से खट्टी कर के आमातिसार (रक्तातिसार) में दे।

(७) मूत्र कृच्छ्र रोग में श्वदंष्ट्रा (गोखरू) और कण्टकारी (कटेरी) इन के कषाय या कल्क से छः गुने जल में यवागू सिद्ध करके इस में फाणित (राब, आधा पका गुड़) डाल दे॥ २२॥

विडङ्ग-पिप्पलीमूल-शिग्रुभिर्मरिचेन च।
तक्रसिद्धा यवागूः स्यात्क्रिमिघ्नी ससुवर्चिका॥ २३॥

(८) वायविडंग, पिप्पलीमूल, शिग्रु (सहजना) और मरिच इनके कल्क से छः गुने तक्र में सिद्ध की हुई यवागू में सुवर्चिका (सौवर्चल नमक) डालकर रोगी को देने से कृमि नष्ट होते हैं। यहाँ पानी के स्थान पर तक्र का प्रयोग करे॥

मृद्वीका-सारिवा-लाजा-पिप्पली-मधुनागरैः।
पिपासाघ्नी, विषघ्नी च सोमराजीविपाचिता॥ २४॥

(९) मृद्वीका (द्राक्षा दाख) सारिवा (अनन्त मूल) लाजा (खीलें), पिप्पली, और सोंठ इन के कल्क या कषाय से यवागू को छः गुने जल में सिद्ध करे। ठण्डा होने पर इस में शहद मिला कर पीने से प्यास शान्त होती है।

(१०) सोमराजी (बावची) से सिद्ध की हुई यवागू 'विषघ्नी' अर्थात् खाये हुए विष को नष्ट करने वाली है॥ २४॥

सिद्धा वराहनिर्यूहे यवागूर्बृंहणी मता।
गवेधुकानां भृष्टानां कर्षणीया समाक्षिका॥ २५॥

(११) सुअर के मांस रस में सिद्ध की हुई यवागू पुष्टि कारक होती है।

(१२) भूने हुए गेहुओं के सत्तू से बनाई हुई यवागू में शहद मिला कर लेने से शरीर पतला होता है॥ २५॥

सर्पिष्मती बहुतिला स्नेहनी लवणान्विता।
कुशामलकनिर्यूहे श्यामाकानां विरूक्षणी॥ २६॥

(१३) घी वाली, तिलयुक्त नमकीन यवागू स्नेहकारक है। वह शरीर को स्निग्ध करती है। तिलों के साथ कुछ चावल मिला लें। यवागू सिद्ध करके फिर इस में भी और नमक मिलावें।

(१४) कुश (दाभ) की जड़ और आमलक (आंवले का फल) इनको एक २ कर्ष लेकर छः गुने जल में कषाय करे इसमें श्यामाक तण्डुल पाक कर के सिद्ध करनी चाहिये। यह पान करने योग्य यवागू शरीर में रूक्षता उत्पन्न करती है ॥ २६ ॥

दशमूलीशृता कास-हिक्का-श्वास-कफापहा।
यमके मदिरासिद्धा पक्वाशयरुजापहा ॥ २७ ॥

(१५) दशमूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कटेरी, बृहती, गोखरू, बिल्व, श्योनाक, अरणी, गम्भारी, पाठा) से सिद्ध की हुई यवागू कास, हिक्का, श्वास और कफ को नष्ट करती है।

(१६) यमक अर्थात् समान भाग घी और तैल लेकर इन में भूनी हुई एवं पानी के स्थान पर मदिरा लेकर उनमें सिद्ध की हुई यवागू (मदिरा मिलाकर देने से) पक्काशय की पीड़ा को मिटाती है[1] ॥ २७ ॥

शाकैर्मांसैस्तिलैर्माषैः सिद्धा वर्चो निरस्यति।
जम्ब्वाम्रास्थि-दधित्थाम्ल-बिल्वैः सांग्राहिकी मता ॥ २८ ॥

(१७) 'शाक' (हरी सब्जियाँ) मांस, तिल, माष (उड़द) इन के कल्क और कषाय से सिद्ध की हुई यवागू मल को बाहर निकालती है।

(१८) जम्बु-अस्थि (जामुन की गुठली) आम्रास्थि (आम की गुठली की गिरी) दधित्थाम्ल (कैथ कच्चा, खट्टी अवस्था में), बिल्व (बेलगिरी कच्चे हरे), इनसे सिद्ध की हुई यवागू 'स्तम्भक' है ॥ २८ ॥

क्षार-चित्रक-हिङ्ग्वम्ल-वेतसैर्भेदिनी मता।
अभया-पिप्पलीमूल-विश्वैर्वातानुलोमनी ॥ २९ ॥

(१९) क्षार (जवाखार [2]), चित्रक (चीतामूल), हींग, अम्लवेतस (अमलवेत), इन से सिद्ध की हुई यवागू मल को भेदन करके बाहर निकालती है।

(२०) अभया (जंगी हरड़), पीपल मूल और विश्व (सोंठ) इन से

१ 'यमक' एक भाग घी और एक भाग तैल परस्पर समान और एक भाग मदिरा लेनी चाहिये। अथवा मूंग की दाल और सांठी के चावल परस्पर समान भाग मिलाकर मदिरा में यवागू सिद्ध करनी चाहिये। (जल्प कल्प-तरु)

२. जवाखार बनाने के लिये हरे जवों को आग में स्वच्छ स्थान में जला लेना चाहिये। फिर इस को पानी में घोलकर वस्त्र में से छान लेना चाहिये। छाने हुए पदार्थ को आग पर गरम करके शुष्क कर लेना चाहिये।

सिद्ध की हुई यवागू वात का अनुलोमन अर्थात् कफ वातादि दोषों का परिपाक करके मल को अच्छी प्रकार से बाहर करती है ।।। २६ ।।

तक्रसिद्धा यवागूः स्याद् घृतव्यापत्तिनाशिनी ।
तैलव्यापदि शस्ता तु तक्रपिण्याकसाधिता ।। ३० ।।

(२१) छाछ में सिद्ध की हुई यवागू घी के अधिक खाने से उत्पन्न विकार को नष्ट करती है ।

(२२) छाछ और पिण्याक (खल) से सिद्ध की हुई यवागू तैल के अधिक खाने से उत्पन्न व्याधि में देने योग्य है ।। ३० ।।

गव्यमांसरसैः साम्ला विषमज्वरनाशिनी ।
कण्ठ्या यवानां यमके पिप्पल्यामलकैः शृता ।। ३१ ।।

(२३) गाय के मांस के रस में सिद्ध की हुई यवागू को अनार, आंवला आदि ज्वर नाशक खटाई से खट्टा करके देने पर विषम ज्वर नष्ट होता है ।

(२४) जौ को समान भाग लेकर घी और तैल में भूनकर पिप्पली और आंवले इनके कषाय या कल्क से सिद्ध की हुई यवागू कण्ठ के रोगों के लिये हितकर है ।। ३१ ।।

ताम्रचूडरसे सिद्धा रेतोमार्गरुजापहा ।
समाषविदला वृष्या घृतक्षीरोपसाधिता ।। ३२ ।।

(२५) 'ताम्रचूड़' अर्थात् कुकुट के मांस के रस में सिद्ध की हुई यवागू शुक्र मार्ग की पीड़ा को मिटाती है ।

(२६) जल के स्थान पर दूध और घृत यथापरिमाण में लेकर उनमें उड़द की दाल या इसकी पिसी हुई पिट्ठी को पहिले घी में भूनकर दूध में यवागू सिद्ध करनी चाहिये । यह शुक्रवर्धक है ।। ३२ ।।

उपोदिकादधिभ्यां तु सिद्धा मदविनाशिनी ।
क्षुधं हन्यादपामार्गक्षीरगोधारसे शृता ।। ३३ ।।

(२७) उपोदिका अर्थात् पोई को कल्क रूप में तथा दही को पानी के स्थान में लेकर यवागू सिद्ध करनी चाहिये । यह यवागू धतूरे आदि के विष को नष्ट करती है । पोई और दही से सिद्ध की यवागू मद नाशक है ।

(२८) चिरचिटे के चावलों को दूध और गोह के मांस में पकाकर यवागू सिद्ध करे । इस से भूख का नाश होता है । यहां पर जल वा सादे चावल नहीं प्रयुक्त होते ।। ३३ ।।

उपसंहार—

तत्र श्लोकाः ।

अष्टाविंशतिरित्येता यवाग्वः परिकीर्तिताः ।
पञ्चकर्माणि चाश्रित्य प्रोक्तो भैषज्यसंग्रहः ॥ ३४ ॥
पूर्वं मूलफलज्ञानहेतोरुक्तं यदौषधम् ।
पञ्चकर्माश्रयज्ञानहेतोस्तत्कीर्तितं पुनः ॥ ३५ ॥

इस अध्याय में अट्ठाईस प्रकार की यवागू कह दी हैं और पंच कर्म (वमन, विरेचन, नस्य, आस्थापन और अनुवासन) इन के योग्य औषधियां भी कह दी हैं। मूलिनी, फलनी आदि का ज्ञान कराने के लिये जो औषधियां प्रथम अध्याय में कही हैं, वे औषधियां पंचकर्मों में आश्रय व्याधियों में उपयुक्त हैं, इसलिये यहां पर फिर लिखी हैं ॥ ३४-३५ ॥

स्मृतिमान् युक्तिहेतुज्ञो जितात्मा प्रतिपत्तिमान् ।
भिषगौषधसंयोगैश्चिकित्सां कर्तुमर्हति ॥ ३६ ॥

(स्मृतिमान्) स्मरण शक्ति वाला, (हेतुज्ञ) रोग के कारण का जानने वाला, (युक्तिज्ञ) योजना, व्याधि के साधन रूप भैषज्य की कल्पना को जानने वाला, अथवा मात्रा की भांति द्रव्य, व्याधि बल और व्याधि रूप को जानने वाला, (जितात्मा) भ्रम-प्रमाद रहित, (प्रतिपत्तिमान्) उत्तम सूझ वाला, वैद्य औषधियों के योग से उपचार करने में समर्थ हो सकता है ॥ ३६ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने समापाभाष्ये भेषज-
चतुष्केऽपामार्गतण्डुलीयो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

अथात आरग्वधीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

रोगों की हितकामना से यवागू कहकर उसी प्रसंग में प्रदेह चूर्ण आदि कहते हैं। इसके लिये 'आरग्वधीय' नामक तीसरे अध्याय का व्याख्यान करते हैं ऐसा भगवान् आत्रेय कहते हैं। इस अध्याय का आरम्भ 'आरग्वध' से हुआ है, इसलिये इस अध्याय का नाम आरग्वधीय है ॥१-२॥

आरग्वधः सैडगजः करञ्जो वासा गुडूची मदनं हरिद्रे ।
श्र्याह्वः सुराह्वः खदिरो धवश्च निम्बो विडङ्गं करवीरकत्वक् ॥३॥
ग्रन्थिश्च भौर्जो लशुनः शिरीषः सलोमशो गुग्गुलुकृष्णगन्धे ।
फणिज्जको वत्सकसप्तपर्णौ पीलूनि कुष्ठं सुमनःप्रवालाः ॥४॥
वचा हरेणुस्त्रिवृता निकुम्भो भल्लातकं गैरिकमञ्जनञ्च ।
मनःशिलाले गृहधूम एला काशीसलोध्रार्जुनमुस्तसर्जाः ॥ ५ ॥
इत्यर्धरूपैर्विहिताः षडेते गोपित्तपीताः पुनरेव पिष्टाः ।
सिद्धाः परं सर्षपतैलयुक्ताश्चूर्णप्रदेहा भिषजा प्रयोज्याः ॥ ६ ॥
कुष्ठानि कृच्छ्राणि नवं किलासं सुरेन्द्रलुप्तं किटिभं सदद्रु ।
भगन्दरार्शांस्यपचीं सपामां हन्युः प्रयुक्तास्त्वचिरान्नराणाम् ॥ ७ ॥

'आरग्वध' से लेकर 'सर्ज' इस शब्द तक तीन श्लोकों में कहे हुए छः योग हैं, इनको गाय के पित्त में पीस कर काम में लाना चाहिये । यथा—(१) आरग्वध (अमलतास), ऐडगज (पनवाड़), करञ्ज (नाटा करंज), वासा (वासे के पत्ते), गुडूची (गिलोय), मदन (मैनफल), दो हरिद्रा (हल्दी और दारु हल्दी) । (२) श्र्याह्व (गन्दा विरोजा), सुरा (देवदार), खदिर (खैर), और धव (धावन), निम्ब (नीम के पत्ते), विडंग (वायविडंग), करवीरत्वक् (कनेर की छाल) यह दूसरा । (३) भोजपत्र की गाठें, लशुन (लहसन), शिरीष (सिरस की छाल), लोमशा (जटामांसी), गूगल, कृष्ण-गन्धा (सहजना) यह तीसरा । (४) फणिज्जक (मरवा) वत्सक (इन्द्र जौ) सप्तपर्ण (सातवन), पीलू कुष्ठ (कूठ), सुमनःप्रवाल (चमेली के कोमल पत्ते) यह चौथा । (५) वचा (वच), हरेणु (रेणुका बीज, मेंहदी के बीज), त्रिवृत् (निशोथ), निकुम्भ (जमाल गोटा), भल्लातक (भिलावा), गैरिक (गेरू), अंजन (रसाञ्जन), यह पांचवां, (६) मनःशिला (मैनसिल), आल (हरिताल), गृहधूम (घरका धुंआसा), एला (छोटी इलायची), काशीस (पुष्प कासीस), लोध्र (पठानी लोध), अर्जुन (अर्जुन वृक्ष की छाल),मुस्ता (नागरमोथा), सर्ज्ज (राल) यह छठा योग हुआ ।

इनमें से किसी योग को चूर्ण के रूप में तैयार करके गाय के पित्त के साथ फिर पीसे । फिर इसको सरसों के तेल में मिला कर द्रव रूप बनाकर लगाने से कष्टसाध्य कुष्ठरोग, नया किलास इन्द्रलुप्त बालों का गिरना किटिभ (कुष्ठ भेद) दद्रु (दाद), भगन्दर बवासीर, चर्मकील, अपची (न पकने वाली गाठें) और पामा (खाज) शीघ्र ही मनुष्यों के नष्ट होते हैं ॥ ३-७ ॥

अथ सातवां योग कहते हैं—

कुष्ठं हरिद्रे सुरसं पटोलं निम्बाश्वगन्धे सुरदारु शिग्रु ।
ससर्षपं तुम्बुरुधान्यवन्यं चण्डां च चूर्णानि समानि कुर्यात् ॥८॥
तैस्तक्रयुक्तैः प्रथमं शरीरं तैलाक्तमुद्वर्तयितुं यतेत ।
तेनास्य कण्डूः पिडकाः सकोठाः कुष्ठानि शोफाश्च शमं व्रजन्ति ॥९॥

कुष्ठ (कूठ), दोनों हल्दी (दारुहल्दी और हल्दी), सुरसा (तुलसी), पटोल (परवल), निम्ब (नीम के पत्ते), अश्वगन्धा (असगन्ध), सुरदारु (देवदार), शिग्रु (सहजना), सर्षप (श्वेत सरसों),तुम्बुरु, धान्य (धनिया) वन्य (कैवर्त्त मुस्ता), चण्डा (चोरक) इन पन्द्रह औषधियों को परस्पर समान भाग लेकर चूर्ण कर लेना चाहिये । इस चूर्ण को छाछ में पीसकर शरीर पर लगाना चाहिए । शरीर पर लगाने से पूर्व तैल का उबटन लगा लेना चाहिये । इस लेप के लगाने से कण्डू (खाज़), पिडका (छोटी २ फुन्सियां), कोठ (न दबने वाली फुन्सियां), कुष्ठ कोढ और शोफ (सूजन) नष्ट होते हैं ॥८-९॥

आठवां योग---

कुष्ठामृतासङ्गकटङ्कटेरीकाशीसकम्पिल्लकलोध्रमुस्ताः
सौगन्धिकं सर्जरसो विडङ्गं मनःशिलाले करवीरकत्वक् ॥ १० ॥
तैलाक्तगात्रस्य कृतानि चूर्णान्येतानि दद्यादवचूर्णनार्थम् ।
दद्रुः सकण्डूःकिटिभानि पामा विचर्चिका चैव तथेति शान्तिम्॥११॥

कुष्ठ (कूठ), अमृता (गिलोय), संग (नीला तुत्थ), कटंकटेरी (दारु हल्दी), काशीस (हीरा कसीस), कम्पिल्लक (कमीला), मुस्त (नागर मोथा), लोध्र (पठानी लोध), सौगन्धिक (कह्लार पुष्प, सुगन्धि), सर्जरस (राल), मनःशिला (मैंनसिल), आल (हरताल), करवीरत्वक् (कनेर की छाल), इन चौदह औषधियों का चूर्ण करके अवचूर्ण (अर्थात् मलने) के लिए देना चाहिये । प्रथम शरीर पर तैल की मालिश कर लेनी चाहिये । इस से दाद, कण्डू, खाज़, किटिभ, कुष्ठ, पामा, विसर्प, विचर्चिका स्रावयुक्त फुन्सियां, नष्ट होती हैं । कोई अमृतासंग एक वस्तु मानकर नीला थोथ अर्थ करते हैं ॥१०-११॥

नवां योग—

मनःशिलाले मरिचानि तैलमार्कं पयः कुष्ठहरः प्रदेहः ।

मनःशिला (मैनसिल), आल (हरताल), मरिच, तैल (सरसों का तेल कुष्ठहर होने से), 'आर्कंपयस्' (आक का दूध) इनको परस्पर मिला कर लेप बना कर लगाने से कुष्ठ अच्छा होता है ।

इस योग में पानी को मिलाना नहीं चाहिये, अपितु आक के दूध में ही सब बनाना चाहिये ।

दसवां योग—

तुत्थं विडङ्गं मरिचानि कुष्टं लोध्रं च तद्वत्समनःशिलं स्यात् ॥ १२ ॥

तुत्थ (नीला थोथा), विडंग (वायविडंग), मरिच (काली मरिच), कुष्ठ (कूट). लोध्र (पटानी लोध), मनःशिला (मनसिल) इनके चूर्ण को पूर्व की भांति आक के दूध में मिलाकर लगाना चाहिये ॥१२॥

ग्यारहवां लेप—

रसाञ्जनं सप्रपुनाडबीजं युक्तः कपित्थस्य रसेन लेपः ।

रसाञ्जनं (रसौंत). प्रपुनाडबीज (पनवाड़ के बीज), इन को कैथ के पत्तों के रस में मिलाकर लगाने से कुष्ठ रोग नष्ट होता है । पानी का उपयोग नहीं करना चाहिये ।

बारहवां योग—

करञ्जबीजैडगजं सकुष्टं गोमूत्रपिष्टं च परः प्रदेहः ॥ १३ ॥

करंज (नाटा करंज बीज), ऐडगज (चक्रमर्द) और कुष्ठ (कूट), इनको गोमूत्र में पीस कर लेप करने से कुष्ठ नष्ट होता है ॥ १३ ॥

तेरहवां योग—

उभे हरिद्रे कुटजस्य बीजं करञ्जबीजं सुमनःप्रवालान् ।
त्वचं समध्यां हयमारकस्य लेपं तिलक्षारयुतं विदध्यात् ॥ १४ ॥

दोनों प्रकार की हल्दी (साधारण हल्दी और दारु हल्दी), कुटज बीज (इन्द्रजौ), करंज बीज (करञ्जुए का बीज), सुमनःप्रवाल (चमेली के कोमल नये पत्ते), हयमारक (कनेर) की अन्दर की त्वचा, और तिल क्षार (तिलकी नाल का क्षार भस्म) इनका लेप बनाकर लगाने से कुष्ठ रोग मिटता है ॥१४॥

चौदहवां योग—

मनःशिला त्वक्कुटजात्सकुष्टात् सलोमशः सैडगजः करञ्जः ।
ग्रन्थिश्च भौर्जः करवीरमूलं चूर्णानि साध्यानि तुषोदकेन ॥१५॥
पलाशनिर्दाहरसेन चापि कर्षोद्धृतान्याढकसंमितेन ।
दर्वीप्रलेपं प्रवदन्ति लेपमेतत्परं कुष्ठनिषूदनाय ॥ १६ ॥

मनःसिल, कुटजत्वक् (कूड़े की छाल), कुष्ठ (कूठ) लोमश, (जटामांसी), ऐडगज (चक्रमर्द), करंज, (करंजुआ), भौर्ज (भोजपत्र की गांठें), करवीर (कनेर की जड़), ये आठों द्रव्य प्रत्येक एक एक कर्ष (दो २

तोला) लेकर तुषोदक (यव-काञ्जिक) एक आढ़क तथा 'पलाश-निर्दाह रस' अर्थात् ढाक के वृक्ष को जलाने से उत्पन्न रस[1] एक आढ़क परिमाण (८ सेर) लेकर पाक करना चाहिये। पाक इतना करना चाहिये कि वह कड़छी पर चिपटने लगे। यह प्रलेप कुष्ठ रोग को नष्ट करने के लिये श्रेष्ठ है ॥१५-१६॥

पन्द्रहवां योग—

पर्णानि पिष्ट्वा चतुरङ्गुलस्य तक्रेण पर्णान्यथ काकमाच्याः।
तैलाक्तगात्रस्य नरस्य कुष्ठान्युद्वर्तयेदश्वहनच्छदैश्च ॥ १७ ॥

अमलतास के पत्तों, मकोय के पत्तों का और अश्वहनच्छद (कनेर) के पत्तों को छाछ के साथ पीसकर शरीर पर तैल का मालिश करके कुष्ठरोग में मले।

कई विद्वान् 'काकमाच्याः पर्णानि' शब्द से एक अन्य योग की कल्पना करते हैं। इसी प्रकार 'अश्वहनच्छदैश्च' इस से तीसरा योग मानते हैं ॥ १७ ॥

सोलहवां योग—

कोलं कुलत्थाः सुरदारु रास्ना माषातसीतैलफलानि कुष्ठम्।
वचा शताह्वा यवचूर्णमम्लमुष्णानि वातामयिनां प्रदेहः ॥ १८ ॥

कोल (झाड़ी के बेर), कुलत्थ (कुलत्थी), सुरदारु (देवदारु), रास्ना उड़द, अतसी (अलसी), तैलफल (एरण्ड के बीज), कुष्ठ (कूट), वचा (वच) शताह्वा (सौंफ), और यवचूर्ण (यवक्षार) इनको 'अम्ल' (कांजी) के साथ पीसकर प्रलेप बनाकर गरम करके वातरोगी के लिये प्रयुक्त करे। इससे वातरोग नष्ट होते हैं ॥१८॥

सत्रहवां योग—

आनूपमत्स्यामिषवेसवारैरुष्णैः प्रदेहः पवनापहः स्यात्।
स्नेहैश्चतुर्भिर्दशमूलमिश्रैर्गन्धौषधैश्चानिलजित्प्रदेहः ॥ १९ ॥

आनूपामिष (जलप्राय देश में चरने वाले पशुओं का मांस) मत्स्यामिष (मछलियों का मांस) इनसे बनाये हुए वेसवार (अस्थि रहित मांस को भाप से स्विन्न करके शिला पर पीस लेना चाहिये, फिर इसमें गुड़, घी, पिप्पली, मरिच मिलाने से वेसवार बनता है)। इस को गरम करके लेप करने से वायु का नाश होता है।

१—ढाक के वृक्ष की प्रधान मुख्यजड़ को काट कर इस के नीचे एक मिट्टी का घड़ा रख देना चाहिये। और ऊपर के भाग को जलाना चाहिये। जलाने पर जो रस निकलता है, उस रस को लेना चाहिये। आज कल खैर या शीशम का तैल पाताल यन्त्र से निकालते हैं।

अठारहवां योग—

घी, तैल, वसा और मज्जा इन चार स्नेहों को दशमूल के साथ मिला कर अथवा चारों स्नेहों को ज्वर अधिकार में कही चन्दन आदि सुगन्धित औषधियों के साथ मिलाकर लेप करने से वातविकार नष्ट होते हैं। यहां पर न कहने पर भी पानी मिलाना चाहिये ॥ १६ ॥

उन्नीसवां योग—

तक्रेण युक्तं यवचूर्णमुष्णं सक्षारमार्तिं जठरे निहन्यात्।

जौ के आटे को यवक्षार के साथ छाछ में पीसकर पेट पर लगाने से पीड़ा को नष्ट करता है।

बीसवां योग—

कुष्ठं शताह्वां सवचां यवानां चूर्णं सतैलाम्लमुशन्ति वाते ॥ २० ॥

कुष्ठ (कूट), शताह्वा (सौंफ), वचा (वच), जौ के आटे को तिल के तैल और अम्ल (कांजी) में मिलाकर लगाने से वातविकार नष्ट होते हैं ॥२०॥

इक्कीसवां योग—

उभे शताह्वे मधुकं मधूकं बलां प्रियालं च कशेरुकं च।
घृतं विदारीं च सितोपलां च कुर्यात्प्रदेहं पवने सरक्ते ॥२१॥

सौंफ और सोया, मधुक (मुलैहठी), मधूक (महुवा) बला (खरैंटी), प्रियाल (प्याल, पकने पर यह काला फल होता है, जिसमें से चिरौंजी निकलती है), कशेरू, घृत (गाय का) विदारी कन्द, सितोपला (मिश्री, खड़ी शक्कर), इनका पानी के साथ लेप वातरक्त रोग में लाभदायक है ॥ २१ ॥

बाईसवां योग—

रास्नां गुडूचीं मधुकं बले द्वे सजीवकं सर्षभकं पयश्च।
घृतं च सिद्धं मधुशेषयुक्तं रक्तानिलार्त्तिं प्रणुदेत्प्रदेहः ॥२२॥

रास्ना, गुडूची (गिलोय), मधुक (मुलहठी), दोनों प्रकार की बलाएं (खरैंटी और अतिबला—सफेद और पीले फूल की खरैंटी), जीवक, ऋषभक, गाय का दूध; गाय का घी, मधुशेष (मोम) इनसे सिद्ध घी रूप लेप वातरक्त रोग को नष्ट करता है। इस योग से घृत सिद्ध किया जाता है [1] ॥ २२ ॥

१. रास्ना से लेकर ऋषभक तक सब ओषधियों का कल्क बनाना चाहिये। यह कल्क घी, स्नेह से चतुर्थांश होना चाहिये। और दूध घी स्नेह से दूना होना चाहिये। इससे घी सिद्ध करना चाहिये। घी सिद्ध होने पर वस्त्र में से छान कर उष्णावस्था में ही इसमें मोम मिला देनी चाहिये। मोम की मात्रा स्नेह से चतुर्थांश अर्थात् कल्क के बराबर होनी चाहिये।

तेईसवां योग—

वाते सरक्ते सघृतः प्रदेहो गोधूमचूर्णं छगलीपयश्च ।

गोधूम (गेहूँ) के चूर्ण को बकरी के दूध और घी के साथ मिलाकर लगाने से वातरक्त रोग मिटता है । यहां भी दूध में गेहूँ के चूर्ण के साथ घी सिद्ध कर लेना चाहिये ।

चौबीसवां योग—

नतोत्पलं चन्दनकुष्ठयुक्तं शिरोरुजायां सघृतः प्रदेहः ॥ २३ ॥

'नत' (तगर), उत्पल (नीला कमल), चन्दन, कुष्ठ (कूठ) इनके चूर्ण को घी में मिलाकर शिर पर लगाने से शिर की पीड़ा मिटती है ॥ २३ ॥

पच्चीसवां योग—

प्रपौण्डरीकं सुरदारु कुष्ठं यष्ट्याह्वमेला कमलोत्पले च ।
शिरोरुजायां सघृतः प्रदेहो, लोहैरकापद्मकचोरकैश्च ॥ २४ ॥

प्रपौण्डरीक (पुण्डरीक काष्ठ), सुरदारु (देवदारु), कुष्ठ (कूठ) यष्टयाह्व (मुलहठी), एला (इलायची), कमल (श्वेत कमल, कमल गट्टा), उत्पल (नीला कमल), लोह (अगर), ऐरक (रोहिष घास), पद्मक (पद्माख) और चोरक (चोरपुष्पी, सुगन्धित द्रव्य है, पर्वतीय लोग दाल आदि में गेरते हैं), इनको घी में मिलाकर शिर दुखने पर माथे में लगाने से आराम मिलता है। यहां पर पीसने के लिये पानी मिला लेना चाहिये ॥ २४ ॥

छब्बीसवां योग—

रास्ना हरिद्रे नलदं शताह्वे द्वे देवदारूणि सितोपलां च ।
जीवन्तिमूलं सघृतं सतैलमालेपनं पार्श्वरुजासु कोष्णम् ॥२५॥

रास्ना, दोनों हरिद्रा (हल्दी और दारु हल्दी), नलद (जटामांसी), दोनों शताह्वा (सौंफ और सोया), देवदारु, सितोपला (मिश्री), जीवन्ती का मूल, इनके चूर्ण को घृत और तैल (तिल का तैल) में (ये घी तैल दोनों परस्पर समान भाग हों) मिलाकर गरम करके पार्श्व शूल में लेप करना चाहिये॥२५॥

सत्ताईसवां योग—

शैवालपद्मोत्पलवेत्रतुङ्ग प्रपौण्डरीकाण्यमृणाललोध्रम् ।
प्रियङ्गुकालीयकचन्दनानि निर्वापणः स्यात्सघृतः प्रदेहः ॥२६॥

शैवाल (सरवाल), पद्म (पद्माख), उत्पल (नील कमल), वेत्र (श्रेष्ठ वेत, लोटी वेत), तुंग (कमल का केशर), प्रपौण्डरीक (पुण्डरीक), अमृणाल (खस), लोध (पठानी) प्रियंगू (फूल प्रियंगु), कालीयक (चन्दन भेद,

हरि चन्दन), और चन्दन इनको (पानी में पीस कर) सब द्रव्यों के समान घी मिलाकर लेप करने से त्वचा का दाह, आग से जले की जलन शान्त होती है ॥२६॥

अट्ठाईसवां योग—

सितालतावेतसपद्मकानि यष्ट्याह्वमैन्द्री नलिनानि दूर्वा ।
यवासमूलं कुशकाशयोश्च निर्वापणः स्याज्जलमेरका च ॥२७॥

सिता (श्वेत दूब), लता (प्रियंगू या सारिवा), वेतस (जल वेतस), यष्टि (मुलहटी), ऐन्द्री, 'नलिन' (नीला कमल), दूर्वा (दूब), यवासमूल (धमासे की जड़), कुश (दाभ), काश की जड़, जल (बालक), ऐरक (होगला) इनको जल के साथ पीसकर लेप करने से त्वचा की जलन शान्त होती है । कोई सिता से मिश्री और लता से मजीठ का ग्रहण करते हैं ॥२७॥

उनतीसवां तथा तीसवां योग—

शैलेयमेलाऽगुरु चाथ कुष्ठं चण्डा नतं त्वक्सुरदारु रास्ना ।
शीतं निहन्यादचिरात् प्रदेहो, विषं शिरीषस्तु ससिन्धुवारः ॥ २८ ॥

शैलेय (छड़ीला), एला (इलायची) अगर, कुष्ठ (कूठ), चण्डा (चोर पुष्पी), नत (तगर), त्वक् (दालचीनी), सुरदारु (देवदार), रायसन, इनको पानी में पीस कर लेप करने से शीत, ठण्डक नष्ट होती है । तीसवां योग—'शिरीष' (सिरस) को सिन्धुवार (सम्भालु के पत्ते) के साथ पीसकर मलने से विष दोष नष्ट होता है ॥ २८ ॥

इकतीसवां योग—

शिरीषलामज्जकहेमलोध्रैस्त्वग्दोषसंस्वेदहरः प्रघर्षः ।

शिरीष (सिरस), लामज्जक (उशीर, खस), हेम (नागकेसर), लोध्र (पठानी लोध), इनको चूर्ण बनाकर शरीर पर रगड़ने से त्वचा के रोग एवं पसीने का अधिक आना नष्ट होता है ।

बत्तीसवां योग—

पत्राम्बुलोध्राभयचन्दनानि शरीरदौर्गन्ध्यहरः प्रदेहः ॥२९॥

पत्र (तेजपात), अम्बु (नेत्रबाला), लोध्र (पठानी लोध), अभय (उशीर, खस), और श्वेत चन्दन इनको पानी में पीसकर लेप करने से शरीर की दुर्गन्ध मिटती है ॥ २९ ॥

तत्र श्लोकः ।

इहात्रिजः सिद्धतमानुवाच द्वात्रिंशतं सिद्धमहर्षिपूज्यः ।
चूर्णप्रदेहान्विविधामयघ्नानारग्वधीये जगतो हितार्थम् ॥३०॥

सिद्ध एवं ऋषियों से पूजित कृष्णात्रेय पुनर्वसु ने रोगों को नष्ट करने वाले बत्तीस सिद्ध योग जगत् के लाभ के लिये कहे हैं ॥ ३० ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने भेषजचतुष्के
आरग्वधीयो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

अथातः षड्विरेचनशताश्रितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'षड्विरेचन' से आरम्भ किये जाने वाले अध्याय का अवतरण करते हैं। भगवान् आत्रेय ने कहा है ॥ १-२ ॥

शरीर के लिये अन्तः परिमार्जन और बहिःपरिमार्जन की औषधियों को पूर्व अध्यायों में कहकर अवशिष्ट परिमार्जन की औषधियों को कहते हैं—

इह खलु षड्विरेचनशतानि भवन्ति, षड् विरेचनाश्रयाः,
पञ्च कषाययोनयः, पञ्चविधं कषायकल्पनं,
पञ्चाशन्महाकषाया पञ्च कषायशतानि इति संग्रहः ॥३॥

इस तंत्र में छः सौ विरेचन योग हैं, न अधिक और न कम।

'विरेचन' शब्द उभयार्थ वाचक है। अर्थात् शरीर के अधोभाग से मल निःसारण का नाम भी विरेचन है और शरीर के ऊर्ध्व भाग से वमन के रूप में किये जाने वाले संशोधन रूप कर्म को भी 'विरेचन' कहते हैं। विरेचन द्रव्यों के छः आश्रय हैं, यथा—दूध, मूल, त्वचा, पत्र, पुष्प और फल।

कषायों के पांच जातियां हैं (इनमें लवण रस को छोड़ कर) कषायों की कल्पना पांच प्रकार की है। पचास महाकषाय हैं, पांच सौ कषाय हैं। यह संक्षेप में कह दिया है ॥ ३ ॥

षड्विरेचनशतानीति यदुक्तं तदिह संग्रहेणोदाहृत्य
विस्तरेण कल्पोपनिषद्यनुव्याख्यास्यामः ॥ ४ ॥

'छः सौ विरेचन योग हैं' यह जो कहा है उसे यहां पर संक्षेप में कहेंगे। विस्तार से कल्प-उपनिषद् अर्थात् 'कल्प-स्थान' में व्याख्या करेंगे ॥ ४ ॥

त्रयस्त्रिंशद्योगशतं प्रणीतं फलेषु, एकोनचत्वारिंशज्जीमूतकेषु योगाः, पञ्चचत्वारिंशदिक्ष्वाकुषु, धामार्गवः षष्टिधा भवति योगयुक्तः, कुटजस्त्वष्टादशधा योगमेति, कृतवेधनं षष्टिधा भवति योगयुक्तं, श्यामात्रि-

वृद्योगशतं प्रणीतं दशापरे चात्र भवन्ति योगाः, चतुरङ्गुलो द्वादशधा योगमेति, लोध्रं विधौ षोडशयोगयुक्तं, महावृक्षो भवति विंशतियोगयुक्तः, एकोनचत्वारिंशत्सप्तलाशङ्खिन्योर्योगाः, अष्टचत्वारिंशद्दन्तीद्रवन्त्योरिति षड्विरेचनशतानि ॥ ५ ॥

मदन फल के कल्प में १३३ विरेचन योग, 'जोमूतक' (वन्दाल) फल के कल्प में ३६, ईक्ष्वाकु (कडवी तुम्बी) कल्प में ४५, धामार्गव (बड़ी तुरई पीले फूल की, राज कोषातकी) कल्प में ६०, कुटज (कूड़े) के फल कल्प में १८ प्रकार के, कृतवेधन (कडुवी तोरी) के उपयोग में विरेचन योग ६०, इस प्रकार से ये वमन रूप विरेचन योग हैं। अब अधोगामी विरेचन योग कहते हैं—

श्यामा (अरुणमूल) की निशोथ और त्रिवृत् (सफेद निशोथ) कल्प के ११० योग, चतुरङ्गुल (अमलतास) कल्प के १२ प्रकार के योग, लोध्र विधि (लोध्र कल्पों में विरेचन विधि) के अन्दर १६ योग, महावृक्ष (स्नुही, सुधा वृक्ष) कल्प में २०, सप्तला और शंखिनी (शिकाकाई) के कल्प में ३९ और दन्ती (जमालगोटा), द्रवन्ती के ४८ प्रकार के योग हैं। इस प्रकार से ६०० विरेचन योग बन जाते हैं ॥ ५ ॥

षड्विरेचनाश्रया इति क्षीरमूलत्वक्पत्रपुष्पफलानीति ॥६॥

विरेचन क्रिया ओषधियों के छः (अंगों में) आश्रय है। यथा—क्षीर (दूध), मूल, त्वक्—त्वचा, पत्र, पुष्प और फल ॥ ६ ॥

पञ्च कषाययोनय इति मधुरकषायोऽम्लकषायः। कटुकषायस्तिक्तकषायः कषायकषायश्चेति तन्त्रे संज्ञा ॥ ७ ॥

'कषाय' की पांच योनि (जातियां) हैं। यथा—मधुरकषाय (मधुर रस वाले पदार्थों से बना हुआ कषाय), अम्लकषाय (खट्टे रस वाले पदार्थों से बनाया हुआ कषाय), कटुकषाय (कडुवे रसवाले पदार्थों से तैय्यार किया कषाय), तिक्तकषाय (तीखे पदार्थों से तैय्यार किया हुआ कषाय), कषायकषाय (कसैले पदार्थों से तैय्यार किया हुआ कषाय) इन पांचो को इस शास्त्र में 'कषाय' संज्ञा है, 'लवण' कषाय नहीं है लवण रस से कषाय तैयार नहीं होता है ॥ ७ ॥

पञ्चविधं कषायकल्पनमिति, तद्यथा स्वरसः कल्कः शृतः शीतः फाण्टः कषाय इति ॥ ८ ॥

कषायकल्पन अर्थात् कषाय तैयार करने की विधि पांच प्रकार से है। यथा—स्वरस, कल्क शृत, शीत और फाण्ट। कषाय शब्द सबके साथ संयुक्त है ॥ ८ ॥

कषायों के लक्षण—

(यन्त्रप्रपीडनाद् द्रव्याद्रसः स्वरस उच्यते ।
यत्पिण्डं रसपिष्टानां तत्कल्कं परिकीर्तितम् ॥ ९ ॥
वह्नौ तु कथितं द्रव्यं शृतमाहुश्चिकित्सकाः ।
द्रव्यादापोत्थितात्तोये प्रतप्ते निशि संस्थितात् ॥ १० ॥
कषायो योऽभिनिर्याति स शीतः समुदाहृतः ।
क्षिप्त्वोष्णतोये मृदितं तत्फाण्टं परिकीर्तितम् ॥ ११ ॥)

तेषां यथापूर्वं बलाधिक्यम् , अतः कषायकल्पना व्याध्यातुरबलापेक्षिणी । नत्वेवं खलु सर्वाणि सर्वत्रोपयोगीनि भवन्ति ॥ १२ ॥

स्वरस कषाय—द्रव्य को कूट कर यंत्र प्रपीडन अर्थात् यंत्र से वा हाथ आदि से दबा कर जो रस निकलता है उसे 'स्वरस' कहते हैं कल्क कषाय—रस सहित द्रव्य को शिला आदि पर पीस कर जो गोला बना लिया जाता है उसे 'कल्क' कहते हैं । शृत कषाय अग्नि में उबाले हुए द्रव्य को वैद्य 'शृत' कहते हैं । बहुत गरम जल में रात भर रक्खे हुए कूटे हुए द्रव्य से जो कषाय निकलता है उसे 'शीत' कहा जाता है । फाण्ट कषाय—द्रव्य को कूटकर गरम पानी में रखकर कुछ काल पीछे मलकर जो किट्ट रहित सारभाग निकलता है, उसे 'फाण्ट' कहते हैं ।

इन में स्वरस में कल्क की अपेक्षा, कल्क में शृत की अपेक्षा से, शृत में शीत की अपेक्षा से, और शीत में फाण्ट की अपेक्षा से अधिक बल, सामर्थ्य और शक्ति है । इसलिये 'कषाय कल्पना' अर्थात् रोगी के लिये कषाय का विचार व्याधिबल, आतुरबल अर्थात् रोगी के सामर्थ्य को देखकर करना चाहिये। ये सब कषाय सब अवस्थाओं में उपयोगी नहीं होते अर्थात् बलवान् व्याधि या बलवान् रोगी में अल्प बल वाले या मध्यम बल वाले कषाय कार्य करने में समर्थ नहीं होते । इसी प्रकार अल्प बल की अवस्था में अधिक बल वाले कषाय कार्य करने में असमर्थ होते हैं । ॥ ९-१२ ॥

पञ्चाशन्महाकषाया इति यदुक्तं तदनुव्याख्यास्यामः; तद्यथा—

पहिले जो यह कहा है कि पचास महाकषाय हैं, उनकी अब व्याख्या करते हैं । जैसे—

जीवनीयो बृंहणीयो लेखनीयो भेदनीयः संधानीयो दीपनीय इति षट्कः कषायवर्गः ।

(जीवनीय) जीवन के लिये हितकारी आयुवर्धक, (बृंहणीय) शरीर के

बृंहण के लिये हितकारी, (लेखनीय) देह के घर्षण के लिये, भेदनीय, संधानीय, दीपनीय अग्नि को बढ़ाने वाला यह छः कषायों का एक वर्ग हुआ।

बल्यो वर्ण्यः कण्ठ्यो हृद्य इति चतुष्कः कषायवर्गः, ।

'बल्य' (बल कारक), वर्ण्य (शरीर की कान्ति बढ़ाने वाला) 'कण्ठ्य' (कण्ठ या गले के स्वर के लिये हितकारी) 'हृद्य' (हृदय—मन के लिये हितकारी), यह दूसरा चार से बना हुआ कषाय वर्ग है।

तृप्तिघ्नोऽर्शोघ्नः कुष्ठघ्नः कण्डूघ्नः कृमिघ्नो विषघ्न इति षट्कः कषायवर्गः, ।

'तृप्तिघ्न' (जब रोगी विना खाये अपने को भरा पेट अनुभव करता है, उसके शिकायत को दूर करने वाला) 'अर्शोघ्न' (अर्श रोग में हितकारी), 'कुष्ठघ्न' (कुष्ठ रोगनाशक), 'कण्डूघ्न' (खाज़ नाशक), 'कृमिघ्न' विषघ्न (क्रिमि तथा विष विनाशक) यह तीसरा छः से बना कषाय वर्ग हुआ।

स्तन्यजननः स्तन्यशोधनः शुक्रजननः शुक्रशोधन इति चतुष्कः कषायवर्गः।

स्तन्य जनन (दूध बढ़ाने वाला), (स्तन्यशोधन दूध का शोधन करने-वाला), शुक्र जनन (धातुवर्धक), शुक्रशोधन (धातु शोधक), यह चौथा चार से बना कषाय वर्ग हुआ।

स्नेहोपगः स्वेदोपगो वमनोपगो विरेचनोपग आस्थापनोपगोऽनुवासनोपगः शिरोविरेचनोपग इति सप्तकः कषायवर्गः।

स्नेहोपग १ (मार्दव कर), स्वेदोपग (पसीना लाने वाला), वमनोपग (वान्तिकारक), विरेचनोपग (मलनिःसारक), आस्थापनोपग (रूक्ष बस्ति के लिये उपयोगी), अनुवासनोपग (स्नेह-बस्ति के लिये उपयोगी), शिरोविरेचनोपग (नस्य के लिये उपयोगी), यह सात कषायों से बना वर्ग।

छर्दिनिग्रहणस्तृष्णानिग्रहणो हिक्कानिग्रहण इति त्रिकः कषायवर्गः।

छर्दि-निग्रहण (वमननाशक), तृष्णानिग्रहण (प्यास को नष्ट करने वाला), हिक्कानिग्रहण (हिचकी नाशक), यह तीन से बना कषाय वर्ग हुआ।

पुरीषसंग्रहणीयः पुरीषविरजनीयो मूत्रसंग्रहणीयो मूत्रविरजनीयो मूत्रविरेचनीय इति पञ्चकः कषायवर्गः।

पुरीषसंग्रहणीय (मल को बांधने के लिये हितकारी), पुरीषविरजनीय (दोष के कारण जब मल में उचित रंग नहीं आता इसके लिये हितकारी जैसे—

---

१ 'उपग'-का अर्थ सहायक जैसे-वमनोपग वमन कार्य में मदद देने वाला।

कामला रोग में मल श्वेत रंग का आता है, पीलापन नहीं आता), 'मूत्र-संग्रहणीय' (मूत्र को कम करने वाला), 'मूत्रविरजनीय' (मूत्र के रंग को ठीक करने वाला), मूत्रविरेचनीय (मूत्रवर्धक), यह पांच से बना कषाय वर्ग है॥

कासहरः श्वासहरः शोथहरो ज्वरहरः श्रमहर इति पञ्चकः कषायवर्गः ।

कासहर (खांसी के लिये हितकारी), श्वासहर (दमे के लिये हितकारी), शोथहर (सूजन के लिये हितकारी), ज्वरहर (ज्वरनाशक), श्रमहर (थकावट को मिटाने वाला), यह पांच से बना कषाय वर्ग है ॥

दाहप्रशमनः शीतप्रशमन उदर्दप्रशमनोऽङ्गमर्दप्रशमनः शूलप्रशमन इति पञ्चकः कषायवर्गः ।

'दाहप्रशमन' (जलन को शान्त करने वाला), 'शीतप्रशमन' (ठंडक को दूर करनेवाला), 'उदर्द प्रशमन' (कोठ, छपाकी, त्वचा पर उठने वाले मोटे २ चकत्तों को शान्त करने वाला), 'अंगमर्द प्रशमन' (अंगों को ऐंठन को दूर करने वाला), यह पाँच से वना कषाय वर्ग है ॥

शोणितस्थापनो वेदनास्थापनः संज्ञास्थापनः प्रजास्थापनो वयःस्थापन इति पञ्चकः कषायवर्गः ।

'शोणित-स्थापन' (रक्त रोधक), 'वेदनास्थापन'* (पीड़ा नाशक), 'संज्ञास्थापन' (चेतन करने वाला), 'प्रजास्थापन' (संततिजनक), वयःस्थापन' (आयु को टिकाने वाला), यह पांच से बना कषायवर्ग है ।

इति पञ्चाशन्महाकषायाः, महतां च कषायाणां लक्षणोदाहरणार्थं व्याख्याता भवन्ति । तेषामेकैकस्मिन्महाकषाये दशदशावयविकान्कषायाननुव्याख्यास्यामः । तान्येव पञ्च कषायशतानि भवन्ति ॥ १३ ॥

इस प्रकार से पचास महाकषाय बनते हैं । महाकषाय के लक्षण और उदाहरण संक्षेप में कह दिये गये हैं । इन एक-एक महाकषायों में दस-दस अवयवों वाले कषायों की व्याख्या आगे कहेंगे । इस प्रकार से पांच सौ कषाय बनते हैं । अर्थात् 'जीवनीय' आदि संज्ञा वाले पचास महाकषायों में से प्रत्येक 'जीवनीय' आदि संज्ञा वाले कषाय में दस-दस अवयव हैं ॥ १३ ॥

तद्यथा—जीवकर्षभकौ मेदा महामेदा काकोली क्षीरकाकोली मुद्गमाषपर्ण्यौ जीवन्ती मधुकमिति दशेमानि जीवनीयानि भवन्ति (१)

*वेदना-स्थापन—शरीर की वेदना को मिटाकर शरीर को स्वस्थ रूप में करने वाला ।

जैसे—जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी (मूंगपर्णी) माषपर्णी, जीवन्ती, और मधुक (मुलैहठी) ये दस जीवनीय (जीवनवर्धक) हैं ॥

क्षीरिणी राजक्षवकं बला काकोली क्षीरकाकोली वाट्यायनी भद्रौदनी भारद्वाजी पयस्यर्ष्यगन्धा इति दशेमानि बृंहणीयानि भवन्ति ॥ (२) ॥

क्षीरिणी (क्षीरविदारी), राजक्षवक (दूधी), बला (खरैंटी), काकोली, क्षीरकाकोली, वाट्यायनी (कंघी), भद्रौदनी (खिरैंटी), भारद्वाजी (उलट-कम्बल), पयस्या (विदारी कन्द), ऋष्यगन्धा (वृद्धदारक विधारा), ये दस बृंहणीय अर्थात् शरीर में (वीर्य) वृद्धि करने वाले हैं ॥

मुस्त-कुष्ठ-हरिद्रा-दारुहरिद्रा-वचातिविषा-कटुरोहिणी-चित्रक-चिर-बिल्व-हैमवत्य इति दशेमानि लेखनीयानि भवन्ति ॥ (३) ॥

मुस्त (नागर मोथा), कुष्ट (कूट), हरिद्रा (हल्दी), वच (घोड़ा-वच), अतिविषा (अतीस), कटुरोहिणी (कुटकी), चित्रक (चीता मूल), चिरबिल्व (करंज), हैमवती (श्वेत वच), ये दस लेखनीय हैं ॥

सुवहार्कोरुबूकाग्निमुखी-चित्रा-चित्रक-चिरबिल्व-शांङ्खिनी-शकुलाद-नी-स्वर्णक्षीरिण्य इति दशेमानि भेदनीयानि भवन्ति ॥(४)॥

सुवहा (निशोथ), अर्क (आक दो प्रकार का है श्वेत और अरुण), उरुबूक (एरण्ड), अग्निमुखी (कलिहारि), चित्रा (जमाल गोटे की जड़), चित्रक (चीता मूल), चिरबिल्व (करंज), शांखिनी, शकुलादनी (कटुकी), और स्वर्णक्षीरी (सत्यानासी), ये दस भेदनीय हैं ॥

मधुक-मधुपर्णी-पृश्निपर्ण्यम्बष्ठकी-समङ्गा-मोचरस-धातकी-लोध्र-प्रियङ्गु-कट्फलानीति दशेमानि संधानीयानि भवन्ति ॥ (५) ॥

मधुक (मुलैहटी), मधुपर्णी (गिलोय), पृश्निपर्णी (पिठवन), अम्बष्ठकी (पाठा), समंगा (मजीठ), मोचरस (सिम्बल का गोंद), धातकी (धाय के फूल), लोध्र (पटानी लोध), प्रियंगु (फूल प्रियंगु), और कट्फल (काय-फल), ये दस 'संधानीय' हैं ॥

पिप्पली-पिप्पलीमूल-चव्य-चित्रक-शृङ्गवेराम्लवेतस-मरिचाजमो-दा-भल्लातकास्थि-हिङ्गुनिर्यासा इति दशेमानि दीपनीयानि भवन्ति (६)

इति षट्कः कषायवर्गः ॥ [१] ॥

पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य (चविका), चीतामूल, शृंगवेर (सोंठ या

अदरख), अम्लवेतस, मरिच (काली मिरच), अजमोदा (अजवायन), भल्लातकास्थि (भिलावे के बीज), हिंगु-निर्यास (हींग), ये दस 'दीपनीय' अर्थात् भूख लगाने वाले अग्नि संदीपक हैं ॥ यह छः का बना हुआ कषायवर्ग है ।

ऐन्द्र्यृषभ्यतिरसर्ष्यप्रोक्ता-पयस्याश्वगन्धा-स्थिरा-रोहिणी-बलातिबला इति दशेमानि बल्यानि भवन्ति ॥ (७) ॥

ऐन्द्री, ऋषभी (कौंच), अतिरसा (शतावरी), ऋष्यप्रोक्ता (माषपर्णी), पयस्या (विदारी), अश्वगन्धा (असगन्ध), स्थिरा (शालपर्णी), रोहिणी (कटुकी), बला (खरैंटी), अतिबला (पीतबला), ये दस 'बल्य' अर्थात् बल कारक हैं ॥

चन्दन-तुङ्ग-पद्मकोशीर-मधुक-मञ्जिष्ठा-सारिवा-पयस्या-सिता-लता इति दशेमानि वर्ण्यानि भवन्ति ॥ (८) ॥

चन्दन (लाल चन्दन), तुंग (लाल नाग केशर), पद्मक (पद्माख), उशीर (खस), मधुक (मुलेहटी), मंजिष्ठा (मजीठ), सारिवा (अनन्तमूल), पयस्या (विदारी कन्द), सिता (सफेद दूब), और लता[1] (लाल दूब या प्रियंगु), ये दस 'वर्ण्य' अर्थात् वर्णकारक, वर्ण बढ़ाने वाले हैं ॥

सारिवेक्षुमूल-मधुक-पिप्पली-द्राक्षा-विदारी-कैडर्य-हंसपदी-बृहती-कण्टकारिका इति दशेमानि कण्ठ्यानि भवन्ति ॥ (९) ॥

सारिवा (अनन्तमूल), इक्षुमूल (ईख की जड़), मधुक (मुलेहठी), पिप्पली, द्राक्षा (किशमिश), विदारी कन्द, कैडर्य (नीम), हंसपदी (मण्डूकपर्णी या ब्राह्मी), बृहती (बड़ी कटेरी) कण्टकारिका (छोटी कटेरी), ये दस ओषधियां 'कण्ठ' स्वर के लिये हितकारी हैं ॥

आम्राम्रातक-निकुच-करमर्द-वृक्षाम्लाम्लवेतस-कुवल-बदर-दाडिम-मातुलुङ्गानीति दशेमानि हृद्यानि भवन्ति ॥ (१०) ॥

इति चतुष्कः कषायवर्गः ॥ [२] ॥

आम्र (आम), आम्रातक (अम्बाड़ा), निकुच (डहु बड़हल), करमर्द (करञ्ज), वृक्षाम्ल (इमली); अम्लवेतस, कुवल (बड़ा बेर), बदर (झाड़ी का बेर), दाडिम (अनार), मातुलुंग (बिजौरा), ये दस 'हृद्य' अर्थात् हृदय के लिये हितकारी हैं ॥ यह चार से बना हुआ कषायवर्ग है ।

---

१. जल्पकल्पतरु में 'लता' का अर्थ मंजीठ किया है, परन्तु मंजीठ का कथन भी इसमें है, अतः दूब अर्थ ही उचित है ।

नागर-चित्रक-चव्य-विडङ्ग-मूर्वा-गुडूची-वचा-मुस्त-पिप्पली-पटोला-नीति दशेमानि तृप्तिघ्नानि भवन्ति ॥ (११) ॥

नागर (सोंठ), चित्रक (चीतामूल), चव्य (चविका), विडंग (वायविडंग), मूर्वा (मोरवेल), गुडूची (गिलोय), वचा (वच), मुस्त (नागर मोथा), पिप्पली, पटोल (परवल) ये दस 'तृप्तिघ्न' अर्थात् श्लेष्मा जनित तृप्ति को नाश करने वाली हैं ॥

कुटज-बिल्व-चित्रक-नागरातिविषाभया-धन्वयासक-दारुहरिद्रा-वचा-चव्यानीति दशेमान्यर्शोघ्नानि भवन्ति ॥ (१२) ॥

कुटज (कुड़ा), बिल्व (बेलगिरी), चित्रक (चीतामूल), नागर (सोंठ), अतिविषा (अतीस), अभया (बड़ी हरड़), धन्वयासक (धमासा), दारु-हरिद्रा (दारुहल्दी), वच और चव्य (चविका) ये दस ओषधियां 'अर्शोघ्न' अर्थात् बवासीर रोग के नाशक हैं ॥

खदिराभयामलक-हरिद्रारुष्कर-सप्तपर्णारग्वध-करवीर-विडङ्ग-जातिप्रवाला इति दशेमानि कुष्ठघ्नानि भवन्ति ॥ (१३) ॥

खदिर (खैर), अभया (जंगी हरड़), आमलक (आवला), हरिद्रा (हल्दी), अरुष्कर (भिलावा), सप्तपर्ण (सातवन), आरग्वध (अमलतास), करवीर (कनेर), विडंग (वायविडंग), और जातिप्रवाल (चमेली के नवीन कोमल पत्ते) ये दस कुष्ठघ्न अर्थात् कोढ़ रोग के नाशक हैं ॥

चन्दन-नलद-कृतमाल-नक्तमाल-निम्ब-कुटज-सर्षप-मधुक-दारुहरिद्रा-मुस्तानीति दशेमानि कण्डूघ्नानि भवन्ति ॥ (१४) ॥

चन्दन (लाल चन्दन), नलद (जटामांसी), कृतमाल (अमलतास) नक्तमाल (करंज), निम्ब (नीम के पत्ते), कुटज (कूड़े की छाल), सर्षप (सरसों), मधुक (मुलैहटी), दारु हरिद्रा (दारु हल्दी), और मुस्त (नागर मोथा), ये दस औषधियां 'कण्डूघ्न' अर्थात् खाज नाशक हैं ॥

अक्षीव-मरिच-गण्डीर-केबुक-विडङ्ग-निर्गुण्डी-किणिही-श्वदंष्ट्रा-वृषपर्णिकाखुपर्णिका इति दशेमानि क्रिमिघ्नानि भवन्ति ॥ (१५) ॥

अक्षीव (सहजन), काली मरिच, गण्डीर (जिमीकन्द), केबुक, विडंग (वायविडंग), निर्गुण्डी (सम्भालु), किणिही (अपामार्ग), श्वदंष्ट्रा (गोखरु), वृषपर्णी, आखुपर्णिका (मूसाकानी), ये दस कृमिघ्न अर्थात् कृमिनाशक हैं ॥

हरिद्रा-मञ्जिष्ठा-सुवहा-सूक्ष्मैला-पालिन्दी-चन्दन-कतक-शिरीष-सिन्धुवार-श्लेष्मातका इति दशेमानि विषघ्नानि भवन्ति ॥ (१६) ॥

इति षट्कः कषायवर्गः ॥ [३] ॥

हरिद्रा (हल्दी), मंजिष्ठा (मंजीठ) सुवहा (निशोथ), सूक्ष्मैला (छोटी इलायची), पालिन्दी (काली निशोथ), चन्दन (लाल चन्दन), कतक (निर्मली का जल को शोधन करने वाला फल), शिरीष (सिरस), सिन्धुवार (सम्भालु, निर्गुण्डी), श्लेष्मातक (लिसाड़ा), ये दस 'विषघ्न' अर्थात् विषनाशक हैं ॥ यह छः से बना हुआ कषायवर्ग है ।

वीरण-शालि-षष्टिकेक्षुवालिका-दर्भ-कुश-काश-गुन्द्रेत्कट-कत्तृण-मूलानीति दशेमानि स्तन्यजननानि भवन्ति ॥ (१७) ॥

वीरण (खस), शालि (हेमन्त ऋतु में पकने वाले धान्य का चावल), षष्टिक (साठी चावल), ईक्षुवालिका (ईख), दर्भ (दाभ), कुश (कुशा), काश (सरकण्डा), गुन्द्रा (होगला) इत्कट, (तृण विशेष) कत्तृण (रोहिष तृण) ये दस 'स्तन्य-जनन' अर्थात् दूध बढ़ाने वाले हैं । इन में गिलोय को छोड़कर सब के मूल काम में लाने चाहिये ॥

पाठा-महौषध-सुरदारु-मुस्त-मूर्वा-गुडूची-वत्सक-फल-किराततिक्तक-कटुरोहिणी-सारिवा इति दशेमानि स्तन्यशोधनानि भवन्ति ॥(१८)॥

पाठा (पाढ़ल), महौषध (सोंठ), सुरदारु (देवदारु), मुस्त (नागरमोथा), मूर्वा (मोर बेल), गुडूची (गिलोय), वत्सक फल (इन्द्र जौ), किराततिक्तक (चिरायता), कटुरोहिणी (कटुकी), सारिवा (अनन्त मूल) ये दस 'स्तन्यशोधन' दूध को शुद्ध करने वाले हैं ॥

जीवकर्षभक-काकोली-क्षीरकाकोली-मुद्गपर्णी-माषपर्णी-मेदा-वृद्धरुहा-जटिला-कुलिङ्गा इति दशेमानि शुक्रजननानि भवन्ति ॥(१९)॥

जीवक, ऋषभक, काकोली, क्षीर काकोली, मुद्गपर्णी (मूंगपर्णी) माषपर्णी (उड़दपर्णी); मेदा, वृद्धरुहा (शतावरी), जटिला (जटामांसी), कुलिंग (उटंगण) ये दस 'शुक्रजनन' अर्थात् वीर्य-धातु के वर्धक होते हैं[1] ॥

१. (क) जीवक ऋषभक, मेदा महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, ऋद्धि वृद्धि इन के स्थान पर परिभाषा आदेश से, शतावरी, विदारीकन्द अश्वगन्धा और वाराही कन्द प्रयोग करने चाहियें । (ख) कुलिंगशब्द धन्वन्तरि निघन्टु में, 'विष्किर' पक्षियों के लिये और समार्थकों में दूर्वा के लिये आया है ।

कुष्ठैलवालुक-कट्फल-समुद्रफेन-कदम्ब-निर्यासेक्षु-काण्डेक्षिवक्षुरक-वसुकोशीराणीति दशेमानि शुक्रशोधनानि भवन्ति ॥ (२०) ॥

इति चतुष्कः कषायवर्गः ॥ [४] ॥

कुष्ठ (कूठ), एलवालुक, कट्फल (कायफल), समुद्रफेन, कदम्ब निर्यास, इक्षु (गन्ना), काण्डेक्षु (मोटा गन्ना), इक्षुरक (तालमखाना); वसुक (बकपुष्प), और उशीर (खस की जड़) ये दस 'शुक्रशोधन' अर्थात् वीर्य-धातु को शुद्ध करने वाले हैं ॥ यह चार का बना हुआ कषाय वर्ग है ।

मृद्वीका-मधुक-मधुपर्णी-मेदा-विदारी-काकोली-क्षीरकाकोली-जीवक-जीवन्ती-शालपर्ण्य इति दशेमानि स्नेहोपगानि भवन्ति ॥ (२१) ॥

मृद्वीका (बड़ी दाख), मधुक (मुलैहटी), मधुपर्णी (गिलोय), मेदा, विदारी (विदारी कन्द), काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, जीवन्ती, शालपर्णी ये दस 'स्नेहोपग' अर्थात् शरीर में कोमलता और चिकनाई उत्पन्न करनेमें सहायक हैं ॥

शोभाञ्जनकैरण्डार्क-वृश्चीर-पुनर्नवा-यव-तिल-कुलत्थ-माष-बदराणीति दशेमानि स्वेदोपगानि भवन्ति ॥ (२२) ॥

शोभांजन (सहजन), एरण्ड, अर्क (आक), वृश्चीर (श्वेत पुनर्नवा), पुनर्नवा (रक्त पुनर्नवा), यव (जौ), तिल, कुलत्थ (कुलथी), माष (उड़द), बदर (झाड़ी के बेर) ये दस ओषधियां 'स्वेदोपग' अर्थात् शरीर में पसीना लाने में सहायक हैं ॥

मधु-मधुक-कोविदार-कर्बुदार-नीप-विदुल-बिम्बी-शणपुष्पी-सदापुष्पी-प्रत्यक्पुष्प्य इति दशेमानि वमनोपगानि भवन्ति ॥ (२३) ॥

मधु (शहद), मधुक (मुलहटी), कोविदार (लाल कचनार), कर्बुदार (श्वेत कचनार), नीप (कदम्ब); विदुल (जल वेतस), बिम्बी (कन्दरी), शणपुष्पी (झनझनिया), सदापुष्पी (आक), प्रत्यक् पुष्पी (अपामार्ग, चिरचिटा) ये दस 'वमनोपग' अर्थात् वमन में मदद देती हैं ॥

द्राक्षा-काश्मर्य-परूषकाभयामलक-बिभीतक-कुवल-बदर-कर्कन्धू-पीलूनीति दशेमानि विरेचनोपगानि भवन्ति ॥ (२४) ॥

द्राक्षा (किशमिश), काश्मर्य (गम्भारी), परूषक (फालसा), अभया (जंगी हरड़), आमलक (आंवला), बिभीतक (बहेड़ा), कुवल (बड़ा बेर), बदर (वृक्ष का बेर), कर्कन्धू (झाडी का बेर), पीलू ये दस 'विरेचनोपग' अर्थात् विरेचन में सहायक हैं ॥

त्रिवृद्-बिल्व-पिप्पली-कुष्ठ-सर्षप-वचा-वत्सकफल-शतपुष्पा-मधुक-मदनफलानीति दशेमान्यास्थापनोपगानि भवन्ति ॥ (२५) ॥

त्रिवृत् (निशोथ), बिल्व (बेलगिरी), पिप्पली, कुष्ठ (कूठ), सर्षप (सरसों), वच, वत्सक फल (इन्द्र जौं), शतपुष्पा (सौंफ), मधुक (मुलेहठी) मदनफल (मैनफल) ये दस 'आस्थापनोपग' अर्थात् रूक्ष बस्ति के लिये उपयोगी हैं ॥

रास्ना-सुरदारु-बिल्व-मदन-शतपुष्पा-वृश्चीर-पुनर्नवा-श्वदंष्ट्राग्निमन्थ-श्योनाका इति दशेमान्यनुवासनोपगानि भवन्ति ॥ (२६) ॥

रास्ना, सुरदारु (देवदारु), बिल्व (बेलगिरी), मदन (मैनफल), शतपुष्पा (सौंफ), वृश्चीर (श्वेत पुनर्नवा), पुनर्नवा (रक्त पुनर्नवा), श्वदंष्ट्रा (गोखरू), अग्निमन्थ (अरणी की छाल), श्योनाक (टेंटू की छाल) ये दस 'अनुवासनोपग' अर्थात् स्नेहबस्ति के लिये उपयोगी हैं ॥

ज्योतिष्मती-क्षवक-मरिच-पिप्पली-विडङ्ग-शिग्रु-सर्षपापामार्गतण्डुल-श्वेता-महाश्वेता इति दशेमानि शिरोविरेचनोपगानि भवन्ति ॥ (२७) ॥

इति सप्तकः कषायवर्गः ॥ [५] ॥

ज्योतिष्मती (माल कंगनी), क्षवक (नकछिकनी),मरिच, पिप्पली, विडंग (वायविडंग), शिग्रु (सहजन), सर्षप (सरसों), अपामार्गतण्डुल (चिरचिटे के चावल), श्वेता (अपराजिता श्वेत कोयला), और महाश्वेता (श्वेता का भेद) ये दस 'शिरो-विरेचनोपग' अर्थात् शिरोविरेचन के लिये उपयोगी हैं ॥ यह सात का एक 'कषायवर्ग' हुआ ।

जम्ब्वाम्रपल्लव-मातुलुङ्गाम्लबदर-दाडिम-यव-यष्टिकोशीर-मृल्लाजा इति दशेमानि छर्दिनिग्रहणानि भवन्ति ॥ (२८) ॥

जम्बु (जामुन); और आम्र (आम), इनके पल्लव (पत्ते); मातुलुंग (बिजोरिया-नींबू), अम्ल बदर (खट्टे बेर,), दाडिम (अनार), यव (जौ), यष्टिका (मुलैहठी), उशीर (खस), मृत् (सौराष्ट्र देश की मिट्टी), और लाजा (खीलें) ये दस 'छर्दिनिग्रहण' वमन को रोकती हैं ॥

नागर-धन्वयासक-मुस्त-पर्पटक-चन्दन-किराततिक्तक-गुडूची-ह्रीबेर-धान्यक-पटोलानीति दशेमानि-तृष्णानिग्रहणानि भवन्ति ॥ (२९) ॥

नागर (सोंठ), धन्वयासक (धमासा), मुस्त (नागरमोथा), पर्पटक (पित्तपापड़ा), चन्दन (लाल चन्दन), किराततिक्तक (चिरायता), गुडूची

(गिलोय), ह्रीबेर (नेत्रबाला), धान्यक (धनिया), पटोल (परवल) ये दस औषधियां 'तृष्णानिग्रहण' अर्थात् प्यास को रोकने वाली हैं ॥

शटी-पुष्करमूल-बदरबीज-कण्टकारिका-बृहती-वृक्षरुहाभया-पिप्पली-दुरालभा-कुलीरशृङ्ग्य इति दशेमानि हिक्कानिग्रहणानि भवन्ति ॥(३०)॥

इति त्रिकः कषायवर्गः ॥ [६] ॥

शटी (कचूर), पुष्करमूल (पोहकरमूल), बदरबीज (बेर के बीज, गुटली), कण्टकारिका (छोटी कंटेरी), बृहती (बड़ी कंटेरी), वृक्षरुहा (बन्दा, यह एक पेड़ पर ही पौधा उत्पन्न हो जाता है) अभया (जंगी हरड़), पिप्पली, दुरालभा (धमासा), कुलीरशृंगी (काकड़ा सींगी) ये दस 'हिक्कानिग्रहण' अर्थात् हिचकी को शमन करती हैं ॥ यह तीन से बना हुआ कषाय वर्ग है।

प्रियङ्ग्वनन्ताम्रास्थि-कट्वङ्ग-लोध्र-मोचरस-समङ्गा-धातकीपुष्प-पद्मा-पद्मकेशराणीति दशेमानि पुरीषसंग्रहणीयानि भवन्ति ॥ (३१) ॥

प्रियंगु (फूल प्रियंगु), अनन्ता (अनन्तमूल), आम्रास्थि (आम की गुठली), कट्वंग (श्योनाक की छाल), लोध्र (पटानी लोध), मोचरस (सिम्बल का गोंद), समंगा (मंजीट), धातकी पुष्प (धाय के फूल), पद्मा (भार्गी), पद्मकेशर (कमल का केशर), यह दस 'पुरीषसंग्रहण' अर्थात् मल को रोकनेवाले हैं ॥

जम्बु-शल्लकीत्वक्कच्छुरा-मधुक-शाल्मली-श्रीवेष्टक-भृष्टमृत्पयस्योत्पल-तिलकणा इति दशेमानि पुरीषविरजनीयानि भवन्ति ॥ (३२) ॥

जम्बु (जामुन), शल्लकीत्वक् (कुन्दुरु की छाल), कच्छुरा (कौंच या धमासा), मधुक (मुलेहठी), शाल्मली (सिम्बल का गोंद), श्रीवेष्टक (बिरौजा) भृष्टमृत् (अग्नि के जलाने से जली हुई मिट्टी, चूल्हे की मिट्टी), पयस्या (बिदारी कन्द), उत्पल (नील कमल), तिल कण ये दस 'पुरीषविरजनीय' अर्थात् मल के दूषित रंग को बदलने वाले हैं ॥

जम्ब्वाम्र-प्लक्ष-वट-कपीतनोदुम्बराश्वत्थ-भल्लातकाश्मन्तक-सोमवल्का इति दशेमानि मूत्रसंग्रहणीयानि भवन्ति ॥ (३३) ॥

जम्बु (जामुन), आम्र (आम), प्लक्ष (पिलखन), वट (बड़), कपीतन (पारस पीपल), उदुम्बर (गूलर), अश्वत्थ (पीपल), भल्लातक (भिलावा), अश्मन्तक, सोमवल्क (खैर सफेद) ये दस 'मूत्र-संग्रहण' अर्थात् मूत्र को कम करते हैं॥

पद्मोत्पल-नलिन-कुमुद-सौगन्धिक-पुण्डरीक-शतपत्र-मधुक-प्रियङ्गु-धातकीपुष्पाणीति दशेमानि मूत्रविरजनीयानि भवन्ति ॥ (३४) ॥

पद्म (कमल), उत्पल (नीला कमल), नलिन, कुमुद, सौगन्धिक (कमल का एक भेद), पुण्डरीक (श्वेत कमल), शतपत्र, मधुक (मुलैहटी), प्रियंगु (फूल प्रियंगु) धातकी पुष्प (धाय के फूल) ये दस 'मूत्र-विरजनीय' अर्थात् मूत्र में रंग लाते हैं, और दूषित रंग को प्राकृत रूप में लाते हैं ।।

वृक्षादनी-श्वदंष्ट्रा-वसुक-वशिर-पाषाणभेद-दर्भ-कुश-काश-गुन्द्रेत्कट-मूलानीति दशेमानि मूत्रविरेचनीयानि भवन्ति ॥ (३५) ॥

इति पञ्चकः कषायवर्गः ॥ [७] ॥

वृक्षादनी (बन्दार्क), श्वदंष्ट्रा (गोखरू), वसुक (पुनर्नवा), वशिर (चिरचिटा), पाषाणभेद, दर्भमूलानि (दाभ), कुश (कुशा), काश (सरकन्डा), गुन्द्रा (होगला), इत्कट (ईकड़ी), इत्कट का मूल 'मूत्र-विरेचनीय' अर्थात् मूत्र बढ़ाने वाले हैं । यह पांच से बना कषाय वर्ग है ।

द्राक्षाभयामलक-पिप्पली-दुरालभा-शृङ्गी-कण्टकारिका-वृश्चीर-पुनर्नवा-तामलक्य इति दशेमानि कासहराणि भवन्ति ॥ (३६) ॥

द्राक्षा (किशमिश), अभया (जंगी हरड़), आमलक (आंवला), पिप्पली, दुरालभा (धमासा), शृङ्गी (काकड़ासिंगी), कण्टकारिका (छोटी कटेरी), वृश्चीर (श्वेत पुनर्नवा), पुनर्नवा (रक्त पुनर्नवा), तामलकी, (भूई उगंवता) ये दस 'कासहर' अर्थात् खांसी को शान्त करते हैं ॥

शटी-पुष्करमूलाम्लवेतसैला-हिङ्ग्वगुरु-सुरसा-तामलकी-जीवन्ती-चण्डा इति दशेमानि श्वासहराणि भवन्ति ॥ (३७)

शटी (कचूर), पुष्करमूल (पोहकरमूल), अम्लवेतस, एला (छोटी इलायची), हिंगु (हींग), अगुरु (अगर), सुरसा (तुलसी), तामलकी (भूम्यामलकी), जीवन्ती, चण्डा (चोख) ये दस 'श्वासहर' अर्थात् श्वास रोग के नाशक हैं ॥

पाटलाग्निमन्थ-बिल्व-श्योनाक-काश्मर्य-कण्टकारिका-बृहती-शालपर्णी-पृश्निपर्णी-गोक्षुरका इति दशेमानि शोथहराणि भवन्ति ॥ (३८) ॥

पाटला (पाढ़ल), अग्निमन्थ (अरणी), बिल्व (बेलगिरी), श्योनाक (टेंटु), काश्मर्य (गम्भारी), कण्टकारिका (छोटी कटेरी), बृहती (बड़ी कटेरी), शालपर्णी, पृश्निपर्णी, गोक्षुरक (गोखरू), ये दस 'शोथहर' अर्थात् सूजन कम करते हैं ॥

सारिवा-शर्करा-पाठा-मञ्जिष्ठा-द्राक्षा-पीलु-परूषकाभयामलक-विभीतकानीति दशेमानि ज्वरहराणि भवन्ति ॥ (३९) ॥

सारिवा (अनन्तमूल), शर्करा (मिश्री), पाठा (पाढ़ल), मंजिष्ठा (मजीठ), द्राक्षा (किशमिश), पीलु, परूषक (फालसा), अभया (बड़ी हरड़), आमलकी (आंवला), बिभीतक (बहेड़ा), ये दस 'ज्वरहर' अर्थात् ज्वर नाशक हैं ॥

द्राक्षा-खर्जूर-पियाल-बदर-दाडिम-फल्गु-परूषकेक्षु-यव-यष्टिका इति दशेमानि श्रमहराणि भवन्ति ॥ (४०) ॥

इति पञ्चकः कषायवर्गः ॥ [८] ॥

द्राक्षा (किशमिश), खजूर (पिण्डखजूर), पियाल (प्याल चिरोंजी फल), बदर (बेर), दाडिम (अनार), फल्गु (अंजीर), परूषक (फालसा), इक्षु (ईख), यव (जौ), यष्टिक (साठी चावल) ये दस 'श्रमहर' अर्थात् थकावट को मिटाते हैं ॥ यह पांच से बना 'कषायवर्ग' है ।

लाजा-चन्दन-काश्मर्यफल-मधुक-शर्करा-नीलोत्पलोशीर-सारिवा-गुडूची-ह्रीबेराणीति दशेमानि दाहप्रशमनानि भवन्ति ॥ (४१) ॥

लाजा (खील), चन्दन (श्वेत चन्दन), काश्मर्य-फल (गम्भारी फल) मधुक (मुलहठी), शर्करा (मिश्री), नीलोत्पल (नीला कमल), उशीर (खस) सारिवा (अनन्तमूल), गुडूची (गिलोय), ह्रीबेर (नेत्रबाला), ये दस 'दाहप्रशमन' अर्थात् जलन कम करते हैं ॥

तगरागुरु-धान्यक-शृङ्गवेर-भूतीक-वचा-कण्टकारिकाग्निमन्थ-श्योनाक-पिप्पल्य इति दशेमानि शीतप्रशमनानि भवन्ति । (४२) ॥

तगर, अगुरु (अगर), धान्यक (धनिया), शृङ्गवेर (सोंठ), भूतीक (अजवायन), वचा, कण्टकारिका (छोटी कटेरी) अग्निमन्थ (अरणी), श्योनाक (टेंटु), और, पिप्पली, ये दस 'शीत-शप्रशमन' अर्थात् शीतनाशक हैं ॥

तिन्दुक-पियाल-बदर-खदिर-कदर-सप्तपर्णाश्वकर्णार्जुनासनारिमेदा इति दशेमान्युदर्दप्रशमनानि भवन्ति ॥ (४३) ॥

तिन्दुक (तेंदू), पियाल (चिरौंजी का फल), बदर (बेर), खदिर (खैर), कदर (सफेद खैर[1]), सप्तपर्ण (सातवन) अश्वकर्ण (साल), अर्जुन, असन

१. कदर—'सोमवल्कस्तु रीठायांकदरे कृष्णगर्भके' । ध० निघण्टु ।

(पीतसाल), अरिमेद ([1]विट्खदिर इरिमेद), ये दस 'उदर्द' अर्थात् शीतपित्त रोग को शान्त करते हैं ॥

विदारीगन्धा-पृश्निपर्णी-बृहती-कण्टकारिकैरण्ड-काकोली-चन्दनोशीरैला-मधुकानीति दशेमान्यङ्गमर्दप्रशमनानि भवन्ति ॥ (४४) ॥

विदारीगन्धा (शालपर्णी), पृश्निपर्णी (पिठवन), बृहती (बड़ी कंटेरी) कण्टकारिका (छोटी कंटेरी) एरण्ड, काकोली, चन्दन (लाल चन्दन), उशीर (खस), एला, (छोटी इलायची), मधुक (मुलहटी), ये दस 'अंगमर्द-प्रशमन' अर्थात् अंगों के टूटने की बेचैनी को मिटाते हैं ॥

पिप्पली-पिप्पलीमूल-चव्य-चित्रक-शृङ्गवेर-मरिचाजमोदाजगन्धाजाजी-गण्डीराणीति दशेमानि शूलप्रशमनानि भवन्ति ॥ (४५) ॥

इति पञ्चकः कषायवर्गः ॥ [९] ॥

पिप्पली, पिप्पली-मूल, चव्य (चविका), चित्रक (चीतामूल), शृंङ्गवेर (सोंठ), मरिच, अजमोदा (अजवायन), अजगन्धा (डूकू), अजाजी (जीरा), गंडीर ये दस 'शूलप्रशमन' अर्थात् तीव्र पीड़ा के नाशक हैं ॥ यह पांच का एक 'कषाय वर्ग' होता है ।

मधु-मधुक-रुधिर-मोचरस-मृत्कपाल-लोध्र-गैरिक-प्रियङ्गु-शर्करा-लाजा इति दशेमानि शोणित-स्थापनानि भवन्ति ॥ (४६) ॥

मधु (शहद), मधुक (मुलैहटी), रुधिर (केशर), मोचरस (सिम्बल का गोंद), मृत्कपाल (मिट्टी का ठीकरा), लोध्र (पठानी लोध),गैरिक (गेरू), प्रियंगु (फूल प्रियंगु), शर्करा (मिश्री), लाजा (खीलें) ये दश 'शोणित-स्थापन' अर्थात् रक्तरोधक वा बहते खून को रोकने वाले हैं ॥

शाल-कट्फल-कदम्ब -पद्मक-तुङ्ग-मोचरस-शिरीष-वञ्जुलैलवालुकाशोका इति दशेमानि वेदनास्थापनानि भवन्ति ॥ (४७) ॥

शाल (साल), कट्फल (कायफल), कदम्ब, पद्मक (पद्माख), तुंग[2] (नाग केशर) मोचरस (सिम्बल का गोंद), शिरीष (सिरस), वंजुल (जलवेतस), एलवालुक, अशोक ये दस 'वेदनास्थापन' अर्थात् तीव्र वेदना को कम करते हैं ॥

हिङ्गु-कैडर्यारिमेद-वचा-चोरक-वयःस्था-गोलोमी-जटिला-पलङ्कषाशोकरोहिण्य इति दशेमानि संज्ञास्थापनानि भवन्ति ॥ (४८) ॥

हिंगु (हींग), कैडर्य (नीम). अरिमेद (रेवां), वच, चोरक, वयस्था

---

१. विट्खदिर—इस खैर से बदबू आती है ।

२ तुङ्ग के स्थान पर तुम्ब पाठ होने पर तेजवल लेना चाहिये ।

(ब्राह्मी), गोलोमी (वच या दूर्वा), जटिला (जटामांसी), पलंकषा (गुग्गुलु), अशोकरोहिणी (कुटकी) ये दस 'संज्ञा-स्थापन' अर्थात् संज्ञा उत्पन्न करते हैं ॥

ऐन्द्री-ब्राह्मी-शतवीर्या-सहस्रवीर्यामोघाव्यथा-शिवारिष्टा-वाट्यपुष्पी-विष्वक्सेनकान्ता इति दशेमानि प्रजास्थापनानि भवन्ति ॥(४९)॥

ऐन्द्री, ब्राह्मी, शतवीर्या (शतावरी), सहस्रवीर्या (महाशतावरी),अमोघा (आंवला), अव्यथा (गिलोय), शिवा (हरीतकी), अरिष्टा (कुटकी), वाट्यपुष्पी (खरैटी), विष्वक्सेनकान्ता (प्रियंगु) ये दस 'प्रजास्थापन' अर्थात् संतति जनक हैं ॥

अमृताभया-धात्री-मुक्ता-श्वेता-जीवन्त्यतिरसा-मण्डूकपर्णी-स्थिरा-पुनर्नवा इति दशेमानि वयःस्थापनानि भवन्ति ॥ (५०) ॥

इति पञ्चकः कषायवर्गः ॥ [१०] ॥

अमृता (गिलोय), अभया (हरड़), धात्री (आंवला), मुक्ता (रास्ना), श्वेता (अपराजिता), जीवन्ती, अतिरसा (शतावरी), मण्डूकपर्णी स्थिरा (शालपर्णी), और पुनर्नवा ये दस औषधि 'वयः स्थापन' अर्थात् वय को टिकाती है ॥ यह पाँच से बना हुआ कषाय वर्ग है ।

इति पञ्चकषायशतान्यभिसमस्य पञ्चाशन्महाकषायाः, महतां च कषायाणां लक्षणोदाहरणार्थं व्याख्याता भवन्ति ॥१४॥

इस प्रकार से (प्रत्येक द्रव्य के गिनने से) पाँच सौ (५००) कषाय पूर्ण हो जाते हैं, एवं पचास (५०) 'महाकषाय' भी हो जाते हैं । इन कषायों के लक्षण उदाहरण भी कह दिये गये हैं ॥१४॥

न हि विस्तरस्य प्रमाणमस्ति, न चाप्यतिसंक्षेपोऽल्पबुद्धीनां सामर्थ्यायोपकल्पते,तस्मादनतिसंक्षेपेणानतिविस्तरेण चोपदिष्टाः । एतावन्तो ह्यलमल्पबुद्धीनां व्यवहाराय बुद्धिमतां च स्वालक्षण्यानुमानयुक्तिकुशलानामनुक्तार्थज्ञानायेति ॥ १५ ॥

फैलाव की सीमा नहीं है और बहुत थोड़े में कहे हुए अर्थ को थोड़ी बुद्धि वाले नहीं समझ सकते । इसलिये न तो बहुत संक्षेप में और न बहुत विस्तार से यहाँ कहा है । यहां पर जितना भी कहा है वह थोड़ी बुद्धिवालों के व्यवहार चलाने के लिये है ओर जो लक्षण अनुमान, युक्ति में निपुण हैं, उन बुद्धिमानों के लिये न कहे हुए अर्थ को जानने के लिये सहायक होगा ॥१५॥

एवं वादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—नैतानि भगवन् !

पञ्चकषायशतानि पूर्यन्ते, तानि तानि ह्येवाङ्गानि संप्लवन्ते तेषु तेषु महाकषायेष्विति ॥ १६ ॥

इस प्रकार से कहते हुए 'भगवान् आत्रेय' के प्रति अग्निवेश बोले—हे भगवन्! ये पांच सौ कषाय पूरे नहीं होते। क्योंकि वे ही द्रव्य उन उन महा कषायों में बार-बार आते हैं। अर्थात् एक द्रव्य भिन्न २ कषायों में बार-बार आता है। इस प्रकार से ५०० कषाय पूरे नहीं हो सकते ॥ १६ ॥

तमुवाच भगवानात्रेयः—नैतदेवं बुद्धिमता द्रष्टव्यमग्निवेश! एकोऽपि ह्यनेकां संज्ञां लभते कार्यान्तराणि कुर्वन्। तद्यथा—पुरुषो बहूनां कर्मणां करणे समर्थो भवति। स यद्यत्कर्म करोति तस्य तस्य कर्मणः कर्तृकरणकार्यसंप्रयुक्तं तत्तद्गौणं नामविशेषं प्राप्नोति तद्वदौषधद्रव्यमपि द्रष्टव्यम्। यदि त्वेकमेव किंचिद् द्रव्यमासादयामस्तथागुणयुक्तं यत्सर्वकर्मणां करणे समर्थं स्यात् कस्ततोऽन्यदिच्छेदुपधारयितुमुपदेष्टुं वा शिष्येभ्य इति ॥ १७ ॥

अग्निवेश के प्रति भगवान् आत्रेय बोले हे अग्निवेश! बुद्धिमान् व्यक्ति को इस प्रकार से नहीं देखना चाहिये। एक द्रव्य भी दूसरे २ काम करता हुआ भिन्न २ संज्ञा वाला हो जाता है। जिस प्रकार एक पुरुष बहुत से काम करने में समर्थ होता है। वह जो जो भी काम करता है, वह उस कर्म के वह कर्त्ता, करण (साधन) और कार्य के अनुसार वह गुणवाले नाम विशेष को प्राप्त होता है। इस प्रकार से औषध द्रव्य को भी कार्य साधन और कर्त्ता आदि दृष्टि से देखना चाहिये। और यदि किसी ऐसे एक ही द्रव्य को प्राप्त करलें, जो द्रव्य सब काम करने में समर्थ हो, तो फिर कौन दूसरी औषध को पास में रखने अथवा शिष्यों को उपदेश करनेके लिये झंझट करे, इसलिये काम करने में समर्थ शक्ति वाला ऐसा कोई एक द्रव्य नहीं है ॥१७॥

तत्र श्लोकाः।

यतो यावन्ति यैर्द्रव्यैर्विरेचनशतानि षट्।
उक्तानि संग्रहेणेह तथैवेषां षडाश्रयाः ॥ १८ ॥
रसा लवणवर्ज्याश्च कषाय इति संज्ञिताः।
तस्मात्पञ्चविधा योनिः कषायाणामुदाहृता ॥ १९ ॥
तथा कल्पनमप्येषामुक्तं पञ्चविधं पुनः।
महतां च कषायाणां पञ्चाशत्परिकीर्तिताः ॥ २० ॥
पञ्च चापि कषायाणां शतान्युक्तानि भागशः।

लक्षणार्थं, प्रमाणं हि विस्तरस्य न विद्यते ॥ २१ ॥
न चालमतिसंक्षेपः सामर्थ्यायोपकल्पते ।
अल्पबुद्धेरयं तस्मान्नातिसंक्षेपविस्तरः ॥ २२ ॥
मन्दानां व्यवहाराय बुधानां बुद्धिवृद्धये ।
पञ्चाशत्को ह्ययं वर्गः कषायाणामुदाहृतः ॥ २३ ॥
तेषां कर्मसु बाह्येषु योगमाभ्यन्तरेषु च ।
संयोगं च प्रयोगं च यो वेद स भिषग्वरः ॥ २४ ॥

इस विषय में श्लोक हैं—

जिन द्रव्यों में से (छः सौ) विरेचन योग होते हैं वे एवं विरेचन योगों के छः आश्रय भी संक्षेप से कह दिये हैं।

लवण (नमक) को छोड़कर शेष पांच रसोंकी 'कषाय' संज्ञा है। इसलिये कषायों की पांच प्रकार की योनि कही है। एवं इन पांच कषायों की पांच प्रकार की कल्पना (बनावट) भी कह दी है और पचास प्रकार के 'महाकषाय' कहे हैं। कषायों के पांच सौ प्रकार भी दिग्दर्शन के लिये, न तो बहुत विस्तार से और न बहुत संक्षेप में कहे हैं। वे थोड़ी बुद्धि वालों को काम देने के लिये पर्याप्त हैं। इसलिये न विस्तार किया है और न बहुत संक्षेप। मन्द बुद्धिवाले व्यवहार का चला सकें, और बुद्धिमान् की प्रतिभा बढ़ाने के लिये पांच सौ कषायों का वर्ग कह दिया। इन कषायों का बाह्य कर्मों तथा आभ्यन्तर प्रयोगोंमें संयोग, और प्रयोग (योजना) को जो जानता है वह उत्तम वैद्य है[1] ।१८-२४।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने भेषजचतुष्के
षड्विरेचनशताश्रितीयो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥
इति भेषजचतुष्कः ॥ १ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

अथातो मात्राशितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

१-बाह्य प्रयोग प्रलेप आदि में, अन्तःप्रयोग वमन आदि कार्यों में स्वस्थ एवं आतुर दोनों व्यक्तियों के लिये करने में समर्थ एवं संयोग मिश्रण अयोगिक, हानिकारक अनुचित औषधियों को योग में से निकाल देना एवं उचित को न कहने पर भी मिश्रण करना, प्रयोग देश, काल, प्रकृति, व्याधि, रोगी, बल आदि को देख कर योजना करना जो जानता है, वही उत्तम वैद्य है।

भेषज चतुष्क कहने के अनन्तर 'मात्राऽशितीय' अध्याय की व्याख्या करेंगे। इस प्रकार भगवानात्रेय ने कहा है ॥१-२॥

मात्राशी स्यात्। आहारमात्रा पुनरग्निबलापेक्षिणी। यावद्ध्यस्याशनमशितमनुपहत्य प्रकृतिं यथाकालं जरां गच्छति तावदस्य मात्राप्रमाणं वेदितव्यं भवति ॥ ३ ॥

मात्रा में आहार करने वाला होना चाहिये। आहार[1] की मात्रा जाठर अग्नि के बल की अपेक्षा करती है। जितना खाया हुआ भोजन मनुष्य की प्रकृति, स्वास्थ्य को नुक्सान न पहुंचा कर ठीक समय में जीर्ण हो जाता है भोजन की उतनी मात्रा जाननी चाहिये[2] ॥ ३ ॥

तत्र शालि-षष्टिक-मुद्ग-लावक-पिञ्जलैण-शश-शरभ-शम्बरादीन्याहार-द्रव्याणि प्रकृतिलघून्यपि मात्रापेक्षीणि भवन्ति, तथा पिष्टेक्षु-क्षीर-विकृति-तिल-माषानूपौदकपिशितादीन्याहारद्रव्याणि प्रकृतिगुरूण्यपि मात्रामेवापेक्षन्ते ॥ ४ ॥

क्योंकि (शालि), हैमन्तिक धान्य, (षष्टिक) साठी चावल, (मुद्ग), मूंग, (लाव) बटेर, (कपिञ्जल) तीतर, (एण) काला मृग, (शश) खरगोश,

१. आहार चार प्रकार का है। यथा—भक्ष्य, चोष्य, लेह्य और पेय। भक्ष्य रोटी आदि, चोष्य चूसने योग्य, लेह्य चाटने योग्य, और पेय पानी आदि द्रव।

एक ही मनुष्य की शक्ति सदा एक समान नहीं रहती। यौवनावस्था में जितनी जाठराग्नि समर्थ होती है, उतनी बाल्यावस्था या वृद्धावस्था में नहीं होती। इसी प्रकार हेमन्त ऋतु में जितना अग्नि प्रबल रहती है उतनी वर्षा में नहीं रहती। इस लिये प्रत्येक समय के लिये एक मात्रा एक व्यक्ति के लिये भी निश्चित करना असम्भव है, फिर सब के लिये सामान्य रूप से मात्रा निश्चित करना तो और भी असम्भव है। इसलिये 'मात्रा' का निर्णय प्रत्येक व्यक्ति के ऊपर ही छोड़ दिया है।

२ (क)–'यथाकालं'—प्रातःकाल का भोजन सायंकाल तक और सायंकाल का भोजन प्रातः कालतक जीर्ण हो जाये। क्योंकि हमारे यहां दो ही समय भोजन का विधान है। यथा—

''सायं प्रातर्मनुष्याणां भोजनं विधिनिर्मितम्।
नान्तरे भोजनं कुर्य्याद् अग्निहोत्रसमो विधिः ॥'' सर्वांगसुन्दरी टीका ॥

(शरभ) बड़े सींगों वाला पाढ़ा हरिण, (शम्बर) हरिण साबर आदि आहार द्रव्य स्वभाव से लघु होने पर भी मात्रा की अपेक्षा करते हैं[१]। इसी प्रकार (पिष्ट) पिठी से बनी हुई वस्तुएं; (इक्षु) गुड़ खांड आदिसे बनी; (क्षीर-विकृति) दूध, मावे आद से बनी; तिल, (माष) उड़द, (आनूपौदक पिशित) अर्थात् जल प्रदेश में या जल के अन्दर रहने वाले प्राणियों का मांस आदि आहार द्रव्य स्वभाव से ही भारी हैं। ये सब भी मात्रा[२] की ही अपेक्षा करते हैं ॥ ४ ॥

न चैवमुक्ते द्रव्ये गुरुलाघवमकारणं मन्येत। लघूनि हि द्रव्याणि वाय्वग्नि-गुण-बहुलानि भवन्ति, पृथिवी-सोम-गुण-बहुलानीतराणि; तस्मात्स्वगुणादपि लघून्यग्नि-संधुक्षण-स्वभावान्यल्प-दोषाणि चोच्य-न्तेऽपि सौहित्योपयुक्तानि, गुरूणि पुनर्नाग्नि-संधुक्षण-स्वभावान्यसामा-न्यात्, अतश्चातिमात्रं दोषवन्ति सौहित्योपयुक्तान्यन्यत्र व्यायामाग्नि-बलात्; सैषा भवत्यग्निबलापेक्षिणी मात्रा ॥ ५ ॥

शालि, सांठी आदि पदार्थ बिना मात्रा में खाने से अहितकर हैं और पीठी गुड़ आदि से बने पदार्थ मात्रा में खाने से हितकर होते हैं, यदि मात्रा की ही अपेक्षा से ये हितकर या अहितकर होते हों, तो द्रव्यों का गुरु एवं लघुगुण-

(ख)—मनुष्य की प्रकृति के ऊपर मात्रा का निर्णय रखने से, विषम और तीक्ष्ण अग्निवाले व्यक्ति भी अपनी भोजन की मात्रा स्वयं निश्चय कर सकते हैं। तीक्ष्ण अग्नि वाले को इतना भोजन करना चाहिये, जो कि ठीक समय में जीर्ण हो जाये, इसी प्रकार विषम अग्नि वाले भी ठीक समय में जीर्ण हो सके ऐसा भोजन करें, यही उनकी मात्रा है।

(ग)—'प्रकृतिमनुपहत्य'—भोजन से कुक्षि का पीड़न न होना, हृदय का न रुकना, पार्श्वों का न फूलना, पेट का न तनना या भारी न होना, श्वास में कठिनाई का न होना, भूख, प्यास की शान्ति, उठने बैठने, चलने फिरने, लेटने या बात-चीत में हल्कापन अथवा सुख की प्रतीति होना ही प्रकृति है। देखिये विमानस्थान अध्याय २।

१. एक पदार्थ लघु होता हुआ भी अधिक मात्रा में खाने से 'गुरु' हो जाता है। इसी प्रकार गुरु पदार्थ थोड़ा खाने से 'लघु' हो जाता है।

२. मात्रा के साथ 'संस्कार' रांधने की विधि से भी लघु पदार्थ गुरु और गुरु पदार्थ लघु बन जाते हैं।

सम्बन्धी ज्ञान करना व्यर्थ है ? ऐसा नहीं, क्योंकि द्रव्यों का गुरु या लघु होना भी अकारण या निष्प्रयोजन नहीं है।

वायु और अग्नि के गुणों की अधिकता वाले पदार्थ लघुगुण वाले होते हैं [आकाश गुण वाले बहुतसे द्रव्य लघु होते हुए भी अग्नि का बढ़ाने वाले नहीं होते, इसलिए इनका ग्रहण नहीं किया]। पृथ्वी, सोम (जल) गुणों की अधिकता वाले पदार्थ गुरु होते हैं।

इसलिये लघु पदार्थ वायु एवं अग्नि से बने होने के कारण; और अपने गुणों के कारण से—जैसे वायु रूक्ष लघु, सूक्ष्म, चल, विशद, खर गुण वाला है, इससे भी लघु पदार्थ जाठराग्नि को संदीपन करने वाले एवं तृप्ति पूर्वक मात्रा का व्यतिक्रम करके खाने पर भी थोड़े दोष वाले होते हैं; ये अधिक दोष नहीं करते[1]।

गुरु द्रव्य अग्नि को संदीपन करने वाले नहीं होते। क्योंकि असमान होने से अग्नि से विपरीत गुण वाले हैं अर्थात् पृथ्वी और जल के गुण वाले होते हैं। अतः तृप्तिपूर्वक पेट भर के खाने से बहुत अधिक दोष कारक होते हैं। व्यायाम अग्निबल और हेमन्त ऋतु आदि में स्वभावतः अग्नि वृद्धि होने के कारण ये विकार नहीं करते; अन्य अवस्थाओं में विकार उत्पन्न करते हैं[2]।

इसलिये 'मात्रा' अग्नि बल की अपेक्षा करती है गुरु लघु द्रव्य की अपेक्षा नहीं करती ॥५॥

न च नापेक्षते द्रव्यम्। द्रव्यापेक्षया च त्रिभागसौहित्यमर्धसौहित्यं वा गुरूणामुपदिश्यते; लघूनामपि च नातिसौहित्यमग्नेर्युक्त्यर्थम्।

मात्रा द्रव्य की अपेक्षा नहीं करती, ऐसा भी नहीं क्योंकि मात्रा की अपेक्षा से गुरु द्रव्यों का तीन हिस्सा या आधे पेट, जिससे कि कुक्षि मे प्रपीड़न, भारीपन प्रतीत न हो, इतना खाना बताया है। परिमाण या मात्रा से नहीं बताया। इसी प्रकार लघु गुण वाले पदार्थों का भी पेट भर के खाने का आदेश नहीं

---

१. अग्नि भी रूक्ष, लघु, सूक्ष्म चल, विशद, खर है, इसलिये इस गुणवाले पदार्थ अग्नि को बढ़ायेंगे। समान गुण वाले समान गुणों को बढ़ाते हैं। अतः अधिक मात्रा में खाने पर भी लघु पदार्थ अग्नि को बढायेंगे ही।

२. व्यायाम करने वाले मनुष्य को विरुद्ध वा अविरुद्ध सब प्रकार का भोजन पच जाता है। क्योंकि व्यायाम से अग्नि बढ़ती है। हेमन्त में अग्नि स्वभावतः प्रबल होती है, अतः गुरु पदार्थ खाने का आदेश दिया है।

दिया। इतना खाना चाहिये जिससे कि अग्नि समान रूप से स्थिर रह सके। जीवन के लिये खाना, खाने के लिये जीना नहीं[1]।

मात्रा में खाने के फल—

मात्रावद्ध्यशनमशितमनुपहत्य प्रकृतिं बल-वर्ण-सुखायुषा योजयत्युपयोक्तारमवश्यमिति ॥ ६ ॥

क्योंकि मात्रा में खाया हुआ आहार प्रकृति और स्वास्थ्य को न बिगाड़ कर उपयोग करने वाले मनुष्य को बल, वर्ण (कान्ति), सुख, आयु से युक्त करता है, इसलिये मात्रानुसार भोजन करना चाहिये ॥ ६ ॥

भवन्ति चात्र—

गुरु पिष्टमयं तस्मात्तण्डुलान् पृथुकानपि।
न जातु भुक्तवान् खादेन्मात्रां खादेद् बुभुक्षितः॥ ७ ॥
वल्लूरं शुष्कशाकानि शालूकानि बिसानि च।
नाभ्यसेद् गौरवान्मांसं कृशं नैवोपयोजयेत्॥ ८ ॥
कूर्चिकांश्च किलाटांश्च शौकरं गव्यमाहिषे।
मत्स्यान्दधि च माषांश्च यवकांश्च न शीलयेत्॥ ९ ॥

इसलिये भोजन कर चुकने पर भारी पिट्ठी से बने चावल, चिवड़ा इनको कभी भी नहीं खाये। मात्रा में भी भोजन करने के बाद इनको नहीं खाना चाहिये। भूखे होनेपर इन पदार्थों को मात्रामें ही खाना चाहिये अधिक नहीं।

बल्लूर (सूखा हुआ मांस); सूखे हुए शाक-कचरी आदि शालूक (कमल का कन्द) और बिस मृणाल इनका निरन्तर उपयोग नहीं करना चाहिये। क्योंकि ये पदार्थ गुरु हैं। इसी प्रकार दुर्बल, रुग्ण पशु का मांस भी नहीं खाना चाहिये। (कूर्चिक) छाछ के साथ पकाया हुआ दूध, (किलाट) छाछ के साथ पकाये हुए दूध का घन ठोस भाग, सुअर का मांस, गाय और भैंस का मांस, मच्छलियों का मांस, दही, उड़द और शूक धान्य, जई इनको निरन्तर लगातार नहीं खाना चाहिये ॥ ७–९ ॥

षष्टिकाञ्छालिमुद्गांश्च सैन्धवामलके यवान्।
आन्तरीक्षं पयः सर्पिर्जाङ्गलं मधु चाभ्यसेत्॥ १० ॥

---

१. लघु भोजन अधिक मात्रा में खाने से अग्नि को सन्दीपन करने का गुण रखते हुये भी शरीर के लिये हानिकारक होंगे, क्योंकि शस्त्र पत्थर पर ही तेज होता है, और पत्थर पर अधिक पैनाने से वह खुन्डा भी बन जाता है। आंख तेजोमय है, वही आंख तेज की अधिकता से बिगड़ भी जाती है।

षष्टिक (साठी चावल), शालि (हेमन्त ऋतु में पकने वाले धान्य), मुद्ग (मूंग), सैन्धव (सैंधा नमक), आमलक (आंवले), यव (जौ), आन्तरिक्ष अर्थात् बरसात का जल, दूध, घी, जंगल में होने वाले मृग आदि का मांस और शहद इनका निरन्तर (अग्नि बल को देखते हुए उचित मात्रा में) उपयोग करना चाहिये ॥ १० ॥

तच्च नित्यं प्रयुञ्जीत स्वास्थ्यं येनानुवर्तते ।
अजातानां विकाराणामनुत्पत्तिकरं च यत् ॥ ११ ॥

जो विशुद्ध क्षीण होते हुए शरीर को पोषण दे और जो न उत्पन्न हुए विकारों वा रोगों को न उत्पन्न करे ऐसा आहार का स्वास्थ्य के लिये नित्यप्रति उपयोग करे ।

रोगों की उत्पत्ति में 'प्रज्ञापराध' 'परिणाम' और 'असात्म्येन्द्रियार्थ' संयोग ये तीन ही कारण हैं । अतः इनको छोड़कर और सब करना चाहिये, इनका सेवन नहीं करना चाहिये, इनसे बचना चाहिये । ऐसा करने से भावी में रोग उत्पन्न नहीं होंगे ॥ ११ ॥

स्वस्थवृत्त—

अत ऊर्ध्वं शरीरस्य कार्यमक्ष्यञ्जनादिकम् ।
स्वस्थवृत्तमभिप्रेत्य गुणतः संप्रवक्ष्यते ॥ १२ ॥

स्वास्थ्य के लिये आहार विधि को कह कर इस के आगे शारीरिक कार्य्यों का उपदेश करते हैं ।

स्वस्थवृत्त अर्थात् स्वास्थ्य की दृष्टि से अञ्जन आदि एवं शारीरिक कार्य उनके गुणों सहित कहते हैं ॥ १२ ॥

सौवीरमञ्जनं नित्यं हितमक्ष्णोः प्रयोजयेत् ।
पञ्चरात्रेऽष्टरात्रे वा स्रावणार्थे रसाञ्जनम् ॥ १३ ॥

आँख तेजोमय (अग्नि रूप है) इसलिये आँख को शरीर के दोष वात, पित्त और कफ इनसे भय बना रहता है । इनमें भी विशेष कर कफ से । इसलिये श्लेष्मा के जय के लिये पांचवें, छठे दिन तीक्ष्ण अंजन (रसांजन) रात्रि में लगाना चाहिये ।

सौवीराञ्जन को प्रतिदिन आँखों में लगाना चाहिये, क्योंकि यह आँखों के लिये हितकारी है । इससे आँख के तेज की रक्षा होती है, इससे आँखों के दोष दूर नहीं होते । आँखों के दोष दूर करने और आँखों से पानी का दोष निकालने के लिये पांचवें या आठवें दिन दोष के बलाबल की अपेक्षा से रसाञ्जन को रात्रि में प्रयोग करना चाहिए ॥ १३ ॥

चक्षुस्तेजोमयं तस्य विशेषाच्छ्लेष्मतो भयम् ।
दिवा तन्न प्रयोक्तव्यं नेत्रयोस्तीक्ष्णमञ्जनम् ॥ १४ ॥
विरेकदुर्बला दृष्टिरादित्यं प्राप्य सीदति ।
तस्मात्स्राव्यं निशायां तु ध्रुवमञ्जनमिष्यते ॥ १५ ॥
ततः श्लेष्महरं कर्म हितं दृष्टेः प्रसादनम् ।
यथा हि कनकादीनां मलिनानां विविधात्मनाम् ॥ १६ ॥
धौतानां निर्मला शुद्धिस्तैल-चेल-कचादिभिः ।
एवं नेत्रेषु मर्त्यानामञ्जनाश्च्योतनादिभिः ॥ १७ ॥
दृष्टिर्निराकुला भाति निर्मले नभसीन्दुवत् ।

आँख तेजोमय है, उसे खास करके कफ से भय है । इसलिये विशेषतः दिन में तीक्ष्ण अंजन आँखों में नहीं करना चाहिये । क्योंकि दृष्टि तीक्ष्णांजन के लगाने से एवं दोष के कारण निर्बल होती है, इसलिये सूर्य को नहीं सहती, और यदि सूर्य के सामने अञ्जन दिन में लगाया जाय तो आँख पीड़ित होती है । इसलिए स्रावण अञ्जन को रात्रि में ही लगाना चाहिये[1] ।

श्लेष्मा के निकलने के बाद श्लेष्मा को घटाने वाला और आंख को स्वच्छ करने वाला प्रयोग करना चाहिये । जिस प्रकार की धूल आदि से मैले हुए नाना प्रकार के स्वर्णादि की तैल, (वस्त्र), बाल आदि से घिसने पर स्वच्छता होती है इसी प्रकार मनुष्यों की आँख स्रोताञ्जन, निर्म्मल, (वातादि दोषों से रहित) होकर स्वच्छ आकाश में चन्द्रमा के समान चमकता है ॥ १४–१७ ॥

अञ्जन के पीछे दृष्टि के प्रसादन के लिये श्लेष्महर कर्म करने का विधान है । इसलिये अञ्जन के पीछे धूम्रपान कहते हैं ।

धूम्रप्रयोग की विधि—

हरेणुकां प्रियङ्गुं च पृथ्वीकां केशरं नखम् ॥ १८ ॥
ह्रीवेरं चन्दनं पत्रं त्वगेलोशीरपद्मकम् ।
ध्यामकं मधुकं मांसीं गुग्गुल्वगुरुशर्करम् ॥ १९ ॥

---

१. कुछ विद्वान् 'सीदति' का अर्थ 'अवजयति' करते हैं । इस प्रकार अर्थ करने से दिन में तीक्ष्ण अंजन का प्रयोग नहीं करना चाहिये । क्योंकि आँख तेजोमय है, इसलिये विरेचन (रात्रि में स्रावण अंजन लगाने) से निर्बल हुआ व कफ के निकलने से कमजोर पड़ा हुआ दोष श्लेष्मा, प्रातः सूर्य की किरणों में बाकी बचा निकल जाता है । इसलिये वमन की भांति पूर्वाह्न में सूर्य की किरणों मे आँखों का स्रावण करना चाहिये और अंजन रात्रि में ही ।

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थ-प्लक्ष-लोध्र-त्वचः शुभाः ।
वन्यं सर्जरसं मुस्तं शैलेयं कमलोत्पले ॥ २० ॥
श्रीवेष्टकं शल्लकीं च शुकबर्हमथापि च ।
पिष्ट्वा लिम्पेच्छरेषीकां तां वर्तिं यवसन्निभाम् ॥ २१ ॥
अङ्गुष्ठसंमितां कुर्यादष्टाङ्गुलसमां भिषक् ।
शुष्कां निगर्भां तां वर्तिं धूमनेत्रार्पितां नरः ॥ २२ ॥
स्नेहाक्तामग्निसंप्लुष्टां पिबेत्प्रायोगिकीं सुखाम् ।

हरेणुका (मेहन्दी के बीज), प्रियंगु, (फूल प्रियंगु), पृथ्वीका (काला जीरा), केशर (नाग केशर), नख (नखी, एक सुगन्धित द्रव्य है), 'ह्रीवेर' (नेत्रबाला), चन्दन (श्वेतचन्दन), पत्र (तेज पात), त्वग् (दालचीनी), एला (छोटी इलायची), उशीर (खस), पद्माक (पद्माख), ध्यामक (गन्ध तृण, सुगन्धित तृण), मधुक (मुलैहटी), मांसी (जटामांसी), गुग्गुलु (गूगल), अगुरु (अगर), शर्करा (शर्करा), न्यग्रोध (बड़ की छाल), उदुम्बर (गूलर की उत्तम छाल), अश्वत्थ (पीपल की उत्तम छाल), प्लक्ष (पिलखन की छाल) और लोध्र (लोध वृक्ष की उत्तम छाल), वन्य (कैवर्त्त मुस्तक, जल मुस्त), सर्ज रस (राल), मुस्त (नागर मोथा), शैलेय (शिलाह्वा) कमल-उत्पल (कमल और नील कमल इनका केशर), श्रीवेष्टक (धूपविशेष), शल्लकी (कुन्दरू धूप विशेष, अथवा शिलारस); और शुकबर्ह (स्थौणेयक) इन सब को जल के साथ पीसकर 'शरेषिका' (सरकण्डा) के ऊपर, जौ के समान बीच में से मोटी और पासों पर पतली एवं अंगूठे के बराबर मोटी, आठ अंगुल लम्बी बत्ती बना लेनी चाहिये, उसे सूख जाने पर सरकण्डे पर से बीच से खोखली खींच कर उतारनी चाहिये, बत्ती को घी से स्निग्ध करके सुख पूर्वक नित्य प्रति पान करे। यह प्रायोगिक-नित्य पीने योग्य धूम्र है ॥१८-२२॥

स्नैहिक धूम—

वसा-घृत-मधूच्छिष्टैर्युक्ति-युक्तैर्वरौषधैः ॥ २३ ॥
वर्तिं मधुरकैः कृत्वा स्नैहिकीं धूममाचरेत् ।

वसा (चर्बी), घृत (घी), मधूच्छिष्ट (मोम), इनको जीवनीय गण के साथ वर्त्ती बनने योग्य मात्रा में मिलाकर वर्त्ती बना ले। रूक्ष व्यक्ति स्नेहन करने वाले इस स्नैहिक धूम का पान करे; इस धूम का नित्य व्यवहार नहीं करना चाहिये ॥ २३ ॥

शिर में अवरुद्ध कफ को निकालने के लिये स्वस्थ पुरुष के लिये वैरेचनिक धूम—

श्वेता ज्योतिष्मती चैव हरितालं मनःशिला ॥ २४ ॥
गन्धाश्चागुरुपत्राद्या धूमः शीर्षविरेचनम् ।

श्वेता (अपराजिता), ज्योतिष्मती (माल कंगनी), हरिताल (हरताल), मनःशिला (मैनसिल), 'गन्ध अगुरु पत्रादि' (ज्वर चिकित्सा में 'अगरुआदि तेल' में कहे हुए अगरू, कुष्ठ, तगर, पत्रज आदि [इनमें कुष्ठ और तगर को छोड़कर अन्य] द्रव्य लेकर पीसकर पूर्व को भांति बत्ती बना कर पीना चाहिये । यह धूम शिरोविरेचन के लिये वैरेचनिक धूम है ॥ २४ ॥

धूमपान के गुण—

गौरवं शिरसः शूलं पीनसार्धावभेदकौ ॥ २५ ॥
कर्णाक्षिशूलं कासश्च हिक्काश्वासौ गलग्रहः ।
दन्तदौर्बल्यमास्रावः श्रोत्रघ्राणाक्षिदोषजः ॥ २६ ॥
पूतिर्घ्राणास्यगन्धश्च दन्तशूलमरोचकः ।
हनुमन्याग्रहः कण्डूः क्रिमयः पाण्डुता मुखे ॥ २७ ॥
श्लेष्मप्रसेको वैस्वर्यं गलशुण्ड्युपजिह्विका ।
खालित्यं पिञ्जरत्वं च केशानां पतनं तथा ॥ २८ ॥
क्षवथुश्चातितन्द्रा च बुद्धेर्मोहोऽतिनिद्रता ।
धूमपानात्प्रशाम्यन्ति बलं भवति चाधिकम् ॥ २९ ॥
शिरोरुहकपालानामिन्द्रियाणां स्वरस्य च ।
न च वातकफात्मानो बलिनोऽप्यूर्ध्वजत्रुजाः ॥ ३० ॥
धूमवक्त्रकपानस्य व्याधयः स्युः शिरोगताः ।

(गौरव) शिर का भारीपन, शिर का दुखना, शिरोवेदना (पीनस) नाक की श्लैष्मिक कला का सूजन, (अर्द्धावभेदक) आधा-सीसी, (कर्णशूल) कान की पीड़ा, (अक्षिशूल) आंख का दुःखना, (कास) खांसी, (हिक्का) हिचकी, (श्वास) दमा, (गलग्रह) स्वर भंग, (दन्तदौर्बल्य) दान्तों की निर्बलता, (आस्राव) कान नाक और आंख के रोग स्राव का आना, (पूतिघ्राण) नाक से दुर्गन्ध आना, (आस्यगन्ध) मुख को बदबू , (दन्तशूल) दाँत की पीड़ा, (अरोचक) भोजन में अरुचि, अनिच्छा, (हनुग्रह) जबाड़ो भिंचना, (मन्याग्रह) गर्दन का जकड़ जाना, इधर-उधर न हिलना, (कण्डू) खाज, कृमि, (मुखपाण्डुता) चेहरे का पीलापन, (श्लेष्मप्रसेक) मुख से पानी का बहना

अर्थात् लाला स्राव, (वैस्वर्य) स्वर का साफ न होना गलशुण्डी, उपजिह्विका (खालित्य) बालों का गिरना, (पिंजरत्व) बालों का धूसर रंग होना, (केशप-तन) बालों का झड़ जाना, (क्षवथु) छींक आना, (अतितन्द्रा) आलस्य की अधिकता, (बुद्धिमोह) बुद्धिका जड बनना मूर्च्छा, (अतिनिद्रता) नींदका अधिक आना ये रोग धूम्र पीने से अच्छे होते हैं और बाल, शिर की अस्थि, आँख कान आदि इन्द्रियों का, स्वर, और गले का बल अधिक होता है ।

बलवान् कारण से भी वात कफ से उत्पन्न गले से ऊपर होने वाले आँख, कान, नाक, मुख, गले के रोग खास कर शिर सम्बन्धी रोग मुख से धूम्रपान करने वाले व्यक्ति को नहीं होते । मुख से धुंआ लेकर नाक से निकाल देना चाहिये ॥ २५-३० ॥

धूम्रपान के आठ काल—

प्रयोगपाने तस्याष्टौ कालाः संपरिकीर्तिताः ॥ ३१ ॥
वात-श्लेष्म-समुत्क्लेशः कालेष्वेषु हि लक्ष्यते ।
स्नात्वा भुक्त्वा समुल्लिख्य क्षुत्त्वा दन्तान्निघृष्य च ॥ ३२ ॥
नावनाञ्जननिद्रान्ते चात्मवान् धूमपो भवेत् ।
तथा वातकफात्मानो न भवन्त्यूर्ध्वजत्रुजाः ॥ ३३ ॥
रोगास्तस्य तु पेयाः स्युरापानास्त्रिस्त्रयस्त्रयः ।

प्रायोगिक धूम्र के मुख से पीने के आठ समय ब्रह्मा आदि ने कहे हैं, क्योंकि इन आठ समयों में वात और कफ का प्रकोप देखा जाता है अन्य समयों में इतना कोप नहीं दिखाई देता ।

स्नान करके, भोजन करके, वमन करके, छीकें लेकर दांत जीभ साफ करके नाक से नस्य लेकर, आंख में अंजन करके, सो के उठकर, प्रसन्न मन हो तब धूम्र को पीना चाहिये । इसी प्रकार से वातजन्य और कफजन्य, ग्रीवा से ऊपर के रोग नहीं होते हैं ।

शीत गुण के कारण यदि वायु प्रकुपित हुई है, तो वातजन्य रोग होते हैं । ऐसी अवस्था में स्नैहिक धूम लेना चाहिये । जब पुरुष रूक्ष हो, रूक्ष हर 'स्नैहिक धूम' पीना चाहिये । कफ जन्य रोग तब होते हैं, जब कि पुरुष में स्निग्धता (रूक्षता का अभाव) होता है । इसलिये कफ के नाश के लिये 'वैरेचनिक धूम' लेना चाहिये । तीन प्रकार के धूम्रपान की घूंटों की सीमा ९ (नौ) है । अर्थात् धूम्र पीने के समय में किसी भी प्रकार का धूम्र ९ घूंट से अधिक नहीं पीना चाहिये ॥ ३१-३३ ॥

परं द्विकालपायी स्यादह्नः कालेषु बुद्धिमान् ॥ ३४ ॥
प्रयोगे, स्नैहिके त्वेकं, वैरेच्यं त्रिश्चतुः पिबेत् ।

यद्यपि धूम्रपान के आठ समय बताये हैं, तथापि बुद्धिमान् को अपने शरीर के दोष वृद्धि, क्षय आदि का विचार करके दिन में आठ समयों में दो समय 'प्रायोगिक धूम' का पान करना चाहिये । स्नैहिक धूम का दिनभर में एक बार, और 'वैरेचनिक' धूम तीन चार बार पीना चाहिये, इससे अधिक नहीं ॥३४॥

ठीक प्रकार से पीये हुए धूमपान के लक्षण—

हृत्कण्ठेन्द्रियसंशुद्धिर्लघुत्वं शिरसः शमः ॥ ३५ ॥
यथेरितानां दोषाणां सम्यक् पीतस्य लक्षणम् ।

हृदय (छाती, उरःस्थल), गला, उरःस्थल का ऊर्ध्वभाग, इन्द्रियाँ—आँख कान नासिका आदि, इनकी स्वच्छता का प्रतीत होना, शिर का हल्कापन दोष—वात, पित्त, कफ, दोषों की शान्ति ये सम्यक् प्रकार से पीये हुए धूम्र के लक्षण हैं ॥ ३५ ॥

अधिक धूम्रपान के लक्षण—

बाधिर्य्यमान्ध्यं मूकत्वं रक्तपित्तं शिरोभ्रमम् ॥ ३६ ॥
अकाले चातिपीतश्च धूमः कुर्यादुपद्रवान् ।

(बाधिर्य), बहरापन, (आन्ध्य), आँखों से कम या सर्वथा न दीखना, (मूकत्व), गूंगापन, जीभ से बोला न जाना (रक्तपित्त) पित्त प्रकोप से रक्त विकार होना (शिरोभ्रम) सिर में चक्कर आना, ये रोग अकाल अर्थात् ठीक समय पर धूम न पीने से अथवा अधिक पीने से होते हैं ॥ ३६ ॥

अधिक धूम्रपान से उत्पन्न उपद्रवों की चिकित्सा—

तत्रेष्टं सर्पिषः पानं नावनाञ्जनतर्पणम् ॥ ३७ ॥
स्नैहिकं धूमजे दोषे वायुः पित्तानुगो यदि ।
शीतं तु रक्तपित्ते स्याच्छ्लेष्मपित्ते विरूक्षणम् ॥ ३८ ॥

अधिक धूम्रपान करने पर घी का पिलाना अच्छा है । नस्य, आँखों में अंजन करना और संतर्पण करने वाले स्निग्ध कर्म करने चाहियें ।

पित्त के कारण जहाँ रक्त दूषित हो वहाँ पर शीतल चिकित्सा, शीतस्पर्श शीत वीर्य वाले द्रव्यों से बनी औषधि नस्य, अंजन आदि कार्य में बरतनी चाहिये, श्लेष्मप्रधान पित्त की अवस्था में 'विरूक्षण' अर्थात् रूक्ष गुण वाले द्रव्यों से नावन अञ्जन कर्म करने चाहिये ॥ ३७–३८ ॥

परं त्वतः प्रवक्ष्यामि धूमो येषां विगर्हितः ।
न विरिक्तः पिबेद् धूमं न कृते बस्तिकर्मणि ॥ ३९ ॥

न रक्ती न विषेणार्तो न शोचन्न च गर्भिणी।
न श्रमे न मदे नामे न पित्ते न प्रजागरे॥ ४०॥
न मूर्च्छाभ्रमतृष्णासु न क्षीणे नापि च क्षते।
न मद्यदुग्धे पीत्वा च न स्नेहं न च माक्षिकम्॥ ४१॥
धूमं न भुक्त्वा दध्ना च न रूक्षः क्रुद्ध एव च।
न तालुशोषे तिमिरे शिरस्यभिहते न च॥ ४२॥
न शङ्खके न रोहिण्यां न मेहे न मदात्यये।
एषु धूममकालेषु मोहात्पिबति यो नरः॥ ४३॥
रोगास्तस्य प्रवर्धन्ते दारुणा धूमविभ्रमात्।

इसके आगे कहेंगे कि किन २ पुरुषों के लिये धूम्र पान निन्दित है। 'विरिक्त' विरेचन जिसने लिया हो, वस्ति कर्म (रूक्ष या स्नेहन वस्ति जिसने ली हो), रक्ती (रक्त दोष वाला), विषार्त्त (विष से पीड़ित), शोचन् (शोकातुर मनुष्य), गर्भिणी (गर्भवती), श्रम (थकान चढ़ा होने पर), मद (नशा किया हुआ होनेसे पर) आम (अजीर्णावस्था में), प्रजागर (रात्रि में जागने पर), मूर्च्छा (बेहोशी), भ्रम (चक्कर आना), तृष्णा (प्यास लगी होने पर), क्षीण (धातु क्षय होने पर), क्षत (उरः क्षत रोग में), मद्य (शराब पीकर), दुग्ध (दूध पीकर), स्नेह (घी तैल आदि पीकर), माक्षिक (शहद खाकर), दही के साथ चावल आदि खाकर रूक्ष (रूक्ष शरीर में रूखापन होने पर स्नैहिक धूम के अतिरिक्त धूम), क्रुद्ध (कोप की अवस्था में), तालु शोष (गला सूख जाने पर), तिमिर (तिमिर नामक अक्षि रोग में), शिर पर चोट लगने पर; शंखक (शंखक नामक शिरो रोग में), रोहणी रोग डिप्थीरिया, गलरोग में, मेह (प्रमेह रोग में), मदात्यय (मद्यपान करने पर शराब का नशा चढ़ा होने पर) इन अवस्थाओं में धूम्र पान नहीं करना चाहिये। इन कुसमयों में जो मनुष्य अज्ञान से धूम्र पान करता है, उसके धूम पान से कुपित वातादि दोष और रोग बढ़ाते हैं। जो ऊपर गिनाये जिन २ रोगों में मनुष्य धूम पीता है, उसके वे वे रोग बढ़ जाते हैं और नीरोगी व्यक्ति के अकाल में पीने से कठिन रोग हो जाते हैं॥ ३९–४३॥

धूम किस प्रकार पीना चाहिये—

धूमयोग्यः पिबेद्दोषे शिरो-घ्राणाक्षि-संश्रये॥ ४४॥
घ्राणेनाऽऽस्येन कण्ठस्थे, मुखेन घ्राणपो वमेत्।
आस्येन धूमकवलान् पिबन् घ्राणेन नोद्वमेत्॥ ४५॥
प्रतिलोमं गतो ह्याशु धूमो हिंस्याद्धि चक्षुषी।

विरक्तादि से भिन्न, बारह वर्ष से ऊपर, स्नानादि काल में धूम पीनेके योग्य मनुष्य दोष के नासिका, आँख में आश्रित होने पर नाक से धूम पान करे और कण्ठ (गले या छाती में) दोष स्थित होने पर मुख से धूम पान करना चाहिये। जो धूम नासिका से पिया है, उसको मुख मार्ग से निकालना चाहिये। अर्थात् धूम्र नासिका से पीकर मुख से निकालना चाहिये, नासिका से नहीं।

परन्तु मुख से धूम्र पान करते हुए नासिका से धुँआ नहीं निकालना चाहिये, बल्कि मुख से पीकर मुख से ही बाहर करना चाहिये, क्योंकि धुँआ विपरीत मार्ग से निकाल कर जल्दी ही आँखों को हानि पहुँचाता है ।।४४-४५।।

धूम्र पान के आसन—

ऋज्वङ्गचक्षुस्तच्चेताः सूपविष्टस्त्रिपर्ययम् ।। ४६ ।।
पिबेच्छिद्रं पिधायैकं नासया धूममात्मवान् ।

अकुटिल, शरीर, चक्षु, हाथ, पांव, शिर, पीठ, ग्रीवा को सीधे रख कर धूम्रपान में मनोयोग करके, अच्छी प्रकार शान्ति से बैठे हुए तीन-तीन दम एक साथ, कुल नौ बार पीना चाहिये और पीते समय नासिका का एक छेद बन्द कर लेना चाहिये। इसी प्रकार क्रम से दोनों नासिकाओं से पीना चाहिये ।।

चतुर्विंशतिकं नेत्रं स्वाङ्गुलीभिर्विरेचने ।। ४७ ।।
द्वात्रिंशदङ्गुलं स्नेहे प्रयोगेऽध्यर्धमिष्यते ।
ऋजुत्रिकोषाफलितं कोलास्थ्यग्रप्रमाणितम् ।। ४८ ।।
बस्तिनेत्रसमद्रव्यं धूमनेत्रं प्रशस्यते ।

वैरेचनिक धूम्र में पीने वाले की अपनी अंगुलियों से २४ अंगुल नेत्र नलिका होनी चाहिये, स्नैहिक धूम्र प्रयोग में बत्तीस अंगुल परिमित हो। प्रायोगिक धूम प्रयोग में ३६ छत्तीस अंगुल होनी चाहिये।

नालिका की बनावट—पर्व गांट गिरह सीधे तीन सीधी गिरह वाली गिरहों पर टीक प्रकार से मिली हुई, एवं आगे से मुख पर बेर के समान नलिका होनी चाहिये। नलिका को बनाने के द्रव्य पदार्थ बस्ति की नलिका के समान होने चाहिये ।।

दूराद्विनिर्गतः पर्वच्छिन्नो नाडीतनूकृतः ।। ४९ ।।
नेन्द्रियं बाधते धूमो मात्राकालनिषेवितः ।
यदा चोरश्च कण्ठश्च शिरश्च लघुतां व्रजेत् ।। ५० ।।
कफश्च तनुतां प्राप्तः सुपीतं धूममादिशेत् ।

चौबीस या छत्तीस अंगुली लम्बी नलिका में दूर से आने के कारण तीन गिरह गांठों के होने से तीक्ष्णता का घट जाना, बेर के समान छेद होने से

एक दम जोर से नहीं आ सकना, और मात्रा तथा उचित समय में सेवन किया हुआ धूम इन्द्रियों को पीड़ा नहीं पहुंचाता।

उत्तम प्रकार से किये हुए धूम्रपान के लक्षण—

जब उरः (वक्षःस्थल), कण्ठ (गला), शिर का हल्के होना और कफ पतला हो जाये या घट जाये तब धूम अच्छी प्रकार से पीया हुआ समझना चाहिये।

अयोग्य रूप में पिये हुए धूम के लक्षण—

अविशुद्धः स्वरो यस्य कण्ठश्च सकफो भवेत् ॥ ५१ ॥
स्तिमितो मस्तकश्चैवमपीतं धूममादिशेत्।

जिस पुरुष का स्वर, अविशुद्ध स्पष्ट साफ न हुआ हो कफयुक्त हो एवं जिसका गला कफयुक्त हो, और मस्तिष्क स्तिमित अर्थात् जकड़ा हुआ भारी प्रतीत होता है उसने ठीक प्रकार से धूम नहीं पिया ऐसा समझना चाहिये ॥ ५१ ॥

अतियोग के रूप में धूम्रपान के लक्षण—

तालुमूर्धा च कण्ठश्च शुष्यते परितप्यते ॥ ५२ ॥
तृष्यते मुह्यते जन्तू रक्तं च स्रवतेऽधिकम्।
शिरश्च भ्रमतेऽत्यर्थं मूर्च्छा चास्योपजायते ॥ ५३ ॥
इन्द्रियाण्युपतप्यन्ते धूमेऽत्यर्थं निषेविते।

तालु, मूर्द्धा (शिर) और कण्ट (गला) खुश्क हो जाते हैं और जलते हैं, इनमें जलन होती है। जन्तु (पुरुष) को प्यास लगती है, मूर्छा आ जाती है, विशेष रूप से रक्तस्राव होता है, शिर घूमता है, मूर्छा बेहोशी आ जाती है, और इन्द्रियों में दाह, जलन होती है, ये अति धूम्रपान के लक्षण हैं ॥५२-५३॥

नस्य प्रयोग—

वर्षे वर्षेऽणुतैलं च कालेषु त्रिषु नाऽऽचरेत् ॥ ५४ ॥
प्रावृट्शरद्वसन्तेषु गतमेघे नभस्तले।
नस्यकर्म यथाकालं यो यथोक्तं निषेवते ॥ ५५ ॥
न तस्य चक्षुर्न घ्राणं न श्रोत्रमुपहन्यते।
न स्युः श्वेता न कपिलाः केशाः श्मश्रूणि वा पुनः ॥ ५६ ॥
न च केशाः प्रलुप्यन्ते वर्धन्ते च विशेषतः।
मन्यास्तम्भः शिरःशूलमर्दितं हनुसंग्रहः ॥ ५७ ॥
पीनसार्धावभेदौ च शिरःकम्पश्च शाम्यति।
शिराः शिरःकपालानां सन्धयः स्नायुकण्डराः ॥ ५८ ॥
नावनप्रीणिताश्चास्य लभन्तेऽभ्यधिकं बलम्।

मुखं प्रसन्नोपचितं स्वरः स्निग्धः स्थिरो महान् ॥ ५९ ॥
सर्वेन्द्रियाणां वैमल्यं बलं भवति चाधिकम् ।
न चास्य रोगाः सहसा प्रभवन्त्यूर्ध्वजत्रुजाः ॥ ६० ॥
जीर्यतश्चोत्तमाङ्गे च जरा न लभते बलम् ।

आंख अथवा ग्रीवा से ऊपर के अंग कान, नाक, आंख, शिर के स्रावण र्थात् धोने के लिये और अणु स्रोतस् इनके लिए हितकारी अणु तैल को पुरुष वर्षा ऋतु (श्रावण भाद्रपद), अथवा वर्षा का पूर्व भाग (आषाढ़ श्रावण), शरद् (आश्विन और कार्तिक), वसन्त (माघ फाल्गुन), इन तीनों कालों में जब आकाश बादलों से रहित एक दम निर्मल हो उस समय नस्य कर्म करे। जो पुरुष नस्य कर्मको ठीक प्रकारसे उचित समय पर करता है उसके न तो आंख, न कान और न नासिका पीड़ित होती हैं। उसके शिर के बाल न तो श्वेत होते हैं न भूरे (धूसर रंग के) होते हैं और न दाढ़ी मूंछ ही श्वेत होती हैं। बाल भी गिरते-झडते नहीं; अपितु विशेष रूपसे बढ़ते हैं। नस्य लेने से (मन्यास्तम्भ) ग्रीवा का अकड़ना, (शिरःशूलम्) शिरोवेदना (अर्दित) मुख का लकवा, (हनुसंग्रह) जवाड़ों का जकड़ जाना, (पीनस) नासा रोग, (अर्द्धावभेदक) आधा सीसी और (शिरःकम्प) शिर का हिलना ये रोग शान्त हो जाते हैं।

धमनियां, रक्तवाहिनी नाड़ियां और शिर की अस्थियां, शिर की सन्धियां (स्नायु) सूक्ष्म शिरायें, अथवा बन्धन-कण्डरा दृढ़ बन्धन रज्जु रूप शिर के बन्धन, नस्य प्रयोग से अधिक बलवान् हो जाते हैं। मुख प्रसन्न और तेजस्वी हो जाता है, स्वर (आवाज़) स्निग्ध, स्थिर, महान्, गम्भीर मीठा हो जाती है और सब इंद्रियां (आंख, कान, नाक आदि) निर्मल स्वच्छ एवं अधिक बलवान् बन जाती हैं। नस्य कर्म करने वाले मनुष्य को गले से ऊपर के रोग अचानक उत्पन्न नहीं होते। क्षीण होते हुए उत्तमांग में नाक, आंख, शिर, गले के ऊपर के अंगों में बुढ़ापे की झुर्रियां आदि नहीं होते ॥ ५४-६० ॥

अणु तैल की विधि—

चन्दनागुरुणी पत्रं दार्वीत्वङ्-मधुकं बलाम् ॥ ६१ ॥
प्रपौण्डरीकं सूक्ष्मैलां विडङ्गं बिल्वमुत्पलम् ।
ह्रीवेरमभयं वन्यं त्वङ्मुस्तं सारिवां स्थिराम् ॥ ६२ ॥
सुराह्वं पृश्निपर्णीं च जीवन्तीं च शतावरीम् ।
हरेणुं बृहतीं व्याघ्रीं सुरभीं पद्मकेशरम् ॥ ६३ ॥
विपाचयेच्छतगुणे माहेन्द्रे विमलेऽम्भसि ।

तैलाद्दशगुणं शेषं कषायमवतारयेत् ॥ ६४ ॥
तेन तैलं कषायेण दशकृत्वो विपाचयेत् ।
अथास्य दशमे पाके समांशं छागलं पयः ॥ ६५ ॥
दद्यादेषोऽणुतैलस्य नावनीयस्य संविधिः ।

चन्दन, अगर, तेजपत्र, वायविडंग, वेल वृक्ष की जड़, नील कमल पुण्डरीक, श्वेत कमल, छोटी इलायची, दारूहल्दी की छाल, मुलेहटी, बला खरैटी, नेत्रबाला, जंगी, हरड़, वन्य (कैवर्त्तमुस्ता या मुद्गपर्णी), त्वक् (दाल चीनी), नागर मोथा, अनन्तमूल,शालपर्णी, जीवन्ती,पीठवन, देवदारु, शतावर, रेणुकाबीज, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी,सल्लकी, पद्मकेशर, (कमल का केशर), इन को निर्मल, आकाश से बरसे सौ गुने वृष्टि के जल में पकाना चाहिये और तैल से दस गुना (दशांश भाग) रहने पर कषाय को उतार कर छान ले। इस कषाय के दस भाग करके प्रत्येक में उस तैल को पकाये, अर्थात् प्रथम एक भाग के साथ तैल सिद्ध करे, फिर उसी तैल का दूसरे भाग के साथ, इसी प्रकार दसों भागों के साथ तैल सिद्ध कर लेने पर दसवें भाग में समांश तैल के बराबर बकरी का दूध कषाय में मिला दे। यह नस्य कर्म के योग्य अणु तैल बनाने की विधि है [1] ॥ ६१-६५ ॥

अस्य मात्रां प्रयुञ्जीत तैलस्यार्धपलोन्मिताम् ॥ ६६ ॥
स्निग्धस्विन्नोत्तमाङ्गस्य पिचुना नावनैस्त्रिभिः ।
त्र्यहात्त्र्यहाच्च सप्ताहमेतत्कर्म समाचरेत् ॥ ६७ ॥
निवातोष्णसमाचारी हिताशी नियतेन्द्रियः ।
तैलमेतत्त्रिदोषघ्नमिन्द्रियाणां बलप्रदम् ॥ ६८ ॥
प्रयुञ्जानो यथाकालं यथोक्तानश्नुते गुणान् ।

इस तैल की अर्धपल अर्थात् (दो तोला) मात्रा को ले शिर के तैल लगा कर, चिकना कर के एवं पसीना लेकर तब रुई के फाये से तीन बार नस्य देना चाहिये।

१. "अकल्कोऽपि भवेत्स्नेहो यः साध्यः केवले द्रवे" इस परिभाषा के अनुसार चन्दन आदि पदार्थों को ऊखल में कूट कर ५० तोले परिमित लेकर ४०० तोले पानी में क्काथ करना चाहिये। ४० तोले रहने पर छान कर दस भाग कर लेने चाहिये। और एक भाग के बराबर अथात् ४ तोले तिल तैल मिला कर पाक पूर्व विधि से करना चाहिये। इस प्रकार ९ बार करके दसवीं बार बकरी का दूध ४ तोले मिला कर तैल पाक कर लेना चाहिये। यह अणु तैल विधि है। अणु तैल का नस्य सप्ताह में लगभग दो बार लेना चाहिये।

यह (दो तोला तैल) तीन तीन दिन के पीछे नस्य करे। अर्थात् यदि आज नस्य लिया है, तो तीन दिन छोड़कर पांचवें दिन नस्य ले। इस प्रकार से प्रत्येक ऋतु में कुल सात दिन तक लेना चाहिये। सप्ताह में लगभग दो बार नस्य ले।

इस तैल का नस्य लेने वाला व्यक्ति वायु के झोंके में, खुली वायु में न रहे, शरीर को गरम बनाये रक्खे, पथ्याशी, जितेन्द्रिय, ब्रह्मचारी, संयमी रहे। यह तैल वात, पित्त कफ तीनों दोषों का नाश करने वाला और आंख, कान, नाक आदि इन्द्रियों को बल देने वाला है। जो व्यक्ति इस अणु तैल को समय २ पर विधिपूर्वक प्रयोग करता है उसे ऊपर लिखे हुए गुण मिलते हैं॥ ६६-६८॥

दन्त धावन की विधि—

आपोथिताग्रं द्वौ कालौ कषायकटुतिक्तकम्॥ ६९॥
भक्षयेद्दन्तपवनं दन्तमांसान्यबाधयन्।

कसैले, कटु (कड़ुवे) नीम आदि, तिक्त (तीखे) तेजबल, जीयापोता आदि, रसयुक्त दातुन को आगे से चबाकर कूट कर अर्थात् नरम बनाकर, मसूड़ों को नुक्सान न पहुँचाते हुए, प्रातःकाल बिस्तर से उठकर और सायंकाल सोने के समय दांत साफ़ करे॥ ६९॥

दातुन करने से लाभ—

निहन्ति गन्धवैरस्यं जिह्वादन्तास्यजं मलम्॥ ७०॥
निष्कृष्य रुचिमाधत्ते सद्यो दन्तविशोधनम्।

दातुन दुर्गन्ध को, बुरे स्वाद को, जीभ दांत और मुख के मल, और मुख के दुर्गन्ध को नष्ट करती है। दांतों को साफ करने से मुख में रुचि प्रसन्नता अथवा भोजन में रुचि उत्पन्न होती है॥ ७०॥

जीभ को साफ़ करने की विधि—

सुवर्णरूप्यताम्राणि त्रपुरीतिमयानि च॥ ७१॥
जिह्वा-निर्लेखनानि स्युरतीक्ष्णान्यनृजूनि च।
जिह्वा-मूल-गतं यच्च मलमुच्छ्वासरोधि च॥ ७२॥
दौर्गन्ध्यं भजते तेन तस्माज्जिह्वां विनिर्लिखेत्।

जीभ को निर्लेखन अर्थात् खुरेच करके साफ करनेके लिए सोना, चाँदी, ताम्बा, राँगा, जस्ता, पीतल और लोह इनकी बनी जीभी अतीक्ष्ण, जो तेज धारवाली न हो, टेढ़ी मुड़ी हुई होनी चाहिये। जो मल जिह्वा के पिछले भाग में लगा हुआ हो और जो मल श्वास को रोकता हो या दूषित करता हो उसको इससे खुरेचकर निकाल देना चाहिये॥ ७१-७२॥

दातुन के लिये उत्तम वृक्ष—

करञ्ज-करवीरार्क-मालती-ककुभासनाः ॥ ७३ ॥
शस्यन्ते दन्तपवने ये चाप्येवंविधा द्रुमाः ।
धार्याण्यास्येन वैशद्य-रुचि-सौगन्ध्यमिच्छता ॥ ७४ ॥
जाती-कटुक-पूगानां लवङ्गस्य फलानि च ।
कक्कोलकफलं पत्रं ताम्बूलस्य शुभं तथा ॥ ७५ ॥
तथा कर्पूर-निर्यासः सूक्ष्मैलायाः फलानि च ।

करञ्ज (नाटा करञ्ज), करवीर (कनेर), अर्क (आक), मालती (जुही), ककुभ (अर्जुन), असन (आसन), ये वृक्ष अथवा इनके समान इस गुण वाले वृक्ष दातुन के लिये उत्तम हैं ।

मुख की निर्मलता, भोजन में रुचि एवं मुख की सुगन्धि चाहने वाले पुरुष को चाहिये कि जातिफल (जायफल), कटुकफल (लता कस्तूरी), पूग (सुपारी), लवङ्ग (लौङ्ग), कङ्कोल (शीतल चीनी), उत्तम पान, कपूर (कपूर वृक्ष का गोंद) और छोटी इलायची इन वस्तुओं को मुख में धारण करे ॥७५॥

स्नेह-गण्डूष के गुण—

हन्वोर्बलं स्वरबलं वदनोपचयः परः ॥ ७६ ॥
स्यात्परं च रसज्ञानमन्ने च रुचिरुत्तमा ।
न चाऽऽस्य-कण्ठ-शोषः स्यान्नौष्ठयोः स्फुटनाद्भयम् ॥ ७७ ॥
न च दन्ताः क्षयं यान्ति दृढमूला भवन्ति च ।
न शूल्यन्ते न चाम्लेन हृष्यन्ते भक्षयन्ति च ॥ ७८ ॥
परानपि खरान् भक्ष्यान् तैल-गण्डूष-सेवनात् ।

जबाड़ों को बल मिलता है, वाणी, स्वर, आवाज को बल प्राप्त होता है, मुख, गाल आदि की वृद्धि, उन्नति, रसों का ज्ञान भली प्रकार से होता है और अन्न में भली प्रकार से भोजन के लिये रुचि होती है ।

स्नेह-गण्डूष अर्थात् तैल के गरारे करने वाले को गले में खुश्की, रूक्षता नहीं होती और न ओठों के फटने की आशङ्का होती है । दाँत जल्दी गिरते भी नहीं, अपितु और भी अधिक जड़ें मजबूत बन जाती हैं और न दाँतों में दर्द होती है, और न खटाई से खट्टे होते हैं, कठोर खाने की वस्तु को भी खा सकते हैं ॥ ७६–७८ ॥

शिर पर तैल लगाने से लाभ—

नित्यं स्नेहार्द्रशिरसः शिरःशूलं न जायते ॥ ७९ ॥
न खालित्यं न पालित्यं न केशाः प्रपतन्ति च ।

बलं शिरः कपालानां विशेषेणाभिवर्धते ॥ ८० ॥
दृढमूलाश्च दीर्घाश्च कृष्णाः केशा भवन्ति च ।
इन्द्रियाणि प्रसीदन्ति सुत्वग्भवति चामला ॥ ८१ ॥
निद्रालाभः सुखं च स्यान्मूर्ध्नि तैल-निषेवणात् ।

नित्य प्रति शिर पर तेल की मालिश करने से शिरःशूल (शिर का दुखना) नहीं होता, न बाल उड़ते हैं न गंजापन आता, न पालित्य अर्थात् बाल जल्दी श्वेत नहीं होते और बाल नहीं गिरते। शिर की अस्थियों का बल विशेष रूप से बढ़ता है और बालों की जड़ें मजबूत होती हैं, बाल लम्बे और काले हो जाते हैं। आँख कान आदि इन्द्रियाँ स्वच्छ, प्रसन्न हो जाती हैं, त्वचा स्वच्छ, निर्मल हो जाती है और सुख पूर्वक नींद आती है। शिर पर तैल लगाने से ये लाभ हैं ॥ ७६–८१ ॥

कान में तैल डालने से लाभ—

न कर्णरोगा वातोत्था न मन्या-हनु-संग्रहः ॥ ८२ ॥
नोच्चैः श्रुतिर्न बाधिर्यं स्यान्नित्यं कर्णतर्पणात् ।

नित्य प्रति कान में तैल डालने से वात जन्य कान के रोग, एवं 'मन्याग्रह' (ग्रीवा का जकड़ना) और 'हनुग्रह' (जबाड़ों का भिचना), उच्चैः श्रुति (ऊँचा सुनना), बाधिर्य (बधिरता, बहरापन) नहीं होता ॥ ८२ ॥

शरीर पर तैल लगाने की विधि—

स्नेहाभ्यङ्गाद्यथा कुम्भश्चर्म स्नेह-विमर्दनात् ॥ ८३ ॥
भवत्युपाङ्गादक्षश्च दृढः क्लेशसहो यथा ।
तथा शरीरमभ्यङ्गाद् दृढं सुत्वक्प्रजायते ॥ ८४ ॥
प्रशान्त-मारुताबाधं क्लेश-व्यायाम-संसहम् ।
स्पर्शने चाधिको वायुः स्पर्शनं च त्वगाश्रितम् ॥ ८५ ॥
त्वच्यश्च परमोऽभ्यङ्गस्तस्मात्तं शीलयेन्नरः ।
न चाभिघाताभिहतं गात्रमभ्यङ्गसेविनः ॥ ८६ ॥
विकारं भजतेऽत्यर्थं बलकर्मणि वा क्वचित् ।
सुस्पर्शोपचिताङ्गश्च बलवान् प्रियदर्शनः ॥ ८७ ॥
भवत्यभ्यङ्ग-नित्यत्वान्नरोऽल्पजर एव च ।

जिस प्रकार स्नेह, चिकनाई की मालिश से घड़ा और जिस प्रकार स्नेह के मर्दन से चमड़ा, और जिस प्रकार स्नेह के चुपड़ने से गाड़ी का धुरा, दृढ़ (मजबूत) और क्लेशसह अर्थात् (दुःख कष्ट सहने योग्य हो जाता है) उसी प्रकार शरीर पर तेल मलने से शरीर भी दृढ़, मजबूत हो जाता है, त्वक

(त्वचा, चमड़ी) अच्छी कोमल हो जाती है। वायु के रोग शान्त हो जाते हैं, और शरीर क्लेश कष्ट दुःख आदि, व्यायाम-परिश्रम सहन करने योग्य बन जाता है।

अन्य श्रोत्रादि इन्द्रियों की अपेक्षा त्वचा में वायु का आधिक्य रहता है और स्पर्श ज्ञान भी त्वचा में ही आश्रित है, इसलिये अभ्यंग (तैल का मलना) त्वचा के लिये अति उपकारी है। इस लिये मनुष्य को चाहिए कि उसे करता रहे।

तैल मर्दन करने वाले व्यक्ति के शरीर पर अभिघात (चोट) लगने पर भी विशेष कोई हानि नहीं आती; क्योंकि वायु शान्त हुई होती है, आघात जो कि वायु को कुपित करने वाला है वह भी वायु को कुपित नहीं कर सकता। इसी प्रकार कभी अचानक श्रम या मेहनत का काम करने से भी शरीर में विकार उत्पन्न नहीं होता।

नित्य प्रति अभ्यंग (शरीर पर तैल मर्दन करने से) मनुष्य की त्वचा कोमल, उत्तम स्पर्शज्ञान वाली, तथा पुष्ट भरे हुए सुघटित अंगों वाला बलवान् एवं सुन्दर शरीर वाला हो जाता है। ऐसे मनुष्य को बुढ़ापा भी जल्दी नहीं आता ॥ ८३-८७ ॥

पाँव में तैलमर्दन के गुण—

खरत्वं शुष्कता रौक्ष्यं श्रमः सुप्तिश्च पादयोः ॥ ८८ ॥
सद्य एवोपशाम्यन्ति पादाभ्यङ्ग-निषेवणात् ।
जायते सौकुमार्यं च बलं स्थैर्यं च पादयोः ॥ ८९ ॥
दृष्टिः प्रसादं लभते मारुतश्चोपशाम्यति ।
न च स्युर्गृध्रसी-वाताः पादयोः स्फुटनं न च ॥ ९० ॥
न शिरा-स्नायु-संकोचः पादाभ्यङ्गेन पादयोः ।

पाँव में (खासकर पाँव के तन्तुओं पर तैल लगाने से खरत्व (खुरदुरापन), शुष्कता (सूखापन, फटना), रौक्ष्य (रूक्षता, रुखाई), श्रम (थकान) और पांव की सुप्ति (सो जाना, स्तब्ध, जड़ सा हो जाना), शीघ्र ही अच्छे हो जाते हैं। पाँव में तेल मर्दन करने से पांव में कोमलता, सुकुमारता आ जाती है, पांव बलवान्, स्थिर (न कांपने वाले) हो जाते हैं। इसके सिवाय आंख स्वच्छ, निर्मल हो जाती है, और वायु भी पांव की शान्त हो जाती है। पांव में तैल मालिश करने वाले व्यक्ति को न तो गृध्रसी रोग न पांव का फटना (पाददारी, बिवाई आदि रोग), और न शिरा या स्नायुओं का संकुचित होना (पाँव के ज्ञान तन्तुओं या मांस पेशियों का संकुचित होना) होते हैं।

उबटन लगाना—

दौर्गन्ध्यं गौरवं तन्द्रां कण्डूं मलमरोचकम् ॥ ९१ ॥
स्वेदं बीभत्सतां हन्ति शरीर-परिमार्जनम् ।

शरीर पर उबटन (बेसन आदि) मलने से शरीर की दुर्गन्ध, भारीपन, तन्द्रा (काम में आलस्य), खाज़, मल, अरुचि (भोजन में अनिच्छा), स्वेद, बीभत्सता (पसीने की बदबू) नष्ट हो जाते हैं ॥ ९१ ॥

स्नान का फल—

पवित्रं वृष्यमायुष्यं श्रम-स्वेद-मलापहम् ॥ ९२ ॥
शरीर-बल-संधानं स्नानमोजस्करं परम् ।

नित्य प्रति स्नान करने से मनुष्य को पवित्रता, वृष्यता (पुरुषत्व), दीर्घायु मिलती है । स्नान से थकावट, पसीना और मल की दुर्गन्ध दूर हो जाती है । स्नान करने से शरीर का बल और ओज (तेज, कान्ति, दीप्ति) विशेष रूप में बढ़ता है ॥ ९२ ॥

('ओज' आठवीं धातु है । 'मज्जा' के सूक्ष्म भाग का शुक्राग्नि से पाक होने पर जो सूक्ष्मतम भाग बनता है, वही 'ओज' है । ग्रन्थियों का अन्तःस्राव (Internal secretain) का नाम 'ओज' है, जिसके कम होने से मनुष्य का तेज कम हो जाता है और जिसके नाश होने पर मनुष्य भी मर जाता है ।)

स्वच्छ वस्त्र पहिनने के गुण—

काम्यं यशस्यमायुष्यमलक्ष्मीघ्नं प्रहर्षणम् ॥ ९३ ॥
श्रीमत्पारिषदं शस्तं निर्मलाम्बर-धारणम् ।

निर्मल, स्वच्छ साफ वस्त्र पहिनने से मनुष्य को कमनीयता, सुन्दरता, यश, कीर्त्ति, दीर्घायु मिलती है । स्वच्छ वस्त्र अलक्ष्मीघ्न अर्थात् दरिद्रता को दूर करता है और प्रहर्षण अर्थात् (चित्त को खुश करता है) । स्वच्छ वस्त्र राजाओं की सभा में भी प्रशंसित होता है ॥ ९३ ॥

गन्धमाला आदि के धारण करने के गुण—

वृष्यं सौगन्ध्यमायुष्यं काम्यं पुष्टिबलप्रदम् ॥ ९४ ॥
सौमनस्यमलक्ष्मीघ्नं गन्ध-माल्य-निषेवणम् ।

सुगन्धित पदार्थ, इत्र आदि और पुष्प माला आदि को धारण करने से मनुष्य को पुरुषत्व, सुगन्धि, दीर्घायु मिलती है । इनके धारण करने से शरीर में कमनीयता, पुष्टि और बल आता है । माला के धारण करने से मन प्रसन्न रहता है और दरिद्रता का नाश होता है ॥ ९४ ॥

रत्न आभूषण आदि धारण करने से लाभ—

धन्यं मङ्गलमायुष्यं श्रीमद्व्यसन-सूदनम् ॥ ९५ ॥
हर्षणं काम्यमोजस्यं रत्नाऽऽभरण-धारणम् ।

रत्न हीरे आदि, आभरण इनसे या स्वर्ण आदि से बने आभूषण धारण करना धन्य अर्थात् भाग्यवान्, धनी होने का चिह्न है। इनका धारण करना मङ्गलकारी, दीर्घायु देने वाला एवं शोभा बढ़ाता है। इनके धारण करने से सब व्यसन, सर्प कीटादि की विपत्ति नष्ट हो जाती है। आभूषण इत्यादि को धारण करने से मन प्रसन्न होता है, सुन्दरता आती है और ओज, तेज, कांति बढ़ती है ॥ ९५ ॥

दीर्घायु के लिये आवश्यक शुचि कर्म—

मेध्यं पवित्रमायुष्यमलक्ष्मीकलि-विनाशनम् ॥ ९६ ॥
पादयोर्मलमार्गाणां शौचाधानमभीक्ष्णशः ।

बार-बार मल त्याग आदि के पीछे शुद्धि करने से अर्थात् पवित्र रहने से मेधा बुद्धि बढ़ती है, पवित्रता, दीर्घायु मिलती है और दरिद्रता एवं कलि (पाप या दुःख) का नाश होता है। इसलिए पांव और मल मार्ग गुद और उपस्थ, और शिर के सात छिद्र—दो नाक, दो कान, दो आंख और एक मुख इन सातों छेदों को बार-बार साफ करना चाहिये ॥ ९६ ॥

पौष्टिकं वृष्यमायुष्यं शुचि रूप-विराजनम् ॥ ९७ ॥
केश-श्मश्रु-नखादीनां कल्पनं संप्रसाधनम् ।

केश (शिर के बाल), श्मश्रु (दाढ़ी मूंछ) और नख आदि का काटना और इनका प्रसाद, शृंगार करने से पुष्टि, पुरुषत्व, दीर्घायु मिलती है एवं रूप भी सुन्दर, पवित्र बन जाता है ॥ ९७ ॥

जूता पहिनने का गुण—

चक्षुष्यं स्पर्शनहितं पादयोर्व्यसनापहम् ॥ ९८ ॥
बल्यं पराक्रमसुखं वृष्यं पादत्रधारणम् ।

जूता पहिनना आँखों के लिये हितकारी, त्वचा के लिये लाभकारी, एवं कीड़े आदि से बचाता है और बल पराक्रम, सुख और पुरुषत्व को देता है ॥ ९८ ॥

छत्र धारण का गुण—

ईतेः प्रशमनं बल्यं गुप्त्यावरणसंकरम् ॥ ९९ ॥
घर्मानिलरजोऽम्बुघ्नं छत्रधारणमुच्यते ।

छत्र धारण करना भावी दुःख को शान्त करने वाला, बलकारक, बुरे

प्रभावों से भली प्रकार रक्षा करता है। छाता धारण करने से धूप, वायु, धूल बरसात से बचता है। ॥ ६६ ॥

दण्ड धारण के गुण—

स्खलतः संप्रतिष्ठानं शत्रूणां च निषूदनम् ॥ १०० ॥
अवष्टम्भनमायुष्यं भयघ्नं दण्डधारणम्।

दण्ड गिरते हुए को भली प्रकार से रोकता है, शत्रुओं का नाश करता है, बल में सहायता देता है, दीर्घायुष्य कारक और सांप आदि के भय को मिटाता है ॥ १०० ॥

संक्षेप से स्वस्थवृत्त—

नगरी नगरस्येव रथस्येव रथी सदा ॥ १०१ ॥
स्वशरीरस्य मेधावी कृत्येष्ववहितो भवेत्।

जिस प्रकार नगराधिपति राजा नगर की और रथी अपने रथ की रक्षा करता है उसी प्रकार मेधावी, (बुद्धिमान् मनुष्य) अपने शरीर के कर्त्तव्यों में सावधान रहे ॥ १०१ ॥

भवति चात्र—वृत्त्युपायान्निषेवेत ये स्युर्धर्माविरोधिनः।
शममध्ययनं चैव सुखमेव समश्नुते ॥ १०२ ॥

जो धर्म के अविरोधी कार्य हों उन उपायों का (जीविका के साधनों का) पालन करना चाहिये। शम (शान्त वृत्ति) और अध्ययन (वेदादि सद्ग्रन्थों का पठन), करने से मनुष्य को सुख मिलता है ॥ १०२ ॥

तत्र श्लोकाः—मात्रा द्रव्याणि मात्रां च संश्रित्य गुरुलाघवम्।
द्रव्याणां गर्हितोऽभ्यासो येषां येषां च शस्यते ॥ १०३ ॥

इस अध्याय में मात्रा को लक्ष्य करके द्रव्य, मात्रा, गुरु लघु का ज्ञान, निन्दित द्रव्य पदार्थ, और जिन जिन पदार्थों का अभ्यास करना चाहिये वे कह दिये हैं ॥ १०३ ॥

अञ्जनं धूम-वर्तिश्च त्रिविधा वर्ति-कल्पना।
धूमपान-गुणाः कालाः पानमानं च यस्य यत् ॥ १०४ ॥
व्यापत्ति-चिह्नं भैषज्यं धूमो येषां विगर्हितः।
पेयो यथा यन्मयं च नेत्रं यस्य च यद्विधम् ॥ १०५ ॥
नस्य-कर्म-गुणा नस्तः कार्यं यच्च यथा यदा।
भक्षयेद्दन्त-पवनं यथा यद्यद्गुणं च यत् ॥ १०६ ॥
यदर्थं यानि चाऽऽस्येन धार्याणि कवलग्रहे।

तैलस्य ये गुणा दृष्टाः शिरस्तैलगुणाश्च ये ॥ १०७ ॥
कर्णतैले तथाऽभ्यङ्गे पादाभ्यङ्गे च मार्जने ।
स्नाने वाससि शुद्धे च सौगन्ध्ये रत्नधारणे ॥ १०८ ॥
शौचे संहरणे लोम्नां पादत्र-च्छत्र-धारणे ।
गुणा मात्राशितीयेऽस्मिन् तथोक्ता दण्डधारणे ॥ १०९ ॥

अञ्जन, धूम वर्त्ति के तीन प्रकार, प्रायोगिक, वैरेचिक और स्नैहिक धूम की कल्पना, धूमपान के गुण, धूमपान के समय, धूमपान का परिणाम, धूमपान से होनेवाली हानियाँ और इन हानियों की 'भैषज्य' (औषध), जिन पुरुषों के लिये धूम निन्दित है, वह जिस प्रकार से पीना चाहिये, नलिका जिस वस्तु और जिस प्रकार की बनी होनी चाहिये वह भी कह दिया है। नस्य कर्म्म के लाभ, उसके बनाने की विधि, नस्य लेने का समय एवं विधि, दन्त धावन के गुण, मुख में धारण करने योग्य वस्तुएँ, तैल-गण्डूष के गुण, शिर पर तेल लगाने के लाभ, कान में तेल डालने के गुण, पाँव में और शरीर में तेल लगाने के लाभ, उबटन, स्नान करने के लाभ, शुद्ध वस्त्र माला आदि सुगन्धि द्रव्य, रत्न धारण करने के गुण, शुचि कर्म के, बालों को काटने, जूता छाता और दण्ड को धारण करने के गुण, लाभ यह सब इस 'मात्राशितीय' अध्याय में कह दिये हैं ॥ १०४-१०९ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने स्वस्थवृत्ते
मात्राशितीयो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः ।

अथातस्तस्याशितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'तस्याशितीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है ॥ १-२ ॥

तस्याशिताद्याद्दाहाराद् बलं वर्णश्च वर्धते ।
तस्यर्तुसात्म्यं विदितं चेष्टाऽऽहारव्यपाश्रयम् ॥ ३ ॥

परिमित मात्रा में भोजन करने वाले पुरुष के मात्रा में खाने-पीने से बल, वर्ण, कान्ति, सुख और आयुष्य बढ़ता है। मात्राशी पुरुष का सात्म्य ऋतु के गुण के विपरीत चेष्टा, व्यायाम, अभ्यङ्ग आदि, आहार खाना-पीना, चाटना (के आश्रय पर ही ऋतुओं का सात्म्य भी जाना जाता है ॥ ३ ॥

इह खलु संवत्सरं षडङ्गमृतुविभागेन विद्यात्। तत्राऽऽदित्यस्योदगयनमादानं च त्रीनृतून् शिशिरादीन् ग्रीष्मान्तान् व्यवस्येत्, वर्षादीन् पुनर्हेमन्तान्तान् दक्षिणायनं विसर्गं च ॥ ४ ॥

इस संसार में संवत्सर (वर्ष) रूपी काल को छः ऋतुओं के विभाग से जानना चाहिये। जब भगवान् सूर्य उत्तरायण होते हैं, तब 'आदान' (ग्रहण) काल होता है। इससे शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म तीन ऋतुएँ बनती हैं और जब सूर्य दक्षिणायन हो तब 'विसर्ग' काल होता है। इससे वर्षा, शरद् और हेमन्त ये तीन ऋतुएँ बनती हैं ॥ ४ ॥

विसर्गे च पुनर्वायवो नातिरूक्षाः प्रवान्तीतरे पुनरादाने, सोमश्चाव्याहतबलः शिशिराभिर्भाभिरापूरयञ्जगदाप्याययति शश्वत्, अतो विसर्गः सौम्यः। आदानं पुनराग्नेयं, तावेतावर्कवायू सोमश्च कालस्वभाव-मार्ग-परिगृहीताः। कालर्तु-रस-दोष-देह-बल-निर्वृत्ति-प्रत्ययभूताः समुपदिश्यन्ते ॥ ५ ॥

'विसर्ग' काल में वायु बहुत अधिक रूखो नहीं बहती और आदान काल में वायु बहुत रूक्ष खुश्क बहता है। क्योंकि विसर्गकाल में चन्द्रमा का बल परिपूर्ण होता है। इसलिये चन्द्रमा शीतल किरणों से जगत् का पोषण करता है, जगत् को नित्य बलवान् करता है। इसलिये विसर्गकाल सौम्य है।

'आदान' काल आग्नेय (अग्नि तत्त्व प्रधान) है। इसलिये सूर्य, वायु और चन्द्रमा के समय स्वाभाविक मार्ग से चलते हुए काल, ऋतु, रस, दोष, और शारीरिक बल के बनाने में कारण होते हैं ॥ ५ ॥

तत्र रविर्भाभिराददानो जगतः स्नेहं वायवस्तीव्ररूक्षाश्चोपशोषयन्तः शिशिर-वसन्त-ग्रीष्मेष्वृतुषु यथाक्रमं रौक्ष्यमुत्पादयन्तो रूक्षान् रसान् तिक्त-कषाय-कटुकांश्चाभिवर्धयन्तो नृणां दौर्बल्यमावहन्ति ॥६॥

आदान काल में सूर्य अपनी किरणों से संसार की स्निग्धता को ले लेता है, इसलिये वायु तीव्र, तीक्ष्ण, रूखी, सुखाती हुई बहती है। इससे शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म में क्रमशः (शिशिर से अधिक वसन्त में, और वसन्त से अधिक ग्रीष्म में) रूक्षता उत्पन्न हो जाती है। इस रूक्षता के उत्पन्न होने से रूक्ष रस, यथा—तिक्त (तीखा), कषाय (कसैला) और कटु (कड़ुवा) रस बढ़ जाते हैं। इन रसों की वृद्धि से मनुष्यों के शरीर में निर्बलता आ जाती है ॥६॥

वर्षा-शरद्धेमन्तेष्वृतुषु तु दक्षिणाभिमुखेऽर्के काल-मार्ग-मेघ-वात-वर्षाभिहत-प्रतापे, शशिनि चाव्याहतबले, माहेन्द्र-सलिल-प्रशान्त-

सन्तापे जगति, अरूक्षा रसाः प्रवर्धन्तेऽम्ल-लवण-मधुराः, यथाक्रमं तत्र बलमुपचीयते नृणामिति ॥ ७ ॥

वर्षा शरद् और हेमन्त ऋतु में जब सूर्य दक्षिणायन हो जाता है, काल के स्वाभाविक मार्ग के कारण, बादल, वायु, वर्षा के कारण सूर्य का तेज घट जाने से और सोम का बल कम न होने से, वर्षा जल के कारण गरमी के शान्त हो जाने से संसार में अरूक्ष, स्निग्ध रस बढ़ते हैं। इससे अम्ल, लवण और मधुर क्रमशः वर्षा, शरद् और हेमन्त में बढ़ते हैं। इन रसों के बढ़ने से मनुष्यों का बल भी बढ़ जाता है ॥ ७ ॥

भवन्ति चात्र--आदावन्ते च दौर्बल्यं विसर्गादानयोर्नृणाम् ।
मध्ये मध्यबलं त्वन्ते श्रेष्ठमग्रे च निर्दिशेत् ॥ ८ ॥
शीते शीतानिल-स्पर्श-संरुद्धो बलिनां बली ।

विसर्ग और आदान काल के आदि और अन्त में पुरुषों के शरीर में दुर्बलता आती है। यथा-विसर्ग के आदि काल वर्षा में और आदान के अन्त समय ग्रीष्म ऋतु में मनुष्यों में निर्बलता रहती है। दोनों कालों के मध्य में (अर्थात् शरद् और वसन्त में) मध्यम बल रहता है। विसर्ग के अन्त समय (हेमन्त में) और आदान काल के पहिले (शिशिर में) काल में मनुष्यों का बल श्रेष्ठ अर्थात् बढ़ा रहता है ॥ ८ ॥

पक्ता भवति हेमन्ते मात्रा-द्रव्या-गुरु-क्षमः ॥ ९ ॥
स यदा नेन्धनं युक्तं लभते देहजं तदा ।
रसं हिनस्त्यतो वायुः शीतः शीते प्रकुप्यति ॥ १० ॥
तस्मात्तुषार-समये स्निग्धाम्ल-लवणान् रसान् ।
औदकानूप-मांसानां मेध्यानामुपयोजयेत् ॥ ११ ॥
बिलेशयानां मांसानि प्रसहानां भृतानि च ।
भक्षयेन्मदिरां सीधुं मधु चानुपिबेन्नरः ॥ १२ ॥
गोरसानिक्षुविकृतीर्वसां तैलं नवौदनम् ।
हेमन्तेऽभ्यस्यतस्तोयमुष्णं चाऽऽयुर्न हीयते ॥ १३ ॥
अभ्यङ्गोत्सादनं मूर्ध्नि तैलं जेन्ताकमातपम् ।
भजेद् भूमिगृहं चोष्णमुष्णं गर्भगृहं तथा ॥ १४ ॥
शीतेषु संवृतं सेव्यं यानं शयनमासनम् ।

हेमन्त काल की परिचर्या—हेमन्त रूपी शीत काल में ठण्डी वायु के स्पर्श से जठराग्नि, शरीर से बाहर न निकल कर अन्दर ही रुक कर (जिस

प्रकार कि कुम्हार बर्त्तन पकाते समय या ईंटों के भट्ठे में आग को अन्दर ही बन्द कर देते हैं, और वहाँ पर अग्नि तीव्र हो जाती है, उसी प्रकार) प्रबल हो उठती है। इसलिये मनुष्यों की जठराग्नि काल स्वभाव से ही हेमन्त में प्रबल और अधिक मात्रा में भोजन को पचाने में समर्थ होती है। इस समय यदि जाठराग्नि को अग्नि बल के अनुसार अन्न रूपी आहार न मिले, तो शरीर के सौम्य (द्रव्य) भाग को नष्ट करने लगती है। इसलिये शीत काल में शीत गुण के बढ़ने से वायु भी बढ़ती है।

इस वायु की वृद्धि को रोकने के लिये स्निग्ध (मधुर), अम्ल और नमकीन पदार्थ खाने चाहिये। चर्बी वाले जलचर प्राणियों का मांस रस, बिल में रहने वाले (नकुल आदि) पशुओं का मांस, प्रसह (कुक्कुट आदि) पक्षियों का मांस खाना चाहिये, मांस खाकर ऊपर से मदिरा सीधु (गुड़ की शराब) और मधु पीना चाहिये। दूध, दही, मावा आदि एवं गन्ने के रस से बनी खीर, राब, शर्करा आदि से बनी वस्तुएँ, वसा, तैल और नये चावल खाने चाहिये। हेमन्त काल में स्नान आदि में गरम पानी का व्यवहार करने वाले की आयु कम नहीं होती। तैलमर्दन, उबटन, शिर पर तैल लगाना, जेन्ताक (स्वेद,) धूप का सेवन, भूमि के नीचे बने तहखानों में रहना, घर के अन्दर घर बना उसे गरम करके रहना चाहिये, भली प्रकार घिरा हुआ घर हो, आसन या सवारी आदि करते समय खूब लिपटकर बैठे जिससे शीत न लगे ॥ ६-१४ ॥

प्रावाराजिन-कौशेय-प्रवेणी-कुथकास्तृतम् ॥ १५ ॥
गुरूष्णवासा दिग्धाङ्गो गुरुणाऽगुरुणा सदा।
शयने प्रमदां पीनां विशालोपचितस्तनीम् ॥ १६ ॥
आलिङ्ग्याऽगुरुदिग्धाङ्गीं सुप्यात्समदमन्मथः।
प्रकामं च निषेवेत मैथुनं शिशिरागमे ॥ १७ ॥
वर्जयेदन्नपानानि लघूनि वातलानि च।
प्रवातं प्रमिताहारमुदमन्थं हिमागमे ॥ १८ ॥

भारी कम्बल, मृग छाल (कौशेय) रेशम, (प्रवेणी) कम्बल, गद्दे इनको फैलाकर भारी और गरम कपड़ों को पहिनकर मनुष्य अङ्गों पर अगर का गाढ़ा लेप सदा करे। भरे शरीर वाली (दुबली-पतली नहीं), कामवती एवं उन्नत स्तनों वाली, अङ्गों पर अगर का लेप की हुई स्त्री का आलिङ्गन करके हर्ष और कामेच्छा के साथ सोये। शिशिर ऋतु में मैथुन यथेच्छ सेवन करे।

हेमन्त ऋतु में त्याज्य—लघु गुण वाले एवं वायुप्रकोपक आहार विहार हेमन्त ऋतु में छोड़ देने चाहियें। एवं सामने की वायु, थोड़ा खाना और पानी में घोलकर सत्तू खाना छोड़ देना चाहिये ॥ १५-१८ ॥

हेमन्तशिशिरे तुल्ये शिशिरेऽल्पं विशेषणम्।
रौक्ष्यमादानजं शीतं मेघ-मारुत-वर्षजम् ॥ १९ ॥
तस्माद्धैमन्तिकः सर्वः शिशिरे विधिरिष्यते।
निवातमुष्णमधिकं शिशिरे गृहमाश्रयेत् ॥ २० ॥
कटु-तिक्त-कषायाणि वातलानि लघूनि च।
वर्जयेदन्न-पानानि शिशिरे शीतलानि च ॥ २१ ॥

हेमन्त और शिशिर ऋतुएँ प्रायः शीत की दृष्टि से समान हैं। परन्तु शिशिर काल मे हेमन्त से इतना भेद है कि शिशिर का आदान काल होने से वायु रूक्ष होती है एवं बादल, वायु और बरसात शिशिर में अधिक होने से इस ऋतु में शीत अधिक होता है। इसलिये शिशिर ऋतु में हेमन्त की संपूर्ण विधि पालन करनी चाहिये। परन्तु शिशिर में हेमन्त से अधिक गरम और वायु रहित घरों में (खुली वायु जहाँ न आये) रहे। शिशिर काल में कडुवे, तिक्त, कसैले, वायुकारक और लघु तथा ठण्डे खान-पान को छोड़ दे ॥१९-२१॥

वसन्त की ऋतुचर्या—

हेमन्ते निचितः श्लेष्मा दिनकृद्भाभिरीरितः।
कायाग्नि बाधते रोगांस्ततः प्रकुरुते बहून् ॥ २२ ॥
तस्माद्वसन्ते कर्माणि वमनादीनि कारयेत्।
गुर्वम्ल-स्निग्ध-मधुरं दिवास्वप्नं च वर्जयेत् ॥ २३ ॥
व्यायामोद्वर्तनं धूमं कवल-ग्रह-मञ्जनम्।
सुखाम्बुना शौचविधिं शीलयेत्कुसुमागमे ॥ २४ ॥
चन्दनागुरु-दिग्धाङ्गो यव-गोधूम-भोजनः।
शारभं शाशमैणेयं मांसं लावक-पिञ्जलम् ॥ २५ ॥
भक्षयेन्निगदं सीधुं पिबेन्माध्वीकमेव वा।
वसन्तेऽनुभवेत्स्त्रीणां काननानां च यौवनम् ॥ २६ ॥

हेमन्त काल में सञ्चित हुआ कफ सूर्य की किरणों से (घी के समान) पिघल कर—द्रव बनकर शरीर की अग्नि को (धातुओं की अग्नि को नहीं) कम करके कफजन्य बहुत से रोगों को उत्पन्न करता है। इसलिये कफ को निकालने के लिये वसन्त ऋतु में वमन, शिरोविरेचन कार्य करने चाहिये।

व्यायाम उबटन, धूमपान, कवल (गरारे करना) और अञ्जन लगाना चाहिये। स्नान एवं शौच कार्य में गरम पानी का व्यवहार करना चाहिये (पीनेमें नहीं)। शरीर पर चन्दन और अगर का लेप करना चाहिये, जौ और गेहूँ, शरभ बारहसींगे, खरगोश, हरिण, बटेर, कपिञ्जल (कट फोड़ा) इनका मांस खाना चाहिये। कफ दोष नाशक सीधु या अंगूरों का बना शराब पीना चाहिये। वसन्त काल में युवती स्त्रियों और जङ्गलों में मनोरंजन करे ॥ २२-२६ ॥

ग्रीष्मचर्या—

मयूखैर्जगतः सारं ग्रीष्मे पेपीयते रविः ।
स्वादु शीतं द्रवं स्निग्धमन्नपानं तदा हितम् ॥ २७ ॥
शीतं सशर्करं [1]मन्थं जाङ्गलान्मृगपक्षिणः ।
घृतं पयः सशाल्यन्नं भजन् ग्रीष्मे न सीदति ॥ २८ ॥
मद्यमल्पं न वा पेयमथवा सुबहूदकम् ।
लवणाम्ल-कटूष्णानि व्यायामं चात्र वर्जयेत् ॥ २९ ॥
दिवा शीतगृहे निद्रां निशि चन्द्रांशुशीतले ।
भजेच्चन्दन-दिग्धाङ्गः प्रवाते हर्म्यमस्तके ॥ ३० ॥
व्यजनैः पाणिसंस्पर्शैश्चन्दनोदक-शीतलैः ।
सेव्यमानो भजेदास्यां मुक्तामणि-विभूषितः ॥ ३१ ॥
काननानि च शीतानि जलानि कुसुमानि च ।
ग्रीष्मकाले निषेवेत मैथुनाद्विरतो नरः ॥ ३२ ॥

ग्रीष्म ऋतु में सूर्य अपनी किरणों द्वारा संसार का सार खींचता रहता है। इसलिये इस समय मीठा, ठण्डा द्रव पदार्थ पीना, चिकने (घी आदि) खान पान हितकारी है। ठण्ड और शर्करा मिश्रित सत्तू खाने से, जंगली पशु-पक्षियों का मांस खाने से, घी और दूध के साथ चावल खाने से ग्रीष्म ऋतु में कष्ट नहीं होता। इस ऋतु में मद्य नहीं पीना चाहिये और यदि पीना ही हो तो बहुत पानी मिलाकर पीना चाहिये। नमकीन, खट्टे, कडुवे और गरम रस पदार्थ तथा व्यायाम इस ऋतु में छोड़ देना चाहिये। दिन के समय ठण्डे मकानों में सोना चाहिये और रात में चन्द्रमा की किरणों से ठण्डी की हुई मकान की छत पर खुली वायु में शरीर पर चन्दन मलकर सोना चाहिये। चन्दन और पानी से ठण्डे किये हुए पङ्खों से या हाथ के स्पर्श से, मोती और

१ मन्थ—सक्तवः सर्पिषा युक्ताः शीत-वारि-परिप्लुताः ।
नात्यच्छा नातिसान्द्राश्च मन्थ इत्यभिधीयते ॥

मणियों से शोभित होकर पलंग पर सोये। जङ्गलों को, ठण्डे पानी (झरने आदि) को और फूलों को ग्रीष्म काल में सेवन करे। ग्रीष्म ऋतु में मैथुन से अलग रहे ॥ २७-३२ ॥

वर्षा काल की ऋतुचर्य्या—

आदान-दुर्बले देहे पक्ता भवति दुर्बलः।
स वर्षास्वनिलादीनां दूषणैर्बाध्यते पुनः ॥ ३३ ॥
भू-बाष्पान्मेघ-निस्यन्दात्पाकादम्लाज्जलस्य च।
वर्षास्वग्निबले क्षीणे कुप्यन्ति पवनादयः ॥ ३४ ॥
तस्मात्साधारणः सर्वो विधिर्वर्षासु शस्यते।
उदमन्थं दिवास्वप्नमवश्यायं नदीजलम् ॥ ३५ ॥
व्यायाममातपं चैव व्यवायं चात्र वर्जयेत्।
पान-भोजन-संस्कारान् प्रायः क्षौद्रान्वितान् भजेत् ॥ ३६ ॥
व्यक्ताम्ल-लवण-स्नेहं वात-वर्षाकुलेऽहनि।
विशेषशीते भोक्तव्यं वर्षास्वनिल-शान्तये ॥ ३७ ॥
अग्नि संरक्षणवता यव-गोधूम-शालयः।
पुराणा जाङ्गलैर्मांसैर्भोज्या यूषैश्च संस्कृतैः ॥ ३८ ॥
पिबेत्क्षौद्रान्वितं चाल्पं माध्वीकारिष्टमम्बु वा।
माहेन्द्रं तप्तशीतं वा कौपं सारसमेव वा।
प्रघर्षोद्वर्तन-स्नान-गन्ध-माल्य-परो भवेत्।
लघुशुद्धाम्बरः स्थानं भजेदक्लेदि वार्षिकम् ॥ ४० ॥

आदान काल में शरीर के निर्बल होने से अग्नि भी निर्बल हो जाती है। यह अग्नि वर्षा ऋतु में वायु, पित्त, कफ तीनों के दूषणों से दूषित हो जाती है। ग्रीष्म ऋतु में प्रचण्ड सूर्य की गरमी से भूमि के तप जाने से, वर्षा में बरसात पड़ने से, पानी के स्पर्श से, भूमि में से गरम भाप के निकलने से तीनों दोष कुपित हो जाते हैं, इसी प्रकार बादलों के बरसने से वात, कफ कुपित होते हैं, जल के अम्लपाक होने से पित्त कुपित होता है। वर्षा ऋतु में अग्नि-बल के क्षीण होने से वात, पित्त कफ तीनों कुपित हो जाते हैं। इसलिये वर्षा में साधारण विधि का पालन करना चाहिये। पानी में घुला सत्तू, दिन में सोना, ओस, [illegible] का पानी, सम्भोग-मैथुन, धूप और व्यायाम इस ऋतु में नहीं सेवन करने

चाहियें। वर्षा काल में खान पान के अन्दर प्रायः करके शहद का उपयोग करना चाहिये। बरसात के दिनों में जिस दिन वायु और बरसात जोर का पड़ रहा हो और सर्दी बहुत हो, उस दिन वायु को शान्त करने के लिये अम्ल, लवण रस तथा स्नेह घी जिस अन्न में स्पष्ट दीखता हो, उसे विशेष करके खाना चाहिये। अग्नि की रक्षा करने के लिये जौ, गेहूँ, चावल (पुराने), जंगली-वन के पशुओं का मांस एवं घी आदि से संस्कृत यूष खाने चाहिये। पित्त को शान्त करने के लिये थोड़ा शहद मिला माध्वीकारिष्ट (द्राक्षासव), अथवा पानी में शहद (थोड़ा) मिलाकर पीना चाहिये। वर्षा ऋतु में या तो आकाश से गिरा स्वच्छ पानी पीना चाहिये अथवा कुएं या तालाब के पानी को गरम करके ठण्डा करके पीना चाहिये। तैल का मर्दन, उबटन लगाना, स्नान करना सुगन्ध धारण करना, माला पहिनना, हलका और साफ़ वस्त्र पहिनना, तथा सूखे स्थान पर रहना चलना आदि कार्य वर्षा ऋतु में करना चाहिये ॥३३-४०॥

शरद् ऋतु की परिचर्या—

वर्षा-शीतोचिताङ्गानां सहसैवार्करश्मिभिः।
तप्तानामाचितं पित्तं प्रायः शरदि कुप्यति॥ ४१॥
तत्रान्नपानं मधुरं लघु शीतं सतिक्तकम्।
पित्त-प्रशमनं सेव्यं मात्रया सुप्रकाङ्क्षितैः॥ ४२॥
लावान् कपिञ्जलान् हरिणानुरभ्राञ्छरभाञ्छशान्।
शालीन् सयवगोधूमान् सेव्यानाहुर्घनात्यये॥ ४३॥
तिक्तस्य सर्पिषः पानं विरेको रक्तमोक्षणम्।
धाराधरात्यये कार्यमातपस्य च वर्जनम्॥ ४४॥
वसां तैलमवश्यायमौदकानूपमामिषम्।
क्षारं दधि दिवास्वप्नं प्राग्वातं चात्र वर्जयेत्॥ ४५॥

वर्षा ऋतु में काल स्वभाव से संचित हुआ पित्त शरद् काल में बादलों के हट जाने से, सूर्य के किरणों के ताप से सहसा कुपित होता है। इसलिये इस ऋतु में मधुर, लघु, शीत और तिक्त, पित्तशामक खान पान परिमाण में खाना चाहिये। बटेर, कटफोड़ा, हरिण, मेढ़ा, बारहसींगा और खरगोश इनका मांस, चावल, जौ, गेहूँ इनको शरद् काल में खाना चाहिये। तिक्त औषधियों से संस्कृत घृत (पंचतिक्त घृत), विरेचन, रक्तमोक्षण, शिरावेध, जोंक आदि से रक्त का निकलवाना और धूप का सेवन न करना ये काम बादलों के चले जाने पर शरद् ऋतु में करने चाहिये। इस ऋतु में चर्बी, तेल, ओस, जलचर प्राणि

का मांस, क्षार, दही दिन मे खाना सामने मे आती हुई वा पुरवा वायु का त्याग करना चाहिये ।। ४१-४५ ।।

हंसोदक का लक्षण—

दिवा सूर्यांशु-सन्तप्तं निशि चन्द्रांशु-शीतलम् ।
कालेन पक्कं निर्दोषमगस्त्येनाविषाकृतम् ।। ४६ ।।
हंसोदकमिति ख्यातं शारदं विमलं शुचि ।
स्नानपानावगाहेषु हितमम्बु यथाऽमृतम् ।। ४७ ।।
शारदानि च माल्यानि वासांसि विमलानि च ।
शरत्काले प्रशस्यन्ते प्रदोषे चेन्दुरश्मयः ।। ४८ ।।

दिन में सूर्य की किरणो से गरम और रात्रि मे चन्द्रमा की शीतल किरणों से ठण्डा होने वाला कालस्वभाव से पका हुआ अर्थात् वर्षा का जल जिसमें न रहा हो; इससे दोष रहित; अगस्त्य नक्षत्र के उदय होने के प्रभाव से निर्मल, (विष रहित) पानी को हंसोदक (चन्द्रार्क) कहते हैं । यह हंसोदक शरद् ऋतु में निर्मल और पवित्र है । इसलिये स्नान कार्य मे, पीने मे, अवगाहन, पानी मे बैठने आदि कार्यों मे उत्तम और अमृत के समान है । शरत्काल मे रात्रि के प्रथम प्रहर मे चन्द्रमा की किरणों का सेवन करना तथा शरत् कालीन मालायें, और निर्मल वस्त्र प्रशस्त है ।। ४६-४८ ।।

इत्युक्तमृतुसात्म्यं यच्चेष्टाऽऽहार-व्यपाश्रयम् ।
उपशेते यदौचित्यादोकःसात्म्यं तदुच्यते ।। ४९ ।।
देशानामामयानां च विपरीतगुणं गुणैः ।
सात्म्यमिच्छन्ति सात्म्यज्ञाश्चेष्टितं चाद्यमेव च ।। ५० ।।

(चेष्टा) क्रिया और आहार, खान विहार के आश्रित अर्थात् ऋतुओं के अनुकूल जो कर्म है, वे कह दिये । पुरुष की प्रकृति के अनुसार जो उचित अनुकूल पड़ता है, उसे 'ओकः-सात्म्य' कहते हैं ।

जो आहार या विहार देश (जांगल आनूप और साधारण) एवं रोग इनके गुणों से विपरीत, गुण वाले होते हैं उस आहार विहार को 'सात्म्य' को जानने वाले विद्वान् 'सात्म्य' कहते हैं ।। ४९-५० ।।

तत्र श्लोकाः—

ऋतावृतौ नृभिः सेव्यमसेव्यं यच्च किञ्चन ।
तस्याशितीये निर्दिष्टं हेतुमत्सात्म्यमेव च ।। ५१ ।।

प्रत्येक ऋतु में मनुष्यों को क्या २ सेवन करना चाहिये और क्या २ नहीं

सेवन करना चाहिये; तथा कारण रूपसात्म्य को भी इस 'तस्याशितीय' अध्याय में कह दिया ॥ ५१ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने स्वस्थवृत्तचतुष्के तस्याशितीयो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः ।

अथातो न वेगान्धारणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

मल मूत्रादि के उपस्थित वेगों को रोकने का प्रतिषेध करने के लिये 'न वेगान् धारणीय' नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं । जैसा भगवानात्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

न वेगान् धारयेद्धीमाञ्जातान्मूत्रपुरीषयोः ।
न रेतसो न वातस्य न वम्याः क्षवथोर्न च ॥ ३ ॥
नोद्गारस्य न जृम्भाया न वेगान् क्षुत्पिपासयोः ।
न बाष्पस्य न निद्राया निःश्वासस्य श्रमेण च ॥ ४ ॥
एतान् धारयतो जातान् वेगान् रोगा भवन्ति ये ।
पृथक्पृथक् चिकित्सार्थं तन्मे निगदतः शृणु ॥ ५ ॥

बुद्धिमान मनुष्य को चाहिये कि उपस्थित हुए मूत्र मल के वेगों को नहीं रोके । इसी प्रकार शुक्र, अपान आदि वायु, वमन, छींक, डकार, जम्भाई, भूख और प्यास, हर्ष या शोक के कारण उत्पन्न आंसू; नींद और श्रमजनित तीव्र प्रश्वास के वेगों को भी नहीं रोकना चाहिये । इन उपस्थित वेगों को रोकने से जो जो रोग होते हैं, उनकी चिकित्सा के लिये पृथक् पृथक् उपदेश करते हैं, सुनो।

बस्ति-मेहनयोः शूलं मूत्रकृच्छ्रं शिरोरुजा ।
विनामो वङ्क्षणानाहः स्याल्लिङ्गं मूत्रनिग्रहे ॥ ६ ॥

मूत्र के उपस्थित वेगको रोकने से 'बस्ति' (मूत्राशय) और लिंग में दर्द होती है, मूत्र त्याग में कष्ट होता है, शिर में दर्द, मूत्र वेग के कारण खींच होने से शरीर झुक जाता है वंक्षण प्रदेश (पेडू) जकड़ा हुआ प्रतीत होता है, अथवा उस प्रदेश में फुलाव प्रतीत होता है ये लक्षण मूत्र के उपस्थित वेग को रोकने से होते हैं ॥ ६ ॥

इस की चिकित्सा—

स्वेदावगाहनाभ्यङ्गान् सर्पिषश्चावपीडकम् ।
मूत्रे प्रतिहते कुर्यात् त्रिविधं बस्तिकर्म च ॥ ७ ॥

(स्वेद) पसीना देना, (अवगाहन) गरम पानी की नाद में बैठना, (अभ्यंग) तैल आदि मर्दन और घी का नस्य देना, तीन प्रकार का बस्ति कर्म (निरूहण, अनुवासन और उत्तर बस्ति) मूत्र के उपस्थित वेग को रुकने के प्रतीकार हैं ॥ ७ ॥

पक्वाशय-शिरःशूलं वात-वर्चो-निरोधनम् ।
पिण्डिकोद्वेष्टनाध्मानं पुरीषे स्याद्विधारिते ॥ ८ ॥

मल के उपस्थित वेग को रोकने से पक्वाशय अर्थात् नाभि के नीचे के भाग में और शिर में वेदना होती है, अपान वायु और मल बन्द हो जाते हैं, पिण्डलियों में एंठन होने लगती है, पेट में अफरा चढ़ जाता है ॥ ८ ॥

चिकित्सा—

स्वेदाभ्यङ्गावगाहाश्च वर्तयो बस्तिकर्म च ।
हितं प्रतिहते वर्चस्यन्नपानं प्रमाथि च ॥ ९ ॥

स्वेद पसीना देना, अभ्यंग, अवगाहन (नांद या टब आदि में स्नान), फलवर्त्ति, और बस्तिकर्म करे। विरेचन द्रव्यों का घी और तैल आदि द्वारा चूर्ण, क्वाथ, कल्कादि के रूप में बनाकर देना और वात को अनुलोमन करने वाली औषध मल के रोकने में हितकारी है ॥ ९ ॥

मेढ्रे वृषणयोः शूलमङ्गमर्दो हृदि व्यथा ।
भवेत्प्रतिहते शुक्रे विबद्धं मूत्रमेव च ॥ १० ॥

वीर्य के उपस्थित वेग को रोकने से लिंग और अण्डकोषों में वेदना होती है, अंग टूटते हुए प्रतीत होते हैं, चेतना के स्थान हृदय में वेदना अनुभूत होती है और मूत्र भी बन्द हो जाता है ॥ १० ॥ चिकित्सा—

तत्राभ्यङ्गावगाहश्च मदिरा चरणायुधाः ।
शालिः पयो निरूहाश्च शस्तं मैथुनमेव च ॥ ११ ॥

तैलमर्दन, अवगाहन स्नान (द्रोणीस्नान), मद्य, कुक्कुट का मांस, हैमन्तिक धान्य, दूध, बस्तिकर्म और मैथुन कर्म ये शुक्र वेग के निरोध से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा है ॥ ११ ॥

वात-मूत्र-पुरीषाणां सङ्गो ध्मानं क्लमो रुजा ।
जठरे वातजाश्चान्ये रोगाः स्युर्वातनिग्रहात् ॥ १२ ॥

अपान वायु के रोकने से, अपान वायु, मूत्र और पुरीष रुक जाते हैं।

अफरा हो जाता है थकान की अंगों में प्रतीति होना, पेट में पीड़ा और अन्य वातजन्य रोग भी हो जाते हैं ॥ १२ ॥ चिकित्सा—

स्नेह-स्वेद-विधिस्तत्र वर्तयो भोजनानि च ।
पानानि बस्तयश्चैव शस्तं वातानुलोमनम् ॥१३ ॥

स्नेह (तैल) एवं स्वेद देना चाहिये, फलवर्त्तियाँ, वातनाशक खान-पान और वातनाशक बस्तिकर्म उत्तम हैं ॥ १३ ॥

कण्डू-कोठ-रुचि-व्यङ्ग-शोथ-पाण्ड्वामय-ज्वराः ।
कुष्ठ-हृल्लास-वीसर्पाश्छर्दि-निग्रहजा गदाः ॥ १४ ॥

वमन के रोकने से खाज, कोढ, भोजन में अनिच्छा, झांई, मुखपर काले-काले दाग आना, सूजन, पाण्डु रोग, ज्वर, कोढ़, हृल्लास (वमन की रुचि), जी मिचलाना, वीसर्प ये रोग उत्पन्न होते हैं ॥ १४ ॥ चिकित्सा—

भुक्त्वा प्रच्छर्दनं धूमो लङ्घनं रक्तमोक्षणम् ।
रूक्षान्नपानं व्यायामो विरेकश्चात्र शस्यते ॥ १५ ॥

भोजन खिलाकर वमन कराना चाहिये, धूम्रपान, उपवास, शिराव्यधन करके रक्त का निकालना, रूखे अन्न और पान, व्यायाम और विरेचन ये उपाय उत्तम हैं ॥ १५ ॥

मन्यास्तम्भः शिरःशूलमर्दितार्धावभेदकौ ।
इन्द्रियाणां च दौर्बल्यं क्षवथोः स्याद्विधारणात् ॥ १६ ॥

छींक के रोकने से ग्रीवा का जकड़ जाना, शिरोवेदना, चेहरे का लकवा, आधा सीसी, आँख आदि इन्द्रियों की निर्बलता हो जाती है ॥ १६ ॥

तत्रोर्ध्वजत्रुकेऽभ्यङ्गः स्वेदो धूमः सनावनः ।
हितं वातघ्नमाद्यं च घृतं चोत्तरभक्तिकम् ॥ १७ ॥

चिकित्सा—ग्रीवा से ऊपर के भागों में मालिश, पसीना देना, धूम्रपान नस्य, वातनाशक भोजन और खाना खानेके पीछे घृतपान करना हितकारी है ॥

हिक्का श्वासोऽरुचिः कम्पो विबन्धो हृदयोरसोः ।
उद्गार-निग्रहात्तत्र हिक्कायास्तुल्यमौषधम् ॥ १८ ॥

डकार को रोकने पर हिचकी का आना, श्वास, भोजन में अनिच्छा, सिर-छाती का काँपना, छाती और हृदय का रुक जाना ये रोग हो जाते हैं। चिकित्सा—डकार के रोकने से उत्पन्न विकार की शान्ति के लिये हिचकी के समान औषध करनी चाहिये ॥ १८ ॥

विनामाक्षेपसङ्कोचाः सुप्तिः कम्पः प्रवेपनम् ।
जृम्भाया निग्रहात्तत्र सर्वं वातघ्नमौषधम् ॥ १९ ॥

जम्भाई के रोकने से शरीर का झुकना, आक्षेप अर्थात् हाथ-पाँव का जोर से कम्पन, पर्वसन्धियों का आकुञ्चन, अङ्गों का सो जाना, (स्पर्श ज्ञान का अभाव), काँपना-हिलना आदि होता है। चिकित्सा के लिये वातनाशक उपचार करना चाहिये ॥ १९ ॥

कार्श्य-दौर्बल्य-वैवर्ण्यमङ्गमर्दोऽरुचिर्भ्रमः ।
क्षुद्वेग-निग्रहात्तत्र स्निग्धोष्णं लघु भोजनम् ॥ २० ॥

भूख रोकने से कृशता, दुर्बलता, रंग का बदल जाना, अङ्ग-प्रत्यङ्गों में वेदना, उनका टूटते हुए प्रतीत होना, भोजन में अनिच्छा, चक्कर आना ये लक्षण होते हैं। चिकित्सा—स्निग्ध (चिकना), गरम और हलका भोजन देना चाहिये ॥ २० ॥

कण्ठास्य-शोषो बाधिर्यं श्रमः सादो हृदि व्यथा ।
पिपासा-निग्रहात्तत्र शीतं तर्पणमिष्यते ॥ २१ ॥

प्यास के रोकने से गले और मुख का खुश्क हो जाना, बहरापन, थकान, श्वास, दम का चढ़ना, हृदय प्रदेश में दर्द ये लक्षण होते हैं। चिकित्सा—शीतल, तृप्ति करनेवाले खान-पान देने चाहिये ॥ २१ ॥

प्रतिश्यायोऽक्षिरोगश्च हृद्रोगश्चारुचिर्भ्रमः ।
बाष्प-निग्रहणात्तत्र स्वप्नो मद्यं प्रियाः कथाः ॥ २२ ॥

आँसुओं के रोकने से नाक से पानी झरना, कफ का स्राव होना, आँखों के रोग, हृदय रोग, अनिच्छा और भ्रम, (सिर में चक्कर) आदि होते हैं। चिकित्सा—नींद, मदिरा का पान, आनन्ददायक प्रिय बातचीत करना चाहिये ॥ २२ ॥

जृम्भाऽङ्गमर्दस्तन्द्रा च शिरो-रोगाक्षि-गौरवम् ।
निद्रा-विधारणात्तत्र स्वप्नः संवाहनानि च ॥ २३ ॥

नींद रोकने से जम्भाई, अङ्गों का टूटना (शरीर में भारीपन), शिर की वेदना और आँखें भारी हो जाती हैं। चिकित्सा—नींद लाना, अङ्गों का संवाहन अर्थात् हाथों से अङ्गों को दबाना कल्याणकारी है ॥ २३ ॥

गुल्म-हृद्रोग-संमोहाः श्रम-निश्वास-धारणात् ।
जायन्ते, तत्र विश्रामो वातघ्नाश्च क्रिया हिताः ॥ २४ ॥

थकान से उत्पन्न निःश्वास को रोकने से गुल्म रोग, हृद्-रोग, मूर्च्छा) उत्पन्न होती है। इस के लिये विश्राम, (आराम) एवं क उपचार करने चाहियें ॥२४॥

वेग-निग्रहजा रोगा य एते परिकीर्तिताः।
इच्छंस्तेषामनुत्पत्तिं वेगानेतान्न धारयेत् ॥ २५ ॥

उपस्थित वेगों को रोकने से उत्पन्न होने वाले जो ये रोग कहे हैं, रोगों की उत्पत्ति को न चाहने वाले व्यक्ति को चाहिये कि वह इन वेगों को न रोका करे ॥ २५ ॥

इमांस्तु धारयेद्वेगान् हितैषी प्रेत्य चेह च।
साहसानामशस्तानां मनो-वाक्काय-कर्मणाम् ॥ २६ ॥
लोभ-शोक-भय-क्रोध-मान-वेगान् विधारयेत्।
नैर्लज्ज्येर्ष्यातिरागाणामभिध्यायाश्च बुद्धिमान् ॥ २७ ॥
परुषस्यातिमात्रस्य सूचकस्यानृतस्य च।
वाक्यस्याकालयुक्तस्य धारयेद्वेगमुत्थितम् ॥ २८ ॥
देहप्रवृत्तिर्या काचिद्वर्तते परपीडया।
स्त्रीभोगस्तेय-हिंसाद्या तस्या वेगान्विधारयेत् ॥ २९ ॥
पुण्यशब्दो विपापत्वान्मनो-वाक्काय-कर्मणाम्।
धर्मार्थकामान् पुरुषः सुखी भुङ्क्ते चिनोति च ॥ ३० ॥

इहलोक और परलोक की हित कामना करने वाले मनुष्य को चाहिये कि इन आगे कहे वेगों को धारण करे, जैसे—अयोग्य अनुचित साहस और मन वाणी और शरीर के निन्दित कर्मों के उपस्थित वेगों का रोके।

मन के निन्दित कार्य जैसे—लोभ, अनुचित विषय में मन की प्रवृत्ति, (शोक) धन बान्धव आदि के कारण दुःख में मन की प्रवृत्ति, भय, क्रोध जिसके कारण मनुष्य अपने को जलता हुआ प्रतीत करता है, (द्वेष) वैर, दूसरे के अपकार करने में मन की प्रवृत्ति, (मान) महत्व, अभिमान में मन की प्रवृत्ति, (जुगुप्सित) दूसरे की निन्दा, (निर्लज्जा) लज्जा का अभाव, (ईर्ष्या) कुढ़ना, (अभिध्या) दूसरे के द्रव्य को लेने की लालसा-बुद्धि, इन मन के निन्दित कार्यों को रोकना चाहिये।

वाणी के निन्दित कर्म—कर्कश, कठोर विशेषतः दूसरे की निन्दा या अनिष्ट करने की इच्छा से झूठी और अप्रासंगिक वाणी को रोकना चाहिये।

शरीर के निन्दित कर्म—दूसरे को दुःख देने की जो कोई शरीर की चेष्टा हो, उसे स्त्री-भोग (पर-स्त्रीसम्भोग), स्तेय (चोरी), हिंसा (दुःख कष्ट देना, मारना) आदि शरीर कार्यों के उपस्थित वेगों का रोकना चाहिये।

अपनी आत्मा के प्रतिकूल जो कार्य हों वे कार्य दूसरे के लिये

करने चाहिये। मनुष्य मन वचन और शरीर से पापरहित होकर ही 'पुण्य' शब्द का भागी होता है। उसमें 'पुण्य' शब्द तभी सार्थक होता है और तभी वह धर्म, अर्थ और काम इनको प्राप्त करता है, और सुख का भी भोग कर सकता है ॥ २९-३० ॥

व्यायाम—

शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था बलवर्धिनी।
देह-व्यायाम-संख्याता मात्रया तां समाचरेत् ॥ ३१ ॥
लाघवं कर्म-सामर्थ्यं स्थैर्यं क्लेश सहिष्णुता।
दोषक्षयोऽग्निवृद्धिश्च व्यायामादुपजायते ॥ ३२ ॥

जो शारीरिक चेष्टायें शरीर की स्थिरता, दृढ़ता के लिये शरीर के बल को बढ़ाने की इच्छा से की जाती हैं, उनको 'व्यायाम' कहते हैं। इस व्यायाम को 'मात्रा' में सेवन करना चाहिये। व्यायाम के गुण—

व्यायाम करने से शरीर में हल्कापन, काम करने की शक्ति, शरीर एवं यौवन का टिकाऊपन, दुःख को सहन करने की शक्ति, वात आदि दोषों का शमन, जठराग्नि की प्रदीप्ति होती है। ॥३१-३२॥

अधिक व्यायाम से हानियां—

श्रमः क्लमः क्षयस्तृष्णा रक्तपित्तं प्रतामकः।
अतिव्यायामतः कासो ज्वरश्छर्दिश्च जायते ॥ ३३ ॥

शरीर का थकान, मन और इन्द्रियों का थकान धातुओं का क्षय, रक्तपित्त रोग, प्रतमक संज्ञक श्वास, खांसी, ज्वर और वमन अधिक व्यायाम से उत्पन्न होते हैं ॥ ३३ ॥

व्यायाम-हास्य-भाष्याध्व-ग्राम्यधर्म-प्रजागरान्।
नोचितानपि सेवेत बुद्धिमानतिमात्रया ॥ ३४ ॥
एतानेवंविधांश्चान्यान् योऽतिमात्रं निषेवते।
गजः सिंहमिवाऽऽकर्षन् सहसा स विनश्यति ॥ ३५ ॥
उचितादहिताद्धीमान् क्रमशो विरमेन्नरः।

शरीर का परिश्रम, हँसना, ऊँचा या अधिक बोलना, (मार्ग चलना सफर करना), ग्राम्यधर्म, (मैथुन), प्रजागर (रात को जागना), इन उचित कार्यों को भी बुद्धिमान् मनुष्य अधिक मात्रा में सेवन न करे।

इन ऊपर लिखे हुए या अन्य इसी प्रकार के कार्यों को जो मनुष्य अधिक [illegible] सेवन करता है, जिस प्रकार कि हाथी सिंह, को खींचता हुआ [illegible] है, उसी प्रकार वह मनुष्य भी नष्ट हो जाता है। इसलिये बुद्धि-

मान् मनुष्य को चाहिये कि छोड़ने योग्य उन दुःखदायी कर्मों से क्रमशः हट जावे ॥ ३४–३५ ॥

हितं क्रमेण सेवेत, क्रमश्चात्रोपदिश्यते ॥ ३६ ॥
प्रक्षेपापचये ताभ्यां क्रमः पादांशिको भवेत् ।
एकान्तरं ततश्चोर्ध्वं द्व्यान्तरं त्र्यन्तरं तथा ॥ ३७ ॥
क्रमेणापचिता दोषाः क्रमेणोपचिता गुणाः ।
सन्तो यान्त्यपुनर्भावमप्रकम्प्या भवन्ति च ॥ ३८ ॥

हितकारी कार्यों का (क्रमशः) सेवन करना चाहिये । यहां अब क्रम का उपदेश करते हैं । छोड़ने लायक (सचय करन योग्य) कार्य को चौथाई भाग करके क्रम से सेवन करना चाहिये । फिर दो और फिर तीन भाग छोड़ कर ग्रहण करना चाहिये । अर्थात् छोड़ने योग्य एवं ग्रहण करने योग्य कार्य दोनों के चार चार भाग करने चाहिये । छोड़ने योग्य कर्म का एक भाग छोड़कर ग्रहण करने योग्य कर्म का एक भाग उसके स्थान पर ग्रहण करना चाहिये । फिर दो भाग छोड़ कर दो भाग ग्रहण करने चाहिये और फिर तीन भाग छोड़ कर तीन भाग ग्रहण करने चाहिये और पुनः सारा छोड़कर सारा ग्रहण कर लेना चाहिये । ग्रहण करते समय एक दो तीन चार दिन का अन्तर क्रम से देना चाहिये । छोड़ने योग्य कर्म को चतुर्थांश छोड़ कर ग्रहण करने योग्य कर्म का चतुर्थांश ग्रहण करे । इस विधान को एक दिन बरते । तीसरे दिन छोड़ने योग्य कर्म के दो भाग छोड़ कर ग्रहण करने योग्य कर्म के दो भाग ग्रहण करे–इस प्रकार दो दिन करें । फिर तीन भाग छोड़कर ग्रहण करने योग्य कर्म के तीन भाग ग्रहण करे–इस प्रकार तीन दिन करे और फिर सारा कर्म छोड़कर सम्पूर्ण का ग्रहण कर लेवे । ऊपर बताये हुए क्रम पूर्वक छोड़े हुए दोष फिर पैदा नहीं होते और क्रम से ग्रहण किये हुए गुण नष्ट नहीं होते, चिरकाल तक स्थिर रहते हैं । हितकारी पदार्थ भी सहसा उपयोग करने से अग्निनाश, अरुचि आदि करते हैं, इसलिये इनको भी क्रम से ही ग्रहण करना चाहिये । इन सब कार्यों में मनुष्य की प्रकृति का ज्ञान अपेक्षित है, क्योंकि कुछ कार्य ऐसे हैं जो कि एक के लिये अहितकारी हों, परन्तु दूसरे के लिये हितकारी ॥ ३६–३८ ॥

सम-पित्तानिल-कफाः केचिद् गर्भादि-मानवाः ।
दृश्यन्ते वातलाः केचित्पित्तलाः श्लेष्मलास्तथा ॥ ३९ ॥
तेषामनातुराः पूर्वे, वातलाद्याः सदाऽऽतुराः ।
दोषानुशयिता ह्येषां देहप्रकृतिरुच्यते ॥ ४० ॥

विपरीत-गुणस्तेषां स्वस्थवृत्तेर्विधिर्हितः ।
सम-सर्व-रसं सात्म्यं समधातोः प्रशस्यते ॥ ४१ ॥

कुछ मनुष्य जन्म या गर्भकाल से ही पित्त, वायु, कफ की असमानावस्था वाले होते हैं और कुछ मनुष्य गर्भाधान काल से ही वात प्रकृति वाले, पित्त प्रकृति वाले और कफ प्रकृति वाले होते हैं। इन में पित्त वायु और कफ की साम्यावस्था वाले मनुष्य प्रायः नीरोग रहते हैं, और वात प्रकृति या पित्त प्रकृति अथवा कफ प्रकृति के मनुष्य सदा रोगी रहते हैं। इन में वातादि दोषों का सात्म्य अर्थात् अनुकूल हो जाना ही शरीर की 'प्रकृति' कही जाती है। अर्थात् वात प्रकृति वाले मनुष्य में वात दोष उस के शरीर के अनुकूल हो जाता है। इसलिये वही उसकी प्रकृति है, प्रकृति होने से वात उस में दोष नहीं, परन्तु जब स्वस्थावस्था में वात बढ़ेगा तभी दोष होगा। जिस प्रकार कि विषकीट अपने विष से नहीं मरता, उसी प्रकार प्रकृतिस्थ वात से भी वात प्रकृति का मनुष्य पीड़ित नहीं होता। इन वात आदि की अधिकता में वात आदि के विपरीत विरुद्ध गुणों का इनके कारणों के विपरीत गुण भी सेवन करना स्वास्थ्य के लिये कल्याणकारी उपाय है। और पित्त, वायु और कफ की समानता वाली प्रकृति के मनुष्यों के लिये सब (मधुर अम्ल, लवण, तिक्त, कटु और कषाय) रसों का समानावस्था में अभ्यास करना उत्तम है। समान धातुवों वाला आदमी प्रशस्त है ॥ ३९--४१ ॥

द्वे अधः सप्त शिरसि खानि स्वेदमुखानि च ।
मलायनानि बाध्यन्ते दुष्टैर्मात्राधिकैर्मलैः ॥ ४२ ॥
मलवृद्धिं गुरुत्वेन लाघवान्मलसंक्षयम् ।
मलायनानां बुद्ध्येत सङ्गोत्सर्गादतीव च ॥ ४३ ॥
तान्दोषलिङ्गैरादिश्य व्याधीन् साध्यानुपाचरेत् ।
व्याधि-हेतु-प्रतिद्वन्द्वैर्मात्रा-कालौ विचारयन् ॥ ४४ ॥
विषम-स्वस्थ-वृत्तानामेते रोगास्तथाऽपरे ।
जायन्तेऽनातुरस्तस्मात्स्वस्थ-वृत्त-परो भवेत् ॥ ४५ ॥

जब मल परिमाण से अधिक हो जाते हैं, तब वे विकृत होकर मल के स्थानों को पीड़ित करते हैं, मल के स्थान नीचे के दो--गुदा और उपस्थ (स्त्रियों में योनि भी); शिर में सात--दो नाक, दो कान, दो आंखें और एक मुख, [illegible] निकलने के सब छिद्र ये मल के स्थान हैं, मल इनको पीड़ित करते हैं। [illegible] भारीपन होने से मल की वृद्धि समझनी चाहिये और शरीर में हल्कापन

होने से मल का क्षय समझना चाहिये। मल के स्थानों से मल के न निकलने से मल का क्षय, मल स्थानों से मल का बार-बार अधिक बाहर निकलना वृद्धि को बताता है। मलों की वृद्धि और क्षय दूसरों के कारण हुए हैं, यह समझकर उनके चिन्हों से पहिचानकर उन से उत्पन्न साध्य रोगों को रोग और व्याधि के हेतु इन दोनों के विपरीत गुण, वीर्य, विपाक और प्रभाव से विरुद्ध औषध, आहार और विहार द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। चिकित्सा करते समय वैद्य मात्रा औषध, आहार और विहार का परिमाण काल, दोष, व्याधि के प्रकोप, ऋतु, रात, दिन आदि समयों का विचार कर ले। ये विषम धातु वाले रोगी और नीरोगी इन दोनों के लिये हितकारी हैं, धातु की विषमता से उत्पन्न होने वाले रोग और मानस या आगन्तुज रोग नहीं उत्पन्न होते। इसलिये मनुष्य रोगी नहीं होता, रोगी न हो अतः रोगी होने से पूर्व ही स्वस्थवृत्त का सेवन करना चाहिये ॥ ४२-४५ ॥

कारण से उत्पन्न होने वाले रोगों से बचने के उपाय—

माधव-प्रथमे मासि नभस्य-प्रथमे पुनः।
सहस्य-प्रथमे चैव हारयेद्दोषसंचयम् ॥ ४६ ॥
स्निग्ध-स्विन्न-शरीराणामूर्ध्वं चाधश्च बुद्धिमान्।
बस्तिकर्म ततः कुर्यान्नस्तः कर्म च बुद्धिमान् ॥ ४७ ॥
यथाक्रमं यथायोगमत ऊर्ध्वं प्रयोजयेत्।
रसायनानि सिद्धानि वृष्ययोगांश्च कालवित् ॥ ४८ ॥
रोगास्तथा न जायन्ते प्रकृतिस्थेषु धातुषु।
धातवश्चाभिवर्धन्ते जरा-मान्द्यमुपैति च ॥ ४९ ॥
विधिरेष विकाराणामनुत्पत्तौ निदर्शितः।
निजानामितरेषां तु पृथगेवोपदिश्यते ॥ ५० ॥

वैशाख और इस से पूर्व के मास अर्थात् चैत्र में, और भाद्रपद, इससे पूर्वके मास अर्थात् श्रावण में तथा पौष इससे मास पूर्व के मार्गशीर्ष में एकत्रित दोषों को वमन विरेचन आदि से निकाल देना चाहिये। हेमन्त ऋतु में संचित कफ को चैत्र मास में ग्रीष्म में संचित वायुको श्रावण मास में, वर्षा में संचित पित्त को मार्गशीर्ष में निकाल देना चाहिये। इन मासों में दोषों के प्रकोप होने का भय रहता है, इसलिये प्रकोप होने से पूर्व ही दोषों को निकाल देना चाहिये। पहिले शरीर को स्नि[illegible] और आदि से चिकना करके पसीना देना चाहिये जिससे कि शरीर के [illegible]

जायें। स्नेहन और स्वेदन के पीछे वमन कार्य और विरेचन कराना चाहिये। इन के पीछे बस्ति कर्म और अन्त में नस्य कर्म अर्थात् शिरोविरेचन देना चाहिये। स्निग्ध और स्विन्न शरीर वाले पुरुषों के लिये वमन कफ नाशक होने से चैत्र में, अनुवासन, बस्तिकर्म वात हर होने से श्रावण मास में एवं पित्त-नाशक होने से विरेचन मार्गशीर्ष मास में लेना चाहिये। अथवा चैत्र मास में वमन के पीछे विरेचन, मार्गशीर्ष में विरेचन से पूर्व वमन और फिर चैत्र और मार्गशीर्ष दोनों में बस्तिकर्म एवं नस्य कर्म करना चाहिये। चैत्र में यदि वमनादि कार्य कर लिए हों तो श्रावण मास में अनुवासन और आस्थापन करना चाहिये। और यदि चैत्र में वमनादि न किये हों तो वमन विरेचन करके फिर बस्तिकर्म और नस्य कर्म करना चाहिये। स्नेह के पीछे स्वेद, स्वेद के पीछे वमन, वमन के पीछे विरेचन, विरेचन के पीछे बस्तिकर्म और बस्तिकर्म के पीछे नस्य देना चाहिये। प्रथम स्वेदन, वमन, विरेचन, बस्ति और नस्य कर्म ये क्रमशः तथा जिस पुरुष के लिये जो २ कर्म योग्य हों उन्हें करने के पीछे जरा और रोग को दूर करने वाली औषध का उपयोग करना चाहिये। रसायन सेवन के पीछे सिद्ध एवं वृष्य पौष्टिक प्रयोगों का सेवन समय को जानने वाला वैद्य करावे। रस रक्तादि धातुओं के प्रकृतिस्थ होने से शरीर में दोषजन्य रोग नहीं होते। वृष्य आदि क्रिया करने से रस रक्तादि बढ़ते हैं और बुढ़ापे का अन्त हो जाता है, बुढ़ापा नहीं आता। यह उपरोक्त विधि शरीर-दोषजन्य रोगों की अनुत्पत्ति के लिये कहा है। आगन्तुक रोगों के लिये भिन्न विधि कहते हैं।

ये भूत-विष-वाय्वग्नि-संप्रहारादि-संभवाः।
नृणामागन्तवो रोगाः प्रज्ञा तेष्वपराध्यति ॥ ५१ ॥
ईर्ष्या-शोक-भय-क्रोध-मान-द्वेषादयश्च ये।
मनो-विकारास्तेऽप्युक्ताः सर्वे प्रज्ञापराधजाः ॥ ५२ ॥

जो कि (भूत) नाना सूक्ष्म प्राणी ग्रह आदि, (विष) स्थावर या जंगम विष, (वायु) झंझावात, (अग्नि) ज्वालामुखी, दावानल आदि (संप्रहार) चोट आदि से मनुष्यों के 'आगन्तुज' अर्थात् बाहर से होने वाले रोग होते हैं, उन में बुद्धि का अपराध मिथ्या या अन्यथा रूप में प्रयोग हुआ होता है। मत्सर), शोक, भय, क्रोध, अभिमान, द्वेष आदि मन के विकार अर्थात् वात आदि दोषजन्य नहीं प्रत्युत ये सब बुद्धि के दोष से ही उत्पन्न —५२ ॥

आगन्तुज रोगों के प्रतीकार—

त्यागः प्रज्ञापराधानामिन्द्रियोपशमः स्मृतिः ।
देश-कालात्म-विज्ञानं सद्वृत्तस्यानुवर्त्तनम् ॥ ५३ ॥
आगन्तूनामनुत्पत्तावेष मार्गो निदर्शितः ।
प्राज्ञः प्रागेव तत्कुर्याद्धितं विद्याद्यदात्मनः ॥ ५४ ॥
आप्तोपदेश-प्रज्ञानं प्रतिपत्तिश्च कारणम् ।
विकाराणामनुत्पत्तावुत्पन्नानाञ्च शान्तये ॥ ५५ ॥

आगन्तुज एवं मानसिक रोग बुद्धि के दोष से उत्पन्न होते हैं, इस लिये इस प्रज्ञापराध को छोड़ना चाहिये । इन्द्रियों को विषयों से रोकना बुद्धि, स्मृति, भगवान् का स्मरण, देश काल और आत्मा का चिन्तन, (सद् वृत्त) सच्चे, कल्याणकारी मार्ग का अनुसरण करना, यह विधि आगन्तुज रोगों की उत्पत्ति से बचने का मार्ग है । इस प्रकार बरतने से आगन्तुज रोग उत्पन्न नहीं होते । बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिये कि अपने लिये जो हितकारी काम हों उनको रोगोत्पत्ति से पूर्व ही करे ।

(आप्तोपदेश) रजस् और तमस् से मुक्त निर्भ्रान्त विद्वानों के उपदेश और (प्रज्ञान) बुद्धि से सिद्ध, प्रमाण द्वारा सिद्ध किये, बुद्धि से स्वीकार किये ये दोनों मानसिक विकारों की अनुत्पत्ति में तथा उत्पन्न विकारों की शान्ति में कारण है ॥ ५३-५५ ॥

वर्जने योग्य मनुष्य—

पाप-वृत्त-वचःसत्त्वाः सूचकाः कलह-प्रियाः ।
मर्मोपहासिनो लुब्धाः पर-वृद्धि-द्विषः शठाः ॥ ५६ ॥
परापवाद-रतयश्चपला रिपु-सेविनः ।
निर्घृणास्त्यक्तधर्माणः परिवर्ज्या नराधमाः ॥ ५७ ॥

जिनकी वाणी और मन पापमय हों, चुगलखोर, झगड़ालू, कमजोरी या छिद्र को ढूँढ़कर उस पर हंसनेवाले, लालची, जो दूसरों की उन्नति में द्वेष भाव रखते हैं, दूसरों की निन्दा ही करना जिनका काम है, चंचल प्रकृति, अस्थिर मन, दुश्मन से मिले हुए, या काम क्रोधादि के वशीभूत, दयारहित, निर्दयी, धर्म से न डरने वाले, ऐसे नीच पुरुषों को छोड़ देना चाहिये ॥५६-५७॥

सेवन करने योग्य मनुष्य—

बुद्धि-विद्या-वयः-शील-धैर्य-स्मृति-समाधिभिः ।
वृद्धोपसेविनो वृद्धाः स्वभावज्ञा गत-व्यथाः ॥५८॥

सुमुखाः सर्वभूतानां प्रशान्ताः शंसित-व्रताः ।
सेव्याः सन्मार्ग-वक्तारः पुण्य-श्रवण-दर्शनाः ॥५९॥

जो बुद्धि, विद्या, आयु, शील, स्वभाव, धैर्य साहस, स्मरण शक्ति, (समाधि) मन का संयम आदि में अपने से बड़े हों, जो वृद्धों की सेवा करते हों, स्वभाव को जानने वाले, अनुभवी, जिनको कि किसी प्रकार की चिन्ता नहीं, सुमुख—सब प्राणियों के लिये प्रसन्नमुख, (प्रशान्त) इन्द्रियों के विषयों से निवृत्त, ब्रह्मचारी, सच्चे मार्ग का उपदेश करने वाले, पुण्य शब्दों को सुनाने वाले एवं पुण्य दर्शनशील, जिनका शब्द और दर्शन पवित्र करता है, इस प्रकार के आप्त पुरुषों का सेवन करना चाहिये, उनको गुरु मानना चाहिये, ये ज्ञान, विज्ञान धैर्य स्मृति आदि की शिक्षा देकर मानस रोगों को नष्ट कर सकते हैं ॥

आहाराऽऽचारचेष्टासु सुखार्थी प्रेत्य चेह च ।
परं प्रयत्नमातिष्ठेद् बुद्धिमान् हितसेवने ॥ ६० ॥
न नक्तं दधि भुञ्जीत न चाप्यघृत-शर्करम् ।
नामुद्गसूपं नाक्षौद्रं नोष्णं नाऽऽमलकैर्विना ॥ ६१ ॥
(अलक्ष्मी-दोष-युक्तत्वान्नक्तं तु दधि वर्जितम् ।
श्लेष्मलं स्यात्ससर्पिष्कं दधि मारुत-सूदनम् ॥ ६२ ॥
न च सन्धुक्षयेत्पित्तमाहारं च विपाचयेत् ।
शर्करा-संयुतं दद्यात्तृष्णा-दाह-निवारणम् ॥ ६३ ॥
मुद्गसूपेन संयुक्तं दद्याद्रक्तानिलापहम् ।
सुरसं चाल्पदोषं च क्षौद्रयुक्तं भवेद्दधि ।
उष्णं पित्तास्रकृद्दोषान् धात्रीयुक्तं तु निर्हरेत् ॥ ६४ ॥
ज्वरासृक्पित्त-वीसर्प-कुष्ठ-पाण्ड्वामय-भ्रमान् ।
प्राप्नुयात्कामलां चोग्रां विधिं हित्वा दधिप्रियः) ॥ ६५ ॥

इहलोक और परलोक में सुख चाहने वाले बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिये कि हितकारी आहार, खान पान, आचार वर्त्तन और चेष्टा-क्रियाओं इन में विशेष रूप से यत्नवान् रहे ।

रात्रि में दही नहीं खाना चाहिये, और रात के सिवाय अन्य समय में जब खाना हो तब भी घी या शक्कर के बिना, मूंग की दाल के बिना, शहद के बिना [illegible] किये बिना, अथवा आंवले के बिना नहीं खाना चाहिये। जब खाना हो [illegible], शहद, आंवला इन के साथ या गरम करके खाना चाहिये। रात [illegible] भी प्रकार से नहीं खाना चाहिये। रात्रि में दही खाने से शरीर की

श्लेष्मा और स्वास्थ्य नष्ट हो जाते हैं और शरीर के दोष कुपित होते हैं। दही में घी मिलाने से दही कफकारक हो जाता है, परन्तु वायु का नाश करता है। शर्करा युक्त दही 'पित्त' (जठराग्नि या पित्त को) नहीं बढ़ाता, परन्तु आहार भोजन को पचा देता है। इस लिये तृष्णा, प्यास और कलेजे की जलन को मिटाता है। मूंग के साथ मिलाकर दही खाने से 'वातरक्त' रोग में लाभ होता है। शहद के मिलाने से दही सुस्वाद और थोड़ा दोष वाला हो जाता है। दही को गरम करके खाने से रक्तपित्त जन्य विकार नष्ट होते हैं, आंवले के साथ खाने से भी रक्त पित्त रोग शान्त होता है। बहुत दही खाने वाला मनुष्य जो इस उपरोक्त विधि को छोड़ कर दही खाता है, उसको ज्वर, रक्तपित्त, वीसर्प, कुष्ठ, पाण्डुरोग, भ्रम, और तीव्र कामला रोग हो जाते हैं ॥ ६०–६५ ॥

तत्र श्लोकाः—

वेगा वेगसमुत्थाश्च रोगास्तेषां च भेषजम्।
येषां वेगा विधार्याश्च यदर्थं यद्धिताहितम् ॥ ६६ ॥
उचिते चाहिते वर्ज्ये सेव्ये चानुचिते क्रमः।
यथाप्रकृति चाऽऽहारो मलायनगदौषधम् ॥ ६७ ॥
भविष्यतामनुत्पत्तौ रोगाणामौषधं च यत्।
वर्ज्याः सेव्याश्च पुरुषा धीमताऽऽत्म-सुखार्थिना ॥ ६८ ॥
विधिना दधि सेव्यं च येन यस्मात्तदत्रिजः।
न वेगान्धारणेऽध्याये सर्वमेवावदन्मुनिः ॥ ६९ ॥

मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले स्वाभाविक वेग, वेगों को रोकने से उत्पन्न होने वाले रोग, इन रोगों की औषध, जिन उपस्थित वेगों को धारण करना चाहिये, जिस के लिये जो लाभकारी है, उचित एवं अहितकारी, छोड़ने योग्य और सेवनीय क्रम प्रकृत के अनुसार आहार, मलस्थान मल की वृद्धि, क्षय, औषध, भविष्य में न होने वाले रोगों की औषध, सुख चाहने वाले बुद्धिमान् मनुष्य को जिन पुरुषों को छोड़ना या जिनका सेवन करना उचित है, और दही को सेवन करने की विधि यह सब आत्रेय मुनि ने 'न वेगान्धारणीय' नामक अध्याय में सम्पूर्ण रूप से उपदेश किया है ॥ ६६–६९ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने स्वस्थवृत्तचतुष्के
'न वेगान्धारणीयो' नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥ और

अष्टमोऽध्यायः ।

अथात इन्द्रियोपक्रमणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

आहार एवं 'स्वस्थ-चतुष्क' कहने के अनन्तर 'इन्द्रियोपक्रमणीय' नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

इह खलु पञ्चेन्द्रियाणि पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि पञ्चेन्द्रियार्थाः पञ्चेन्द्रियबुद्धयो भवन्तीत्युक्तमिन्द्रियाधिकारे ॥ ३ ॥

इस आयुर्वेद के प्रकरण में पाँच इन्द्रियाँ हैं। पाँच ही इन्द्रियों के ग्राह्य द्रव्य हैं। पांच ही इन्द्रियों के अधिष्ठान हैं। पाँच ही इन्द्रियों के अर्थ, पाँच प्रकार की इन्द्रियों का ज्ञान है ऐसा पूर्वाचार्यों ने इन्द्रियों के विषय में कहा है ॥

अतीन्द्रियं पुनर्मनः सत्त्वसञ्ज्ञकं चेत इत्याहुरेके, तदर्थात्मसंपत्तदायत्तचेष्टं चेष्टाप्रत्ययभूतमिन्द्रियाणाम् ॥ ४ ॥

'मन' अतीन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियों में सूक्ष्मतम है वह इसी मन को 'सत्त्व' कहते हैं। इसी मन को कितने 'चित्त' इस नाम से कहते हैं। वह मन अपने विषय और आत्मा इन की श्रेष्ठता के अधीन व्यापार वाला है और इन्द्रियों की चेष्टाओं का कारण है। एवं इन्द्रियों की चेष्टाओं, व्यापार वा प्रतीति का कारण मन ही है ॥ ४ ॥

स्वार्थेन्द्रियार्थ-संकल्प-व्यभिचरणाच्चानेकमेकस्मिन् पुरुषे सत्त्वम्, रजस्तमः-सत्त्व-गुण-योगाच्च; न चानेकत्वम्, नह्येकं ह्येककालमनेकेषु प्रवर्तते, तस्मान्नैक-काला सर्वेन्द्रिय-प्रवृत्तिः ॥ ५ ॥

वास्तव में 'मन' एक ही है, परन्तु इन्द्रियों के अपने २ द्रव्य में विषय के संकल्पों के बदलते रहने से एक पुरुष में अनेक मन एवं मन के सत्त्व गुण होने पर, सत्त्व, रजस्, तमस् इन गुणों के न्यूनाधिक होने से अनेक मन एकही मनुष्य में प्रतीत होते हैं। वास्तव में मन एक ही है अनेक नहीं है। क्योंकि एक ही समय में एक मन अनेक इन्द्रियों में प्रवृत्त नहीं हो सकता इसलिये एक ही समय में सब इन्द्रियों की प्रवृत्तियाँ चेष्टा नहीं होती ॥ ५ ॥

यद्गुणं चाभीक्ष्णं पुरुषमनुवर्तते सत्त्वम्, तत्सत्त्वमेवोपदिशन्ति मुनयो बाहुल्यानुशयात् ॥ ६ ॥

जिस गुण (सत्व, रजस् या तमस) वाला मन बार बार अनु-

सरण करता है, मन को उसी ही गुण वाला मुनि लोग कहते हैं। क्योंकि जिस गुण की अधिकता होगी उसी गुण वाला मन होगा ॥ ६ ॥

मनः-पुरःसराणीन्द्रियाण्यर्थ-ग्रहण-समर्थानि भवन्ति ॥ ७ ॥

इन्द्रियां मन को साथ में लेकर ही विषय के ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। बिना मन के इन्द्रियां विषय को ग्रहण नहीं कर सकतीं ॥ ७ ॥

तत्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शनमिति पञ्चेन्द्रियाणि ॥ ८ ॥

पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि—खं वायुर्ज्योतिरापो भूरिति ॥ ९ ॥

पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि अक्षिणी कर्णौ नासिके जिह्वा त्वक् चेति ॥१०॥

पञ्चेन्द्रियार्थाः—शब्द स्पर्श-रूप-रस गन्धाः ॥ ११ ॥

आंख, श्रोत्र, नासिका, जिह्वा और त्वचा ये पांच इन्द्रियां हैं। पांच इन्द्रियों के पांच ग्राह्य पदार्थ हैं, यथा आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी। इन्द्रियों के पांच अधिष्ठान हैं, तथा चक्षु गोलक दो, दोनों बाह्य कान, जीभ, दोनो नासिकायें और त्वचा। इन्द्रियों के पांच विषय हैं:—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। इन्द्रिय-ज्ञान भी पांच प्रकार का है—चक्षुर्ज्ञान, श्रोत्र-ज्ञान, गन्ध-ज्ञान, रस ज्ञान और स्पर्श ज्ञान ॥ ८-११ ॥

पञ्चेन्द्रियबुद्धयश्चक्षुर्बुद्ध्यादिकाः, ताः पुनरिन्द्रियेन्द्रियार्थसत्त्वात्मसंनिकर्षजाः क्षणिका निश्चयात्मिकाश्च, इत्येतत्पञ्चपञ्चकम् ॥१२॥

ये पांचों इन्द्रियों के विषय, मन और आत्मा इनका एक साथ संयोग होने से उत्पन्न होते हैं। यह और ही क्षणिक निश्चयात्मक (स्थायी ज्ञान) है। इस प्रकार से ये पांच-पांच पदार्थों के समूह होते हैं ॥ १२ ॥

मनो मनोऽर्थो बुद्धिरात्मा चेत्यध्यात्म-द्रव्य-गुण-संग्रहः शुभाशुभ-प्रवृत्तिनिवृत्ति हेतुश्च, द्रव्याश्रितं च कर्म, यदुच्यते क्रियेति ॥ १३ ॥

मन, मन के अर्थ (विषय), बुद्धि और आत्मा यह अध्यात्म द्रव्यों का और गुणों का संग्रह है। तथा जो कर्म द्रव्य में आश्रित है उसे क्रिया कहते हैं। 'शुभ' दोनों लोकों में कल्याणकारी, अशुभ (लोकों में निन्दित), प्रवृत्ति, निवृत्ति ये कारण हैं ॥१३ ॥

तत्रानुमानगम्यानां पञ्च-महाभूत-विकार-समुदायात्मकानामपि सतामिन्द्रियाणां तेजश्चक्षुषि, खं श्रोत्रे, घ्राणे क्षितिः, आपो रसने, स्पर्शनेऽनिलो विशेषेणोपदिश्यते ॥ १४ ॥

अनुमान द्वारा जानने योग्य इन्द्रियां पंचमहाभूतों के विकार के समू... उत्पन्न हुई हैं तो भी, तेज आंखों में, आकाश श्रोत्रों में, पृथिवी ... और जल रसना में और वायु त्वचा में विशेष रूप से रहते हैं ॥ १४ ॥

125791

तत्र यद्यदात्मकमिन्द्रियं विशेषात्तत्तदात्मकमेवार्थमनुधावति, तत्स्वभावाद्विभुत्वाच्च ॥ १५ ॥

इनमें जो जो इन्द्रियाँ, जिस जिस भूत से बनी हैं वे विशेष रूप से उसी उसी (भूत) से बने अर्थ (विषय) को ग्रहण करती हैं। ये अपने समान स्वभाव वाली होने से समान जातिवाले विषय को ग्रहण करने में समर्थ होने से प्रधान भूतात्मक विषय को ही ग्रहण करती है। यथा आंख तैजस है, इसलिये वह तेज की ओर दौड़ती है, कान अन्तरिक्ष जन्य है इसलिये शब्द की ओर दौड़ते हैं। स्पर्श वायव्य होने से वायु की ओर, जिह्वा आप्य है इसलिये रस की ओर और घ्राण पार्थिव होने से पृथिवी की ओर दौड़ती है ॥ १५ ॥

यदर्थातियोगायोग-मिथ्यायोगात्समनस्कमिन्द्रियं विकृतिमापद्यमानं यथास्वं बुद्ध्युपघाताय संपद्यते, सामयोगात्पुनः प्रकृतिमापद्यमानं यथास्वं बुद्धिमाप्याययति ॥ १६ ॥

इनमें मन के साथ इन्द्रिय का विषय में अतियोग, अयोग, या मिथ्यायोग होने से 'विकृति' अर्थात् रोग उत्पन्न होकर अपने अपने ज्ञान के नाश के लिये उद्यत हो जाता है। समयोग से इन्द्रिय स्वभाव में रहकर अपने अपने ज्ञान की वृद्धि करती हैं। समान अर्थात् उचित योग से वृद्धि होती है ॥ १६ ॥

मनसस्तु चिन्त्यमर्थः, तत्र मनसो बुद्धेश्च त एव समानाति हीन-मिथ्यायोगाः प्रकृति-विकृति-हेतवो भवन्ति ॥ १७ ॥

मन का विषय चिन्तन करना है (सुख, दुःख, प्रयत्न आदि चिन्तनीय होने से मन के विषय हैं)। इसलिये मन और बुद्धि का समान योग स्वस्थता कारण है और मन एवं बुद्धि का अतियोग या हीनयोग अथवा मिथ्यायोग विकृति अर्थात् 'विकार' या रोग का कारण है ॥ १७ ॥

तत्रेन्द्रियाणां समनस्कानामनुपतप्तानामनुपतापाय प्रकृतिभावे प्रयतितव्यमेभिर्हेतुभिः। तद्यथा—सात्म्येन्द्रियार्थसंयोगेन, बुद्ध्या सम्यगवेक्ष्यावेक्ष्य कर्मणां सम्यक्प्रतिपादनेन, देशकालात्मगुणविपरीतोपसेवनेन चेति। तस्मादात्महितं चिकीर्षता सर्वेण सर्वं सर्वदा स्मृतिमास्थाय सद्वृत्तमनुष्ठेयम्। तद्ध्यनुष्ठितं युगपत्संपादयत्यर्थद्वयमारोग्यमिन्द्रियविजयं चेति ॥ १८ ॥

इसलिये अपनी प्रकृति में स्थित मन सहित इन्द्रियों को स्वस्थ तथा अपने स्वभाव में रखने के लिये, विकृति से बचाने के लिये निम्न कारणों द्वारा प्रयत्न । उचित अनुकूल रूप से इन्द्रिय और विषय के संयोग न अति,

न हीन और न मिथ्यासंयोग से, एवं बुद्धि द्वारा भली प्रकार देखकर कर्मों को उचित रूप में करने से और देश, काल, आत्मा के गुण के अविपरीत, हितकारी वस्तुओं के सेवन करने से इन्द्रियां उपतप्त न होकर प्रकृति अवस्था में रहती हैं। इसलिये अपना या अपने शरीर का और आत्मा का कल्याण चाहने वाले सब पुरुषों को सदा स्मरण रखकर सद्वृत्त का (पांचों इन्द्रियां को मन के साथ संयुक्त करके) मन, वचन और कर्म से पालन करना चाहिये।

इस सद्वृत्त के पालन करने से आरोग्यता एवं 'इन्द्रियविजय' दोनों कार्य एक साथ ही सिद्ध हो जाते हैं ॥ १८ ॥

तत्सद्वृत्तमखिलेनोपदेक्ष्यामः। तद्यथा—देव-गो-ब्राह्मण-गुरु-वृद्ध-सिद्धाचार्यानर्चयेत्, अग्निमुपाचरेत्, ओषधीः प्रशस्ता धारयेत्, द्वौ कालावुपस्पृशेत्, मलायनेष्वभीक्ष्णं पादयोश्च वैमल्यमादध्यात्, त्रिः पक्षस्य केश-श्मश्रु-लोम-नखान् संहारयेत्, नित्यमनुपहतवासाः सुमनाः सुगन्धिः स्यात् ॥ १९ ॥

इस सद्वृत्त को सम्पूर्ण रूप में कहते हैं—देवता, गौ, ब्राह्मण, गुरु (माता पिता अभ्यागत अतिथि) वृद्ध (विद्यावृद्ध, धनवृद्ध, आयुवृद्ध, शौर्यवृद्ध,) सिद्ध (तापस, भिक्षुक), आचार्य (उपनयन संस्कार करने वाले गुरु), इनकी पूजा सेवा करनी चाहिये। अग्निहोत्र प्रातःसायं दोनों समय करना चाहिये, अनिन्दित, (दोषों को नष्ट करने वाली ओषधियां) वनस्पतियां, धारण करनी चाहियें। दोनों समय प्रातःसायं स्नान करना चाहिये। मल के स्थानों को बार बार एवं पांव को सदा पवित्र रक्खे। बाल, दाढ़ी, मूंछ नाखून, कक्ष के एवं गुह्य स्थानों के बालों को पन्द्रह दिन में तीन बार, पांच पांच दिन के पीछे कटवाना चाहिये। नित्य प्रति शुद्ध वस्त्र धारण करे, प्रसन्न मन रहे, सुगन्ध धारण करे ॥ १९ ॥

साधुवेशः प्रसाधितकेशो मूर्ध-श्रोत्र घ्राण-पाद-तैल-नित्यो धूमपः, पूर्वाभिभाषी, सुमुखः, दुर्गेष्वभ्युपपत्ता, होता, यष्टा, दाता, चतुष्पथानां नमस्कर्त्ता, बलीनामुपहर्ता, अतिथीनां पूजकः, पितृभ्यः पिण्डदः, काले हित-मित-मधुरार्थवादी, वश्यात्मा, धर्मात्मा, हेतावीर्षुः, फले नेर्षुः, निश्चिन्तः, निर्भीकः, धीमान्, ह्रीमान्, महोत्साही, दक्षः, क्षमावान्, धार्मिकः आस्तिकोः, विनय-बुद्धि-विद्याऽभिजन-वयोवृद्ध-सिद्धाचार्याणामुपासिता, छत्री, दण्डी, मौली, सोपानत्कः, युगमात्रदृग्विचरेत्, मङ्गलाचारशील· कुचेलाऽस्थि-कण्टकामेध्य-केश-तुषोत्कर-भस्म-कपाल-स्नान-बलि· · और परिहर्त्ता, प्राक् श्रमाद् व्यायामवर्जी च स्यात्, सर्वप्राणिषु· ·

स्यात्, क्रुद्धानामनुनेता, भीतानामाश्वासयिता, दीनानामभ्युपपत्ता, सत्यसन्धः, सामप्रधानः, पर-पुरुष-वचन-सहिष्णुः, अमर्षघ्नः, प्रशम-गुणदर्शी, राग-द्वेष-हेतूनां हन्ता च ॥ २० ॥

उत्तमवेश धारण करे, शिर के बाल संवार कर कंघी कर रक्खे, शिर, कान त्वचा पर तैल का मर्दन करे, नित्य प्रति प्रायोगिक धूमपान करे, घर आये हुए का या मिलने पर पहिले कुशल क्षेम पूछे, सुमुख, सुन्दर, प्रसन्न चेहरे वाला कठिन अवसरों पर भी सोचकर काम करने वाला, होम करने वाला, यज्ञ—देवयज्ञ. पितृयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, वैश्वदेव यज्ञ और नृयज्ञ करने वाला, दान देनेवाला, चौराहों को नमस्कार करने वाला, देवता के लिये उपहार भेंट देने वाला, अभ्यागतों की पूजा करने वाला, पिता पितामह आदि को श्रद्धापूर्वक अन्न वस्त्र देने वाला हो, समय पर हित परिमित और मधुर अर्थ से युक्त वाणी बोले। जितेन्द्रिय संयमी, धर्मात्मा हो, दूसरे की उन्नति को देखकर उन्नति करने में ईर्षा भाव रखे कि मैं भी ऐसा करूँ जिस से मेरी भी उन्नति हो, परन्तु फल में ईर्षा न करे। चिन्ता रहित न डरने वाला, साहसी आहार और व्यवहार को छोड़कर अन्यत्र लज्जाशील, महत्त्वाकांक्षी, उत्साही, कामों में निपुण, प्राणियों पर क्षमा करनेवाला, अपकारी को भी क्षमा देने वाला धर्म में चित्त रखने वाला, आस्तिक (वेदादि सत् शास्त्रों को मानने वाला), विनय बुद्धि, विद्या, अभिजन (पवित्र कुलोत्पत्ति से), और आयु में जो बड़े हों, सिद्ध, तप से जो बड़े हों ऐसे तपस्वी, और आचार्य्य (सावित्री का उपदेश देने वाले गुरु) इनकी सेवा करे। छत्र और दण्ड धारण करे, व्यर्थ या अकाल में न बोले, जूता पहिने, अपने चारों ओर कुछ दूर (चार हाथ) तक देखता हुआ चले। मंगलजनक क्रियाशील रहे, कुचैले (मैले वस्त्र), हाड़-मांस, कांटे युक्त, अमेध्य अपवित्र (श्मशान आदि,) बाल, धान्यों के तुष, रोड़े-कंकड़ आदि, राख, घड़े आदि के ठीकरे, नहाने के स्थान, पूजा स्थान, इन स्थानों को छोड़ने वाला हो। श्रम से पूर्व ही आधी (शक्ति से) व्यायाम को छोड़ दे, सब प्राणियों में बन्धुभाव भ्रातृ भाव रखने वाला, क्रोधी पुरुषों को मनालेने वाला, डरे हुए पुरुषों के लिये आश्वासन (सांत्वना), देने वाला, दीनों ग़रीबों के लिये उपकार करने वाला, सत्य प्रतिज्ञा वाला, शान्ति को मुख्य गिनने वाला, [illegible] के कठोर बचनों को सहन करने वाला, अक्रोधी, क्रोधियों को शान्त शान्तिमान्, लड़ाई झगड़े के कारणों को नष्ट करने वाला हो ॥२०॥

[illegible]यात्, नान्यस्वमादद्यात्, नान्यस्त्रियमभिलषेन्नान्यश्रियम्,

न वैरं रोचयेत्, न कुर्यात्पापम्, न पापेऽपि पापी स्यात्, नान्यदोषान् ब्रूयात्, नान्यरहस्यमागमयेत्, नाधार्मिकैर्न नरेन्द्रद्विष्टैः सहाऽऽसीत, नोन्मत्तैर्न पतितैर्न भ्रूणहन्तृभिर्न क्षुद्रैर्न दुष्टैः, न दुष्टयानान्यारोहेत्, न जानुसमं कठिनमासनमध्यासीत, नानास्तीर्णमनुपहितमविशालमसमं वा शयनं प्रपद्येत, न गिरि-विषम-मस्तकेष्वनुचरेत्, न द्रुममारोहेत्, न जलोग्रवेगमवगाहेत, कूलच्छायां नोपासीत, नाग्न्युत्पातमभितश्चरेत्, नोच्चैर्हसेत, न शब्दवन्तं मारुतं मुञ्चेत्, नासंवृतमुखो जृम्भां क्षवथुं हास्यं वा प्रवर्तयेत्, न नासिकां कुष्णीयात्, न दन्तान् विघट्टयेत्, न नखान् वादयेत्, नास्थीन्यभिहन्यात्, न भूमिं विलिखेत्, न छिन्द्यात्तृणम्, न लोष्टं मृद्नीयात्, न विगुणमङ्गैश्चेष्टेत, ज्योतींष्यनिष्टममेध्यमशस्तञ्च नाभिवीक्षेत, न हुङ्कुर्याच्छवम्, न चैत्य-ध्वज-गुरु-पूज्याशस्त-च्छायामाक्रामेत्, न क्षपास्वमर-सदन-चैत्य-चत्वर-चतुष्पथोपवन-श्मशानाघातनान्यासेवेत, नैकः शून्यगृहं न चाटवीमनुप्रविशेत्, न पापवृत्तान् स्त्री-मित्र-भृत्यान् भजेत, नोत्तमैर्विरुध्येत, नावरानुपासीत, न जिह्मं रोचयेत्, नानार्यमाश्रयेत्, न भयमुत्पादयेत्, न साहसातिस्वप्न-प्रजागर-स्नान-पानाशनान्यासेवेत, नोर्ध्वजानुश्चिरं तिष्ठेत्, न व्यालानुपसर्पेन्न दंष्ट्रिणो न विषाणिनः, पुरोवातातपावश्यायातिप्रवातान् जह्यात्, कलिं नाऽऽरभेत, नासुनिभृतोऽग्निमुपासीत, नोच्छिष्टो नाधःकृत्वा प्रतापयेत्, नाविगतक्लमो नाप्लुतवदनो न नग्न उपस्पृशेत्, न स्नानशाट्या स्पृशेदुत्तमाङ्गम्, न केशाग्राण्यभिहन्यात्, नोपस्पृश्य ते एव वाससी बिभृयात्, नास्पृष्ट्वा रत्नाज्य-पूज्य-मङ्गल-सुमनसोऽभिनिष्क्रामेत्, न पूज्य-मङ्गलान्यपसव्यं गच्छेत्, नेतराण्यनुदक्षिणम्॥

झूठ न बोले, दूसरे के धन को न लेवे, दूसरे की स्त्री को न चाहे, दूसरे की सम्पत्ति की चाहना न करे, वैर न करे, पाप न करे, पाप में मन न लगाये अथवा पापी पुरुष पर भी पाप न करे, दूसरों के दोषों को न कहे, दूसरों की गुप्त बातों को न जाने अधार्मिक, एवं राजा से द्वेष करने वाले (राजशत्रुओं) के साथ न बैठे, पागल, पतित, नीच कर्म करने वाले, चाण्डाल आदि, भ्रूण-घाती (गर्भपात करने वाले) क्षुद्र, (छोटे पुरुष) दुष्ट (चोर डाकू आदि) के साथ न बैठे। दुष्टयान (अनभ्यस्त घोड़े आदि) पर न बैठे, घुटने ऊ कर (उत्कट आसन से) भी देर तक न बैठे, बिना नीचे बिछाये, त [illegible] और हाने रक्खे बिना, संकुचित स्थान पर, ऊंची नीची जगह पर न सोये [illegible]

ऊंचे नीचे प्रदेशों में या चोटियों पर न घूमे फिरे, वृक्ष पर न चढ़े, पानी के तेज प्रवाह में स्नान न करे। नदी के किनारे खड़े वृक्ष की छाया में नहीं बैठे, अग्नि की लपट के चारों ओर न फिरे। ऊंचे से (जोर से) न हंसे। शब्द के साथ अधोवायु, (अपान वायु) न छोड़े, मुख को बिना ढांपे जम्भाई, छींक अथवा हास्य-हंसी न करे, नाक को न कुरेदे, दांतों को न किटकिटाये। नखों को न रगड़े, अस्थियों को न बजाये, भूमि को न कुरेदे, भूमि पर न लिखे, तिनके न तोड़े, मिट्टी के ढेले को न फोड़े, अंगों को व्यर्थ में टेढ़ा मेढ़ा न करे, न हिलाये। ज्योति (तैजस पदार्थ) सूर्य्य, अग्नि, तीव्राग्नि, अपवित्र चिता आदि निन्दित वस्तुओं को न देखे। शव को देखकर हुंकार न छोड़े, चैत्य (गांव के देवता) ध्वजा, पताका, गुरु माता पिता, आचार्य, पूज्य आदरणीय, प्रशस्त कल्याणकारी वस्तुओं की छाया को न लांघे, रात्रि में देवालय, मन्दिर, चैत्य (ग्राम्य देवता) गृह, आगन, चौराहा, बाग, श्मशान, (वध स्थान) में न रहे। अकेला एकान्त गृह में, शून्य घर में या जंगल में प्रवेश न करे। पापवृत्ति वाले स्त्री, मित्र अथवा नौकर का साथ न दे, अपने से श्रेष्ठों के साथ विरोध न करे, अपने से नीच हीन की सेवा न करे। कुटिल की चाहना न करे, अनार्य दुष्ट का आश्रय न ले, किसी के लिये भय उत्पन्न न करे, अतिसाहस अति सोना, बहुत जागना, बहुत स्नान, बहुत पीना, बहुत खाना नहीं करे। घुटने उठा कर देर तक न बैठे। सांप, दाढ़ वाले सिंह आदि, सींग वाले भैंस बैल आदि जन्तुओं के पास न जाये। सामने की वायु, धूप, ओस, तेज वायु को छोड़ दे। झगड़ा आरम्भ न करे। विना सावधानी के अग्नि की उपासना पूजा न करे, जूठे भोजन को पुनः आग पर गरम न करे (जूठा भोजन आग में नहीं डालना चाहिये)। थकान मिटे विना, मुख और सिर को जल से गीला किये बिना, वा नंगा होकर स्नान न करे। नहाने की धोती (कटि वस्त्र से) से शिर का स्पर्श न करे, बालों के अग्रभागों को ताड़न न करे; स्नान करके जिन कपड़ों से स्नान किया है, उन्हीं को निचोड़कर फिर धारण नहीं करे। रत्न, मणि आदि, पूज्य भगवान् आदि का नाम, मंगल कल्याणकारी वस्तुएं फूल आदि को बिना स्पर्श किये घर से बाहर न निकले। पूज्य एवं मंगलकारी वस्तुओं के वाम पार्श्व से न जाये, अपूज्य, अमंगल वस्तुओं के दक्षिण पार्श्व से न जाये ॥ २१ ॥

[illegible]त्नपाणिर्नास्नातो नोपहृतवासा नाजपित्वा नाहुत्वा देवताभ्यो [illegible]ये [illegible]पितृभ्यो नादत्वा गुरुभ्यो नातिथिभ्यो नोपाश्रितेभ्यो नापुण्य-

गन्धो नामाली नाप्रक्षालितपाणिपादवदनो नाशुद्धमुखो नोदङ्मुखो न विमना नाभक्ताशिष्टाशुचि-क्षुधित-परिचरो नापात्रीष्वमेध्यासु नादेशे नाकाले नाकीर्णे नादत्वाऽग्रमग्नये नाप्रोक्षितं प्रोक्षणोदकैर्न मन्त्रैरनभिमन्त्रितं न कुत्सयन् न कुत्सितं न प्रतिकूलोपहितमन्नमाददीत, न पर्युषितमन्यत्र मांस-हरित-शुष्क-शाक-फल-भक्ष्येभ्यः। नाशेषभुक्स्यादन्यत्र दधि-मधु-लवण-सक्तु-सर्पिभ्यः। न नक्तं दधि भुञ्जीत, न सक्तूनेकानश्नीयात्, न निशि न भुक्त्वा न बहून् न द्विर्नोदकान्तरितान् न छित्त्वा द्विजैर्भक्षयेत् ॥ २२ ॥

इन अवस्थाओं में भोजन न करे—रत्न को हाथ में लिये बिना, स्नान किये बिना, वस्त्र पहिने बिना, गायत्री जप किये बिना, हवन किये बिना, देवताओं के लिये दिये बिना, पिता माता को खिलाये बिना, आचार्य एवं बड़े पुरुषों को, अतिथियों को, आश्रितों को खिलाये बिना, अशुभ गन्धवाला, पुष्पमाला धारण किये बिना, हाथ पांव मुख धोये बिना, मलिन मुख से, उत्तर दिशा की ओर मुख करके, अन्य मन से, विना भक्ति के दिया, ठीक प्रकार से या पवित्रता से न दिया, भूखे के हाथ से परसा, बिना पात्रों के मैले पात्रों में, अदेश में, (मैले वा अनुचित स्थान पर) कुसमय में, संकुचित स्थान में, अग्नि को दिये बिना (वैश्वदेव यज्ञ किये बिना), प्रोक्षणोदक से विधिपूर्वक प्रोक्षित किये बिना, (वेदमन्त्रों से अभिमन्त्रित किये बिना) निन्दा करते हुए, निन्दित और प्रतिकूल अन्न को अपने मन के विरुद्ध मनुष्यों के पास में भोजन नहीं करना चाहिये। पर्युषित जिसे एक रात बीत गई है ऐसे बासी भोजन को नहीं खाना चाहिये। मांस, हरड़, सूखे हुए शाक, फल इनको बासी अर्थात् एक रात बीतने पर भी खा सकते हैं। सम्पूर्ण न खावे, पात्र में थोड़ा छोड़ देना चाहिये। परन्तु दही, शहद, लवण, सत्तू और घी इनको सम्पूर्ण खा लेना चाहिये, पवित्र होने से इन को झूठा न छोड़े। रात में दही नहीं खाये, अकेले सत्तुओं को न खाये अर्थात् केवल सत्तू न खाये। रात में सत्तू न खाये, भोजन खाकर सत्तू न खाये, बहुत अधिक मात्रा में सत्तू न खाये, एक दिन में दो बार सत्तू न खाये, पानी में भीगे हुए सत्तू या जौ का सत्तू बनाकर नहीं खाना चाहिये। दाँतों से काटकर न खाये ॥ २२ ॥

नानृजुः क्षुयान्नाद्यान्न शयीत। न वेगितोऽन्यकार्यः स्यात्। न वाय्वग्नि-सलिल-सोमार्क-द्विज-गुरु-प्रतिमुखं निष्ठीविका-वात-वर्चो-मूत्राण्युत्सृजेत्, न पन्थानमवमूत्रयेत्, न जनवति नान्नकाले। जप-होम-अध्ययन-बलि-मङ्गल-क्रियासु श्लेष्मसिङ्घाणकं मुञ्चेत् ॥ २३ ॥

बिना झुके छींक न ले, न खाये, न सोये। मल-मूत्र आदि के वेग उपस्थित होने पर दूसरा काम न करे, पहला वेग का निराकरण करे। वायु, अग्नि, जल, चन्द्रमा, सूर्य, ब्राह्मण, गुरु, पिता, माता, इनकी ओर मुख करके न थूके, न अपान वायु और मल, मूत्र का त्याग करे। रास्ते में, मनुष्यों के बैठने के स्थान में, भोजन के समय मूत्र त्याग न करे। जप, हवन, पठन, बलि, पवित्र क्रियाओं के स्थान पर नाक का मल (सिंघाणक) नहीं फेंके ॥ २३ ॥

न स्त्रियमवजानीत, नातिविश्रम्भयेन्न गुह्यमनुश्रावयेन्नाधिकुर्यात्। न रजस्वलां नाऽऽतुरां नामेध्यां नाशस्तां नानिष्टरूपाचारोपचारां नादक्षां नादक्षिणां नाकामां नान्यकामां नान्यस्त्रियं नान्ययोनिं नायोनौ न चैत्य-चत्वर-चतुष्पथोपवन-श्मशान-घातन-सलिलौषधि-द्विज-गुरु-सुरालयेषु न सन्ध्ययोर्नातिथिषु नाशुचिर्नाजग्धभेषजो नाप्रणीतसंकल्पो नानुपस्थितप्रहर्षो नाभुक्तवान् नात्यशितो न विषमस्थो न मूत्रोच्चारपीडितो न श्रम-व्यायामोपवास-क्लमाभिहतो नारहसि व्यवायं गच्छेत् ॥ २४ ॥

स्त्री का तिरस्कार न करे। स्त्री का अधिक विश्वास न करे। स्त्री को गुप्त बात न कहे। स्त्री को अधिकारी न करे, अधिकार न देवे। रजस्वला, रोगिणी, अपवित्र, चण्डाल आदि, कुष्ठ आदि निन्दित रोग से पीड़ित, इच्छित रूप आचार-उपचार से रहित, अचतुर, जो स्वयं नहीं चाहती हो, दूसरे पुरुष को चाहने वाली, परस्त्री, असमानजातीय, कामनारहित इन स्त्रियों के साथ, वा योनि को छोड़कर अन्यत्र गुदा या मुख में, मैथुन नहीं करना चाहिये। चैत्य (देवता का मन्दिर), चौराहा, आंगन, उपवन, बाग, श्मशान, वध्य-भूमि में, पानी, ओषधि, ब्राह्मण, गुरु, माता-पिता और मन्दिर के पास, प्रातः सायं दोनों सन्ध्याकालों में, अति अधिक मात्रा में, निषिद्ध तिथियों में (पूर्णिमा, अष्टमी, चतुर्दशी, संक्रान्ति, श्राद्ध दिनों में, अमावस्या में, प्रतिपदा में), अपवित्रित अवस्था में, वाजीकरण औषध खाये बिना, मन में मैथुनेच्छा किये बिना, शिश्न में उत्तेजना हुए बिना, खाये बिना, खाली पेट, अधिक खाये, पेट भर के और विषम स्थान पर स्थित होकर, मूत्र वेग से पीड़ित, खुले अनावृत स्थान में स्त्री के साथ मैथुन न करे ॥ २४ ॥

न सतो न गुरून् परिवदेत्, नाशुचिरभिचार-कर्म-चैत्य-पूज्य-पूजाध्ययनमभिनिर्वर्तयेत् ॥ २५ ॥

सज्जन या गुरुजनों की निन्दा न करे। अपवित्र अवस्था में अभिचार (हिंसा का प्रयोग, श्येनादि उपचार) कर्म, चैत्य पूजा, एवं देवता, पूजा, अध्ययन, पठन आदि नहीं करे ॥ २५ ॥

न विद्युत्स्वनार्तवीषु नाभ्युदितासु दिक्षु नाग्निसंप्लवे न भूमिकम्पे न महोत्सवे नोल्कापाते न महाग्रहोपगमने न नष्टचन्द्रायां तिथौ न सन्ध्ययोर्नामुखाद् गुरोर्नावपतितं नातिमात्रं तान्तं न विस्वरं नानवस्थितपदं नातिद्रुतं न विलम्बितं नातिक्लीवं नात्युच्चैर्नातिनीचैः स्वरैरध्ययनमभ्यसेत् ॥ २६ ॥

निम्न अवस्थाओं में अध्ययन-पठन नहीं करना चाहिये—ऋतु के बिना बिजली चमकने पर, दिशाओं के जलने पर, ग्राम नगर आदि में आग लगने पर, भूकम्प आने पर, विवाहादि बड़े उत्सवों में, विजयादशमी, दीपमालिका होली आदि में, उल्कापात होने पर, चन्द्रग्रहण, या सूर्यग्रहण होने पर, कृष्णपक्ष की चतुर्दशी, अमावस्या और प्रतिपदा को जिन तिथियों में चन्द्रमा नहीं दीखता, सन्ध्या कालों में, गुरुके मुख से बिना पढ़े, अक्षर को छोड़ते हुए, खाते हुए, अधिक मात्रा में, रूक्ष स्वर से, स्वर के बिना, पदों की व्यवस्था के बिना, विराम आदि चिह्नों का ध्यान न रखकर, रुक रुक कर, अति निर्बल (बलहीन), बहुत ऊँची आवाज से बहुत जोर से, बहुत धीमी आवाज से भी नहीं पढ़ना चाहिये ॥ २६ ॥

नातिसमयं जह्यात् । न नियमं भिन्द्यात् । न नक्तं नादेशे चरेत । न सन्ध्यास्वभ्यवहाराध्ययन-स्त्री-स्वप्न-सेवी स्यात् । न बाल-वृद्ध-लुब्ध-मूर्ख-क्लिष्ट-क्लीबैः सह सख्यं कुर्यात् । न मद्य-द्यूत-वेश्या-प्रसङ्ग-रुचिः स्यात्, न गुह्यं विवृणुयात् । न कञ्चिदवजानीयात् । नाहंमानी स्यान्नादक्षो नादक्षिणो नासूयकः । न ब्राह्मणान् परिवदेत् । न गवां दण्डमुद्यच्छेत्, न वृद्धान् न गुरून् न गणान् न नृपान् वाऽधिक्षिपेत् । न चातिब्रूयात् । न बान्धवानुरक्तकृच्छ्रद्वितीयगुह्यज्ञान् बहिः कुर्यात् ॥ २७ ॥

समय को न खोये । नियम का उल्लंघन न करे । रात्रि में न घूमे । जंगल आदि बीयाबान स्थानों में न घूमे । सन्ध्या समयों में भोजन, अध्ययन, मैथुन, नींद नहीं करनी चाहिये । बालक, वृद्ध, लालची, मूर्ख, कुष्ठ रोगी, नपुंसक अनुत्साही अल्पसत्त्व के साथ मित्रता न करे । मद्य शराब, जुआ, वेश्या इनमें मन नहीं लगाये । गुप्त रहस्य को न कहे । किसी का भी अपमान न करे । अहंकार या घमण्ड न करे । कार्यों में मूढ़ न रहे । गुणों में दोषों को न देखे । निन्दक, चुगलखोर न बने । ब्राह्मणों की निन्दा न करे । गाय के प्रति [illegible] उठाये । जो अपने अनुकूल हों उनकी निन्दा न करे । गुरु, [illegible] और आचार्य, सभा, वयोवृद्ध, जनसमूह, समाज और राजा की [illegible]

भाई बन्धु आदि, अनुरक्त, स्नेही, मित्र आदि, आपत्ति में सहायक इनको कभी बाहर न निकाले, कष्ट न दे ॥ २७ ॥

नाधीरो नात्युच्छ्रितसत्त्वः स्यात् । नाभृतभृत्यो, नाविश्रब्धस्वजनो, नैकः सुखी, न दुःखशीलाचारोपचारो, नसर्वविश्रम्भी, न सर्वाभिशङ्की, न सर्वकालविचारी । न कार्यकालमतिपातयेत् । नापरीक्षितमभिनिविशेत् । नेन्द्रियवशगः स्यात् । न चञ्चलं मनोऽनुभ्रामयेत् । न बुद्धीन्द्रियाणामतिभारमादध्यात् । न चातिदीर्घसूत्री स्यात् । न क्रोधहर्षावनुविदध्यात् । न शोकमनुवसेत् । न सिद्धावौत्सुक्यं गच्छेन्नासिद्धौ दैन्यम् । प्रकृतिमभीक्ष्णं स्मरेत् । हेतुप्रभावनिश्चितः स्यात् हेत्वारम्भनित्यश्च । न कृतमित्याश्वसेत्, न वीर्यं जह्यात् । नापवादमनुस्मरेत् ॥ २८ ॥

बहुत अधीर, उतावला जल्दबाज न हो, बहुत उच्छृङ्खल उद्धत न बने । नौकरों का पोषण अवश्य करे । अपने मनुष्यों में, घर के आदमियों में अविश्वास न करे । अकेला सुख का अनुभव न करे । अकेला मधुर पदार्थ न खाये शील (स्वाभाविक व्यवहार), आचार, (शास्त्रानुकूल व्यवहार), उपचार, (वस्त्र धारण करने और रहन सहन) में दुःखी व्यक्तियों की भाँति (गरीबों की तरह) न रहे; सभ्य बनकर रहे । सब जगह सब का विश्वास न करे । सब स्थानों पर सब का अविश्वास भी न करे, सन्देह भी न करे । सब समय सोचता विचारता भी न रहे । काम के समय का उल्लंघन न करे । अपरीक्षित (अज्ञात) स्थान आदि पर न बैठे न जाये । इन्द्रियों के वश में न हो । चंचल मन को इधर उधर न घुमावे । बुद्धि, और ज्ञानेन्द्रियों का अतियोग न करे, उन पर अधिक बोझ न डाले, अधिक विषय सेवन न करे । दीर्घ-सूत्री अर्थात् विलम्ब से काम करने वाला न बने । जितना क्रोध आये उतना उग्र कर्म न करे और जितनी खुशी हो उतनी अधिक खुशी न मनाये । शोक चिन्ता के वश में न हो । कार्य में सफलता मिलने पर बहुत प्रसन्न न हो और कार्य में असफलता मिलने पर दीन, (उदास चेहरा) न बनाये मुंह न लटकाये । बार बार प्रकृति अर्थात् जन्म मरण के स्वभाव को ध्यान में रखे । शुभ कारण से कार्य का आरम्भ करे । इतना कर लिया बस है, यह समझकर बैठ न जाये । वीर्य (पराक्रम) का त्याग न करे । निन्दा का स्मरण न करे ॥ २८ ॥

...तमाज्याक्षत-तिल-कुश-सर्षपैरग्निं जुहुयादात्मानमाशीर्भिरा- ...नर्मे नापगच्छेच्छरीराद्, वायुर्मे प्राणानादधातु, विष्णुर्मे ...द्रो मे वीर्यं शिवा मां प्रविशन्त्वाप आपोहिष्ठेत्यपः

स्पृशेत्, द्विः परिमृज्यौष्ठौ पादौ चाभ्युक्ष्य मूर्धनि खानि चोपस्पृशेदद्भि-रात्मानं हृदयं शिरश्च, ब्रह्मचर्य-ज्ञान-दान-मैत्री-कारुण्य-हर्षोपेक्षा-प्रशम-परश्च स्यादिति ॥ २९ ॥

अपवित्र अवस्था में उत्तम गौ का घी, अक्षत, तिल, कुशा और सरसों द्वारा अग्नि में वेदमन्त्रों से हवन न करे और प्रार्थना करे कि अग्नि मेरे शरीर से बाहर न जाये। वायु मेरे अन्दर प्राणों को धारण करे। विष्णु मेरे अन्दर बल का संचार करें। इन्द्र मुझ में बल बढ़ावे। कल्याणकारी जल मुझ में प्रविष्ट हों। 'आपो हिष्ठा मयो भुवस्ता न ऊर्जे दधातन०' इस मन्त्र से जल का स्पर्श स्नान आचमन करना चाहिये। दोनों समय भोजन करने के उपरान्त ओष्ठ और पांव को धोकर शुष्क कर लेना चाहिये शिर और आंख, कान, नाक इन्द्रियों को जल से स्पर्श करे। फिर अपने हृदय, शिर को जल से स्पर्श करे। ब्रह्मचर्य (काय और मन वाणि से मैथुन को छोड़ना ब्रह्मचर्याश्रम में, गृहस्था-श्रम में भी अपनी पत्नी में ऋतुकाल को छोड़कर) तथा अन्यों को ज्ञान-दान, 'मैत्री' सब प्राणियों में आत्मवत् प्रवृत्ति, सब प्राणियों में दयाभाव, हर्ष, प्रसन्नता सब प्राणियों में, उपेक्षा अर्थात् अप्रतिग्रह बुद्धि, प्रशम अर्थात् शान्त इन्द्रिय एवं चित्तवाला बने ॥ २९ ॥

तत्र श्लोकाः--

पञ्चपञ्चकमुद्दिष्टं मनो हेतुचतुष्टयम् ।
इन्द्रियोपक्रमेऽध्याये सद्वृत्तमखिलेन च ॥ ३० ॥
स्वस्थवृत्तं यथोद्दिष्टं यः सम्यगनुतिष्ठति ।
स समाः शतमव्याधिरायुषा न वियुज्यते ॥ ३१ ॥
नृलोकमापूरयते यशसा साधुसंमतः ।
धर्मार्थावेति भूतानां बन्धुतामुपगच्छति ॥ ३२ ॥
परान् सुकृतिनो लोकान् पुण्यकर्मा प्रपद्यते ।
तस्माद् वृत्तमनुष्ठेयमिदं सर्वेण सर्वदा ॥ ३३ ॥
यच्चान्यदपि किंचित्स्यादनुक्तमिह पूजितम् ।
वृत्तं तदपि चाऽऽत्रेयः सदैवाभ्यनुमन्यते ॥ ३४ ॥

पंचेन्द्रिय और इनके पांच प्रकार, मन एवं चार कारण (समयोग, मिथ्या-योग, हीनयोग, और अतियोग) और सम्पूर्ण सद्वृत्त को 'इन्द्रियो...' अध्याय में कह दिया है। जो मनुष्य कहे हुए स्वस्थवृत्त का... रूप से पालन करता है वह सौ वर्षों तक नीरोग रहता और...

आयु का भंग नहीं होता, वह सौ वर्षतक जीता है। साधुओं से पूजित होकर मनुष्यलोक को अपने यश से भर देता है, यशस्वी बनता है। धर्म और अर्थ को प्राप्त करता है। सब प्राणियों के प्रति बन्धुभाव उत्पन्न कर लेता है। पुण्य कर्मों वाला मनुष्य अति उत्कृष्ट लोकों को प्राप्त करता है। इसलिये सब पुरुषों को चाहिये कि सदा इस 'सद्वृत्त' का पालन करे। इस 'सद्वृत्त' के अतिरिक्त और जो कुछ उत्तम कर्म हों जो कि यहां पर नहीं भी कहे हैं, उनको भी स्वीकार करके पालन करना चाहिये ऐसा भगवान् आत्रेय का अभिप्राय है ॥ ३०-३४ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने स्वस्थवृत्तचतुष्के इन्द्रियोपक्रमणीयो नामाऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥ इति स्वस्थचतुष्कः ॥

नवमोऽध्यायः ।

अथातः खुड्डाकचतुष्पादमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब 'खुड्डाक चतुष्पाद' (चिकित्सा के क्षुद्र चार चरण) नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

भिषग् द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम् ।
गुणवत्कारणं ज्ञेयं विकारव्युपशान्तये ॥ ३ ॥

वैद्य, औषध, परिचारक और रोगी ये चार पाद अर्थात् चिकित्सा के चार अंग हैं। ये चारों ही विकार अर्थात् रोगों की शान्ति में गुणवान् कारण हैं ॥३॥

विकारो धातुवैषम्यं, साम्यं प्रकृतिरुच्यते ।
सुखसंज्ञकमारोग्यं, विकारो दुःखमेव च ॥ ४ ॥

शरीर के धातु वात, पित्त और कफ की विषमता का नाम ही 'विकार' अर्थात् रोग है और धातुओं का 'साम्य' अर्थात् अनुकूलता रहने का नाम 'प्रकृति' है। आरोग्यता ही सुख है, रोग का होना दुःख है। वैद्यक शास्त्र में सुख-आरोग्यता है, और दुःख रोग है ॥४॥

चिकित्सा का लक्षण—

चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते ।
प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते ॥ ५ ॥

धातुओं के विषम होने पर भिषक्, रोगी, औषध और परिचारक ये चारों [illegible]ये वाले मिलकर धातुओं को साम्य अर्थात् अनुकूल करने के लिये [illegible] हैं, उसी को चिकित्सा कहते हैं ॥ ५ ॥

वैद्य के गुण—

श्रुते पर्यवदातत्वं बहुशो दृष्टकर्मता ।
दाक्ष्यं शौचमिति ज्ञेयं वैद्ये गुणचतुष्टयम् ॥ ६ ॥

सद्-गुरु के उपदेश मे पूर्ण रूप से शास्त्र का ठीक २ ज्ञान, चिकित्सा-कर्म्म का बहुत बार दर्शन, चिकित्सा कार्य में कुशलता, चिकित्सा कर्म की सिद्ध-हस्तता, पवित्रता, स्वच्छता ये वैद्य के गुण हैं ॥ ६ ॥

द्रव्य के गुण—

बहुता तत्र योग्यत्वमनेकविधकल्पना ।
संपच्चेति चतुष्कोऽयं द्रव्याणां गुण उच्यते ॥ ७ ॥

(बहुता) द्रव्य की प्रचुरता (योग्यता) रोगियों के दिये जाने वाले द्रव्य में रोग को दूर करने का सामर्थ्य और जिसके अनेक प्रकार के कल्प, (स्वरस कल्क, चूर्ण, कषाय आदि) बनाये जा सकें, 'सँपत्' अर्थात् रस, वीर्य, प्रभाव, गुण सम्पूर्ण हों, ठीक २ ऋतु में एकत्र की गई हो, ये चार गुण औषध में होने चाहिये ॥ ७ ॥

परिचारक के गुण—

उपचारज्ञता दाक्ष्यमनुरागश्च भर्तरि ।
शौचं चेति चतुष्कोऽयं गुणः परिचरे जने ॥ ८ ॥

सेवा कर्म को जानने वाला, कर्मकुशल, रोगी में प्रीति रखने वाला शौच, अर्थात् शुद्धि, स्वच्छता ये चार गुण परिचारक के हैं ॥ ८ ॥

रोगी के गुण—

स्मृति-निर्देश-कारित्वमभीरुत्वमथापि च ।
ज्ञापकत्वं च रोगाणामातुरस्य गुणाः स्मृताः ॥ ९ ॥

(स्मृति) स्मरण शक्ति, वैद्य के आदेश के अनुसार करने वाला, डरपोक न हो, रोग या चिकित्सा कर्म से न घबराने वाला, अपनी शिकायतों को भली प्रकार बता सके, ये चार गुण रोगी के हैं ॥ ९ ॥

कारणं षोडशगुणं सिद्धौ पादचतुष्टयम् ।
विज्ञाता शासिता योक्ता प्रधानं भिषगत्र तु ॥ १० ॥
पक्तौ हि कारणं पक्तुर्यथा पात्रेन्धनानलाः ।
विजेतुर्विजये भूमिश्चमूः प्रहरणानि च ॥ ११ ॥
आतुराद्यास्तथा सिद्धौ पादाः कारणसंज्ञिताः ।
वैद्यस्यातश्चिकित्सायां प्रधानं कारणं भिषक् ॥ १२ ॥

सोलह गुण युक्त चारों पाद मिलकर ही चिकित्सा में कारण हैं। इन सब में प्रधान कारण 'भिषक्' अर्थात् वैद्य ही है। क्योंकि वही विशेष रूप से जानने वाला, परिचारक आदि को आदेश देने वाला, दवाइयों का प्रयोग करने वाला होता है ; तीनों पाद वैद्य के अधीन हैं और वैद्य स्वतन्त्र है, इसलिये प्रधान है। खाना पकाने में जिस प्रकार पाचक कारण है, और पात्र, ईंधन और आग ये उसके अधीन रहते हैं और जिस प्रकार विजेता की विजय में भूमि, स्थान, सेना, प्रहरण, शस्त्र आदि कारण निमित्त बनते हैं, उसी प्रकार सिद्धि अर्थात् चिकित्सा की सफलता में रोगी, औषध और परिचारक ये तीन कारण निमित्त होते हैं। चिकित्सा में मुख्य कारण वैद्य ही होता है ॥ १०-१२ ॥

मृद्दण्डचक्रसूत्राद्याः कुम्भकारादृते यथा।
न वहन्ति गुणं वैद्यादृते पादत्रयं तथा ॥ १३ ॥
गन्धर्वपुरवन्नाशं यद्विकाराः सुदारुणाः।
यान्ति यच्चेतरे वृद्धिमाशपायप्रतीक्षिणः ॥ १४ ॥
सति पादत्रये ज्ञाज्ञौ भिषजावत्र कारणम्।

जिस प्रकार कुम्हार के बिना मिट्टी, दण्ड, चक्र (चाक) सूत्र आदि मिलकर भी घड़े को नहीं बना सकते उसी प्रकार वैद्य के बिना रोगी, द्रव्य और परिचारक मिलकर भी चिकित्सा-कार्य में सफलता नहीं प्राप्त कर सकते। रोगी परिचारक और द्रव्य इन तीनों के होनेपर भी अतिशय भयानक जो रोग गन्धर्व पुर की भांति नष्ट हो जाते हैं और दूसरे साधारण रोग भी जो थोड़ी चिकित्सा से भी अच्छे हो सकते हैं—वे जो बढ़ते हैं—इन दोनों में ज्ञानवान् और अज्ञानी वैद्य ही कारण होता है। गन्धर्व पुर जादूगर का बनाया मकान अथवा आकाश का महल ॥ १३-१४ ॥

वरमात्मा हतोऽज्ञेन न चिकित्सा प्रवर्तिता ॥ १५ ॥
पाणिचाराद्यथाऽचक्षुरज्ञानाद्भीतभीतवत्।
नौर्मारुतवशेवाज्ञो भिषक्चरति कर्मसु ॥ १६ ॥
यदृच्छया समापन्नमुत्तार्य नियतायुषम्।
भिषङ्मानी निहन्त्याशु शतान्यनियतायुषाम् ॥ १७ ॥
तस्माच्छास्त्रेऽर्थविज्ञाने प्रवृत्तौ कर्मदर्शने।
भिषक् चतुष्टये युक्तः प्राणाभिसर उच्यते ॥ १८ ॥

मूढ़ वैद्य इलाज करे, इससे अच्छा अपनी हत्या कर लेना है। अन्धा ... करके डरता हुआ जिस प्रकार हाथ से टटोल कर चलता है, वायु

के वश में पड़ी हुई नाव जिस प्रकार कहीं की कहीं बह जाती है, उसी प्रकार मूढ़ वैद्य भी चिकित्सा-कर्म में प्रवृत्त होता है। नियत आयु वाले रोगियों के स्वतः अच्छा हो जाने से अपने को वैद्य मानने वाला मनुष्य जिनकी आयु अभी शेष है, ऐसे सैकड़ों रोगियों को अपनी चिकित्सा से बिना समय के ही शीघ्र मार देता है। इसलिये शास्त्र में तत्त्वार्थ के ज्ञान में, क्रिया में, कर्म और कुशलता में इन चार गुणों से युक्त वैद्य ही 'प्राणाभिसर' अर्थात् रोगी के जाते प्राणों को भी लौटा लाने वाला कहलाता है ॥ १५-१८ ॥

हेतौ लिङ्गे प्रशमने रोगाणामपुनर्भवे।
ज्ञानं चतुर्विधं यस्य स राजार्हो भिषक्तमः ॥ १९ ॥

जिस वैद्य को रोगोत्पत्ति के कारण, लक्षण, प्रशमन, रोगों की शान्ति और पुनः आक्रमण न होना इन चार बातों का ज्ञान है, वही 'राजवैद्य' होने योग्य है ॥

शस्त्रं शास्त्राणि सलिलं गुणदोषप्रवृत्तये।
पात्रापेक्षीण्यतः प्रज्ञां चिकित्सार्थं विशोधयेत् ॥ २० ॥

शस्त्र, शास्त्र और पानी ये तीनों गुण और दोष को उत्पन्न करने में पात्र की अपेक्षा करते हैं। जैसे निर्मल पानी मैले पात्र में रखने से मैला हो जाता है और स्वच्छ पात्र में साफ दीखता है, तलवार से जहाँ दुष्ट चोर आदि का वध हो सकता है, वहाँ सज्जन का भी गला काटा जा सकता है, शास्त्र द्वारा जहाँ रोगी को बचाया जा सकता है, वहाँ मूढ़ वैद्य मार भी सकता है। इसलिये चिकित्सा के लिये वैद्य को अपनी बुद्धि को सदा स्वच्छ रखना चाहिये ॥२०॥

विद्या वितर्को विज्ञानं स्मृतिस्तत्परता क्रिया।
यस्यैते षड्गुणास्तस्य न साध्यमतिवर्तते ॥ २१ ॥
विद्या मतिः कर्मदृष्टिरभ्यासः सिद्धिराश्रयः।
वैद्यशब्दाभिनिष्पत्तावलमेकैकमप्यदः ॥ २२ ॥
यस्य त्वेते गुणाः सर्वे सन्ति विद्यादयः शुभाः।
स वैद्यशब्दं सद्भूतमर्हन् प्राणिसुखप्रदः ॥ २३ ॥

(विद्या) आयुर्वेद विद्या, (वितर्कः) शास्त्रार्थ मूलक ऊहापोह, (विज्ञान) बहुत शास्त्र के ज्ञान से विज्ञत्व, (तत्परता) लग्न, (क्रिया) चिकित्साकुशलता जिस वैद्य में ये उपरोक्त छः गुण हैं उसके लिये कोई भी व्याधि असाध्य नहीं है। आयुर्वेद विद्या, विशुद्ध बुद्धि, दृष्ट चिकित्सा, चिकित्सा कार्य में अभ्यास, अनेक रोगियों को आरोग्य युक्त करने में सफलता, सद्गुरु का आश्रय, एक एक भी गुण वैद्य पद प्राप्त कराने में समर्थ है। परन्तु जिस पुरुष में

आदि सब गुण होते हैं, वही सच्चे अर्थों में 'वैद्य' कहला सकता है। वही प्राणियों के लिये सुख देने वाला होता है ॥ २१–२३ ॥

शास्त्रं ज्योतिः प्रकाशार्थं दर्शनं बुद्धिरात्मनः।
ताभ्यां भिषक्सुयुक्ताभ्यां चिकित्सन्नापराध्यति ॥ २४ ॥
चिकित्सिते त्रयः पादा यस्माद्वैद्यव्यपाश्रयाः।
तस्मात्प्रयत्नमातिष्ठेद्भिषक् स्वगुणसंपदि ॥ २५ ॥
मैत्री कारुण्यमार्त्तेषु, शक्ये प्रीतिरुपेक्षणम्।
प्रकृतिस्थेषु भूतेषु, वैद्यवृत्तिश्चतुर्विधेति ॥ २६ ॥

आयुर्वेद शास्त्र तो प्रकाश करने के लिये ज्योति हैं और अपनी बुद्धि आंख है। इन दोनों को मिलाकर ठीक तरह से प्रयोग करके चिकित्सक भूल नहीं करता। चिकित्सा के तीन चरण रोगी, परिचारक और द्रव्य वैद्य पर ही आश्रित हैं। इसलिये अपने गुणों को विशेष रूप से प्राप्त करने में वैद्य को प्रयत्नवान् रहना चाहिये। वैद्य का व्यवहार चार प्रकार का है। रोग से पीडित पुरुष में मित्रता और उन पर दया का भाव; साध्य रोगी में स्नेहभाव, मरणासन्न रोगी में उपेक्षा बुद्धि रखना ॥ २४-२६ ॥

तत्र श्लोकौ—

भिषग्जितं चतुष्पादं पादः पादश्चतुर्गुणः।
भिषक् प्रधानं पादेभ्यो यस्माद्वैद्यस्तु यद्गुणः ॥ २७ ॥
ज्ञानानि बुद्धिर्ब्राह्मी च भिषजां या चतुर्विधा।
सर्वमेतच्चतुष्पादे खुड्डाके संप्रकाशितम् ॥ २८ ॥

चिकित्सा के चार चरण प्रत्येक चरण के चार-चार गुण, सब चरणों में प्रधान 'भिषक्' है, क्यों प्रधान है? वैद्य के गुण, वैद्यों की चार प्रकार की बुद्धि और ब्राह्मी बुद्धि यह सब 'खुड्डाक चतुष्पाद' अध्याय में कह दिया है॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने निर्देशचतुष्के खुड्डाकचतुष्पादो नाम नवमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः।

अथातो महाचतुष्पादमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इस के अनन्तर 'महाचतुष्पाद' नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

चतुष्पादं षोडशकलं भेषजमिति भिषजो भाषन्ते, यदुक्तं पूर्वाध्याये षोडशगुणमिति, तद्भेषजं युक्तियुक्तमलमारोग्यायेति भगवान् पुनर्वसुरात्रेयः ॥ ३ ॥

चार चरण और सोलह कलायुक्त चिकित्सा होती है ऐसा वैद्य कहते हैं। पूर्व के (खुड्डाक-चतुष्पाद) अध्याय में जो सोलह गुणों से युक्त चिकित्सा का उपदेश किया है उसी चिकित्सा को युक्ति पूर्वक प्रयोग करने से आरोग्यता मिलती है ऐसा पुनर्वसु आत्रेय ने कहा है ॥ ३ ॥

नेति मैत्रेयः। किं कारणम् , दृश्यन्ते ह्यातुराः केचिदुपकरणवन्तश्च परिचारकसंपन्नाश्चाऽऽत्मवन्तश्च कुशलैश्च भिषग्भिरनुष्ठिताः समुत्तिष्ठमानास्तथायुक्ताश्चापरे म्रियमाणास्तस्माद्भेषजमकिंचित्करं भवति। तद्यथा श्वभ्रे सरसि च प्रसिक्तमल्पमुदकं नद्यां वा स्यन्दमानायां पांसुधाने वा पांसुमुष्टिः प्रकीर्ण इति। तथाऽपरे दृश्यन्तेऽनुपकरणाश्चापरिचारकाश्चानात्मवन्तश्चाकुशलैश्च भिषग्भिरनुष्ठिताः समुत्तिष्ठमानाः, तथायुक्ता म्रियमाणाश्चापरे। यतश्च प्रतिकुर्वन् सिद्ध्यति प्रतिकुर्वन् म्रियते, अप्रतिकुर्वन् सिध्यत्यप्रतिकुर्वन् म्रियते; ततश्चिन्त्यते भेषजमभेषजेनाविशिष्टमिति ॥ ४ ॥

'मैत्रय' के विचार में यह ठीक नहीं, क्योंकि कुछ रोगी जिन को सब प्रकार के साधन प्राप्त हैं, जिनके सेवक भी हैं, जो संयमी, जितेन्द्रिय भी हैं, और चतुर वैद्य उनकी चिकित्सा करते हैं, वे अच्छे (स्वस्थ) होते देखे जाते हैं। इस के सिवाय उपरोक्त सब कुछ होते हुए भी कुछ रोगी मरते हुए भी देखे जाते हैं। इसलिये कहते हैं कि सोलह गुणों से युक्त चिकित्सा कुछ फलदायक नहीं। जिस प्रकार एक बड़े भारी गढ़े या तालाब में थोड़ा सा पानी डालने पर कुछ लाभ नहीं होता और जिस प्रकार बहती हुई नदी में फेंकी हुई धूलि की मुट्ठी निरर्थक होती है, वह पानी में बह जाती है और जिस प्रकार रेत के बहुत बड़े ढेर में डाली हुई रेत की एक मुट्ठी का कुछ लाभ नहीं, इसी प्रकार शुभ कर्मवाले रोगी में चिकित्सा का कोई लाभ नहीं। कुछ रोगी साधनों के विना ही, सेवकों से रहित, अजितेन्द्रिय, अपथ्यसेवी, और मूढ़ वैद्यों से चिकित्सा कराने पर भी स्वस्थ होते हुये देखे जाते हैं, एवं कुछ (इस उपरोक्त अवस्था में) मरते हुए भी देखे जाते (सोलह गुणों से युक्त) चिकित्सा करने पर आरोग्ययुक्त स्वस्थ हो जाते हैं

बहुत से चिकित्सा करने पर भी मर जाते हैं, बहुत चिकित्सा न करने पर भी स्वस्थ हो जाते हैं, और न करने पर भी मर जाते हैं, अतः सन्देह होता है कि चिकित्सा करना और न करना दोनों बराबर हैं ॥४॥

मैत्रेय ! मिथ्या चिन्त्यत इत्यात्रेयः। किं कारणम् ? ये ह्यातुराः षोडशगुणसमुदितेनानेन भेषजेनोपपद्यमाना म्रियन्त इत्युक्तं तदनुपपन्नम्, न हि भेषजसाध्यानां व्याधीनां भेषजमकारणं भवति। ये पुनरातुराः केवलाद्भेषजादृते समुत्तिष्ठन्ते न तेषां संपूर्णभेषजोपपादनाय समुत्थानविशेषो नास्ति। यथा हि पतितं पुरुषं समर्थमुत्थानायोत्थापयन् पुरुषो बलमस्योपादध्यात्, स क्षिप्रतरमपरिक्लिष्ट एवोत्तिष्ठेत्तद्वत्संपूर्णभेषजोपलम्भादातुराः। ये चाऽऽतुराः केवलाद्भेषजादपि म्रियन्ते, न च सर्व एव ते भेषजोपपन्नाः समुत्तिष्ठेरन्, न हि सर्वे व्याधयो भवन्त्युपायसाध्याः, न चोपायसाध्यानां व्याधीनामनुपायेन सिद्धिरस्ति, न चासाध्यानां व्याधीनां भेषजसमुदायोऽयमस्ति। न ह्यलं ज्ञानवान् भिषग्मुमूर्षुमातुरमुत्थापयितुम्। परीक्ष्यकारिणो हि कुशला भवन्ति। यथा हि योगज्ञोऽभ्यासनित्य इष्वासो धनुरादायेषुमस्यन्नातिविप्रकृष्टे महति काये नापराधवान् भवति सम्पादयति चेष्टकार्यम्, तथा भिषक् स्वगुणसंपन्न उपकरणवान् वीक्ष्य कर्माऽऽरभमाणः साध्यरोगमनपराधः संपादयत्येवाऽऽतुरमारोग्येण, तस्मान्न भेषजमभेषजेनाविशिष्टं भवति॥५॥

आत्रेय भगवान् इसका उत्तर देते हैं कि हे मैत्रेय ! तुम्हारा ऐसा विचार करना ठीक नहीं है। क्योंकि, रोगी सोलह गुणों से युक्त चिकित्सा करने पर भी स्वस्थ नहीं होते, मर जाते हैं, यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि चिकित्सा से अच्छे होने वाले रोगों में चिकित्सा निष्फल नहीं होती, और जो रोगी औषध-चिकित्सा के विना भी स्वस्थ हो जाते हैं, उनमें चिकित्सा के पूर्ण कारणों के होने की आवश्यकता भी नहीं होती। जैसे गिरे हुए मनुष्य को जो कि अपने आप उठने में समर्थ है, उठाने के लिये दूसरा पुरुष सहायता देता है, तब वह जल्दी, विना कष्ट के ही खड़ा हो जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण (सोलह गुणों से युक्त) चिकित्सा प्राप्त होने से रोगी स्वस्थ हो जाते हैं। जो रोगी सम्पूर्ण चिकित्सा के मिलने पर भी मर जाते हैं वे सब रोगी भी सोलह गुण युक्त चिकित्सा से स्वस्थ नहीं हो सकते, क्योंकि सब रोग उपाय से साध्य नहीं हैं (न से रोग असाध्य भी हैं) और जो रोग उपाय से अच्छे होने वाले हैं वे ...पाय के अच्छे भी नहीं होते। इसी प्रकार जो रोगी असाध्य हैं उन को

सारा औषध-समुदाय भी ठीक नहीं कर सकता। ज्ञानवान् वैद्य भी मरणासन्न रोगी को स्वस्थ करने में समर्थ नहीं होता। जो वैद्य साध्य-असाध्य का विचार करके चिकित्सा का प्रारम्भ करते हैं वे कुशल चिकित्साकार्य में सफल, यशस्वी होते हैं। जिस प्रकार कि प्रयोग विधि को जानने वाला अभ्यासी धनुर्धारी धनुष को लेकर बहुत दूर के नहीं, प्रत्युत समीपवर्ती स्थूल लक्ष्य पर बाण फेंकता हुआ नहीं चूकता लक्ष्य वेध कर ही लेता है, इसी प्रकार वैद्य अपने गुणों से युक्त, उपकरणवान्, साधनवान्, साध्य-असाध्य का विचार करके काम आरम्भ करके, रोगी के साध्य रोग को स्वस्थ कर देता है, इसमें भूल नहीं करता, इस लिये कहते हैं कि चिकित्सा करना और न करना दोनों समान नहीं हैं ॥ ५ ॥

इदं चेदं च नः प्रत्यक्षं यदनातुरेण भेषजेनाऽऽतुरं चिकित्सामः,क्षाम-मक्षामेण, कृशं च दुर्बलमाप्याययामः, स्थूलं मेदस्विनमपतर्पयामः, शीतेनोष्णाभिभूतमुपचरामः शीताभिभूतमुष्णेन, न्यूनान् धातून् पूरयामः, व्यतिरिक्तान् ह्रासयामः,व्याधीन् मूलविपर्ययेणोपचरन्तः सम्यक् प्रकृतौ स्थापयामः, तेषां नस्तथा कुर्वतामयं भेषजसमुदायः कान्ततमो भवति ॥ ६ ॥

और यह हमारा प्रत्यक्ष भी है कि रोगी की हम रोगों की प्रकृति से विपरीत गुण वाली औषध से चिकित्सा करते हैं, क्षीणधातु वाले व्यक्ति की पौष्टिक औषधियों से चिकित्सा करते हैं, (कृश) पतले-दुबले को मोटा बनाते हैं, स्थूल चर्बी वाले पुरुष को पतला (कृश) करते हैं, गरमी से पीड़ित व्यक्ति की शीतल चिकित्सा करते हैं. शीत से पीड़ित व्यक्ति की उष्ण पदार्थों से चिकित्सा करते हैं, कम हुए धातुओं को पूर्ण करते हैं, परिमाण से अधिक बढ़े हुए धातुओं को कम करते हैं, रोगों की कारण के विपरीत विरुद्ध चिकित्सा करते हुए दोषों को प्रकृति में भली प्रकार से स्थित करते हैं। रोगी पुरुषों के लिये ऐसा करते हुए ये भैषज्य-समुदाय अर्थात् सोलह गुणयुक्त चिकित्सा व्याधिनाशक और सुखकारी होती है ॥ ६ ॥

भवन्ति चात्र—

साध्यासाध्यविभागज्ञो ज्ञानपूर्वं चिकित्सकः।
काले चाऽऽरभते कर्म यत्तत् साधयति ध्रुवम् ॥ ७ ॥
अर्थ-विद्या-यशो-हानिमुपक्रोशमसंग्रहम्।
प्राप्नुयान्नियतं वैद्यो योऽसाध्यं समुपाचरेत् ॥ ८ ॥

इसमें श्लोक है—

रोग के साध्य और असाध्य रूप को एवं साध्य असाध्य के वि॰

जानकर विचारपूर्वक समय पर जो चिकित्सक कार्य का आरम्भ करता है वह उस कर्म को अवश्य पूर्ण करता है और जो चिकित्सक असाध्य व्याधि की चिकित्सा करता है, वह धन, विद्या और यश की हानि उठाता है। उस की निन्दा होती है और लोग उस से चिकित्सा नहीं करवाते, उसका धन्धा नहीं चलता ॥ ७–८ ॥

सुखसाध्यं मतं साध्यं कृच्छ्रसाध्यमथापि च।
द्विविधं चाप्यसाध्यं स्याद्याप्यं यच्चानुपक्रमम् ॥ ९ ॥
साध्यानां त्रिविधश्चाल्पमध्यमोत्कृष्टतां प्रति।
विकल्पो न त्वसाध्यानां नियतानां विकल्पना ॥ १० ॥

साध्य व्याधियां दो प्रकार की हैं, एक (सुखसाध्य) सरलता से अच्छी होने वाली और दूसरी (कृच्छ्र-साध्य) कठिनाई से अच्छी होने वाली। असाध्य व्याधियां भी दो प्रकार की हैं, एक (याप्य) जो कि चिकित्सा से कुछ समय के लिये शान्त की जा सकती हैं और चिकित्सा के छोड़ने पर फिर खड़ी हो जाती हैं। दूसरी (अनुपक्रम) सर्वथा असाध्य जो कभी अच्छी नहीं होती। साध्य व्याधियों के पुनः तीन भेद हैं, (१) अल्पसाध्य, (२) मध्यमसाध्य, और (३) उत्कृष्टसाध्य और जो निश्चित रूप से 'असाध्य' हैं, उनका कोई नियत भेद नहीं है, याप्य, असाध्य रोगों के तीन भेद हैं। यथा अल्पयाप्य, मध्यम याप्य और उत्कृष्ट याप्य ॥ ॥ ९-१० ॥

सुखसाध्य व्याधि के लक्षण—

**हेतवः पूर्वरूपाणि रूपाण्यल्पानि यस्य च।
न च तुल्यगुणो दूष्यो, न दोषः प्रकृतिर्भवेत् ॥ ११ ॥
न च कालगुणस्तुल्यो, न देशो दुरुपक्रमः।
गतिरेका नवत्वं च रोगस्योपद्रवो न च ॥ १२ ॥
दोषश्चैकः समुत्पत्तौ देहः सर्वौषधक्षमः।
चतुष्पादोपपत्तिश्च सुखसाध्यस्य लक्षणम् ॥ १३ ॥**

रोगोत्पत्ति के कारण थोड़े हों, बहुत अधिक या तीव्र कारण न हो, (पूर्वरूप) अर्थात् रोग के प्राथमिक लक्षण भी हल्के हों, और 'रूप' अर्थात् स्पष्ट लक्षण रोग के थोड़े और हल्के हों। (दूष्य रक्त, मांसादि धातु) दोष वातादि कारण के समान न हों, पित्त के कारण से रक्त कुपित न हो, रोगोत्पादक दोष वात आदि रोगी की प्रकृति न हो, वातजन्य व्याधि में रोगी की प्रकृति 'वात' न हो। समय ...न न हो, हेमन्त में कफ संचय होता है, इस समय कफ का रोग न ... शरीर का अवयव या अनूप अर्थात् जलबहुल प्रदेश अर्थात्

कष्टसाध्य स्थान पर रोग न हुआ हो, अथवा जहां पर कठिनता से चिकित्सा की जाय ऐसे स्थान पर रोग न हुआ हो, दोष की गति एक मार्ग में हो, दो मार्ग में न हो, रोग नवीन हो, रोग के साथ कोई उपद्रव (पीछे उत्पन्न हुई व्याधि या उपसर्ग (Complication) न हो, और चिकित्सा के चारों चरण प्राप्त हों, रोगोत्पत्ति में कारण एक दोष हो तथा शरीर सम्पूर्ण प्रकार की औषध का सहन कर सके तो ये सुखसाध्य अर्थात् सुगमता से अच्छे होने वाले रोग के लक्षण हैं ॥१२–१३॥

कृच्छ्रसाध्य रोग के लक्षण—

निमित्तपूर्वरूपाणां रूपाणां मध्यमे बले ।
कालप्रकृतिदूष्याणां सामान्येऽन्यतमस्य च ॥ १४ ॥
गर्भिणी-वृद्ध-बालानां नात्युपद्रवपीडितम् ।
शस्त्र-क्षाराग्नि-कृत्यानामनवं कृच्छ्रदेशजम् ॥ १५ ॥
विद्यादेकपथं रोगं नातिपूर्णचतुष्पदम् ।
द्विपथं नातिकालं वा कृच्छ्रसाध्यं द्विदोषजम् ॥ १६ ॥

रोग का कारण, रोग का पूर्वरूप और रोग का रूप, स्पष्ट चिन्ह, माध्यम बल, संख्या में मध्यम हो अर्थात् जिस रोग को उत्पन्न करने वाले दोष-प्रकोप के कारण न तो कम और न अधिक हों, काल प्रकृति और दूष्य इनमें से कोई एक रोगोत्पादक दोष के समान साधारण हो, अधिक उपद्रवों से पीड़ित न हो, तो वह रोग कृच्छ्रसाध्य है ।

गर्भवती, वृद्ध और बालक, इनकी सब व्याधियां कष्टसाध्य हैं । शस्त्र, क्षार और अग्नि इनसे चिकित्सा करते समय जो व्याधि उत्पन्न हो जाय, नवीन न हो, जो रोग पुराना हो, मर्म स्थान, सन्धिस्थान आदि में जो रोग हो, एक मार्गगामी हो, चिकित्सा के चारों अंग पूर्ण न हों दोष दो मार्गानुसारी हो, बहुत समय का न हो, और दो दोषों से उत्पन्न हुआ हो वह रोग भी कष्टसाध्य है ॥१४–१६॥

याप्य व्याधि का लक्षण—

शेषत्वादायुषो याप्यमसाध्यं पथ्यसेवया ।
लब्ध्वाऽल्पसुखमल्पेन हेतुनाऽऽशुप्रवर्तकम् ॥ १७ ॥

असाध्य व्याधि, पथ्य, आहार विहार के पालन करने से आयु के शेष होने के कारण 'याप्य' होती है । कुछ काल तक आराम मिलता है, परन्तु थोड़े से भी कारण से पुनः शीघ्र उत्पन्न हो जाती है, इस प्रकार की व्याधि को ... कहते हैं ॥ १७ ॥

असाध्य व्याधि का लक्षण—

गम्भीरं बहुधातुस्थं मर्मसन्धिसमाश्रितम् ।
नित्यानुशायिनं रोगं दीर्घकालमवस्थितम् ॥ १८ ॥
विद्याद् द्विदोषजं, तद्वत्प्रत्याख्येयं त्रिदोषजम् ।
क्रियापथमतिक्रान्तं सर्वमार्गानुसारिणम् ॥ १९ ॥
औत्सुक्यारतिसंमोहकरमिन्द्रियनाशनम् ।
दुर्बलस्य सुसंवृद्धं व्याधिं सारिष्टमेव च ॥ २० ॥

मेद आदि गम्भीर धातु में स्थित, रस रक्तादि बहुत धातुओं में स्थित, मर्म सन्धि में आश्रित हो, लगातार रात दिन रहता हो २४ घन्टे बारह महीने बना रहे, देर तक दो चार साल का हो गया हो, दो दोषों से उत्पन्न हो ऐसे रोग को याप्य, और इस प्रकार के (गम्भीर बहु धातुस्थ आदि) तीनों दोषों से उत्पन्न रोग 'असाध्य' समझने चाहियें। जो रोग चिकित्सा से बाहर चला गया हो, बहुत बढ़ गया हो, सब मार्ग (ऊर्ध्व, अधः और तिर्यग्) तीनों मार्गों में पहुंच गया हो, अत्यन्त प्रसन्नता, अति बेचैनी, एवं मूर्च्छा (गम्भीर निद्रा) को उत्पन्न करे, जिस रोग से इन्द्रिय, आंख का देखना, या कान का सुनना आदि नष्ट हो जाये, निर्बल पुरुष में जो रोग बहुत बढ़ा हुआ हो, जिस रोग के लक्षण निश्चित मृत्यु को बताने वाले स्पष्ट हों वह रोग 'असाध्य' है, ऐसा रोगी भी असाध्य है ॥१८–२०॥

भिषजा प्राक् परीक्ष्यैवं विकाराणां स्वलक्षणम् ।
पश्चात्कार्यसमारम्भः कार्यः साध्येषु धीमता ॥ २१ ॥
साध्यासाध्यविभागज्ञो यः सम्यक् प्रतिपत्तिमान् ।
न स मैत्रेयतुल्यानां मिथ्याबुद्धिं प्रकल्पयेत् ॥ २२ ॥

वैद्य को चाहिये कि चिकित्सा करने से पूर्व रोगों की उनके लक्षणों से परीक्षा, जांच कर ले कि यह साध्य है या असाध्य है। पीछे साध्य रोगों में कार्य आरम्भ करना चाहिये असाध्यों में हाथ न लगाये। जो वैद्य साध्य और असाध्य के भेदों को भली प्रकार जानता है, वह ज्ञानी बुद्धिमान् वैद्य, मैत्रेय के समान लोगों की मिथ्या बुद्धि को नहीं बढ़ाता ॥२१–२२॥

तत्र श्लोकौ—इहौषधं पादगुणाः प्रभावो भेषजाश्रयः ।
[illegible] आत्रेय-मैत्रेय-मती मति-द्वैविध्य-निश्चयः ॥ २३ ॥
[illegible]ये चतुर्विधविकल्पाश्च व्याधयः स्वस्वलक्षणाः ।
[illegible] महाचतुष्पादे येष्वायत्तं भिषग्जितम् ॥ २४ ॥ इति ॥

इसमें दो श्लोक हैं—

इस महाचतुष्पाद नामक अध्याय में औषध, चतुष्पाद, गुण, भेषज के आश्रित प्रभाव, आत्रेय एवं मैत्रेय की दो प्रकार की बुद्धि, चार प्रकार के भेद से रोग एवं उनके लक्षण कह दिये हैं, और उन कारणों का भी वर्णन कर दिया है जिनसे वैद्य यशस्वी होता है ॥२३-२४॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने निर्देशचतुष्के
महाचतुष्पादो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः ।

—०*०—

अथातस्तिस्रैषणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब 'तिस्रैषणीय' नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥२॥

इह खलु पुरुषेणानुपहत-सत्त्व-बुद्धि-पौरुष-पराक्रमेण हितमिह चामुष्मिंश्च लोके समनुपश्यता तिस्र एषणाः पर्येष्टव्या भवन्ति, तद्यथा प्राणैषणा, धनैषणा, परलोकैषणेति ॥ ३ ॥

इस जगत् में जिस पुरुष का मन, ज्ञान, पौरुष, और पराक्रम मानसिक बल नष्ट नहीं हुआ, जो इह लोक में और परलोक में हित चाहता है उस को तीन एषणायें (इच्छायें) रखनी चाहियें, (१) प्राणैषणा (प्राण या जीवन की इच्छा), (२) धनैषणा (धन की इच्छा), (३) परलोकैषणा ॥३॥

आसां तु खल्वेषणानां प्राणैषणां तावत्पूर्वतरमापद्येत । कस्मात्? प्राणपरित्यागे हि सर्वत्यागः । तस्यानुपालनं-स्वस्थस्य स्वस्थवृत्तिरातुरस्य विकारप्रशमनेऽप्रमादः, तदुभयमेतदुक्तं वक्ष्यते च; तद्यथोक्तमनुवर्त्तमानः प्राणानुपालनाद्दीर्घमायुरवाप्नोतीति प्रथमैषणा व्याख्याता भवति ॥ ४ ॥

इन तीनों एषणाओं में से 'प्राणैषणा' को सब से प्रथम करे, क्योंकि प्राणों के छूट जाने पर सब कुछ छूट जाता है। प्राणैषणा के लिये स्वस्थ पु[illegible] चाहिये कि स्वस्थवृत्त का पालन करे, जिससे कि वह रोगी न हो और [illegible] शान्त करने में प्रमादी न हो। स्वस्थवृत्त और रोगशान्ति के [illegible]

बातें पूर्व कह दी गई हैं आगे विस्तार से भी कहेंगे। उनको ठीक २ प्रकार से पालन करने से मनुष्य प्राणों की रक्षा कर के दीर्घायु प्राप्त करता है। इस प्रकार से प्रथमैषणा का उपदेश कर दिया ॥४॥

अथ द्वितीयां धनैषणामापद्येत, प्राणेभ्यो ह्यनन्तरं धनमेव पर्येष्टव्यं भवति, न ह्यतः पापात्पापीयोऽस्ति यदनुपकरणस्य दीर्घमायुः, तस्मादुपकरणानि पर्येष्टुं यतेत। तत्रोपकरणोपायाननुव्याख्यास्यामः, तद्यथा कृषि-पाशुपाल्य-वाणिज्य-राजोपसेवादीनि,यानि चान्यान्यपि सतामविगर्हितानि कर्माणि वृत्ति-पुष्टि-कराणि विद्यात्तान्यरभेत कर्तुम्, तथा कुर्वन् दीर्घजीवितं जीवत्यनवमतः पुरुषो भवतीति द्वितीया धनैषणा व्याख्याता भवति ॥ ५ ॥

अब दूसरी 'धनैषणा' को भी करे। प्राणों से उतर कर धन ही आवश्यक होता है। क्योंकि इससे बढ़कर और कोई पाप संसार में नहीं है बिना साधनों के दीर्घ जीवन व्यतीत करना, इसलिये उपकरणों अर्थात् धन कमाने के साधनों को प्राप्त करने का यत्न करना चाहिये। धन कमाने के साधनों का भी उपदेश करते हैं, जैसे खेती, पशुओं का पालन, वाणिज्य-व्यापार, राजा की सेवा आदि। इनके सिवाय अन्य और भी जो २ कार्य सज्जन पुरुषों से अनिन्दित, जीविका को देने वाले हों, उन को करे इस प्रकार करने से दीर्घायु प्राप्त करता है और तिरस्काररहित जीवन व्यतीत करता है। इस प्रकार से दूसरी 'धनैषणा' की भी व्याख्या करदी। ५ ॥

अथ तृतीयां परलोकैषणामापद्येत। संशयश्चात्र—कथं? भविष्याम इतश्च्युता न वेति। कुतः संशयः पुनः इति? उच्यते—सन्ति ह्येके प्रत्यक्षपराः परोक्षत्वात् पुनर्भवस्य नास्तिक्यमाश्रिताः। सन्ति चापरे ये त्वागमप्रत्ययादेव पुनर्भवमिच्छन्ति। श्रुतिभेदाश्च।—

'मातरं पितरं चैकं मन्यन्ते जन्मकारणम्।
स्वभावं परनिर्माणं यदृच्छां चापरे जनाः ॥'

इत्यतः संशयः—किं नु खल्वस्ति पुनर्भवो न वेति ॥ ६ ॥

अब तीसरी 'परलोकैषणा' को भी प्राप्त करे। इस 'परलोकैषणा' के विषय में सन्देह है कि यहां से मरने के पीछे फिर जन्म होगा वा नहीं। संशय क्यों है? कहते हैं—कुछ मनुष्य ऐसे हैं, जो कि प्रत्यक्ष से जानने योग्य वस्तु को [illegible]नते हैं और परोक्ष को नहीं मानते। परोक्ष आंख से दिखाई नहीं देता, [illegible]ये ये नास्तिक मत को स्वीकार करते हैं, पुनर्जन्म को नहीं मानते। [illegible]वेदोपदेश को प्रमाण मानकर ही पुनर्जन्म को मानते हैं। श्रुति की

भिन्नता के कारण पुनर्जन्म में सन्देह है। कुछ मनुष्य जन्म का कारण माता-पिता को मानते हैं, और कोई स्वभाव को ही जन्म का कारण मानते हैं। तीसरे दूसरे को समस्त जगत् का कारण मानते हैं। चौथे लोग 'यदृच्छा' को ही जन्म का कारण मानते हैं, अर्थात् अपने आप विना कारण के ही जन्म हो गया है। इसलिये सन्देह होता है कि पुनर्जन्म है, वा नहीं ॥ ६ ॥

तत्र बुद्धिमान्नास्तिक्यबुद्धिं जह्याद्विचिकित्सां च। कस्मात्? प्रत्यक्षं ह्यल्पम्, अनल्पमप्रत्यक्षमस्ति यदागमानुमान-युक्तिभिरुपलभ्यते। यैरेव तावदिन्द्रियैः प्रत्यक्षमुपलभ्यते, तान्येव सन्ति चाप्रत्यक्षाणि ॥ ७ ॥

इस अवस्था में बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि 'नास्तिक्य बुद्धि' अर्थात् परलोक नहीं है इस विचार को और संशय को छोड़ दे। क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान बहुत थोड़ा है और अप्रत्यक्ष ज्ञान बहुत है जिसको आगम शास्त्र, अनुमान और युक्ति से जाना जाता है। जिन ज्ञानेन्द्रियों से प्रत्यक्ष ज्ञान किया जाता है वे इन्द्रियां स्वयं अप्रत्यक्ष हैं, आंख आंख को नहीं देख सकती, नाक नाक को नहीं सूंघ सकती, कान कान को नहीं सुन सकते ॥७॥

सतां च रूपाणामतिसंनिकर्षादतिविप्रकर्षादावरणात्करणदौर्बल्यान्मनोऽनवस्थानात्समानाभिहारादभिभवादतिसौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धिस्तस्मादपरीक्षितमेतदुच्यते—प्रत्यक्षमेवास्ति, नान्यदस्तीति ॥ ८ ॥

और रूप आदि के बहुत समीप होने से (जैसे पलकों में लगा हुआ काजल), अति विप्रकर्ष अर्थात् बहुत दूर होने से (जैसे बहुत दूर उड़ता हुआ पक्षी), बीच में व्यवधान आने से (जैसे दीवार के पीछे रक्खी वस्तु), इन्द्रिय के निर्बल होने से, मन स्थिर न होने से, एक साथ दो या अधिक भिन्न विषयों में इच्छा करने से, तिरस्कृत होने से यथा—मध्यान्ह में सूर्य की किरणों द्वारा तिरस्कृत नक्षत्रादि, अतिसूक्ष्म होने से, जैसे कृमि या द्वयणुकादि का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। इसलिये जो चार्वाक आदि नास्तिक का यह कहना कि 'प्रत्यक्ष' इन्द्रियों से जिसका ज्ञान होता है वही है, उसके अतिरिक्त और नहीं है वह अपरीक्षित अर्थात् विना सोचे विचारे कहा गया है ॥८॥

श्रुतयश्चैता न कारणं, युक्तिविरोधात् ॥ ९ ॥

नाना वादिजनों के वचन भी परलोक के न होने में प्रमाण नहीं हैं क्योंकि वे युक्ति (तर्क) से विरुद्ध हैं ॥९॥ युक्ति—

आत्मा मातुः पितुर्वा यः सोऽपत्यं यदि संचरेत्।
द्विविधं संचरेदात्मा सर्वो वाऽवयवेन वा ॥ १० ॥

सर्वश्चेत्संचरेन्मातुः पितुर्वा मरणं भवेत्।
निरन्तरं नावयवः कश्चित्सूक्ष्मस्य चाऽऽत्मनः ॥ ११ ॥

जो लोग कहते हैं कि माता पिता की आत्मा पुत्र रूप में उत्पन्न होती है; इस अवस्था में आत्मा की गति दो प्रकार से हो सकती है। एक, आत्मा सम्पूर्ण पुत्र रूप में आये; दूसरी अवस्था में आत्मा का कोई अवयव पुत्र रूप में आये। यदि सम्पूर्ण आत्मा पुत्र रूप में आता है तो माता या पिता किसी एक की मृत्यु हो जानी चाहिये, और दूसरी अवस्था में सूक्ष्म आत्मा का कोई अवयव हो ही नहीं सकता। परमाणुओं के संयोग से बनी वस्तु का भाग हो सकता है, परमाणु का नहीं ॥ १०-११ ॥

बुद्धिर्मनश्च निर्णीते यथैवाऽऽत्मा तथैव ते।
येषां चैषा मतिस्तेषां योनिर्नास्ति चतुर्विधा ॥ १२ ॥
विद्यात्स्वाभाविकं षण्णां धातूनां यत्स्वलक्षणम्।
संयोगे च वियोगे च तेषां कर्मैव कारणम् ॥ १३ ॥

जिस प्रकार माता पिता की आत्मा उत्पत्ति का कारण नहीं बन सकती उसी प्रकार ये बुद्धि और मन भी उत्पत्ति का हेतु नहीं बन सकते, क्योंकि मन और बुद्धि दोनों सूक्ष्म हैं, इसलिये इनका भी विभाग नहीं बन सकता। और यदि सम्पूर्ण अवतरण मानो तो माता पिता में से एक मन और बुद्धि से रहित अर्थात् ज्ञान, चिन्तन, बोध से शून्य होना चाहिये। इसलिये यह भी ठीक नहीं। एक और भी दोष है। उनके मतमें योनि चार प्रकार की (स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज और जरायुज) नहीं होती। (क्योंकि उद्भिज्ज योनि वनस्पति आदि में माता और पिता नहीं है)। प्राणियों की उत्पत्ति में छः धातु (पंच महाभूत, पृथ्वी, अप् , तेज, वायु और आकाश एवं छटी चेतना आत्मा) अपने लक्षणों से स्वभाव से ही कारण बनते हैं। इनके संयोग और वियोग में कर्म ही कारण है ॥ १२-१३ ॥

अनादेश्चेतनाधातोर्नेष्यते परनिर्मितिः।
पर आत्मा स चेद्धेतुरिष्टोऽस्तु परनिर्मितिः ॥ १४ ॥

ईश्वर का ही बनाया जगत् मानकर जो लोग आत्मा का अस्तित्व नहीं मानते उनका कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि अनादि (जिसका आदि नहीं) धातु (आत्मा) का दूसरे से बनाया जाना भी सम्भव नहीं। यदि पूर्व आत्मा नहीं है तो दूसरा पुरुष भी किस उपादान को ले कर दूसरे को क्योंकि अचेतन वस्तु चेतन को उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि

परमात्मा के केवल शरीर का बनाने वाला मानते हो तो तुम्हारे और हमारे सिद्धान्त में कोई भेद नहीं। इसलिये आत्मा नित्य है, वह समय २ पर स्थूल शरीर को छोड़कर परलोक में कर्मों का भोग करके भोग की समाप्ति पर और भोग्य कर्म फलों के भोग के लिये पुनः उत्पन्न होता है ॥१४॥

न परीक्षा न परीक्ष्यं न कर्ता कारणं न च ।
न देवा नर्षयः सिद्धाः कर्म कर्मफलं न च ॥ १५ ॥
नास्तिकस्यास्ति नैवाऽऽत्मा यदृच्छोपहतात्मनः ।
पातकेभ्यः परं चैतत्पातकं नास्तिकग्रहः ॥ १६ ॥

यदृच्छा भी जन्म का कारण नहीं है, क्योंकि यदृच्छावादी के मत में न कोई परीक्षा (प्रमाण) है, और न कोई परीक्ष्य अर्थात् प्रमेय वस्तु है। इसलिये माता, पिता, कन्या, बहिन, पत्नी, गुरु, वृद्ध, तपस्वी इत्यादि परीक्षणीय वस्तु के अभाव में मनमाना आचार होना सम्भव है और कर्म भी नहीं है, जिसका कि अच्छा या बुरा फल मिलेगा, इसलिये कर्म फल भी नहीं है। न कर्म का कोई कर्त्ता है, जो कर्म करे। यह सब यदृच्छा से ही, बिना कारण होता है, कारण के न होने से मनचाहा आचरण करने में कोई दोष नहीं होगा, इससे गुरु, सिद्ध पुरुषों में पूज्यापूज्य भाव भी नहीं रहेगा। वह माता, कन्या आदि में दारवत् बुद्धि कर सकेगा, इसलिये जिसका आत्मा यदृच्छावाद से नष्ट हो जाता है ऐसे नास्तिक का आत्मा नहीं रहता। अतः नास्तिक होना सब पातकों से बड़ा पातक है ॥ १५-१६ ॥

तस्मान्मतिं विमुच्यैताममार्गप्रसृतां बुधः ।
सतां बुद्धिप्रदीपेन पश्येत्सर्वं यथातथम् ॥ १७ ॥ इति ।

इसलिये बुद्धिमान् को चाहिये कि उल्टे मार्ग में जाने वाली इस विपरीत बुद्धि को छोड़ दे और सज्जन पुरुषों की बुद्धि रूप दीपक से सब वस्तुओं को ठीक २ रूप में देखे ॥ १७ ॥

द्विविधमेव खलु सर्वं—सच्चासच्च, तस्य चतुर्विधा परीक्षा आप्तोपदेशः प्रत्यक्षमनुमानं युक्तिश्चेति ॥ १८ ॥

संसार में जो कुछ दीख पड़ता है, वह सब दो प्रकार का है, एक सत् और दूसरा असत्। इस की परीक्षा चार प्रकार से होती है, १. आप्तोपदेश २. प्रत्यक्ष ३. अनुमान और ४. युक्ति।

आप्तास्तावत्—
रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपो-ज्ञान-बलेन ये ।
येषां त्रैकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा ॥ १९ ॥

आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम् ।
सत्यं, वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः ॥ २० ॥

जो पुरुष तप और ज्ञान के बल से रजोगुण और तमोगुण से मुक्त हो चुके हैं, केवल सत्त्व गुण ही जिन में रह गया है, उनका ज्ञान भूत, भविष्य और वर्त्तमान तीनों कालों में विशुद्ध और कभी भी बाधित नहीं होता। ऐसे पुरुष 'आप्त', 'शिष्ट' और 'विबुद्ध' होते हैं, इन के वाक्य विना सन्देह के होते हैं। ये पुरुष सदा सत्य ही कहेंगे, जो पुरुष रजस् और तमस् से रहित हैं वे असत्य कैसे बोल सकते हैं? ॥ १९-२० ॥

प्रत्यक्ष का लक्षण—

आत्मेन्द्रिय-मनोऽर्थानां संनिकर्षात्प्रवर्तते ।
व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते ॥ २१ ॥

आत्मा, इन्द्रिय, मन और अर्थ (पदार्थ) इन चारों का एक साथ संयोग होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उस को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं ॥ २१ ॥

अनुमान—

प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते ।
वह्निर्निगूढो धूमेन मैथुनं गर्भदर्शनात् ॥ २२ ॥
एवं व्यवस्यन्त्यतीतं, बीजात्फलमनागतम् ।
दृष्ट्वा बीजात्फलं जातमिहैव सदृशं बुधाः ॥ २३ ॥

प्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण से देखकर तीन प्रकार से कार्य—लिंगानुमान, कारण लिंगानुमान और कार्य-कारण लिंगानुमान होता है, भूत, भविष्यत्, और वर्त्तमान इन तीनों समय में परोक्ष का अनुमान किया जाता है। जैसे कि छिपी अग्नि को धुंआ देखकर जानते हैं और गर्भ को देखकर मैथुन कर्म का ज्ञान कर लेते हैं। इसी प्रकार से अतीत काल का ज्ञान अनुमान से कर लेते हैं और जिस प्रकार बीज को देखकर अनागत फल का अनुमान हो जाता है, जैसा बीज होता है, वैसा ही फल लगता है। इसी प्रकार भविष्य काल का भी अनुमान से ज्ञान करते हैं ॥ २२-२३ ॥

युक्ति—

जल-कर्षण-बीजर्तु-संयोगात्सस्य-संभवः ।
युक्तिः षड्धातु-संयोगाद् गर्भाणां संभवस्तथा ॥ २४ ॥
मध्य-मन्थन-मन्थान-संयोगादग्निसंभवः ।
युक्तियुक्ता चतुष्पाद-संपद्व्याधि-निबर्हणी ॥ २५ ॥

पानी, कर्षण (हल चलाया हुआ खेत), बीज और ऋतु इन चारों के संयोग से अन्न उत्पन्न होता है। उत्तम क्षेत्र में समय पर उत्तम बीज पानी से सींचकर बोने से अनाज होता है। इसलिये पृथ्वी, अप् , तेज, वायु और आकाश एवं चेतना इन छः के संयोग से गर्भ का होना सम्भव है; यह युक्ति है। इसी प्रकार 'मथ्य' अरणी का अधः काष्ठ (नीचे की लकड़ी), मन्थन (मथने का डण्डा) और (मन्थान) मथनी चलाने वाला कर्ता, इन तीनों के संयोग से अग्नि उत्पन्न होना सम्भव है। इसी प्रकार चतुष्पाद (चिकित्सा के चारों अङ्ग की) युक्ति से युक्त सम्पत् रोग को नाश करने वाली है। यदि चिकित्सा के चारों अंग ठीक तरह से प्रयुक्त किये जायें, तो रोग मिटना सम्भव है ॥ २४-२५ ॥

बुद्धिः पश्यति या भावान् बहु-कारण-योगजान् ।
युक्तिस्त्रिकाला सा ज्ञेया त्रिवर्गः साध्यते यया ॥ २६ ॥
एषा परीक्षा नास्त्यन्या यया सर्वं परीक्ष्यते ।
परीक्ष्यं सदसच्चैव तया चास्ति पुनर्भवः ॥ २७ ॥

जो बुद्धि बहुत प्रकार के कारणों से उत्पन्न, पदार्थों को ज्ञान के लिए देखती है उस बुद्धि को 'युक्ति' कहते हैं। यह बुद्धि तीनों कालो के विषय को देखती है, इस युक्ति से त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम तीनों पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं। यह चार प्रकार की (आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान और युक्ति) परीक्षा है, इसमे भिन्न और परीक्षा नहीं है। इस चार प्रकार की परीक्षा से सब कुछ सत्, असत्, भाव, अभाव जो कुछ ज्ञेय है, वह सब जाना जाता है। सत् असत् की परीक्षा करके ही जाना गया है कि पुनर्जन्म होता है ॥ २६-२७ ॥

तत्राऽऽप्तागमस्तावद्वेदः, यश्चान्योऽपि कश्चिद्वेदार्थादविपरीतः परीक्षकैः प्रणीतः शिष्टानुमतो लोकानुग्रह-प्रवृत्तः शास्त्र-वादः स चाऽऽप्तागमः। आप्तागमादुपलभ्यते—दान-तपो-यज्ञ-सत्याहिंसा-ब्रह्मचर्याण्यभ्युदय-निःश्रेयस-कराणीति। न चानतिवृत्त-सत्त्व-दोषाणामदोषैरपुनर्भवो धर्मद्वारेषूपदिश्यते। धर्मद्वारावहितैश्च व्यपगत-भय-राग-द्वेष-लोभ-मोह-मानैर्ब्रह्मपरैराप्तैः कर्मविद्भिरनुपहत-सत्त्व-बुद्धि-प्रचारैः पूर्वैः पूर्वतरैर्महर्षिभिर्दिव्यचक्षुर्भिर्दृष्ट्वोपदिष्टः पुनर्भव इति व्यवस्येदेवम् ॥ २८ ॥

आप्त पुरुषों का आगम वेद (ऋग्, यजुः, साम और अथर्व) हैं। इन वेदों के सिवाय और भी कोई अन्य जो कि वेद के अर्थ के अनुकूल, परीक्षकों से बनाया हुआ शिष्ट पुरुषों से अनुमत, जनसमाज के कल्याण के लिये प्र-

जो अन्य ज्योतिष, व्याकरण, आयुर्वेद स्मृति आदि हैं, वे भी आप्तागम अर्थात् शब्द प्रमाण हैं। आप्तागम से भी जाना जाता है कि ज्ञान, तप (द्वन्द्व-सहिष्णुता), यज्ञ (अग्निहोत्रादि), सत्य अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि कर्म अभ्युदय (इस लोक में कल्याण) और निःश्रेयस (परलोक में मङ्गल) करने वाले हैं। मनोदोष, रजस् और तमस् जिन के शान्त नहीं हो गये इन रजोगुणी या तमोगुणी पुरुषों को अपुनर्भव नहीं कहा गया, अर्थात् रजोगुणी या तमोगुणी पुरुषों का पुनर्जन्म होता है। ऐसा धर्म शास्त्रों में उपदेश किया गया है। धर्मशास्त्रों में सावधान, राग, मोह, द्वेष, भय, लोभ, मोह, मान से रहित, ब्रह्मचारी, आप्त विद्वान्, कर्म योग को जानने वाले, जिन के मन, बुद्धि एवं प्रचार (व्यवहार) ठीक बने हुए हैं, ऐसे अति प्राचीन महर्षियों ने दिव्य चक्षुओं से देखकर निश्चयपूर्वक पुनर्जन्म का उपदेश किया है, इसलिये उनका निश्चय सत्य करके जाने ॥ २८ ॥

प्रत्यक्षमपि चोपलभ्यते—मातापित्रोर्विसदृशान्यपत्यानि, तुल्यसंभवानां वर्ण-स्वराकृति-सत्त्व-बुद्धि-भाग्यविशेषाः, प्रवरावर-कुल-जन्म, दास्यैश्वर्यम्, सुखासुखमायुः, आयुषो वैषम्यम्, इहाकृतस्यावाप्तिः, अशिक्षितानां च रुदित-स्तन-पान-हास-त्रासादीनां च प्रवृत्तिः, लक्षणोत्पत्तिः, कर्मसामान्ये फलविशेषः, मेधा क्वचित्क्वचित्कर्मण्यमेधा, जातिस्मरणम्, इहाऽऽगमनमितश्च्युतानां च भूतानां समदर्शने प्रियाप्रियत्वम् ॥२९॥

प्रत्यक्ष से भी जाना जाता है कि पुनर्जन्म है, माता पिता से विभिन्न प्रकृति के पुत्र (रूपवान् माता पिता का काला पुत्र) होते हैं। एक ही माता पिता के दो पुत्रों में सगे भाइयों में रंग, स्वर, आकृति, चेहरा, मन, ज्ञान और भाग्य, प्रारब्ध भिन्न होते हैं. श्रेष्ठ और नीच कुल में जन्म होते हैं। किसी की दासता और किसी की ऐश्वर्य-सम्पत्ति होती है, कोई सुख पूर्वक जिन्दगी बसर करता है, कोई दुःख से जीवन व्यतीत करता है, आयु की विषमता, थोड़ा जीना या अधिक देर जीना, यहां किए कर्म का फल न मिलना, पढ़े सीखे विना ही रोने, दुग्ध पान (स्तन्य पान), हँसने डरने आदि कार्यों में प्रवृत्ति का होना, शरीर पर राज्यचिह्न या दारिद्र्यसूचक चिह्नों का होना, एक सदृश काम करने पर भी फल में भिन्नता का रहना, कहीं पर बुद्धि का होना और कहीं पर बुद्धि का न होना, जाति, पूर्व जन्म वृत्तान्त का स्मरण करना, यहां से मरने पर फिर यहां आना, एक समान एक दृष्टि से देखने पर प्रिय एवं अप्रिय, राग-द्वेष बुद्धि का उत्पन्न होना ये सब बातें पुनर्जन्म को सिद्ध करती हैं॥

अत एवानुमीयते—यत्स्वकृतमपरिहार्यमविनाशि पौर्वदेहिकं दैवसंज्ञकमानुबन्धिकं कर्म, तस्यैतत्फलम्, इतश्चान्यद्भविष्यतीति। फलाद्बीजमनुमीयते, फलं च बीजात् ॥ ३० ॥

उपरोक्त बातों को देखकर ही अनुमान भी किया जाता है कि अपना किया हुआ कर्म नहीं छोड़ा जा सकता, उसका विनाश नहीं हो सकता, पूर्व जन्म में किया हुआ 'भाग्य' नामक आनुबन्धिक अर्थात् आत्मा के साथ परलोक में भी निश्चित रूप से बँधा हुआ है। उसी का यह फल है जो कि माता पिता से पुत्र भिन्न प्रकृति के उत्पन्न होते हैं इत्यादि। यहां किये कर्म से दूसरा जन्म होगा, बीज से फल का अनुमान होता है, कर्म से पुनर्जन्म का और पुनर्जन्म से कर्म का अनुमान होता है ॥ ३० ॥

युक्तिश्चैषा—षड्धातुसमुदायाद् गर्भजन्म, कर्तृकरणसंयोगात् क्रिया, कृतस्य कर्मणः फलं नाकृतस्य, नाङ्कुरोत्पत्तिरबीजात्, कर्मसदृशं फलं नान्यस्माद्बीजादन्यस्योत्पत्तिरिति युक्तिः ॥ ३१ ॥

युक्ति भी है कि—पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश और चेतना इन छः धातुओं के समुदाय मिलने से गर्भ उत्पन्न होता है और कर्त्ता और करण (साधन) के मिलने से क्रिया उत्पन्न होती है, कर्त्ता आत्मा, करण स्त्री पुरुष उनके संयोग से गर्भाशय रूप क्षेत्र में जन्म होता है। किये हुए ही कर्म का फल होता है, न किये हुए कर्म का फल नहीं होता। जिस प्रकार बिना बीज के अंकुर उत्पन्न नहीं होता वैसे कर्म के अनुसार समान ही फल मिलता है यथा—एक जाति के बीज से दूसरी जाति का फल उत्पन्न नहीं होता ॥ ३१ ॥

एवं प्रमाणैश्चतुर्भिरुपदिष्टे पुनर्भवे धर्मद्वारेष्ववधीयेत, तद्यथा-गुरुशुश्रूषायामध्ययने व्रतचर्यायां दारक्रियायामपत्योत्पादने भृत्यभरणेऽतिथिपूजायां दानेऽनभिध्यायां तपस्यनसूयायां देहवाङ्मानसे कर्मण्यक्लिष्टे देहेन्द्रिय-मनोऽर्थ-बुद्ध्यात्म-परीक्षायां मनःसमाधाविति, यानि चान्यान्यप्येवंविधानि कर्माणि सतामविगर्हितानि स्वर्ग्याणि वृत्तिपुष्टिकराणि विद्यात्तान्यारभेत कर्तुम्, तथा हि कुर्वन्निह चैव यशो लभते प्रेत्य च स्वर्गमिति तृतीया परलोकैषणा व्याख्याता भवति ॥ ३२ ॥

इस प्रकार आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान और युक्ति चारों प्रमाणों द्वारा पुनर्जन्म के सिद्ध होने पर धर्म-साधन के मार्गों में चित्त लगावे। यथा—गुरु माता, पिता, आचार्य की सेवा, अध्ययन-पठन में, ब्रह्मचर्य्य काय, मन, वाणी से मैथुन त्याग, ब्रह्मचर्य्यपालन, विवाह कर्म में, सन्तानोत्पत्ति, आश्रित जन-

के पोषण में, अतिथि सत्कार में, यथाशक्ति दान देने में, दूसरे के धन को न चाहने में, द्वन्द्व सुख-दुःख सहने में, दूसरे के गुणों में दोष न देखने में, शरीर को बिना कष्ट पहुँचाये शरीर, वाणी और मन से कर्म करने में, देहपरीक्षा में, इन्द्रिय परीक्षा, मन परीक्षा, विषय की परीक्षा, ज्ञान की परीक्षा, आत्म परीक्षा, और मन की समाधि (चित्तवृत्ति-निरोध) में मन का लगाना ही धर्म मार्ग है। और भी दूसरे इसी प्रकार के कर्म, सज्जनों से अनिन्दित, पूजित, स्वर्ग सुख को देने वाले, जीवन पालन करने वाले हों, उनको करने का उद्योग करे, ऐसा करने पर इहलोक में यश मिलता है और मरने पर स्वर्ग अर्थात् पुनर्जन्म मे सुख मिलेगा, इस प्रकार से तीसरी परलोकैषणा भी कह दी ॥ ३२ ॥

अथ खलु त्रय उपस्तम्भाः, त्रिविधं बलम्, त्रीण्यायतनानि, त्रयो रोगाः, त्रयो रोगमार्गाः, त्रिविधा भिषजः, त्रिविधमौषधमिति ॥३३॥

तीन प्रकार के उपस्तम्भ अर्थात् शरीर को धारण करने वाले तत्त्व हैं, तीन प्रकार के बल हैं, तीन कारण हैं। तीन प्रकार के रोग हैं, तीन रोगमार्ग हैं, तीन प्रकार के चिकित्सक हैं, तीन प्रकार की औषध हैं ॥ ३३ ॥

त्रय उपस्तम्भा इति—आहारः,स्वप्नो,ब्रह्मचर्यमिति। एभिस्त्रिभिर्युक्तियुक्तैरुपस्तब्धमुपस्तम्भैः शरीरं बलवर्णोपचयोपचितमनुवर्त्तते यावदायुःसंस्कारात् संस्कारमहितमनुपसेवमानस्य, य इहैवोपदक्ष्यते ॥३४॥

तीन उपस्तम्भ तत्त्व जो शरीर को धारण करते हैं, आहार, स्वप्न और ब्रह्मचर्य्य हैं। ये तीनों को युक्ति पूर्वक प्रयुक्त करने पर शरीर दृढ़, मजबूत बल, वर्ण, पुष्टि से युक्त होता है, जब तक शरीर में धर्माधर्म आयु के बनाने में कारण रहते हैं। इन तीनों उपस्तम्भों का उचित मात्रा में सेवन करना ही आयु का कारण है। अहित वस्तुओं का सेवन न करना ही आयु में कारण है, उन अहित वस्तुवों को यहीं पर कहेंगे ॥ ३४ ॥

त्रिविधं बलमिति सहजं कालजं युक्तिकृतं च। तत्र सहजं यच्छरीरसत्त्वयोः प्राकृतम्, कालकृतमृतुविभागजं वयःकृतं च, युक्तिकृतं पुनस्तद्यदाहारचेष्टायोगजम् ॥ ३५ ॥

तीन प्रकार का बल है—सहज, कालजन्य और युक्तिजन्य, इन में उत्पत्ति के समय ही शरीर और मन को गर्भाशय में मिलता है जो बल उसे सहज या प्राकृतिक बल कहते हैं। कालजन्य ऋतुओं के विभागानुसार आहार-विहार के द्वारा और बाल्य, यौवन और वृद्धावस्था में उत्पन्न बल। यौवनावस्था में बला-

धिक्य रहता है। बलकारक आहार या चेष्टा विहार से जो बल उत्पन्न किया जाता है वह युक्तिकृत है ॥ ३५ ॥

त्रीण्यायतनानीति अर्थानां कर्मणः कालस्य चातियोगायोग-मिथ्या-योगाः। तत्रातिप्रभावतां दृश्यानामतिमात्रं दर्शनमतियोगः, सर्वशोऽदर्शनमयोगः, अतिसूक्ष्मातिश्लिष्टातिविप्रकृष्ट-रौद्र-भैरवाद्भुत द्विष्ट-बीभत्स-विकृतादि-रूप-दर्शनं मिथ्यायोगः। तथाऽतिमात्र-स्तनित-पटहोत्क्रुष्टादीनां शब्दानामतिमात्रं श्रवणमतियोगः, सर्वशोऽश्रवणमयोगः, परुषेष्ट-विनाशोपघात-प्रधर्षण भीषणादि-शब्द-श्रवणं मिथ्यायोगः। तथाऽतितीक्ष्णोग्राभिष्यन्दिनां गन्धानामतिमात्रं घ्राणमतियोगः, सर्वशोऽघ्राणमयोगः। पूति-द्विष्टामेध्य-क्लिन्न-विष-पवन-कुणप-गन्धादि घ्राणं मिथ्यायोगः, तथा रसानामत्यादानमतियोगः, अनादानमयोगः, मिथ्यायोगो राशि-वर्ज्येष्वाहार-विधि-विशेषायतनेपूपदेक्ष्यते; तथाऽतिशीतोष्णानां स्पृश्यानां स्नानाभ्यङ्गोत्सादनादीनां चात्युपसेवनमतियोगः, सर्वशोऽनुपसेवनमयोगः, स्नानादीनां शीतोष्णादीनां च स्पृश्यानामनानुपूर्व्योपसेवनं विषम-स्थानाभिघाताशुचि-भूत-संस्पर्शादयश्चेति मिथ्यायोगः ॥ ३६ ॥

रोग के आयतन अर्थात् कारण तीन हैं, अर्थ, अर्थात् इन्द्रियों के विषय कर्म और काल इन तीनों का अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग ये तीन रोगों के 'आयतन' हैं। बहुत चमकने वाले पदार्थ सूर्य आदि का देर तक देखना चक्षु-इन्द्रिय का 'अतियोग' है, सर्वथा ही न देखना 'अयोग' है। बहुत क्लेशदायक पदार्थ का देखना, बहुत दूर की वस्तु को देखना, रौद्र, भयानक-डरावनी, अद्भुत, अप्रिय, बीभत्स और विकृत रूपों को देखना, आंख का 'मिथ्यायोग' है। इसी प्रकार बादल की घरघराहट को अधिक सुनना, ढोल या नगाड़े की आवाज को बहुत सुनना, तोप आदि के बहुत ऊँचे शब्द को अधिक सुनना, कान का 'अतियोग' है। सर्वथा न सुनना 'अयोग' है। कठोर, पुत्र धन आदि इष्ट वस्तुओं के नाश को सुनना, इष्ट वस्तु के मरण को सुनना, दुर्वचन, तिरस्कार सुनना, भयोत्पादक भयानक शब्दों का सुनना, श्रोत्रेन्द्रिय का 'मिथ्यायोग' है। अति तीव्र (मरिच आदि) गन्ध का सूंघना, उग्र, चमेली आदि गन्ध का अधिक सूंघना, माल कंगनी आदि गन्ध का अधिक मात्रा में सूंघना, नासा का 'अतियोग' है। सर्वथा न सूंघना नाक का 'अयोग' है, सड़ी दुर्गन्धयुक्त, गली की अपवित्र जहरीली वायु, मुर्दे की गन्ध जैसी वस्तुओं को सूंघना नाक का 'मिथ्यायोग' है। इसी प्रकार मधुर आदि रसों का अधिक

मात्रा में उपयोग रसनेन्द्रिय का 'अतियोग' है, सर्वथा रसों का न खाना अयोग है। आगे विमान स्थान (अ० १) में कहे हुए प्रकृति, करण, संयोग, देश, काल, उपयोग, संस्थोपयोक्तृ और राशि इन आठ में से राशि को छोड़कर शेष सात के विरुद्ध आहार करने का नाम रसनेन्द्रिय का 'मिथ्यायोग' है। बहुत ठण्डे बहुत गरम स्पर्श, बहुत अधिक स्नान, बहुत मालिश, बहुत उबटन लगाना, त्वक्-इन्द्रिय का 'अतियोग' है। इनके बिल्कुल सेवन न करना 'अयोग' है, ऊंचे नीचे स्थान का, चोट घाव आदि और शव आदि अपवित्र वस्तुओं का स्पर्श करना 'मिथ्यायोग' है ॥ ३६ ॥

तत्रैकं स्पर्शनेन्द्रियमिन्द्रियाणामिन्द्रियव्यापकं चेतः, समवायि स्पर्शनव्याप्तेर्व्यापकमपि च चेतः, तस्मात्सर्वेन्द्रियाणां व्यापकस्पर्शकृतो यो भावविशेषः सोऽयमनुपशयात्पञ्चविधस्त्रिविधविकल्पो भवत्यसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः; सात्म्यार्थो ह्युपशयार्थः ॥ ३७ ॥

इन पांच ज्ञानेन्द्रियों में से एक स्पर्शन (त्वचा) इन्द्रिय शेष घ्राण, रसना, चक्षु और कर्ण इन चार इन्द्रियों में और गुदा, लिंग, हाथ, पैर और वाणी में भी व्यापक हैं और यह त्वग्-इन्द्रिय मन के साथ समवाय सम्बन्ध से संयुक्त है, इसलिये त्वग् इन्द्रिय सब इन्द्रियों में फैली होने से और चित्त का इस त्वगिन्द्रिय के साथ समवाय सम्बन्ध होने से मन भी व्यापक हो जाता है। इसलिये सब इन्द्रियों में व्यापक स्पर्शेन्द्रिय के साथ समवाय सम्बन्ध से जुड़ा हुआ मन, आत्मा के अभीप्सित विषय को ग्रहण करने के लिये स्पर्शेन्द्रिय द्वारा प्राप्त मार्ग से, उस विषय को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय तक पहुंच जाता है। इस से सब इन्द्रियों में व्यापक त्वक् के स्पर्श से उत्पन्न जो अपने अपने विषय के ज्ञान विशेष उत्पन्न होते हैं, वे शरीर के अनुकूल न होने पर, पांच प्रकार के होने पर भी तीन प्रकार होते हैं। यथा (१) 'असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग' अर्थात् इन्द्रियों का विषय के साथ अनुचित रूप से संयोग होना अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग इन तीन प्रकार का हो जाता है। सात्म्य का अर्थ उपशय है, शरीर के जो अनुकूल पड़े वह 'सात्म्य' है ॥ ३७ ॥

कर्म वाङ्-मनः-शरीर-प्रवृत्तिः। तत्र वाङ्मनःशरीरातिप्रवृत्तिरतियोगः, सर्वशोऽप्रवृत्तिरयोगः, वेग-धारणोदीरण-विषम-स्खलन-गमन-पतनाङ्ग-प्रणिधानाङ्ग-प्रदूषण-प्रहार-मर्दन-प्राणोपरोध-संक्लेशनादिः शारीरो मिथ्यायोगः। सूचकानृताकाल-कलहाप्रियाबद्धानुपचार-परुष-वच-

नादिर्वाङ्मिथ्यायोगः। भय-शोक-क्रोध-लोभ-मोह-मानेर्ष्या-मिथ्यादर्शनादिर्मानसो मिथ्यायोगः॥ ३८॥

वाणी मन और शरीर इन की चेष्टा का नाम 'कर्म' है, इन में वाणी, मन और शरीर की अतिप्रवृत्ति का नाम 'अतियोग' है। इन की सर्वथा प्रवृत्ति न होना 'अयोग' है। वाणी, मल-मूत्रादि के उपस्थित वेगों को रोकना, अनुपस्थित वेगों को बलपूर्वक बाहर निकालना, सम स्थान पर विषम (टेढ़ा-मेढ़ा) गिरना, अनुचित रूप से चलना, ऊंचे स्थान से कूदना, अंगों को टेढ़ा-मेढ़ा करना, अंगों को पीड़ित करना, खुजाना, दबाना आदि, अङ्गों पर दण्ड आदि से प्रहार करना, अङ्गों का मर्दन करना, श्वास घोटना, श्वास बन्द करना, संक्लेश व्रत, उपवास आदि, विषम नृत्य आदि कर्म भी शरीर के 'मिथ्यायोग' हैं। निन्दा, चुगली, मिथ्या बोलना, विना समय के बात करना, झगड़ा करना, जीको दुःखाने वाला अप्रिय, असम्बद्ध, प्रतिकूल और कर्कश बोलना, वाणी का 'मिथ्यायोग' है। भय, शोक, चिन्ता, क्रोध, लोभ, मोह, अज्ञान, मान, अहंकार, ईर्ष्या, मिथ्यादर्शन, नास्तिक्य बुद्धि ये मन के 'मिथ्यायोग' हैं॥ ३८॥

संग्रहेण चातियोगायोगवर्जं कर्म वाङ्-मनः-शरीरजमहितमनुपदिष्टं यत् तच्च मिथ्यायोगं विद्यात्॥ ३९॥ इति त्रिविध-विकल्पं त्रिविधमेव कर्म प्रज्ञापराध इति व्यवस्येत्॥ ४०॥

संक्षेप में—वाणी, मन और शरीर के जो अहितकारी और नहीं कहे हुए कर्म हैं, जिनका अतियोग या अयोग में समावेश नहीं होता, वे सब 'मिथ्यायोग' जानने चाहियें। वाणी, मन और शरीर इनके अतियोग अयोग और मिथ्यायोग को 'प्रज्ञापराध' कहते हैं॥ ३९–४०॥

शीतोष्ण-वर्ष-लक्षणाः पुनर्हेमन्त-ग्रीष्म-वर्षाः संवत्सरः स कालः। तत्रातिमात्र-स्वलक्षणः कालः कालातियोगः, हीन-स्वलक्षणः कालः कालायोगः, यथास्वलक्षण-विपरीतलक्षणस्तु कालः कालमिथ्यायोगः। कालः पुनः परिणाम उच्यते॥ ४१॥

हेमन्त और शिशिर शीत काल, वसन्त और ग्रीष्म उष्ण काल, वर्षा और शरद् और वर्षा काल। इस प्रकार से हेमन्त, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा और शरद इन छः ऋतुओं वाला सम्वत्सर रूप काल, शीत, उष्ण और वर्षा के रूप में तीन प्रकार का है। इन में अपने लक्षणों से अधिक हेमन्त आदि का होना काल का 'अतियोग' है, शीतकाल में बहुत अधिक शीत, ग्रीष्म में बहुत अधिक गरमी, वर्षा काल में बहुत अधिक बरसात पड़ना ये काल के 'अतियोग' हैं

और हेमन्त आदि काल में अपने लक्षणों से कम शीत आदि का होना 'अयोग' है। हेमन्त आदि काल में अपने लक्षणों से विपरीत लक्षणों का होना अर्थात् शीत काल में वर्षा या गरमी पड़ना, गर्मियों में शीत या वर्षा होना, वर्षा काल में शीत या गरमी पड़ना, काल का 'मिथ्यायोग' है। काल का ही दूसरा नाम 'परिणाम' है ॥ ४१ ॥

इत्यसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति त्रयस्त्रिविध-विकल्पाः कारणं विकाराणाम्, समयोगयुक्तास्तु प्रकृतिहेतवो भवन्ति॥

सर्वेषामेव भावानां भावाभावौ नान्तरेण योगायोगातियोगमिथ्या-योगान् समुपलभ्येते। यथास्वयुक्त्यपेक्षिणौ हि भावाभावौ ॥ ४३ ॥

ये ऊपर कहे 'असात्म्येन्द्रियार्थ' 'प्रज्ञापराध' और 'परिणाम' ये तीनों अति-योग, अयोग मिथ्यायोग के द्वारा सब रोगों के कारण बनते हैं। इन्द्रियार्थ संयोग, बुद्धि-संयोग और काल-संयोग ये तीनों स्वास्थ्य के कारण बनते हैं। क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में जितने ही पदार्थ हैं, उनके दो ही स्वरूप हैं, एक भाव दूसरा अभाव। अपने स्वरूप में रहने का नाम 'भाव' और अपने स्वरूप से भिन्न दूसरे स्वरूप से रहना 'अभाव' है। ये दोनों (भाव और अभाव) काल, बुद्धि और इन्द्रियार्थ संयोग के समयोग, अतियोग, अयोग और मिथ्या-योग के विना नहीं होते ॥ ४२-४३ ॥

त्रयो रोगा इति-निजागन्तुमानसाः। तत्र निजः शरीरदोष-समुत्थः, आगन्तुर्भूत-विष-वाय्वग्नि-संप्रहारादि-समुत्थः, मानसः पुनरिष्टस्या-लाभाल्लाभाच्चानिष्टस्योपजायते ॥ ४४ ॥

रोग तीन प्रकार के हैं, (१) निज जो अपने शरीर में उत्पन्न हैं, (२) आगन्तुज और (३) मानस। इनमें (१) निज जो शरीर के दोष वात, पित्त, कफ के कारण उत्पन्न होने वाले हैं। (२) आगन्तुज भूत, विष, स्थावर, जंगम विष से जन्य, दुष्ट वायु से, आग से चोट आदि से उत्पन्न होने वाले (३) इष्ट वस्तु के न मिलने और अनिष्ट वस्तु के मिल जाने से मानस रोग उत्पन्न होते हैं ॥ ४४ ॥

तत्र बुद्धिमता मानस-व्याधि-परीतेनापि सता बुद्ध्या हिताहितम-वेक्ष्यावेक्ष्य धर्मार्थकामानामहितानामनुपसेवने हितानां चोपसेवने प्रयतितव्यम्, नह्यन्तरेण लोके त्रयमेतन्मानसं किञ्चिन्निष्पद्यते-सुखं वा दुःखं वा, तस्मादेतच्चानुष्ठेयं, तद्विद्यावृद्धानां चोपसेवने प्रयतितव्यम्, आत्म-देश-काल-बल-शक्ति-ज्ञाने यथावच्चेति ॥ ४५ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि मानस व्याधि के रहते हुए भी लोभ, काम, क्रोध, मोह के विपरीत, उत्तम बुद्धि से हित और अहित कार्यों का विचार करते हुए, धर्म, अर्थ और काम इनके अहितकारक कार्यों को छोड़ने में, तत्पर, एवं धर्म, अर्थ और काम के लिये हितकारी कार्यों को सेवन करने में प्रयत्नवान् रहना चाहिये। क्योंकि संसार में धर्म अर्थ और काम तीनों के विना मनोजन्य सुख वा दुःख कुछ भी नहीं होता। इसलिये इन (धर्म, अर्थ और काम) के हितकारी कार्यों का ग्रहण और अहितकारी कार्यों का त्याग करने में प्रयत्नशील रहना चाहिये, इस के लिये विद्यावृद्ध पुरुषों का सेवन करना चाहिये। आत्मज्ञान, देश-ज्ञान, काल-ज्ञान, बल-ज्ञान, और शक्ति ज्ञान के लिये उचित रीति से प्रयत्न करना चाहिये ॥ ४५ ॥

भवति चात्र।

मानसं प्रति भैषज्यं त्रिवर्गस्यान्ववेक्षणम्।
तद्विद्यसेवा विज्ञानमात्मादीनां च सर्वशः ॥ ४६ ॥ इति।

और इस प्रसङ्ग में एक श्लोक है औषध धर्म, अर्थ, काम (त्रिवर्ग) का सेवन करना, धर्म, अर्थ काम इन को उपदेश करने वाले विद्यावृद्ध पुरुष की सेवा करना, आत्मज्ञान, देश, काल, बल आदि का ज्ञान करना मानस रोगों की औषध है ॥ ४६ ॥

त्रयो रोगमार्गा इति–शाखा, मर्मास्थिसन्धयः, कोष्ठश्च। तत्र शाखा रक्तादयो धातवस्त्वक् च, स बाह्यो रोगमार्गः। मर्माणि पुनर्वस्ति-हृदय-मूर्धादीनि. अस्थि-सन्धयोऽस्थि-संयोगाः, तत्रोपनिबद्धाश्च स्नायुकण्डराः, स मध्यमो रोगमार्गः। कोष्ठः पुनरुच्यते महास्रोतः शरीरमध्यं महा-निम्नमामपक्वाशयश्चेति पर्यायशब्दैस्तन्त्रे, स रोगमार्ग आभ्यन्तरः॥४७॥

रोगों के तीन मार्ग हैं, जैसे—(१) शाखा, (२) मर्म, अस्थि-सन्धियां और (३) कोष्ठ। इन में शाखा रक्त आदि छः धातु और त्वचा ये सात बाह्य रोगमार्ग हैं, वस्ति (मूत्राशय), हृदय (दिल) और शिर, मस्तिष्क एक सौ सात मर्म और अस्थि (हड्डियां), सन्धियां (अस्थियों के जोड़), तथा इन में बंधी हुई स्नायु और कण्डरायें ये 'मध्यम रोगमार्ग' हैं, यह दूसरा मार्ग है। शरीर के बीच में, बड़ा भारी स्रोत, बड़े भारी गढ़े के तुल्य है, इस को आमाशय या पक्वाशय के नाम से कहते हैं, यह तीसरा 'आभ्यन्तर रोगमार्ग' है ॥ ४७ ॥

तत्रगण्ड-पिडकालज्यपची-चर्म-कीलाधि-मांस-मशक-कुष्ठ-व्यङ्गादि-विकारा बहिर्मार्गजाश्च वीसर्प-श्वयथु-गुल्मार्शो-विद्रध्यादयः शाखानुसारिणो भवन्ति रोगाः ॥ ४८ ॥

पक्ष-वध-पक्षाघतानकार्दित-शोष-राजयक्ष्मास्थि-सन्धि-शूल-गुद-भ्रंशाद्यः शिरो-हृद्बस्ति-रोगादयश्च मध्यम-मार्गानुसारिणो भवन्ति रोगाः ॥

ज्वरातीसार-च्छर्द्यलसक-विषूचिका-कास-श्वास-हिक्काऽऽनाहोदर-प्लीहादयोऽन्तर्मार्गजाश्च वीसर्प-श्वयथु-गुल्मार्शो-विद्रध्यादयः कोष्ठ-मार्गानुसारिणो भवन्ति रोगाः ॥ ५० ॥

इन में गण्ड (शोथ, गलगण्ड रोग नहीं), फुन्सी, अलजी, अपची, चर्म, कील, अधिमांस, मशक (मस्से), कुष्ठ, व्यंग, और अजगल्लिका आदि रोग 'बहिर्मार्ग' में होते है । वीसर्प, सूजन, गुल्म, अर्श, विद्रधि आदि रोग शाखानुसारी अर्थात् रक्तादि मार्गों के अनुसारी होते हैं । पक्षाघात, मन्याग्रह, अपतानक अर्दित, शोष, राजयक्ष्मा, अस्थि शूल, सन्धिशूल, गुदभ्रंश आदि, हिक्का आदि एवं शिरो रोग, हृदय रोग तथा बस्ति रोग और अण्ड वृद्धि भी ये मध्यम, 'मार्गानुसारी' रोग हैं । ज्वर, अतीसार, छर्दि, अलसक, विषूचिका, (हैजा) कास, श्वास, हिक्का, आनाह, उदर, प्लीहा, आदि रोग 'अन्तर्मार्ग' से उत्पन्न होते हैं । वीसर्प, सूजन, गुल्म, अर्श, और विद्रधि जो शाखानुसारी रोग हैं, वे कोष्ठानुसारी होते हैं, (रक्तानुसारी रोग कोष्ठानुसारी नहीं होते और कोष्ठानुसारी रोग शाखानुसारी रोग नहीं होते) ॥ ४८-५० ॥

त्रिविधा भिषज इति—

भिषक्छद्मचराः सन्ति सन्त्येके सिद्धसाधिताः ।
सन्ति वैद्यगुणैर्युक्तास्त्रिविधा भिषजो भुवि ॥ ५१ ॥

भिषक् भी तीन प्रकार के होते हैं, १. छद्मचर, २. सिद्धसाधित और ३. वैद्य गुणों से युक्त ये तीन प्रकार के चिकित्सक इस पृथ्वी पर मिलते हैं ॥५१॥

वैद्यभाण्डौषधैः पुस्तैः पल्लवैरवलोकनैः ।
लभन्ते ये भिषक्शब्दमज्ञास्ते प्रतिरूपकाः ॥ ५२ ॥

छद्मचर वैद्यों का लक्षण—वैद्यों या औषधियों के बर्तन, पुस्त अर्थात् मिट्टी या लोहे के बने मनुष्य के ढांचे, पुस्तकों, पत्तों को देखने से जो मनुष्य 'भिषक्' शब्द प्राप्त करते हैं, वे वैद्यों के नकलची ढोंगी मूर्ख हैं, वे त्याज्य हैं ।५२।

श्री-यशो-ज्ञान-सिद्धानां व्यपदेशादतद्विधाः ।
वैद्यशब्दं लभन्ते ये ज्ञेयास्ते सिद्धसाधिताः ॥ ५३ ॥

सिद्धसाधित वैद्य—अन्य स्थान पर चिकित्सा कर्म में यश, ज्ञान, और सफलता प्राप्त किये हुए वैद्यों के नाम से धोखा करके जो वैद्य बन जाते हैं, उनको 'सिद्धसाधित' वैद्य समझना । इनको भी छोड़ देना चाहिये ॥ ५३ ॥

प्रयोग-ज्ञान-विज्ञान-सिद्धि-सिद्धाः सुखप्रदाः ।
जीविताभिसरा ये स्युर्वैद्यत्वं तेष्ववस्थितम् ॥ ५४ ॥

सद्वैद्य का लक्षण—औषध का, प्रयोग और शास्त्र का ज्ञान, लोक व्यवहार के जानने, प्रख्यात एवं रोगियों को सुखी करने वाले 'प्राणाभिसर' कहाते हैं। इन्हीं पुरुषों में वैद्य का लक्षण विद्यमान है। उन्हीं को वैद्य कहना चाहिये॥

त्रिविधमौषधमिति दैवव्यपाश्रयम्, युक्तिव्यपाश्रयम्, सत्त्वावजयश्च। तत्र दैवव्यपाश्रयं मन्त्रौषधि-मणि-मङ्गल-बल्युपहार-होम-नियम-प्रायश्चित्तोपवास-स्वस्त्ययन-प्रणिपात-तीर्थगमनादि, युक्तिव्यपाश्रयं पुनराहारौषधद्रव्याणां योजना। सत्त्वावजयः पुनरहितेभ्योऽर्थेभ्यो मनोविनिग्रहः ॥ ५५ ॥

औषध तीन प्रकार की है—दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय और सत्त्वावजय। इनमें दैव-व्यपाश्रय देव अर्थात् ईश्वर पर आश्रित औषध, मन्त्र, ओषधि, मणि, मंगल, शुभ कर्म्म, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास, स्वस्तिपाठ, नमस्कार तीर्थाटन आदि हैं। युक्ति अर्थात् योग पर आश्रित औषध आहार एवं औषध द्रव्यों. दोष नाशक पदार्थों की योजना। सत्त्वावजय—मन, को अहितकारक विषयों से रोकना तीसरी प्रकार की औषध है ॥ ५५ ॥

शरीर-दोष प्रकोपे तु खलु शरीरमेवाऽऽश्रित्य प्रायशस्त्रिविधमौषधमिच्छन्ति—अन्तःपरिमार्जनम्, बहिःपरिमार्जनम्, शस्त्रप्रणिधानं चेति। तत्रान्तःपरिमार्जनं यदन्तःशरीरमनुप्रविश्यौषधमाहार-जात-व्याधीन् प्रमार्ष्टि। यत्पुनर्बहिःस्पर्शमाश्रित्याभ्यङ्ग-स्वेद-प्रदेह-परिषेकोन्मर्दनाद्यैरामयान् प्रमार्ष्टि तद्बहिःपरिमार्जनम्। शस्त्रप्रणिधानं पुनश्छेदन-भेदन-व्यधन-दारण-लेखनोत्पाटन-प्रच्छन-सीवनैषण-क्षार-जलौकसश्चेति ॥ ५६ ॥

शरीर के वात, पित्त, कफ इन दोषों के कुपित होने पर शरीर को ही आश्रय करके तीन प्रकार की औषधों का विशेष रूप से व्यवहार करते हैं। जैसे अन्तःपरिमार्जन, बहिःपरिमार्जन और शस्त्र-प्रणिधान। इनमें जो औषध या आहार शरीर के अन्दर घुसकर उत्पन्न हुए रोगों को शान्त करता है वह 'अन्तःपरिमार्जन' है और जो शरीर के बाहर ही त्वचा पर अभ्यंग, स्वेद, प्रलेप, परिषेक, उन्मर्दन (मालिश) आदि द्वारा रोगों को शान्त करता है, उसे 'बहिःपरिमार्जन' कहते हैं। छेदन (दो करना) भेदन (आशय के अन्दर घुसना) व्यधन (आशयों से भिन्न स्थान में भेदन करना), दारण (चीरना), लेखन (खुरेचना), उत्पाटन (उखाड़ना), प्रच्छन (शस्त्र आदि से फाड़ना,)

सीवन (सीना), एषण (नाड़ी या गति व्रण को ढूंढना), क्षार (द्रव्यों को भस्मकर क्षरण होने वाला सार भाग), जलौका (जोंक) इनके उपयोग को शस्त्र-प्रणिधान कहते हैं ॥ ५६ ॥

प्राज्ञो रोगे समुत्पन्ने बाह्येनाऽऽभ्यन्तरेण वा ।
कर्मणा लभते शर्म शस्त्रोपक्रमणेन वा ॥ ५७ ॥
बालस्तु खलु मोहाद्वा प्रमादाद्वा न बुध्यते ।
उत्पद्यमानं प्रथमं रोगं शत्रुमिवाबुधः ॥ ५८ ॥
अणुर्हि प्रथमं भूत्वा रोगः पश्चाद्विवर्धते ।
स जातमूलो मुष्णाति बलमायुश्च दुर्मतेः ॥ ५९ ॥
न मूढो लभते संज्ञां तावद्यावन्न पीड्यते ।
पीडितस्तु मतिं पश्चात्कुरुते व्याधिनिग्रहे ॥ ६० ॥
अथ पुत्रांश्च दारांश्च ज्ञातींश्चाऽऽहूय भाषते ।
सर्वस्वेनापि मे कश्चिद्भिषगानीयतामिति ॥ ६१ ॥
तथाविधं च कः शक्तो दुर्बलं व्याधिपीडितम् ।
कृशं क्षीणेन्द्रियं दीनं परित्रातुं गतायुषम् ॥ ६२ ॥
स त्रातारमनासाद्य बालस्त्यजति जीवितम् ।
गोधा लाङ्गूलबद्धेवाऽऽकृष्यमाणा बलीयसा ६३ ॥
तस्मात्प्रागेव रोगेभ्यो रोगेषु तरुणेषु वा ।
भेषजैः प्रतिकुर्वीत य इच्छेत्सुखमात्मनः ॥ ६४ ॥

बुद्धिमान् रोग के होने पर 'बहिःपरिमार्जन' अथवा 'अन्तःपरिमार्जन' या 'शस्त्र-क्रिया' से शान्ति प्राप्त करता है। परन्तु बाल, अनभिज्ञ पुरुष मोह वश अथवा प्रमाद से उत्पन्न होते हुए रोग को पहिले से उसी प्रकार नहीं जानता; जिस प्रकार मूर्ख अपने उत्पन्न होते हुए शत्रु को नहीं पहिचानता। रोग प्रथम सूक्ष्म रूप में होता है, और पीछे बढ़ जाता है। बढ़ने पर इस रोग की जड़ जम जाती है, जड़ पकड़ लेने पर रोग मूढ़ व्यक्ति की आयु और बल दोनों को हर लेता है। जब तक मनुष्य रोग से पीड़ित नहीं होता, तब तक प्रतीकार का विचार नहीं करता और जब दुःखित हो जाता है, तब रोग के निराकरण सोचा करता है। सब पुत्रों, स्त्रियों और जाति सम्बन्धियों को बुला कर कहता है कि 'मेरा सर्वस्व देकर भी किसी वैद्य को लाओ' इस प्रकार के रोगग्रस्त, निर्बल, क्षीणेन्द्रिय, दीन, मरणासन्न व्यक्ति की कौन वैद्य रक्षा कर सकता है? वह मूढ़ रक्षा करने वाले को न पाकर प्राण त्याग देता है, जिस प्रकार पूंछ में

रस्सी से बँधी गोह बलवान पुरुष द्वारा खींचने पर मर जाती है—ऐसे ही वह भी मर जाता है। इसलिये जो व्यक्ति सुख चाहे वह रोगों के उत्पन्न होने से पूर्व, (संचयावस्था में, रोगों की तरुणदशा में) ही दोषों का औषधियों से प्रतीकार करे ॥ ५७-६४ ॥

तत्र श्लोकौ ।

एषणाश्चाप्युपस्तम्भा बलं कारणमामयाः ।
तिस्रैषर्णाये मार्गाश्च भिषजो भेषजानि च ॥ ६५ ॥
त्रित्वेनाष्टौ समुद्दिष्टाः कृष्णात्रेयेण धीमता ।
भावा भावेष्वसक्तेन येषु सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ६६ ॥ इति ।

तिस्रैषणीय अध्याय में बुद्धिमान् ऋषि कृष्णात्रेयने तीन एषणायें, उपस्तम्भ, बल, रोगों के कारण, रोगमार्ग, वैद्य, भैषज्य, औषध, इन आठों के तीन तीन भेद कर कल्पना सहित उपदेश किये हैं ॥ ६५-६६ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने निर्देशचतुष्के
तिस्रैषणीयो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः ।

अथातो वातकलाकलीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'वातकलाकलीय' नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

वातकलाकलज्ञानमधिकृत्य परस्परमतानि जिज्ञासमानाः समुपविश्य महर्षयः पप्रच्छुरन्योन्यं किंगुणो वायुः, किमस्य प्रकोपनम्, उपशमनानि वाऽस्य कानि, कथं चैनमसंघातवन्तमनवस्थितमनासाद्य प्रकोपनप्रशमनानि प्रकोपयन्ति प्रशमयन्ति वा, कानि चास्य कुपिताकुपितस्य शरीराशरीरचरस्य शरीरेषु चरतः कर्माणि बहिःशरीरेभ्यो वेति ॥ ३ ॥

वायु के अंशांश विकल्पना के सम्बन्ध में महर्षि लोग एकत्र होकर परस्पर एक दूसरे के मत जानने के लिये पूछने लगे कि—वायु के क्या गुण हैं ? वायु को प्रकुपित करने वाले कौन से कारण हैं ? कुपित वायु को शान्त करने

वाली कौन सी वस्तुएं हैं ? और किस प्रकार से इस अमूर्त्त, अदृश्य एवं निरन्तर गतिशील, चंचलस्वभाव वायु को विना प्राप्त किये कुपित करने वाली वस्तुएं इसे कैसे कुपित करती हैं, अथवा शान्त करने वाली वस्तुएं किस प्रकार से इस को शान्त करती हैं ? और शरीर के अन्दर गति करने वाले एवं लोक में चलने वाले, कुपित एवं अकुपित वायु के शरीर के अन्दर गति करते हुए कौन २ से कर्म हैं, और शरीर के बाहर लोक में गति करते हुए इस के कौन से कर्म होते हैं ? ॥ ३ ॥

अत्रोवाच कुशः साङ्कृत्यायनः—रूक्ष-लघु-शीत-दारुण-खर-विशदाः षडिमे वातगुणा भवन्ति ॥ ४ ॥

इस प्रसङ्ग में ऋषि साङ्कृत्यायन कुश बोले—वायु के रूक्ष, लघु, शीत, दारुण, खर, विशद ये छः गुण होते हैं ॥४॥

तच्छ्रुत्वा वाक्यं कुमारशिरा भरद्वाज उवाच—एवमेतद्यथा भगवानाह, एत एव वातगुणा भवन्ति, स त्वेवंगुणैर्द्रव्यैरेवंप्रभावैश्च कर्मभिरभ्यस्यमानैर्वायुः प्रकोपमापद्यते, समानगुणाभ्यासो हि धातूनां वृद्धिकारणमिति ॥ ५ ॥

इस को सुनकर ऋषि कुमारशिरा भरद्वाज बोले—"जिस प्रकार आपने कहा, ठीक इसी प्रकार है। ये रूक्ष आदि छः गुण ही वायु के हैं, इसलिये इन गुणों वाले पदार्थों इन गुण वाले प्रभावों और इन गुण वाले कर्मों के पुनः २ सेवन करने से वायु का प्रकोप होता है। क्योंकि धातुओं के समान गुण वाले पदार्थों वा कर्मों के पुनः २ सेवन करने से धातुओं को वृद्धि होती है" ॥५॥

तच्छ्रुत्वा वाक्यं काङ्कायनो बाह्लीकभिषगुवाच—एवमेतद्यथा भगवानाह, एतान्येव वातप्रकोपनानि भवन्ति, अतो विपरीतानि खल्वस्य प्रशमनानि भवन्ति, प्रकोपनविपर्ययो हि धातूनां प्रशमकारणमिति ॥ ६ ॥

इस बात को सुनकर काङ्कायन नाम बाह्लीक (बलख) देश के वैद्य बोले—'जिस प्रकार आपने कहा ठीक ऐसा ही है। ये ही कारण वात को कुपित करते हैं। इनके विपरीत स्निग्ध, गुरु, उष्ण, मृदु, पिच्छिल, श्लक्ष्ण, स्थूल, स्थिर, गुण वाले द्रव्य या इस प्रकार के कर्म इस कुपित वायु को प्रशमन करते हैं। क्योंकि कोपक वस्तुओं के कारणों के विपरीत गुण वाले द्रव्य धातुओं को शान्त करते हैं' ॥ ६ ॥

तच्छ्रुत्वा वाक्यं बडिशो धामार्गव उवाच—एवमेतद्यथा भगवा-

नाह, एतान्येव वातप्रकोपप्रशमनानि भवन्ति, यथा ह्येनमसंघातनमवस्थितमनासाद्य प्रकोपप्रशमनानि प्रकोपयन्ति प्रशमयन्ति वा, तथाऽनुव्याख्यास्यामः। वातप्रकोपनानि खलु रूक्ष-लघु-शीत-दारुण-खर-विशद-शुषिर-कराणि शरीराणाम्, तथाविधेषु शरीरेषु वायुराश्रयं, गत्वाऽऽप्याय्यमानः प्रकोपमापद्यते, वातप्रशमनानि पुनः स्निग्ध-गुरूष्ण-श्लक्ष्ण-मृदु-पिच्छिल-घन-कराणि शरीराणाम्, तथाविधेषु शरीरेषु वायुरसज्यमानश्चरन् प्रशान्तिमापद्यते ॥ ७ ॥

कांकायन ऋषि के वचन सुनकर बडिश धामार्गव बोले—आपने जो कहा सो ठीक ही कहा है। ये ही आपके कहे हुए कारण वायु को कुपित और शान्त करने वाले होते हैं। जिस प्रकार कि इस सूक्ष्म एवं निरन्तर गतिशील वायु को प्राप्त करके ये रूक्ष आदि गुण इस वायु को कुपित करते हैं, तथा शान्त करते हैं इसकी व्याख्या करेंगे। वात को कुपित करने वाले द्रव्य शरीर को रूक्ष लघु ठण्डा दारुण (कठिन) खरखरा विशद (जो चिप चिपा न हो) और छिद्र युक्त कर देते हैं। रूक्ष लघु आदि शरीर में आश्रय पाकर संचित हुआ वायु प्रकुपित हो जाता है। वात को शान्त करने वाले द्रव्य एवं कर्म शरीर को स्निग्ध, गुरु, उष्ण (गरम), श्लक्ष्ण, मृदु (कोमल), चिपचिपा, तथा गाढ़ा कर देते हैं। इस प्रकार के शरीर में संचार करता हुआ वायु आश्रय न पाकर शान्त हो जाता है ॥ ७ ॥

तच्छ्रुत्वा बडिशवचनमवितथमृषिगणैरनुमतमुवाच वार्योविदो राजर्षिः-एवमेतत्सर्वमनपवादं यथा भगवानाह, यानि तु खलु वायोः कुपिताकुपितस्य शरीराशरीरचरस्य शरीरेषु चरतः कर्माणि बहिः शरीरेभ्यो वा भवन्ति, तेषामवयवान् प्रत्यक्षानुमानोपमानैः साधयित्वा नमस्कृत्य वायवे यथाशक्ति प्रवक्ष्यामः, वायुस्तन्त्र-यन्त्र धरः, प्राणोदान-समान-व्यानापानात्मा, प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां, नियन्ता प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः, सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा, सर्व-शरीर-धातु-व्यूह-करः, सन्धानकरः शरीरस्य, प्रवर्तको वाचः, प्रकृतिः स्पर्श-शब्दयोः, श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलं, हर्षोत्साहयोर्योनिः; समीरणोऽग्नेः, दोषसंशोषणः, क्षेप्ता बहिर्मलानां, स्थूलाणुस्रोतसां भेत्ता, कर्ता गर्भाकृतीनाम्, आयुषाऽनुवृत्ति-प्रत्यय-भूतो भवत्यकुपितः। कुपितस्तु खलु शरीरे शरीरं नानाविधर्विकाररुपतपति बलवर्ण-सुखायुषामुपघाताय, मनो व्याहर्षयति, सर्वेन्द्रियाण्युपहन्ति, विनिहन्ति गर्भान् विकृतिमा-

पादयत्यतिकालं धारयति, भय-शोक-मोह-दैन्यातिप्रलापाञ्जनयति, प्राणांश्चोपरुणद्धि ।

प्रकृतिभूतस्य खल्वस्य लोकेषु चरतः कर्माणीमानि भवन्ति, तद्यथा–धरणीधारणं, ज्वलनोज्ज्वालनं, आदित्य-चन्द्र-नक्षत्र-ग्रह गणानां सन्तान-गति-विधानं सृष्टिश्च मेघानां, अपां च विसर्गः, प्रवर्तनं स्रोतसां, पुष्पफलानां चाभिनिर्वर्तनम्, उद्भेदनं चौद्भिदानां, ऋतूनां प्रविभागः, विभागो धातूनां धातुमानसंस्थानव्यक्तिः, बीजाभिसंस्कारः, शस्याभिवर्धनमविक्लेदोपशोषणेऽवैकारिक-विकाराश्चेति ।

प्रकुपितस्य खल्वस्य लोकेषु चरतः कर्माणीमानि भवन्ति, तद्यथा–उत्पीडनं सागराणां, उद्वर्तनं सरसां, प्रतिसरणमापगानाम्, आकम्पनं च भूमेः, आधमनमम्बुदानां, शिखरिशिखरावमथनं, उन्मथनमनाकहानां, नीहार-निर्ह्राद-पांसु-सिकता-मत्स्य-भेकारग क्षार रुधिराश्माशनि-विसर्गः व्यापादनं च षण्णामृतूनां, शस्यानामसंघातः, भूतानां चोपसर्गः, भावानां चाभावकरणं, चतुर्युगान्तकराणां मेघ-सूर्यानलानिलानां विसर्गः ।

स हि भगवान् प्रभवश्चाऽव्ययश्च, भूतानां भावाभावकरः, सुखासुखयोर्विधाता, मृत्युः, यमो, नियन्ता, प्रजापतिः, अदितिः, विश्वकर्मा, विश्वरूपः, सर्वगः, सर्वतन्त्राणां विधाता, भावानामणुर्विभुर्विष्णुः, क्रान्ता लोकानां, वायुरेव भगवानिति ॥ ८ ॥

वडिश के सत्य एवं ऋषियों के अनुमोदित उस वचन को सुन कर राजर्षि वार्योविद ने कहा—आपने जो कुछ कहा है वह सब ठीक ही है, अर्थात् इन नियमों के प्रतिकूल एक भी उदाहरण नहीं है । "अपवाद" का अर्थ निन्दाभी होता है । अभिप्राय यह है कि सब ऋषियों का इस विषय में एक ही मत है । कुपित तथा शान्त हुये शरीर में संचार करने वाले एवं शरीर से बाहर संचार करने वाले वायु के शरीर में तथा शरीर से बाहर जो कर्म हैं उनके अवयवों को प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध कर तथा वायु को नमस्कार कर यथाशक्ति कहूँगा । वायु शरीररूपी यन्त्रों को धारण करने वाला है । 'तन्त्र' शब्द से शरीरस्थ धातुओं के जो अपने-अपने नियम हैं उनसे अभिप्राय है । यन्त्र से अभिप्राय जिसके द्वारा शरीरस्थ धातुओं का एक जगह से दूसरी जगह जाना आदि व्यापार होता है । अर्थात् तन्त्र (नियम) एवं यन्त्र दोनों को धारण करनेवाला है ।

वायु प्राणादि पांच रूपों वाला है । सम्पूर्ण उच्च या नीच विविध प्रकार की चेष्टाओं का प्रवर्त्तक है, मनका नियामक तथा नेता (लेजाने वाला) है (वायु

मनको अनिष्ट विषय से लौटा कर इष्ट विषय में लगाता है) यही वायु सम्पूर्ण इन्द्रियों को विषयों में प्रेरणा करता है ।

सम्पूर्ण शब्द आदि इन्द्रियों के विषयों का वहन करने वाला भी वायु ही है । वायु ही शरीरस्थ धातुओं को यथानियम अपने २ स्थलों पर स्थापित करता है । शरीर को जोड़ने वाला भी यही वायु है, वाणी को प्रवृत्त करने वाला, स्पर्श तथा शब्द की प्रकृति (कारण) श्रोत्रेन्द्रिय एवं स्पर्शनेन्द्रिय का मूल कारण वायु ही है ।

यह वायु हर्ष तथा उत्साह की योनि है (अभिव्यक्ति) का कारण है। अग्नि का प्रेरक शरीरस्थ दोषों का शोषण करनेवाला । मलों को बाहर निकालने वाला, स्थूल एवं सूक्ष्म स्रोतों को भेदन करने वाला, शरीरोत्पत्ति के समय गर्भ की आकृतियों को बनाने वाला भी वायु ही है । यह वायु आयु के अनुवर्त्तन-परिपालन का कारणभूत होता है । उपर्युक्त सभी कर्म शान्तवायु के कहे गये हैं। शरीर में कुपित हुआ वायु तो शरीर को नाना प्रकार के रोगों से पीड़ित करता है, जिस से बलवर्णादि क्षीण होता है, मनको दुःखित करता है, सम्पूर्ण इन्द्रियों को नष्ट करता है, गर्भ को नाश करता है.अथवा जितने काल तक गर्भ को गर्भाशय में रहना चाहिये उससे अधिक काल तक गर्भाशय में ठहराता है । भय, शोक, मोह, दीनता, अतिप्रलाप इनको उत्पन्न करता है और मृत्यु काभी कारण होता है। प्रकृतिस्थ वायु के लोक में संचरण करने से ये कर्म होते हैं, जैसे—पृथ्वी का धारण करना, अग्नि को जलाना, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र तथा ग्रहों को बराबर नियमपूर्वक गति में रखना, बादलों को बनाना, जलों का छोड़ना, स्रोतों को बहाना फल-फूलों को उत्पन्न करना, वृक्षादि को पृथ्वी से बाहर निकालना (अंकुरित करना), ऋतुओं का विभाग करना, स्वर्णादि धातुओं का आकार तथा परिमाण को व्यक्त करना, बीजों में अंकुर को उत्पन्न करने की शक्ति पैदा करना, शस्यादि को बढ़ाना, उसे सड़ने तथा सूखने न देना अन्य जो भी प्रकृतिकार्य हैं उसे करना, जब यह वायु प्रकुपित हो कर संसार में संचरण करता है तो इससे ये कर्म होते हैं—समुद्रों को उत्पीड़न करना, तालाब आदि जलाशय के जलों को ऊँचा-करना (अर्थात् तट के बाहर जल को निकालना) नदिओं को विपरीत दिशा में बहाना भूकंप कराना, मेघों का गर्जन कराना, पर्वतों के चोटियों को तोड़ना, वृक्षों को उखाड़ना, नीहार, गर्जन, धूलि, बालू, मछली, मेढ़क, सांप, क्षार (राख), रुधिर, छोटे२ पत्थर तथा बिजली को आकाश से गिराना, छहों ऋतुओं को नाश करना, अन्नको उत्पन्न न होने देना, प्राणियों को मारना, उत्पन्न हुये वस्तुओं का नाश

करना, चारों युगोंका संहार करनेवाले बादल, सूर्य, अग्नि एवं वायु की सृष्टि करना इत्यादि होते हैं।

वह भगवान् वायु उत्पत्ति के कारण हैं, अविनाशी हैं, एवं प्राणियों का उत्पादक तथा नाशक हैं। सुख एवं दुःख को देने वाला, मृत्यु, यम, नियन्ता, प्रजापति, अदिति, विश्वकर्मा, विश्वरूप सर्वग (व्यापक), सम्पूर्ण नियमों, कर्मों तथा शरीरों को बनाने वाला सभी वस्तुओं का विधाता, सूक्ष्म, व्यापक, विष्णु पृथ्व्यादिलोकों को आक्रमण करने वाला भगवान् वायु ही हैं॥ ८॥

तच्छ्रुत्वा वार्योविदवचो मरीचिरुवाच-यद्यप्येवमेतत्किमर्थस्यास्य वचने विज्ञाने वा सामर्थ्यमस्ति भिषग्विद्यायां, भिषग्विद्यां चाधिकृत्येयं कथा प्रवृत्तेति॥ ९॥

वार्योविदि के वचन को सुनकर भगवान् मरीचि ने कहा, यद्यपि आपने जो कहा है वह ठीक है तथापि आयुर्वेद मे इस विषय को कहना या जानना निष्प्रयोजन है यहां तो केवल चिकित्सा सम्बन्धी ही कथा हो रही है॥ ९॥

वार्योविद उवाच—भिषक् पवनमतिबलमतिपरुषमतिशीघ्रकारिणमात्ययिकं चेन्नानुनिशम्येत्, सहसा प्रकुपितमतिप्रयतः कथमग्रेऽभिरक्षितुमभिधास्यति प्रागेवैनमत्ययभयादिति। वायोर्यथार्था स्तुतिरपि भवत्यारोग्याय बलवर्णवृद्धये वर्चस्वित्वायोपचयाय ज्ञानोपपत्तये परमायुःप्रकर्षाय चेति॥ १०॥

वार्योविद बोले—चिकित्सा-शास्त्र में वायु बहुत बलवान्, बहुत कठोर, अति शीघ्रकारी अतिचपल; अति दुःखदायक है, यदि ऐसा ज्ञात न हो तो, सहसा वायु के कुपित होने पर, वैद्य किस प्रकार से उसको बिना जाने पहिले ही इससे बचने को कहेगा। वायु के विषय में यथार्थ रूप में कहना, जानना, स्तुति करना भी आरोग्यलाभ, बल, कान्ति, तेज, शक्ति को बढ़ाने, ज्ञान वृद्धि करने और दीर्घतम आयु को प्राप्त करने और बढ़ाने के लिये है॥ १०॥

मरीचिरुवाच-अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति, तद्यथा-पक्तिमपक्तिं दर्शनमदर्शनं मात्रामात्रत्वमूष्मणः प्रकृति-विकृति-वर्णं शौर्यं भयं क्रोधं हर्षं मोहं प्रसादमित्येवमादीनि चापराणि द्वन्द्वानीति॥ ११॥

मरीचि बोले—शरीर में स्थित पित्त के अन्दर पहुंची हुई अग्नि ही कुपित और अकुपित अवस्था में शुभ एवं अशुभ कर्मों को (क्रमशः) करती है।

यथा—कुपित न होने पर पचन क्रिया को (भ्राजक पित्त), स्वाभाविक रंग को (रंजक पित्त), शौर्य, हर्ष, प्रसाद प्रसन्नता को (साधक अग्नि) उत्पन्न करती है। कुपित होने पर, पाचन क्रिया की जड़ता, मन्द दृष्टि, उष्णता को अयोग्य प्रमाण में, विकृत वर्ण, भय, क्रोध, मूर्च्छा उत्पन्न करता है। इसी प्रकार कुपित और अकुपित अवस्थाओं में पित्त अन्य द्वन्द्वों को भी उत्पन्न करता है ॥ ११ ॥

तच्छ्रुत्वा मरीचिवचः काप्य उवाच-सोम एव शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः शुभाशुभानि करोति, तद्यथा—दार्ढ्यं शैथिल्यमुपचयं कार्श्यमुत्साहमालस्यं वृषतां क्लीबतां ज्ञानमज्ञानं बुद्धिं मोहमेवमादीनि चापराणि द्वन्द्वानीति ॥ १२ ॥

मरीचि ऋषि के वचन सुनकर काप्य बोले—शरीरस्थ कफ में सोम (जल तत्त्व) पहुंच कर कुपित और अकुपित अवस्था में शुभ एवं अशुभ कर्मों को करता है। अकुपित अवस्था मे—शरीर की दृढ़ता वृद्धि, कार्यों में उत्साह, पुरुषत्व, ज्ञान, बुद्धि आदि को उत्पन्न करता है। कुपित होने पर शरीर का ढीलापन, निर्बलता, आलस्य, नपुंसकता, मूढ़ता मूर्च्छा आदि उत्पन्न करता है। इस प्रकार कुपित और अकुपित अवस्था मे दूसरे द्वन्द्वों को भी उत्पन्न करता है ॥१२॥

तच्छ्रुत्वा काप्यवचो भगवान् पुनर्वसुरात्रेय उवाच-सर्व एव भवन्तः सम्यगाहुरन्यत्रैकान्तिकवचनात्, सर्व एव खलु वातपित्तश्लेष्माणः प्रकृतिभूताः पुरुषमव्यापन्नेन्द्रियं बल-वर्ण-सुखोपपन्नमायुषा महतोपपादयन्ति सम्यगेवाऽऽचरिता धर्मार्थकामा इव निःश्रेयसेन महतोपपादयन्ति पुरुषमिह चामुष्मिंश्च लोके, विकृतास्त्वेनं महता विपर्ययेणोपपादयन्ति ऋतवस्त्रय इव विकृतिमापन्ना लोकमशुभेनोपघातकाले इति ॥ १३ ॥

काप्य ऋषि के वचनों को सुनकर पुनर्वसु आत्रेय बोले—आप सबने जो कुछ कहा वह सब ठीक है। परन्तु आपने जो यह कहा कि अकेला वायु या अकेला पित्त अथवा अकेला कफ ही कुपित और अकुपित अवस्था में सब शुभ-अशुभ कर्म करते हैं—यह वचन व्यभिचरित होने से ठीक नहीं है। सब ही वात पित्त कफ (तीनों) अकुपित अर्थात् स्वस्थावस्था में प्रकृति युक्त, स्वस्थ इन्द्रिययुक्त पुरुष को, बल, वर्ण, सुख और दीर्घायुष्य प्रदान करते हैं। जिस प्रकार कि उचित रूप में सेवन किये हुए धर्म, अर्थ और काम पुरुष को

इस लोक में और परलोक में बड़े भारी कल्याण से युक्त करते हैं, जिस प्रकार की विकृत हुई तीनों ऋतुएं (शीत, ग्रीष्म और वर्षा) संसार को प्रलयकाल में कष्टों से पीड़ित करते हैं। इसी प्रकार कुपित हुए वात पित्त और कफ पुरुष को बड़े भारी विपरीत बल, वर्ण, सुख से हीन तथा अल्पायु बनाते हैं ॥ १३ ॥

तदृषयः सर्व एवानुमेनिरे वचनमात्रेयस्य भगवतोऽभिननन्दुश्चेति ॥ १४ ॥

भवति चात्र।

तदात्रेयवचः श्रुत्वा सर्व एवानुमेनिरे।
ऋषयोऽभिननन्दुश्च यथेन्द्रवचनं सुराः ॥ १५ ॥

भगवान् आत्रेय के कथन को सब ऋषियों ने अनुमोदन किया। जिस प्रकार कि देवता इन्द्र के वचनों को सराहते हैं, इस प्रकार ऋषियों ने आत्रेय के वचनों की प्रशंसा की ॥ १४-१५ ॥

तत्र श्लोकौ—गुणाः षड् द्विविधो हेतुर्विविधं कर्म यत्पुनः।
वायोश्चतुर्विधं कर्म पृथक्च कफपित्तयोः ॥ १६ ॥
महर्षीणां मतिर्या या पुनर्वसुमतिश्च या।
कलाकलीये वातस्य तत्सर्वं संप्रकाशितम् ॥ १७ ॥ इति।

वायु के छः गुण, दो प्रकार के कारण कुपित और अकुपित, वायु के नाना प्रकार के कर्म; कफ और पित्त के पृथक् कर्म, महर्षियों एवं पुनर्वसु आत्रेय की संमति, ये सब इस 'वात-कलाकलीय' अध्याय में सम्पूर्ण रूप में कह दिया।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने स्वस्थवृत्तचतुष्के
वातकलाकलीयो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥
इति निर्देशचतुष्कस्तृतीयः ॥ ३ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः।

अथातः स्नेहाध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे स्नेह-अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा भगवानात्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

सांख्यैः संख्यातसंख्येयैः सहाऽऽसीनं पुनर्वसुम् ।
जगद्धितार्थं पप्रच्छ वह्निवेशः स्वसंशयम् ॥ ३ ॥

जिन तत्त्वज्ञानी लोगों ने जानने योग्य बातों को भली प्रकार जान लिया था ऐसे मुनियों के साथ बैठे हुए पुनर्वसु आत्रेय से, ऋषि अग्निवेश ने अपने सन्देह को जगत् के कल्याण के लिये पूछा ॥ ३ ॥

किंयोनयः, कति स्नेहाः, के च स्नेहगुणाः पृथक् ।
कालानुपाने के, कस्य, कति, काश्च विचारणाः ॥ ४ ॥
कति मात्राः, कथंमाना; का च केषूपदिश्यते ।
कश्च केभ्यो हितः स्नेहः, प्रकर्षः स्नेहने च कः ॥ ५ ॥
स्नेह्याः के, के न च स्निग्धाः, स्निग्धातिस्निग्धलक्षणम् ।
किं पानात्प्रथमं, पीते जीर्णे किं च हिताहितम् ॥ ६ ॥
के मृदु-क्रूर-कोष्ठाः, का व्यापदः, सिद्धयश्च काः ।
अच्छे संशोधने चैव स्नेहे का वृत्तिरिष्यते ॥ ७ ॥
विचारणाः केषु योज्या विधिना केन तत् प्रभो ! ।
स्नेहस्यामितविज्ञान ! ज्ञातुमिच्छामि वेदितुम् ॥ ८ ॥

स्नेहों के उत्पत्ति स्थान कौन से हैं ? स्नेह कितने हैं ? पृथक् पृथक् प्रत्येक स्नेह के गुण क्या हैं ? प्रत्येक स्नेह का समय, अनुपान क्या है ? विचारणाएं कितने प्रकार की हैं ? मात्रायें कितनी हैं ? उनका परिमाण क्या है ? और कौन सा परिमाण किसके लिये कहा गया है ? कौनसा स्नेह किस के लिये हितकारी है ? स्नेहन में कौन से स्नेह उत्तम हैं ? स्नेह के योग्य कौन है ? स्नेह के अयोग्य कौन हैं ? अस्निग्ध और अतिस्निग्ध के लक्षण क्या हैं ? स्नेहपान से पूर्व क्या पीना और क्या नहीं पीना चाहिये ? स्नेह के जीर्ण होने पर क्या पीना हितकारी और क्या अहितकारी है ? मृदु, क्रूर, कोष्ठ वाले कौन हैं ? स्नेह से कौन से रोग उत्पन्न होते हैं ? उनका उपचार क्या है ? संशमन, संशोधन और स्नेहन में कैसे बर्ताव से रहें ? किन २ पुरुषों में विचारणा किस विधि से प्रयोग करनी चाहिये ? हे प्रभो ! स्नेह सम्बन्धी अनन्त ज्ञान को जानने की मेरी इच्छा है ॥ ४-८ ॥

अथ तत्संशयच्छेत्ता प्रत्युवाच पुनर्वसुः ।
स्नेहानां द्विविधा सौम्य ! योनिः स्थावर-जङ्गमा ॥ ९ ॥
तिलः प्रियालाभिषुकौ बिभीतकश्चित्राभयरण्ड-मधूक-सर्षपाः ।
कुसुम्भ-बिल्वारुक-मूलकातसी-निकोटकाक्षोड-करञ्ज-शिग्रुकाः ॥ १० ॥

स्नेहाश्रयाः स्थावरसंज्ञितास्तथा स्युर्जङ्गमा मत्स्यमृगाः सपक्षिणः।
तेषां दधि-क्षीर घृतामिषं वसा स्नेहेषु मज्जा च तथापदिश्यते ॥ ११ ॥

अग्निवेश के सन्देह को दूर करने वाले भगवान् पुनर्वसु ने उत्तर दिया—स्नेहों के उत्पत्ति स्थान दो प्रकार के हैं; स्थावर और जंगम। इनमें—तिल, पियाल, (चिरोंजी फल) अभिषुक (चिलगोज़ा), बहेड़ा, चीता, हरड़ बड़ी, ऐरण्ड, महुवा, सरसों, कुसुम्भ, बेलगिरी, मिलावा, मूलक, अलसी, निकोटक, अखरोट, नाटा करंजुआ, सोहंजन ये स्नेह के स्थावर उत्पत्ति स्थान हैं। मछलियाँ, मृग (पशु), पक्षी एवं उनका दूध, दही, घृत, माँस वसा और मज्जा ये स्नेह के जंगम उत्पत्ति स्थान कहे हैं ॥ ६-११ ॥

सर्वेषां तैलजातानां तिलतैलं प्रशस्यते।
बलार्थे स्नेहने चाग्र्यमैरण्डं तु विरेचने ॥ १२ ॥
सर्पिस्तैलं वसा मज्जा सर्वस्नेहोत्तमा मताः।
एष्वपश्चोत्तमं सर्पिः संस्कारस्यानुवर्तनात् ॥ १३ ॥

सब प्रकार के तैलों में तिल का तैल श्रेष्ठ है। बल और मृदुता लाने के लिये तिल का तैल सब में श्रेष्ठ है और विरेचन के लिये एरण्ड का तैल सर्वश्रेष्ठ है। सब प्रकार के स्नेहों में घी, तैल, वसा और मज्जा ये चार श्रेष्ठ हैं। इन चारों में भी घी सबसे श्रेष्ठ है; क्योंकि यह अन्य पदार्थों का गुण अपने में ले लेता है ॥ १२-१३ ॥

घृतं पित्तानिलहरं रसशुक्रौजसां हितम्।
निर्वापणं मृदुकरं स्वर-वर्ण-प्रसादनम् ॥ १४ ॥

घी वात और पित्त का नाशक है, रस, शुक्र और ओज को बढ़ाता है, बढ़ी हुई उष्णता को शान्त करता है, शरीर में कोमलता पैदा करता है, स्वर और कान्ति को बढ़ाता है ॥ १४ ॥

मारुतघ्नं न च श्लेष्मवर्धनं बलवर्धनम्।
त्वच्यमुष्णं स्थिरकरं तैलं योनिविशोधनम् ॥ १५ ॥

तैल वायु नाशक, परन्तु कफ को नहीं बढ़ाता, बलवर्धक, त्वचा के लिये हितकारी, उष्णवीर्य, उष्णगुण, शरीर को स्थिर (टिकाऊ) बनाने वाला एवं स्त्री-जननेंद्रिय (गर्भाशय) का शोधन करने वाला है, (तिल तैल में ये गुण विशेष रूप से हैं) ॥ १५ ॥

विद्ध-भग्नाहत भ्रष्ट-योनि-कर्ण-शिरोरुजि।
पौरुषोपचये स्नेहे व्यायामे चेष्यते वसा ॥ १६ ॥

भाले आदि से बिंधने चोट लगाकर अस्थि आदि के टूटने चोट लगने, योनि की भ्रंशता (गर्भाशय आदि अंगों की स्थान च्युति), कर्ण रोग, शिरो रोग, पुरुषत्व बढ़ाने, शरीर को चिकना करने और व्यायाम अर्थात् शारीरिक श्रम में वसा (चर्बी) हितकारी है ॥ १६ ॥

बल-शुक्र-रस-श्लेष्म-मेदो मज्ज-विवर्धनः ।
मज्जा विशेषतोऽस्थ्नां च बलकृत्स्नेहने हितः ॥ १७ ॥

बल, शुक्र, रस, कफ, मेद और मज्जा को बढ़ाती है । विशेषकर अस्थियों की शक्ति बढ़ाती एवं शरीर को चिकना बनाने में विशेष रूप से हितकारी है ॥ १७ ॥

सर्पिः शरदि पातव्यं, वसा मज्जा च माधवे ।
तैलं प्रावृषि, नात्युष्णशीते स्नेहं पिबेन्नरः ॥ १८ ॥
वातपित्ताधिके रात्रावुष्णे चापि पिबेन्नरः ।
श्लेष्माधिके दिवा शीते पिबेच्चामलभास्करे ॥ १९ ॥

घी शरद् ऋतु (आश्विन-कार्तिक) में, चर्बी और मज्जा वसन्त ऋतु (फाल्गुन-चैत्र) में और तैल वर्षाकाल (श्रावण-भाद्रपद) में सेवन करना चाहिये । अति उष्ण काल (ग्रीष्म) अथवा आते शीतकाल (हेमन्त) में स्नेह नहीं पीना चाहिये । तीव्र व्याधि में, ग्रीष्म ऋतु में, रात्रि के समय; वात और पित्त की अधिकता होने पर स्नेह पी लेना चाहिये । कफप्रधान व्याधि में शीतकाल के अन्दर (हेमन्त-शिशिर ऋतु में) मध्याह्न समय में दिन के समय स्नेहपान करना चाहिये ॥ १८-१९ ॥

अत्युष्णे वा दिवा पीतो वातपीत्ताधिकेन वा ।
मूर्च्छां पिपासामुन्मादं कामलां वा समीरयेत् ॥ २० ॥
शीते रात्रौ पिबेत्स्नेहं नरः श्लेष्माधिकोऽपि वा ।
आनाहमरुचिं शूलं पाण्डुतां वा समृच्छति ॥ २१ ॥
जलमुष्णं घृते पेयं, यूषस्तैलेऽनुशस्यते ।
वसामज्ज्ञोस्तु मण्डः स्यात्सर्वेपूष्णमथाम्बु वा ॥ २२ ॥

वातप्रधान या पित्तप्रधान रोगी ग्रीष्म ऋतु में या दिन के समय यदि स्नेहपान करता है तो मूर्छा, प्यास, उन्माद अथवा कामला रोग उत्पन्न हो जाते हैं । कफप्रधान रोगी यदि शीत ऋतु में या रात्रि के समय स्नेहपान करता है तो उसे अफरा, अरुचि, शूल-पीड़ा या पाण्डुरोग उत्पन्न हो जाता है । घी पीने के उपरान्त गरम जल, तैल के उपरान्त यूष और वसा एवं मज्जा के

उपरान्त मण्ड (माड) पीना उत्तम है। अथवा सब (घी, तैल, वसा और मज्जा) के पीछे गरम पानी पीना श्रेयस्कर है ॥ २०-२२ ॥

स्नेह की विचारणाएं—

ओदनश्च विलेपी च रसो मांसं पयो दधि ।
यवागूः सूपशाकौ च यूषः काम्बलिकः खडः ॥ २३ ॥
सक्तवस्तिलपिष्टं च मद्यं लेहास्तथैव च ।
भक्ष्यमभ्यञ्जनं बस्तिस्तथा चोत्तरबस्तयः ॥ २४ ॥
गण्डूषः कर्णतैलं च नस्यं कर्णाक्षितर्पणम् ।
चतुर्विंशतिरित्येताः स्नेहस्य प्रविचारणाः ॥ २५ ॥

स्नेह की विचारणा (उपयोग-प्रयोग विधि) २४ चौबीस प्रकार की है। जैसे—(१) ओदन—चावल पांच गुणे जल में पकाओ, (२) विलेपी अर्थात् दरकच किये चावलों को चार गुणे जल में पकाने से बहुत मांडयुक्त यवागू बनता है (३) रस (मांस रस) ठीक तरह से पका मांस, (४) यवागू (दरकच किये चावलों को छः गुणे जल में पकाने से मांड युक्त द्रव हो)। (५) सूप—दाल को १६ या १४ या १८ गुणे जल में पका कर चतुर्थांश शेष रखें, (६) शाक, (७) यूष—अन्न को दल कर १४ या १८ गुणे जल में पकावे आधा पानी शेष रखे। काम्बलिक, खड, सत्तू, तिलपिष्ट (तिलकुट या खल) मदिरा, चाटन, भक्ष्य, (मालपूआ, पूरणपोली आदि), अभ्यंजन मालिश, बस्ति, उत्तर बस्ति, गण्डूष (गराले), अर्थात् मुख में तैल का रखना, कान मे तैल डालना, नस्य कर्म, नेत्र के अन्दर स्नेह प्रदान करके आंख को तृप्त करना, यह स्नेह की चौबीस प्रकार की प्रविचारणा अर्थात् सेवन विधि है* ॥ २३-२५ ॥

अच्छपेयस्तु यः स्नेहो न तामाहुर्विचारणाम् ।
स्नेहस्य स भिषग्दृष्टः कल्पः प्राथमकल्पिकः ॥ २६ ॥

शुद्ध स्नेहपीने को 'विचारणा' नहीं कहते। यह तो स्नेह का सर्व प्रथम श्रेष्ठ रूप है। इसके पीछे प्रकृति, देह, दोष आदि देखकर पाचन शक्ति की विवेचना करके ओदन आदि सेवन विधि करनी चाहिये ॥ २६ ॥

रसश्चापहितः स्नेहः समास-व्यास-योगिभिः ।
षड्भिस्त्रिषष्टिधा संख्यां प्राप्नोत्येकश्च केवलः ॥ २७ ॥
एवमेषा चतुःषष्टिः स्नेहानां प्रविचारणाः ।

* प्रविचार्यते अवचार्यतेऽनुकल्पेनोपयुज्यतेऽनयेति प्रविचारणा ।

ओकर्तु-व्याधि-पुरुषान् प्रयोज्या जानता भवेत् ॥ २७ ॥

छः रसों (मधुर अम्ल, लवण, तिक्त, कटु और कषाय) के परस्पर मिलने से ६३ प्रकार के भेद हो जाते हैं। इन तिरसठ भेदों के साथ जब स्नेह मिलता है, तो वह भी ६३ प्रकार का हो जाता है और जब किसी भी रस के साथ न मिलकर शुद्ध स्नेह रूप में ही रहता है, तब एक भेद होता है। इस एक प्रकार को भी मिलाकर स्नेह के ६४ प्रकार हो जाते हैं। इस प्रकार से स्नेह की विचारणा अर्थात् सेवन विधि ६४ (चौंसठ) प्रकार की है। (ओक) सात्म्य, ऋतु और रोग-बल आदि का विचार करके सेवन विधि का प्रयोग करना चाहिये ॥ २७–२८ ॥

स्नेह की मात्रा—

अहोरात्रमहः कृत्स्नमर्धाहं च प्रतीक्षते ।
प्रधाना मध्यमा ह्रस्वा स्नेहमात्रा जरां प्रति ॥ २९ ॥
इति तिस्रः समुद्दिष्टा मात्रा स्नेहस्य मानतः ।
तासां प्रयोगान्वक्ष्यामि पुरुषं पुरुषं प्रति ॥ ३० ॥

स्नेह की मात्रा तीन प्रकार की है। प्रधान, मध्यम और ह्रस्व। इनमें जो स्नेह की मात्रा रात और दिन (२४ घण्टे) में जीर्ण होती है, वह स्नेह की प्रधान मात्रा है और जो सारे दिन भर (१२ घण्टे) में जीर्ण होती है वह मध्यम, और जो आधे दिन (६ घण्टे) में जीर्ण होती है वह स्नेह की ह्रस्व मात्रा है। ये मात्राएं स्नेह के जीर्ण होने के समय के अनुसार हैं। इस प्रकार से स्नेह की मात्रा और मान कह दिया है ॥ २९-३० ॥

अब प्रत्येक पुरुष के लिये स्नेह के प्रयोगों को कहते हैं—

प्रभूतस्नेहनित्या ये क्षुत्पिपासासहा नराः ।
पावकश्चोत्तमबलो येषां ये चोत्तमा बले ॥ ३१ ॥
गुल्मिनः सर्पदष्टाश्च विसर्पोपहताश्च ये ।
उन्मत्ताः कृच्छ्रमूत्राश्च गाढवर्चस एव च ॥ ३२ ॥
पिबेयुरुत्तमां मात्रां, तस्याः पाने गुणान् शृणु ।
विकारान् शमयत्येषा शीघ्रं सम्यक्प्रयोजिता ॥ ३३ ॥
दोषानुकर्षिणी मात्रा सर्वमार्गानुसारिणी ।
बल्या पुनर्नवकरी शरीरेन्द्रियचेतसाम् ॥ ३४ ॥

"तक्रे कपित्थचाङ्गेरीमरिचाजाजिचित्रकैः। सुपक्वः खण्डयूषोऽयं काम्बलिको मतः॥ दध्यम्लो लवण-स्नेह-तिलमाषान्वितः शृतः॥"

जो मनुष्य नित्य प्रति विशेष रूप में स्नेह का व्यवहार करते हैं, भूख और प्यास को न सहन कर सकने वाले, उत्तम बलवान् जठराग्नि वाले, श्रेष्ठ शारीरिक बल वाले, गुल्मरोगी, सर्पविषाक्रान्त रोगी, वीसर्प रोगी, पागल, मूत्रकृच्छ्र रोगी और जिनका मल सूखा रहता है, वे स्नेह की उत्तम मात्रा का पान करें। स्नेह की प्रधान मात्रा के पीने का गुण सुनो—यदि मात्रा को भली प्रकार से प्रयोग किया जाये तो उपरोक्त समस्त रोग मिट जाते हैं। वह शरीर के दोषों को खींच कर बाहर कर देती है, शरीर के सब भागों में ऊपर, नीचे, तिरछे सब जगह फैल जाती है। वह बलवर्द्धक एवं शरीर, इन्द्रिय और चित्त को फिर से हरा भरा बना देती है ॥ ३१-३४ ॥

मध्यम मात्रा—

अरुष्का स्फोट-पिडका-कण्डू-पामाभिरर्दिताः ।
कुष्ठिनश्च प्रमीढाश्च वातशोणितिकाश्च ये ॥ ३५ ॥
नातिबह्वाशिनश्चैव मृदुकोष्ठास्तथैव च ।
पिबेयुर्मध्यमां मात्रां मध्यमाश्चापि ये बले ॥ ३६ ॥
मात्रैषा मन्दविभ्रंशा न चातिबलहारिणी ।
सुखेन च स्नेहयति शोधनार्थे च युज्यते ॥ ३७ ॥

गांठें, फोड़े, फुन्सियां, खाज, पामा, कुष्ठरोगी, प्रमेही, अतिमूत्ररोगी, वातरक्तरोगी, अधिक न खाने वाले, न कम खाने वाले, मृदुकोष्ठ वाले, (जिनको दूध से भी विरेचन हो जाता है), और मध्यम बल वाले व्यक्ति स्नेह की मध्यम मात्रा का पान करें। यह मध्यममात्रा मृदु-विरेचक, थोड़ा कष्ट करने वाली, एवं बल को बहुत नहीं घटाती, सुखपूर्वक सरलता से शरीर को कोमल कर देती है, इसीलिये शरीर को शोधन करने के लिये हितकारी है ॥ ३५-३७ ॥

ह्रस्व मात्रा—

ये तु वृद्धाश्च बालाश्च सुकुमाराः सुखोचिताः ।
रिक्तकोष्ठत्वमहितं येषां मन्दाग्नयश्च ये ॥ ३८ ॥
ज्वरातीसार-कासाश्च येषां चिरसमुत्थिताः ।
स्नेहमात्रां पिबेयुस्ते ह्रस्वां ये चावरा बले ॥ ३९ ॥
परिहारे सुखा चैषा मात्रा स्नेहनबृंहणी ।
वृष्या बल्या निराबाधा चिरं चाप्यनुवर्तते ॥ ४० ॥

वृद्ध, बालक, कोमल, नाजुक प्रकृति के, ऐश की जिन्दगी बसर करने

वाले, खाली पेट रहने से जिनके पेट में दर्द होने लगता है, मन्दाग्नि, निर्बल जाठराग्नि वाले, जिनको ज्वर, अतीसार, कास पुराना बहुत दिनों का हो, और निर्बल, अल्प शारीरिक बल वाले व्यक्ति स्नेह की ह्रस्व मात्रा लेवें। यह मात्रा जीर्ण होने में सरल है, सुखपूर्वक पच जाती है। शरीर को चिकना करती एवं बल बढ़ाती है। पुरुषत्वकारक, बलकारक, निरापद, एवं देर तक सेवन व्यवहार में लाई जा सकती है॥ ३८-४०॥

कौनसा स्नेह किस के लिये हितकारी है—

वात-पित्त-प्रकृतयो वात-पित्त-विकारिणः।
चक्षुष्कामाः क्षताः क्षीणा वृद्धा बालास्तथाऽबलाः॥ ४१॥
आयुःप्रकर्षकामाश्च बल-वर्ण-स्वरार्थिनः।
पुष्टिकामाः प्रजाकामाः सौकुमार्यार्थिनश्च ये॥ ४२॥
दीप्त्योजः-स्मृति-मेधाग्नि-बुद्धीन्द्रिय-बलार्थिनः।
पिबेयुः सर्पिरार्ताश्च दाह-शस्त्र-विषाग्निभिः॥ ४३॥

जिनकी प्रकृति वात-पित्त हो, वात-पित्त के रोगी, उत्तम दृष्टि चाहने वाले, उरःक्षत रोग से क्षीण, निर्बल, वृद्ध, बालक, निर्बल मनुष्य, आयु की वृद्धि की कामना करने वाले, बल, वर्ण, कान्ति, स्वर को चाहने वाले, शरीर पुष्टि के इच्छुक, संतति की चाह वाले, सुकुमारता, कोमलता के इच्छुक, तेज, ओज, स्मृति, बुद्धि, अग्नि, धारण करने की शक्ति और इन्द्रिय बल को चाहने वाले और आग, जल, शस्त्र, विष से आक्रान्त रोगी घी का सेवन करें॥ ४१-४३॥

प्रवृद्ध-श्लेष्म-मेदस्काश्चल-स्थूल-गलोदराः।
वात-व्याधिभिराविष्टा वात-प्रकृतयश्च ये॥ ४४॥

बलं तनुत्वं लघुतां दृढतां स्थिरगात्रताम्।
स्निग्ध-श्लक्ष्ण-तनुत्वक्तां ये च काङ्क्षन्ति देहिनः॥ ४५॥

कृमिकोष्ठाः क्रूरकोष्ठास्तथा नाडीभिरर्दिताः।
पिबेयुः शीतले काले तैलं तैलोचिताश्च ये॥ ४६॥

जिनमें कफ की या चर्बी की अधिकता हो, जिनका पेट या गर्दन मोटी और ढीली हो, वात रोगों से पीड़ित, वात प्रकृति के, जो बल, पतलापन, हल्कापन, मजबूती, शरीर की स्थिरता (संघटन), चिकनापन, और त्वचा की कोमलता चाहते हैं, कृमिरोग से आक्रान्त, क्रूर कोष्ठ वाले (जिनको तीव्र विरेचन से प्रभाव होता है), नाडीव्रण से आक्रान्त और जिनको तैल सेवन

करने का अभ्यास है वे शीतकाल (हेमन्त शिशिर) में दिन के समय तैल का पान करें ॥४४-४६॥

वातातपसहा ये च रूक्षा भाराध्वकर्शिताः ।
संशुष्क-रेतो-रुधिरा निष्पीत-कफ-मेदसः ॥ ४७ ॥
अस्थि-सन्धि-शिरा-स्नायु-मर्म-कोष्ठ-महारुजः ।
बलवान्मारुतो येषां खानि चाऽऽवृत्य तिष्ठति ॥ ४८ ॥
महच्चाग्निबलं येषां वसा-सात्म्याश्च ये नराः ।
तेषां स्नेहयितव्यानां वसापानं विधीयते ॥ ४९ ॥

वायु और धूप को सहन करने वाले, रूक्ष प्रकृति, भार के उठाने या मार्ग चलने वाले, परिश्रम के कारण जो निर्बल हो गये, जिनका वीर्य या रक्त सूख गया है; कफ क्षीण हो, मेद क्षीण हो, जिनको अस्थि; सन्धि-सिरा, स्नायु मर्म कोष्ठ के भयानक रोग हों, जिनकी इन्द्रियों को बलवान् वायु घेरे रहता है, जिनका अग्निबल-जाठराग्नि बलवान् हो, और जो वसा सेवन करने के अभ्यासी हों,ऐसे पुरुष स्नेहन करने के लिये वसा (चर्बी) का पान करें।४७-४९।

दीप्ताग्नयः क्लेशसहा घस्मराः स्नेहसेविनः ।
वातार्ताः क्रूर-कोष्ठाश्च स्नेह्या मज्जानमाप्नुयुः ॥ ५० ॥

जिनकी जाठराग्नि दीप्त है, जो क्लेश को सहन कर सकते हों, खूब खाने वाले, स्नेहसेवन के अभ्यासी; वात रोगी और क्रूरकोष्ठ वाले व्यक्तियों को मज्जा द्वारा स्नेहन करना चाहिये ॥५०॥

येभ्यो येभ्यो हितो यो यः स्नेहः स परिकीर्तितः ।
स्नेहनस्य प्रकर्षौ तु सप्तरात्र त्रिरात्रकौ ॥ ५१ ॥

जिन जिन पुरुषों के लिये जो जो स्नेह हितकारी हैं, उनके लिये उसी स्नेह का उपदेश किया है । स्नेह की सेवन विधि दो प्रकार की है । एक सात रात की और दूसरी तीन रात की । इनमें क्रूरकोष्ठ व्यक्तियों के लिये सात रात, और मृदुकोष्ठ व्यक्ति के लिये तीन रात हैं* ॥५१॥

स्वेद्याः शोधयितव्याश्च रूक्षा वातविकारिणः ।
व्यायाम-मद्य-स्त्रीनित्याः स्नेह्याः स्युर्ये च चिन्तकाः ॥ ५२ ॥

स्नेहन के योग्य व्यक्ति—जो व्यक्ति स्वेद देने या संशोधन के योग्य हैं;

*जैसा आगे कहेंगे "त्र्यहावरं सप्तदिनं परन्तु स्निग्धो नरः स्वेदयितव्य इष्टः । नातः परं स्नेहनमादिशन्ति" ।

रूक्षप्रकृति, वातरोगी, नित्य व्यायामसेवी, नित्य मद्यसेवी, नित्य स्त्रीसेवी, और जो चिन्ता (शोक) करते रहते हैं; वे व्यक्ति स्नेहन के योग्य हैं ॥ ५२ ॥

स्नेह के अयोग्य व्यक्ति—

संशोधनादृते येषां रूक्षणं संप्रवक्ष्यते ।
न तेषां स्नेहनं शस्तमुत्सन्न-कफ-मेदसाम् ॥ ५३ ॥
अभिष्यण्णाननगुदा नित्यं मन्दाग्नयश्च ये ।
तृष्णा मूर्च्छा-परीताश्च गर्भिण्यस्तालु-शोषिणः ॥ ५४ ॥
अन्नद्विषश्छर्दयन्तो जठरामगरार्दिताः ।
दुर्बलाश्च प्रतान्ताश्च स्नेहग्लाना मदातुराः ॥ ५५ ॥
न स्नेह्या वर्तमानेषु न नस्तोबस्तिकर्मसु ।
स्नेहपानात्प्रजायन्ते तेषां रोगाः सुदारुणाः ॥ ५६ ॥

संशोधन किये विना जिनका रूक्षण करना कहा जायेगा; उनको; जिनका कफ और मेद बढ़ा हो, जिनके नाक, मुख और गुदा से स्राव होता हो, जिनको सदा मन्दाग्नि रहती हो, प्यास और मूर्च्छा से आक्रान्त, गर्भवती, तालुकण्ठ जिनका सूखता हो; भोजन से अरुचि करने वाले, वमन करते हुए, उदर रोगी या विष से आक्रान्त. दुर्बल, ग्लानि करने वाले (कच्चे दिल के, घृणा करने की प्रकृति के), स्नेह के पीने में जो प्रसन्न नहीं होते, घृणा करते हैं और मद (नशे) से ग्रस्त व्यक्तियों को और नस्य कर्म एवं अनुवासन बस्ति जिन्होंने ली हो उनको स्नेहन नहीं देना चाहिये । यदि इनको स्नेह पिलाया जायगा तो भयानक रोग उत्पन्न हो जायँगे । रूक्षण के योग्य—'अभिष्यन्दा महादोषा मर्मस्था व्याधयश्च ये । ऊरुस्तम्भ-प्रभृतयो रूक्षणीया निदर्शिताः' ॥ ५३-५६ ॥

अस्निग्ध, स्निग्ध और अतिस्निग्ध के लक्षण—

पुरीषं ग्रथितं रूक्षं, वायुरप्रगुणो, मृदुः ।
पक्ता, खरत्वं रौक्ष्यं च गात्रस्यास्निग्धलक्षणम् ॥ ५७ ॥

जिसका मल बंधा हुआ, रूक्षता वायु अपनी प्रकृति में न हो, जाठराग्नि मन्द हो, शरीर में कर्कशता रूखापन हो, तो समझे कि स्नेहन-क्रिया ठीक नहीं हुई ॥ ५७ ॥

वातानुलोम्यं दीप्तोऽग्निर्वर्चः स्निग्धमसंहतम् ।
मार्दवं स्निग्धता चाङ्गे स्निग्धानामुपजायते ॥ ५८ ॥

वायु की अनुकूलता, जठराग्नि को बढ़ना (भूख का लगना), मल

चिकना और पतला, अंगों में कोमलता और चिकनापन हो, तो समझना चाहिये कि उचित रूप में स्नेहन हुवा है ॥ ५८ ॥

पाण्डुता गौरवं जाड्यं पुरीषस्याविपक्वता ।
तन्द्रीररुचिरुत्क्लेशः स्यादतिस्निग्धलक्षणम् ॥ ५९ ॥

पाण्डुता (पीलापन, निस्तेज वर्ण), शरीर में भारीपन, आलस्य, मल का भली प्रकार पाक न होना, अरुचि, सुस्ती, वमन की इच्छा ये अतिस्निग्ध के लक्षण हैं ॥ ५९ ॥

द्रवोष्णमनभिष्यन्दि भोज्यमन्नं प्रमाणतः ।
नातिस्निग्धमसंकीर्णं श्वः स्नेहं पातुमिच्छता ॥ ६० ॥
पिबेत्संशमनं स्नेहमन्नकाले प्रकाङ्क्षितः ।

स्नेह से पूर्व लेने योग्य हितकारी पदार्थ—स्नेह पान करने की इच्छावाले व्यक्ति को चाहिये कि स्नेह पाने से पहिले दिन, द्रव, और गरम, जो कफकारक न हो, अतिस्निग्ध, अतिविकार युक्त, असंकीर्ण ऐसे भोजन को मात्रा से खावे, जो दो तीन वस्तुओं को मिलाकर न बनाया गया हो और अगले दिन जब भोजन के समय आकांक्षा हो तब संशमन स्नेह का ही पान करे ॥ ६० ॥

शुद्ध्यर्थं पुनराहारे नशे जीर्णे पिबेन्नरः ॥ ६१ ॥

संशोधन के उद्देश्य से स्नेह पान करने के लिये रात्रि का भोजन जीर्ण होने पर प्रातःकाल स्नेहपान करे ॥ ६१ ॥

उष्णोदकोपचारी स्याद् ब्रह्मचारी क्षपाशयः ।
शकृन्मूत्रानिलोद्गारानुदीर्णांश्च न धारयेत् ॥ ६२ ॥
व्यायाममुच्चैर्वचनं क्रोध-शोकौ हिमातपौ ।
वर्जयेदप्रवातं च सेवेत शयनासनम् ॥ ६३ ॥
स्नेहं पीत्वा नरः स्नेहं प्रतिभुञ्जान एव च ।
स्नेहमिथ्योपचाराद्धि जायन्ते दारुणा गदाः ॥ ६४ ॥

स्नेहनकाल में हित अहित—पीने, स्नान, शौच आदि कार्यों में गरम पानी का व्यवहार करे, मैथुन को छोड़ दे । रात्रि में सोये, दिन में न सोये रात में न जागे, उपस्थित हुए मल, मूत्र, वायु और डकार के वेगों को न रोके । व्यायाम-श्रम, और जोर से या अधिक भाषण, क्रोध, शोक, सरदी या गरमी न सहे । खुली-वायु में वायु के सामने न बैठे और न सोये । स्नेह को पीने के पीछे इन कार्यों का पालन करे । स्नेह पीने के पीछे पुनः स्नेह पान करने पर, स्नेह पीकर भोजन आदि में दूसरी बार स्नेह युक्त पदार्थ खाने से, स्नेह के मिथ्यायोग से भयानक रोग उत्पन्न हो जाते हैं ॥६२–६४॥

मृदुकोष्ठस्त्रिरात्रेण स्निह्यत्यच्छोपसेवया ।
स्निह्यति क्रूरकोष्ठस्तु सप्तरात्रेण मानवः ॥ ६५ ॥

मृदुकोष्ठ वाला व्यक्ति स्नेह का अच्छपान करके तीन रात्रि तक सेवन करने पर स्निग्ध हो जाता है। क्रूरकोष्ठ वाला व्यक्ति स्नेह का सात दिन अच्छपान करके स्निग्ध होता है ॥ ६५ ॥

गुडमिक्षुरसं मस्तु क्षीरमुल्लोडितं दधि ।
पायसं कृसरं सर्पिः काश्मर्य-त्रिफला-रसम् ॥ ६६ ॥
द्राक्षारसं पीलुरसं जलमुष्णमथापि वा ।
मद्यं वा तरुणं पीत्वा मृदुकोष्ठो विरिच्यते ॥ ६७ ॥

गुड़, गन्ने का रस, मस्तु (दही का द्रव्य भाग), दूध, बिलोई हुई दही (मट्ठा), खीर, खिचड़ी, घी, गम्भारी का रस, त्रिफला (हरड़, बहेड़े, आंवले का रस), अंगूर का रस, पीलू का रस, गरम जल, नवीन मदिरा (पुरानी नहीं), इनको पीने से मृदुकोष्ठ, व्यक्तियों को विरेचन हो जाता है। अर्थात् जिनको इन वस्तुओं के सेवन से विरेचन हो जाय, वह मृदु कोष्ठ होता है।६६-६७।

विरेचयन्ति नैतानि क्रूरकोष्ठं कदाचन ।
भवति क्रूरकोष्ठस्य ग्रहण्यत्युल्बणानिला ॥ ६८ ॥

इन पदार्थों से 'क्रूरकोष्ठ' वाले व्यक्ति को कभी विरेचन नहीं होता। क्योंकि 'क्रूरकोष्ठ' व्यक्ति की ग्रहणी (नाड़ी) अति प्रबल वायुवाली होती है ॥ ६८ ॥

उदीर्णपित्ताऽल्पकफा ग्रहणी मन्दमारुता ।
मृदुकोष्ठस्य तस्मात्स सुविरेच्यो नरः स्मृतः ॥ ६९ ॥

मृदुकोष्ठ की ग्रहणी और पित्त प्रबल एवं मन्दकफ तथा अल्पवायु युक्त है। इसलिये गुड़ आदि से उसे विरेचन हो जाता है ॥ ६९ ॥

स्नेह की व्यापत्तियां—

उदीर्णपित्ता ग्रहणी यस्य चाग्निबलं महत् ।
भस्मीभवति तस्याऽऽशु स्नेहः पीतोऽग्नितेजसा ॥ ७० ॥
स जग्ध्वा स्नेहमात्रां तामोजः प्रक्षारयन् बली ।
स्नेहाग्निरुत्तमां तृष्णां सोपसर्गामुदीरयेत् ॥ ७१ ॥
नालं स्नेहसमृद्धस्य शमायान्नं सुगुर्वपि ।
स चेत्सुशीतं सलिलं नाऽऽसादयति दह्यते ॥ ७२ ॥
यथैवाऽऽशीविषः कक्षमध्यगः स्वविषाग्निना ।

जिसकी ग्रहणी (अग्नि की अधिष्ठान-भूमि) प्रबल पित्तवाली हो (कफ और वायु से युक्त न हो), और जिसका अग्निबल बढ़ा होता है, उस पुरुष का पिया हुआ स्नेह अग्नि के तेज से शीघ्र भस्म हो जाता है। यह महा-बलवान् जाठराग्नि पीये हुए स्नेह को जीर्ण करके फिर बलवान् बनकर ओज को घटाती हुई, उपद्रवों से युक्त प्रबल प्यास को पैदा कर देती है। ऐसी अवस्था में स्नेह के कारण बहुत बढ़ी हुई जाठराग्नि को शान्त करने के लिये गुरु भोजन भी समर्थ नहीं होता। इसलिये स्नेहपान से प्रबल अग्नि वाले पुरुष को यदि शीतल जल पीने के लिये नहीं दिया जाय तो वह इसी अग्नि से जलने लगता है। जिस प्रकार कि घास फूस या कांटों के बीच में फंसा हुआ सांप अपनी अग्नि रूपी अपने विष से स्वयं जलने लगता है और दुगुने क्रोध से फुंकारें मारता है ॥ ७०-७२ ॥

व्यापत्तियों के उपाय कहते हैं—

अजीर्णे यदि तु स्नेहे तृष्णा स्याच्छर्दयेद्भिषक् ॥ ७३ ॥
शीतोदकं पुनः पीत्वा भुक्त्वा रूक्षान्नमुल्लिखेत् ।
न सर्पिः केवलं पित्ते पेयं सामे विशेषतः ॥ ७४ ॥
सर्वं ह्यनुरजेद्देहं हत्वा संज्ञां च मारयेत् ।

यदि स्नेह के पान में अजीर्णावस्था अर्थात् स्नेह के जीर्ण न हुए बिना ही प्यास लगने लगे तब वैद्य स्नेह को वमन से बाहर करा देवे। इसके पीछे शीतल जल और रूक्ष भोजन कराके फिर वमन करा देवे। इसलिये केवल पित्त की प्रधानता में, विशेष कर आम सहित पित्त विकार में घी नहीं पीना चाहिये। क्योंकि पित्त के तीक्ष्ण गुणवाला होने से सम्पूर्ण देह में व्याप्त होने वाला घी रूप स्नेह सारे शरीर में फैल जायगा। शरीर में फैलकर उसको पीला कर देता और चेतना नाश करके प्राण नाश कर देता है ॥ ७३-७४ ॥

तन्द्रा सोत्क्लेश आनाहो ज्वरः स्तम्भो विसंज्ञता ॥ ७५ ॥
कुष्ठानि कण्डूः पाण्डुत्वं शोफार्शांस्यरुचिस्तृषा ।
जठरं ग्रहणीदोषः स्तैमित्यं वाक्यनिग्रहः ॥ ७६ ॥
शूलमामप्रदोषाश्च जायन्ते स्नेहविभ्रमात् ।
तत्राप्युल्लेखनं शस्तं स्वेदः कालप्रतीक्षणम् ॥ ७७ ॥
प्रति प्रति व्याधिबलं बुद्ध्वा स्रंसनमेव च ।
तक्रारिष्टप्रयोगश्च रूक्ष-पानान्न-सेवनम् ॥ ७८ ॥
मूत्राणां त्रिफलायाश्च स्नेह-व्यापत्ति-भेषजम् ।

तन्द्रा (आलस्य), उत्क्लेश (वमन की इच्छा), आनाह (अफ़रा) ज्वर, स्तम्भ (शरीर की जड़ता), संज्ञानाश, कुष्ठ, खाज, पाण्डुता, शोथ, अर्श, अरुचि, प्यास, मरोड़ा, ग्रहणी रोग, स्तैमित्य (अंगों का गीले कपड़े में लिपटने का सा भान होना, वा ऐंठन), वाणी का बन्द हो जाना, उदरशूल, आमदोष, स्नेह के मिथ्यायोग के ये लक्षण हैं। इन लक्षणों के होने पर भी वमन कराना चाहिये, स्वेद देना चाहिये, समय की प्रतीक्षा करनी (स्नेह दोष के क्षय होने तक भोजन नहीं करना) चाहिये, प्रत्येक व्याधि का बल विचार करके जो व्याधि स्रंसन योग्य हो उसका स्रंसन करना चाहिये। इसी प्रकार 'तक्रारिष्ट' का प्रयोग, रूक्ष (सूखा) खान-पान देना आठों प्रकार के मूत्रों और त्रिफला का सेवन करना स्नेह जन्य रोगों की चिकित्सा है ॥ ७५-७८ ॥

रोग होने के कारण—

अकाले चाहितश्चैव मात्रया न च योजितः ॥ ७९ ॥
स्नेहो मिथ्योपचाराच्च व्यापद्येतातिसेवितः।

स्नेह लेने के ठीक समय पर स्नेह न लेने से, जो स्नेह जिस पुरुष के लिये हितकारी नहीं है उसके सेवन से, उचित मात्रा में न लेने से, स्नेह के मिथ्या, अनुचित उपयोग से, और स्नेह के अति सेवन से स्नेह जन्य विकार उत्पन्न होते हैं ॥ ७९ ॥

स्नेहात्प्रस्कन्दनं जन्तुस्त्रिरात्रोपरतः पिबेत् ॥ ८० ॥
स्नेहवद्-द्रवमुष्णं च त्र्यहं भुक्त्वा रसौदनम्।
एकाहोपरतस्तद्वद्भुक्त्वा प्रच्छर्दनं पिबेत् ॥ ८१ ॥

स्नेह पान के पीछे पुरुष तीन रात तक ठहरे। इन तीन दिनों में स्नेह मिश्रित द्रव, उष्ण मांस रस युक्त भात खाकर विरेचन लेवे। एक दिन जिसने आराम किया ऐसा पुरुष पहले की भांति भोजन करके वमन (कारक द्रव्य) पीये ॥ ८०-८१ ॥

स्यात्त्वसंशोधनार्थीये वृत्तिः स्नेहे विरिक्तवत्।

संशमन के उद्देश्य से स्नेहपान करने में विरेचन लिये हुए के समान व्यवहार करना चाहिये।

विचारणा का प्रयोग—

स्नेहद्विषः स्नेहनित्या मृदुकोष्ठाश्च ये नराः ॥ ८२ ॥
क्लेशासहा मद्यनित्यास्तेषामिष्टा विचारणा।
लाव-तैत्तिर-मायूर-हांस-वाराह-कौक्कुटाः ॥ ८३ ॥

गव्याजौरभ्र-मात्स्याश्च रसाः स्युः स्नेहने हिताः ।
यव-कोल-कुलत्थाश्च स्नेहाः सगुडशर्कराः ॥ ८४ ॥
दाडिमं दधि सव्योषं रस-संयोग-संग्रहः ।

जो मनुष्य स्नेह से द्वेष करते हों, जो नित्य प्रति स्नेह का व्यवहार करते हों, मृदुकोष्ठ वाले, कष्ट को सहन न करने वाले, जो नित्य मदिरासेवी हों, उनमें विचारणा का प्रयोग करना चाहिये। प्रयोग करने की विधि कहते हैं— बटेर, मोर, हंस, सुअर, मुर्गी, हाथी, बकरा, मेंढा और मछली इनके मांसों का रस स्नेहन क्रिया में हितकारा है। इन मांसरसों का संस्कार करने के लिये जौ, बेर, कुल्थी, घी या तेल, गुड़, शक्कर अनारदाना, दही, सोंठ, काली मिर्च, पिप्पली, ये यथायोग्य मिलाने चाहियें ॥ ८२-८४ ॥

स्नेहयन्ति तिलाः पूर्वं जग्धाः सस्नेहफाणिताः ॥ ८५ ॥
कृशराश्च बहुस्नेहास्तिलकाम्बलिकास्तथा ।

घी में (स्नेह में) भून कर बनाये हुए तिलकुट को भोजन से पूर्व खाने से शरीर का स्नेहन करते हैं। इसी प्रकार बहुत स्नेह वाली खिचड़ी तथा तिल युक्त 'काम्बलिक अर्थात् यूष'—भोजन से पूर्व खाने से शरीर का स्नेहन करते हैं ॥ ८५ ॥

फाणितं शृङ्गवेरं च तैलं च सुरया सह ॥ ८६ ॥
पिबेद्रूक्षो भृतैर्मांसैर्जीर्णेऽश्नीयाच्च भोजनम् ।

फाणित (आधा पका गन्ने का रस, राब), अदरख, और तैल इन तीनों को एक करके, शराब में मिलाकर रूक्ष व्यक्ति पीये। इसके जीर्ण होने पर भुने हुए मांस से भोजन खाये ॥ ८६ ॥

तैलं सुराया मण्डेन वसां मज्जानमेव वा ॥ ८७ ॥
पिबेत्सफाणितं क्षीरं नरः स्निह्यति वातिकः ।

वातप्रकृति का मनुष्य मद्य, या मण्ड के साथ तैल, वसा या मज्जा को मिलाकर पीये तो स्नेहन होता है। वात प्रकृति का आदमी राब के साथ दूध को पीये तो भी स्नेहन होता है ॥ ८७ ॥

धारोष्णं स्नेहसंयुक्तं पीत्वा सशर्करं पयः ॥ ८८ ॥
नरः स्निह्यति पीत्वा वा सरं दध्नः सफाणितम् ।

धारोष्ण, ताजे दुहे हुए दूध को शर्करा एवं घी के साथ पीने से शरीर का तुरन्त स्नेहन होता है। अथवा राब के साथ दही की मलाई खाने से भी स्नेहन तुरन्त होता है ॥ ८८ ॥

पाञ्चप्रसृतिकी पेया पायसो माषमिश्रकः ॥ ८९ ॥
क्षीरसिद्धो बहुस्नेहः स्नेहयेदचिरान्नरम् ।
सर्पिस्तैल-वसा-मज्जा-तण्डुल-प्रसृतैः शृता ॥ ९० ॥
पाञ्चप्रसृतिकी पेया पेया स्नेहनमिच्छता ।

आगे कही जाने वाली 'पांचप्रसृतिका पेया' को पीकर मनुष्य शीघ्र ही स्निग्ध बन जाता है। उड़दों को चावलों में मिलाकर घी आदि स्नेह में खूब भून कर दूध में पकाई (घी से युक्त) खीर जल्दी ही स्निग्ध कर देती है। पांचप्रसृति की पेया—घी, तैल,वसा, मज्जा और चावल प्रत्येक आठ आठ तोले लेकर छः गुने जल में पकावे। इसका नाम 'पाञ्चप्रसृतिकी पेया' है। स्नेहन की इच्छा करने वाले व्यक्ति को इसका सेवन करना चाहिये ॥८९-९०॥

ग्राम्यानूपौदकं मांसं गुडं दधि पयस्तिलान् ।
कुष्ठी शोथी प्रमेही च स्नेहने न प्रयोजयेत् ॥ ९१ ॥
स्नेहैर्यथास्वं तान् सिद्धैः स्नेहयेदविकारिभिः ।
पिप्पलीभिर्हरीतक्या सिद्धैस्त्रिफलयाऽपि वा ॥ ९२ ॥

कुष्ठ रोगी, शोथ (सोज) रोगी, प्रमेह रोगी—इनके स्नेहन के लिए ग्राम्य निन्दित मांस, जलीय मांस, गुड, दही, दूध और तिल इनका प्रयोग नहीं करना चाहिये। क्योंकि ये वस्तुयें इनको बढ़ाती हैं। इन रोगियों के लिये, इन रोगों को नाश करने वाली औषधियों से सिद्ध किये हुए घृत आदि स्नेह, एवं इन रोगियों के लिये विकार न करने वाले स्नेहों से इनकी चिकित्सा करनी चाहिये। अथवा पिप्पली के कल्क या हरीतकी (हरड़) के कल्क अथवा त्रिफला के कल्क द्वारा सिद्ध घृतादि स्नेह द्वारा कुष्ठ-रोगी, शोथ-रोगी, प्रमेह-रोगी का स्नेहन करना चाहिये ॥ ९१-९२ ॥

द्राक्षाऽमलक-यूषाभ्यां दध्ना चाम्लेन साधयेत् ।
व्योषगर्भं भिषक् स्नेहं पीत्वा स्निह्यति तन्नरः ॥ ९३ ॥

द्राक्षायूष, आंवले का यूष, और खट्टी दही (ये मिलित चार भाग) सोंठ, मरिच और पिप्पली (मिलित एक भाग) इनका कल्क डाल कर उचित मात्रा से घृत सिद्ध करना चाहिये। इस घृत के पान करने से मनुष्य का स्नेहन होता है ॥ ९३ ॥

यव-कोल-कुलत्थानां रसाः क्षीरं सुरा दधि ।
क्षारः सर्पिश्च तत्सिद्धं स्नेहनीयं घृतात्तमम् ॥ ९४ ॥

जौ, बेर, कुलथी, प्रत्येक का क्वाथ (रस), दूध, दही और मद्य, क्षार

और घी, इनको मिला कर घी सिद्ध करना चाहिये । यह स्नेहन के लिये श्रेष्ठ है ॥ ६४ ॥

तैल-मज्ज-वसा-सर्पिर्बदर-त्रिफला-रसैः ।
योनि-शुक्र-प्रदोषेषु साधयित्वा प्रयोजयेत् ॥ ६५ ॥

तैल, वसा, मज्जा, घी, बेर और त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला) इनका रस (क्वाथ) में (पृथक् २ या मिलित चारों स्नेह सिद्ध करने चाहिये) । यह स्नेह योनिरोग और वीर्यरोगों में स्नेहन कार्य के लिये उपयोगी हैं ॥६५॥

गृह्णात्यम्बु यथा वस्त्रं प्रस्रवत्यधिकं यथा ।
तथाऽग्निर्जीर्यति स्नेहं तथा स्रवति चाधिकम् ॥ ९६ ॥

जिस प्रकार वस्त्र पानी का उचित मात्रा को ही ग्रहण करता है और अधिक पानी निकल जाता है; इसी प्रकार अग्नि स्नेह की योग्य मात्रा को ही जीर्ण करती है, अधिक मात्रा निकल जाती है ॥६६॥

यथा वाऽक्लेद्य मृत्पिण्डमासिक्तं त्वरया जलम् ।
स्रवति स्रंसते स्नेहस्तथा त्वरितसेवितः ॥ ९७ ॥
लवणोपहिताः स्नेहाः स्नेहयन्त्यचिरान्नरम् ।
तद्ध्यभिष्यन्द्यरूक्षं च सूक्ष्ममुष्णं व्यवायि च ॥ ९८ ॥
स्नेहमग्रे प्रयुञ्जीत ततः स्वेदमनन्तरम् ।
स्नेहस्वेदोपपन्नस्य संशोधनमथेतरत् ॥ ९९ ॥

जिस प्रकार मिट्टी के ढेले पर जल्दी से गिरा हुआ बहुतसा पानी, ढेले को गीला करके वह जाता है, और ढेला गलने लगता है, उसी प्रकार जल्दी से अधिक मात्रा में पिया स्नेह जल्दी से गुदा मार्ग से बाहर बह जाता है । जितने भी स्नेह कहे हैं, वे सब सैन्धव-लवण के साथ सेवन करने से मनुष्य को शीघ्र ही स्निग्ध कर देते हैं । क्योंकि नमक अभिष्यन्दि, (द्रवकारक) अरूक्ष, सूक्ष्म, उष्ण और व्यवायी गुण वाला है।❀ संशोधन करने से पूर्व स्नेहन करना चाहिये । इसके पीछे स्वेदन करना चाहिये । स्नेह और स्वेदन कर चुकने पर पीछे संशोधन अथवा संशमन चिकित्सा करनी चाहिये ॥६७-६६॥

❀ अभिष्यन्दि होने से दोषसमूह को तोड़ता है । रूक्ष न होने से स्नेहन करता है । सूक्ष्म होने से शरीर के सूक्ष्म भागों में घुस जाता है । गरम होने से पिये हुए स्नेह को शीघ्र जीर्ण करता है । व्यवायी होने से स्नेह के साथ सारे शरीर में फैल जाता है ।

तत्र श्लोकः ।

स्नेहाः स्नेहविधिः कृत्स्नो व्यापत् सिद्धिः सभेषजा ।
यथाप्रश्नं भगवता व्याहृतं चान्द्रभागिना ॥ १०० ॥

स्नेहों के प्रकार, सम्पूर्ण स्नेहविधि, स्नेह की व्यापत्तियाँ और उनकी भेषज-औषध समेत सिद्धि भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने अग्निवेश के प्रश्नानुसार सब कह दी ॥१००॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने कल्पनाचतुष्के
स्नेहाध्यायो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः ।

अथातः स्वेदाध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब (स्नेह कर्म के उपरान्त) स्वेद सम्बन्धी अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

अतः स्वेदाः प्रवक्ष्यन्ते यैर्यथावत्प्रयोजितैः ।
स्वेदसाध्याः प्रशाम्यन्ति गदा वातकफात्मकाः ॥ ३ ॥

अब स्वेद विधियों का उपदेश करेंगे, जिनको उचित प्रकार से करने पर स्वेदन से शान्त होने वाले, वात-कफ-जन्य रोग शान्त हो जाते हैं ॥ ३ ॥

स्नेहपूर्वं प्रयुक्तेन स्वेदेनाऽऽवर्जितेऽनिले ।
पुरीष-मूत्र-रेतांसि न सज्जन्ति कथञ्चन ॥ ४ ॥

पहले स्नेहन कार्य करके वायु को शमन कर लेने पर शरीर में मल, मूत्र और वीर्य ये किसी भी प्रकार रुके नहीं रहते ॥ ४ ॥

शुष्काण्यपि हि काष्ठानि स्नेहस्वेदोपपादनैः ।
नमयन्ति यथान्यायं किं पुनर्जीवतो नरान् ॥ ५ ॥

सूखे हुए काठ (बांस आदि लकड़ियां) भी स्नेहन और स्वेदन द्वारा मन के अनुसार मोड़ी या सांधी की जा सकती हैं, फिर जीवित (रसयुक्त और कोमल) मनुष्यों को वैद्य क्या स्नेहन और स्वेदन द्वारा इच्छानुसार परिवर्त्तित नहीं कर सकेगा ? ॥ ५ ॥

रोगर्तु-व्याधितापेक्षो नात्युष्णोऽतिमृदुर्न च ।

द्रव्यवान् कल्पितो देशे स्वेदः कार्यकरो मतः ॥ ६ ॥

व्याधि, काल, रोगी पुरुष, इच्छा इनके अनुसार न बहुत गरम, न बहुत कोमल, उस-उस रोग को नाश करने वाले द्रव्यों द्वारा, स्वेदन करने योग्य स्थानों से दिया गया स्वेद कार्य करने में समर्थ होता है ॥ ६ ॥

व्याधौ शीते शरीरे च महान् स्वेदो महाबले ।
दुर्बले दुर्बलः स्वेदो मध्यमे मध्यमो हितः ॥ ७ ॥
वातश्लेष्मणि वाते वा कफे वा स्वेद इष्यते ।
स्निग्ध-रूक्षस्तथा स्निग्धो रूक्षश्चाप्युपकल्पितः ॥ ८ ॥

शीत रोग में और शीतशरीर में महाबलवान् पुरुष के लिये महास्वेद जिसे शरीर सहन कर सके उतना ही देना चाहिये। शीत रोग और शीत शरीर वाले निर्बल पुरुष में दुर्बल स्वेद देना चाहिये। 'मध्यम बल' पुरुष में शीत व्याधि और शीत शरीर में 'मध्यम स्वेद' देना चाहिये। वात-कफ-जनित व्याधि में स्निग्ध और रूक्ष द्रव्यों से बनाया स्निग्ध-रूक्ष स्वेद देना चाहिये। केवल वातजन्य व्याधियों में स्निग्ध पदार्थों से स्निग्ध स्वेद देना चाहिये। केवल कफजन्य व्याधि में रूक्ष पदार्थों से रूक्ष स्वेद देना चाहिये ॥७–८॥

आमाशयगते वाते कफे पक्वाशयाश्रिते ।
रूक्षपूर्वो हितः स्वेदः स्नेहपूर्वस्तथैव च ॥ ९ ॥
वृषणौ हृदयं दृष्टी स्वेदयेन्मृदुनैव वा ।
मध्यमं वङ्क्षणौ शेषमङ्गावयवमिष्टतः ॥ १० ॥

वायु यदि आमाशय (कफस्थान) में पहुंचा हो तो प्रथम स्नेहकर्म न करके रूक्ष कर्म करे जिससे कफ निकल जाय। फिर वायु को शान्त करने के लिए स्नेहन कार्य करे। इसी प्रकार जब कफ पक्वाशय (वात स्थान) में पहुंचा हो तब पहिले रूक्ष कार्य न करके स्नेहन कार्य करे (जिससे कि वायु की शान्ति हो फिर कफ की शान्ति के लिये रूक्ष कार्य करे) हृदय, आंख, इनका मृदु स्वेद द्वारा स्वेदन करना चाहिये। यदि दूसरी चिकित्सा से कार्य चल जाय, तो स्वेद बिलकुल न करे। वंक्षण स्थित रोग में वंक्षणों में मध्यम स्वेद देना चाहिये। शेष अगों को (रोगी की) इच्छानुसार स्वेदन करे ॥१०॥

सुशुद्धैर्नक्तकैः पिण्ड्या गोधूमानामथापि वा ।
पद्मोत्पल-पलाशैर्वा स्वेद्यः संवृत्य चक्षुषी ॥ ११ ॥
मुक्तावलीभिः शीताभिः शीतलैर्भाजनैरपि ।
जलार्द्रैर्जलजैर्हस्तैः स्विद्यतो हृदयं स्पृशेत् ॥ १२ ॥

धूल आदि दूषक पदार्थों से रहित, रूई से, रूई के वस्त्रों से अथवा गेहूं

की पोटली बांध कर आंख पर स्वेद देना चाहिये। स्वेद देने से पूर्व आंख को कमल, या नीला कमल इनके पत्तों से ढांप लेना चाहिये। शीतल मोतियों की मालाओं से, शीतल पात्रों से, जल से भीगे कमलों से और हाथों से स्वेदन किये जाते रोगी के हृदय को स्पर्श करता रहे ॥११-१२॥

शीत-शूल व्युपरमे स्तम्भ-गौरव-निग्रहे।
संजाते मार्दवे स्वेदे स्वेदनाद्विरतिर्मता ॥ १३ ॥

सरदी और वेदना हट जाने पर, शरीर में जड़ता तथा भारीपन प्रतीत न होने पर और शरीर में कोमलता उत्पन्न होने से,तथा शरीर पर पसीना आ जाने पर स्वेद देना बन्द कर दे ॥१३॥

पित्तप्रकोपो मूर्च्छा च शरीर-सदनं तृषा।
दाहः स्वेदाङ्ग-दौर्बल्यमतिस्विन्नस्य लक्षणम् ॥ १४ ॥
उक्तस्तस्याशितीये यो ग्रैष्मिकः सर्वशो विधिः।
सोऽतिस्विन्नस्य कर्तव्यो मधुरः स्निग्धशीतलः ॥ १५ ॥

अतिस्वेदन के लक्षण और उपचार—अतिस्वेद देने से पित्त का प्रकोप, मूर्च्छा, शरीर में सुस्ती, प्यास का लगना, जलन, पसीने का बहुत आना, अंगों में निर्बलता आ जाती है। अतिस्वेद के लिये 'तस्याशितीय' (अध्याय ६ में) कही हुई ग्रीष्म ऋतु की मधुर, स्निग्ध, शीतल गुणवाली सम्पूर्ण परिचर्या (मद्य विधि को छोड़ कर) करे। यह अतिस्वेद की चिकित्सा है ॥१४-१५॥

कषाय-मद्य-नित्यानां गर्भिण्या रक्तपित्तिनाम्।
पित्तिनां सातिसाराणां रूक्षाणां मधुमेहिनाम् ॥ १६ ॥
विदग्ध-भ्रष्ट-ब्रध्नानां विष-मद्य-विकारिणाम्।
श्रान्तानां नष्टसंज्ञानां स्थूलानां पित्तमेहिनाम् ॥ १७ ॥
तृष्यतां क्षुधितानां च क्रुद्धानां शोचतामपि।
कामल्युदरिणां चैव क्षतानामाढ्यरोगिणाम् ॥ १८ ॥
दुर्बलातिविशुष्काणामुपक्षीणौजसां तथा।
भिषक् तैमिरिकाणां च न स्वेदमवतारयेत् ॥ १९ ॥

स्वेद न देने योग्य व्यक्ति—जो वात-कफ प्रकृति के मनुष्य नित्य प्रति पाचनादि कषायों और मद्य का सेवन करते हों, गर्भवती, रक्त-पित्त रोगी, पित्त प्रकृति या पित्त जन्य रोग वाले व्यक्ति, अतिसार रोगी, रूक्ष प्रकृति, मधुमेही, सब प्रकार के प्रमेह रोगी, इनमें भी खास कर मधुमेह के रोगी, जिनकी गुदा पक गई हो, या गुदा बाहर आगई हो, विषरोगी, या नशे में मस्त अथवा

शराब से उत्पन्न रोगवाला, परिश्रम करने से थके, मूर्च्छित, बेहोश रोगी, स्थूल-चर्बीवाले पुरुष, पित्तजन्य प्रमेही, प्यासे पुरुष, भूखे, क्रोधी, शोक-चिन्ता-ग्रस्त, कामला, उदर रोगी, कुष्ठ रोगी, वात रक्त रोगी, निर्बल, बहुत रूक्ष शरीर वाले, जिनका ओज क्षीण हो गया हो उनका, तथा तिमिर रोगियों को स्वेद नहीं देना चाहिये। (परन्तु तीव्र व्याधि में अल्पस्वेद दिया जा सकता है) ॥१६–१९॥

प्रतिश्याये च कासे च हिक्का-श्वासेष्वलाघवे।
कर्णमन्या-शिरःशूले स्वरभेदे गलग्रहे ॥ २० ॥
अर्दितैकाङ्ग-सर्वाङ्ग-पक्षाघाते विनामके।
कोष्ठानाहविबन्धेषु शुक्राघाते विजृम्भके ॥ २१ ॥
पार्श्व-पृष्ठ-कटी-कुक्षि संग्रहे गृध्रसीषु च।
मूत्रकृच्छ्रे महत्त्वे च मुष्कयोरङ्गमर्दके ॥ २२ ॥
पादोरु-जानु-जङ्घार्ति-संग्रहे श्वयथावपि।
खल्लीष्वामेषु शीते च वेपथौ वातकण्टके ॥ २३ ॥
संकोचायामशूलेषु स्तम्भ-गौरव-सुप्तिषु।
सर्वाङ्गेषु विकारेषु स्वेदनं हितमुच्यते ॥ २४ ॥

स्वेद योग्य व्यक्ति—जुकाम, खांसी, हिक्का, दमा, शरीर का भारीपन, कान की दर्द, मन्या-शूल, शिरोवेदना, स्वरभेद, गलग्रह, अर्दित (चेहरे का लकवा), एकांग वात, सर्वाङ्ग वात, पक्षाघात रोग, विनामक (दण्डापतानक आदि) में, पेट का अफारा, मल-मूत्र के अवरोध में (कब्ज), शुक्र के अवरोध, जम्भाई का अधिक आना, पार्श्वशूल, पृष्ठवेदना, कटिशूल, कुक्षिशूल, गृध्रसी रोग, मूत्रकृच्छ्र रोग, अण्डवृद्धि, सारे शरीर में वेदना, पांव की वेदना या ऐंठन, घुटना अथवा जंघा की पीड़ा अथवा ऐंठन, खल्ली अर्थात् हाथ-पांव के ऐंठन में, आम रोग, शीतावस्था, कंपकपी, वातकण्टक, गुल्फाश्रित वात रोग, शरीर को संकुचित करने वाले वात रोग, आयाम अन्तरायाम वात रोग, शूल-वेदना, स्तम्भ (शरीर की जड़ता), भारीपन, अंग का सो जाना या स्पर्श ज्ञान का अभाव, शून्यता, ज्वरादि और वात-श्लेष्मा आदि रोगों की दशाओं में स्वेद देना हितकारी है ॥२०–२४॥

स्वेदन द्रव्य—

तिल-माष-कुलत्थाम्ल-घृत-तैलामिषौदनैः।
पायसैः कृशरैर्मांसैः पिण्डस्वेदं प्रयोजयेत् ॥ २५ ॥

गो-खरोष्ट्र वराहाश्व-शकृद्भिः सतुषैर्यवैः ।
सिकता-पांशु-पाषाण-करीषायस-पूटकैः ॥ २६ ॥
श्लैष्मिकान् स्वेदयेत् पूर्वैर्वातिकान् समुपाचरेत् ।
द्रव्याण्येतानि शस्यन्ते यथास्वं प्रस्तरेष्वपि ॥ २७ ॥
भूगृहेषु च जेन्ताकेषूष्णगर्भगृहेषु च ।
विधूमाङ्गारतप्तेष्वभ्यक्तः स्विद्यति ना सुखम् ॥ २८ ॥

तिल, उड़द, कुलथी, अम्ल (चांगेरी-चौपतिया), घृत, तैल, ओदन-पके हुए चावल, खीर (मावा-दूध का खोया), (तिल और मांस की खिचड़ी), माष, इन पदार्थों को गोलाकार बना कर 'पिण्ड स्वेद' का प्रयोग करना चाहिये। रूक्ष स्वेद के द्रव्य—गाय का गोबर, गधे का मल, ऊँट का मल, सुअर का मल और घोड़े की लीद, छिलकों वाले जौ, रेता, पांसु (धूली-बारीक रेत), पत्थर (ईंट का) चूरा, छाना (अरना) का चूर, आयस—लोहे का चूरा. इनकी पोटली बनाकर कफ रोगियों को स्वेद देना चाहिये और तिल, उड़द आदि से वातरोगियों को स्वेद देना चाहिये। पिण्ड स्वेद को 'संकर स्वेद' कहते हैं। ये तिल आदि पदार्थ प्रस्तर स्वेद में भी प्रशस्त हैं। नाड़ी स्वेद—भूमि को खोद कर बनाया हुआ घर, जेन्ताक अर्थात् कृत्रिम विधि से गरम किया हुआ घर, उष्ण गर्भ अर्थात् हमाम-बिना खिड़की के घर, इनमें, वातहर, या कफहर लकड़ियों को जलाकर, धुवें रहित अंगारों से इन घरों को गरम करके, शरीर का स्नेहन करने के पीछे मनुष्य सुखपूर्वक स्वेद ले सकता है ॥२५-२८॥

ग्राम्यानूपौदकं मांसं पयो बस्तशिरस्तथा ।
वराह-मध्य-पित्तासृक् स्नेहवत्तिल-तण्डुलाः ॥ २९ ॥
इत्येतानि समुत्क्वाथ्य नाडीस्वेदं प्रयोजयेत् ।
देश-काल-विभागज्ञो युक्त्यपेक्षो भिषक्तमः ॥ ३० ॥
वारुणामृतकैरण्ड-शिग्रु-मूलक-सर्षपैः ।
वासा-वंश-करञ्जार्क-पत्रैरश्मन्तकस्य च ॥ ३१ ॥
शोभाञ्जनक-शैरेय-मालती-सुरसार्जकैः ।
पत्रैरुत्क्वाथ्य सलिलं नाडीस्वेदं प्रयोजयेत् ॥ ३२ ॥
भूतीक-पञ्चमूलाभ्यां सुरया दधिमस्तुना ।
मूत्रैरम्लैश्च सस्नेहैर्नाडीस्वेदं प्रयोजयेत् ॥ ३३ ॥
एत एव च निर्यूहाः प्रयोज्या जलकोष्ठके ।

स्वेदनार्थं घृत-क्षीर-तैल-कोष्ठांश्च कारयेत् ।। ३४ ।।

नाड़ीस्वेद के लिए—ग्राम्य (पालतू) पशु और जलीय जन्तुओं का मांस, दूध, बकरी का शिर, सुअर का मध्यभाग, पित्त, रक्त, एरण्ड के बीज, तिल (तुष रहित) इन सबको यथायोग्य उबालकर नलिका द्वारा स्वेद देवे। देश, काल के विभाग को समझने वाला और युक्ति-प्रयोगविधि जानने वाला वैद्य स्वेद देवे। यह स्वेद वात रोग में हितकारी है। वरना, गिलोय, ऐरण्ड, सहजन, मूली के बीज, बांसा, रेणु, करञ्ज, आक, पाषाणभेद और चांगेरी के पत्ते लाल सहजन, शिलाह्वा, अर्जक (तुलसी भेद) इनके पत्तों को और छालों को भी क्वाथ करके देश, काल के विभाग को जानने वाला, युक्ति को समझने वाला वैद्य नाड़ीस्वेद देवे, यह स्वेद कफ जन्य रोगों में हितकारी है। भूतीक (बड़ी अजवायन), पञ्चमूल (बृहत्पञ्चमूल वात कफ हर होने से), सैरेय (झिंटी), दही का पानी (मस्तु), आठों प्रकार के मूत्र, अम्लवर्ग से, स्नेह, घृत, तैल आदि के साथ क्वाथ करके वात-कफ मे नाड़ीस्वेद देना चाहिये। ये ग्राम्य मांस आदि तीनों निर्यूह (क्वाथ) क्रम से, वातजन्य, कफजन्य, और वात-कफजन्य रोगों में 'जल कोष्ठक' अर्थात इनके क्वाथों से भरे द्रोणीपात्र में खड़ा करके आदमी को स्वेद देवे। स्वेदन के लिये घी का कोठा (कोष्ठ), दूध का कोठा, या तैल का कोठा भी बना लेना चाहिये ।।२६--३४।।

गोधूम-शकलैश्चूर्णैर्यवानामम्लसंयुतः ।
सस्नेह-किण्व-लवणैरुपनाहः प्रशस्यते ।। ३५ ।।
गन्धैः सुरायाः किण्वेन जीवन्त्या शतपुष्पया ।
उमया कुष्ठतैलाभ्यां युक्तया चोपनाहयेत् ।। ३६ ।।
चर्मभिश्च पनद्धव्यः सलोमभिरपूतिभिः ।
उष्णवीर्यैरलाभे तु कौशेयाविकशाटकैः ।। ३७ ।।
रात्रौ बद्धं दिवा मुञ्चेन्मुञ्चेद्रात्रौ दिवाकृतम् ।
विदाह-परिहारार्थं, स्यात्प्रकर्षस्तु शीतले ।। ३८ ।।

उपनाह विधि—गेहूं का दरकच चूर्ण, जौ का चूर्ण, कांजी, तैल, मद्यकिट्ट के साथ मिलाकर गरम करके उपनाह (पुलटिस) बांधना वातजन्य रोगों में उपकारी है। चन्दन अगरू आदि सुगन्धित पदार्थ मद्य पात्र में बैठे तलछट-प्रक्षेप, जीवन्ती सौंफ, कफजन्य रोगों में इनकी पुलटिस लगावे। अलसी, कूठ और तैल से पुलटिस तैय्यार करे, इसे वात-कफ रोगियों में प्रयोग करे दुर्गन्ध रहित, बालोंवाली एवं उष्ण वीर्य्य वाली खालों से लेप को बांध देना चाहिये। और जब ऐसे चमड़े न मिले तो रेशमी वस्त्रों से या ऊन से बने कम्बल से

बांधना चाहिये। रात्रि में प्रलेप लगाकर बांधे हुए बन्धन को दिन में खोल देना चाहिये। दिन में बांधे बंधन को रात में खोल देना चाहिये। जिससे कि जलन उत्पन्न न हो। शीत (हेमन्त और शिशिर) काल में बंधी रहने में कोई डर नहीं दिन में बंधी पट्टी रात भी रह जाय, तो कोई डर नहीं॥ ३५-३८॥

संकरः प्रस्तरो नाडी परिषेकोऽवगाहनम्।
जेन्ताकोऽश्मघनः कर्षुः कुटी भूः कुम्भिकैव च॥ ३९॥
कूपो होलाक इत्येते स्वेदयन्ति त्रयोदश।
तान् यथावत्प्रवक्ष्यामि सर्वानेवानुपूर्वशः॥ ४०॥ इति।

स्वेदकर्म के तेरह प्रकार हैं १. संकर, २. प्रस्तर, ३. नाड़ी, ४. परिषेक, ५. अवगाहन, ६. जेन्ताक, ७. अश्मघन, ८. कर्षू, ९. कुटी, १०. भू ११. कुम्भिक, १२. कूप, १३. होलाक, ये तेरह प्रकार के स्वेद हैं। इन तेरह स्वेदों को क्रमशः कहते हैं॥३९-४०॥

तत्र वस्त्रान्तरितैरवस्त्रान्तरितैर्वा पिण्डैर्यथोक्तैरुपस्वेदनं संकरस्वेद इति विद्यात्॥ ४१॥

(१) संकरस्वेद—तिल, माष आदि पदार्थों का पिण्ड बनाकर वस्त्र में लपेट कर अथवा विना वस्त्र में लपेटे ही गरम करके स्वेदन कार्य करने का नाम 'संकर-स्वेद' है॥४१॥

शूक-शमी-धान्य-पुलाकानां वेसवारायस-कृशरोत्कारिकादीनां वा प्रस्तरे कौशेयाविकोत्तर-प्रच्छदे पञ्चाङ्गुलोरुबकार्कपत्र-प्रच्छदे वा स्वभ्यक्त-सर्व-गात्रस्य शयानस्योपरि स्वेदनं प्रस्तरस्वेद इति विद्यात्॥ ४२॥

(२) प्रस्तर स्वेद—शूक धान्य (चावल गेहूँ आदि), शमी धान्य (मूंग, उड़द, चना आदि), पुलाक (चावल रहित धान्य, पटास), वेसवार, पायस (मावा, खोया), कृशरा, तिल, उड़द की बनी यवागू, उत्कारिका (उड़द की बनी पूरी या पूवा), आदि वस्तुओं को गरम करके, पत्थर (अथवा काष्ठ आदि कड़ी वस्तु पर फैलाये हुए) रेशम, कम्बल (ऊनी वस्त्र) को फैलाकर, अथवा ऐरण्ड, उरुबक (छोटा एरण्ड), या आक के पत्ते को फैलाकर इन पर औषध लगा देवे। फिर सारे शरीर पर स्नेह लगा कर इन पत्तों या वस्त्र पर लेट कर स्वेद लेने का नाम 'प्रस्तरस्वेद' है॥४२॥

स्वेदनद्रव्याणां पुनर्मूल-फल-पत्र-शुङ्गादीनां मृग-शकुनि-पिशित-शिर-स्पदादीनामुष्णस्वभावानां वा यथार्हमम्ल-लवण-स्नेहोपसंहितानां मूत्रक्षीरादीनां वा कुम्भ्यां बाष्पमनुद्वमन्त्यामुत्क्वथितानां नाड्या शरेषीका-वंश-

दल-करञ्जार्क-पत्रान्यतम-कृतया गजाग्र-हस्त-संस्थानया व्याम-दीर्घया व्यामार्धदीर्घया वा व्यामचतुर्भागाष्टभागमूलाग्रपरिणाहस्रोतसा सर्वतो वातहर-पत्र-संवृत-च्छिद्रया द्विस्त्रिर्वा विनामितया वातहर-सिद्ध-स्नेहाभ्यक्तगात्रो बाष्पमुपहरेत्, बाष्पो ह्यनूर्ध्वगामी विहत-चण्ड-वेगस्त्वचमविदहन् सुखं स्वेदयतीति नाडीस्वेदः ॥ ४३ ॥

(३) नाड़ीस्वेद—पहिले कहे हुए स्वेदन द्रव्यों के मूल, फल, पत्र और कोंपल और पशु, पक्षी इनका मांस, शिर, पांव आदि उष्ण स्वभावयुक्त अथवा यथायोग्य अम्ल, लवण एवं स्नेह युक्त, आठों प्रकार के मूत्र, गौ आदि के दूध और मस्तु को घड़े में बन्द करके इसके मुख को ढकन से बन्द कर दे फिर इस को गरम करे। इस घड़े में शर, ईषीक आदि से बनी नलिका (नली) को लगाकर इसके द्वारा वातहर तैल से स्निग्ध पुरुष को स्वेद देना चाहिये। नलिका का स्वरूप सरकण्डा का अगला भाग, पत्ता, बांस का पत्ता, करंज का पत्ता, आक का पत्ता इन में से किसी की नलिका बनाले। नली हाथी की सूंड के समान ऊपर से मोटी नीचे पतली मुख पर से गोल हो, तथा व्याम अर्थात् पुरुष के दोनों हाथ फैला लेने पर इस लम्बाई के बराबर लम्बी, अथवा आधे व्याम लम्बी, और जड़ से अग्र तक व्याम के चौथाई भाग घेर में, वा व्याम का आठवां भाग होना चाहिये। और नाड़ी के चारों ओर जितने भी छेद हों, उन सब को वातनाशक एरण्ड आदि के पत्तों से बन्द करके दो या तीन बार टेढ़ी घूमा कर पात्र के मुख में लगी हुई नलिका से बाष्प रोगी को देने चाहियें। दो तीन बार टेढ़ी-मेढ़ी घुमाने से बाष्प ऊपर की ओर न जाकर, प्रबल वेग से त्वचा को न जलाता हुआ सुखपूर्वक स्वेदन करता है ॥४३॥

वातिकोत्तरवातिकानां पुनर्मूलादीनामुत्क्वाथैः सुखोष्णैः कुम्भीर्वर्षणिकाः प्रनाडीर्वा पूरयित्वा यथार्हसिद्धस्नेहाभ्यक्तगात्रं वस्त्रावच्छन्नं परिषेचयेदिति परिषेकः ॥ ४४ ॥

(४) परिषेक स्वेद—वातनाशक एवं विशेष रूप से त्रिदोषनाशक द्रव्यों के मूल, फल, पत्र, शुंग आदि को सुखदायक क्वाथ—जिसे शरीर सहन कर सके इतने गरम क्वाथ को सच्छिद्र बर्तन के ढकन में छेद रखकर जिससे बाष्प निकल सकें, अथवा बर्तन में नाली लगाकर यथायोग्य स्नेह से स्निग्ध शरीर वाले मनुष्य को कपड़ों से सम्पूर्ण रूप में ढांप कर स्वेद देना चाहिये ॥४४॥

वातहरोत्क्वाथ-क्षीर-तैल-घृत-पिशित-रसोष्ण-सलिल-कोष्ठकावगाहस्तु यथोक्त एवावगाहः ॥ ४५ ॥

(५) अवगाह स्वेद—वात नाशक द्रव्यों से क्वाथ, घी, तैल, मांस रस गरम पानी बनाकर 'कोठी' लकड़ी का बना हुआ बड़ा पात्र जिसमें मनुष्य बैठ सके उसमें बैठकर स्नान करना अवगाहन है ॥४५॥

अथ जेन्ताकं चिकीर्षुर्भूमिं परीक्षेत—तत्र पूर्वस्यां दिश्युत्तरस्यां वा गुणवति प्रशस्ते भूमिभागे कृष्णमृत्तिके सुवर्णमृत्तिके वा परीवाप-पुष्करिण्यादीनां जलाशयानामन्यतमस्य कूले दक्षिणे पश्चिमे वा सूपतीर्थे सम-सुविभक्त-भूमि-भागे सप्ताष्टौ वाऽरत्नीरुपक्रम्योदकात्प्राङ्मुखमुदङ्मुखं वाऽभिमुखतीर्थं कूटागारं कारयेत्, उत्सेधविस्तरतः परमरत्नीः षोडश, समन्तात्सुवृत्तं मृत्कर्मसंपन्नमनेकवातायनम्। अस्य कूटागारस्यान्तः समन्ततो भित्तिमरत्निविस्तारोत्सेधां पिण्डिकां कारयेदाकपाटात्, मध्ये चास्य कूटागारस्य चतुष्किष्कुमात्र-पुरुषप्रमाणं मृन्मयं कुन्दसंस्थानं बहु-सूक्ष्म-च्छिद्रमङ्गार-कोष्ठक-स्तम्भं सपिधानं कारयेत्, तं च खादिराणामश्वकर्णादीनां वा काष्ठानां पूरयित्वा प्रदीपयेत्, स यदा जानीयात्साधुदग्धानि काष्ठानि, विगतधूमान्यवतप्तं च केवलमग्निना तदग्निगृहं स्वेदयोग्येन चोष्मणा युक्तमिति, तत्रैनं पुरुषं वातहराभ्यक्तगात्रं वस्त्रावच्छन्नं प्रवेशयेत्, प्रवेशयंश्चैनमनुशिष्यात्—"सौम्य! प्रविश कल्याणायाऽऽरोग्याय चेति, प्रविश्य चैनां पिण्डिकामधिरुह्य पार्श्वापरपार्श्वाभ्यां यथासुखं शयीथाः, न च त्वया स्वेद-मूर्च्छा-परीतेनापि सता पिण्डिकैषा विमोक्तव्याऽऽप्राणोच्छ्वासात्, भ्रश्यमानो ह्यतः पिण्डिकावकाशाद् द्वारमनधिगच्छन् स्वेद-मूर्च्छा-परीततया सद्यः प्राणान् जह्याः, तस्मात्पिण्डिकामेनां न कथंचन मुञ्चेथाः, त्वं यदा जानीया विगताभिष्यन्दमात्मानं सम्यक् प्रस्नुत-स्वेद-पिच्छं सर्व-स्रोतो-विमुक्तं लघुभूतमपगत-विबन्ध-स्तम्भ-सुप्ति-वेदना-गौरवमिति, ततस्तां पिण्डिकामनुसरन् द्वारं प्रपद्येथाः, निष्क्रम्य च न सहसा चक्षुषोः परिपालनार्थं शीतोदकमुपस्पृशेथाः, अपगत-सन्ताप-क्लमस्तु मुहूर्तात्सुखोष्णेन वारिणा यथान्यायं परिषिक्तोऽश्नीयाः—इति जेन्ताकस्वेदः ॥ ४६ ॥

(६) जेन्ताक स्वेद—जेन्ताक स्वेद करने की इच्छा करने वाला वैद्य सब से प्रथम भूमि की परीक्षा करे। इसके लिये मनुष्य के निवास स्थान से पूर्व अथवा उत्तर दिशा में जो भूमि-प्रदेश (वृक्ष आदि के उत्पन्न होने से) प्रशस्त एवं गुणवान् तथा सुन्दर हो, काली मिट्टी वाला या स्वर्ण (पीली

मिट्टी) मिट्टी का हो, तालाव, पुष्करिणी, बावड़ी अथवा बड़े तालाव के दक्षिण या पश्चिम किनारे पर, जहां पर किनारे का अच्छा घाट बना हो, जहां भूमि ऊंची नीची न हो, बिल्कुल समान हो। (२) कूटागार निर्माण—वहां पर पानी से सात या आठ हाथ पीछे हटकर जलाशय के पश्चिम किनारे पर पूर्वाभिमुख अथवा जलाशय के दक्षिण किनारे पर उत्तराभिमुख कूटागार बनाना चाहिये। यह कूटागार ऊंचाई में १६ हाथ और चौड़ाई में १६ हाथ चारों ओर से गोलाकार बहुत रोशनदानों वाला मिट्टी से लिपा पुता कर तैयार करना चाहिये। इस घर के अन्दर दिवार के चारों ओर किवाड़ तक एक हाथ भर ऊंची चबूतरी बनानी चाहिये। मध्य में चार हाथ विस्तृत पुरुष के परिमाण की मिट्टी से बनी, कन्दूक आकार की बहुत सूक्ष्म, छोटे २ छिद्रों वाला अंगार कोष्ठ रूप स्तम्भ बनाये, और इस का ढक्कन भी बनाये। (३) स्वेदन विधि· इस भाड़ को खैर, अश्वकर्ण (बड़े पत्तों वाला ढाक) की लकड़ियों से भरकर जला देवे। जिस समय यह मालूम हो जाए कि लकड़ियां भली प्रकार जल चुकीं, धुंआ नहीं रहा, और घर भी आग से गरम हो गया है तथा पसीना देने की योग्यता वाली गरमी से युक्त है, तब वातहर तैल से स्निग्ध एवं वस्त्र से ढंके हुए पुरुष को इस घर में प्रवेश करावे। प्रवेश कराने से पूर्व उस को समझा दे कि—हे सौम्य! कल्याण, मंगल और आरोग्यता के लिये इस घर में प्रवेश करो। इस घर में प्रविष्ट होकर इस चबूतरे के ऊपर दक्षिण पार्श्व से, या वाम पार्श्व से, जिससे चाहो उस पार्श्व से (जैसे आराम मिले, वैसे) सुखपूर्वक लेटो। परन्तु पसीने आने से उत्पन्न मूर्च्छा के कारण व्याकुल होने पर भी इस चबूतरे को प्राणों के रहने तक बिल्कुल मत छोड़ो। क्योंकि इस चबूतरे पर से फिसल कर दर्वाजे को न पाकर मूर्च्छा की व्याकुलता के कारण प्राण निकल जायंगे। इसलिए चबूतरे को बिल्कुल न छोड़ना। जिस समय कफ का जोर घट जाय, पसीना भी सब स्रोतों से भली प्रकार निकल जाय, सारे छिद्र खुल जायें, शरीर हल्का हो जाय, मल बन्ध, जड़ता, स्पर्श ज्ञान का अभाव, पीड़ा और भारीपन शरीर में नहीं रहे, उस समय चबूतरे के साथ साथ चलकर दर्वाजे के पास पहुंच जाना और बाहर निकल कर आंखों की रक्षा के लिये सहसा शीतल जल का प्रयोग न करना कुछ देर ठहर कर जब थकान और गरमी, शिथिलता दूर हो जाय तब थोड़े गरम पानी से इच्छानुसार स्नान करके भोजन करना ॥ ४६ ॥

शयानस्य प्रमाणेन घनामश्ममयीं शिलाम् ।
तापयित्वा मारुतघ्नैर्दारुभिः संप्रदीपितैः ॥ ४७ ॥

व्यपोह्य सर्वानङ्गारान् प्रोक्ष्य चैवोष्णवारिणा।
तां शिलामथ कुर्वीत कौषेयाविक-संस्तराम् ॥ ४८ ॥
तस्यां स्वभ्यक्तसर्वाङ्गः स्वपन् स्विद्यति ना सुखम्।
कौरवाजिन-कौषेय-प्रावाराद्यैः सुसंवृतः ॥ ४९ ॥
इत्युक्तोऽश्मघनस्वेदः, कर्षूस्वेदः प्रवक्ष्यते।

(७) अश्मघन स्वेद विधि—पुरुष लेट सके, इतनी बड़ी लम्बी, चौड़ी, मजबूत पत्थर की बनी शिला को; वातनाशक (देवदारु या अगर आदि) लकड़ियां जलाकर गरम करे। गरम होने पर सब अंगारों को दूर हटा दे, शिला पर गरम पानी छिड़क देवे (जिससे कि ऊपर की गरमी बाहर हो जाये) सब अंगों पर तैल का अभ्यंङ्ग करके मनुष्य सोता हुआ सूत का चादर, मृग चर्म, रेशमी चादर कम्बल आदि भली प्रकार ओढ़कर सुख पूर्वक स्विन्न होता है। इस प्रकार अश्मघन स्वेद बता दिया गया, अब कर्षू-स्वेद बताया जाता है ॥४७-४६॥

खानयेच्छयनस्याधः कर्षूं, स्थानविभागवित् ॥ ५० ॥
दीप्तैरधूमैरङ्गारैस्तां कर्षूं पूरयेत्ततः।
तस्यामुपरि शय्यायां स्वपन् स्विद्यति ना सुखम् ॥ ५१ ॥

(८) कर्षू-स्वेद विधि—स्थान के विभाग को जानने वाला वैद्य शय्या के नीचे हाण्डा के आकार का एक गोल गड्ढा बनावे। इस गड्ढे को जलते हुए परन्तु धूमरहित अंगारों से भर दे। इस गड्ढे के ऊपर खाट बिछाकर लेटने से सुख पूर्वक पसीना आता है ॥ ५०–५१ ॥

अनत्युत्सेधविस्तारां वृत्ताकारामलोचनाम्।
घनभित्तिं कुटीं कृत्वा कुष्ठाद्यैः संप्रलेपयेत् ॥ ५२ ॥
कुटीमध्ये भिषक्शय्यां स्वास्तीर्णां चोपकल्पयेत्।
प्रावाराजिन-कौषेय-कुथ-कम्बल-गोलकैः ॥ ५३ ॥
हसन्तिकाभिरङ्गार-पूर्णाभिस्तां च सर्वशः।
परिवार्यान्तरारोहेदभ्यक्तः स्विद्यते सुखम् ॥ ५४ ॥

(९) कुटीस्वेद विधि—न बहुत ऊंचा और न बहुत चौड़ी गोलाकार, रोशनदान रहित (जिसमें वायु के लिये छेद न हों) तथा मोटी दिवारों वाली कुटी बनाये। इस घर को अन्दर से कुष्ठ आदि उष्णवीर्य द्रव्यों से लेप देना चाहिये। इस लिपी कुटी के बीच में वैद्य लम्बी, चौड़ी शय्या बनाये। इस शय्या के चारों ओर अंगारों से भरी अंगीठियां रख देवे। फिर व्याघ्रचर्म, मृगचर्म, रेशम, कम्बल, चित्र विचित्र गरम वस्त्र शय्या पर बिछाकर, लपेट लेने चाहिये। शरीर

पर स्नेह लगाकर स्वेद लेना चाहिये। इस प्रकार सुखपूर्वक स्वेदन हो जाता है ॥ ५२-५४ ॥

य एवाश्मघनस्वेद-विधिर्भूमौ स एव तु।
प्रशस्तायां निवातायां समायामुपदिश्यते ॥ ५५ ॥

(१०) भू-स्वेद विधि—जो विधि अश्मघन स्वेद की है, वही भूस्वेद की है। इस स्वेद के लिये भूमि उत्तम, वायु रहित तथा समान हो ऊंची-नीची नहीं होनी चाहिये ॥५५॥

कुम्भीं वातहर-क्वाथ-पूर्णां भूमौ निखानयेत्।
अर्धभागं त्रिभागं वा शयनं तत्र चोपरि ॥ ५६ ॥
स्थापयेदासनं वाऽपि नातिसान्द्रपरिच्छदम्।
अथ कुम्भ्यां सुसन्तप्तान् प्रक्षिपेदयसो गुडान् ॥ ५७ ॥
पाषाणांश्चोष्मणा तेन तत्स्थः स्विद्यति ना सुखम्।
सुसंवृताङ्गः स्वभ्यक्तः स्नेहैरनिलनाशनैः ॥ ५८ ॥

(११) कुम्भी-स्वेद विधि—घड़े को वातहर देवदारु आदि के क्वाथ से भरकर भूमि में आधा या तिहाई भाग गाड़ देना चाहिये। इसके ऊपर एक खाट बिछा दे। खाट के ऊपर बहुत गहरा मोटा कपड़ा न बिछाना चाहिये। फिर लोहे के गोले, या पत्थरों को खूब गरम करके भूमि में या गड़ी और वात हर क्वाथ से भरी कुम्भी (घड़े) में गिरा दे। इनकी गरमी से, शय्या के ऊपर अंगों को लपेट कर लेटे हुए, शरीर पर वातनाशक स्नेह का मर्दन किये हुए पुरुष को सुखपूर्वक स्वेदन होता है ॥ ५६-५८ ॥

कूपं शयनविस्तारं द्विगुणं चापि वेधतः।
देशे निवाते शस्ते च कुर्यादन्तः सुमार्जितम् ॥ ५९ ॥
हस्त्यश्व-गो-खरोष्ट्राणां करीषैर्दग्धपूरिते।
स्ववच्छन्नः सुसंस्तीर्णोऽभ्यक्तः स्विद्यति ना सुखम् ॥ ६० ॥

(१२) कूप-स्वेद—जितनी जगह पर खाट बिछती हो, उतने स्थान पर शय्या के बराबर लम्बा, चौड़ा एक गड्ढा खोदे। इस गड्ढे की गहराई दुगनी हो। इस कुए को वायु रहित स्थान पर बनावे इस कुए को अन्दर भली प्रकार लेप कर साफ स्वच्छ कर लेना चाहिये। इस गर्त्त में हाथी, घोड़े आदि के शुष्क मल (गोटों को) को डाल कर जला देना चाहिये। जब धुंआ निकलना बन्द हो जाय तब इस कूप के ऊपर चारपाई बिछा कर कोई वस्त्र इस पर बिछाकर, शरीर पर वातहर तैल मर्दन करके, व्याघ्रचर्म, मृगछाला, कम्बल आदि ओढ़कर लेटने से सुख पूर्वक स्वेद हो जाता है ॥५९-६०॥

धीतिकां तु करीषाणां यथोक्तानां प्रदीपयेत् ।
शयनान्तःप्रमाणेन शय्यामुपरि तत्र च ॥ ६१ ॥
सुदग्धायां विधूमायां यथोक्तामुपकल्पयेत् ।
स्ववच्छन्नः स्वपँस्तत्राभ्यक्तः स्विद्यति ना सुखम् ॥ ६२ ॥
होलाकस्वेद इत्येष सुखः प्रोक्तो महर्षिणा ।
इति त्रयोदशविधः स्वेदोऽग्निगुणसंश्रयः ॥ ६३ ॥

(१३) होलाक स्वेद—हाथी, घोड़ा, गाय, गधा, ऊंट इनके छानों (मल) की लम्बी परन्तु गोलाकार (धीतिका अर्थात् चिता के रूप में) बना कर जला देना चाहिये और जब यह चिता धूम रहित हो जाय, तब इस पर यथोक्त शय्या आदि बिछाकर, वातहर तैल का मर्दन करके, उष्ण वस्त्र ओढ़कर सोने से सुखपूर्वक पसीना आता है। यह सुखकारक होलाकस्वेद है। ये तेरह प्रकार के स्वेद अग्नि के अधीन हैं, इनका महर्षि ने उपदेश किया है ॥६१-६३॥

व्यायाम उष्णसदनं गुरुप्रावरणं क्षुधा ।
बहुपानं भयक्रोधावुपनाहाहवातपाः ॥ ६४ ॥
स्वेदयन्ति दशैतानि नरमग्निगुणादृते ।

अग्निरहित स्वेद—व्यायाम (शारीरिक श्रम), उष्ण सदन (वायु और शीत स्पर्श रहित तहखाना भूमि के नीचे के गरम घर), कम्बल आदि भारी वस्त्र, क्षुधा (भूख), बहुपान (गरम पानी या मद्य आदि का बहुत पीना), भय, क्रोध, उपनाह (पुलटिस) आहव (युद्ध), आतप (धूप), ये दस अग्नि के बिना भी शरीर में स्वेदन करते हैं ॥ ६४ ॥

इत्युक्तो द्विविधः स्वेदः संयुक्तोऽग्निगुणैर्न च ॥ ६५ ॥
एकाङ्ग-सर्वाङ्ग-गतः स्निग्धो रूक्षस्तथैव च ।
इत्येतद् द्विविधं द्वन्द्वं स्वेदमुद्दिश्य कीर्तितम् ॥ ६६ ॥
स्निग्धः स्वेदैरुपक्रम्य स्विन्नः पथ्याशनो भवेत् ।
तदहः स्विन्नगात्रस्तु व्यायामं वर्जयेन्नरः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार से दो प्रकार की स्वेद कह दिया; अग्नि गुण वाला और अग्नि-गुण रहित, एकांग और सर्वांग स्वेद, स्निग्ध एवं रूक्ष स्वेद, इस प्रकार तीन प्रकार के दो-दो स्वेदों को कह दिया, स्निग्ध मनुष्य की स्वेद द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। स्वेदन हो जाने पर पथ्य भोजन करना चाहिये। स्वेद दिया मनुष्य उस दिन व्यायाम को न करे ॥६५-६७॥

तत्र श्लोकाः । स्वेदो यथा कार्यकरो हितो येभ्यश्च यद्विधः ।
यत्र देशे यथा योग्यो देशो रक्ष्यश्च यो यथा ॥ ६८ ॥

स्विन्नातिस्विन्नरूपाणि तथाऽतिस्विन्नभेषजम् ।
अस्वेद्याः स्वेदयोग्याश्च स्वेदद्रव्याणि कल्पना ॥ ६९ ॥
त्रयोदशविधः स्वेदो विना दशविधोऽग्निना ।
संग्रहेण च षट् स्वेदाः स्वेदाध्याये निदर्शिताः ॥ ७० ॥
स्वेदाधिकारे यद्वाच्यमुक्तमेतन्महर्षिणा ।
शिष्यैस्तु प्रतिपत्तव्यमुपदेष्टा पुनर्वसुः ॥ ७१ ॥ इति ।

किस प्रकार से स्वेद कार्य कर सकता है, किनके लिये उपकारी है, किस प्रकार, किस स्थान पर, कैसा स्थान, किस प्रकार रक्षा करनी, सम्यक् स्विन्न, अतिस्वेद के लक्षण, अतिस्वेद की चिकित्सा, स्वेद के अयोग्य और स्वेद के योग्य, स्वेदन द्रव्य, तेरह प्रकार का स्वेद और विना अग्नि के दस प्रकार का स्वेद, संक्षेप रूप में छः स्वेद—ये सब स्वेदाध्याय में कह दिया। स्वेद अधिकार में जो कुछ कहना चाहिये था वह सब महर्षि ने कह दिया है। शिष्यों को ठीक २ प्रकार समझना चाहिये, इसके उपदेश करने वाले पुनर्वसु आत्रेय हैं॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने कल्पनाचतुष्के
स्वेदाध्यायो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः ।

अथात उपकल्पनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब उपकल्पनीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे । ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥२॥

इह खलु राजानं राजमात्रं वाऽन्यं विपुलद्रव्यं संभृतसंभारं वमनं विरेचनं वा पाययितुकामेन भिषजा प्रागेवौषधपानात्संभारा उपकल्पनीया भवन्ति, सम्यक्चैव हि गच्छत्यौषधे प्रतिभोगार्थाः, व्यापन्ने चौषधे व्यापदः परिसंख्याय प्रतीकारार्थाः। नहि संनिकृष्टे काले प्रादुर्भूतायामापदि सत्यपि क्रयाक्रये सुकरमाशु संभरणमौषधानां यथावदिति ॥ ३ ॥

इस लोक में राजा अथवा राजा के समान ठाठ वाले पुरुष को या बहुत धन और नौकर चाकरों वाले किसी रईस को वमन, विरेचन देने की इच्छा करने

वाले वैद्य को चाहिये, कि, औषध पिलाने से पूर्व ही सब आवश्यक वस्तुएं अपने पास एकत्र कर ले। क्योंकि यदि औषध ठीक प्रकार से काम कर गई तो ये वस्तुवें फिर काम में आ जायेंगी और यदि प्रयोग से कुछ तकलीफ़ हो गई तो इनकी सहायता से प्रतिकार किया जा सकेगा। और यदि सब आवश्यक उपकरणों को समीप में न रक्खा जाय तो उपद्रव हो जाने पर, तुरन्त बाज़ार से खरीद कर सब वस्तुओं को लाना भी उतना सरल नहीं होता जितना कि प्रथम से ही सब वस्तुओं का संग्रह करना सरल है॥ ३॥

एवं वादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच–ननु, भगवन्! आदावेव ज्ञानवता तथा प्रतिविधातव्यं यथा प्रतिविहिते सिध्येदेवौषधमेकान्तेन, सम्यक्प्रयोगनिमित्ता हि सर्वकर्मणां सिद्धिरिष्टा, व्यापच्चासम्यक्प्रयोगनिमित्ता। अथ सम्यगसम्यक् च समारब्धं कर्म सिध्यति व्यापद्यते वाऽनियमेन, तुल्यं भवति ज्ञानमज्ञानेनेति॥ ४॥

ऐसा कहते हुए भगवान् आत्रेय को अग्निवेश बोले—भगवन्! ज्ञानवान् वैद्य को पहिले से ही चाहिये कि वह संशोधन देने से पूर्व रोगी के बल, आयु, क्रिया, सहनशक्ति, सत्त्व, देश, काल, दोष का बलाबल, प्रकृति आदि बातों का विचार करके योग्य मात्रा में औषध पिलावे। जिससे कि औषध देने पर वह औषध निश्चय से ही गुणकारी सफल हो। क्योंकि सब कार्यों को भली प्रकार उचित रीति से करने पर सफलता अवश्य होती है। अनुचित रीति से करने पर आपत्तियों का होना भी निश्चित है। और यदि ज्ञानपूर्वक किया हुआ कर्म उचित या अनुचित रूप से करने पर कभी सिद्ध हो जाता है, और कभी सिद्ध नहीं होता, तो ज्ञान अज्ञान के समान ही है, पढ़ना न पढ़ना बराबर हो जाता है।४।

तमुवाच भगवानात्रेयः—शक्यं तथा प्रतिविधातुमस्माभिरस्मद्विधैर्वाऽप्यग्निवेश! यथा प्रतिविहिते सिध्येदेवौषधमेकान्तेन, तच्च प्रयोगसौष्ठवमुपदेष्टुं यथावत् न हि कश्चिदस्ति य एतदेवमुपदिष्टमुपधारयितुमुत्सहेत, उपधार्य वा तथा प्रतिपत्तुं प्रयोक्तुं वा, सूक्ष्माणि हि दोष-भेषज-देश-काल-बल-शरीराहार–सात्म्य–सत्त्व-प्रकृति–वयसामवस्थान्तराणि यान्यनुचिन्त्यमानानि विमलविपुलबुद्धेरपि बुद्धिमाकुलीकुर्युः किं पुनरल्पबुद्धेः? । तस्मादुभयमेतद्यथावदुपदेक्ष्यामः सम्यक्प्रयोगं चौषधानां व्यापन्नानां च व्यापत्साधनानि सिद्धिषूत्तरकालम्॥५॥

अग्निवेश को भगवान् आत्रेय ने कहा—हे अग्निवेश! औषध देने पर निश्चय रूप से सफल हो, ऐसा औषधोपचार करना हम वा हम जैसे तपोबल द्वारा

रजस्, तमस् से निर्मुक्त हुऐ पुरुषों से ही सम्भव है और इस प्रयोग की सफलता को पूरे पूरे रूप से उपदेश करने के लिये कोई तैय्यार नहीं। इसी प्रकार ऐसा भी कोई शिष्य नहीं है जो कि इस प्रयोग को यथावत् रूप में जान सके और जानकर प्रयोग ठीक २ प्रकार से कर सके, ऐसा भी कोई आदमी नहीं है, क्योंकि प्रत्येक पुरुष में दोष, औषध, देश समय, बल, शरीर, भोजन, सात्म्य, सत्त्व, प्रकृति, और आयु इनकी स्थिति प्रतिक्षण बदलती रहती है। इन दोष आदि की सूक्ष्म विवेचना निर्मल एवं विशाल बुद्धि वाले पुरुष की भी बुद्धि को चकरा देते हैं, फिर अल्पबुद्धि वाले मनुष्य का तो कहना ही क्या ? इसलिये थोड़ी बुद्धि वाले मनुष्य की बुद्धि को व्याकुल करने के कारण दोनों बातें अर्थात् औषधियों का उचित प्रयोग और औषध प्रयोग के मिथ्यायोग से उत्पन्न आपत्तियों को सिद्धिस्थान में कहेंगे ॥५॥

इदानीं तावत्संभारान्विविधानपि समासेनोपदेक्ष्यामः, तद्यथा-दृढं निवातं प्रवातैकदेशं सुखप्रविचारमनुपत्यकं धूमातपजलरजसामनभिगमनीयमनिष्टानां च शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गन्धानां सोदपानोलूखल-मुसल-वर्चःस्थान-स्नान-भूमि-महानसोपेतं वास्तुविद्याकुशलः प्रशस्तं गृहमेव तावत् पूर्वमुपकल्पयेत् ॥ ६ ॥

इस अध्याय में संशोधन के उपयोगी नाना प्रकार के उपकरणों का संक्षेप से उपदेश करेंगे। सबसे पहिले मकान बनाने की विद्या (स्थापत्य कर्म या वास्तुविद्या) को जानने वाला चतुर शिल्पी ऐसा गृह बनाये जो मज़बूत हो, जिसमें खुली वायु सामने से न आकर एक पार्श्व से पर्याप्त मात्रा में आ सके। जिसमें रोगी आराम से घूम-फिर सके, पहाड़ की तराई या पहाड़ पर न बना हो, धुंवा, गरमी, धूप और धूल जिसमें न आ सकें, मन को अच्छे न लगने वाले शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध जहां पर न जा सकें, पानी का घड़ा, ऊखल, मूसल, मलत्याग का स्थान, स्नानघर, रसोई, पाकशाला साथ हों ॥६॥

ततः शील-शौचाचारानुराग-दाक्ष्य-प्रादक्षिण्योपपन्नानुपचार-कुशलान् सर्वकर्मसु पर्यवदातान् सूपौदन-पाचक-स्नापक-संवाहकोत्थापक-संवेशकौषधपेषकांश्च परिचारकान् सर्वकर्मस्वप्रतिकूलान्, तथा गीत-वादित्रोल्लापक-श्लोक-गाथाख्यायिकेतिहास - पुराण-कुशलानभिप्रायज्ञानुमतांश्च देशकालविदः पारिषद्यांश्च, तथा लावक-पिञ्जल-शश-हरिणैण-कालपुच्छक-मृग-मातृकोरभ्रान्, गां दोग्ध्रीं शीलवतीमनातुरां जीवद्वत्सां

सुप्रतिविहित-तृण-शरण-पानीयां, जलपाञ्याचमनीयोदकोष्ठमणिक-घट-पिठर-पर्योग-कुम्भी-कुम्भ-कुण्ड-शराव-दर्वी-कटोदञ्चन-परिपचन-मन्थान-चर्म-चेल-सूत्र-कार्पासोर्णादीनि च, शयनासनादीनि चोपन्यस्त-भृङ्गार-प्रतिग्रहाणि सुप्रयुक्तास्तरणोत्तर-प्रच्छदोपधानानि स्वापाश्रयाणि संवेशनोपवेशन-स्नेह-स्वेदाभ्यङ्ग-प्रदेह-परिषेकानुलेपन-वमन-विरेचना-स्थापनानुवासन-शिरोविरेचन-मूत्रोच्चार-कर्मणामुपचारसुखानि, सुप्रक्षालितोपधानाश्च सुश्लक्ष्ण-खर-मध्यमा दृषदः, शस्त्राणि चोपकरणार्थानि, धूमनेत्रं च, बस्तिनेत्रं चोत्तरबस्तिकं च, कुशहस्तकं च, तुलां च, मानभाण्डं च, घृत-तैल-वसा-मज्ज-क्षौद्र-फाणित-लवणेन्धनोदक-मधु-सीधु-सुरा-सौवीरक-तुषोदक-मैरेय-मेदक-दधि-मण्डोदश्विद्धान्याम्ल-मूत्राणि च, तथा शालि-षष्टिक-मुद्ग-माष-यव-तिल-कुलत्थ-बदर-मृद्वीका-काश्मर्य-परूषकाभयामलक-बिभीतकानि, नानाविधानि च स्नेहस्वेदोपकरणानि द्रव्याणि, तथैवोर्ध्वहरानुलोमिकोभय-भाञ्जि संग्रहणीय-दीपनीय-पाचनीयोपशमनीय-वातहराणि समाख्यातानि चौषधानि, यच्चान्यदपि किंचिद् व्यापदः परिसंख्यायोपकरणं विद्यात्, यच्च प्रतिभोगार्थं; तत्तदुपकल्पयेत् ॥ ७ ॥

इस के उपरान्त पवित्र शुद्ध स्वभाव, निर्मल आचरण के, रोगी से प्रेम रखने वाले, कर्मकुशल, सेवाकर्म में दक्ष, अपने २ कर्म में कुशल (शिक्षित) रसोई बनाने में होशियार रसोइये, स्नान कराने वाले, हाथ पांव मलने वाले, शरीर को पकड़ थाम कर खड़ा करने वाले, बिठानेवाले, औषध-दवाई पीसनेवाले सब कार्यों में अनुकूल नौकर, गाने बजाने में चतुर, स्तुतिपाठ करने वाले, श्लोक, गाथा, कहानी, आख्यायिका, बात-चीत, इतिहास, पुराण आदि सुनाने वाले, अभिप्रायों, को उसके इशारों से पहिचाननेवाले, मालिक के मन के अनुकूल, देश, काल को समझने वाले यार-दोस्त, सोसायटी के आदमी वहां रहने चाहियें । इसी प्रकार बटेर, कपिञ्जल (कबड़ा), खरगोश, हरिण; काला हरिण, कालपुच्छ (हरिण का भेद), मृगमातृका (बड़े पेटवाला हरिण, बारहसींगा), और मेढ़ा इन को भी एकत्र करना चाहिये । दूध देनेवाली, अच्छे शान्त स्वभाव की, रोगरहित, जिसका बछड़ा जीता हो, ऐसी गाय रक्खे । इस गाय के लिये रहने, घास और पानी का अच्छा बन्दोबस्त करे, छोटा पात्र, आचमन का पात्र, पानी रखने का बड़ा पात्र, मणिक (मटका), घड़ा, थाली, कड़ाही, बड़ा घड़ा, मजबूत छोटा कलसा, कूंडा गहरा बर्त्तन, सकोरा, ढक्कन, कड़छी, चटाई, ढांकने का ऊपर का ढक्कन, तेल पकाने की कड़ाही, रई

(मथानी), मृगछाल, पुराने (परन्तु साफ धुले) वस्त्र, सूत, कपास, रूई, ऊन तथा लेटने या बैठने के साधनों (खाट, तकिया, आसन) के पास में पानी बरतने का गंगासागर, पीकदान, और सुन्दर सफेद चांदनी की भांति श्वेत चादर और तकिया लगा पलंग, सुखपूर्वक बैठने के लिये गादी, तकिया या आराम-कुर्सी, एवं स्नेहन, स्वेदन अभ्यंग, प्रलेप, स्नान, अनुलेपन, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, शिरोविरेचन, मूत्रत्याग (पेशाब घर) का स्थान, मल-त्याग का स्थान (संडास), उत्तम एवं सुखकारक तथा साधनयुक्त बनावे। स्वच्छ धुली, चिकनी, खुरदरी, मध्यम रूप की पत्थर की शिला (सिल, दवाई आदि पीसने के लिये) एवं कैंची, फावड़ा गण्डासा, दरांती आदि शस्त्र ये सब पदार्थ एकत्र करे। धूमनेत्र-धूमनलिका, और उत्तर बस्ति की नलिका, बुहारनी (झाडू), तराजू, द्रव मापने के लिये पात्र, घी, तैल, वसा, मज्जा, मधु, राब (आधा पका गुड़), नमक, ईंधन, पानी, मधु, सीधु, सुरा, कांजी, तुषोदक, मैरेय, मेदक, दही, दही का पानी, छाछ, धान्य, कांजी, आठों प्रकार के मूत्र, शालि (हेमन्त धान्य), साठी चावल, मूंग, उड़द, जौ, तिल, कुलत्थी, बेर, किशमिश, फालसा, हरड़, आंवला, बहेड़ा और नाना प्रकार के स्नेह एवं स्वेदन के साधन, वमन, विरेचन के पदार्थ, संग्रहणीय, दीपनीय, पाचनीय, शामक, वातनाशक गण की औषधियां, तथा इनके अतिरिक्त और भी जो साधन या द्रव्य आपत्तियों को दूर करने वाले हों, उनको और जो उपयोग के लिये आवश्यक प्रतीत हों, उन सबको एकत्र करना चाहिये ॥ ७ ॥

ततस्तं पुरुषं यथोक्ताभ्यां स्नेहस्वेदाभ्यां यथार्हमुपपादयेत्। तं चेदस्मिन्नन्तरे मानसः शारीरो वा व्याधिः कश्चित्तीव्रतरः सहसाऽभ्यागच्छेत्तमेव तावदस्योपावर्तयितुं यतेत। ततस्तमुपावर्त्य तावन्तमेवैनं कालं तथाविधेनैव कर्मणोपाचरेत् ॥ ८ ॥

साधन द्रव्य एकत्र करने के उपरान्त पुरुष को पहिले कही हुई विधि से स्नेह एवं स्वेदन क्रिया करनी चाहिये। स्नेहन और स्वेदन क्रिया करते हुए बीच में यदि सहसा कोई भयानक तीव्र, शारीरिक या मानसिक व्याधि उत्पन्न हो जाय तो स्नेहन और स्वेदन बन्द करके प्रथम उत्पन्न व्याधि का प्रतीकार करना चाहिये। इस उपस्थित रोग के प्रतीकार में जितने दिन लगें, उतने दिनों तक रोग को आराम करना चाहिये ॥८॥

ततस्तं पुरुषं स्नेहस्वेदोपपन्नमनुपहतमनसमभिसमीक्ष्य सुखोषितं सुप्रजीर्णभक्तं शिरःस्नातमनुलिप्तगात्रं स्रग्विणमनुपहतवस्त्रसंवीतं देवताग्नि-द्विज-गुरु-वृद्ध-वैद्यानर्चितवन्तं, इष्टे नक्षत्र-तिथि-करण-मुहूर्ते कारयित्वा

ब्राह्मणान् स्वस्तिवाचनं प्रयुक्ताभिराशीर्भिरभिमन्त्रितां मधु-मधुक-सैन्धव-फाणितोपहितां मदन-फल-कषाय-मात्रां पाययेत् ॥ ९ ॥

फिर मनुष्य को स्नेह एवं स्वेदन क्रिया से युक्त कराकर, सुखपूर्वक बिठाकर, पहिले दिन का खाया भोजन जीर्ण होने पर, सम्पूर्ण अंगों का स्नान कराके, शरीर पर चन्दन अगरु आदि द्रव्य लगाकर, माला पहिना कर, उत्तम-स्वच्छ वस्त्र पहिने हुए, देवता, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध और वैद्य की पूजा कराकर, पुण्य नक्षत्र, तिथि मुहूर्त में, ब्राह्मणों से मंगल पाठ करवा कर, प्रशस्त मंगल क्रिया आशीर्वाद मन्त्रों से अभिमन्त्रित शहद, मुलैहटी, सैन्धव नमक, गुड़ से युक्त मदनफल के कषाय को उचित मात्रा में पिलावे ॥९॥

मदनफल-कषाय-मात्राप्रमाणं तु खलु सर्वसंशोधनमात्राप्रमाणानि च प्रतिपुरुषमपेक्षितव्यानि भवन्ति; यावद्धि यस्य संशोधनं पीतं वैकारिक-दोष-हरणायोपपद्यते; न चातियोगायोगाय, तावदस्य मात्रा-प्रमाणं वेदितव्यं भवति ॥ १० ॥

मदनफल के कषाय की मात्रा, तथा सम्पूर्ण संशोधनों की मात्रा प्रत्येक पुरुष को देखकर निश्चित की जाती है। जितनी मात्रा पान करने पर शरीर के विकार जन्य दोषों को बाहर निकाल सके और अतियोग आदि विकार उत्पन्न न करे, उतनी इस संशोधन औषध की मात्रा वैद्य को समझनी चाहिये ॥

पीतवन्तं तु खल्वेनं मुहूर्तमनुकाङ्क्षेत्। तस्य यदा जानीयात्स्वेद-प्रादुर्भावेण दोषं प्रविलयनमापद्यमानं, लोमहर्षेण च स्थानेभ्यः प्रच-लितं, कुक्षिसमाध्मापनेन च कुक्षिमनुगतं, हृल्लासास्यस्रवणाभ्यामपिचो-र्ध्वमुखीभूतमथास्मै जानुसममसंबाधं सुप्रयुक्तास्तरणोत्तरप्रच्छदोप-धानं स्वापाश्रयमासनमुपवेष्टुं प्रयच्छेत् ॥ ११ ॥

प्रतिग्रहांश्चोपचारयेत्—ललाटप्रतिग्रहे पार्श्वोपग्रहणे नाभिप्रपीडने पृष्ठोन्मर्दने चानपत्रपनीयाः सुहृदोऽनुमताः प्रयतेरन् ॥ १२ ॥

उचित मात्रा में वमन-औषध पिलाकर कुछ काल तक एकाग्र चित्त से ध्यानावस्थित होकर प्रतीक्षा करे और जब पसीना उत्पन्न होकर दोष निकल जावे, शरीर में रोमांच हो तब दोष को अपने स्थान से चलायमान समझे। जब उदर में अफारा प्रतीत हो, उस समय दोष को पेट में आया समझे। जब वमन की इच्छा, और मुख से थूक गिरने लगे उस समय दोष को एकत्र होकर ऊपर की ओर आता हुआ जानना चाहिये। इसके पीछे रोगी मनुष्य को घुटने उठाकर मिलाकर, बैठने को उत्तम गद्दे और चद्दर तथा तकिये से युक्त खाट देवे।

वमन करते हुए रोगी को पकड़ कर सहारा देना चाहिये । इसके लिये कोई माथे को, कोई पसलियों को पकड़े, कोई पेट को दबाये, और कोई पीठ को मले। इस कार्य में जिनके सामने लज्जा अनुभव न हो ऐसे मनोनुकूल मित्र सहायता करें ॥११-१२॥

अथैनमनुशिष्यात्—विवृतौष्ठ-तालु-कण्ठो नातिमहता व्यायामेन वेगानुदीर्णानुदीरयन् किंचिदवनम्य ग्रीवामूर्ध्वशरीरमुपवेगमप्रवृत्तान् प्रवर्तयन् सुपरिलिखितनखाभ्यामङ्गुलीभ्यामुत्पल-कुमुद-सौगन्धिक-नालैर्वा कण्ठमनभिस्पृशन् सुखं प्रवर्तयस्व—इति ॥ १३ ॥

स तथाविधं कुर्यात्। ततोऽस्य वेगान् प्रतिग्रहागतानवेक्षेतावहितः। वेगविशेषदर्शनाद्धि कुशलो योगायोगातियोगविशेषानुपलभेत, वेगविशेषदर्शी पुनः कृत्यं यथार्हमवबुध्येत लक्षणेन, तस्माद्वेगानवेक्षेतावहितः ॥ १४ ॥

इसके अनन्तर वैद्य रोगी को उपदेश दे कि तालु और गला खोल कर बहुत अधिक बल से नहीं, प्रत्युत साधारण शक्ति से बाहर आते हुए वेग को बाहर करे। इसके लिये गर्दन, तथा मुख को आगे की ओर झुका दे तथा अनुपस्थित वेग को बाहर निकालने के लिये खूब अच्छी प्रकार से नखों से रहित दो अंगुलियों, अथवा कमल, कुमुद या सुगन्धित कमल की डण्डी से धीरे-धीरे गले के भीतर स्पर्श करे और वेग को बाहर कर देवे। रोगी वैद्य के कहे अनुसार करे। वैद्य रोगी के वमन किये पदार्थ को सावधानी से देखे। कुशल, चतुर वैद्य वेग को देख कर ही सम्यक् योग, अयोग और अतियोग का अनुमान कर सकता है। वेग को समझने में चतुर वैद्य वेग देखकर लक्षणों से अतियोग आदि के प्रतिकार को ठीक प्रकार से समझ लेता है। इसलिये वैद्य सावधानी से वेगों को देखे ॥१३-१४॥

तत्रामून्ययोग-योगातियोग-विशेषज्ञानानि भवन्ति, तद्यथा—अप्रवृत्तिः कुतश्चित् केवलस्य वाऽप्यौषधस्य विभ्रंशो विबन्धो वेगानामयोगलक्षणानि भवन्ति। काले प्रवृत्तिरनतिमहती व्यथा यथाक्रमं दोषहरणं स्वयं चावस्थानमिति योगलक्षणानि भवन्ति। योगेन तु दोषप्रमाणविशेषेण तीक्ष्ण-मृदु-मध्यविभागो ज्ञेयः, योगाधिक्येन तु फेनिल-रक्तचन्द्रिकोपगमनमित्यतियोगलक्षणानि भवन्ति। तत्रातियोगायोगनिमित्तानिमानुपद्रवान् विद्यात्—आध्मानं परिकर्तिका परिस्रावो हृदयोपसरणमङ्गग्रहो जीवादानं विभ्रंशः स्तम्भः क्लम उपद्रव इति ॥ १५ ॥

अयोग, सम्यक् योग और अतियोग के विशेष लक्षण ये हैं । जैसे किसी विशेष कारण से (गले में अंगुली आदि डालने से भी वमन का थोड़ा आना अथवा, वमनकारक औषध ही का केवल बाहर आना,) वेगों का रुक जाना ये अयोग के चिन्ह हैं । न तो बहुत जल्दी और न देर में ठीक समय पर वमन का आना; वमन करने में कष्ट का अधिक न होना, क्रम से पहले कफ, फिर पित्त और अन्त में वायु इन दोषों का बाहर आना; और वमन का अपने आप रुक जाना सम्यक् योग के लक्षण हैं । सम्यक् योग में दोषों के प्रमाणों के अनुसार तीक्ष्ण, मृदु और मध्य भाग होते हैं । वमन के अतियोग से झागदार, रक्तमिश्रित, चन्द्रिका का आना ये अतियोग के लक्षण हैं । अतियोग और अयोग से होने वाले उपद्रवों को जानना चाहिये । अफारा, गुदा में काटने के समान पीड़ा होना, स्राव होना, हृदय का बाहर आना, अर्थात् कलेजे का मुख को आना (आमाशय का बाहर आना सा प्रतीत होना), अंगों में वेदना और जकड़ना, रक्त का बाहर निकलना, शरीर का विभ्रम (चक्कर आना), शरीर की जड़ता, शरीर में थकान, उदासी का होना, ये अयोग और अतियोग के उपद्रव हैं ॥ १५ ॥

योगेन तु खल्वेनं छर्दितवन्तमभिसमीक्ष्य सुप्रक्षालित-पाणि-पादास्यं मुहूर्तमाश्वास्य, स्नैहिकवैरेचनिकोपशमनीयानां धूमानामन्यतमं सामर्थ्यतः पाययित्वा, पुनरेवोदकमुपस्पर्शयेत् ॥ १६ ॥

उपस्पृष्टोदकं चैनं निवातमागारमनुप्रवेश्य संवेश्य चानुशिष्यात्— उच्चैर्भाष्यमत्यासनमतिस्थानमतिचङ्क्रमणं क्रोध-शोक-हिमातपावश्याया-तिप्रवातान् यानयानं ग्राम्यधर्ममस्वपनं निशि दिवा स्वप्नं विरुद्धाजीर्णासात्म्याकालप्रमितातिहीन-गुरु-विषम-भोजन-वेग-सन्धारणोदीरणमिति भावानेतान् मनसाऽप्यसेवमानः सर्वमाहारमद्यात्-इति। स तथा कुर्यात् ॥ १७ ॥

सम्यक् योग से वमन कर चुकने पर रोगी को देखकर उसके हाथ पांव, मुख धुलवा कर थोड़ी देर विश्राम लेने दे । इसके पीछे स्नैहिक, वैरेचनिक या उपशमनीय कोई एक प्रकार का धूम यथाशक्ति पिलाकर फिर पानी से हाथ पांव धुला देवे । पानी से मुंह हाथ धुलाकर वमन किये पुरुष को वायुरहित— सीधी वायु जिसमें न आ सके, एक पार्श्व से आये, ऐसे घर में लेजा कर लेटा दे और निम्न आदेश करे—ऊंचा बोलना, बहुत देर बैठना, बहुत सोना, बहुत चलना-फिरना, क्रोध, शोक, ठण्डक, धूप, ओस, वायु में अधिक बैठना, घोड़े आदि की सवारी अधिक करना, मैथुन, रात में जागना, दिन में सोना,

विरुद्ध भोजन अजीर्ण, असात्म्यप्रकृति के प्रतिकूल, अकाल, कुसमय, मात्रा से कम, गुरु-भारी और विषम भोजन; उपस्थित वेगों को रोकना, अनुपस्थित वेगों को बल पूर्वक बाहर करना, इस प्रकार के कर्मों का विचार मन से भी न करे और सब प्रकार का उचित आहार-भोजन करे। वह रोगी इसी प्रकार करे ॥ १७ ॥

अथैनं सायाह्ने परे वाऽह्नि सुखोदकपरिषिक्तं पुराणानां लोहितशालितण्डुलानां स्वविक्लिन्नानां मण्डपूर्वां सुखोष्णां यवागूं पाययेदग्निबलमभिसमीक्ष्य च, एवं द्वितीये तृतीये चान्नकाले। चतुर्थे त्वन्नकाले तथाविधानामेव शालितण्डुलानामुत्स्विन्नां विलेपीमुष्णोदकद्वितीयामस्नेह-लवणामल्प-स्नेह-लवणां वा भोजयेत्, एवं पञ्चमे षष्ठे चान्नकाले, सप्तमे त्वन्नकाले तथाविधानामेव शालीनां द्विप्रसृतं सुस्विन्नमोदनमुष्णोदकानुपानं तनुना तनु-स्नेह-लवणोपपन्नेन मुद्गयूषेण भोजयेत्, एवमष्टमे नवमे चान्नकाले, दशमे त्वन्नकाले लावकपिञ्जलादीनामन्यतमस्य मांसरसेनोदकलावणिकेनापि सारवता भोजयेदुष्णोदकानुपानम्, एवमेकादशे द्वादशे चान्नकाले, अत ऊर्ध्वमन्नगुणान् क्रमेणोपभुञ्जानः सप्तरात्रेण प्रकृतिभोजनमागच्छेत् ॥ १८ ॥

इसके पीछे रोगी को सायंकाल अथवा अगले दिन कुछ गरम पानी से सम्पूर्ण अंगों का स्नान कराये। एक साल पुराने सांठी चावलों का यवागू बना कर जब गल जावे, तब थोड़ी गरम यवागू के ऊपर की माण्ड को पहिले पीले। फिर अग्नि का बल देखकर शेष गाढ़े भाग को खावे। इसी प्रकार दूसरे तीसरे भोजन के समय भी अग्निबल को देखकर इसी प्रकार का यवागू खावे। चौथे भोजन काल में इसी प्रकार पुराने सांठी के चावलों से (विलेपी रूप में बनाई) थोड़े नमक और स्नेहरहित यवागू को गरम पानी के साथ खाये। (प्रथम दो तीन समयों में जल, नमक और स्नेह नहीं खाना चाहिये)। इस प्रकार पांचवें और छठे अन्न-काल में चौथे समय के अनुसार बरते। सातवें भोजन समय में पुराने सांठी के चावलों को दो प्रसृति लेकर पकाये। इन चावलों को गरम पानी के साथ, थोड़े से घी एवं नमक के साथ मूंग के यूष के साथ खावे। इसी प्रकार आठवें और नवें भोजन के समय में भी करे। दसवें अन्न-काल में बटेर, कपिञ्जल आदि किसी पशु-पक्षी के मांस रस के साथ घनी व भाई चावलों की यवागू खाये, तथा गरम पानी ऊपर से पीये। इसी प्रकार ग्यारहवें और बारहवें अन्न-काल में क्रम से, मृदु, मध्य, कठिन (अथवा

गुरु, कठिन मधुर) पदार्थों को सेवन करने पर सात दिन पीछे अपने स्वाभाविक भोजन को ग्रहण करे ॥१८॥

अथैनं पुनरेव स्नेहस्वेदाभ्यामुपपाद्यानुपहतमनसमभिसमीक्ष्य सुखोषितं सुप्रजीर्णभक्तं कृत-होम-बलि-मङ्गल-जप्य-प्रायश्चित्तमिष्टति-थि-नक्षत्र-करण-मुहूर्ते ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयित्वा त्रिवृत्कल्काक्षमात्रं यथार्हालोडनप्रतिविनीतं पाययेत् प्रसमीक्ष्य दोष-भेषज-देश-काल-बल-शरीराहार-सात्म्य-सत्त्व-प्रकृति-वयसामवस्थान्तराणि विकारांश्च । सम्यग्विरिक्तं चैनं वमनानन्तरलक्षणोक्तेन धूमवर्जेन विधिनोपपादये-दाबल-वर्ण-प्रकृति-लाभात् । बलवर्णोपपन्नं चैनमनुपहतमनसमभिस-मीक्ष्य सुखोषितं सुप्रजीर्णभक्तं शिरःस्नातमनुलिप्तगात्रं स्रग्विणमनुप-हत-वस्त्र-संवीतमनुरूपालङ्कारालङ्कृतं सुहृदां दर्शयित्वा ज्ञातीनां दर्शयेत् ; अथैनं कामेष्ववसृजेत् ॥ १९ ॥

भवन्ति चात्र--अनेन विधिना राजा राजमात्रोऽथवा पुनः ।
यस्य वा विपुलं द्रव्यं स संशोधनमर्हति ॥ २० ॥
दरिद्रस्त्वापदं प्राप्य प्राप्तकालं विरेचनम् ।
पिबेत्काममसंभृत्य संभारानपि दुर्लभान् ॥ २१ ॥
न हि सर्वमनुष्याणां सन्ति सर्वपरिच्छदाः ।
न च रोगा न बाधन्ते दरिद्रानपि दारुणाः ॥ २२ ॥
यद्यच्छक्यं मनुष्येण कर्तुमौषधमापदि ।
तत्तत्सेव्यं यथाशक्ति वसनान्यशनानि च ॥ २३ ॥
मलापहं रोगहरं बल-वर्ण-प्रसादनम् ।
पीत्वा संशोधनं सम्यगायुषा युज्यते चिरम् ॥ २४ ॥

इसके सात दिन पीछे जब मनुष्य में बल आजाय, तब फिर स्नेहन और स्वेदन कर्म करके, प्रसन्न मन देखकर, रात्रि में सुखपूर्वक सोने पर, पहिले दिन का खाया भोजन भली प्रकार जीर्ण होने पर, अग्निहोत्र, बलि, मंगल, जप, प्रायश्चित्त करके, पवित्र तिथि, नक्षत्र मुहूर्त्त का विचार करके, ब्राह्मणों से मंगल पाठ करा कर त्रिवृत् कल्क (विरेचन द्रव्य) निशोथ के चूर्ण की एक अक्ष मात्रा, योग्य द्रव्य में मिलाकर पिलावे । औषध देते समय दोष, औषध मात्रा, देश, समय, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्त्व, प्रवृत्ति, आयु और रोगों की विवेचना कर ले । सम्यक् विरेचन होने पर वमन के पीछे की सम्पूर्ण विधि (धूम्रपान को छोड़कर) करे । जब तक कि शरीर में बल कान्ति न आय,

शरीर स्वाभाविक रूप में न आय, तब तक वमनान्तर की विधि करे। जब बल और वर्ण आजाय, मन भी स्वस्थ हो जाय, तब सुखपूर्वक सुलाकर, खाया हुआ भोजन भली प्रकार पचने पर, सम्पूर्ण अंगों का स्नान कराके चन्दन, अगर आदि शरीर में मलकर, माला, स्वच्छ वस्त्र पहिना कर, सुन्दर बना कर, आभूषणों से आभूषित करके, मित्रों को दिखाकर, जाति, भाई, बन्धुओं को दिखाये और फिर नित्य के उचित आहार-विहार करने की छूट देदे। इस उपरोक्त विधि से राजा अथवा राजा के समान या बहुत धनी आदमी ही संशोधन करवा सकता है। दरिद्र निर्धन व्यक्ति को जब रोग हो जाय और विरेचन लेने का अवसर हो, तो उस समय कठिन उपकरणों को इकट्ठा करना छोड़कर दवाई पान करावे। सब मनुष्यों को सब साधन नहीं जुट सकते और निर्धन व्यक्तियों को भयंकर रोग भी नहीं सताते ऐसा नहीं, आपत्ति काल (रोगावस्था) में मनुष्य जो भी औषध, वस्त्र या खान-पान कर सके, वह यथाशक्ति उसे करना चाहिये। मल-नाशक, रोगनाशक, बल, कान्ति को बढ़ाने वाले संशोधन औषध को पीकर मनुष्य दीर्घायु होता है ॥ २४ ॥

तत्र श्लोकाः—ईश्वराणां वसुमतां वमनं सविरेचनम्।
संभारा ये यदर्थं च समानीय प्रयोजयेत् ॥ २५ ॥
यथा प्रयोज्यं या मात्रा यदयोगस्य लक्षणम्।
योगातियोगयोर्यश्च दोषा ये चाप्युपद्रवाः ॥ २६ ॥
यदसेव्यं विशुद्धेन यश्च संसर्जनक्रमः।
तत्सर्वं कल्पनाध्याये व्याजहार पुनर्वसुः ॥ २७ ॥

इसमें श्लोक हैं—राजाओं के या धनी पुरुषों के वमन, विरेचन कार्य, उपकरण, इनको एकत्र करने का कारण, मात्रा, प्रयोग विधि, अयोग के लक्षण, योग और अतियोग के दोष, और उपद्रव, संशुद्ध व्यक्ति को क्या सेवन करना, किस प्रकार से छोड़ना, ये सब बातें इस 'कल्पनाध्याय' में पुनर्वसु आत्रेय ने कह दीं।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने उपकल्पनीयो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः।

अथातश्चिकित्साप्राभृतीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

संशोधन कार्य के अनन्तर 'चिकित्सा प्राभृतीय' नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

चिकित्साप्राभृतो विद्वान् शास्त्रवान् कर्मतत्परः ।
नरं विरेचयति यं स योगात्सुखमश्नुते ॥ ३ ॥
यं वैद्यमानी त्वबुधो विरेचयति मानवम् ।
सोऽतियोगादयोगाच्च मानवो दुःखमश्नुते ॥ ४ ॥

चिकित्सा-प्राभृत चिकित्सा में कुशल या साधन सम्पन्न विद्वान्, ज्ञानवान्, शास्त्रवान्, आयुर्वेद शास्त्र का अध्ययन किया हुआ, चिकित्सा-कार्य में कुशल वैद्य जिस मनुष्य को वमन, विरेचन द्वारा संशोधन कराता है, वह मनुष्य वमन और विरेचन के सम्यक् योग से सुख भोगता है। अपने को वैद्य मानने वाला मूर्ख वैद्य जिस मनुष्य का वमन विरेचन द्वारा संशोधन कराता है वह मनुष्य वमन-विरेचन के अयोग या अतियोग के कारण दुःख भोगता है ॥३-४॥

दौर्बल्यं लाघवं ग्लानिर्व्याधीनामणुताऽरुचिः ।
हृद्वर्णशुद्धिः क्षुत्तृष्णा काले वेगप्रवर्तनम् ॥ ५ ॥
बुद्धीन्द्रियमनःशुद्धिर्मारुतस्यानुलोमता ।
सम्यग्विरिक्तलिङ्गानि कायाग्नेश्चानुवर्तनम् ॥ ६ ॥

सम्यग् विरेचन के लक्षण—शरीर में कमजोरी आना, हलकापन, शरीर में ग्लानि (प्रसन्नता का अभाव), रोगों का घटना, भोजन में अनिच्छा, हृदय का शुद्ध होना, रंग का निखरना, भूख प्यास, समय पर वेगों का उपस्थित होना, बुद्धि-इन्द्रिय और मन की शुद्धता, प्रसन्नता, अपान वायु का नीचे को जाना और जाठराग्नि का क्रमशः बढ़ना ये सम्यग् योग के लक्षण हैं ॥ ५-६ ॥

ष्ठीवनं हृदयाशुद्धिरुत्क्लेशः श्लेष्मपित्तयोः ।
आध्मानमरुचिश्छर्दिरदौर्बल्यमलाघवम् ॥ ७ ॥
जङ्घोरुसदनं तन्द्रा स्तैमित्यं पीनसागमः ।
लक्षणान्यविरिक्तानां मारुतस्य च निग्रहः ॥ ८ ॥

विरेचन के अयोग के लक्षण—मुख से थोड़ा २ थूक या औषध का बाहर आना, हृदय की जड़ता, वमन आने की भांति कफ और पित्त का मुख में आना, पेट में अफारा, भोजन में अनिच्छा, वमन की इच्छा, शरीर में निर्बलता का अनुभव न होना, शरीर में भारीपन, जांघ और टांग में पीड़ा, नींद का भान, शरीर के अंगों का गीले वस्त्र के तुल्य ठंडा प्रतीत होना, सरदी-जुकाम होना, और अपान वायु का रुक जाना, ये विरेचन के अयोग के लक्षण हैं ॥७-८॥

विट्-पित्त-श्लेष्म-वातानामागतानां यथाक्रमम् ।
परं स्रवति यद्रक्तं मेदोमांसोदकोपमम् ॥ ९ ॥
निःश्लेष्मपित्तमुदकं शोणितं कृष्णमेव वा ।
तृष्यतो मारुतार्तस्य सोऽतियोगः प्रमुह्यतः ॥ १० ॥

विरेचन के अतियोग के लक्षण—गुदा से प्रथम क्रमानुसार मल, पित्त, कफ और वायु बाहर निकलते हैं, परन्तु पीछे से रक्त बहता है । यह रक्त मांसरस, मेद मिश्रित या कफमिश्रित अथवा पित्तमिश्रित पानी की भांति, या लाल अथवा काला होता है । रोगी को वायु के कारण प्यास और मूर्च्छा आ जाती है, ये अतियोग के लक्षण हैं ॥९-१०॥

वमनेऽतिकृते लिङ्गान्येतान्येव भवन्ति हि ।
ऊर्ध्वगा वातरोगाश्च वाग्ग्रहश्चाधिको भवेत् ॥ ११ ॥
चिकित्साप्राभृतं तस्मादुपेयाच्छरणं नरः ।
युञ्ज्याद्य एनमत्यन्तमायुषा च सुखेन च ॥ १२ ॥

वमन के अतियोग में भी यही विरेचन के अतियोग के लक्षण होते हैं । परन्तु शरीर के कटिभाग से ऊपर वातरोग एवं जबान का रुकना, ये लक्षण विशेष-अधिक होते हैं । इसलिये संशोधन कराने वाले मनुष्य को चाहिये कि विद्वान्, कर्मकुशल वैद्य की शरण में जाय जो इस रोगी को वमन-विरेचन द्वारा आयु और सुख से युक्त कर सके, मूढ़ अज्ञानी के पास नहीं ॥११-१२॥

अविपाकोऽरुचिः स्थौल्यं पाण्डुता गौरवं क्लमः ।
पिडका-कोठ-कण्डूनां संभवोऽरतिरेव च ॥ १३ ॥
आलस्य-श्रम-दौर्बल्यं दौर्गन्ध्यमवसादकः ।
श्लेष्म-पित्त-समुत्क्लेशो निद्रानाशोऽतिनिद्रता ॥ १४ ॥
तन्द्रा क्लैब्यमबुद्धित्वमशस्त-स्वप्न-दर्शनम् ।
बल-वर्ण-प्रणाशश्च तृप्यतो बृंहणैरपि ॥ १५ ॥
बहुदोषस्य लिङ्गानि, तस्मै संशोधनं हितम् ।
ऊर्ध्वं चैवानुलोम्यं च यथादोषं यथाबलम् ॥ १६ ॥

संशोधन योग्य व्यक्ति—अपचन, अरुचि, मोटापा (स्थूलता), पाण्डुता, निस्तेज, पीलापन, शरीर का भारीपन, बिना परिश्रम के थकान चढ़ना, उदासी, शरीर पर छोटी २ फुन्सियां होना, कोठ (छप्पे) उठना, खाज का होना, बेचैनी, आलस्य, थकान, निर्बलता, शरीर से दुर्गन्ध आना, मन को अवसन्नता, सुस्ती, कफ या पित्त का बढ़ना, नींद का न आना, अथवा नींद का बहुत

आना, नपुंसकता, निरुत्साहता, बुद्धिमान्द्य बुरे भयानक स्वप्नों का आना, बल और कान्ति का नाश होना, पुष्टिकारक आहार खाने पर शरीर का पुष्ट न होना, जिसके शरीर में इनमें से बहुत से लक्षण हों तो उसमें सब दोष बढ़े हैं यह समझकर संशोधन करना हितकारी है । इसलिये अविपाक आदि लक्षणों को देख कर बल और दोष के अनुसार ऊर्ध्व अनुलोमन (वमन) या अधो-अनुलोमन (विरेचन) रूपी संशोधन देना हितकारी है ॥ १३–१६ ॥

एवं विशुद्धकोष्ठस्य कायाग्निरभिवर्धते ।
व्याधयश्चोपशाम्यन्ति प्रकृतिश्चानुवर्तते ॥ १७ ॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिर्वर्णश्चास्य प्रसीदति ।
बलं पुष्टिरपत्यं च वृषता चास्य जायते ॥ १८ ॥
जरां कृच्छ्रेण लभते चिरं जीवत्यनामयः ।
तस्मात्संशोधनं काले युक्तियुक्तं पिबेन्नरः ॥ १९ ॥
दोषाः कदाचित्कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः ।
जिताः संशोधनैर्ये तु न तेषां पुनरुद्भवः ॥ २० ॥
दोषाणां च द्रुमाणां च मूलेऽनुपहते सति ।
रोगाणां प्रसवानां च गतानामागतिर्ध्रुवा ॥ २१ ॥
भेषजक्षपिते पथ्यमाहारैरेव बृंहणम् ।
घृत-मांस-रस-क्षीर-हृद्य-यूषोपसंहितैः ॥ २२ ॥
अभ्यङ्गोत्सादनैः स्नानैर्निरूहैः सानुवासनैः ।
तथा स लभते शर्म युज्यते चाऽऽयुषा चिरम् ॥ २३ ॥

संशोधन का फल—इस उपरोक्त विधि से मनुष्य का कोष्ठ (उदर) साफ होने पर जाठराग्नि बढ़ जाती है, रोग शान्त हो जाते हैं, शरीर स्वाभाविक अवस्था में आ जाता है । इन्द्रियां, मन-बुद्धि और कान्ति निर्मल हो जाती है । शरीर में बल, शक्ति, सामर्थ्य, संतान और पुरुषत्व उत्पन्न हो जाता है । बुढ़ापा देर में आता है और नीरोगी होकर मनुष्य देर तक जीता है । इसलिये मनुष्य दोष-संचयकाल में और संशोधन काल में वमन-विरेचन कार्य को युक्तियुक्त रूप में करे । लंघन (उपवास) और पाचन रूपी संशमन क्रिया द्वारा वश में किये हुए दोष कभी फिर भी (समय मिलने पर) कुपित हो सकते हैं; परन्तु जो दोष संशोधन कार्य के द्वारा वश में कर लिये जाते हैं, वे फिर कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकते । क्योंकि—दोषों या वृक्षों का मूल अवशेष रहने पर रोगों अथवा न नष्ट होने पर रोगों की उत्पत्ति फिर हो जानी सम्भव होती है । औषध द्वारा दोष की जड़ कट जाने पर संशुद्ध हुए पुरुष को पथ्यकारक एवं शरीर

को बढ़ाने वाले भोजन देवे। यथा घी, मांसरस, दूध, हृदय के लिये हितकारी या मन को अच्छे लगने वाले यूष आदि बनाकर देवे। शरीर पर तेल मलना, उबटन लगाना, स्नान, निरूह बस्ति, अनुवासनबस्ति का प्रयोग करे। इस प्रकार करने से सुख मिलता है तथा देर तक आयु को भोगता है ॥१७-२३॥

अतियोग होने पर क्या करना चाहिये—

अतियोगानुबद्धानां सर्पिःपानं प्रशस्यते।
तैलं मधुरकैः सिद्धमथवाऽप्यनुवासनम् ॥ २४ ॥
यस्य त्वयोगस्तं स्निग्धं पुनः संशोधयेन्नरम्।
मात्रा-काल-बलापेक्षी स्मरन् पूर्वमनुक्रमम् ॥ २५ ॥
स्नेहने स्वेदने शुद्धौ रोगाः संसर्जने च ये।
जायन्तेऽमार्गविहिते तेषां सिद्धिषु साधनम् ॥ २६ ॥

जिन पुरुषों में अतियोग के लक्षण हों, उनके लिये उन-उन रोगों को शान्त करने वाली उन ओषधियों से सिद्ध किया घृत पान करावे और मधुक अर्थात् जीवनीयगण से सिद्ध तैल अनुवासन बस्ति के रूप में दे। जिस पुरुष में अयोग के लक्षण हों, उसको फिर से स्नेह और स्वेद देकर, पूर्व कही हुई मात्रा को, समय, बल आदि को क्रम से स्मरण करता हुआ, फिर से संशोधन के लिये देवे। स्नेहन, स्वेदन संशोधन और पेयादि क्रम से विधिपूर्वक किया न होने से जो रोग उत्पन्न हो जाते हैं, उनकी चिकित्सा 'सिद्धिस्थान' में कहेंगे। पहले जो मात्रा दी थी दुबारा उससे कुछ अधिक देवे ॥२४-२६॥

जायन्ते हेतुवैषम्याद्विषमा देहधातवः।
हेतुसाम्यात्समास्तेषां स्वभावोपरमः सदा ॥ २७ ॥
प्रवृत्तिहेतुर्भावानां न निरोधेऽस्ति कारणम्।
केचित्त्वत्रापि मन्यन्ते हेतुं हेतोरवर्तनम् ॥ २८ ॥

शरीर को धारण करने वाले जो धातु हैं वे कारणों की विषमता अर्थात् बढ़ने या घटने से बढ़ते या घटते हैं और शरीर के धातु कारण की समानता से समान रहा करते हैं। विषम और सम धातुओं का सदा स्वभाव से नाश होता है। इस समता और विषमता की निरन्तर प्रवृत्ति में ऐसा कारण रहता है जिससे कि उनका वृद्धि और क्षय होता है, अर्थात् साम्य या विषमता के होने में कोई कारण अवश्य होता है, विना कारण इनके स्वाभाविक धर्म में अन्तर नहीं आता। धातु एक क्षण भी विषमावस्था में नहीं रह सकते। यह उनका धर्म है। सब पदार्थों की उत्पत्ति का कारण होता है, परन्तु विनाश कार्य में

कारण नहीं होता। इसलिये कुछ आचार्य पदार्थों के निरन्तर विनाश में कारण की अपेक्षा नहीं करते हैं। कुछ विद्वान् पदार्थों के नाश में उत्पादक या प्रवर्त्तक कारण के अभाव को ही कारण मानते हैं ॥२७-२८॥

एवमुक्तार्थमाचार्यमग्निवेशोऽभ्यभाषत।
स्वभावोपरमे कर्म चिकित्साप्राभृतस्य किम् ॥ २९ ॥
भेषजैर्विषमान् धातून् कान् समीकुरुते भिषक्।
का वा चिकित्सा भगवन् किमर्थं वा प्रयुज्यते ॥ ३० ॥
तच्छिष्यवचनं श्रुत्वा व्याजहार पुनर्वसुः।

इस प्रकार कहते हुए आचार्य पुनर्वसु को लक्ष्य करके अग्निवेश बोले—भगवन्! शरीर की धातुवें जब स्वतः अपने स्वभाव में आ जाती हैं तब चिकित्सा के साधनों से सम्पन्न वैद्य से कर्म साध्य क्या है। फिर क्या काम? और तब किन विषम हुए धातुओं को ओषधियों से वैद्य समान करता है? और यदि धातुओं की विषमता ही सदा रहे, तब चिकित्सा क्या वस्तु है? और यदि विषमता का नाश सदा होना ही अवश्यम्भावी है, फिर वैद्य किस लिये चिकित्सा कर्म करते हैं? इस प्रकार अग्निवेश के वचन को सुनकर पुनर्वसु आत्रेय बोले॥

श्रूयतामत्र या सौम्य युक्तिर्दृष्टा महर्षिभिः ॥ ३१ ॥
न नाशकारणाभावाद्भावानां नाशकारणम्।
ज्ञायते नित्यगस्येव कालस्यात्ययकारणम् ॥ ३२ ॥
शीघ्रगत्वाद्यथाभूतस्तथा भावो विपद्यते।
निरोधे कारणं तस्य नास्ति नैवान्यथाक्रिया ॥ ३३ ॥
याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां स्मृतम् ॥ ६४ ॥
कथं शरीरे धातूनां वैषम्यं न भवेदिति।
समानां चानुबन्धः स्यादित्यर्थं क्रियते क्रिया ॥ ३५ ॥
त्यागाद्विषमहेतूनां समानां चोपसेवनात्।
विषमा नानुबध्नन्ति जायन्ते धातवः समाः ॥ ३६ ॥
समैस्तु हेतुभिर्यस्माद्धातून् संजनयेत्समान्।
चिकित्साप्राभृतस्तस्माद्दाता देहसुखायुषाम् ॥ ३७ ॥
धर्मस्यार्थस्य कामस्य नृलोकस्योभयस्य च।
दाता संपद्यते वैद्यो दानाद्देहसुखायुषाम् ॥ ३८ ॥

हे सौम्य! जो युक्ति महर्षियों ने बुद्धि द्वारा देखी, वह सुनो। नित्यगमन-

शील काल के नाश के कारण की तरह नाश के कारण के अभाव से पदार्थों के नाश का कारण नहीं जाना जाता। कोई भी पदार्थ जैसा उत्पन्न होता है, वैसा ही शीघ्रगामी होने से नष्ट होता है। उनके विनाश में कोई कारण नहीं है। उनमें किसी संस्कार का आधान नहीं किया जा सकता। पदार्थों के नाश होने के कारण का पता नहीं चलता क्योंकि नाश के कारण का ही अभाव है। जैसे-नित्य काल का भी नाश होता दिखाई देता है, परन्तु इस नाश के कारण का पता नहीं चलता, क्योंकि यह काल बहुत शीघ्रगामी है। धातु-पदार्थ भी काल के समान बहुत शीघ्रगामी है इसलिये इनके नाश का कारण न होने से ही अज्ञात है। धातुओं की पूर्वावस्था के निरोध में भी कोई कारण नहीं है। जिन क्रियाओं के द्वारा शरीर के अन्दर विषम हुए धातु समानावस्था में आते हैं, उन क्रियाओं को रोगों की चिकित्सा कहते हैं, यह 'चिकित्सा' वैद्यों का कर्म है। शरीर के अन्दर धातुओं में विषमता उत्पन्न न हो और समान अवस्था में ही धातु सदा बने रहें, इसलिये चिकित्सा क्रिया की जाती है। काल, बुद्धि, इन्द्रियार्थों के अतियोग, अयोग या मिथ्यायोग इन विषम हेतुओं के छोड़ने से, समयोग रूप में कारणों के सेवन करने से धातु विषम नहीं होते, और विषम हुए धातु समान हो जाते है। चिकित्सा-कुशल वैद्य समान कारणों से धातुओं को समान बनाने का यत्न करें। इस प्रकार करने से वैद्य शरीर के सुख और आयुष्य अर्थात् दीर्घायु को प्रदान करता है। मनुष्य को शारीरिक सुख और आयुष्य प्रदान करने से वैद्य इहलोक एवं परलोक दोनों लोकों में धर्म, अर्थ और काम (त्रिवर्ग) को देने वाला होता है ॥ ३१-३८ ॥

तत्र श्लोकाः—चिकित्साप्राभृतगुणो दोषो यश्चेतराश्रयः।
योगायोगातियोगानां लक्षणं शुद्धिसंश्रयम् ॥ ३९ ॥
बहुदोषस्य लिङ्गानि संशोधनगुणाश्च ये।
चिकित्सासूत्रमात्रं च सिद्धि-व्यापत्ति-संश्रयम् ॥ ४० ॥
या च युक्तिश्चिकित्सायां यं चार्थं कुरुते भिषक्।
चिकित्साप्राभृतेऽध्याये तत्सर्वमवदन्मुनिः ॥ ४१ ॥

चिकित्साप्राभृत में वैद्य के गुण; वैद्य के विपरीत मूढ़ वैद्य के अवगुण, संशोधन के सम्यक्योग और अतियोग के लक्षण; बहुत दोषों के लक्षण, संशोधन के गुण, चिकित्सा का सूत्र रूप, चिकित्सा के युक्तियुक्त होने में शंका-समाधान;

चिकित्सा का प्रयोजन—ये सब बातें 'चिकित्सा-प्राभृतीय' अध्याय में आत्रेय ऋषि ने उपदेश की हैं ॥ ३९-४१ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने कल्पनाचतुष्के
चिकित्साप्राभृतीयो नाम षोडशोऽध्यायः समाप्तः ॥ १६ ॥
इति कल्पनाचतुष्कः समाप्तः ॥ ४ ॥

सप्तदशोऽध्यायः ।

अथातः कियन्तःशिरसीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब रोगों को उपदेश करने की इच्छा से 'कियन्तःशिरसीयं' नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

कियन्तः शिरसि प्रोक्ता रोगा हृदि च देहिनाम् ॥ ३ ॥
कति चाप्यनिलादीनां रोगा मानविकल्पजाः ।
क्षयाः कति समाख्याताः पिडकाः कति चानघ ॥ ४ ॥
गतिः कतिविधा चोक्ता दोषाणां दोषसूदन ।

अग्निवेश ने पूछा कि हे दोषों का नाश करने वाले महर्षि ! मनुष्यों के शिर सम्बन्धी रोग कितने हैं ? हृदय सम्बन्धी रोग कितने हैं ? वात आदि दोषों के संसर्ग भेद से कुल कितने प्रकार के रोग हो जाते हैं ? क्षय रोग कितने प्रकार के हैं ? पिड़कायें कितनी प्रकार की हैं ? और दोषों की गति कितने प्रकार की है ? कृपा कर कहिये ॥३-४॥

हुताशवेशस्य वचस्तच्छ्रुत्वा गुरुरब्रवीत् ॥ ५ ॥
पृष्टवानसि यत्सौम्य तन्मे शृणु सुविस्तरम् ।
दृष्टाः पञ्च शिरोरोगाः पञ्चैव हृदयामयाः ॥ ६ ॥
व्याधीनां द्व्यधिका षष्टिर्दोष-मान-विकल्पजा ।
दशाष्टौ च क्षयाः सप्त पिडका माधुमेहिकाः ॥ ७ ॥
दोषाणां त्रिविधा चोक्ता गतिर्विस्तरतः शृणु ।
सन्धारणाद्दिवास्वप्नाद्रात्रौ जागरणान्मदात् ॥ ८ ॥
उच्चैर्भाष्यादवश्यायात्प्राग्वातादतिमैथुनात् ।
गन्धादसात्म्यादाघ्राताद्रजो-धूम-हिमातपात् ॥ ९ ॥

गुर्वम्ल-हरितदानादतिशीताम्बु-सेवनात् ।
शिरोभितापाद् दुष्टामाद्रोदनाद् बाष्पनिग्रहात् ॥ १० ॥
मेघागमान्मनस्तापाद्देशकाल-विपर्ययात् ।
वातादयः प्रकुप्यन्ति शिरस्यस्रं च दुष्यति ॥ ११ ॥
ततः शिरसि जायन्ते रोगा विविधलक्षणाः ।

अग्निवेश के वचन को सुनकर गुरु महाराज बोले—हे सौम्य ! जो कुछ तुमने पूछा है उसको ध्यान देकर सविस्तर सुनो । शिर के रोग पांच प्रकार के हैं, और पांच ही प्रकार के हृदय रोग हैं । दोषों के वात-पित्त-कफ के परिमाण से होने वाले रोग बासठ (६२) प्रकार के हैं । क्षय अठारह (१८) प्रकार के, प्रमेह मधुमेह के कारण होने वाले फोड़े सात प्रकार के, और दोषों की गति तीन प्रकार की है । इसी को अब विस्तार से सुनो । मूत्र आदि के उपस्थित वेगों को रोकने से, दिन में सोने से, रात्रि में जागने से, नशा करने (मदकारक पदार्थों के सेवन) से, ऊँचे या अधिक बोलने से, ओस से, सामने की वायु के झोंके से, अति स्त्री-संभोग से,असात्म्य अर्थात् प्रतिकूल, गंध के सूंघने से, धूल धुवां बर्फ या धूप के सेवन से, गरिष्ठ,खट्टे; धनिया-मरिच आदिके अधिक खाने से बहुत ठण्डे पानी के सेवन से, शिर पर चोट लगने से, आम के दोष युक्त होने से (अजीर्ण होने से), रोने से, आंसुओं को रोकने से, बादलों के आने से, मानसिक विक्षोभ से, देश-काल के बदलने से (इन के अयोग, अतियोग या मिथ्यायोग होने से), (अथवा भूकम्प, उल्कापात आदि देश के मिथ्यायोग हैं इनसे वात, पित्त और कफ दूषित होकर शिर में रक्त को दूषित करते हैं । रक्त के दूषित होने से आगे कहे जाने वाले नानाप्रकार के लक्षणों वाले रोग शिर में उत्पन्न होते हैं ।।५-११।।

प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च ॥ १२ ॥
यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते ।

प्राणधारियों के प्राण (जीवन) और सब इन्द्रियां (ज्ञानेन्द्रियां) जहां पर स्थित हैं और जो शरीर के सब अंगों में मुख्य, श्रेष्ठ अंग है, उसको 'शिर' कहते हैं ।।१२।।

अर्धावभेदको वा स्यात्सर्वं वा रुज्यते शिरः ॥ १३ ॥
प्रतिश्या-मुख-नासाक्षि-कर्ण-रोग-शिरो-भ्रमाः ।
अर्दितं शिरसः कम्पो गलमन्या-हनुग्रहः ॥ १४ ॥
विविधाश्चापरे रोगा वातादि-क्रिमि-संभवाः ।

पृथग्दृष्टास्तु ये पञ्च संग्रहे परमर्षिभिः ॥ १५ ॥
शिरोगदांस्तान् शृणु मे यथास्वैर्हेतुलक्षणैः ।

शिर में उत्पन्न होने वाले रोग—आधे शिर का दुखना, सारे शिर का दुखना, प्रतिश्याय (जुकाम, सर्दी), मुखरोग, नासिका के रोग, आंख के रोग, शिर में चक्कर आना; चेहरे का लकवा, शिर का हिलना, गलग्रह (गले का बन्द होना), मन्याग्रह (गर्दन का इधर उधर न मुड़ सकना), हनुग्रह (जबाड़ी भिंचना) और दूसरे वात आदि दोषों तथा कृमियों से उत्पन्न होने वाले रोग शिर में होते हैं । वात, पित्त, कफ, सन्निपात और कृमिजन्य ये जो पांच प्रकार के शिरोरोग (आगे जो अष्टोदरीय अध्याय १९ में) महर्षियों ने कहे हैं उनमें से एक एक लक्षण सुनो ॥ १३-१५ ॥

उच्चैर्भाष्यातिभाष्याभ्यां तीक्ष्णपानात्प्रजागरात् ॥ १६ ॥
शीत-मारुत-संस्पर्शाद् व्यवायाद् वेगनिग्रहात् ।
अभिघातोपवासाच्च विरेकाद् वमनादपि ॥ १७ ॥
बाष्प-शोक-भय-त्रासाद् भार-मार्गातिकर्षणात् ।
शिरोगता वै धमनीर्वायुराविश्य कुप्यति ॥ १८ ॥
ततः शूलं महत्तस्य वातात्समुपजायते ।
निस्तुद्येते भृशं शङ्खौ घाटा संभिद्यते तथा ॥ १९ ॥
भ्रुवोर्मध्यं ललाटं च तपतीवातिवेदनम् ।
बध्येते स्वनतः श्रोत्रे निष्कृष्येते इवाक्षिणी ॥ २० ॥
घूर्णतीव शिरः सर्वं संधिभ्य इव मुच्यते ।
स्फुरत्यतिशिराजालं स्तभ्यते च शिरोधरा ॥ २१ ॥
स्निग्धोष्णमुपशेते च शिरोरोगेऽनिलात्मके ।

ऊंचे बोलने से, बहुत अधिक बोलने से, मद्य आदि तीक्ष्ण पदार्थों के पीने से, रात्रि में जागने से, ठण्डी वायु के स्पर्श से, अतिमैथुन से, मल मूत्रादि के उपस्थित वेगों को रोकने से, उपवास से, शिर पर चोट लगने से, अतिविरेचन से, अतिवमन से, बाष्प (आंसु) को रोकने से, शोक से, भय से, भार के उठाने से, अतिमार्ग के चलने से, परिश्रम से वायु कुपित होकर शिर में गया हुआ, सिराओं में बढ़कर शिरमें महान् शूल को उत्पन्न करता है । इस शूल के कारण शंख (कनपटियों) पीड़ित होते हैं, गर्दन फटती है, भ्रुवों के बीच में माथे पर बहुत वेदना होती है और माथा बहुत गरम होता है । कानों में गुंजार (आवाज) सुनाई देती है, आंखें बाहर निकलती प्रतीत होती हैं, शिर घूमता

हुआ प्रतीत होता है, शिर की सन्धियां फटती प्रतीत होती हैं, शिराओं के अन्दर धड़कन विशेष (स्पन्दन) रूप से प्रतीत होती है, गर्दन जड़ बन जाती है, इधर-उधर नहीं हिलाई जा सकती और स्निग्ध और उष्ण क्रिया आराम देत प्रतीत होती है। ये वातजन्य शिरोरोग के लक्षण हैं ॥१६-२१॥

कट्वम्ल-लवण-क्षार-मद्य-क्रोधातपानलैः ॥ २२ ॥
पित्तं शिरसि संदुष्टं शिरोरोगाय कल्पते।
दह्यते रुज्यते तेन शिरः शीतं सुपूयते ॥ २३॥
दह्येते चक्षुषी तृष्णा भ्रमः स्वेदश्च जायते।
आस्यासुखैः स्वप्नसुखैर्गुरु-स्निग्धातिभोजनैः ॥ २४ ॥
श्लेष्मा शिरसि संदुष्टः शिरोरोगाय कल्पते।
शिरो मन्दरुजं तेन सुप्तस्तिमितभारिकम् ॥ २५ ॥
भवत्युत्पद्यते तन्द्रा तथाऽऽलस्यमरोचकम्।
वाताच्छूलं भ्रमः कम्पः पित्ताद्दाहो मदस्तृषा ॥ २६ ॥
कफाद् गुरुत्वं तन्द्रा च शिरोरोगे त्रिदोषजे।
तिल-क्षीर-गुडाजीर्ण-पूति-संकीर्ण-भोजनात् ॥ २७॥
क्लेदोऽसृक्कफ-मांसानां दोषमस्योपजायते।
ततः शिरसि संक्लेदात्क्रिमयः पापकर्मणः ॥ २८॥
जनयन्ति शिरोरोगं जाता बीभत्सलक्षणम्।
व्यधच्छेद-रुजा-कण्डू-शोफ-दौर्गन्ध्य-दुःखितम् ॥ २९ ॥
क्रिमिरोगातुरं विद्यात्क्रिमीणां लक्षणेन च।

पित्तजन्य शिरोरोग—कड़ुवे, खट्टे, नमकीन, क्षार पदार्थों के सेवन से, शराब के पीने से, क्रोध से, धूप से, आग से, पित्त शिर में कुपित होकर शिरोरोग को उत्पन्न करता है। इससे शिर में जलन और पीड़ा होती है, तथा शीत उपचार अनुकूल पड़ता है। आंखें जलती हैं, प्यास होती है, चक्कर आता है, और पसीना आता है। कफजन्य शिरोरोग में निरुद्योगी आलस्य का सुखमय जीवन व्यतीत करना, दिन में सोना, गुरु, भारी और स्निग्ध घी आदि युक्त पदार्थों के अतिभोजन से; श्लेष्मा अर्थात् कफ शिर में कुपित होकर शिरोरोग को उत्पन्न करता है। इससे शिर में धीमी २ वेदना होती है, शिर सोया हुआ सा प्रतीत होता है, शिर जड़ हो जाता है, भारी हो जाता है। तन्द्रा, कार्य में अनिच्छा, आलस्य और भोजन में अरुचि उत्पन्न हो जाती है। त्रिदोषजन्य शिरोरोग— वात के कारण चक्कर आना और कम्पन, पित्त के कारण जलन, मूर्च्छा और प्यास, कफ के कारण भारीपन, और तन्द्रा, त्रिदोष जन्य शिरोरोग

में होती है। कृमि जन्य शिरोरोग—तिल, दूध, गुड़ इनके अधिक सेवन से, अजीर्ण और दुग्धयुक्त सड़ा गला भोजन करने से, संकीर्ण (बहुत गड़बड़ चीजें मिलाकर) भोजन करने से शिर के वातादि दोष बढ़कर शिर में रक्त, कफ और मांस को दूषित बनाकर रोग उत्पन्न करते हैं। पाप करनेवाले पुरुष के शिर में इस क्लेद से कीड़े उत्पन्न होकर बीभत्स अर्थात् घृणाजनक भयंकर शिरोरोग उत्पन्न करते हैं। इससे काटने, छेदने, के समान पीड़ा, खाज, सूजन, दुर्गन्ध और बहुत अधिक कष्ट होता है। इन लक्षणों को तथा कृमियों को देखकर कृमिरोग समझना चाहिये ॥२२–२९॥

पांच प्रकार के हृदयरोग—

शोकोपवास-व्यायाम-शुष्क-रूक्षाल्प-भोजनैः ॥ ३० ॥
वायुराविश्य हृदयं जनयत्युत्तमां रुजम् ।
वेपथुर्वेष्टनं स्तम्भः प्रमोहः शून्यता दरः ॥ ३१ ॥
हृदि वातातुरे रूपं जीर्णे चात्यर्थवेदना ।
उष्णाम्ल-लवण-क्षार-कटुकाजीर्ण-भोजनैः ॥ ३२ ॥
मद्यक्रोधातपैश्चाशु हृदि पित्तं प्रकुप्यति ।
हृद्दाहस्तिक्तता वक्त्रे तिक्ताम्लोद्गिरणं क्लमः ॥ ३३ ॥
तृष्णा मूर्च्छा भ्रमः स्वेदः पित्त-हृद्रोगलक्षणम् ।
अत्यादानं गुरुस्निग्धमचिन्तनमचेष्टनम् ॥ ३४ ॥
निद्रासुखं चाप्यधिकं कफहृद्रोगकारणम् ।
हृदयं कफहृद्रोगे सुप्त-स्तिमितभारिकम् ॥ ३५ ॥
तन्द्रा-रुचि-परीतस्य भवत्यश्मावृतं यथा ।
हेतु-लक्षण-संसर्गादुच्यते सान्निपातिकः ॥ ३६ ॥
(हृद्रोगः कष्टदः कष्टसाध्य उक्तो महर्षिभिः)
त्रिदोषजे तु हृद्रोगे यो दुरात्मा निषेवते ।
तिल-क्षीर-गुडादीनि ग्रन्थिस्तस्योपजायते ॥ ३७ ॥
मर्मैकदेशे संक्लेदं रसश्चास्योपगच्छति ।
संक्लेदात्क्रिमयश्चास्य भवन्त्युपहतात्मनः ॥ ३८ ॥
मर्मैकदेशे संजाताः सर्पन्तो भक्षयन्ति च ।
तुद्यमानं स हृदयं सूचीभिरिव मन्यते ॥ ३९ ॥
छिद्यमानं यथा शस्त्रैर्जात-कण्डू-महारुजम् ।
हृद्रोगं क्रिमिजं त्वेतैर्लिङ्गैर्बुद्ध्वा सुदारुणम् ।
त्वरेत जेतुं तं विद्वान् विकारं शीघ्रकारिणम् ॥ ४० ॥

(१) शोक, उपवास, व्यायाम (परिश्रम), रूक्ष, शुष्क, और स्वल्प भोजनों से कुपित होकर वायु हृदय में जाकर इसको दूषित करके तीव्र वेदना को उत्पन्न करती है। इससे कम्पन, ऐंठन के समान वेदना, जड़ता, मूर्च्छा, शून्यता (ज्ञान का अभाव), चक्कर आना आदि लक्षण वातजन्य हृदय वेदना में होते हैं। भोजन के जीर्ण होनेपर ये लक्षण बहुत बढ़ जाते हैं। (२) पित्त-जन्य हृदय शूल—गरम, खट्टे, नमकीन, क्षार, कटु रस के अधिक सेवन से, अजीर्णावस्था में भोजन करने से, मद्यपान से, क्रोध या धूप में बैठने या चलने से, पित्त हृदय में पहुंचकर जल्दी ही कुपित हो जाता है, कुपित होकर तीव्र वेदना उत्पन्न करता है। इस कारण हृदय में जलन, मुख में कड़ुआपन, खट्टे, पित्तयुक्त डकार का आना, विना परिश्रम के थकान, प्यास, मूर्च्छा, चक्कर आना, पसीना आना ये पित्तजन्य हृदयशूल के लक्षण हैं। (३) कफजन्य हृदयशूल—बहुत परिणाम में भोजन करने से, भारी, स्निग्ध पदार्थों के सेवन से, चिन्ता न करने या थोड़ा करने, शारीरिक चेष्टाओं के कम करने से, दिन में बेफिकरी से सोने और अधिक सोने से कफ कुपित होकर हृदय में जाकर रस को दूषित करके हृदयशूल उत्पन्न करता है। इसके कारण हृदय सोया हुआ, सुस्त, गीले वस्त्र से ढंपा हुआ सा, भारी प्रतीत होता है और आलस्य, अरुचि उत्पन्न होती है और ऐसा मालूम होता है कि किसी ने हृदय पर पत्थर रख दिया हो। (४) त्रिदोषजन्य हृदय शूल–तीनों दोषों के मिलने से, तीनों दोषों के लक्षण उत्पन्न होते हैं, उसको त्रिदोषजन्य हृदयशूल कहते हैं। (५) कृमि जन्य—त्रिदोषजन्य हृदयरोग में जो दुरात्मा तिल, दूध, गुड़ (अजीर्णावस्था में भोजन, सड़ा हुआ भोजन, विरुद्ध भोजन आदि) सेवन करता है, उसके हृदय के एक भाग में ग्रन्थि (गांठ) उत्पन्न हो जाती है तथा रस का संक्लिन्न-भाग सड़ने लगता है। रस के संक्लेदन से कृमि उत्पन्न हो जाते हैं। ये कृमि हृदय के एक भाग में उत्पन्न होकर अन्य स्थान में फैलने लगते हैं और हृदय को खाने लगते हैं। इस अवस्था में रोगी को ऐसी वेदना होती है मानों कोई उसके हृदय में सुईयां चुभा रहा है। शस्त्रों से कोई हृदय को काटता है, हृदय में बहुत खाज एवं पीड़ा उठती है। इन लक्षणों को देखकर कृमिजन्य भयानक हृदय रोग को समझकर विद्वान् शीघ्र मृत्यु करने वाले रोग को शान्त करने का यत्न करे ॥३०-४०॥

द्व्युल्बणैकोल्बणैः षट् स्युर्हीनमध्याधिकैश्च षट्।
समैश्चैको विकारास्ते सन्निपातास्त्रयोदश ॥ ४१ ॥
संसर्गे नव षट् तेभ्य एकवृद्ध्या समैस्त्रयः।

पृथक् त्रयः स्युस्तैर्वृद्धैर्व्याधयः पञ्चविंशतिः ॥ ४२ ॥
यथा वृद्धैस्तथा क्षीणैर्दोषैः स्युः पञ्चविंशतिः ।
वृद्धि-क्षय-कृतश्चान्यो विकल्प उपदेक्ष्यते ॥ ४३ ॥
वृद्धिरेकस्य समता चैकस्यैकस्य संक्षयः ।
द्वन्द्व-वृद्धिः क्षयश्चैकस्यैकवृद्धिर्द्वयोः क्षयः ॥ ४४ ॥

वात आदि दोषों के परस्पर संसर्ग से होने वाले विकारों के बासठ (६२) भेद—बढ़े हुए वात, पित्त, कफ के परस्पर संसर्ग से सन्निपात जन्य तेरह (१३) विकार होते हैं। दो दोषों की अधिकता और एक की न्यूनता से (वात पित्त बढ़े, कफ कम हो, पित्त-कफ बढ़े और वात कम हो, वात कफ बढ़े और पित्त कम हो) तीन; एक दोष की वृद्धि और दो दोष की न्यूनता से (वात बढ़े, पित्त-कफ न्यून, पित्त बढ़े वायु-कफ न्यून; कफ बढ़े और वायु-पित्त न्यून) तीन; इस प्रकार छः सन्निपात हैं; हीन, मध्य और अधिक भेद से ये छः सन्निपात हैं (जैसे—वृद्ध वात, वृद्धतर पित्त, वृद्धतम कफ; वृद्ध वात, वृद्धतर कफ; वृद्धतम पित्त; वृद्ध पित्त, वृद्धतर कफ और वृद्धतम वात; वृद्ध कफ, वृद्धतर वात और वृद्धतम पित्त) और वात-पित्त कफ तीनों दोषों के बढ़ने से एक प्रकार का; इस प्रकार से तेरह प्रकार के सन्निपात हैं। अब दो दोषों के भेद कहते हैं—बढ़े हुए वात, पित्त, कफ इनमें किन्हीं दो दोषों के परस्पर मिलने से नौ भेद हो जाते हैं। यह संयोग एक-एक दोष की वृद्धि से छः प्रकार का, और तीनों की समान वृद्धि से तीन प्रकार होता है। छः प्रकार का यथा—वृद्ध वात अधिक, वृद्ध पित्त; वृद्ध पित्ताधिक, वृद्ध वात; वृद्ध वाताधिक, वृद्ध कफ; वृद्ध कफाधिक, वृद्ध वात, वृद्ध पित्ताधिक वृद्धकफ, वृद्धकफाधिक वृद्धपित्त—ये छः प्रकार का। तीन प्रकार का यथा—वृद्ध समवात पित्तज, वृद्ध समवातकफज, वृद्ध समपित्तकफज। इस प्रकार से नौ प्रकार का हुआ। पृथक् रूप में बढ़े हुए वात, पित्त, कफ से (अलग-अलग उत्पन्न हुए) रोग तीन प्रकार से होते हैं। यथा—वृद्धवातज वृद्धपित्तज और वृद्धकफज। इस प्रकार बढ़े हुए दोषों से २५ प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार दोषों के बढ़ने से २५ भेद बनते हैं, उसी प्रकार दोषों के क्षीण होने से भी पच्चीस भेद बन जाते हैं। वृद्धि और क्षय द्वारा उत्पन्न भेदों के अतिरिक्त दोषों के अन्य भेद बतलाते हैं। यथा—एक दोष की वृद्धि, एक दोष की समता, और एक दोष का क्षय। यथा—वृद्ध वात, समपित्त, क्षीण कफ; वृद्ध वात, सम कफ, क्षीण पित्त; वृद्ध पित्त, सम वात, क्षीण कफ; वृद्ध पित्त, सम कफ, क्षीण पित्त;

वृद्ध कफ, सम पित्त; क्षीण वात; वृद्ध कफ, सम वात, क्षीण पित्त ये छः प्रकार। दो दोषों की वृद्धि और एक दोष का क्षय, यथा—वृद्ध पित्त कफ, क्षीण वात; वृद्ध वात कफ, क्षीण पित्त; वृद्ध वात पित्त, क्षीण कफ, यह तीन प्रकार का। एक दोष की वृद्धि और दो दोषों का क्षय—यथा वृद्ध कफ, क्षीण वात-पित्त, वृद्ध पित्त क्षीण कफ-वात, वृद्ध वात क्षीण पित्त-कफ ये तीन। इस प्रकार से ये बारह भेद उपरोक्त पचास भेद से पृथक् हैं। कुल मिलकर बासठ (६२) भेद हो जाते हैं ॥४१-४४॥

प्रकृतिस्थं यदा पित्तं मारुतः श्लेष्मणः क्षये।
स्थानादादाय गात्रेषु यत्र यत्र विसर्पति ॥ ४५ ॥
तदा भेदश्च दाहश्च तत्र तत्रानवस्थितः।
गात्रदेशे भवत्यस्य श्रमो दौर्बल्यमेव च ॥ ४६ ॥
साम्ये स्थितं कफं वायुः क्षीणे पित्ते यदा बली।
कर्षेत्कुर्यात्तदा शूलं सशैत्य-स्तम्भ-गौरवम् ॥ ४७ ॥
यदाऽनिलं प्रकृतिगं पित्तं कफपरिक्षये।
संरुणद्धि तदा दाहः शूलं चास्योपजायते ॥ ४८ ॥
श्लेष्माणं हि समं पित्तं यदा वातपरिक्षये।
निपीडयेत्तदा कुर्यात्सतन्द्रागौरवं ज्वरम् ॥ ४९ ॥
• प्रवृद्धो हि यदा श्लेष्मा पित्ते क्षीणे समीरणम्।
रुन्ध्यात्तदा प्रकुर्वीत शीतकं गौरवं रुजम् ॥ ५० ॥
समीरणे परिक्षीणे कफः पित्तं समत्वगम्।
कुर्वीत संनिरुन्धानो मृद्वग्नित्वं शिरोग्रहम् ॥ ५१ ॥
निद्रां तन्द्रां प्रलापं च हृद्रोगं गात्रगौरवम्।
नखादीनां च पीतत्वं ष्ठीवनं कफपित्तयोः ॥ ५२ ॥
हीनवातस्य तु कफः पित्तेन सहितश्चरन्।
करोत्यरोचकापाकौ सदनं गौरवं तथा ॥ ५३ ॥
हृल्लासमास्यस्रवणं दूयनं पाण्डुतां मदम्।
विरेकस्य हि वैषम्यं वैषम्यमनलस्य च ॥ ५४ ॥
क्षीणपित्तस्य तु श्लेष्मा मारुतेनोपसंहितः।
स्तम्भं शैत्यं च तोदं च जनयत्यनवस्थितम् ॥ ५५ ॥
गौरवं मृदुतामग्नेर्भक्ताश्रद्धां प्रवेपनम्।
नखादीनां च शुक्लत्वं गात्रपारुष्यमेव च ॥ ५६ ॥

हीने कफे मारुतस्तु पित्तं तु कुपितं द्वयम् ।
करोति यानि लिङ्गानि शृणु तानि समासतः ॥ ५७ ॥
भ्रममुद्वेष्टनं तोदं दाहं स्फुटनवेपने ।
अङ्गमर्दं परीशोषं दूयनं धूपनं तथा ॥ ५८ ॥
वात-पित्त-क्षये श्लेष्मा स्रोतांस्यपि दधद्भृशम् ।
चेष्टा-प्रणाशं मूर्च्छां च वाक्सङ्गं च करोति हि ॥ ५९ ॥
श्लेष्मवातक्षये पित्तं देहौजः स्रंसयेच्चरत् ।
ग्लानिमिन्द्रियदौर्बल्यं तृष्णां मूर्च्छां क्रियाक्षयम् ॥ ६० ॥
पित्त-श्लेष्म-क्षये वायुर्मर्माण्यभिनिपीडयन् ।
प्रणाशयति संज्ञां च वेपयत्यथवा नरम् ॥ ६१ ॥

जिस समय कि पित्त अपनी प्रकृति में होता है और कफ क्षीण होता है, उस समय वायु पित्त को उसके स्थान से लेकर शरीर में इधर-उधर दौड़ता है। जिससे कि फटने की सी दर्द, जलन, थकान और निर्बलता उत्पन्न होती है। शरीर में कफ के प्रकृत अवस्था में होने से, पित्त के क्षीण होने पर कुपित बलवान् वायु कफ के साथ मिलकर वेदना, जड़ता, ठण्डक और भारीपन शरीर में उत्पन्न करती है। शरीर में कफ क्षीण हो, पित्त कुपित हो, वायु प्रकृति रूप में हो, तो पित्त वायु की गति बन्द करके जलन और दर्द उत्पन्न करता है। कफ समानावस्था में हो, पित्त कुपित और वायु का क्षय हो तो, कफ को रोककर पित्त शरीर में तन्द्रा अर्थात् आलस्य, भारीपन और ज्वर उत्पन्न कर देता है। कफ बढ़ा हुआ हो, पित्त क्षीण हो, और वायु समानावस्थ हो, तो कफ वायु की गति को बन्द करके ठण्डक, भारीपन और ज्वर उत्पन्न कर देता है। वायु का क्षय हो, पित्त समानावस्था में हो, कफ बढ़ा हुआ हो, तो कफ पित्त की गति को बन्द करके, मन्दाग्नि, शिर का जकड़ना, नींद का आना, आलस्य, प्रलाप, हृदय रोग, शरीर का भारीपन, नख, ओष्ठ, आंख आदि को पीलापन तथा थूक में कफ और पित्त आने लगता है। वायु क्षीण हो और कफ एवं पित्त दोनों बढ़े हुए एक साथ मिलकर शरीर में अरुचि, अविपाक भोजन का अपचन, पीड़ा, भारीपन, वमन की रुचि, मुख से लार गिरना, पीड़ा, पीलापन, नशा सा, मल त्याग में विषमता, मल का कभी आना कभी नहीं आना, इसी प्रकार अग्नि की विषमता कभी भूख लगना और कभी नहीं लगना ये लक्षण उत्पन्न करते हैं। पित्त के क्षीण होने पर कफ वायु के साथ मिलकर शरीर में जड़ता, ठण्डक, कभी यहां और कभी वहां, अनिश्चित स्थान पर वेदना, भारीपन, अग्नि की निर्बलता, भोजन में अनिच्छा, कम्पन, नख (मल, ओष्ठ,

आंख) में सफेद रंग और शरीर में रूक्षता अर्थात् रूखापन आ जाता है। कफ के क्षीण होने पर, वायु और पित्त दोनों कुपित होकर जो लक्षण शरीर में उत्पन्न करते हैं, उनको संक्षेप से सुनो। शिर में चक्कर आना ऐंठन की पीड़ा, चुभने की सी दर्द, जलन, शरीर का फटना, कम्पन, अंगों का टूटना, शुष्कता, पीड़ा और धूप में बैठने से जैसे अंग गरम हो जाते हैं ऐसी जलन होती है। वात और पित्त दोनों क्षीण हों, केवल कफ बढ़ा हो तो—सब स्रोतों को कफ रोक लेता है। इससे क्रियायें नष्ट हो जाती हैं, मूर्च्छा, जीभ-वाणी का बन्द हो जाना, होता है। कफ और वात के क्षीण होने पर पित्त गति करता हुआ शरीर के ओज (कान्ति) को चलायमान कर देता है। शरीर में ग्लानि, थकान, इन्द्रियों की दुर्बलता, प्यास, मूर्च्छा और चेष्टाओं का नाश हो जाता है। पित्त और कफ के क्षीण होने पर वायु मर्म स्थानों को विशेष रूप में पीड़ित करती है। इससे मनुष्य की संज्ञा (चेतना) नष्ट हो जाती है, अथवा मनुष्य कांपता है ॥४५-६१॥

दोषाः प्रवृद्धाः स्वं लिङ्गं दर्शयन्ति यथाबलम्।
क्षीणा जहति लिङ्गं स्वं, समाः स्वं कर्म कुर्वते ॥ ६२ ॥

बढ़े हुए दोष अपनी शक्ति के अनुसार अपने (स्वाभाविक) लक्षणों को उन्नति की अवस्था में दिखाते हैं। यथा—पित्त का स्वाभाविक लक्षण उष्णत्व है। बढ़ने पर तीव्र उष्णिमा उत्पन्न करेगा। दोष क्षीण होने पर अपने स्वाभाविक लक्षणों को छोड़ देते हैं, जैसे पित्त के क्षीण होने से स्वाभाविक उष्णिमा नहीं रहती। समानावस्था में दोष अपना अपना काम करते हैं ॥६२॥

वातादीनां रसादीनां मलानामोजसस्तथा।
क्षयास्तत्रानिलादीनामुक्तं संक्षीणलक्षणम् ॥ ६३ ॥
घट्टते सहते शब्दं नोच्चैर्द्रवति दूयते।
हृदयं ताम्यति स्वल्पचेष्टस्यापि रसक्षये ॥ ६४ ॥
परुषा स्फुटिता म्लाना त्वग्रूक्षा रक्तसंक्षये।
मांसक्षये विशेषेण स्फिग्ग्रीवोदरशुष्कता ॥ ६५ ॥
सन्धीनां स्फुटनं ग्लानिरक्ष्णोरायास एव च।
लक्षणं मेदसि क्षीणे तनुत्वं चोदरस्य च ॥ ६६ ॥
केश-लोम-नख-श्मश्रु-द्विज-प्रपतनं श्रमः।
ज्ञेयमस्थिक्षये रूपं सन्धिशैथिल्यमेव च ॥ ६७ ॥
शीर्यन्त इव चास्थीनि दुर्बलानि लघूनि च।
प्रततं वातरोगाश्च क्षीणे मज्जनि देहिनाम् ॥ ६८ ॥

दौर्बल्यं मुखशोषश्च पाण्डुत्वं सदनं श्रमः ।
क्लैब्यं शुक्राविसर्गश्च क्षीणशुक्रस्य लक्षणम् ॥ ६९ ॥
क्षीणे शकृति चान्त्राणि पीडयन्निव मारुतः ।
रूक्षस्योन्नमयन् कुक्षिं तिर्यगूर्ध्वं च गच्छति ॥ ७० ॥
मूत्रक्षये मूत्रकृच्छ्रं मूत्रवैवर्ण्यमेव च ।
पिपासा बाधते चास्य मुखं च परिशुष्यति ॥ ७१ ॥
मलायनानि चान्यानि शून्यानि च लघूनि च ।
विशुष्काणि च लक्ष्यन्ते यथास्वं मलसंक्षये ॥ ७२ ॥
बिभेति दुर्बलोऽभीक्ष्णं ध्यायति व्यथितेन्द्रियः ।
दुश्छायो दुर्मना रूक्षः क्षामश्चैवौजसः क्षये ॥ ७३ ॥

अठारह प्रकार के क्षय—वात, पित्त, कफ ये तीन दोष; रस-रक्त आदि धातु, मल, मूत्र, कान का मल, इत्यादि सात मल और ओज इन (अठारह) के क्षीण होने के लक्षण कहते हैं। इनमें वात, पित्त, कफ के क्षीण अवस्था के लक्षण कह दिये हैं। रस के क्षीण होने पर हृदय मथा-बिलोया हुआ प्रतीत होता है, ऊँची आवाज़ को सहन नहीं कर सकता, हृदय जल्दी-जल्दी चलता है। पीड़ा होती है, ग्लानि होती है और थोड़ी क्रिया होती है, अथवा थोड़ी चेष्टा से भी हृदय में उद्विग्नता आ जाती है। रक्त का क्षय होने पर त्वचा कठोर हो जाती है, फट जाती है, झुर्रियां पड़ जाती हैं और रूखी बन जाती है। मांस के क्षय होने पर—सारा शरीर क्षीण हो जाता है, परन्तु नितम्ब, ग्रीवा और पेट विशेष रूप से पतले हो जाते हैं। अर्थात् मेद-चर्बी के क्षीण होने पर सन्धियां टूटने-फूटने लगती हैं, अंगों में ग्लानि, आलस्य, आंखों पर थकान और पेट पतला हो जाता है। अस्थियों के क्षय होने पर—शिर के बाल, शरीर के रोम, दाढ़ी-मूंछ के बाल, दांत, नख गिरने लगते हैं। शरीर थका प्रतीत होता है, और सब सन्धियां शिथिल पड़ जाती हैं। मज्जा के क्षीण होने पर—अस्थियां मुरझाती गिरती हुई प्रतीत होती हैं, अस्थियां निर्बल और छोटी (हलकी) हो जाती हैं और वातरोग जोर कर जाते हैं, निरन्तर वात रोग रहने लगता है। शुक्र के क्षीण होने पर—शरीर में निर्बलता, मुख में सूखापन, चेहरे पर पीलास, पीड़ा, थकान, पुरुषत्व की न्यूनता, सम्भोग समय में शुक्र का अभाव रहता है। मल के क्षीण होने पर—वायु आंतों (अन्तड़ियों) को दबाती दुःखी करती प्रतीत होती है। शरीर अन्दर और बाहर से रूक्ष हो जाता है। वायु पेट को ऊपर उठाती हुई तिरछी या ऊपर को जाती है (नीचे नहीं जाती)। मूत्र के

क्षय होने पर—मूत्र कठिनाई से थोड़ा-थोड़ा आता है, मूत्र का रंग बदल जाता है। प्यास बहुत लगती है, गला और मुख सूखता है। कान, नाक, आंख मुख और त्वचा (रोम कूप) इन इन्द्रियों के मलों का क्षय होने से शून्यता, (ज्ञान की कमी), तथा रूक्षता और हलकापन इन इन्द्रियों में अपने-अपने मल के क्षय होने से उत्पन्न हो जाता है। ओज (कान्ति) के क्षीण होने पर—मनुष्य डरने लगता है, निर्बल हो जाता है, बार-बार सोचने लगता है, चिन्ता करने लगता है, इन्द्रियों का ज्ञान ठीक नहीं रहता, पीड़ित हो जाता है। शरीर की कान्ति बिगड़ जाती है, मन अनवस्थित हो जाता है, शरीर रूखा और दुर्बल हो जाता है ॥ ६३-७३ ॥

हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीषत्सपीतकम् ।
ओजः शरीरे संख्यातं तन्नाशान्ना विनश्यति ॥ ७४ ॥
(प्रथमं जायते ह्योजः शरीरेऽस्मिन् शरीरिणाम् ।
सर्पिर्वर्णं मधुरसं लाजगन्धि प्रजायते ॥ १ ॥
भ्रमरैः फलपुष्पेभ्यो यथा संह्रियते मधु ।
एवमोजः स्वकर्मभ्यो गुणैः संह्रियते नृणाम् ॥ २ ॥)

ओज का स्वरूप—हृदय के अन्दर जो शुद्ध (निर्मल) और लाल तथा थोड़ा सा पीला रस आदि धातुओं का सार रस रहता है, उसे 'ओज' कहते हैं। इसके नष्ट होने से मनुष्य भी नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार कि भौंरे फल और पुष्पों से मधु का संचय करते हैं, उसी प्रकार मनुष्यों के शारीरिक गुणों से ओज का संग्रह किया जाता है। शरीरधारियों के शरीर में सबसे प्रथम ओज उत्पन्न होता है। यह ओज घी के समान रंग में, मधुर-रस, और इसमें लाजा के समान (लाजा धान की खील के समान) गन्ध होती है ॥ ७४ ॥

व्यायामोऽनशनं चिन्ता रूक्षाल्पप्रमिताशनम् ।
वातातपौ भयं शोको रूक्षपानं प्रजागरः ॥ ७५ ॥
कफ-शोणित-शुक्राणां मलानां चातिवर्तनम् ।
कालो भूतोपघातश्च ज्ञातव्याः क्षयहेतवः ॥ ७६ ॥

क्षय के कारण—व्यायाम का अधिक करना, उपवास करना, चिन्ता करना, रूक्ष, थोड़ा और एक ही रस का खाना, वायु का या धूप का सेवन, भय, शोक, रूक्ष गुणवाले पदार्थों का पीना, रात में जागना, कफ, रक्त, शुक्र, मल इनका अधिक त्याग करना, वृद्धावस्था, भूत अर्थात् सूक्ष्म क्रिमि आदि का आक्रमण, इन कारणों से अठारह प्रकार का क्षय होता है ॥ ७५-७६ ॥

गुरु-स्निग्धाम्ल-लवणं भजतामतिमात्रशः ।
नवमन्नं च पानं च निद्रामास्यासुखानि च ॥ ७७ ॥
त्यक्त-व्यायाम-चिन्तानां संशोधनमकुर्वताम् ।
श्लेष्मा पित्तं च मेदश्च मांसं चातिप्रवर्धते ॥ ७८ ॥
तैरावृतगतिर्वायुरोज आदाय गच्छति ।
यदा बस्तिं तदा कृच्छ्रो मधुमेहः प्रवर्तते ॥ ७९ ॥
समारुतस्य पित्तस्य कफस्य च मुहुर्मुहुः ।
दर्शयत्याकृतिं गत्वा क्षयमाप्याय्यते पुनः ॥ ८० ॥
उपेक्षयाऽस्य जायन्ते पिडकाः सप्त दारुणाः ।
मांसलेष्ववकाशेषु मर्मस्वपि च सन्धिषु ॥ ८१ ॥

मधुमेह का कारण—अति मात्रा में गुरु, स्निग्ध, खट्टे या नमकीन पदार्थों के खाने से, नवीन (नवीन ऋतु के चावल-गेहूँ आदि) अन्न या नया पानी (बरसात का पानी, कूओं या नदी से पीने पर) अधिक सोने से, ऐश आरामतलबी का जीवन बिताने से, व्यायाम और चिन्ता न करने से, वमन विरेचन कर्मों के न करने से, कफ, पित्त, मेद और मांस बहुत बढ़ जाते हैं। इनके बढ़ने से मार्गों के रुक जाने से वायु ओज धातु को लेकर मूत्राशय (मूत्रसंस्थान) में चली जाती है। तब कष्ट साध्य 'मधुमेह' रोग उत्पन्न होता है। बढ़े हुए वात, पित्त, कफ के लक्षण प्रथम प्रकट होते हैं। कुछ समय पीछे इन्हीं दोषों की क्षीणता (क्षय) के लक्षण दीखने लगते हैं, और फिर बढ़े हुए दोषों के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। इस समय उपेक्षा करने से सात भयानक पिड़कायें अधिक मांस से युक्त स्थानों में, मर्मस्थानों में और सन्धियों में उत्पन्न हो जाती हैं ॥ ७५–८१ ॥

शराविका कच्छपिका जालिनी सर्षपी तथा ।
अलजी विनताख्या च विद्रधी चेति सप्तमी ॥ ८२ ॥
अन्तोन्नता मध्यनिम्ना श्यावा क्लेदरुजान्विता ।
शराविका स्यात्पिडका शरावाकृतिसंस्थिता ॥ ८३ ॥
अवगाढार्ति-निस्तोदा महावास्तु-परिग्रहा ।
श्लक्ष्णा कच्छपपृष्ठाभा पिडका कच्छपी मता ॥ ८४ ॥
स्तब्धा शिराजालवती स्निग्धस्रावा महाशया ।
रुजा-निस्तोद-बहुला सूक्ष्मच्छिद्रा च जालिनी ॥ ८५ ॥
पिडका नातिमहती क्षिप्रपाका महारुजा ।

सर्षपी सर्षपाभाभिः पिडकाभिश्चिता भवेत् ॥ ८६ ॥
दहति त्वचमुत्थाने तृष्णा-मोह-ज्वर-प्रदा ।
विसर्पत्यनिशं दुःखाद्दहत्यग्निरिवालजी ॥ ८७ ॥
अवगाढ-रुजा-क्लेदा पृष्ठे वाऽप्युदरेऽपि वा ।
महती विनता नीला पिडका विनता मता ॥ ८८ ॥

सात पिड़कायें—शराविका, कच्छपिका, जालिनी, सर्षपी, अलजी, विनता और विद्रधि ये सात प्रकार की पिडकायें उत्पन्न होती हैं। किनारों से ऊँची और बीच से दबी, श्याव अर्थात् ऊदे रंग की, स्रावयुक्त और पीड़ायुक्त, यह पिड़का शराव (परई, सकोरा के) के आकार की होती है, इसे शराविका कहते हैं। जो गम्भीर वेदना वाली दर्दयुक्त, महावस्तु का आश्रय करके रहती है [बहुत अधिक स्थान घेरा हो] ऊपर से चिकनी और कछुवे की पीठ के समान ऊपर से उठी पिड़का 'कच्छपी' होती है। जड़ (न हिलने वाली), शिराओं के जालयुक्त, चिकने स्रावयुक्त, बड़े आशय में आश्रित, दर्द और चुभने की सी वेदनायुक्त तथा छोटे-छोटे छेदों से घिरी पिड़का 'जालिनी' होती है। बहुत बड़ी नहीं, जल्दी पकने वाली, बहुत वेदना युक्त, सरसों के आकार की छोटी-छोटी पिड़काओं से घिरी पिड़का 'सर्षपी' है। अलजी पिड़का के उत्पन्न होने पर त्वचा जलने लगती है, तृष्णा, मूर्च्छा, ज्वर होता है। रात दिन दुःखी करती है, अग्नि के समान दुःख से रोगी जलता है, इसका नाम 'अलजी' है। जिस में स्राव बहुत गाढ़ा हो, बहुत सख्त वेदना हो, स्राव हो, पिड़का पीठ या उदर में हो, बहुत बड़ी, दबी हुई सी, नीले रंग की पिडका को 'विनता' कहते हैं ॥ ८२-८८ ॥

विद्रधिं द्विविधामाहुर्बाह्यामाभ्यन्तरीं तथा ।
बाह्या त्वक्स्नायु-मांसोत्था कण्डराभा महारुजा ॥ ८९ ॥
शीतकान्नविदाह्युष्ण-रूक्ष-शुष्कातिभोजनात् ।
विरुद्धाजीर्ण-संक्लिष्ट-विषमासात्म्य-भोजनात् ॥ ९० ॥
व्यापन्न-बहु-मद्यत्वाद्वेगसंधारणाच्छ्रमात् ।
जिह्म-व्यायाम-शयनादतिभाराध्वमैथुनात् ॥ ९१ ॥
अन्तःशरीरे मांसासृगाविशन्ति यदा मलाः ।
तदा संजायते ग्रन्थिर्गम्भीरस्थः सुदारुणः ॥ ९२ ॥
हृदये क्लोम्नि यकृति प्लीह्नि कुक्षौ च वृक्कयोः ।
नाभ्यां वङ्क्षणयोर्वापि बस्तौ वा तीव्रवेदनः ॥ ९३ ॥

दुष्टरक्तातिमात्रत्वात्स वै शीघ्रं विदह्यते ।
ततः शीघ्रविदाहित्वाद्विद्रधीत्यभिधीयते ॥ ९४ ॥
व्यधच्छेद-भ्रमानाह-शब्द-स्फुरण-सर्पणैः ।
वातिकीं, पैत्तिकीं तृष्णा-दाह-मोह-मद-ज्वरैः ॥ ९५ ॥
जम्भोत्क्लेशारुचि-स्तम्भ-शीतकैः श्लैष्मिकीं विदुः ।
सर्वासु च महच्छूलं विद्रधीषूपजायते ॥ ९६ ॥
तप्तैः शस्त्रैर्यथा मध्येतोल्मुकैरिव दह्यते ।
विद्रधी व्यम्लतां याता वृश्चिकैरिव दश्यते ॥ ९७ ॥
तनुरूक्षारुणं स्रावं फेनिलं वातविद्रधी ।
तिल-माष-कुलत्थोद-संनिभं पित्तविद्रधी ॥ ९८ ॥
श्लैष्मिकी स्रवति श्वेतं बहलं पिच्छिलं बहु ।
लक्षणं सर्वमेवैतद्भजते सान्निपातिकी ॥ ९९ ॥

विद्रधि पिडका दो प्रकार की होती है यथा—बाह्या और आभ्यन्तरी। इनमें बाह्या विद्रधि त्वचा, स्नायु और मांस में उत्पन्न होती है, इसका आकार कण्डरा के समान होता है, इसमें बहुत वेदना होती है। अन्तः विद्रधि का निदान कहते हैं—ठण्डा भोजन, दाह करने वाला भोजन, उष्ण, रूक्ष, शुष्क भोजन के खाने से, बहुत खाने से, विरुद्ध भोजन से अजीर्णावस्था में भोजन करने से, संकीर्ण (अर्थात् मिश्रण किये खाने से) विषम भोजन से, प्रकृति के प्रतिकूल भोजन से, व्यापन्न अर्थात् दूषित भोजन से, बहुत मद्यपान से, उपस्थित वेगों को रोकने से, परिश्रम से, कुटिल व्यायाम (अंगों को अनुचित रूप से मोड़ने-तोड़ने) से, कुटिल शयन (टेढ़ा-मेढ़ा होकर सोने) से, बहुत बोझ उठाने से, बहुत मार्ग चलने से, बहुत मैथुन के कारण जब मल (वात, पित्त, कफ) शरीर के अन्दर मांस और रक्त में घुस जाते हैं, तब गहरी और कठोर गांठ उत्पन्न हो जाते हैं। गांठ उत्पन्न होने के स्थान—हृदय, क्लोम (पित्ताशय या आमाशय), यकृत्, प्लीहा, कुक्षि (पार्श्वों) में, वृक्कों (गुर्दों) में, नाभि में, वंक्षण (जांघ की सन्धियों) में और बस्ति (मूत्राशय) में उत्पन्न होती है और यहां तीव्र वेदना होती है। रक्त के बहुत अधिक दुष्ट होने से विद्रधि शीघ्र विदग्ध होने लगती है, विदग्ध होने से ही इसको 'विद्रधि' कहते हैं।

वातजन्य विद्रधि में बींधने के समान, काटने के समान छेदने के समान पीड़ा होती है, चक्कर आता है, अफरा, शब्द सुनाई देता है, स्फुरण, धड़कन

और सर्पण होता है। पित्तजन्य विद्रधि में—प्यास, जलन, मूर्च्छा, मद और ज्वर होता है। कफजन्य विद्रधि में—जम्भाई, वमन, भोजन में अरुचि, शरीर की जड़ता और ठण्डक होती है। सब विद्रधियों में बहुत अधिक शूल उत्पन्न हो जाता है। गरम शस्त्रों से जिस प्रकार कोई मसल रहा हो, या गरम वस्तुओं से कोई जला रहा हो, ऐसा प्रतीत होता है। * विद्रधि के पकने पर बिच्छुओं के काटने के समान दर्द होता है।

अब स्राव के लक्षण कहते हैं—स्राव के लक्षण—जो स्राव पतला, रूक्ष, लाल और झागदार हो तो उसे वातज विद्रधि का स्राव, जो स्राव तिल, उड़द, कुलथी के पानी के समान हो तो पित्तज विद्रधि का और जो स्राव श्वेत, घना, चिकना और मात्रा में बहुत हो तो कफज विद्रधि का होता है। संनिपातजन्य विद्रधि में सब दोषों के लक्षण होते हैं ॥ ८६-६६ ॥

अथासां विद्रधीनां साध्यासाध्यत्व-विशेष-ज्ञानार्थं स्थानकृतं लिङ्ग-विशेषमुपदेक्ष्यामः—तत्र प्रधानमर्मजायां विद्रध्यां हृद्घट्टन-तमक-प्रमोह-कासाः, क्लोमजायां पिपासा-मुख-शोष-गल-ग्रहाः, यकृज्जायां श्वासः, प्लीहजायामुच्छ्वासोपरोधः, कुक्षिजायां कुक्षिपार्श्वान्तरांसशूलं, वृक्क-जायां पार्श्व-पृष्ठ-कटि-ग्रहः, नाभिजायां हिक्का, वङ्क्षणजायां सक्थिसादः, बस्तिजायां कृच्छ्र-पूति-मूत्र-वर्चस्त्वं चेति ॥ १०० ॥

पक्वप्रभिन्नासूर्ध्वजासु मुखात्स्रावः स्रवति, अधोजासु गुदात्, उभयतस्तु नाभिजासु ॥ १०१ ॥

तासां हृन्नाभिबस्तिजाः परिपक्वाः सान्निपातिकी च मरणाय, अवशिष्टाः पुनः कुशलमाशुप्रतिकारिणं चिकित्सकमासाद्योपशाम्यन्ति; तस्मादचिरोत्थितां विद्रधिं शस्त्र-सर्प-विद्युदग्नि-तुल्यां स्नेह-स्वेद-विरेच-नैराश्वेवोपक्रामेत् सर्वशो गुल्मवच्चेति ॥ १०२ ॥

अब इन विद्रधियों के साध्य-असाध्य जानने के लिये स्थानजन्य विशेष लक्षण बतलाते हैं। यथा—प्रधान मर्मस्थान (हृदय) में उत्पन्न विद्रधि में हृदय का संघट्टन, तमक (आंखों के आगे अन्धेरा) सांस, मूर्च्छा, कास होता है। क्लोमजन्य विद्रधि में प्यास, मुख का सूखना, गलेका रुकना, यकृत्-जन्य विद्रधि में-श्वास, और प्लीहाजन्य विद्रधि में श्वास की रुकावट और मूर्च्छा, कुक्षि में विद्रधि होने पर कुक्षि और पार्श्व के बीच में शूल और उसी पार्श्व के

---

* कई स्थानों पर कलिकाता की छपी पुस्तकों में निम्न पाठ है—
"शस्त्रैर्भिद्यत इव चोल्मुकैरिव दह्यते ॥"

के कन्धे में दर्द होता है । वृक्कजन्य विद्रधि में पीठ का अकड़ना, कमर का जकड़ जाना, नाभिजन्य विद्रधि में हिचकी, वंक्षणजन्य विद्रधि में जांघों में दर्द, बस्तिजन्य विद्रधि में मूत्र में कृच्छ्रता, दुर्गन्धयुक्त मूत्र, और बदबूदार मल आता है । हृदय, क्लोम, यकृत्, प्लीहा, और कुक्षि की विद्रधियों के पककर फूटने से स्राव मुख से, और नाभि के नीचे वंक्षण एवं बस्ति की विद्रधियों के फटने से गुदा के मार्ग से तथा नाभि की विद्रधि के फटने से मुख और गुदा दोनों मार्गों से स्राव बहता है । इन विद्रधियों में हृदय, नाभि और बस्ति में उत्पन्न विद्रधि के पकने पर और सन्निपातजन्य विद्रधि मृत्युकारक होती हैं और शेष विद्रधियां कुशल चिकित्सक से शीघ्र प्रतिकार करने पर शान्त हो जाती हैं । इसलिये जल्दी ही नवीन विद्रधि को जो कि शस्त्र, सर्प, बिजली और अग्नि के समान पीड़ादायक है, उसकी स्नेहन, विरेचन द्वारा शीघ्र चिकित्सा करे । उनकी गुल्मों की भांति सम्पूर्ण चिकित्सा करनी चाहिये ॥

भवन्ति चात्र—विना प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदसः ।
तावच्चैता न लक्ष्यन्ते यावद्वास्तुपरिग्रहः ॥ १०३ ॥
शराविका कच्छपिका जालिनी चेति दुःसहाः ।
जायन्ते ता ह्यतिबलाः प्रभूत-श्लेष्म-मेदसाम् ॥ १०४ ॥
सर्षपी चालजी चैव विनता विद्रधी च याः ।
साध्याः पित्तोल्बणास्ता हि संभवन्त्यल्पमेदसाम् ॥ १०५ ॥
मर्मस्वंसे गुदे पाण्योः स्तने सन्धिषु पादयोः ।
जायन्ते यस्य पिडकाः स प्रमेही न जीवति ॥ १०६ ॥
तथाऽन्याः पिडकाः सन्ति रक्तपीतासितारुणाः ।
पाण्डुराः पाण्डुवर्णाश्च भस्माभा मेचकप्रभाः ॥ १०७ ॥
मृद्व्यश्च कठिनाश्चान्याः स्थूलाः सूक्ष्मास्तथाऽपराः ।
मन्दवेगा महावेगाः स्वल्पशूला महारुजाः ॥ १०८ ॥
ता बुद्ध्वा मारुतादीनां यथास्वैर्हेतुलक्षणैः ।
ब्रूयादुपाचरेच्चाशु प्रागुपद्रवदर्शनात् ॥ १०९ ॥

ये पिड़कायें मेद के दुष्ट होने पर बिना प्रमेह के भी उत्पन्न हो जाती हैं, और जब तक कि 'वास्तुपरिग्रह' अर्थात् स्थान को चारों ओर से पकड़ नहीं लेतीं, तब तक इनका पता नहीं चलता । शराविका, कच्छपिका और जालिनी ये कठिनाई से सहन की जा सकती हैं । जिन में कफ और मेद अधिक होते हैं, उन में ये उत्पन्न होती हैं और बहुत बलवान् होती हैं । सर्षपी, अलजी, विनता

और विद्रधि ये पित्त की अधिकता से होती हैं और ये साध्य हैं, ये थोड़ी चर्बीवालों में होती हैं। जिस प्रमेह रोगी के मर्म (हृदय, बस्ति, और नाभि) में, कन्धे, गुदा, हाथ, स्तन, सन्धियों और पांव में पिडकायें उत्पन्न होती हैं, वह प्रमेह का रोगी नहीं बचता। इसी प्रकार अन्य दूसरी और भी पिड़कायें हैं जो लाल, पीली, काली, पाण्डुर (धूसर) पीले रंग की, राख अर्थात् भस्म के समान; काले बालों की छाया जैसी, कुछ मृदु, कुछ कठिन, कुछ बड़ी, कुछ छोटी, कुछ मन्द वेग, कुछ तीव्र वेग, कोई थोड़ी वेदनावाली, कोई बहुत दर्दवाली होती हैं। इन वात, पित्त, कफ की विद्रधियों को इनके अपने-अपने लक्षणों से पहिचान कर उपद्रवों के उत्पन्न होने से पूर्व ही चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १०३–१०९ ॥

तृट्-श्वास-मांस-संकोथ-मोह-हिक्का-मद-ज्वराः ।
वीसर्प-मर्म-संरोधाः पिडकानामुपद्रवाः ॥ ११० ॥

उपद्रव—प्यास, श्वास, मांस का संकोच, मूर्च्छा, हिचकी, मद और ज्वर, बीसर्प, और हृदय आदि मर्म का अवरोध, ये पिडकाओं के उपद्रव हैं ॥११०॥

क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः ।
ऊर्ध्वं चाधश्च तिर्यक् च विज्ञेया त्रिविधाऽपरा ॥ १११ ॥
इत्युक्ता विधिभेदेन दोषाणां त्रिविधा गतिः ।
त्रिविधा चापरा कोष्ठ-शाखा-मर्मास्थि-सन्धिषु ॥ ११२ ॥
चय-प्रकोप-प्रशमाः पित्तादीनां यथाक्रमम् ।
भवन्त्येकैकशः षट्सु कालेष्वभ्रागमादिषु ॥ ११३ ॥
गतिः कालकृता चैषा चयाद्या पुनरुच्यते ।
गतिश्च द्विविधा दृष्टा प्राकृती वैकृती च या ॥ ११ ॥
पित्तादेवोष्मणः पक्तिर्नराणामुपजायते ।
तच्च पित्तं प्रकुपितं विकारान् कुरुते बहून् ॥ ११५ ॥
प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते ।
स चैवौजः स्मृतः काये स च पाप्मोपदिश्यते ॥ ११६ ॥
सर्वा हि चेष्टा वातेन स प्राणः प्राणिनां स्मृतः ।
तेनैव रोगा जायन्ते तेन चैवोपरुध्यते ॥ ११७ ॥
नित्यसंनिहितामित्रं समीक्ष्याऽऽत्मानमात्मवान् ।
नित्यं युक्तः परिचरेदिच्छन्नायुरनित्वरम् ॥ ११८ ॥

दोषों की गति तीन प्रकार की होती है—क्षय (घटना), स्थान (सम रहना), और वृद्धि (बढ़ना), अथवा (ऊर्ध्वं) ऊपर जाना, (अधः) नीचे जाना और (तिर्यक्), तिरछा जाना ये दूसरी प्रकार की दोषों की गति हैं। विधि

भेद से दोषों की तीन प्रकार की गति कह दी, एक और प्रकार से भी तीन प्रकार की गति होती है यथा—कोष्ठ, शाखा, एवं मर्मास्थि और सन्धि इनमें दोषों का संचय, प्रकोप और शमन यह तीन प्रकार की गति हैं। यथा—छः ऋतुओं में एक-एक दोष की तीनों जातियां होती हैं। यथा—वर्षा ऋतु में पित्त का संचय, शरद् ऋतु में प्रकोप और हेमन्त में शान्ति। ग्रीष्म में वायु का संचय, वर्षा में प्रकोप तथा शरद् में शान्ति। हेमन्त में कफ का संचय वसन्त में प्रकोप और ग्रीष्म में कफ की शान्ति होती है। दोषों के संचय आदि की गति दो प्रकार की है। यथा—प्राकृत और वैकृत। पित्त का वर्षा ऋतु में संचय होना प्राकृत गति है और वसन्त में संचय होना वैकृत गति है। इसी प्रकार कफ का हेमन्त में संचय होना प्राकृत और वर्षा में संचय होना वैकृत है, वायु का ग्रीष्म ऋतु में संचय होना प्राकृत और शरद् में संचय होना वैकृत है। प्राकृत-स्वास्थ्यावस्था, वैकृत रुग्णावस्था है, इस प्रकार से पित्त आदि दोषों की भी दो प्रकार की गति है। मनुष्यों का पाचन पित्त की ही गरमी से होता है और वह पित्त विकृत होकर बहुत से रोगों को उत्पन्न करता है। प्राकृत स्वास्थ्यावस्था में स्थित कफ शरीर का बल, और ओजरूप होता है, परन्तु यही विकृत, रुग्णावस्था में मल और पाप्मा अर्थात् पापरोग उत्पन्न करता है। वायु के कारण ही शरीर की सब चेष्टाएं, क्रियायें होती हैं। यही वायु प्राणियों का प्राण है। इस के विकृत होने पर रोग उत्पन्न होते हैं, और इन्हीं रोगों से इसी विकृत वायु से मनुष्य मर जाता है। मनुष्य को चाहिये कि वह समझ ले कि शत्रु (वैकृत, पित्त, वायु, कफ ये दोष) सदा समीप में खड़े हैं, इसलिये अपने कल्याण में मन को लगाकर प्रशस्त मन से परीक्षा करके नित्य ही न जानेवाली दीर्घ आयु की सदा इच्छा करता हुआ दीर्घायु होने का प्रयत्न करे।११९-११८।

तत्र श्लोकौ। शिरोरोगाः सहृद्रोगा रोगा मानविकल्पजाः।

क्षयाः सपिडकाश्चोक्ता दोषाणां गतिरेव च ॥ ११९ ॥
कियन्तःशिरसीयेऽस्मिन्नध्याये तत्त्वदर्शिना।
ज्ञानार्थं भिषजां चैव प्रजानां च हितैषिणा॥ १२० ॥

शिरोरोग, हृदय के रोग, दोषों के परिमाण भेद से होनेवाले रोग, दोषों के क्षय से, पिड़कायें, दोषों की गति, इन सब बातों का तत्त्वदर्शी महर्षि ने 'कियन्तःशिरसीय' अध्याय में, वैद्यों के ज्ञान और प्रजाओं की मंगलकामना से उपदेश किया है ॥ ११९-१२० ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने रोगचतुष्के
कियन्तःशिरसीयो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः ।

अथातस्त्रिशोथीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'त्रिशोथीय अध्याय' का व्याख्यान करेंगे, जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

त्रयः शोथा भवन्ति वात-पित्त-श्लेष्म-निमित्ताः । ते पुनर्द्विविधाः निजागन्तुभेदेन । तत्राऽऽगन्तवश्छेदन-भेदन-क्षणन-भञ्जन-पिच्छनोत्पेषण-प्रहार-वध-बन्धन-वेष्टन-व्यधन-पीडनादिभिर्वा भल्लातक-पुष्प-फल-रसात्मगुप्ता-शूक-क्रिमिशूकाहितपत्र-लता-गुल्म-संस्पर्शनैर्वा स्वेदन-परिसर्पणावमूत्रणैर्वा विषिणां, सविषाविष-प्राणि-दंष्ट्रा-दन्त-विषाण-नख-निपातैर्वा सागर-विष-वात-हिम-दहन-संस्पर्शनैर्वा शोथाः समुपजायन्ते । ते पुनर्यथास्वं हेतुजैर्व्यञ्जनैरादावुपलभ्यन्ते निजव्यञ्जनैकदेशविपरीतैः, बन्ध-मन्त्रागद-प्रलेप-प्रताप-निर्वापणादिभिश्चोपक्रमैरुपक्रम्यमाणाः प्रशान्तिमापद्यन्ते ॥ ३ ॥

शोथ (सूजन) तीन प्रकार का है । १. वात से, २. पित्त से और ३. कफ से । यह तीन प्रकार का शोथ फिर दो प्रकार का है । (१) शरीर में उत्पन्न होने वाला निज और (२) बाहर कारण से उत्पन्न होने वाला आगन्तु । इन में आगन्तु शोथ छेदन (दो खण्ड करना), भेदन (फाड़ना), क्षणन (चूर्ण करना), भञ्जन (तोड़ना, सर्जरी करना), पिच्छन (बहुत दबाना), उत्पेषण (शिला पर पीसने की भांति पीसने) से, वेष्टन (रज्जु आदि से लपेटना), प्रहार (चोट), वध (मारने) से, बन्धन (बांधना), व्यधन (बींधना), पीड़न और (दबाने) आदि से उत्पन्न होता है अथवा भिलावे के पुष्प या फल अथवा रसके लाने से, आत्मगुप्ता (कौंच की फली), शूक, कृमिशूक (रोयें वाला कीड़ा), अहितपत्र (बिच्छू बूटी के पत्र), लता (बेल) गुल्म (झंकार झाड़ों) के स्पर्श से आगन्तु शोथ उत्पन्न होता है अथवा विषयुक्त प्राणियों के पसीने से, शरीर पर चलने फिरने से, इन के मूत्रों से, विषैले प्राणियों के जाढ़, दांत, सींग, नख आदि के प्रहार से, कृत्रिम विषयुक्त वायु, बरफ या अग्नि के स्पर्श से आगन्तु शोथ उत्पन्न होता है । ये आगन्तु शोथ प्रथम कारणों से उत्पन्न लक्षणों से प्रकट होते हैं । आगन्तु शोथ या रोग में व्यथा प्रथम उत्पन्न होती है, और पीछे शरीर के दोषों से सम्बन्धित होते हैं ।

ये शोथ बन्धन (सुखप्रद लेप आदि की पट्टी बांधने से), मन्त्र से, औषध, प्रलेप, प्रताप, निर्वापण (सेक आदि द्वारा वायु को निकालने से) एवं शोधन रोपणादि से चिकित्सा करने पर शान्त हो जाते हैं ॥ ३ ॥

निजाः पुनः स्नेह-स्वेदन-वमन-विरेचनास्थापनानुवासन-शिरोविरेचनानामयथावत्प्रयोगात् मिथ्यासंसर्जनाद्वा छर्द्यलसक विसूचिका-श्वास-कासातीसार-शोष-पाण्डुरोग-ज्वरोदर-प्रदर-भगन्दरार्शो-विकारातिकर्षणैर्वा कुष्ठ-कण्डू-पिडकादिभिर्वा छर्दि-क्षवथूद्गार-शुक्र-वात-मूत्र-पुरीष-वेग-विधारणैर्वा कर्म-रोगोपवासातिकर्षितस्य वा सहसाऽतिगुर्वम्ल-लवण-पिष्टान्न-फल-शाक-राग-दधि-हरीतक-मद्य-मन्दक-विरूढ-नव-शूक-शमी-धान्यानूपौदकपिशितोपयोगात् मृत्पङ्क-लोष्ट-भक्षणाल्लवणातिभक्षणाद्वा गर्भ-संपीडनादाम-गर्भ-प्रपतनात् प्रजातानां च मिथ्योपचारादुदीर्णदोषत्वाच्च शोथाः प्रादुर्भवन्तीत्युक्तः सामान्यो हेतुः ॥ ४ ॥

'निज' अर्थात् शरीर के अन्दर स्वतः उत्पन्न होनेवाले शोथ—स्नेह, स्वेद, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन और शिरोविरेचन के अति या हीन अथवा मिथ्या योग से, इन कर्मों के पीछे अपथ्य से, वमन, अलसक, विषूचिका, श्वास, कास, अतिसार, शोष, पाण्डु रोग, ज्वर, उदर रोग, प्रदर, भगन्दर, अर्श रोग से, संशोधन कर्म से, कुष्ठ, खाज, पिड़का आदि से, छींक, वमन, डकार, शुक्र, वायु और मल के उपस्थित वेगों को रोकने से और संशोधन कर्मों से उत्पन्न रोगों से, उपवास से, शरीर के बहुत कर्षण से, एकदम से बहुत भारी, खट्टे, नमकीन पदार्थों के खाने से, पोठी से बने भोजनों से, फल, शाक, राग (रायता) षाड्व, (खीर आदि), दही, हरी भाजी, मद्य, मन्दक-धीमे पड़े उतरे मद्य को पीने से, अंकुरित अन्न, नवीन अन्न से, शूक धान्य-चावल गेहूँ आदि, शमीधान्य उड़द मूँग आदि, जलचर प्राणियों के मांस के सेवन से, मिट्टी, कीचड़, मिट्टी का ढेला इनके खाने से नमक के अधिक खाने से, गर्भ पर दबाव पड़ने से, गर्भपात से, प्रसव के पश्चात् उचित परिचर्य्या न होने से, दोषों के बढ़ने से शोथ उत्पन्न होता है। ये शरीर जन्य शोथों के सामान्य लक्षण हैं ॥ ४ ॥

अयं त्वत्र विशेषः—शीत-रूक्ष-लघु-विशद-श्रमोपवासातिकर्षण-क्षपणादिभिर्वायुः प्रकुपितस्त्वङ्-मांस-शोणितादीन्यभिभूय शोथं जनयति। स क्षिप्रोत्थापनप्रशमो भवति तथा श्यावारुणवर्णः प्रकृतिवर्णो वा, चलः स्पन्दनः खर-परुष-भिन्न-त्वग्लोमा छिद्यत इव भिद्यत इव पीड्यत

इव सूचीभिरिव तुद्यते पिपीलिकाभिरिव संसृप्यते सर्षप-कल्कावलिप्त इव चिमिचिमायते संकुच्यते आयम्यत इति वातशोथः ॥ ५ ॥

उष्ण-तीक्ष्ण-कटुक-क्षार-लवणाम्लाजीर्ण-भोजनैरग्न्यातप-प्रतापैश्च पित्तं प्रकुपितं त्वङ्मांसशोणितान्यभिभूय शोथं जनयति। स क्षिप्रोत्थानप्रशमो भवति कृष्ण-पीत-नील-ताम्रावभास उष्णो मृदुः कपिल-ताम्र-लोमा उष्यते दूयते दह्यते धूप्यते ऊष्मायते स्विद्यति क्लिद्यते न च स्पर्शमुष्णं वा सुपूयत इति पित्तशोथः ॥ ६ ॥

गुरु-मधुर-शीत-स्निग्धैरतिस्वप्न-व्यायामादिभिश्च श्लेष्मा प्रकुपितः त्वङ्-मांस-शोणितादीन्यभिभूय शोथं जनयति। स कृच्छ्रोत्थानप्रशमो भवति, पाण्डुः श्वेतावभासः स्निग्धः श्लक्ष्णो गुरुः स्थिरः स्त्यानः शुक्लाग्ररोमा स्पर्शोष्णसहश्चेति श्लेष्मशोथः ॥ ७ ॥

यथास्वकारणाकृतिसंसर्गाद् द्विदोषजास्त्रयः शोथा भवन्ति ॥८॥

यथास्वकारणाकृतिसन्निपातात्सान्निपातिक एकः ॥ ९ ॥

एवं भेदप्रकृतिभिस्ताभिर्भिद्यमानो द्विविधस्त्रिविधश्चतुर्विधः सप्तविधश्च शोथ उपलभ्यते, पुनश्चैक एव, उत्सेधसामान्यादिति ॥ १० ॥

इनमें इतना विशेष है कि—शीत, रूक्ष, लघु, विशद अन्न, खानपान, परिश्रम, उपवास, वमन विरेचनादि कर्मों के बहुत करने और उपवास आदि से वायु कुपित होकर त्वचा, मांस, रक्त और मेद आदि, धातुओं पर अधिकार कर शोथ को उत्पन्न करता है। यह वातजन्य शोथ जल्दी ही उत्पन्न होता और जल्दी ही शान्त हो जाता है। इस का रंग काला सा या लाल-काला अथवा स्वाभाविक रंग का रहता है। यह शोथ गतिशील, धड़कन युक्त, कर्कश, कठोर, त्वचा फटती सी जाती है, और बाल टूट जाते हैं। रोगी को ऐसा प्रतीत होता है कि कोई चीरसा रहा हो, भेदन कर रहा हो, दबा रहा हो, सुई चुभाने का सा दर्द होता है, चिऊंटियां सी चलती हैं, सरसों पीसकर लेप करने जैसी चिरमराहट लगती है, सिकुड़ता और फैलता है, यह वातजन्य शोथ के लक्षण हैं।

गरम, तीक्ष्ण, कड़ुवे, क्षार, नमकीन और खट्टे पदार्थों के खाने से, अजीर्ण अवस्था में भोजन करने से, आग और धूप के ताप के बहुत सेवन से, पित्त कुपित होकर त्वचा, मांस, रक्त पर प्रबल होकर शोथ उत्पन्न करता है। यह शोथ जल्दी ही उत्पन्न होता और जल्दी शान्त हो जाता है। इसका रंग काला, पीला, नीला ताम्बे के समान, स्पर्श गरम और कोमल बाल भूरे या ताम्बे के रंग के हो जाते हैं। यह शोथ गरम होता, जलता सा है, पीड़ा देता

है, तपाता है, गरम सा लगता है, पसीना आता है, नरमा जाता है, न तो स्पर्श और न गरमी को सहन करता है। यह पित्तजन्य शोथ है।

भारी, मधुर, शीत, स्निग्ध भोजनों से, बहुत सोने से, व्यायाम न करने से, श्लेष्मा कुपित होकर त्वचा, मांस, रक्त पर अधिकार करके शोथ उत्पन्न करता है। यह शोथ देर में उत्पन्न होता और देर में ही शान्त होता है। इसका रंग धूसर (धुमैला) या श्वेत, चिकना, स्नेहयुक्त, भारी, स्थिर (न हिलने वाला), गाढ़ा, बालों का अग्र भाग श्वेत हो जाता है, स्पर्श को और गरमी को सहन कर लेता है, यह कफशोथ है।

अपने अपने कारणों से दो दोष कुपित होकर दो दोषों के लक्षणों वाले शोथ को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार से संसर्ग जन्य शोथ ३ प्रकार के हैं।

तीनों दोषों के कारणों के मिलने से उत्पन्न सान्निपातिक शोथ एक प्रकार का है, इस में तीनों दोषों के लक्षण होते हैं।

इस प्रकार प्रकृति भेद से शोथ दो प्रकार के (निज और आगन्तु), तीन प्रकार के (वातज, पित्तज, कफज़), चार प्रकार के (वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य, सन्निपातजन्य), सात प्रकार के (वातज, पित्तज, कफज, वातपैत्तिक, वातश्लैष्मिक, पित्तश्लैष्मिक और सान्निपातिक) होते हैं। परन्तु सूजन की दृष्टि से शोथ एक ही प्रकार का है, सूजन का होना सब शोथों में सामान्य है ॥५-१०॥

भवन्ति चात्र—शूयन्ते यस्य गात्राणि स्वपन्तीव रुजन्ति च ।
पीडितान्युन्नमन्त्याशु वातशोथं तमादिशेत् ॥ ११ ॥
यश्चाप्यरुणवर्णाभः शोथो नक्तं प्रणश्यति ।
स्नेहोष्णमर्दनाभ्यां च प्रणश्येत्स च वातिकः ॥ १२ ॥
यः पिपासाज्वरार्त्तस्य दूयतेऽथ विदह्यते ।
स्विद्यते क्लिद्यते गन्धी स पैत्तः श्वयथुः स्मृतः ॥१३॥
यः पीत-नेत्र-वक्त्रत्वक् पूर्वं मध्यात् प्रशूयते ।
तनुत्वक् चातिसारी च पित्तशोथः स उच्यते ॥ १४ ॥
यः शीतलः सक्तगतिः कण्डूमान् पाण्डुरेव च ।
निपीडितो नोन्नमति श्वयथुः स कफात्मकः ॥ १५ ॥
यस्य शस्त्रकुशच्छेदाच्छोणितं न प्रवर्तते ।
कृच्छ्रेण पिच्छान् स्रवति स चापि कफसंभवः ॥ १६ ॥
निदानाकृतिसंसर्गाच्छ्वयथुः स्याद् द्विदोषजः ।
सर्वाकृतिः सन्निपाताच्छोथो व्यामिश्रहेतुजः ॥ १७ ॥

सूजन होने पर जिसका शरीर सोया हुआ, (चेतना, स्पर्श ज्ञान का अभाव) सा प्रतीत हो, पीड़ा होती हो, दबाने पर फिर जल्दी से ऊपर उठ आता हो, उसे वातजन्य शोथ समझना चाहिये और जिस शोथ का रंग लाल, काला हो, जो सूजन रात्रि में नष्ट हो जाती है, एवं स्वेदन, उष्ण क्रिया अथवा मर्दन से हो जाता है, वह वातजन्य शोथ है। जिस शोथ में रोगी को प्यास बहुत लगे, ज्वर की पीड़ा हो, जलन हो, पकता हो, पसीना आता हो, नरम पड़ता हो, गन्ध आती हो, वह पित्तजन्य शोथ है। जिस में कि त्वचा, नेत्र, मुख पीले हो जाते हों, और जो कि प्रथम बीच में से सूजता हो, त्वचा जिसमें पतली हो और रोगी को अतिसार हो तो उसे पित्तजन्य शोथ समझना चाहिये। जो सूजन ठण्डी, पसीना न हो, जो हिले जुले नहीं, जिसमें खाज उठती हो, जिसका रंग धूसर हो, दबाने से फिर ऊपर उठ जाये, वह सूजन कफजन्य है। जिस में कि शस्त्र या कुशा से काटने पर रक्त नहीं बहता, अथवा कठिनाई से थोड़ा थोड़ा चिकना स्राव बहता है, वह सूजन भी कफजन्य है। दो दोषों के कारणों से दो दोषों के लक्षणों वाला संसर्गजन्य (द्विदोषज) शोथ होता है। सब दोषों के मिलने से सब लक्षणों वाला सान्निपातजन्य शोथ होता है ॥ ११-१७ ॥

यस्तु पादाभिनिवृत्तः शोथः सर्वाङ्गगो भवेत्।
जन्तोः स च सुकष्टः स्यात्प्रसृतः स्त्रीमुखाच्च यः ॥ १८ ॥
यश्चापि गुह्यप्रभवः स्त्रियो वा पुरुषस्य वा।
स च कष्टतमो ज्ञेयो यस्य च स्युरुपद्रवाः ॥ १९ ॥

जो सूजन पुरुषों के पांव से आरम्भ करके और स्त्रियों के मुख से प्रारम्भ होकर सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है वह कष्टसाध्य होता है और जो शोथ स्त्री या पुरुष के गुह्य भाग से प्रारम्भ होकर सारे शरीर में फैलता है, अथवा जिस शोथ में उपद्रव हो, वह शोथ तो अति अधिक कष्टसाध्य है ॥ १८-१९ ॥

छर्दिः श्वासोऽरुचिस्तृष्णा ज्वरोऽतीसार एव च।
सप्तकोऽयं सदौर्बल्यः शोथोपद्रवसंग्रहः ॥ २० ॥

उपद्रव—वमन, श्वास, अरुचि, प्यास, ज्वर, अतीसार और निर्बलता संक्षेप में ये सात शोथ के उपद्रव हैं ॥ २० ॥

यस्य श्लेष्मा प्रकुपितो जिह्वामूलेऽवतिष्ठते।
आशु संजनयेच्छोथं जायतेऽस्योपजिह्विका ॥ २१ ॥
यस्य श्लेष्मा प्रकुपितः काकले व्यवतिष्ठते।
आशु संजनयेच्छोफं करोति गलशुण्डिकाम् ॥ २२ ॥

यस्य श्लेष्मा प्रकुपितो गलबाह्येऽवतिष्ठते ।
शनैः संजनयेच्छोथं गलगण्डोऽस्य जायते ॥ २३ ॥
यस्य श्लेष्मा प्रकुपितस्तिष्ठत्यन्तर्गले स्थितः ।
आशु संजनयेच्छोथं जायतेऽस्य गलग्रहः ॥ २४ ॥

उपजिह्विका रोग—जब कफ कुपित होकर जिह्वा की जड़ में एकत्र होकर शोथ उत्पन्न करता है, उसे 'उपजिह्विका' कहते हैं। गलशुण्डिका—जब कफ कुपित होकर काकल गलग्रन्थि का आश्रय लेकर शोथ उत्पन्न करता है, तब इस रोग को 'गलशुण्डिका' कहते हैं। जब कफ कुपित होकर गले के बाहर आकर शोथ उत्पन्न करता है, तब इसे 'गलगण्ड' कहते हैं। यह सूजन बहुत धीरे धीरे होता है। जब कफ कुपित होकर गले के अन्दर रहकर शीघ्र ही सूजन उत्पन्न करता है, उसे 'गलग्रह' (गले का रुक जाना, स्वर का बंट जाना) कहते हैं ॥२१-२४॥

यस्य पित्तं प्रकुपितं सरक्तं त्वचि सर्पति ।
शोथं सरागं जनयेद्विसर्पस्तस्य जायते ॥ २५ ॥
यस्य पित्तं प्रकुपितं त्वचि रक्तेऽवतिष्ठते ।
शोथं सरागं जनयेत् पिडका तस्य जायते ॥ २६ ॥
यस्य पित्तं प्रकुपितं शोणितं प्राप्य शुष्यति ।
तिलका विप्लवो व्यङ्गो नीलिका चास्य जायते ॥ २७ ॥
यस्य पित्तं प्रकुपितं शङ्खयोरवतिष्ठते ।
श्वयथुः शङ्खको नाम दारुणस्तस्य जायते ॥ २८ ॥
यस्य पित्तं प्रकुपितं कर्णमूलेऽवतिष्ठते ।
ज्वरान्ते दुर्जयोऽन्ताय शोथस्तस्योपजायते ॥ २९ ॥

जब पित्त कुपित होकर रक्त के साथ मिलकर त्वचा में फैलता है, तब लाल रंग की सूजन उत्पन्न होती है, इस को 'विसर्प' कहते हैं। जब पित्त कुपित होकर रक्त के साथ त्वचा में स्थिर हो जाता है, तब लाल रंग के उत्पन्न शोथ को 'पिडका' (फुन्सी) कहते हैं। जब कुपित पित्त रक्त में पहुंच कर शुष्क हो जाता है तब नीलिका, तिल, व्यंग, चर्मकील, लसन, झांई आदि रोग होते हैं। जब कुपित पित्त शंखप्रदेश (कनपटी) में आकर रुक जाता है, तब 'शंखक' नाम का भयानक शोथ उत्पन्न होता है। जब कुपित पित्त कान की जड़ में आकर रुक जाता है, तब ज्वर के अन्त में भयंकर सूजन उत्पन्न होती है, यह सूजन मारक होती है ॥२५-२९॥

वातः प्लीहानमुद्धूय कुपितो यस्य तिष्ठति ।
शनैः परितुदन् पार्श्वं प्लीहा तस्याभिवर्धते ॥ ३० ॥
यस्य वायुः प्रकुपितो गुल्मस्थानेऽवतिष्ठते ।
शोथं सशूलं जनयन् गुल्मस्तस्योपजायते ॥ ३१ ॥
यस्य वायुः प्रकुपितः शोथशूलकरश्चरन् ।
वंक्षणाद्वृषणौ याति व्रध्नस्तस्योपजायते ॥ ३२ ॥
यस्य वातः प्रकुपितस्त्वङ्मांसान्तरमाश्रितः ।
शोथं संजनयेत् कुक्षावुदरं तस्य जायते ॥ ३३ ॥
यस्य वातः प्रकुपितः कुक्षिमाश्रित्य तिष्ठति ।
नाधो व्रजति नाप्यूर्ध्वमानाहस्तस्य जायते ॥ ३४ ॥
रोगाश्चोत्सेधसामान्याद्धिमांसार्बुदादयः ।
विशिष्टा नामरूपाभ्यां निर्देश्याः शोथसंग्रहे ॥ ३५ ॥

जब वायु कुपित होकर प्लीहा (तिल्ली) को ऊपर करती है, तब पार्श्वों को धीरे धीरे दबाती हुई प्लीहा बढ़ जाती है। जब वायु कुपित होकर (हृदय, नाभि, बस्ति और दोनों पार्श्व) गुल्म स्थानों का आश्रय ले लेती है तब शूलयुक्त सूजन उत्पन्न होती है, इसे 'गुल्म' कहते हैं। जब वायु कुपित होकर सूजन और दर्द को उत्पन्न करती हुई वंक्षण (जंघासन्धि) प्रदेश से अण्ड कोष में जाती है, तब 'व्रध्न' रोग होता है। जब वायु कुपित होकर त्वचा और मांस के बीच में उदर के अन्दर पहुंचकर आश्रय लेकर शोथ उत्पन्न करती है, तब 'उदर' रोग उत्पन्न हो जाता है। जब वायु कुपित होकर उदर का आश्रय लेकर स्थिर हो जाती है, न तो नीचे जाती है और न ऊपर जाती है, इस को 'आनाह' कहते हैं। अधिमांस, अर्बुद आदि रोग में सूजन की समानता होने से, नाम और रूप से भिन्न होने पर भी इनका इसे शोथसंग्रह में निर्देश करना चाहिये ॥ ३०–३५ ॥

वात-पित्त-कफा यस्य युगपत्कुपितास्त्रयः ।
जिह्वामूलेऽवतिष्ठन्ते विदहन्तः समुच्छ्रिताः ॥ ३६ ॥
जनयन्ति भृशं शोथं वेदनाश्च पृथग्विधाः ।
तं शीघ्रकारिणं रोगं रोहिणीकेति निर्दिशेत् ॥ ३७ ॥
त्रिरात्रं परमं तस्य जन्तोर्भवति जीवितम् ।
कुशलेन त्वनुक्रान्तः क्षिप्रं संपद्यते सुखी ॥ ३८ ॥
सन्ति ह्येवंविधा रोगाः साध्या दारुणसंमताः ।
ये हन्युरनुपक्रान्ता मिथ्याचारेण वा पुनः ॥ ३९ ॥

साध्याश्चाप्यपरे सन्ति व्याधयो मृदुसंमताः ।
यत्नायत्नकृतं येषु कर्म सिध्यत्यसंशयम् ॥ ४०॥
असाध्याश्चापरे सन्ति व्याधयो याप्यसंज्ञिताः ।
सुसाध्वपि कृतं येषु कर्म यात्राकरं भवेत् ॥ ४१ ॥

जिस पुरुष के वात, पित्त, कफ ये तीनों इकट्ठे मिलकर कुपित होकर जिह्वा की जड़ में स्थित होते हैं और जलन और बहुत सूजन उत्पन्न करते हैं, तथा नाना प्रकार की पीड़ायें देते हैं इस शीघ्रकारी रोग को 'रोहिणी' कहते हैं। इस रोग के कारण मनुष्य केवल तीन दिन जीवित रहता है। इस बीच में यदि कुशल वैद्य से शीघ्र चिकित्सा कराई जाये तो मनुष्य बच जाता है। इस प्रकार के बहुत से भयानक परन्तु साध्य रोग हैं, जिनकी चिकित्सा न करने अथवा मिथ्या वा अशुद्ध चिकित्सा करने से मनुष्य मर जाता है। दूसरे कोमल रोग ऐसे सुखसाध्य हैं, जिनमें कि यत्नपूर्वक या अयत्नपूर्वक (योग्य या अयोग्य वैद्य) के चिकित्सा करने से भी निश्चित रूप में आराम होजाते हैं। दूसरे असाध्य रोग हैं, जिनको 'याप्य' कहा है। जिन रोगों में भली प्रकार चिकित्सा करने पर भी जो याप्य रहते हैं, वे कुछ समय के लिये अच्छे हो जाते हैं ॥४१॥

सन्ति चाप्यपरे रोगाः कर्म येषु न सिध्यति ।
अपि यत्नकृतं वैद्येन तान् विद्वानुपाचरेत् ॥ ४२ ॥
साध्याश्चैवाऽप्यसाध्याश्च व्याधयो द्विविधाः स्मृताः ।
मृदु-दारुण भेदेन ते भवन्ति चतुर्विधाः ॥ ४३ ॥

एक और प्रकार के रोग हैं, जिनमें किसी प्रकार की भी चिकित्सा सफल नहीं होती। इन रोगों में मूढ़ लोग ही उत्साह से काम करते हैं, परन्तु विद्वान् इनकी चिकित्सा नहीं करते। रोग दो प्रकार के हैं—'साध्य' और 'असाध्य'। और मृदु और दारुण भेद से (दोनों) चार प्रकार के होजाते हैं। मृदु-साध्य, दारुण-साध्य, मृदु-असाध्य और दारुण-असाध्य ॥ ४२–४३ ॥

त एवापरिसंख्येया भिद्यमाना भवन्ति हि ।
रुजा-वर्ण-समुत्थान-स्थान-संस्थान-नामभिः ॥ ४४ ॥
व्यवस्थाकरणं तेषा यथास्थूलेषु संग्रहः ।
तथा प्रकृतिसामान्यं विकारेषूपदिश्यते ॥ ४५ ॥
विकारनामाकुशलो न जिह्रीयात्कदाचन ।
न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः ॥ ४६ ॥
स एव कुपितो दोषः समुत्थानविशेषतः ।

स्थानान्तरगतश्चैव जनयत्यामयान् बहून् ॥ ४७ ॥
तस्माद्विकारप्रकृतीरधिष्ठानान्तराणि च ।
समुत्थानविशेषांश्च बुद्ध्वा कर्म समाचरेत् ॥ ४८ ॥
यो ह्येतत्त्रिविधं ज्ञात्वा कर्माण्यारभते भिषक् ।
ज्ञानपूर्वं यथान्यायं स कर्मसु न मुह्यति ॥ ४९ ॥

ये रोग रुजा (पीड़ा), वर्ण, समुत्थान अर्थात् कारण (जैसे रूक्ष भोजन या रात्रि जागरण आदि के कारण से वायु कुपित होकर भिन्न चिकित्सा से शान्त होता है), स्थान (आमाशय, रसादि), संस्थान (आकृति गुल्म, अर्बुद आदि), नामभेद इन भेदों के कारण भेद होने से असंख्य बन जाते हैं। चिकित्सा कार्य में व्यवहार करने के लिये स्थूल संग्रह (अष्टोदरीय संग्रह) किया है। इसलिये चिकित्सा कार्य में प्रकृति की समानता से यह रोग वातजन्य, यह पित्तजन्य, यह कफजन्य इत्यादि रोगों की व्यवस्था बांधनी चाहिये। रोगों को नाम से न जानने वाला वैद्य कभी भी चिकित्सा कार्य में लज्जा न उठावे। सब रोगों की नाम द्वारा स्थिति नहीं, (सब रोगों के नाम नहीं) हैं। कोई एक दोष कारण विशेष से कुपित होकर अन्य स्थान पर पहुंचकर नाना प्रकार के रोगों को उत्पन्न कर देता है। इसलिये रोग के स्वभाव को, उस के अधिष्ठान को, उस के भेदों को और रोग के विशेष कारणों को जानकर चिकित्सा कार्य करना चाहिये। जो वैद्य इन तीन बातों को जानकर चिकित्सा का कार्य ज्ञानपूर्वक उचित रूप से करता है, वह चिकित्सा कार्य में मोहित नहीं होता, वह भूल नहीं करता ॥४४–४९॥

नित्याः प्राणभृतां देहे वात-पित्त-कफास्त्रयः ।
विकृताः प्रकृतिस्था वा तान् बुभुत्सेत पण्डितः ॥ ५० ॥
उत्साहोच्छ्वास-निःश्वास-चेष्टा धातुगतिः समा ।
समो मोक्षो गतिमतां वायोः कर्माविकारजम् ॥ ५१ ॥
दर्शनं पक्तिरूष्मा च क्षुत्तृष्णा देहमार्दवम् ।
प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्माविकारजम् ॥ ५२ ॥
स्नेहो बन्धः स्थिरत्वं च गौरवं वृषता बलम् ।
क्षमा धृतिरलोभश्च कफकर्माविकारजम् ॥ ५३ ॥
वाते पित्ते कफे चैव क्षीणे लक्षणमुच्यते ।
कर्मणः प्राकृताद्धानिर्वृद्धिर्वाऽपि विरोधिनाम् ॥ ५४ ॥

दोष-प्रकृति-वैशेष्यं नियतं वृद्धिलक्षणम् ।
दोषाणां प्रकतिर्हानिर्वृद्धिश्चैवं परीक्ष्यते ॥ ५५ ॥ इति ॥

शरीरधारियों के शरीर में वात, पित्त और कफ ये तीनों नित्य सदा रहते हैं। वे या तो विकृत अवस्था में रहते हैं, या प्रकृत अर्थात् स्वाभाविक रूप में रहते हैं। विद्वान् को चाहिये कि वह इन को पहिचाने, जाने कि विकृतावस्था में हैं, या प्रकृतावस्था में। काम करने में उत्साह, सांस का अन्दर और बाहर आना, चेष्टा, रस, रक्त आदि धातुओं की गति को समान रखना, पुरीष, मल-मूत्र आदि गमन शील वस्तुओं को ठीक प्रकार से बाहर करना, ये अविकृत वायु के कर्म हैं। देखना, अन्न का पचन, देहकी, उष्णिमा, भूख प्यास का लगना, शरीर की कोमलता, कान्ति, मन की प्रसन्नता, और बुद्धि का होना ये अविकृत पित्त के कार्य हैं। चिकनाई, सन्धियों का बन्धन, स्थिरता, भारीपन, पुरुषत्व, बल, सहन शक्ति, मन की स्थिरता, धैर्य, लोभ का न होना ये अविकृत कफ के कार्य हैं। वात, पित्त, कफ इन के क्षीण होने पर लक्षण कहते हैं—स्वाभाविक कर्मों में न्यूनता आती है अथवा स्वाभाविक कर्मों के विरोधी कार्यों की वृद्धि होती है (यथा वायु के क्षीण होने पर उत्साह के विपरीत विषाद बढ़ता है, पित्त के क्षीण होने पर नहीं दीखता, कफ के क्षीण होने पर रूक्षता बढ़ती है)। वृद्धि का लक्षण कहते हैं—दोष की प्रकृति (स्वभाव) का वैषम्य (बढ़ना) वृद्धि का लक्षण होता है। यथा—कफ की स्निग्धता, मधुरता और शीतलता यह प्रकृति है, इसका अति स्निग्ध, अति शीत होना वृद्धि है। इस प्रकार दोषों की प्रकृति, हानि और वृद्धि की परीक्षा करनी चाहिये ॥ ५०–५५ ॥

तत्र श्लोकाः ।

संख्यां निमित्तं रूपाणि शोथानां साध्यतां न च ।
तेषां तेषां विकाराणां शोफांस्तांस्तांश्च पूर्वजान् ॥ ५६ ॥
विधिभेदं विकाराणां त्रिविधं बोध्यसंग्रहम् ।
प्राकृतं कर्म दोषाणां लक्षणं हानिवृद्धिषु ॥ ५७ ॥
वीत-राग-रजो-दोष-लोभ-मान-मद-स्पृहः ।
व्याख्यातवांस्त्रिशोफीये रोगाध्याये पुनर्वसुः ॥ ५८ ॥

शोथों की संख्या, कारण, लक्षण, साध्यासाध्य इनसे उत्पन्न रोगों को और जिन रोगों में शोथ प्रथम होता है उनको, रोगों के विधि, भेद से तीन प्रकार की प्रकृति का ज्ञान, दोषों के स्वाभाविक कर्म, वृद्धि और हानि के लक्षण, यह सब

मोह, रज दोष, लोभ, मान, मद, स्पृहा इन से रहित पुनर्वसु महर्षि ने 'त्रिशोथीय' अध्याय में कह दिया ॥५६-५८॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने रोगचतुष्के त्रिशोथीयो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

ऊनविंशोऽध्यायः ।

अथातोऽष्टोदरीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब 'अष्टोदरीय' अध्याय की व्याख्या करेंगे, ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है ।

इह खल्वष्टावुदराणि, अष्टौ मूत्राघाताः, अष्टौ क्षीरदोषाः, अष्टौ रेतोदोषाः, सप्त कुष्ठानि, सप्त पिडकाः, सप्त वीसर्पाः, षडतीसाराः, षडुदावर्ताः, पञ्च गुल्माः, पञ्च प्लीहदोषाः, पञ्च कासाः, पञ्च श्वासाः, पञ्च हिक्काः, पञ्च तृष्णाः, पञ्च छर्दयः, पञ्च भक्तस्यानशनस्थानानि, पञ्च शिरोरोगाः, पञ्च हृद्रोगाः, पञ्च पाण्डुरोगाः, पञ्चोन्मादाः, चत्वारोऽपस्माराः, चत्वारोऽक्षिरोगाः, चत्वारः कर्णरोगाः, चत्वारः प्रतिश्यायाः, चत्वारो मुखरोगाः, चत्वारो ग्रहणीदोषाः, चत्वारो मदाः, चत्वारो मूर्च्छायाः, चत्वारः शोषाः, चत्वारि क्लैब्यानि, त्रयः शोथाः, त्रीणि किलासानि, त्रिविधं लोहितपित्तं, द्वौ ज्वरौ, द्वौ व्रणौ, द्वावायामौ, द्वे गृध्रस्यौ, द्वे कामले, द्विविधमामं, द्विविधं वातरक्तं, द्विविधान्यर्शांसि, एक ऊरुस्तम्भः, एकः संन्यासः, एको महागदः, विंशतिः क्रिमिजातयः, विंशतिः प्रमेहाः, विंशतिर्योनिव्यापदः, इत्यष्टचत्वारिंशद्रोगाधिकरणान्यस्मिन् संग्रहे समुद्दिष्टानि ॥ ३ ॥

इस आयुर्वेद शास्त्र में आठ प्रकार के उदर रोग हैं, आठ मूत्राघात हैं, आठ प्रकार के दूध के दोष, आठ प्रकार के वीर्य दोष । सात प्रकार के कुष्ठ, सात पिडकायें, सात वीसर्प । छः प्रकार के अतीसार, छः उदावर्त्त । पांच गुल्म' पांच प्लीहा के दोष, पांच कास, पांच श्वास, पांच हिचकियां, पांच तृष्णायें, पांच छर्दि-वमन, पांच प्रकार की अन्न में अरुचि, पांच प्रकार के शिरोरोग, पांच हृदय रोग, पांच प्रकार के पाण्डुरोग, पांच उन्माद । चार प्रकार के अपस्मार, चार नेत्ररोग, चार कर्णरोग, चार प्रकार के प्रतिश्याय, चार मुख रोग, चार

प्रकार के ग्रहणी रोग, चार प्रकार के मदरोग, चार प्रकार की मूर्छा, चार प्रकार के शोष, चार प्रकार की क्लीबता तीन प्रकार का शोथ, तीन प्रकार का किलास, तीन प्रकार का रक्तपित्त, दो प्रकार का ज्वर, दो प्रकार के व्रण, दो प्रकार के आयाम, दो प्रकार की गृध्रसी, दो प्रकार का कामला, दो प्रकार की आम, दो प्रकार का वातरक्त, दो प्रकार का अर्श। एक प्रकार का अरुतम्भ, एक प्रकार का संन्यास, एक प्रकार का महामद; बीस प्रकार के कृमिभेद, बीस प्रकार के प्रमेह, बीस प्रकार के योनि रोग, इस प्रकार से इस स्थूल संग्रह में अड़तालीस प्रकार के रोगों की गणना है ॥ ३ ॥

इन को स्पष्ट करके कहते हैं—

एतानि यथोद्देशमभिनिर्देक्ष्यामः—अष्टावुदराणीति वात-पित्त-कफ-सन्निपात प्लीह-बद्ध-च्छिद्र-दकोदराणीति, अष्टौ मूत्राघाता इति वात-पित्त-कफ-सन्निपाताश्मरी-शर्कर-शुक्र-शोणितजा इति, अष्टौ क्षीरदोषा इति वैवर्ण्यं वैगन्ध्यं वैरस्यं पैच्छिल्यं फेनसङ्घातो रौक्ष्यं गौरवमति-स्नेहश्चेति, अष्टौ रेतोदोषा इति तनु शुष्कं फेनिलमश्वेतं पूत्यतिपिच्छिल-मन्यधातूपहितमवसादि चेति ॥ (१) ॥

आठ प्रकार के उदर रोग हैं—वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य, सन्निपातजन्य प्लीहोदर, बद्धोदर, छिद्रोदर और दकोदर ये आठ। आठ मूत्राघात—वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य, सन्निपातजन्य, अश्मरीजन्य, शर्कराजन्य, शुक्रजन्य और शोणितजन्य। स्त्रियों के दूध में आठ प्रकार के दोष हैं—वैवर्ण्य, वैगन्ध्य, वैरस्य, पैच्छिल्य, फेनसङ्घात (झाग का बहुत आना), रौक्ष्य (रूखापन), गौरव (भारीपन पानी में नीचे बैठना) और अति स्नेह (चिकनाई की अधिकता) वीर्य के दोष आठ हैं—तनु (पतला), शुष्क, फेनिल (झागदार), अश्वेत (मैला, धूसर रंग), पूति (दुर्गन्धयुक्त), अति पिच्छिल (बहुत चिकना), अन्य धातु से मिश्रित और अवसादि (हीनसत्त्व) ॥ (१) ॥

सप्त कुष्ठानीति कपालोदुम्बर-मण्डलर्ष्यजिह्व-पुण्डरीक-सिध्म-काक-णकानीति, सप्त पिडका इति शराविका कच्छपिका जालिनी सर्षप्यलजी विनता विद्रधिश्चेति, सप्त वीसर्पा इति वात-पित्त-कफाग्नि-कर्दम-ग्रन्थि-सन्निपाताख्याः ॥ (२) ॥

सात प्रकार के कुष्ठ—कपाल, उदुम्बर, मण्डल, ऋष्यजिह्व, पुण्डरीक, सिध्म और काकणिका। सात पिडकायें—शराविका, कच्छपिका, जालिनी, सर्षपी, अलजी, विनता और विद्रधि। सात विसर्प—वातजन्य, पित्त जन्य, कफजन्य, अग्नि, कर्दमक, ग्रन्थि और सन्निपातजन्य ॥ (२) ॥

षडतीसारा इति वात-पित्त-कफ-सन्निपात-भय-शोकजाः, षडुदावर्ता इति वात-मूत्र-पुरीष शुक्र-च्छर्दि-क्षवथुजाः ॥ (३) ॥

छः अतीसार हैं—वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य, सन्निपातजन्य, भयजन्य और शोकजन्य। छः उदावर्त्त हैं—वातजन्य, मूत्रजन्य, पुरीषजन्य, शुक्रजन्य, छर्दिजन्य और क्षवथुजन्य ॥ (३) ॥

पञ्च गुल्मा इति वात-पित्त-कफ सन्निपात-रक्तजाः। पञ्च प्लीहदोषा इति गुल्मैर्व्याख्याताः। पञ्च कासा इति वात-पित्त-कफ-क्षत-क्षयजाः, पञ्च श्वासा इति महोर्ध्व-च्छिन्न-तमक-क्षुद्राः। पञ्च हिक्का इति महती गम्भीरा व्यपेता क्षुद्रा चान्नजा च। पञ्च तृष्णा इति वात-पित्ताम-क्षयोपसर्गात्मिकाः। पञ्च छर्दय इति द्विष्टार्थसंयोग-वात-पित्त-कफ-सन्निपातोद्रेकात्मिकाः। पञ्च भक्तस्यानशनस्थानानीति वात-पित्त-कफ-द्वेषायासाः, पञ्च शिरोरोगा इति पूर्वोद्देशमभिसमस्य वात-पित्त-कफ-सन्निपात-क्रिमिजाः। पञ्च हृद्रोगा इति शिरोरोगैर्व्याख्याताः। पञ्च पाण्डुरोगा इति वात-पित्त-कफ-सन्निपात-मृद्भक्षणजाः। पञ्चोन्मादा इति वात-पित्त-कफ-सन्निपातागन्तुनिमित्ताः ॥ (४) ॥

पांच गुल्म हैं—वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य, सन्निपातजन्य और रक्त (आर्त्तव) जन्य। पांच प्रकार के प्लीहा दोष—गुल्म के समान (वात, पित्त, कफ, सन्निपात और रक्तजन्य) हैं। पांच प्रकार के कास—वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य, क्षत (उरः क्षत) जन्य और क्षयजन्य। पांच प्रकार के श्वास—महा, ऊर्ध्व, छिन्न, तमक और क्षुद्र। पांच प्रकार की हिक्का (हिचकी)—महती, गम्भीरा, व्यपेता, क्षुद्रा और अन्नजन्य। पांच प्रकार की प्यास (तृषा)—वातजन्य, पित्तजन्य, आमजन्य, क्षयजन्य और औपसर्गिक कारण से होने वाली। वमन भी पांच प्रकार का है—दूषित अन्न के खाने से, वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य और सन्निपात से होने वाला। पांच प्रकार का अपचन—वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य, द्वेष (भोजन से द्वेष) और आयास (भोजन के पीछे सहसा श्रम करने से)। पांच प्रकार के शिरोरोग—('अर्द्धावभेदको वा स्यात्' से आरम्भ करके 'कियन्तः शिरसीय' अध्याय में कह दिये गये हैं)। वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य, सन्निपातजन्य और कृमिजन्य। पांच प्रकार के हृदय रोग—शिरोरोग की भांति हैं। पांच पाण्डुरोग—वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य, सन्निपातजन्य और मिट्टी के खाने से उत्पन्न। पांच प्रकार का उन्माद—वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य, सन्निपात और आगन्तुज कारण से ॥ (४) ॥

चत्वारोऽपस्मारा इति वात-पित्त-कफ-सन्निपात-निमित्तजाः । चत्वारोऽक्षिरोगाः, चत्वारः कर्णरोगाः, चत्वारः प्रतिश्यायाः, चत्वारो मुखरोगाः, चत्वारो ग्रहणीदोषाः, चत्वारो मदाः, चत्वारो मूर्च्छाया इत्यपस्मारैर्व्याख्याताः । चत्वारः शोषा इति साहस-संधारण-क्षय-विषमाशनजाः, चत्वारि क्लैब्यानीति बीजोपघाताद्ध्वजभङ्गाज्जराया: शुक्रक्षयाच्च ॥ (५) ॥

चार अपस्मार—वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य और सन्निपातजन्य। चार आंख के और चार कान के रोग, चार प्रतिश्याय, चार मुखरोग चार ग्रहणी दोष, चार मद, चार मूर्च्छायें, ये अपस्मार के समान (वात, पित्त, कफ और सन्निपातजन्य) हैं । चार प्रकार का शोष, साहस, सन्धारण (मल-मूत्र के उपस्थित वेगों का रोकना) क्षय तथा विषम भोजनजन्य । चार प्रकार की नपुंसकता—बीज के (वीर्य के) दोष से, ध्वज (साधन) के दोषसे, जरा (बुढ़ापे) से और शुक्र के क्षय के कारण ॥ (५) ॥

त्रयः शोथा इति वात-पित्त-श्लेष्म-निमित्ताः, त्रीणि किलासानीति रक्त-ताम्र-शुक्लानि, त्रिविधं लोहित-पित्तमित्यूर्ध्वभागमधोभागमुभयभागं च ॥ (६) ॥

शोथ तीन प्रकार का—वातजन्य, पित्तजन्य और कफजन्य । तीन प्रकार के किलास—रक्त (लाल), ताम्र और शुक्ल (श्वेत) । तीन प्रकार का रक्तपित्त उर्ध्वगामि, अधोगामि और उभयगामि (ऊर्ध्व एवं अधः दोनों मार्गों से जाने वाला) ॥ (६) ॥

द्वौ ज्वराविति उष्णाभिप्रायः शीतसमुत्थश्च शीताभिप्रायश्चोष्णसमुत्थ,ः द्वौ व्रणौ इति निजश्चागन्तुजश्च, द्वावायामाविति बाह्यश्चाभ्यन्तरश्च, द्वे गृध्रस्याविति वाताद्वातकफाच्च, द्वे कामले इति कोष्ठाश्रया शाखाश्रया च, द्विविधमाममित्यलसको विसूचिका च, द्विविधं वातरक्तमिति गम्भीरमुत्तानं च, द्विविधान्यर्शांसीति शुष्काण्यार्द्राणि च ॥ (७) ॥

ज्वर दो प्रकार का—शीत से उत्पन्न हुआ, जिसमें उष्ण उपचार की इच्छा हो, यह एक प्रकार का, उष्णिमा से उत्पन्न हुआ जिसमें शीत उपचार की इच्छा हो, यह दूसरी प्रकार का । व्रण दो प्रकार के—निज (शारीरिक) और आगन्तुज (बाह्य कारण से) दो आयाम—बाह्य और आभ्यन्तर । दो प्रकार का गृध्रसी रोग—वातजन्य और वात-कफजन्य । कामला दो प्रकार का—कोष्ठाश्रित और शाखाश्रित । आम दो प्रकार का—अलसक और विसूचिका (हैजा) । वातरक्त दो

प्रकार का—गम्भीर और उत्तान (त्वचा के पृष्ठवृत्ति), अर्श दो प्रकार के—शुष्क और आर्द्र ॥ ७ ॥

एक ऊरुस्तम्भ इति आमत्रिदोषसमुत्थानः, एकः संन्यास इति त्रिदोषात्मको मनःशरीराधिष्ठानसमुत्थः, एको महागद इति अतत्त्वाभिनिवेशः ॥ (८) ॥

ऊरुस्तम्भ एक प्रकार का—आम-दोषमिश्रित त्रिदोष जन्य। संन्यास एक प्रकार का त्रिदोषजन्य, मन और शरीर में आश्रित। महागद एक प्रकार का अतत्त्वाभिनिवेश अर्थात् यथार्थ तत्त्व का न जानना यह मन का विकार है है और संसार के सब दुःखों का कारण है ॥ ८ ॥

विंशतिः क्रिमिजातय इति यूकाः पिपीलिकाश्चेति द्विविधा बहिर्मलजाः, केशादाः लोमादा लोमद्वीपाः सौरसा औदुम्बरा जन्तुमातरश्चेति षट्शोणितजाः,अन्त्रादा उदरादा हृदयदराश्चुरवो दर्भपुष्पाः सौगन्धिका महागुदाश्चेति सप्त कफजाः, ककेरुका मकेरुका लेलिहाः सशूलकाः सौसुरादाश्चेति पञ्च पुरीषजा इति विंशतिः क्रिमिजातयः। विंशतिः प्रमेहा इति उदकमेहश्चेक्षुरसमेहश्च सान्द्रमेहश्च सान्द्रप्रसादमेहश्च शुक्लमेहश्च शुक्रमेहश्च शीतमेहश्च शनैर्मेहश्च सिकतामेहश्च लालामेहश्चेति दश श्लेष्मनिमित्ताः, क्षारमेहश्च कालमेहश्च नीलमेहश्च लोहितमेहश्च माञ्जिष्ठामेहश्च हरिद्रामेहश्चेति षट् पित्तनिमित्ताः, वसामेहश्च मज्जमेहश्च हस्तिमेहश्च मधुमेहश्चेति चत्वारो वातनिमित्ता इति विंशतिः प्रमेहाः। विंशतिर्योनिव्यापद इति वातिकी पैत्तिकी श्लैष्मिकी सान्निपातिकी चेति चतस्रः, दोष-दूष्य-संसर्ग-प्रकृति-निर्देशैरवशिष्टाः षोडश निर्दिश्यन्ते, तद्यथा—रक्तयोनिश्चारजस्का चाचरणा चातिचरणा च प्राक्चरणा चोपप्लुता चोदावर्तिनी च कर्णिनी च पुत्रघ्नी चान्तर्मुखी च सूचीमुखी च शुष्का च वामिनी च षण्डयोनिश्च महायोनिश्चेति विंशतिर्योनिव्यापदः। केवलश्चायमुद्देशो यथोद्देशमभिनिर्दिष्ट इति ॥ ९ ॥

कृमियों की जातियां बीस प्रकार की हैं, यथा—यूक (जूं) और पिपीलिकाएं (लीख) ये दो प्रकार के कृमि बाह्य मल (पसीने आदि) से उत्पन्न होते हैं। केशाद लोमाद, लोमद्वीप, सौरस, औदुम्बर और जन्तुमाता ये छः रक्तजन्य, अन्त्राद, उदराद, हृदयचर, चुरु, दर्भपुष्प, सौगन्धिक, महागुद ये सात कफजन्य, ककेरुक, मकेरुक, लेलिह, सशूलक, और सौसुराद ये पांच पुरीषजन्य हैं। ये बीस प्रकार के कृमि हैं।

प्रमेह बीस प्रकार के हैं। शुक्लमेह, शुक्रमेह, शीतमेह, शनैर्मेह, सिकतामेह, लालामेह, उदकमेह, इक्षुमेह, सान्द्रमेह, सान्द्रप्रसादमेह ये दस प्रमेह कफजन्य, क्षारमेह, कालमेह, नीलमेह, लोहितामेह, मंजिष्ठामेह, हरिद्रामेह ये छः प्रमेह पित्तजन्य, वसामेह, मज्जामेह, हस्तिमेह और मधुमेह ये चार प्रमेह वातजन्य हैं। इस प्रकार से बीस प्रकार के प्रमेह हैं। योनिरोग बीस प्रकार के यथा वातिकी, पैत्तिकी, श्लैष्मिकी और सान्निपातिकी ये चार और बाकी सोलह दोषवातादि, दूष्य रक्तादि इनके संसर्ग से तथा प्रकृति निर्देश से होते हैं यथा—रक्तयोनि, अरजस्का, अचरणा, अतिचरणा, प्राक्चरणा, उपप्लुता, परिप्लुता, उदावर्तिनी, कर्णिनी, पुत्रघ्नी, अन्तर्मुखी, सूचीमुखी, शुष्का, वामिनी, षण्डयोनि और महायोनि ये बीस प्रकार के योनिरोग हैं। यहां पर केवल रोगों को नाम गणना ही की गई है, आगे विस्तार से यथास्थान कहेंगे ॥ ४ ॥

सर्वएव विकारा निजा नान्यत्र वातपित्तकफेभ्यो निर्वर्तन्ते, यथा हि शकुनिः सर्वं दिवसमपि परिपतन् स्वां छायां नातिवर्तते, तथा स्वधातुवैषम्यनिमित्ताः सर्वविकारा वातपित्तकफान्नातिवर्तन्ते, वातपित्तश्लेष्मणां पुनः स्थान-संस्थान-प्रकृति-विशेषानभिसमीक्ष्य तदात्मकानपि च सर्वविकारांस्तानेवोपदिशन्ति बुद्धिमन्त इति ॥ ५ ॥

कहे या न कहे हुए सब प्रकार के रोग (शारीरिक रोग) वात पित्त कफ को छोड़कर नहीं हो सकते। वातपित्त कफ के कारण ही सब शारीरिक रोग होते हैं। जिस प्रकार कि सारे दिन भर उड़ता रहने पर भी पक्षी अपनी छाया का अतिक्रमण (उल्लंघन) नहीं कर सकता, उसी प्रकार शरीर के धातुओं की विषमता से उत्पन्न होनेवाले सब रोग वात पित्त और कफ को नहीं छोड़ सकते। वात, पित्त और कफ ही स्थान (रसादि बस्ति आदि), संस्थान (आकृति लक्षण), प्रकृति (कारण) इनकी विशेषताओं को देखकर, एवं वातादि जन्य सब विकारों को इन्हीं से उत्पन्न उक्त बुद्धिमान् कहते हैं ॥ ५ ॥

भवतश्चात्र—

स्वधातुवैषम्यनिमित्तजा ये विकारसङ्घा बहवः शरीरे।
न ते पृथक् पित्तकफानिलेभ्य आगन्तवस्त्वेव ततो विशिष्टाः ॥६॥
आगन्तुरन्वेति निजं विकारं निजस्तथाऽऽगन्तुमपि प्रवृद्धः।
तत्रानुबन्धं प्रकृतिं च सम्यक् ज्ञात्वा ततः कर्म समारभेत ॥७॥

प्रायः जितने रोग शरीर के अन्दर शरीर की धातुओं की विषमता से उत्पन्न होते हैं, वे पित्त, कफ और वायु से पृथक् नहीं होते। आगन्तुक रोग इन वात पित्त, कफ से पृथक् हैं।

निज (स्वतःशरीर में उत्पन्न हुए) रोग को आगन्तुज रोग अनुयान करता है। इसी प्रकार आगन्तुज (अभिघातजन्य) रोग के पीछे (कारण को लेकर), निज (अर्थात् शारीरिक लक्षणोंसे लक्षित) रोग भी हो जाता है। जैसे चोट लगने के पीछे ज्वर हो जाता है इसलिये अनुबन्धन (अप्रधान, मुख्य) और प्रकृति (मूल कारण को भली प्रकार जानकर चिकित्साकर्म आरम्भ करना चाहिये ॥ ६–७॥

तत्र श्लोकौ—विंशकाश्चैककाश्चैव त्रिकाश्चोक्तास्त्रयस्त्रयः।
द्विकाश्चाष्टौ चतुष्काश्च दश द्वादश पञ्चकाः ॥ ८ ॥
चत्वारश्चाष्टका वर्गाः षट्कौ द्वौ सप्तकास्त्रयः।
अष्टोदरीये रोगाणामध्याये संप्रकाशिताः ॥ ९ ॥

इस 'अष्टोदरीय' नामक अध्याय में बीस प्रकार के तीन, एक प्रकार के तीन, तीन प्रकार के तीन, दो प्रकार के आठ, चार प्रकार के दस, बारह प्रकार के पांच, चार प्रकार के आठ छः प्रकार के दो और सात प्रकार के तीन रोग कहे हैं ।।८–९।।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने रोगचतुष्के
अष्टोदरीयो नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

विंशोऽध्यायः।

अथातो महारोगाध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब इसके आगे महारोगाध्याय नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे– जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥२॥

चत्वारो रोगा भवन्ति—आगन्तु-वात-पित्त-श्लेष्म-निमित्ताः। तेषां चतुर्णामपि रोगाणां रोगत्वमेकविधं, रुक्सामान्यात्। द्विविधा पुनः प्रकृतिरेषां, आगन्तु-निज-विभागात्। द्विविधं चैषामधिष्ठानं, मनःशरीर-विशेषात्। विकाराः पुनरेषामपरिसंख्येयाः, प्रकृत्यधिष्ठान-लिङ्गायतन-विकल्प-विशेषात्, तेषामपरिसंख्येयत्वात् ॥ ३ ॥

मुखानि तु खल्वागन्तोर्नख-दशन-पतनाभिचाराभिशापभिषङ्ग-व्यध-बन्ध-पीडनरज्जु-दहन-मन्त्राशनि-भूतोपसर्गादीनि, निजस्य तु मुखं वात-पित्तश्लेष्मणां वैषम्यम् ॥ ४ ॥

द्वयोस्तु खल्वागन्तुनिजयोः प्रेरणमसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः, प्रज्ञापराधः, परिणामश्चेति ॥ ५ ॥

सर्वेऽपि तु खल्वेतेऽभिप्रवृद्धाश्चत्वारो रोगाः परस्परमनुबध्नन्ति, न चान्योन्यसंदेहमापद्यन्ते ॥ ६ ॥

आगन्तुर्हि व्यथापूर्वसमुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यमापादयति, निजे तु वातपित्तश्लेष्माणः पूर्वं वैषम्यमापद्यन्ते, जघन्यं व्यथामभिनिर्वर्तयन्ति ॥ ७ ॥

तेषां त्रयाणामपि दोषाणां शरीरे स्थानविभाग उपदेक्ष्यते, तद्यथा—बस्तिः पुरीषाधानं कटिः सक्थिनी पादावस्थीनि च वातस्थानानि, तत्रापि पक्वाशयो विशेषेण वातस्थानं, स्वेदो रसो लसीका रुधिरमामाशयश्च पित्तस्थानानि, तत्राप्यामाशयो विशेषेण पित्तस्थानं, उरः शिरो ग्रीवा पर्वाण्यामाशयो मेदश्च श्लेष्मणः स्थानानि, तत्राप्युरो विशेषेण श्लेष्मणः स्थानम् ॥ ८ ॥

सर्वशरीरचरास्तु वातपित्तश्लेष्माणो हि सर्वस्मिन् शरीरे कुपिताकुपिताः शुभाशुभानि कुर्वन्ति—प्रकृतिभूताः शुभान्युपचय-बल-वर्ण-प्रसादादीनि, अशुभानि पुनर्विकृतिमापन्नानि विकारसंज्ञकानि ॥ ९ ॥

तत्र विकारः—सामान्यजा, नानात्मजाश्च । तत्र सामान्यजाः पूर्वमष्टोदरीये व्याख्याताः, नानात्मजांस्त्विहाध्यायेऽनुव्याख्यास्यामः, तद्यथा—अशीतिर्वातविकाराः, चत्वारिंशत्पित्तविकाराः विंशतिः श्लेष्मविकाराः ॥ १० ॥

रोग चार प्रकार के हैं आगन्तुज, वात, पित्त, कफजन्य, । इन चारों में ही रुक्-पीड़ा सामान्य है, इसलिये एक प्रकार है, वेदना की समानता होने से । इन चारों प्रकार के रोगों की प्रकृति दो प्रकार की है; आगन्तुज और निज शरीर में उत्पन्न होने वाले । इन रोगों के अधिष्ठान, आश्रय दो प्रकार के हैं, मन और शरीर । किन्तु रोग असंख्य है । क्योंकि प्रकृति, कारण नाम आदि अधिष्ठान (दूष्य, रस, रक्तादि), लिंग (लक्षण), आयतन (बाह्य हेतु—दुष्ट आहार-बिहार) इनके भेद असंख्य हैं । इसलिये रोग भी अगणित प्रकार के हो जाते हैं । आगन्तुज रोगों के मुख्य कारण दान्त का लगना, गिरना, अभिचार (मारण आदि), अभिशाप—शाप देना, अभिषङ्ग, अभिघात (चोट का लगना) वध (मारना), बन्धन (बाँधना), दबाना, रस्सी से बांधना, जलाना, शस्त्र का लगना, बिजली का गिरना, वे सूक्ष्मभूत तत्त्व के उपद्रव के कारण हैं । जिन शारीरिक जन्य रोगों के मुख्य कारण वात,

पित्त और कफ की विषमता है। इन दोनों (आगन्तुज और निज) प्रकार के रोगों का मूल प्रेरक (प्रवृत्ति का) कारण असात्म्येन्द्रियार्थ-संयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम है। ये चारों प्रकार के रोग बढ़कर परस्पर एक दूसरे में मिल जाते हैं। परन्तु तो भी सन्देह को उत्पन्न नहीं करते। परस्पर मिलने पर भी लक्षण पृथक् पृथक् दीख पड़ते हैं। आगन्तुज रोग प्रथम शरीर के अन्दर पीड़ा को उत्पन्न करता है और पीछे से वात, पित्त और कफ की विषमता को उत्पन्न करता है। निज रोग प्रथम वात, पित्त, कफ की विषमता को उत्पन्न करते हैं और फिर पीछे से पीड़ा को उत्पन्न करते हैं। तीनों ही दोषों का शरीर में स्थान विभाग कहते हैं—यथा–वस्ति (मूत्राशय), पुरीषाधान (पक्काशय), कटि (कमर), सक्थिएं (जंघायें) और पांव की अस्थियां ये वायु के [1]स्थान हैं। इनमें भी पक्काशय विशेष करके वायु का स्थान है। पसीना, रस, लसीका, रुधिर और आमाशय (का निचला भाग) ये पित्त के स्थान हैं। इनमें भी आमाशय मुख्य करके पित्त का स्थान है। छाती, शिर, ग्रीवा, व सन्धियां, आमाशय का (ऊपर का भाग) और मेद, ये कफ के स्थान हैं। इनमें भी छाती विशेष करके कफ का स्थान है[2]। ये वात, पित्त, कफ तीनों दोष सम्पूर्ण शरीर में गति करते हैं, और गति करते हुए कुपित या अकुपित अवस्था में रहकर सम्पूर्ण शरीर में शुभ या अशुभ लक्षणों को उत्पन्न करते हैं। यथा—प्रकृतिभूत स्वस्थरूप में रहकर शुभ लक्षणों को, यथा—उपचय (शरीर की पुष्टि), बल-कान्ति की वृद्धि, वर्ण (कान्ति) की उज्ज्वलता और विकृत (कुपित रूप) अशुभ लक्षणों (रोगों) को उत्पन्न करते हैं। विकार (रोग) दो प्रकार के हैं—सामान्य और नानात्मज। सामान्य–वातादि दोष प्रत्येक मिलकर जो रोग उत्पन्न करते हैं। नानात्मज—जब वातादि दोष परस्पर न मिल कर स्वतन्त्ररूप से रोग उत्पन्न करते हैं। इनमें सामान्यज रोग पहिले 'अष्टोदरीय' अध्याय में कह दिये हैं और नानात्मज रोगों का इस अध्याय में वर्णन करेंगे। यथा–अस्सी प्रकार के वात रोग, चालीस प्रकार के पित्तरोग और बीस प्रकार के कफ रोग हैं॥ ३–१०॥

तत्राऽऽदौ वातविकाराननुव्याख्यास्यामः, तद्यथा—नखभेदश्च, विपादिका च, पादशूलं च, पादभ्रंशश्च, पादसुप्तता च, वातखुड्डता च,

१ प्राण अपान भेद से वायु के स्थान अन्यत्र कहेंगे। यहां पर बताये हुए स्थानों में इन दोषों के विकार प्रायः करके होते हैं, अतः इनकी गणना की है।

२ आमाशय के ऊर्ध्वभाग में पित्त और अधोभाग में कफ का स्थान है।

गुल्फग्रहश्च, पिण्डिकोद्वेष्टनं च, गृध्रसी च, जानुभेदश्च, जानुविश्लेषश्च, ऊरुस्तम्भश्च, ऊरुसादश्च, पाङ्गुल्यं च, गुदभ्रंशश्च, गुदार्तिश्च, वृषणोत्क्षेपश्च, शेफःस्तम्भश्च, वङ्क्षणानाहश्च, श्रोणिभेदश्च, विड्भेदश्च, उदावर्तश्च, खञ्जत्वं च, [कुब्जत्वं च,] वामनत्वं च, त्रिकग्रहश्च, पृष्ठग्रहश्च, पार्श्वावमर्दश्च, उदरावेष्टश्च, हृन्मोहश्च, हृद्द्रवश्च, वक्ष-उद्धर्षश्च, वक्षउपरोधश्च, (वक्षस्तोदश्च,) बाहुशोषश्च ग्रीवास्तम्भश्च, मन्यास्तम्भश्च, कण्ठोद्ध्वंसश्च, हनुस्तम्भश्च, ओष्ठभेदश्च, (अक्षिभेदश्च,) दन्तभेदश्च, दन्तशैथिल्यं च, मूकत्वं च (गद्गदत्वं च,) वाक्सङ्गश्च, कषायास्यता च, मुखशोषश्च, अरसज्ञता च, [अगन्धज्ञता च, घ्राणनाशश्च,] कर्णशूलं च, अशब्दश्रवणं च, उच्चैःश्रुतिश्च, बाधिर्यं च, वर्त्मस्तम्भश्च, वर्त्मसंकोचश्च, तिमिरं च, अक्षिशूलं च, अक्षिव्युदासश्च, भ्रूव्युदासश्च, शङ्खभेदश्च, ललाटभेदश्च, शिरोरुक् च, केशभूमिस्फुटनं च, अर्दितं च, एकाङ्गरोगश्च, सर्वाङ्गरोगश्च, [पक्षवधश्च,] आक्षेपकश्च दण्डकश्च, श्रमश्च, भ्रमश्च, वेपथुश्च, जृम्भा च, विषादश्च, (हिक्का च), अतिप्रलापश्च, ग्लानिश्च, रौक्ष्यं च, पारुष्यं च, श्यावारुणावभासता च, अस्वप्नश्च, अनवस्थितत्वं चेत्यशीतिर्वातविकारा वातविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याताः ॥ ११ ॥

सबसे प्रथम वात रोगों को कहते हैं। यथा—नखों का टूटना, विपादिका (पांव का फटना), पादशूल (पांव की वेदना), पादभ्रंश, पादसुप्तता (पांव का सोना, ज्ञानशून्यता), वातखुड्डुका, गुल्फग्रह; पिण्डिकोद्वेष्टन (पिण्डलियों में ऐंठन), गृध्रसी, जानुभेद और जानु विश्लेष, ऊरुस्तम्भ, ऊरुसाद, पंगुता, गुदभ्रंश, गुदार्ति, वृषणोत्क्षेप (अंडकोश का ऊपर खींचना) शेफस्तम्भ (शिश्न में अकड़ाहट रहना), वंक्षण में आनाह, श्रोणिभेद (नितम्बों का फटना), विड्भेद (मलभेद), उदावर्त्त, खञ्जत्व (लंगड़ापन), कुब्जत्व (कुबड़ापन), वामनत्व (नाटापन), त्रिकग्रह, पृष्ठग्रह. पार्श्वावमर्द (पसलियों की पीड़ा), उदरावेष्टन (पेट में ऐंठन), हृन्मोह (हृदय की मूर्छा), हृद्द्राव (हृदय का द्रवित या धड़कन अधिक होना) वक्षः-उद्धर्ष (छाती में पीड़ा), वक्षोपरोध (छाती का रुकजाना), बाहुशोष (भुजा का सूखना), ग्रीवास्तम्भ (ग्रीवा का अकड़ना), मन्यास्तम्भ (घाड़ की अकड़ाहट), कण्ठोद्ध्वंस (स्वरभंग), हनुस्तम्भ (मुख का, जबाड़ों का खुला रहना), ओष्ठभेद (ओष्ठ की विदीर्णता) दन्तभेद (दांतों का टूटना), दन्तशैथिल्य (दांतों की शिथिलता), मूकत्व (गूंगापन), वाक्संग (वाणी का रुकना), मुख का कसैलापन, मुख की

शुष्कता, स्वाद का ज्ञान न होना, गन्धज्ञान का अभाव, घ्राणशक्ति का अभाव, घ्राणशक्ति का नाश होना, कान में वेदना, शब्द का सुनाई न देना, ऊंचा सुनाई देना, बहरापन, पलकों का स्तम्भ, पलकों का संकुचित होना, शंख, कनपटी का फटना, माथे का फटना, शिरोवेदना, बालों की भूमि का फटना, अर्दित वात, एकांग रोग, सर्वांग रोग, पक्षवध (पक्षाघात) आक्षेपक, दण्डापतनक, थकान, चक्कर आना, कम्पन, जम्भाई, विषाद, चिन्ता, बहुत प्रलाप, ग्लानि, रूक्षता, कर्कशता, लाल लाल रङ्ग की चमक, नींद का न आना, तिमिर (काच रोग), आँख में वेदना, आंख का पलटना, भ्रुवों का संकुचित होना और चित्त की अनवस्थितता, चंचलता (अस्थिरता) ये अस्सी वात विकार हैं। वात विकार असंख्य हैं—यहां पर प्रधान प्रधान वात रोगों की गणना की है ॥ ११ ॥

सर्वेष्वपि खल्वेतेषु वातविकारेषूक्तेष्वन्येषु चानुक्तेषु वायोरिदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षणं, यदुपलभ्य तदवयवं वा विमुक्तसंदेहा वातविकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशलाः, तद्यथा—रौक्ष्यं लाघवं वैशद्यं शैत्यं गतिरमूर्तत्वं चेति वायोरात्मरूपाणि, एवंविधत्वाच्च कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशतः; तद्यथा—स्रंस-भ्रंश-व्यास-सङ्ग-भेद-साद-हर्ष-तर्ष-वर्त-मर्द-कम्प-चाल-तोद-व्यथा-चेष्टादीनि, तथा खर-परुष-विशद-सुषिर-तारुण-कषाय-विरस-मुखशोष-शूल-सुप्ति-संकुचन-स्तम्भन-खञ्जतादीनि च वायोः कर्माणि, तैरन्वितं वातविकारमेवाध्यवस्येत् ॥ १२ ॥

तं मधुराम्ल-लवण-स्निग्धोष्णैरुपक्रमेत स्नेहस्वेदास्थापनानुवासननस्तःकर्मभोजनाभ्यङ्गोत्सादन-परिषेकादिभिर्वातहरैर्मात्रां कालं च प्रमाणीकृत्य; आस्थापनानुवासनं तु खलु सर्वोपक्रमेभ्यो वाते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः, तद्ध्यादित एव पक्वाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं वातमूलं छिनत्ति, तत्रावजिते वातेऽपि शरीरान्तर्गता वातविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथा वनस्पतेर्मूले छिन्ने स्कन्धशाखावरोहकुसुमफलपलाशादीनां नियतो विनाशस्तद्वत् ॥ १३ ॥

इन सब यहां पर कहे या न कहे हुए वातविकारों में वायु के अपने स्वाभाविक (अन्य उपाधि से न हुए) कर्मों से, तथा अपने लक्षणों से वायु को पहिचान कर वात के एक भाग को देखकर सन्देह रहित होकर कुशल चिकित्सक वात रोग ही है ऐसा पहिचानते हैं। वे ये हैं यथा—रूक्षता, लघुता

(हल्कापन) विशदता, शीतलता, गति, अमूर्त्तत्व (अदृश्यत्व), ये वायु के स्वरूप हैं । वायु के कर्मों से पहिचान—शरीर के जिस जिस अवयव में वायु आश्रय लेती है, वहां पर स्रंस (खिसकना), भ्रंश (दूर खिसकना), विस्तार, अवसन्नता, हर्ष, त्रास, मर्दन की पीड़ा, आवर्त्तन, हिलने की चुभने की पीड़ा, चेष्टा आदि कम्पन, कर्कशता, कठोरता, पृथक्करण, छेद करना, लाल रंग, कषाय रस, मुख की विरसता, मुख का शुष्क होना, दर्द, शून्यता, संकोच, स्तम्भन, खञ्जत्व (लंगड़ापन) आदि वायु के काम हैं । इन लक्षणों वाले को वातरोग ही जानना चाहिये। इस वायु की मधुर, अम्ल, लवण, स्निग्ध, उष्ण क्रियाओं से चिकित्सा करनी चाहिये । स्नेहन, स्वेदन, आस्थापन, अनुवासन, नस्य कर्म, भोजन, मर्दन, उबटन लगाना, परिषेक-स्नान आदि वातनाशक कर्मों को मात्रा और काल का विचार करके प्रयोग करना चाहिये । इन सब कर्मों में वैद्य लोग आस्थापन और अनुवासन (बस्ति) को ही सब से श्रेष्ठ उपाय वायु के लिये मानते हैं। यह शीघ्रता से पक्वाशय में पहुंचकर सम्पूर्ण रोगों को उत्पन्न करने वाले वायु को जड़ से नष्ट कर देती है । ऐसी अवस्था में वायु के पूर्ण शान्त न होने पर भी शरीर के अन्दर के वायुरोग शान्त हो जाते हैं, जैसे—वनस्पतियों के जड़ के कट जाने पर लता, शाखा, अंकुर, फल, फूल पत्ते आदि का नाश अवश्यम्भावी है ॥ १२-१३ ॥

पित्तविकाराश्चत्वारिंशदत ऊर्ध्वं व्याख्यास्यन्ते; तद्यथा—ओषश्च, प्लोषश्च, दाहश्च, दवथुश्च, धूमकश्च, अम्लकश्च, विदाहश्च, अन्तर्दाहश्च, [अङ्गदाहश्च], ऊष्माधिक्यं च, अतिस्वेदश्च, [अङ्गस्वेदश्च,] अङ्गगन्धश्च, अङ्गावदरणं च, शोणितक्लेदश्च, मांसक्लेदश्च, त्वग्दाहश्च, मांसदाहश्च, त्वगवदरणं च, चर्मावदरणं च, रक्तकोठाश्च, (रक्तविस्फोटाश्च,) रक्तपित्तं च, रक्तमण्डलानि च, हरितत्वं च, हारिद्रत्वं च, नीलिका च, कक्षा च, कामला च, तिक्तास्यता च, (लोहितगन्धास्यता च,) पूतिमुखता च, तृष्णाया आधिक्यं च, अतृप्तिश्च. आस्यपाकश्च, गलपाकश्च, अक्षिपाकश्च, गुदपाकश्च, मेढ्रपाकश्च, जीवादानं च, तमःप्रवेशश्च, हरित-हारिद्र-मूत्र-नेत्र-वर्चस्त्वं चेति चत्वारिंशत्पित्तविकाराः पित्तविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याता भवन्ति ॥१४॥

इसके आगे पित्तजन्य, विकारों की व्याख्या करते हैं—पित्त विकार—ओष (पास में रखी अग्नि की आंच), प्लोष (जलने के समान जलन), दाह (जलना), दवथु (सब अंगों में जलने के समान धक्-धक् होना), धूमक (धूयें जैसा वमन आना), खट्टास, जलन, शरीर के अन्दर दाह, अंगों में दाह, गरमी

की अधिकता, पसीने का अधिक आना, अंगों (बगल आदि) में पसीना आना, अंगों से दुर्गन्ध आना, अंगों का फटना, रक्त में क्लिन्नता (बदबू) आना, मांस की क्लिन्नता, त्वचा का जलना, मांस की जलन, त्वचा और मांस का फटना, त्वचा के ऊपर के चर्म का फटना, लाल-लाल फुन्सियां (बेर के कांटे के समान), रक्तपित्त (रक्तस्राव), लाल-लाल धब्बे चकत्ते, हरा रंग हल्दी का सा पीला रंग, नीलिका (झांई), कक्ष्या (बगल का मांस फटना), कामला मुख की कटुता, मुख से दुर्गन्ध आना, प्यास का अधिक लगना, भोजन में अतृप्ति, मुख का पकना, गले का पकना, आंख का पकना, गुदा का पकना शिश्न का पकना, प्राणों का नाश, और आंखों के सामने अन्धेरा रहना, मल-मूत्र और आंख का हरा या पीला होना, ये चालीस पित्तजन्य रोग हैं। पित्त विकार असंख्य हैं, यहां पर मुख्य रोगों की गणना की गई है ॥ १४ ॥

सर्वेष्वपि खल्वेतेषु पित्तविकारेष्वन्येषु चानुक्तेषु पित्तस्येदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षणं, यदुपलभ्य तदवयवं वा विमुक्तसंदेहाः पित्तविकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशलाः। तद्यथा औष्ण्यं तैक्ष्ण्यं लाघवमनतिस्नेहो वर्णश्च शुक्लारुणवर्जो गन्धश्च विस्रो रसौ च कटुकाम्लौ पित्तस्याऽऽत्मरूपाणि, एवंविधत्वाच्च कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति। तं तं शरीरावयवमाविशतः। तद्यथा—दाहौष्ण्यपाक-स्वेद-क्लेद-कोथ-स्राव-रागा यथास्वं च गन्ध-वर्ण-रसाभिनिर्वर्तनं पित्तस्य कर्माणि, तैरन्वितं पित्तविकारमेवाध्यवस्येत् ॥ १५ ॥

तं मधुर-तिक्त-कषाय-शीतैरुपक्रमैरुपक्रमेत स्नेह-विरेचन-प्रदेह-परिषेकाभ्यङ्गावगाहादिभिः पित्तहरैर्मात्रां कालं च प्रमाणीकृत्य, विरेचनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः पित्ते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः, तद्ध्यादित एवाऽऽमाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं पित्तमूलं चापकर्षति, तत्रावजिते पित्तेऽपि शरीरान्तर्गताः पित्तविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथाऽग्नौ व्यपोढे केवलमग्निगृहं शीतीभवति तद्वत् ॥ १६ ॥

इन सब यहां कहे या नहीं कहे हुए पित्त विकारों को या उसके एक भाग को स्वाभाविक रूप से (किसी दूसरे दोष से न मिला होने पर), कार्यों, एवं पित्त के लक्षणों से पहिचानकर कुशल वैद्य लोग पित्त रोग ही है, ऐसा निश्चय करते हैं। यथा गरमी, तीक्ष्णता, लघुता, चिकास की अधिकता न होना, सफेद और काले-लाल रंग को छोड़कर अन्यरंग, सड़ांद (दुर्गन्ध युक्त) कटु और खट्टा रस होना ये पित्त के लक्षण हैं। निम्न प्रकार के कर्मों से पित्त की पहिचान होती है शरीर के जिस जिस अवयव में पित्त आश्रय लेता है, वहां कह

पर दाह, गरमी, पाक (पकना), पसीना, क्लिन्नता, सडांद, खज, स्राव, रंग तथा पित्त के समान गन्ध, वर्ण और रस की उत्पत्ति होना ये पित्त के कर्म हैं। इन कार्यों से युक्त रोग को पित्त का विकार जानना चाहिये। इस पित्त को शान्त करने के लिए मधुर, तिक्त, कषाय, शीत उपक्रमों से चिकित्सा करनी चाहिये। पित्त नाशक स्नेह, विरेचन, प्रदेह, स्नान, मर्दन आदि कार्यों को मात्रा एवं समय को देखकर प्रयोग करना चाहिये। पित्त को शान्त करने के लिए वैद्य लोग विरेचन को ही सब से मुख्य साधन मानते हैं। यह जल्दी ही आमाशय में प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण पित्तविकार को जड़ से बाहर निकल देता है। ऐसी अवस्था में पित्त के सम्पूर्ण शान्त न होने पर भी शरीरस्थ पित्तरोग ऐसे ही शान्त हो जाते हैं जिस प्रकार की भट्ठी से आग निकाल लेने पर भट्ठी अपने आप ठण्डी हो जाती है ॥ १६ ॥

श्लेष्मविकारांश्च विंशतिमत ऊर्ध्वं व्याख्यास्यामः, तद्यथा—तृप्तिश्च, तन्द्रा च, निद्राया आधिक्यं च, स्तैमित्यं च, गुरुगात्रता च, आलस्यं च, मुखमाधुर्यं च, मुखस्रावश्च, श्लेष्मोद्गिरणं च, मलस्याऽऽधिक्यं च, कण्ठोपलेपश्च, बलासश्च हृदयोपलेपश्च, धमनी-प्रतिचयश्च, गलगण्डश्च, अतिस्थौल्यं च, शीताग्निता च, उदर्दश्च, श्वेतावभासता च, श्वेत-मूत्र-नेत्र-वर्चस्त्वं चेति विंशतिः श्लेष्मविकाराः श्लेष्मविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याताः ॥१७॥

कफजन्यरोग बीस हैं। उन का कहते हैं यथा—भोजन न करने पर भी तृप्ति का अनुभव, तन्द्रा, नींद का अधिक आना, स्तैमित्य (शरीर का गीले वस्त्र से ढंपा प्रतीत होना), शरीर का भारीपन, आलस्य आना, मुख की मिठास, मुख से लाला बहना, कफ का वमन, शरीर से मल का अधिक निकलना, कफ का क्षय, हृदय का भरा रहना, कण्ठ का भरा रहना, धमनियों का अवरोध, गलगण्ड, अतिस्थूल, मन्दाग्नि, उदर्द (छपाकी), श्वेत रंग की प्रतीति, मूत्र मल और नेत्र में सफेदी, ये बीस कफजन्य रोग हैं। कफजन्य विकार असंख्य हैं, परन्तु यहां पर प्रधान रोगों की गणना की है ॥१७॥

सर्वेष्वपि तु खल्वेतेषु श्लेष्मविकारेष्वन्येषु चानुक्तेषु श्लेष्मण इदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षणं,यदुपलभ्य तदवयवं वा विमुक्तसंदेहाः श्लेष्मविकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशलाः, तद्यथा—श्वैत्य-शैत्य-स्नेह-गौरव-माधुर्य-मात्स्न्यानि श्लेष्मण आत्मरूपाणि, एवंविधत्वाच्च कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशतः, तद्यथा—श्वैत्य-शैत्य-कण्डू-स्थैर्य-गौरव-स्नेह-स्तम्भ - सुप्ति-क्लेदोपदेहबन्ध-माधुर्य-

चिरकारित्वानि श्लेष्मणः कर्माणि, तैरन्वितं श्लेष्मविकारमेवाध्यवस्येत् ॥ १८ ॥

तं कटुक-तिक्त-कषाय-तीक्ष्णोष्ण-रूक्षैरुपक्रमैरुपक्रमेत स्वेदन-वमन-शिरोविरेचन-व्यायामादिभिः श्लेष्महरैर्मात्रां कालं च प्रमाणीकृत्य, वमनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः श्लेष्मणि प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः, तद्ध्यादित एवाऽऽमाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं श्लेष्ममूलमपकर्षति, तत्रावजिते श्लेष्मण्यपि शरीरान्तर्गताः श्लेष्मविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथा—भिन्ने केदारसेतौ शालि-यव-षष्टिकादीन्यभिष्यन्दमानान्यम्भसा प्रशोषमापद्यन्ते तद्वदिति ॥ १९ ॥

इन सब कफ की विकारों में कहे हुए या नहीं कहे हुए रोगों को या उसके एक भाग को कफ के अपने स्वाभाविक रूप से, कार्यों से, लक्षणों से पहिचान कर कुशल पुरुष सन्देहरहित होकर श्लेष्मविकार ही हैं ऐसा निश्चय करते हैं। यथा चिकास, शीतलता, सफेदी, भारीपन, मधुरता, मसृणता (पिच्छलता), ये कफ के रूप हैं। निम्न प्रकार के कार्यों से कफ की पहिचान होती है—

शरीर के अवयवों में प्रविष्ट होकर कफ सफेदी, शीतलता, खाज, स्थिरता, भारीपन, चिकास, जड़ता, निष्क्रियता, क्लिन्नता, चिकनापन, अवरोध, मधुरता, देर में कार्य करना ये कफ के कार्य हैं। इनके द्वारा कफ रोग को जानना चाहिये। इस कफ को शान्त करने के लिये कटु, तिक्त, कषाय, तीक्ष्ण, गरम और रूक्ष उपक्रमणों से चिकित्सा करनी चाहिये। मात्रा और समय के अनुसार स्वेद, वमन, शिरोविरेचन, व्यायाम आदि श्लेष्मनाशक कार्यों का प्रयोग करे। कफ को शान्त करने के लिये वैद्य वमन को ही सब से उत्तम साधन मानते हैं। वमन जल्दी से आमाशय में पहुंच कर सम्पूर्ण वैकारिक कफ को जड़ समेत बाहर कर देता है। इस कफ के पूर्ण रूप से शान्त न होने पर भी शरीर के अन्दर के कफरोग शान्त हो जाते हैं। जिस प्रकार कि धान्य, जौ, सांठी पानी से भरे होने पर खेत की मेंढ के टूटने पर पानी से खुश्क हो जाते हैं, (सूख जाते हैं), इसी प्रकार कफ के निकलने से रोग भी नष्ट होजाते हैं ॥ १८–१९ ॥

भवन्ति चात्र—रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम् ।
ततः कर्म भिषक्पश्चाज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत् ॥ २० ॥
यस्तु रोगमविज्ञाय कर्माण्यारभते भिषक् ।
अप्यौषधविधानज्ञस्तस्य सिद्धिर्यदृच्छया ॥ २१ ॥
यस्तु रोगविशेषज्ञः सर्व-भैषज्य-कोविदः ।
देश-काल-प्रमाण-ज्ञस्तस्य सिद्धिरसंशयम् ॥ २२ ॥

सब से प्रथम रोग की परीक्षा करनी चाहिये, उसके पीछे औषध की परीक्षा, इसके अनन्तर वैद्य ज्ञानपूर्वक चिकित्सा का आरम्भ करे। जो वैद्य, रोग की परीक्षा द्वारा निश्चय किये विना चिकित्सा कर्म आरम्भ कर देता है, भले ही वह वैद्य औषधि के विधान को जानता हो, तो भी उसकी सफलता निश्चित नहीं (कभी हो जाती है, और कभी नहीं)। जो वैद्य रोगों को भली प्रकार जानता है, इसी प्रकार औषधियों को भी जानता है, साथ में देश, काल और प्रमाण को भी समझता है, उसकी सफलता निश्चित, अवश्यम्भावी है ॥२०–२२॥

तत्र श्लोकाः—संग्रहः प्रकृतिर्देशो विकारमुखमीरणम् ।
असंदेहोऽनुबन्धश्च रोगाणां संप्रकाशितः ॥ २३ ॥
दोषस्थानानि रोगाणां गणा नानात्मजाश्च ये ।
रूपं पृथक्त्वाद्दोषाणां कर्म चापरिणामि यत् ॥ २४ ॥
पृथक्त्वेन च दोषाणां निर्दिष्टाः समुपक्रमाः ।
सम्यङ् महति रोगाणामध्याये तत्त्वदर्शिना ॥ २५ ॥

रोगों की संक्षिप्त संख्या, इनके स्थान और इनके साक्षात् अथवा प्रेरक कारण, असन्देह, और अनुबन्ध, दोषों के स्थान, नानाप्रकार के रोगों की गणना, दोषों के पृथक् पृथक् रूप, और स्वाभाविक कर्म, दोषों के पृथक् पृथक् शान्ति के उपाय, इस महारोग अध्याय में तत्त्वदर्शि पुनर्वसु ने कह दिये हैं ॥२३–२४॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने रोगचतुष्के
महारोगाध्यायो नाम विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः ।

अथातोऽष्टौनिन्दितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'अष्टौनिन्दितीय' नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

इह खलु शरीरमधिकृत्याष्टौ पुरुषा निन्दिता भवन्ति; तद्यथा—अतिदीर्घश्चातिह्रस्वश्चातिलोमा चालोमा चातिकृष्णश्चातिगौरश्चातिस्थूलश्चातिकृशश्चेति ॥ ३ ॥

इस लोक में शरीर के सम्बन्ध में (मन के सम्बन्ध में अधार्मिक आदि इन से भिन्न हैं) आठ पुरुष निन्दित माने जाते हैं। यथा १. अतिदीर्घ २.

अतिह्रस्व, ३. अतिलोमा (बहुत बालों वाला), ४. अलोमा (एक दम बाल रहित) ५. अतिकृष्ण (बहुत काला) ६. अतिगौर, ७. अतिस्थूल (बहुत मोटा) और ८. अतिकृश (बहुत पतला) ॥ ३ ॥

तत्रातिस्थूलकृशयोर्भूय एवापरे निन्दितविशेषा भवन्ति; अतिस्थूलस्य तावदायुषो ह्रासो जरोपरोधः कृच्छ्रव्यवायता दौर्बल्यं दौर्गन्ध्यं स्वेदाबाधः क्षुदतिमात्रं पिपासातियोगश्चेति भवन्त्यष्टौ दोषाः। तदतिस्थौल्यमतिसंपूरणाद् गुरु-मधुर-शीत-स्निग्धोपयोगादव्यायामादव्यवायाद्दिवास्वप्नाद्धर्षनित्यत्वादचिन्तनाद् बीजस्वभावाच्चोपजायते। तस्यातिमात्रं मेदस्विनो मेद एवोपचीयते न तथेतरे धातवः, तस्मादस्याऽऽयुषो ह्रासः; शैथिल्यात् सौकुमार्याद् गुरुत्वाच्च मेदसो जरोपरोधः, शुक्राबहुत्वाद् मेदसाऽऽवृतमार्गत्वाच्च कृच्छ्रव्यवायता, दौर्बल्यमसमत्वाद्धातूनां, दौर्गन्ध्यं मेदोदोषान्मेदसः स्वभावात्स्वेदनत्वाच्च, मेदसः श्लेष्मसंसर्गाद्विष्यन्दित्वाद् बहुत्वाद्व्यायामासहत्वाच्च स्वेदाबाधः, तीक्ष्णाग्नित्वात्प्रभूतकोष्ठवायुत्वाच्च क्षुदतिमात्रं पिपासातियोगश्चेति ॥ ४ ॥

इन आठों पुरुषों में भी अतिस्थूल और अतिकृश ये दोनों पुरुष विशेष रूप से निन्दित हैं। इनमें अतिस्थूल पुरुष की आयु छोटी होती है, उसे बुढ़ापे जल्दी आ घेरता है, मैथुन में कठिनता, निर्बलता, शरीर में दुर्गन्ध, पसीना बहुत आता है, भूख और प्यास खूब अधिक लगती है, ये आठ दोष होते हैं। यह अतिस्थूलता अधिक भोजन करने से, गुरु, मधुर, शीत, स्निग्ध पदार्थों के सेवन से, व्यायाम न करने से, सम्भोग न करने से, दिन में सोने से, नित्य खुश (बेफ़िकर) रहने से, चिन्ता न करने से, माता पिता के स्थूल होने से उत्पन्न होती है। अतिस्थूल पुरुष के शरीर में मेद के बढ़े होने पर आगे मेद ही बढ़ता जाता है और अन्य धातु नहीं बढ़ते। इसलिये (विषम धातु होने से) आयु छोटी होती है, मेद के शिथिल, सुकुमार और भारी होने से बुढ़ापे का जल्दी आना, शुक्र के कम होने से, मेद के द्वारा शुक्र वाह्य स्रोतों के रुक जाने से मैथुन में कठिनाई; धातुओं के विषम होने से दुर्बलता, मेद के दोष से, मेद के स्वभाव से तथा पसीने के अधिक आने से दुर्गन्ध, मेद के श्लेष्मा के साथ मिलने से, बहने से, बहुत होने से, भारी होने से और परिश्रम को न सह सकने के कारण पसीने का बहुत आना, अग्नि के प्रबल होने से और कोष्ठ में वायु की अधिकता से भूख अधिक और बहुत प्यास लगती है ॥ ४ ॥

भवन्ति चात्र—मेदसाऽऽवृतमार्गत्वाद्वायुः कोष्ठे विशेषतः।
चरन् संधुक्षयत्यग्निमाहारं शोषयत्यपि ॥ ५ ॥

तस्मात्स शीघ्रं जरयत्याहारं चातिकाङ्क्षति ।
विकारांश्चाश्नुते घोरान् कांश्चित्कालव्यतिक्रमात् ॥६॥
एतावुपद्रवकरौ विशेषादग्निमारुतौ ।
एतौ हि दहतः स्थूलं वनदावो वनं यथा ॥ ७ ॥
मेदस्यतीव संवृद्धे सहसैवानिलादयः ।
विकारान् दारुणान् कृत्वा नाशयन्त्याशु जीवितम् ॥ ८ ॥
मेदोमांसातिवृद्धत्वाच्चलस्फिगुदरस्तनः ।
अयथोपचयोत्साहो नरोऽतिस्थूल उच्यते ॥ ९ ॥
इति मेदस्विनो दोषा हेतवो रूपमेव च ।
निर्दिष्टं, वक्ष्यते वाच्यमतिकार्श्येऽप्यतः परम् ॥ १० ॥

मेद के द्वारा स्रोतों के रुक जाने पर वायु कोष्ठ का आश्रय लेकर गति करता है, इससे अग्नि को बढ़ाता (तेज करता है) है, और भोजन को शुष्क करता है। इसलिये अग्नि आहार को शीघ्र जीर्ण कर देती है और अन्य आहार को चाहती है। आहार काल के अतिक्रमण होने से भयानक रोगों को उत्पन्न करती है। ये अग्नि और वायु विशेष रूप से उपद्रव करने वाले हैं। जिस प्रकार की जंगल की आग बन को जला देती है, उसी प्रकार ये वायु और अग्नि मोटे व्यक्ति को जला देते हैं। मेद के बहुत बढ़ने पर एक दम से वायु, पित्त, कफ, भयानक रोगों को उत्पन्न करके जीवन का नाश शीघ्रता से कर देते हैं। मेद के अति बढ़ने से मनुष्य के नितम्ब, उदर और स्तन थल-थल करने लगते हैं। शरीर का आकार और उत्साह शक्ति नष्ट हो जाते हैं। ऐसे पुरुष को अतिस्थूल कहते हैं। ये मेदस्वी पुरुष के दोष, कारण और लक्षण कह दिये इसके आगे अतिकृश व्यक्ति के लक्षण कहते हैं ॥ ५–१० ॥

सेवा-रूक्षान्न-पानानां लङ्घनं प्रमिताशनम् ।
क्रियातियोगः शोकश्च वेग-निद्रा-विनिग्रहः ॥११॥
रूक्षस्योद्वर्तनं स्नानस्याभ्यासः प्रकृतिर्जरा ।
विकारानुशयः क्रोधः कुर्वन्त्यतिकृशं नरम् ॥१२॥
व्यायाममतिसौहित्यं क्षुत्पिपासामहौषधम् ।
कृशो न सहते तद्वदतिशीतोष्णमैथुनम् ॥ १३ ॥
प्लीहा कासः क्षयः श्वासो गुल्मार्शांस्युदराणि च ।
कृशं प्रायोऽभिधावन्ति रोगाश्च ग्रहणीगताः ॥१४॥
शुष्क-स्फिगुदर-ग्रीवो धमनी-जाल-सन्ततः ।

त्वगस्थिशेषोऽतिकृशः स्थूलपर्वा नरो मतः ॥१५॥
सततव्याधितावेतावतिस्थूलकृशौ नरौ ।
सततं चोपचर्यौ हि कर्षणैर्बृंहणैरपि ॥१६॥
स्थौल्यकार्श्ये वरं कार्श्यं समोपकरणौ हि तौ ।
यद्युभौ व्याधिरागच्छेत्स्थूलमेवातिपीडयेत् ॥१७॥

रूक्ष खान पान के सेवन से, उपवास से थोड़ा खाने से, स्नेहन, स्वेदन वमन, विरेचन आदि क्रियाओं के अतियोग से, शोक से, मल-मूत्र के उपस्थित वेगों को अथवा नींद के उपस्थित वेग को रोकने से, स्नेह मर्दन किये विना उबटन लगाकर स्नान (नित्य प्रति) करने से, स्वभाव से, बुढ़ापे से, रोगों के कारण (रोग की कमजोरी में) उत्पन्न कमजोरी में, मिथ्याहार-विहार से, क्रोध से पुरुष बहुत कृश हो जाता है। परिश्रम, अतिशय पेट भर के खाना, भूख, प्यास और बलवान् औषध, बहुत सर्दी, बहुत गरमी और मैथुन इनको कृश पुरुष सहन नहीं कर सकता। प्लीहा कास, क्षय, श्वास, गुल्म, अर्श, उदर-रोग, और ग्रहणी रोग (आमाशय आंत्र रोग) प्रायः करके कृश (निर्बल) पुरुष को शीघ्र चिपटते हैं। नितम्ब, उदर और ग्रीवा शुष्क हो जाते हैं, शरीर पर धमनियों के जाल दीखने लगते हैं, त्वचा और अस्थियों का ही ढांचा बच जाता है, ग्रन्थियां मोटी-मोटी हो जाती हैं, ऐसे पुरुष को 'अतिकृश' कहते हैं। ये अतिस्थूल और अतिकृश पुरुष सदा रोगी रहते हैं। इसलिए कर्षण से (स्थूल की) और बृंहण से (कृश पुरुष की) सदा परिचर्या करनी चाहिये। स्थूलता और कृशता में कृशता श्रेष्ठ है, क्योंकि यदि दोनों को एक ही समान चिकित्सा से साध्य व्याधि हो जाय तो स्थूल पुरुष ही अधिक पीड़ित होगा (क्योंकि स्थूल पुरुष का यदि संतर्पण किया जाय तो स्थूलता बढ़ती है, अपतर्पण करे तो वह सहन नहीं कर सकता, क्योंकि जाठराग्नि बढ़ी होती है) ॥११-१७॥

सम-मांस-प्रमाणस्तु समसंहननो नरः ।
दृढेन्द्रियत्वाद् व्याधीनां न बलेनाभिभूयते ॥ १८ ॥
क्षुत्पिपासातपसहः शीत-व्यायाम-संसहः ।
समपक्ता समजरः सम-मांस-चयो मतः ॥ १९ ॥

जिस पुरुष की मांस पेशियां प्रमाण में उन्नत हैं और शरीर का संघटन ठीक प्रकार से है, इन्द्रियां बलवती हैं, वह पुरुष रोगों के बल से भी हार नहीं मानता। जो पुरुष भूख, प्यास, धूप का सहन कर सके, शीत, व्यायाम को

भली प्रकार सहन करले, न कम और न अधिक, भोजन को जीर्ण करने वाला हो, जिसको बुढ़ापा ठीक समीप पर आये, वह पुरुष समान उपचय अर्थात् उचित शरीर की बनावट का होता है ॥ १८-१९ ॥

गुरु चातर्पणं चेष्टं स्थूलानां कर्षणं प्रति ।
कृशानां बृंहणार्थं च लघु संतर्पणं च यत् ॥ २० ॥
वातघ्नान्यन्नपानानि श्लेष्म-मेदो-हराणि च ।
रूक्षोष्णा बस्तयस्तीक्ष्णा रूक्षाण्युद्वर्तनानि च ॥ २१ ॥
गुडूची-भद्र-मुस्तानां प्रयोगस्त्रैफलस्तथा ।
तक्रारिष्टप्रयोगस्तु प्रयोगो माक्षिकस्य च ॥ २२ ॥
विडङ्गनागरं क्षारः काल-लोह-रजो मधु ।
यवामलकचूर्णं च प्रयोगः श्रेष्ठ उच्यते ॥ २३ ॥
बिल्वादिपञ्चमूलस्य प्रयोगः क्षौद्रसंयुतः ।
शिलाजतुप्रयोगस्तु साग्निमन्थरसः परः ॥ २४ ॥
प्रशातिका प्रियङ्गुश्च श्यामाका यवका यवाः ।
जूर्णाह्वाः कोद्रवा मुद्गाः कुलत्थाश्चक्रमुद्गकाः ॥ २५ ॥
आढकीनां च बीजानि पटोलामलकैः सह ।
भोजनार्थं प्रयोज्यानि पानं चानु मधूदकम् ॥ २६ ॥
अरिष्टांश्चानुपानार्थे मेदो-मांस-कफापहान् ।
अतिस्थौल्यविनाशाय संविभज्य प्रयोजयेत् ॥ २७ ॥
प्रजागरं व्यवायं च व्यायामं चिन्तनानि च ।
स्थौल्यमिच्छन् परित्यक्तुं क्रमेणाभिप्रवर्धयेत् ॥ २८ ॥

स्थूल पुरुषों को कृश बनाने के लिये गुरु (भारी) और अपतर्पण क्रिया (यथा शहद भारी होने से अग्नि को कम करता है और अपतर्पण होने से मेद का कम करता है) उचित है। कृश पुरुषों को मोटा करने के लिये लघु एवं सन्तर्पण क्रिया करनी चाहिये। अतिस्थूल की चिकित्सा—

वातनाशक खान पान, कफ और मेदनाशक आहार, रूखी एवं गरम बस्तियां, तीक्ष्ण, रूक्ष उबटन का मलना, गिलोय, नागर मोथा, इनका, या त्रिफला का क्वाथ देना, तक्रारिष्ट का प्रयोग अथवा मधु का उपयोग, वायविडंग, सोंठ, क्षार, कान्त लोह भस्म को शहद के साथ, जौ और आंवले का चूर्ण, इनका प्रयोग उत्तम है। बिल्व, अरणी, सोना पाठ, काश्मरी, पाटला इनके क्वाथ में मधु प्रक्षेप करके पीना, अग्निमन्थ (अरणी) के रस के साथ शिलाजीत

का उपयोग, प्रशातिक (नीवार धान्य), प्रियंगु, श्यामाक (सांवक), क्षुद्रजव, जौ, कंगनी, कोदों धान्य, मूंग, कुलथी, जंगली मूंग, अरहर की दाल, परवल, आंवला इनके साथ खाने के लिये देवे; और पीने के लिये पानी में शहद मिला के देना चाहिये। अनुपान के लिये मेद, मांस और कफ को नष्ट करने वाले अरिष्टों को अतिस्थूलता नाश करने के लिये प्रयोग करना चाहिये। स्थूलता का नाश करने की इच्छा वाले पुरुष को, रात में जागना, मैथुन, परिश्रम करना, चिन्ता करना इनको क्रम से शनैः शनैः बढ़ाना चाहिये ॥ २०-२८ ॥

स्वप्नो हर्षः सुखा शय्या मनसो निर्वृतिः शमः।
चिन्ता-व्यवाय-व्यायाम-विरामः प्रियदर्शनम् ॥ २९ ॥
नवान्नानि नवं मद्यं ग्राम्यानूपौदका रसाः।
संस्कृतानि च मांसानि दधि सर्पिः पयांसि च ॥ ३० ॥
इक्षवः शालयो मांसा गोधूमा गुडवैकृतम्।
बस्तयः स्निग्धमधुरास्तैलाभ्यङ्गश्च सर्वदा ॥ ३१ ॥
स्निग्धमुद्वर्तनं स्नानं गन्धमाल्यनिषेवणम्।
शुक्लवासो यथाकालं दोषाणामवसेचनम् ॥ ३२ ॥
रसायनानां वृष्याणां योगानामुपसेवनम्।
हत्वाऽतिकार्श्यमाधत्तो नृणामुपचयं परम् ॥ ३३ ॥
अचिन्तनाच्च कार्याणां ध्रुवं संतर्पणेन च।
स्वप्नप्रसङ्गाच्च नरो वराह इव पुष्यति ॥ ३४ ॥

कृश रोग की चिकित्सा—रात में और दिन में सोना, सदा प्रसन्न रहना, आराम, गद्देदार पलंग पर सोना, बैठना, मनकी बेफ़िकरी, शान्ति, चिन्ता न करना, सम्भोग का न करना, श्रम न करना और इच्छित वस्तुओं का दर्शन, नये अन्न, नया मद्य, ग्राम्य और जलचर प्राणियों के मांस का रस, संस्कृत (अच्छी प्रकार बनाये) मांस, दही, घी और दूध, गन्ने, चावल (लाल चावल) मांस, गेहूँ, गुड़ से बनी वस्तुएं, स्निग्ध और मधुर बस्तियां, सर्वदा तैल मर्दन स्निग्ध उबटन, स्नान, सुगन्ध और माला का धारण करना, सफ़ेद वस्त्र, समय समय पर वातादि दोषों का बाहर निकालना, रसायन एवं वाजीकरण-योगों का सेवन करने से कृशता दूर होकर पुष्टि, बल (मोटापा) आता है। कार्यों की चिन्ता न करने (बेफ़िकरी) से, नित्य प्रति सन्तर्पण क्रिया द्वारा और रात दिन सोने से मनुष्य सुअर की तरह पुष्ट हो जाता है ॥ २९-३४ ॥

यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः।

विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः ॥ ३५ ॥
निद्रायत्तं सुखं दुःखं पुष्टिः कार्श्यं बलाबलम् ।
वृषता क्लीबता ज्ञानमज्ञानं जीवितं न च ॥ ३६ ॥
अकालेऽतिप्रसङ्गाच्च न च निद्रा निषेविता ।
सुखायुषी पराकुर्यात्कालरात्रिरिवापरा ॥ ३७ ॥
सैव युक्ता पुनर्युङ्क्ते निद्रा देहं सुखायुषा ।
पुरुषं योगिनं सिद्ध्या सत्या बुद्धिरिवाऽऽगता ॥ ३८ ॥
गीताध्ययन-मद्य-स्त्री-कर्म-भाराध्व-कर्षिताः ।
अजीर्णिनः क्षताः क्षीणा वृद्धा बालास्तथाऽबलाः ॥ ३९ ॥
तृष्णातीसारशूलार्ताः श्वासिनो हिक्किनः कृशाः ।
पतिताभिहतोन्मत्ताः क्लान्ता यानप्रजागरैः ॥ ४० ॥
क्रोध-शोक-भय-क्लान्ता दिवास्वप्नोचिताश्च ये ।
सर्व एते दिवास्वप्नं सेवेरन् सार्वकालिकम् ॥ ४१ ॥
धातुसाम्यं तथा ह्येषां बलं चाप्युपजायते ।
श्लेष्मा पुष्णाति चाङ्गानि स्थैर्यं भवति चाऽऽयुषः ॥ ४२ ॥

जब मन से संयुक्त आत्मा निष्क्रिय हो जाती है, इन्द्रियां क्रियारहित हो जाती हैं (रूप, रसादि विषयों से हट जाती है), तब पुरुष सो जाता है। यदि विधिपूर्वक नींद का सेवन किया जाय तो, सुख, शरीर की पुष्टि, बल, पुरुषत्व ज्ञान और जीवन नींद के अधीन हैं और यदि निद्रा का विधि से सेवन न किया जाय तो दुःख, कृशता, बलनाश, क्लीबता, अज्ञान, और मरण ये नींद के अधीन हैं। इसलिये सुख चाहने वाले पुरुष को चाहिये कि दूसरी प्रलय रात्रि के समान अकाल (दिन में या सन्ध्याकाल में) सोना, या बहुत सोना छोड़ दे। ये नींद के मिथ्यायोग हैं। यदि निद्रा उचित रूप में सेवन की जाय तो शरीर को सुख और आयु से ऐसे ही युक्त करती है जिस प्रकार योगी पुरुष को सिद्धि से तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है।

गीत गाने से कृशपुरुष, पढ़ने से कृश, मद्यपान करने वाले स्त्री-सेवा करने वाले, वमन विरेचनादि कर्म में, मार्ग चलने से कृश हुए, अतिसार आदि से कृश, अजीर्ण रोगी, उरक्षत रोगी, क्षीण (जिनके रस रक्तादि धातु क्षीण) हों, वृद्ध, बालक, स्त्रियां (कमज़ोर) तृष्णारोगी, शूल से पीड़ित, श्वास से कृश, ऊपर से गिरे, चोट लगे हुए, उन्मत्त (धतूरा आदि खाने से), थके हुए, सवारी करने से, रात में जागने से, क्रोध, शोक, भय से निष्क्रिय पुरुषों को दिन में सोना उचित है। ये ऊपर लिखे पुरुष सब कालों में दिन में सो सकते हैं।

दिन में सोने से इनके विषम धातु सम होते हैं, बल बढ़ता है, कफ अंगों को पुष्ट करता है और आयु स्थिर होती है * ॥ ३५-४२ ॥

ग्रीष्मे चाऽऽदानरूक्षाणां वर्धमाने च मारुते ।
रात्रीणां चातिसङ्क्षेपाद्दिवास्वप्नः प्रशस्यते ॥ ४३ ॥
ग्रीष्मवर्ज्येषु कालेषु दिवास्वप्नात्प्रकुप्यतः ।
श्लेष्मपित्ते, दिवास्वप्नस्तस्मात्तेषु न शस्यते ॥ ४४ ॥
मेदस्विनः स्नेहनित्याः श्लेष्मलाः श्लेष्मरोगिणः ।
दूषीविषार्ताश्च दिवा न शयीरन् कदाचन ॥ ४५ ॥
हलीमकः शिरः शूलं स्तैमित्यं गुरुगात्रता ।
अङ्गमर्दोऽग्निनाशश्च प्रलेपो हृदयस्य च ॥ ४६ ॥
शोथारोचक-हृल्लास-पीनसार्धावभेदकाः ।
कोठोऽरुः पिडकाः कण्डूस्तन्द्रा कासो गलामयाः ॥ ४७ ॥
स्मृति-बुद्धि-प्रमोहश्च संरोधः स्रोतसां ज्वरः ।
इन्द्रियाणामसामर्थ्यं विष-वेग-प्रवर्तनम् ॥ ४८ ॥
भवेन्नृणां दिवास्वप्नस्याहितस्य निषेवणात् ।
तस्माद्धिताहितं स्वप्नं बुद्ध्वा स्वप्यात्सुखं बुधः ॥ ४९ ॥
रात्रौ जागरणं रूक्षं स्निग्धं प्रस्वपनं दिवा ।
अरूक्षमनभिष्यन्दि त्वासीनप्रचलायितम् ॥ ५० ॥
देहवृत्तौ यथाऽऽहारस्तथा स्वप्नः सुखो मतः ।
स्वप्नाहारसमुत्थे च स्थौल्यकार्श्ये विशेषतः ॥ ५१ ॥

ग्रीष्म ऋतु आदान काल एवं रूक्ष है, इस समय वायु बढ़ती है, और रातें बहुत छोटी होती हैं, इसलिये दिन में सोना उत्तम है। ग्रीष्म ऋतु को छोड़कर और ऋतुओं में सोने से कफ और पित्त विकृत होते हैं, इसलिये इन समयों में दिन के समय सोना ठीक नहीं है। मेदस्वी, नित्य स्नेह का सेवन करने वाले, कफप्रकृति, कफरोगी, और दूषी विष से पीड़ित पुरुष दिन में खास कर कभी भी न सोयें। दिन में सोने से हलीमक, शिरोवेदना, अंगों में भारीपन, अंगों

* नींद का स्थान कहां है ? यह तो कहना कठिन है, परन्तु जब मन या मन से युक्त आत्मा मस्तिष्क की पंचम जवनिका (Fifth Ventrical) में पहुंच जाती है तब पुरुष को नींद आती है। इस जवनिका के साथ किसी भी ज्ञानतन्तु का सम्बन्ध नहीं है। इसी से कहा है—"स्वप्नश्च निरिन्द्रियप्रदेशे मनोऽवस्थानम्" ॥

को गीले वस्त्र से ढांपने की भांति प्रतीति, अंगों का टूटना, जाठराग्नि की क्षीणता, हृदय का कफ से लिप्त होना, सूजन, अरुचि, वमनेच्छा, पीनस, आधा सीसी, कोठ (बर्रे के काटे के भांति), फुन्सियां, खाज, तन्द्रा, आलस्य, कास, गले के रोग स्मृति नाश, बुद्धिनाश, मूर्छा, स्रोतों का अवरोध, ज्वर, इन्द्रियों में असमर्थता, विष के वेग का जोर (फिर से चढ़ना) ये लक्षण अहितकारी निद्रा अर्थात् दिन में सोने से उत्पन्न होते हैं। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि अहितकारी नींद का त्याग करे, और हितकारी नींद का सेवन करे इससे सुख होगा। रात्रि में जागने से शरीर में रूक्षता और दिन में सोने से स्निग्धता बढ़ती है। और बैठे-बैठे सोना न तो रूक्षता उत्पन्न करता है, न अभिष्यन्द अर्थात् स्निग्धता उत्पन्न करता है। शरीर के धारण के लिये जिस प्रकार भोजन सुखकारक होता है, उसी प्रकार नींद भी आवश्यक है। इसलिये स्थूलता और कृशता मुख्य रूप से आहार और निद्रा पर अवलम्बित है ॥ ४३–५१ ॥

अभ्यङ्गोत्सादनं स्नानं ग्राम्यानूपौदका रसाः।
शाल्यन्नं सदधि क्षीरं स्नेहो मद्यं मनःसुखम् ॥ ५२ ॥
मनसोऽनुगुणा गन्धाः शब्दाः संवाहनानि च।
चक्षुषस्तर्पणं लेपः शिरसो वदनस्य च ॥ ५३ ॥
स्वास्तीर्णं शयनं वेश्म सुखं कालस्तथोचितः।
आनयन्त्यचिरान्निद्रां प्रनष्टा या निमित्ततः ॥ ५४ ॥

तैलमर्दन, उबटन, स्नान, ग्राम्य या जलचर प्राणियों का मांसरस, चावल, दही, दूध, स्नेह (घी-तैल) मद्य, मन की प्रिय वस्तुएं, मनोनुकूल सुगन्धि, शब्द और संवाहन (मसाज, मुट्ठी भरना), आंखों का तर्पण, शिर और मुख, शरीर पर चन्दनादि का लेप, अच्छा बिछा पलंग, सुन्दर घर तथा उचित समय ये वस्तुएं कारण से नष्ट हुई नींद को शीघ्र ही उत्पन्न कर देती हैं * ॥५२-५४॥

कायस्य शिरसश्चैव विरेकश्छर्दनं भयम्।
चिन्ता क्रोधस्तथा धूमो व्यायामो रक्तमोक्षणम् ॥ ५५ ॥
उपवासोऽसुखा शय्या सत्त्वौदार्यं तमोजयः।
निद्राप्रसङ्गमहितं वारयन्ति समुत्थितम् ॥ ५६ ॥

* यदि मस्तिष्क में स्थित निद्रा को नियमित करने वाला केन्द्र नष्ट कर दिया जाय या चोट आदि से नष्ट हो जाय अथवा विक्षिप्त हो जाय तो पुरुष को नींद का आना असम्भव हो जाता है। जब तक मस्तिष्क में यह केन्द्र ठीक है तभी तक यह चिकित्सा फलवती हो सकती है।

शरीर का विरेचन, शिरो-विरेचन, वमन, भय, चिन्ता, क्रोध, कहानी सुनना, मैथुन रक्त मोक्षण (शिरावेध), उपवास, दुःखदायक विस्तर, सत्त्व गुण की अधिकता, तमोगुण का जय (योगाभ्यास से होती है), ये कारण नींद को नहीं आने देते। इसलिए अहित, अवाञ्छनीय नींद को रोकने के लिये स्वस्थ पुरुष को इन्हें बर्त्तना चाहिये ॥५५-५६॥

एत एव च विज्ञेया निद्रानाशस्य हेतवः।
कार्यं कालो विकारश्च प्रकृतिर्वायुरेव च ॥ ५७ ॥

निद्रानाश के दूसरे कारण—कार्य में फंसा रहना, काल (बुढ़ापा), विकार, शूल दर्द होना, स्वभाव से ही नींद कम आना, वायु, उन्माद रोग या वातरोग आदि निद्रानाश के कारण हैं ॥ ५७ ॥

तमोभवा श्लेष्मसमुद्भवा च मनः-शरीरश्रम-संभवा च।
आगन्तुकी व्याध्यनुवर्तिनी च रात्रिस्वभाव-प्रभवा च निद्रा ॥५८॥
रात्रिस्वभावप्रभवा मता या तां भूतधात्रीं प्रवदन्ति निद्राम्।
तमोभवामाहुरघस्य मूलं शेषं पुनर्व्याधिषु निर्दिशन्ति ॥५९॥

नींद छः प्रकार की हैं यथा—तमोजन्या, निद्रा कफ से उत्पन्न मन और शरीर के थकने से 'आगन्तुकी रोग (सन्निपात ज्वर आदि) उत्पन्न होने वाली रात्रि के स्वभाव के कारण उत्पन्न होने वाली निद्रा। इन छः प्रकार की निद्रा में जो निद्रा रात्रि-स्वभाव के कारण उत्पन्न होती है उसको भूतधात्री अर्थात् धाय के समान प्राणियों को पोषण करने वाली कहते हैं, और तमोगुण से उत्पन्न निद्रा पाप अधर्म का मूल है, शेष निद्राओं की गिनती रोगों में की जाती है।

तत्र श्लोकाः—निन्दिताः पुरुषास्तेषां यौ विशेषेण निन्दितौ।
निन्दिते कारणं दोषास्तयोर्निन्दितभेषजम् ॥ ६० ॥
येभ्यो यदा हिता निद्रा येभ्यश्चाप्यहिता यदा।
अतिनिद्रानिद्रयोश्च भेषजं यद्भवा च सा ॥ ६१ ॥
या या यथाप्रभावा च निद्रा तत्सर्वमत्रिजः।
अष्टौनिन्दितसंख्याते व्याजहार पुनर्वसुः ॥६२॥

निन्दित पुरुष, इनमें जो दो (स्थूल और कृश) अधिक निन्दित, निन्दित होने का का कारण, दोनों के दोष, औषध, जिनके लिये निद्रा हितकारी है, जिनके लिये अहितकारी, अति नींद और नीद के न आने की औषध और जिस कारण से नींद आती है, जिसजिस प्रकार से उत्पन्न होती है, इन सब बातों को आत्रेय ऋषि ने 'अष्टौ निन्दित' नामक अध्यायमें कह दिया ॥६०-६२॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने योजनाचतुष्के अष्टौनिन्दितीयो नाम एकविंशतितमोऽध्यायः ॥२१॥

द्वाविंशतितमोऽध्यायः

अथातो लङ्घनबृंहणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥२॥

अब लंघनबृंहणीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

तपःस्वाध्यायनिरतानात्रेयः शिष्यसत्तमान् ।
षडग्निवेशप्रमुखानुक्तवान् परिचोदयन् ॥ ३ ॥
लङ्घनं बृंहणं काले रूक्षणं स्नेहनं तथा ।
स्वेदनं स्तम्भनं चैव जानीते यः स वै भिषक् ॥ ४ ॥

आत्रेय महर्षि तपश्चर्या और स्वाध्याय में मग्न हुए, अग्निवेश आदि प्रमुख एवं उत्तम छः शिष्यों के ज्ञान के लिये कहने लगे—जो लंघन, बृंहण, रूक्षण, स्नेहन, स्वेदन एवं स्तम्भन क्रियाओं के समय तथा विधि को जानता है, वही वैद्य है ॥ ३-४ ॥

तमुक्तवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच ह ।
भगवंल्लङ्घनं किंस्विल्लङ्घनीयाश्च कीदृशाः ॥ ५ ॥
बृंहणं बृंहणीयाश्च रूक्षणीयाश्च रूक्षणम् ।
स्नेहनं स्नेहनीयाश्च स्वेदाः स्वेद्याश्च के मताः ॥ ६ ॥
स्तम्भनं स्तम्भनीयाश्च वक्तुमर्हसि तद् गुरो ।
लङ्घनप्रभृतीनां च षण्णामेषां समासतः ॥ ७ ॥
कृताकृतातिरिक्तानां लक्षणं वक्तुमर्हसि ।

इस प्रकार कहते हुए आत्रेय ऋषि से अग्निवेश ने कहा—कि भगवन् लंघन किस प्रकार का होता है और कौन पुरुष लंघन के योग्य हैं ? बृंहण क्या है और बृंहणीय चिकित्सा के योग्य कौन हैं ? रूक्षण क्या है और रूक्षणीय कौन हैं ? स्नेहन क्या है और स्नेहनीय कौन हैं ? स्वेदन क्या है और स्वेदनीय कौन हैं ? स्तम्भन क्या है और स्तम्भनीय पुरुष कौन हैं ? हे गुरो ! यह सब आप कहिये । इन छः लंघन आदि के लक्षण संक्षेप में कहिये । सम्यक् प्रकार से किये, न किये और अति किये हुए के लक्षण भी आप कहें ॥ ५-६ ॥

वचस्तदग्निवेशस्य निशम्य गुरुरब्रवीत् ॥ ८ ॥
यत्किंचिल्लाघवकरं देहे तल्लङ्घनं स्मृतम् ।
बृहत्त्वं यच्छरीरस्य जनयेत्तच्च बृंहणम् ॥ ९ ॥
रौक्ष्यं खरत्वं वैशद्यं यत्कुर्यात्तद्धि रूक्षणम् ।

स्नेहनं स्नेह-विष्यन्द-मार्दव-क्लेद-कारकम् ॥ १० ॥
स्तम्भ-गौरव-शीतघ्नं स्वेदनं स्वेदकारकम् ।
स्तम्भनं स्तम्भयति यद्गतिमन्तं चलं द्रवम् ॥ ११ ॥

अग्निवेश के वचन को सुनकर गुरु बोले; शरीर के अन्दर जो वस्तु लघुता हल्कापन, उत्पन्न करती है, उसको 'लंघन' कहते हैं। जो वस्तु शरीर में स्थूलता उत्पन्न करती है, उसे 'बृंहण' कहते हैं। जो वस्तु शरीर में रूक्षता, कर्कशता और विशदता, पृथक्त्व उत्पन्न करती है, वह रूक्षण है। शरीर में जो वस्तु चिकास, विष्यन्द, विलयन, कोमलता और क्लिन्नता उत्पन्न करती है, वह स्नेहन है, जो वस्तु शरीर में जड़ता उत्पन्न करे, भारीपन करे शीत का नाश करे तथा पसीना लाये वह 'स्वेदन' है। जो वस्तु गतिशील, थोड़ी सी गति को, द्रव को, रोक देती है, वह स्तम्भन है ॥ ८-११ ॥

लघूष्णतीक्ष्णविशदं रूक्षं सूक्ष्मं खरं सरम् ।
कठिनं चैव यद् द्रव्यं प्रायस्तल्लङ्घनं स्मृतम् ॥ १२ ॥
गुरुशीतमृदुस्निग्धं बहलं स्थूलपिच्छिलम् ।
प्रायो मन्दं स्थिरं श्लक्ष्णं द्रव्यं बृंहणमुच्यते ॥ १३ ॥
रूक्षं लघु खरं तीक्ष्णमुष्णं स्थिरमपिच्छिलम् ।
प्रायशः कठिनं चैव यद् द्रव्यं तद्धि रूक्षणम् ॥ १४ ॥
द्रवं सूक्ष्मं सरं स्निग्धं पिच्छिलं गुरु शीतलम् ।
प्रायो मन्दं मृदु च यद् द्रव्यं तत्स्नेहनं मतम् ॥ १५ ॥
उष्णं तीक्ष्णं सरं स्निग्धं रूक्षं सूक्ष्मं द्रवं स्थिरम् ।
द्रव्यं गुरु च यत् प्रायस्तद्धि स्वेदनमुच्यते ॥ १६ ॥
शीतं मन्दं मृदु श्लक्ष्णं रूक्षं सूक्ष्मं द्रवं स्थिरम् ।
यद् द्रव्यं लघु चोद्दिष्टं प्रायस्तत्स्तम्भनं स्मृतम् ॥ १७ ॥

जो वस्तु लघु, गरम, तीक्ष्ण, विशद, रूक्ष, सूक्ष्म, खर (कर्कश), सर (बहने वाला) और कठिन हो वह वस्तु प्रायः करके 'लंघन' गुण वाली होती है। भारी, शीतवीर्य, मृदु, स्निग्ध, घन, स्थूल पिच्छिल, चिरकारी, (देर में कार्य करने वाला) स्थिर, चिकना जो पदार्थ होता है, वह प्रायः करके 'बृंहण' होता है। रूक्ष, लघु, खर, तीक्ष्ण; उष्ण, स्थिर, चिकास रहित और कठिन द्रव्य है वह प्रायः करके 'रूक्षण' होता है।* जो द्रव्य पतला, सूक्ष्म, बहने वाला,

* रूक्षण में मुख्य रूप से स्नेह का अभाव रहता है और लंघन में गौरव का अभाव रहता है यह दोनों में मुख्य भेद है।

चिकना, स्नेह युक्त, भारी, शीतल, मन्द (चिरकारी) और मृदु होता है, वह प्रायः करके 'स्नेहन' होता है। उष्ण, तीक्ष्ण, बहने वाला, स्निग्ध, रूक्ष, सूक्ष्म, द्रव, स्थिर, और भारी जो पदार्थ होता है, वह प्रायः करके 'स्वेदन' होता है। शीत, मन्द, मृदु, श्लक्ष्ण, रूक्ष, सूक्ष्म, द्रव और स्थिर तथा लघु होता है। वह द्रव्य प्रायः करके 'स्तम्भन' होता है ॥ १२-१७ ॥

चतुष्प्रकारा संशुद्धिः पिपासा मारुतातपौ ।
पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम् ॥ १८ ॥
प्रभूत-श्लेष्म-पित्तास्र-मलाः संसृष्टमारुताः ।
बृहच्छरीरा बलिनो लङ्घनीया विशुद्धिभिः ॥ १९ ॥
येषां मध्यबला रोगाः कफपित्तसमुत्थिताः ।
वम्यतीसार-हृद्रोग-विसूच्यलसक-ज्वराः ॥ २० ॥
विबन्ध-गौरवोद्गार-हृल्लासारोचकादयः ।
पाचनैस्तान् भिषक् प्राज्ञः प्रायेणाऽऽदावुपाचरेत् ॥२१॥
एत एव यथोद्दिष्टा येषामल्पबला गदाः ।
पिपासानिग्रहैस्तेषामुपवासैश्च ताञ्जयेत् ॥ २२ ॥
रोगाञ्जयेन्मध्यबलान् व्यायामातपमारुतैः ।
बलिनां किं पुनर्येषां रोगाणामवरं बलम् ॥ २३ ॥
त्वग्दोषिणां प्रमूढानां स्निग्धाभिष्यन्दिबृंहिणाम् ।
शिशिरे लङ्घनं शस्तमपि वातविकारिणाम् ॥ २४ ॥

चार प्रकार की शुद्धि अर्थात्—वमन, विरेचन, नस्य और आस्थापन बस्ति; प्यास का रोकना, वायु और धूप का सहना, पाचन, उपवास और व्यायाम ये शरीर में लघुता उत्पन्न करते हैं। जिन पुरुषों में कफ, पित्त, रक्त और मल बहुत बढ़े हों, जिन को वात रोग हो, जिनका शरीर बहुत बड़ा हो, बलवान् हो, उनको वमन विरेचन आदि संशोधन द्वारा लंघन देना चाहिये और जिन मध्यम बल वाले पुरुषों में कफ, पित्त से उत्पन्न रोग हों, जिन को वमन, अती-सार, हृदय रोग, विसूचिका, अलसक, ज्वर, विबन्ध, गौरव, उद्गार, बेचैनी, अरुचि आदि (अजीर्ण) हों, उनको वैद्य प्रथम पाचन औषधियों से लंघन देकर चिकित्सा करे। यही रोग यदि अल्पबलवाले पुरुष को हो तो पिपासा के रोकने से और उपवास द्वारा लंघन कराके शान्त कराना चाहिये। मध्यम बलवाले रोगों को व्यायाम, धूप और वायु के सेवन से लंघन कराना चाहिये। इसी प्रकार बलवान् पुरुषों में जब रोग का बल न्यून हो, तब भी व्यायाम द्वारा लंघन कराना चाहिये। त्वचा के दोष वाले, प्रमेह रोगियों को, स्निग्ध वा अभि-

ष्यन्द अथवा पुष्ट शरीर वाले पुरुष को, एवं वात रोगियों को शिशिर काल में लंघन देना उत्तम है। (शिशिर के सामान गुण होने से हेमन्त भी उत्तम है)।

अदिग्धविद्धमक्लिष्टं वयःस्थं सात्म्यचारिणाम्।
मृगमत्स्यविहङ्गानां मांसं बृंहणमुच्यते ॥ २५ ॥
क्षीणाः क्षताः कृशा वृद्धा दुर्बला नित्यमध्वगाः।
स्त्रीमद्यनित्या ग्रीष्मे च बृंहणीया नराः स्मृताः ॥ २६ ॥
शोषार्शो-ग्रहणीदोषैर्व्याधिभिः कर्षिताश्च ये।
तेषां क्रव्यादमांसानां बृंहणा लघवो रसाः ॥ २७ ॥
स्नानमुत्सादनं स्वप्नो मधुराः स्नेहबस्तयः।
शर्करा क्षीरसर्पींषि सर्वेषां विद्धि बृंहणम् ॥ २८ ॥

विषयुक्त शस्त्र से न मारे हुए, नीरोगी, जवान, सात्म्यवस्तु को खाने वाले एवं सात्म्य स्थान में चरने वाले, मृग, मछली या पक्षियों का मांस बृंहण के लिये उपयुक्त है। * क्षीण रोगी, उरःक्षत का रोगी, कृश, वृद्ध, दुर्बल, रोज़ सफ़र (परिश्रम) करने वाले, स्त्रीसेवी, मद्यसेवी पुरुषों का ग्रीष्म काल में बृंहण करना चाहिये। शोष, अर्श, ग्रहणीरोग के कारण जो पुरुष निर्बल हो गये हैं, उनको मांस खाने वाले पशु-पक्षियों के मांस से बृंहण करना चाहिये। मांस को संस्कार द्वारा लघु बना लेना चाहिये, अथवा लघु गुण वाले पक्षी बाज़ आदि का मांस प्रयोग करना चाहिये। स्नान, उबटन, निद्रा मधुर एवं स्नेह युक्त बस्ति या, शक्कर, घी, दूध ये वस्तुऐं सब पुरुषों का बृंहण करती हैं ॥२८॥

कटु-तिक्त-कषायाणां सेवनं स्त्रीष्वसंयमः।
खलि-पिण्याक-तक्राणां मध्वादीनां च रूक्षणम् ॥ २९ ॥
अभिष्यन्दा महादोषा मर्मस्था व्याधयश्च ये।
ऊरुस्तम्भप्रभृतयो रूक्षणीया निदर्शिताः ॥ ३० ॥

कडुए, तीखे, कषाय रस का सेवन, अति स्त्रीसंग, सरसों की खल, तिल की खल, तक्र और मधु (शहद) आदि विरूक्षण करने वाले हैं। कफरोगी, वातरोगी और जिन को मर्म स्थान के रोग (ऊरुस्तम्भ आढ्यवात, प्रमेह आदि) हों उनका विरूक्षण उपचार करना चाहिये ॥ २९-३० ॥

* घर में पाले या रक्खे पक्षी या मछलियों का मांस लाभकर नहीं है। जो पशु-पक्षी अपने स्वाभाविक रूप में रहते हैं और अपना स्वाभाविक आहार लेते हैं; उन का मांस ही लाभदायक है।

स्नेहाः स्नेहयितव्याश्च स्वेदाः स्वेद्याश्च ये नराः ।
स्नेहाध्याये मयोक्तास्ते स्वेदाख्ये च सविस्तरम् ॥ ३१ ॥

स्नेह कितने हैं और कौन स्नेह के योग्य हैं ? स्वेद कितने हैं और कौन स्वेद के योग्य हैं ? ये स्नेह और स्वेद अध्याय में विस्तार से कह दिये हैं ॥३१॥

द्रवं तनु स्थिरं यावच्छीतीकरणमौषधम् ।
स्वादु तिक्तं कषायं च स्तम्भनं सर्वमेव तत् ॥ ३२ ॥
पित्तक्षाराग्निदग्धा ये वम्यतीसारपीडिताः ।
विषस्वेदातियोगार्ताः स्तम्भनीयास्तथाविधाः ॥ ३३ ॥

जो द्रव्य पतला, द्रव, बहने वाला और शीतलता उत्पन्न करने वाला है, तथा मधुर, तिक्त या कषाय रस है, वह सब 'स्तम्भन' है। पित्त रोगी, क्षार या अग्नि से जले रोगी, वमन या अतिसार से पीड़ित, विषवेग से या अतिस्वेदन क्रिया से पीड़ित पुरुष स्तम्भन क्रिया के योग्य हैं ॥ ३२–३३ ॥

वात-मूत्र-पुरीषाणां विसर्गे गात्रलाघवे ।
हृदयोद्गारकण्ठास्यशुद्धौ तन्द्राक्लमे गते ॥ ३४ ॥
स्वेदे जाते रुचौ चैव क्षुत्पिपासासहोदये ।
कृतं लङ्घनमादेश्यं निर्व्यथे चान्तरात्मनि ॥ ३५ ॥
पर्वभेदोऽङ्गमर्दश्च कासः शोषो मुखस्य च ।
क्षुत्प्रणाशोऽरुचिस्तृष्णा दौर्बल्यं श्रोत्रनेत्रयोः ॥ ३६ ॥
मनसः संभ्रमोऽभीक्ष्णमूर्ध्ववातस्तमो हृदि ।
देहाग्निबलनाशश्च लङ्घनेऽतिकृते भवेत् ॥ ३७ ॥

अपान वायु, मल-मूत्र का बाहर आना, शरीर में हल्कापन, आमाशय, डकार, गला और मुख के शुद्ध होने पर, आलस्य और निष्क्रियता के नष्ट होने पर, पसीना और भोजन में रुचि उत्पन्न होने पर, भूख और प्यास का एक साथ सहन न होने पर, अर्थात् भूख और प्यास एक साथ लगने पर; मन के प्रसन्न होने पर, सम्यक् प्रकार से लंघन हुआ ऐसा जानना चाहिये। लंघन के अधिक करने से जोड़ों का टूटना, अंगों में पीड़ा, कास, मुख का सूखना, भूख का नष्ट होना, अरुचि, प्यास, कान और आंख में निर्बलता, मन की बेचैनी, चक्कर आना, शरीर के ऊपर के भाग में बारम्बार वायु का बढ़ना, घोर होना, हृदय में अन्धकार (तमोगुण की अधिकता), जठराग्नि और शरीर के बल का नाश होना ये लंघन के अतियोग से होते हैं ॥ ३४–३७ ॥

बलं पुष्ट्युपलम्भश्च कार्श्यदोषविवर्जनम् ।
लक्षणं बृंहिते, स्थौल्यमति चात्यर्थबृंहिते ॥ ३८ ॥

बल, पुष्टि का होना, कृशता के दोषों का दूर हो जाना, ये सम्यक् प्रकार के बृंहण होने के लक्षण हैं । बृंहण के अतियोग से स्थूलता आती है ॥ ३८ ॥

कृताकृतस्य लिङ्गं यल्लङ्घिते तद्धि रूक्षिते ।

लंघन के सम्यक् योग और अयोग के जो लक्षण हैं वे ही लक्षण रूक्षण के सम्यक् योग और अयोग के हैं ।

स्तम्भितः स्याद्बले लब्धे यथोक्तैश्चाऽऽमयैर्जितैः ॥ ३९ ॥
श्यावता स्तब्धगात्रत्वमुद्वेगो हनुसंग्रहः ।
हृद्वर्चोनिग्रहश्च स्यादतिस्तम्भितलक्षणम् ॥ ४० ॥

स्तम्भन क्रिया के योग्य रोगों के शान्त होने पर, बल प्राप्त होने से स्तम्भन भली प्रकार से हुआ जानना चाहिये । स्तम्भन के अतियोग से—काला रंग, शरीर का जड़ होना, वमन की इच्छा, जबाड़ी का बन्द होना, हृदय का अवरोध, मल का रुकना ये अतिस्तम्भन के लक्षण हैं ॥ ३९–४० ॥

लक्षणं चाकृतायां स्यात् षण्णामेषां समासतः ।
तदौषधानां व्याधीनामशमो वृद्धिरेव च ॥ ४१ ॥
इति षट् सर्वरोगाणां प्रोक्ताः सम्यगुपक्रमाः ।
साध्यानां साधने सिद्धा मात्राकालानुरोधिनः ॥ ४२ ॥ इति ।
भवति चात्र—दोषाणां बहुसंसर्गात् संकीर्यन्ते ह्युपक्रमाः ।
षट्त्वं तु नातिवर्तन्ते त्रित्वं वातादयो यथा ॥ ४३ ॥
तत्र श्लोकः—इत्यस्मिँल्लङ्घनाध्याये व्याख्याताः षडुपक्रमाः ।
यथाप्रश्नं भगवता चिकित्सा यैः प्रवर्तिता ॥ ४४ ॥

लंघन आदि छः क्रियाओं के अयोग से, इन क्रियाओं से शान्त होने वाले रोगों की शान्ति नहीं होती या बढ़ जाते हैं । इन छः क्रियाओं के सम्यक् योग से सब रोग शान्त हो सकते हैं । मात्रा और समय का विचार करके इन क्रियाओं का उपयोग करने से सब साध्य रोग ठीक होते हैं ।

वातादि दोषों के परस्पर मिलने से बहुत भेद हो जाते हैं, इसलिये चिकित्सा भी बहुत प्रकार की है । जिस प्रकार कि रोग वात आदि तीन को छोड़कर नहीं होते उसी प्रकार चिकित्सा भी इन छः में ही सीमित है । इस लंघनीय अध्याय में छः क्रियायें प्रश्न के अनुसार भगवान् आत्रेय ने कह दी हैं ॥ ४१–४४ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने योजनाचतुष्के
लङ्घनबृंहणीयो नाम द्वाविंशतितमोऽध्यायः ॥ २२ ॥

त्रयोविंशतितमोऽध्यायः ।

अथातः सन्तर्पणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे सन्तर्पणीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

संतर्पयति यः स्निग्धैर्मधुरैर्गुरुपिच्छिलैः ।
नवान्नैर्नवमद्यैश्च मांसैश्चानूपवारिजैः ॥ ३ ॥
गोरसैर्गौडिकैश्चान्नैः पैष्टिकैश्चातिमात्रशः ।
चेष्टाद्वेषी दिवास्वप्न-शय्यासन-सुखे रतः ॥ ४ ॥
रोगास्तस्योपजायन्ते संतर्पणनिमित्तजाः ।

जो पुरुष स्निग्ध, मधुर, गुरु और पिच्छिल पदार्थों से शरीर का सन्तर्पण करते हैं, नये अन्न, नवीन मद्य, जलीय प्रदेश में या जलचर प्राणियों के मांस का सेवन, दूध से बने या गुड़ से बने पदार्थों का या पौष्टिक भोजनों का अति उपयोग करते हैं, हाथ पांव हिलाने की क्रिया करना पसन्द नहीं करते, दिन में सोना, आरामतलबी से उठना-बैठना जिन्दगी बसर करना पसन्द करते हैं उनकी सन्तर्पणजन्य रोग उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ३-४ ॥

प्रमेह-कण्डू-पिडकाः कोठ-पाण्ड्वामय-ज्वराः ॥ ५ ॥
कुष्ठान्यामप्रदोषाश्च मूत्रकृच्छ्रमरोचकः ।
तन्द्रा क्लैब्यमतिस्थौल्यमालस्यं गुरुगात्रता ॥ ६ ॥
इन्द्रियस्रोतसां लेपो बुद्धेर्मोहः प्रमीलकः ।
शोफाश्चैवंविधाश्चान्ये शीघ्रमप्रतिकुर्वतः ॥ ७ ॥

सन्तर्पणजन्य रोग—प्रमेह, कण्डू, फुन्सियां, कोठ (बर्रे के काटे के समान चकत्ते), पाण्डु रोग, ज्वर, कुष्ठ रोग, विषूचिका आदि, मूत्रकृच्छ्र, अरुचि, तन्द्रा, क्लीबता, अतिस्थूलता, आलस्य, शरीर का भारीपन, इन्द्रिय और स्रोतों का अवरोध, बुद्धिभ्रंश, निरन्तर एक ही बात की चिन्ता, सूजन एवं इसी प्रकार के अन्य रोग शीघ्र प्रतिकार न करने से उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ५-७ ॥

शस्तमुल्लेखनं तत्र विरेको रक्तमोक्षणम् ।
व्यायामश्चोपवासश्च धूमाश्च स्वेदनानि च ॥ ८ ॥
सक्षौद्रश्चाभयाप्राशः प्रायो रूक्षान्नसेवनम् ।
चूर्णप्रदेहा ये चोक्ताः कण्डूकोठविनाशनाः ॥ ९ ॥

त्रिफलारग्वधं पाठां सप्तपर्णं सवत्सकम् ।
मुस्तं निम्बं समदनं जलेनोत्कथितं पिबेत् ॥ १० ॥
तेन मेहादयो यान्ति नाशमभ्यस्यतो ध्रुवम् ।
मात्राकालप्रयुक्तेन संतर्पणसमुत्थिताः ॥ ११ ॥

ऐसी अवस्था में वमन, विरेचन, रक्तमोक्षण, व्यायाम, उपवास, धूमपान, स्वेद क्रिया, मधु के साथ हरीतकी खाना (या अगस्त्य हरीतकी का खाना), रूक्ष अन्नों का उपयोग, कण्डू और कोठ को नष्ट करने वाले जो चूर्ण या प्रदेह आरग्वधीय अध्याय में कहे हैं उनका सेवन, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला), अमलतास, पाढ़ल, सतवन, इन्द्रजौ, नागरमोथा, नीम की छाल, मैनफल इनका जल में काढ़ा बनाकर अभ्यास पूर्वक (नित्यप्रति) पीने से प्रमेह आदि रोग जो कि मात्रा और काल में सन्तर्पण क्रिया से उत्पन्न हुए हैं, नष्ट हो जाते हैं॥८-११॥

मुस्तमारग्वधः पाठा त्रिफला देवदारु च ।
श्वदंष्ट्रा खदिरो निम्बो हरिद्रे त्वक्च वत्सकात् ॥ १२ ॥
रसमेषां यथादोषं प्रातः प्रातः पिबेन्नरः ।
संतर्पणकृतैः सर्वैर्व्याधिभिः संप्रमुच्यते ॥ १३ ॥
एभिश्चोद्वर्तनोद्धर्षस्नानयोगोपयोजितैः ।
त्वग्दोषाः प्रशमं यान्ति तथा स्नेहोपसंहितैः ॥ १४ ॥
कुष्ठं गोमेदको हिङ्गु क्रौञ्चास्थि त्र्यूषणं वचा ।
वृषकैले श्वदंष्ट्रा च खराह्वा चाश्मभेदकः ॥ १५ ॥
तक्रेण दधिमण्डेन बदराम्लरसेन वा ।
मूत्रकृच्छ्रं प्रमेहं च पीतमेतद् व्यपोहति ॥ १६ ॥
तक्राभयाप्रयोगैश्च त्रिफलायास्तथैव च ।
अरिष्टानां प्रयोगैश्च यान्ति मेहादयः शमम् ॥ १७ ॥
त्र्यूषणं त्रिफला क्षौद्रं क्रिमिघ्नं साजमोदकम् ।
मन्थोऽयं सक्तवः सर्पिर्हितो लोहोदकाप्लुतः ॥ १८ ॥
व्योषं विडङ्गं शिग्रूणि त्रिफलां कटुरोहिणीम् ।
बृहत्यौ द्वे हरिद्रे द्वे पाठां सातिविषां स्थिराम् ॥ १९ ॥
हिङ्गुकेबूकमूलानि यवानीधान्यचित्रकम् ।
सौवर्चलमजाजीं च हपुषां चेति चूर्णयेत् ॥ २० ॥
चूर्ण-तैल-घृत-क्षौद्र-भागाः स्युर्मानतः समाः ।
सक्तूनां षोडशगुणो भागः संतर्पणं पिबेत् ॥ २१ ॥

प्रयोगादस्य शाम्यन्ति रोगाः संतर्पणोत्थिताः ।
प्रमेहा मूढवाताश्च कुष्ठान्यर्शांसि कामलाः ॥ २२ ॥
प्लीहा पाण्ड्वामयः शोफो मूत्रकृच्छ्रमरोचकः ।
हृद्रोगो राजयक्ष्मा च कासः श्वासो गलग्रहः ॥ २३ ॥
क्रिमयो ग्रहणीदोषाः श्वैत्र्यं स्थौल्यमतीव च ।
नराणां दीप्यते चाग्निः स्मृतिर्बुद्धिश्च वर्धते ॥ २४ ॥
व्यायामनित्यो जीर्णाशी यव-गोधूम-भोजनः ।
संतर्पणकृतैर्दोषैः स्थौल्यं मुक्त्वा विमुच्यते ॥२५॥

नागरमोथा, अमलतास, पाढ़ल, त्रिफला, देवदारु, गोखरू, खैर की छाल, नीम की छाल, हल्दी, दारुहल्दी, कूड़े की छाल, इन औषधियों से क्वाथ करके दोषानुसार प्रतिदिन प्रातःकाल पीने से, सन्तर्पणजन्य सब व्याधियों से मुक्त हो जाता है। स्नेह साधन द्वारा त्वचा के रोग मिट जाते हैं। कूठ, गोमेदक मणि, (या अंकोल) हींग, कौंच पक्षी की अस्थि, सोंठ, मिरच, पिप्पली, वच, वासा, इलायची, गोखरू, अजवायन, पाषाणभेद इन सब को तक्र या दधिमण्ड के साथ अथवा खट्टे बेरों के रसों के साथ पीने से मूत्रकृच्छ्र और प्रमेह रोग मिटते हैं। छाछ और हरड़ के प्रयोग से या छाछ और त्रिफला के प्रयोग से, या तक्रारिष्ट के प्रयोग से (प्रमेह में कहे अरिष्टों के उपयोग से) प्रमेह आदि रोग शान्त होते हैं। सोंठ, मिरच, पिप्पली, त्रिफला मधु, बायविडंग, अजवायन, पानी में घुला (घिसा) अगर, घी और सत्तू इनका मन्थ बनाकर पीने से प्रमेह आदि रोग मिटते हैं। सोंठ, मिरच, पीपल, वायविडंग, शोभाञ्जन, त्रिफला, कुटकी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, हल्दी, दारुहल्दी, पाढ़ल, अतीस, पृश्निपर्णी, हींग, केवूकमूल, अजवायन, धनिया, चीतामूल, सुवर्चल, जीरा हाउबेर, इनका चूर्ण कर लेना चाहिये। अब चूर्ण के बराबर तेल, घी और शहद प्रत्येक समान भाग मिलाना चाहिये। इसमें जौ के सत्तू का सोलहवां भाग मिला कर खाना चाहिये। इस प्रकार करने से सन्तर्पणजन्य रोग शान्त हो जाते हैं। प्रमेह, मूढ़वात, कुष्ठ, अर्श, कामला, प्लीहा, पाण्डुरोग, शोक, मूत्रकृच्छ्र, अरुचि, हृदय रोग, राजयक्ष्मा, कास, श्वास, गले का अवरोध, कृमि, ग्रहणी रोग, श्वित्र रोग, अतिस्थूलता रोग नष्ट होते हैं, जाठराग्नि दीप्त होती है और स्मृति एवं बुद्धि बढ़ती है। नित्य व्यायाम करने वाला, पहिले भोजन के जीर्ण होने पर खाने वाला, जौ और गेहूँ का भोजन करने वाला मनुष्य सन्तर्पणजन्य रोगों से मुक्त होता है, तथा स्थूलता का नाश होता है ॥ १२-२५ ॥

उक्तं संतर्पणोत्थानामपतर्पणमौषधम् ।
वक्ष्यन्ते सौषधाश्चोर्ध्वमपतर्पणजा गदाः ॥ २६ ॥
देहाग्नि-बल-वर्णौजः-शुक्र-मांस-बल-क्षयः ।
ज्वरः कासानुबन्धश्च पार्श्वशूलमरोचकः ॥ २७ ॥
श्रोत्रदौर्बल्यमुन्मादः प्रलापो हृदयव्यथा ।
विण्मूत्रसंग्रहः शूलं जङ्घोरुत्रिकसंश्रयम् ॥ २८ ॥
पर्वास्थिसंधिभेदश्च ये चान्ये वातजा गदाः ।
ऊर्ध्ववातादयः सर्वे जायन्ते तेऽपतर्पणात् ॥ २९ ॥
तेषां संतर्पणं तज्ज्ञैः पुनराख्यातमौषधम् ।
यत्तदात्वे समर्थं स्यादभ्यासे वा तदिष्यते ॥ ३१ ॥
सद्यः क्षीणो हि सद्यो वै तर्पणेनोपचीयते ।
नर्ते सन्तर्पणाभ्यासाच्चिरक्षीणस्तु पुष्यति ॥ ३१ ॥
देहाग्नि-दोष भैषज्य-मात्रा-कालानुवर्तिना ।
कार्यमत्वरमाणेन भेषजं चिरदुर्बले ॥ ३२ ॥
हिता मांसरसास्तस्मै पयांसि च घृतानि च ।
स्नानानि बस्तयोऽभ्यङ्गास्तर्पणास्तर्पणाश्च ये ॥ ३३ ॥
ज्वर-कास-प्रसक्तानां कृशानां मूत्रकृच्छ्रिणाम् ।
तृष्यतामूर्ध्ववातानां हितं वक्ष्यामि तर्पणम् ॥ ३४ ॥
शर्करा-पिप्पली-मूल-घृत-क्षौद्रैः समांशकैः ।
सक्तुर्द्विगुणितो वृष्यस्तेषां मन्थः प्रशस्यते ॥ ३५ ॥
सक्तवो मदिरा क्षौद्रं शर्करा चेति तर्पणम् ।
पिबेन्मारुतविण्मूत्रकफपित्तानुलोमनम् ॥ ३६ ॥
फाणितं सक्तवः सर्पिर्दधि-मण्डोऽम्ल-काञ्जिकम् ।
तर्पणं मूत्रकृच्छ्रघ्नमुदावर्तहरं पिबेत् ।
मन्थः खर्जूरमृद्वीका-वृक्षाम्लाम्लीक-दाडिमैः ।
परूषकैः सामलकैर्युक्तो मद्यविकारनुत् ॥ ३८ ॥
स्वादुरम्लो जलकृतः सस्नेहो रूक्ष एव वा ।
सद्यः संतर्पणो मन्थः स्थैर्यवर्णबलप्रदः ॥ ३९ ॥

सन्तर्पण से उत्पन्न रोगों की औषध कह दी, अब अपतर्पण को कहते हैं, तथा अपतर्पण जन्य रोग और उनकी औषध भी कहते हैं—अपतर्पण से ज्वर, कास एवं कास सम्बन्धी विकार, बल, कान्ति, ओज, शुक्र और मांस का क्षय, कर्णेन्द्रिय की निर्बलता, उन्माद, प्रलाप, हृदय-पीड़ा, मल-मूत्र का अवरोध,

जंघा, ऊरु और त्रिक (कटि के नीचे) प्रदेश में दर्द, पर्व, अस्थि और सन्धियों का टूटना, और अन्य वातजन्य रोग यथा ऊर्ध्ववात (वायु का ऊपर चढ़ना) आदि रोग अपतर्पण के कारण उत्पन्न होते हैं। अपतर्पण से उत्पन्न इन रोगों के लिये संतर्पण क्रिया औषध है। सन्तर्पण क्रिया दो प्रकार की है। यथा—सद्यः सन्तर्पण और अभ्यास (क्रमशः शनैः शनैः) सन्तर्पण। जो मनुष्य सहसा एकदम से क्षीण होता है, वह सद्यः सन्तर्पण क्रिया से पुष्ट होता है और देर से क्षीण हुआ पुरुष विना अभ्यास जन्य सन्तर्पण के पुष्ट नहीं होता। जो पुरुष देर से निर्बल हो, उसमें शरीर जाठराग्नि, दोष, औषध बल, मात्रा और समय का विचार करके शान्ति से (जल्दी न करके) चिकित्सा करनी चाहिये। इस प्रकार के रोगी के लिये मांस, रस, दूध, घी, स्नान, बस्तियां, मर्दन, सन्तर्पण करने वाले मन्थ आदि प्रयोग करने चाहिये।

ज्वर, कास के रोगियों के लिये, निर्बलों के लिये, मूत्रकृच्छ्र रोगियों के लिये, प्यास रोगवालों के लिये, ऊर्ध्ववात रोगियों के लिये, हितकारी तर्पण क्रिया का उपदेश करते हैं—शर्करा, पिप्पलीमूल, घी और शहद ये समान भाग लेकर इन सब से दुगुना सत्तू लेकर मन्थ बनाये। सत्तू, मदिरा, शहद और शर्करा इनसे मन्थ तैयार करके वायु, मल, मूत्र के अनुलोमन (अधोमार्ग से बाहर करने के लिये) और कफ, पित्त को अनुकूल करने के लिये प्रयोग करना चाहिये। फाणित (राब) सत्तू, घी, दहिमण्ड और धान्याम्ल कांजी, इनसे बना मन्थ मूत्रकृच्छ्र नाशक और उदावर्त्त रोग को नष्ट करने वाला तर्पण है। खजूर, मुनक्का, इमली, कोकम, अनारदाना, फालसा और आंवला उनसे बना हुआ मन्थ मदिरा के विकार को नष्ट करता है। खट्टे और मीठे (अनारदाना) पदार्थों से पानी में बना और घी युक्त या विना घी के बना हुआ मन्थ सद्यः सन्तर्पण है और स्थिरता, वर्ण कान्ति और बल को देता है॥ २६-३९ ॥

तत्र श्लोकः—संतर्पणोत्था ये रोगा रोगा ये चापतर्पणात्।
संतर्पणीये तेऽध्यायं सौषधाः परिकीर्तिताः ॥ ४० ॥

सन्तर्पण और अपतर्पण से उत्पन्न जो जो रोग हैं उनको तथा उनकी औषध को इस सन्तर्पणीय अध्याय में कह दिया ॥ ४० ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने योजनाचतुष्कें

सन्तर्पणीयो नाम त्रयोविंशतितमोऽध्यायः ॥ २३ ॥

चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ।

अथातो विधिशोणितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अथ विधिशोणितीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

विधिना शोणितं जातं शुद्धं भवति देहिनाम् ।
देश-कालौक-सात्म्यानां विधिर्यः संप्रकाशितः ॥ ३ ॥
तद्विशुद्धं हि रुधिरं बल-वर्ण-सुखायुषा ।
युनक्ति प्राणिनं प्राणः शोणितं ह्यनुवर्तते ॥ ४ ॥

देशसात्म्य, कालसात्म्य और अभ्याससात्म्य की जो विधि कही है उस विधि से मनुष्यों का जो रक्त उत्पन्न होता है, वह यदि विशुद्ध हो तो पुरुष को बल, वर्ण, सुख, आयु से युक्त करता है । क्योंकि प्राणियों के प्राण रक्त का अनुसरण करते रहते हैं ॥ ३-४ ॥

प्रदुष्टबहुतीक्ष्णोष्णमद्यैरन्यैश्च तद्विधैः ।
तथाऽतिलवणक्षारैरम्लैः कटुभिरेव च ॥ ५ ॥
कुलत्थ-माष-निष्पाव-तिल-तैल-निषेवणैः ।
पिण्डालुमूलकादीनां हरितानां च सर्वशः ॥ ६ ॥
जलजानूपशैलानां प्रसहानां च सेवनात् ।
दध्यम्ल-मस्तु-शुक्तानां सुरासौवीरकस्य च ॥ ७ ॥
विरुद्धानामुपक्लिन्नपूतीनां भक्षणेन च ।
भुक्त्वा दिवा प्रस्वपतां द्रवस्निग्धगुरूणि च ॥ ८ ॥
अत्यादानं तथा क्रोधं भजतां चाऽऽतपानलौ ।
छर्दि-वेग-प्रतीघातात्काले चानवसेचनात् ॥ ९ ॥
श्रमाभिघातसंतापैरजीर्णाध्यशनैस्तथा ।
शरत्कालस्वभावाच्च शोणितं संप्रदुष्यति ॥ १० ॥
ततः शोणितजा रोगाः प्रजायन्ते पृथग्विधाः ।

रक्त दूषित होने के कारण—अपनी प्रकृति से विपरीत, बहुत तीक्ष्ण, बहुत गरम मद्य अथवा इसी प्रकार के पानकादि (या अन्न से), बहुत नमक, क्षार या खटाई से, कड़वे रस से, कुलथी, उड़द, राजशिम्बी, तिल, तेल के खाने से, पिण्डालू (कंद ग्रन्थि, पांडरी रतालू, अरवी, घुईयां), मूली, और हरे शाक

सब्जियों के खाने से, पानी में रहने वाले तथा जलीय प्रदेश में रहने वाले, तथा पर्वत पर रहने वाले और मांस खाने वाले पक्षियों (बाज़, चील) का मांस खाने से, खट्टी दही, मस्तु, शुक्त (कांजीभेद), सुरा, सौवीरक (कांजी भेद) के खाने से, विरुद्ध, सड़े, गले, दुर्गन्ध युक्त भोजनों के खाने से, भोजन करके दिन में सोने से, तरल, स्निग्ध और भारी पदार्थों के सेवन से, बहुत अधिक खाने से, क्रोध. धूप, और अग्नि के अधिक सेवन से, वमन के वेग को रोकने से, रक्त के दूषित होने के समय (शरतकाल) में रक्त का मोक्षण न करने से, परिश्रम से, चोट से, सन्ताप से, अजीर्ण (विना भोजन के पचे पुनः खाने) से, अध्यशन अर्थात् भोजन के जीर्ण हुए विना फिर भोजन करने से तथा शरत्काल में स्वभाव से ही रक्त दूषित हो जाता है। रक्त के दूषित होने से नाना प्रकार के रक्तजन्य रोग उत्पन्न होते हैं ॥ ५-१० ॥

मुखपाकोऽक्षिरागश्च पूतिघ्राणास्यगन्धता ॥ ११ ॥
गुल्मोपकुश-वीसर्प-रक्तपित्त-प्रमीलकाः ।
विद्रधी रक्तमेहश्च प्रदरो वातशोणितम् ॥ १२ ॥
वैवर्ण्यमग्निनाशश्च पिपासा गुरुगात्रता ।
सन्तापश्चातिदौर्बल्यमरुचिः शिरसश्च रुक् ॥ १३ ॥
विदाहश्चान्नपानस्य तिक्ताम्लोद्गिरणं क्लमः ।
क्रोधप्रचुरता बुद्धेः संमोहो लवणास्यता ॥ १४ ॥
स्वेदः शरीरदौर्गन्ध्यं मदः कम्पः स्वरक्षयः ।
तन्द्रा निद्रातियोगश्च तमसश्चातिदर्शनम् ॥ १५ ॥
कण्डूरुक्कोठपिडकाः कुष्ठचर्मदलादयः ।
विकाराः सर्व एवैते विज्ञेयाः शोणिताश्रयाः ॥ १६ ॥
शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैरुपक्रान्ताश्च ये गदाः ।
सम्यक् साध्या न सिध्यन्ति रक्तजांस्तान्विभावयेत् ॥ १७ ॥

यथा मुखपाक, आंख की सूजन (आंख की लालिमा), नाक से बदबू, मुख का दुर्गन्ध, गुल्म, उपकुश, वीसर्प, रक्त पित्त, प्रमीलक, विद्रधि, रक्त प्रमेह, प्रदर, वातरक्त, विवर्णता, जाठराग्नि का नष्ट होना, प्यास, शरीर का भारीपन, सन्ताप, अतिनिर्बलता, अरुचि, शिर की दर्द, खान-पान का विदाह (अपचन), कडुवी या खट्टी डकार आना, निष्क्रियता, क्रोध की अधिकता, बुद्धिभ्रंश, मुख का नमकीनपन, पसीना आना, शरीर की दुर्गन्धता, मद, कम्पन, स्वरनाश, तन्द्रा, निद्रा का अधिक आना और आंखों के सामने

अन्धकार का अधिक आना, खाज, कोठ, फुन्सियां, कुष्ठ, चर्मदल (चर्म फटने का विशेष रोग), ये सब रोग रक्त के आश्रित होते हैं। जो रोग शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष आदि उपक्रमों (चिकित्सा) द्वारा भली प्रकार साध्य होने पर भी सिद्ध न हों तो इन रोगों को रक्तजन्य समझना चाहिये ॥ ११-१७ ॥

कुर्याच्छोणितरोगेषु रक्तपित्तहरीं क्रियाम्।
विरेकमुपवासं वा स्रावणं शोणितस्य वा ॥ १८ ॥
बलदोषप्रमाणाद्वा विशुद्ध्या रुधिरस्य वा।
रुधिरं स्रावयेज्जन्तोराशयं प्रसमीक्ष्य वा ॥ १९ ॥

चिकित्सा—रक्तजन्य रोगों में रक्त-पित्तनाशक क्रिया करनी चाहिये अर्थात् विरेचन, उपवास, अथवा रक्त का मोक्षण करना चाहिये। बल की मात्रा और रक्तजन्य व्याधि के स्वरूप की मात्रा, जितने रक्त के निकालने से रक्त शुद्ध हो जाय इतने दूषित रक्त के स्थान को देखकर मनुष्य का रक्त (थोड़ा या बहुत) निकालना चाहिये ॥ १८-१९ ॥

अरुणाभं भवेद्वाताद्विशदं फेनिलं तनु।
पित्तात्पीतासितं रक्तं स्त्यायत्यौष्ण्याच्चिरेण च ॥ २० ॥
ईषत्पाण्डु कफाद् दुष्टं पिच्छिलं तन्तुमद्घनम्।
द्विदोषलिङ्गं संसर्गात् त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम् ॥ २१ ॥

वायु से दूषित रक्त लाल रंग का, विशद स्वच्छ, झागदार पतला होता है। पित्त से दूषित रक्त पीला, काला, घन (सान्द्र), बहुत गरम और जड़ होता है। कफ से दूषित रक्त थोड़ा पीला, पिच्छिल, तन्तु (तागे जैसा) और घन ठोस होता है। दो दोषों के संसर्ग होने से दो दोषों के लक्षण होते हैं और तीन दोषों के मिलने से तीनों दोषों के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं ॥ २०-२१ ॥

तपनीयेन्द्रगोपाभं पद्मालक्तकसंनिभम्।
गुञ्जाफलसवर्णं च विशुद्धं विद्धि शोणितम् ॥ २२ ॥
नात्युष्णशीतं लघु दीपनीयं रक्तेऽपनीते हितमन्नपानम्।
तदा शरीरं ह्यनवस्थितासृगग्निर्विशेषेण च रक्षितव्यः ॥ २३ ॥
प्रसन्नवर्णेन्द्रियमिन्द्रियार्थानिच्छन्तमव्याहतपक्तृवेगम्।
सुखान्वितं पुष्टिबलोपपन्नं विशुद्धरक्तं पुरुषं वदन्ति ॥ २४ ॥
तदा तु रक्तवाहीनि रससंज्ञावहानि च।
पृथक् पृथक् समस्ता वा स्रोतांसि कुपिता मलाः ॥ २५ ॥

विशुद्ध रक्त का लक्षण—तपे हुए स्वर्ण (कुन्दन) के समान, बीर-

बहूटी के रंग का, लाल कमल या माहवर (जिसे औरतें पैर के तलुवों पर लगाती हैं) के समान रंग, लाल रत्ती के रंग के समान विशुद्ध रक्त का रंग होता है। रक्त मोक्षण करने के उपरान्त न तो बहुत गरम और न बहुत ठण्डा, लघु एवं दीपक (अग्नि को बढ़ाने वाला), खान-पान सेवन करना चाहिये। रक्त मोक्षण होने से शरीर का रक्त अनवस्थित अस्थिर होता है (रक्त का वेग बहुत चंचल होता है), इसलिये अग्नि की रक्षा विशेष रूप से करनी चाहिये, इसको मन्द नहीं होने देना चाहिये।

विशुद्ध रक्तवाले पुरुष का लक्षण—जिस पुरुषका वर्ण कान्ति और इन्द्रियां निर्मल हों, इन्द्रियां अपने विषयों की इच्छा करें, जाठराग्नि का बल तथा मल-मूत्र आदि की प्रवृत्ति बिना रुकावट के हों, मनुष्य का मन आनन्द अनुभव करे, प्रसन्नता और बल दीखता हो, उस पुरुष का रक्त शुद्ध जानना चाहिये ॥२५॥

मलिनाहारशीलस्य रजोमोहावृतात्मनः।
प्रतिहत्यावतिष्ठन्ते जायन्ते व्याधयस्तदा ॥ २६ ॥
मद-मूर्च्छाय-संन्यासास्तेषां विद्याद्विचक्षणः।
तथोत्तरं बलाधिक्यं हेतुलिङ्गोपशान्तिषु ॥ २७ ॥
दुर्बलं चेतसः स्थानं यदा वायुः प्रपद्यते।
मनो विक्षोभयन् जन्तोः संज्ञां संमोहयेत्तदा ॥ २८ ॥
पित्तमेवं कफश्चैवं मनो विक्षोभयन्नृणाम्।
संज्ञां नयत्याकुलतां विशेषश्चात्र वक्ष्यते ॥ २९ ॥
सक्तानल्पद्रुताभाषं चलस्खलितचेष्टितम्।
विद्याद्वातमदाविष्टं रूक्षश्यावारुणाकृतिम् ॥ ३० ॥
सक्रोधपरुषाभाषं संप्रहारकलिप्रियम्।
विद्याद् पित्तमदाविष्टं रक्तपीतासिताकृतिम् ॥ ३१ ॥
स्वल्पसंबन्धवचनं तन्द्रालस्यसमन्वितम्।
विद्यात्कफमदाविष्टं पाण्डुं प्रध्यानतत्परम् ॥ ३२ ॥
सर्वाण्येतानि रूपाणि सन्निपातकृते मदे।
जायते शाम्यति त्वाशु मदो मद्यमदाकृतिः ॥ ३३ ॥
यश्च मद्यमदः प्रोक्तो विषजो रौधिरश्च यः।
सर्व एते मदा नर्ते वातपित्तकफत्रयात् ॥ ३४ ॥

मलिन आहार खाने वाले एवं रज और तम से आवृत मन वाले के कुपित वात, पित्त, कफ दोष पृथक् पृथक् या मिलकर रसवाही, रक्तवाही या संज्ञावाही

स्रोतों को रोक लेते हैं, तब निम्न लिखित रोग उत्पन्न होते हैं। यथा—मद, मूर्छा और संन्यास ये रोग होते हैं। इन तीनों दोषों के हेतु, लिङ्ग (लक्षण) और शान्ति, उपचार में उत्तरोत्तर बल की अधिकता रहती है। अर्थात् मद से अधिक मूर्छा में और मूर्छा से अधिक संन्यास में बल की अधिकता रहती है। जिस समय चेतना का स्थान हृदय निर्बल हो जाता है और यहां पर वायु का प्रकोप हो, तब वह मन को क्षोभित करके मनुष्य की संज्ञा (चेतना) को ढांप लेता है, पित्त और कफ ही मन का विक्षोभ उत्पन्न करके संज्ञा का नाश करते हैं। विशेष रूप से पृथक् पृथक् कहते हैं रुक-रुक कर (तुतलाकर) बोलना, बहुत बोलना, जल्दी-जल्दी बोलना, चलते हुये लड़खड़ा करके गिरते-पड़ते चलना, चेहरे का रंग रूखा, काला, लाल सा होना, वातजन्य मद के लक्षण हैं। क्रोधयुक्त कठोर (गाली) वाणी बोलना, चोट या आघात करना, झगड़ा करना, चेहरे का रंग लाल, पीला या काला होना, पित्तजन्य मद के लक्षण हैं। थोड़ा परन्तु सम्बन्ध (पूर्वापर सम्बन्ध) युक्त बोलना, तन्द्रा और आलस्य का होना, चेहरे का रंग धूसरवर्ण, एक ध्यान में मग्न होना ये कफजन्य मद के लक्षण हैं। सन्निपातजन्य मद में सब दोषों के लक्षण मिलते हैं। मद्यजन्य मद में आकृति शराबी पुरुष के समान होती है और यह मद जल्दी चढ़ता है और जल्दी उतर जाता है। मद्यजन्य, विषजन्य, रक्तजन्य और दोषजन्य ये चारों प्रकार के मद, वात, पित्त, कफ को छोड़कर नहीं होते हैं ॥ २६–३४ ॥

नीलं वा यदि वा कृष्णमाकाशमथवाऽरुणम् ।
पश्यंस्तमः प्रविशति शीघ्रं च प्रतिबुध्यते ॥ ३५ ॥
वेपथुश्चाङ्गमर्दश्च प्रपीडा हृदयस्य च ।
कार्श्यं श्यावाऽरुणा छाया मूर्छाये वातसंभवे ॥ ३६ ॥
रक्तं हरितवर्णं वा वियत्पीतमथापि वा ।
पश्यंस्तमः प्रविशति सस्वेदश्च प्रबुध्यते ॥ ३७ ॥
सपिपासः ससन्तापो रक्तपीताकुलेक्षणः ।
संभिन्नवर्चाः पीताभो मूर्च्छाये पित्तसंभवे ॥ ३८ ॥
मेघसंकाशमाकाशमावृतं वा तमोघनैः ।
पश्यंस्तमः प्रविशति चिराच्च प्रतिबुध्यते ॥ ३९ ॥
गुरुभिः प्रावृतैरङ्गैर्यथैवाऽऽर्द्रेण चर्मणा ।
सप्रसेकः सहृल्लासो मूर्च्छाये कफसंभवे ॥ ४० ॥
सर्वाकृतिः सन्निपातादपस्मार इवाऽऽगतः ।

स जन्तुं पातयत्याशु विना बीभत्सचेष्टितैः ॥ ४१ ॥
दोषेषु मदमूर्छायाः कृतवेगेषु देहिनाम् ।
स्वयमेवोपशाम्यन्ति संन्यासो नौषधैर्विना ॥ ४२ ॥
वाग्देहमनसां चेष्टामाक्षिप्यातिबला मलाः ।
संन्यस्यन्त्यबलं जन्तुं प्राणायतनसंश्रिताः ॥ ४३ ॥
स ना संन्याससंन्यस्तः काष्ठीभूतो मृतोपमः ।
प्राणैर्वियुज्यते शीघ्रं मुक्त्वा सद्यःफलां क्रियाम् ॥ ४४ ॥

मूर्छा के लक्षण—आंखों के सामने आकाश नीला या काला अथवा लाल दीखता है, आंखों के सामने अन्धेरा आ जाता हो और मनुष्य मूर्छा से जल्दी ही सचेत हो जाय, शरीर में कम्पन और अंगों में पीड़ा हो, हृदय में वेदना का अनुभव हो, कृशता और छाया, मुख का वर्ण काला या लाल हो जाय, ये वातजन्य मूर्छा के लक्षण हैं। आकाश लाल पीला या हरा दिखाई दे, अन्धकार आता दिखाई दे और उठते समय शरीर पर पसीना, प्यास वा जलन हो, आंखें लाल या पीली, व्याकुल दीखती हों, मल पतला (अतीसार), चेहरे का रंग पीला पड़ जाता है, ये पित्तजन्य मूर्च्छा के लक्षण हैं। आकाश बादलों से घिरा या अन्धकार से आवृत दिखाई दे, अन्धकार सामने आता दिखाई दे, मूर्च्छा से देर में जागृत हो, भारी तथा गीले कपड़े में शरीर ढपा प्रतीत होता हो, (शरीर जकड़ा एवं भारी), मुख से लार बहना, बेचैनी, ये कफजन्य मूर्च्छा के लक्षण हैं। सन्निपात से सब दोषों के लक्षण होते हैं, अपस्मार के समान इसमें वेग आता है। इस रोग में बीभत्स चेष्टाओं (दांतों से काटना, हाथ पांव आदि फेंकने) के विना मनुष्य गिर पड़ता है। शरीरधारियों में जब मद-मूर्च्छा को उत्पन्न करने वाले दोषों का बल कम हो जाता है, तब ये रोग अपने आप शान्त हो जाते हैं, परन्तु 'संन्यास' रोग विना औषध के अच्छा नहीं होता। अति बलवान् मल वातादि दोष, प्राणायतन (हृदय आदि) अवयवों का आश्रय करके, वाणी, शरीर और मन की क्रियाओं को एकदम से बन्द कर देते हैं, तब मनुष्य निर्बल, निष्क्रिय, क्रियारहित, लकड़ी के सामान निर्जीव होकर गिर पड़ता है। इस समय यदि तात्कालिक फल देने वाली क्रियायें (अंजन, नस्य आदि) जल्दी न की जायें तो मनुष्य मर जाता है ॥ ३५-४४ ॥

दुर्गेऽम्भसि यथा मज्जद्भाजनं त्वरया बुधः ।
गृह्णीयात्तलमप्राप्तं तथा संन्यासपीडितम् ॥ ४५ ॥
अञ्जनान्यवपीडाश्च धूमः प्रधमनानि च ।

सूचीभिस्तोदनं शस्त्रैर्दाहः पीडा नखान्तरे ॥ ४६ ॥
लुञ्चनं केशलोम्नां च दन्तैर्दशनमेव च ।
आत्मगुप्तावघर्षश्च हितास्तस्यावबोधने ॥ ४७ ॥
संमूर्छितानि तीक्ष्णानि मद्यानि विविधानि च ।
प्रभूतकटुयुक्तानि[1] तस्यास्ये गालयेन्मुहुः ॥ ४८ ॥
मातुलुङ्गरसं तद्वन्महौषधसमायुतम् ।
तद्वत्सौवर्चलं[2] दद्याद्युक्तं मद्याम्लकाञ्जिकैः ॥ ४९ ॥
हिङ्गूषणसमायुक्तं यावत्संज्ञाप्रबोधनम् ।
प्रबुद्धसंज्ञमन्नैश्च लघुभिस्तमुपाचरेत् ॥ ५० ॥
विस्मापनैः स्मारणैश्च प्रियश्रुतिभिरेव च ।
पटुभिर्गीतवादित्रशब्दैश्चित्रैश्च दर्शनैः ॥ ५१ ॥
स्रंसनोल्लेखनैर्धूमैरञ्जनैः कवलग्रहैः ।
शोणितस्यावसेकैश्च व्यायामोद्घर्षणैस्तथा ॥ ५२ ॥
प्रबुद्धसंज्ञं मतिमाननुबन्धमुपक्रमेत् ।
तस्य संरक्षितव्यं हि मनः प्रलयहेतुतः ॥ ५३ ॥

गहरे पानी में डूबते हुए बर्तन को बुद्धिमान् मनुष्य जिस प्रकार तली में पहुंचने से पूर्व ही पकड़ने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार सन्यास रोगी की गिरने से पूर्व चिकित्सा करनी चाहिये। इसके लिये अंजन (आंखों में), अवपीडन (नासिका में औषधियों का रस डालना), नाक से धूम्रपान, प्रधमन (नाक में फुत्कार से औषध पहुंचाना), सुई चुभोना, शस्त्र आदि को गरम करके दाह करना, नखों में सुई, पिन आदि चुभोना, शिर या शरीर के बालों या लोमों को खींचना, दांतों से काटना, कौंच की फली का शरीर पर मलना, ये कर्म रोगी को चेतन करने के लिये हितकारी हैं। नाना प्रकार के तीक्ष्ण, मूर्च्छित एवं कटु द्रव्य युक्त मद्य रोगी के मुंह में डालने चाहिये। सोंठ में मिलकर बिजौरे निम्बू का रस, या मद्य और खट्टी कांजी में सौंचल मिलाकर वा हींग और सोंठ मिरच, पिप्पली इनको मिलाकर देवे, जबतक मनुष्य चेतन हो। चेतन होने पर हल्का भोजन देना चाहिये। चामत्कारिक बातों को सुनाना, पिछली बातों को याद कराना, मन पसन्द कहानी कहना, बढ़िया गाना-बजाना सुनाकर, सुन्दर सुन्दर चित्रों को दिखाकर, विरेचन, वमन, धूम्रपान, अञ्जन, कवल अर्थात् मुंह में औषध या गोली को रखकर, रक्त मोक्षण, व्यायाम कराके, अंगों के मर्दन से निरन्तर मनुष्य को जागृत चेतन रखने का यत्न करना

१. तिक्तानीति च पाठः। २. सौवीरकमिति च पाठः।

चाहिये। रोगी के मन को मोहित (मूर्च्छा उत्पन्न) करने वाले कारणों से बचा कर रखना चाहिये ॥। ४५–५३ ॥

स्नेहस्वेदोपपन्नानां यथादोषं यथाबलम्।
पञ्च कर्माणि कुर्वीत मूर्च्छायेषु मदेषु च ॥ ५४ ॥
अष्टाविंशत्यौषधस्य तथा तिक्तस्य सर्पिषः।
प्रयोगः शस्यते तद्वन्महतः षट्पलस्य वा ॥ ५५ ॥
त्रिफलायाः प्रयोगो वा सघृतक्षौद्रशर्करः।
शिलाजतुप्रयोगो वा प्रयोगः पयसोऽपि वा ॥ ५६ ॥
पिप्पलीनां प्रयोगो वा प्रयोगश्चित्रकस्य वा।
रसायनानां कौम्भस्य सर्पिषो वा प्रशस्यते ॥ ५७ ॥
रक्तावसेकाच्छास्त्राणां सतां सत्त्ववतामपि।
सेवनान्मदमूर्च्छायाः प्रशाम्यन्ति शरीरिणाम्॥ ५८ ॥ इति ॥

मूर्छा और मद रोगों में बल एवं दोष के अनुसार स्वेदन देकर पीछे से वमन, विरेचन, शिरोविरेचन (नस्य), आस्थापन और अनुवासन रूपी पंचकर्म करने चाहिये। उन्माद चिकित्सा में कहे 'पानीय कल्याण घृत' (अट्ठाईस दवाइयां), महातिक्त घृत या महाषट्पल घृत (कुष्ठ रोग में) का पान करना उत्तम है। घी, शहद और शर्करा के साथ त्रिफला का प्रयोग करना, अथवा दूध के साथ शिलाजीत का प्रयोग करना, दूध के साथ पिप्पली चूर्ण या चीतामूल का प्रयोग करना, रसायनों तथा दस वर्ष पुराने मटके में रक्खे हुए घी का प्रयोग करना उत्तम है। रक्त मोक्षण, वेद आदि सत् शास्त्रों का पढ़ना, सज्जन, सत्वगुणी, तपस्वी पुरुषों का सत्संग मद मूर्च्छा रोग को शान्त करते हैं ॥ ५४–५८ ॥

तत्र श्लोकौ—विशुद्धं चाविशुद्धं च शोणितं तस्य हेतवः।
रक्तप्रदोषजा रोगास्तेषु रोगेषु चौषधम् ॥ ५९ ॥
मद-मूर्च्छाय-संन्यास-हेतु-लक्षण-भेषजम्।
विधिशोणितकेऽध्याये सर्वमेतत्प्रकाशितम् ॥ ६० ॥

शुद्ध या अशुद्ध रक्त, इनके कारण, रक्त प्रदोष से उत्पन्न होने वाले रोग, इनकी औषध, मद, मूर्च्छाय, संन्यास रोगों के कारण लक्षण और औषध, ये सब विषय इस 'विधिशोणित' अध्याय में कह दिये ॥ ५९–६० ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने योजनाचतुष्के
विधिशोणितीयो नाम चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥ २४ ॥

पञ्चविंशतितमोऽध्यायः ।

अथातो यज्जःपुरुषीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब 'यज्जःपुरुषीय' अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१-२॥

पुरा प्रत्यक्षधर्माणं भगवन्तं पुनर्वसुम् ।
समेतानां महर्षीणां प्रादुरासीदियं कथा[1] ॥ ३ ॥
आत्मेन्द्रियमनोर्थानां योऽयं पुरुषसंज्ञकः ।
राशिरस्यामयानां च प्रागुत्पत्तिविनिश्चये ॥ ४ ॥
अथ काशिपतिर्वाक्यं वामकोऽर्थवदन्तरा ।
व्याजहारर्षिसमितिमभिसृत्याभिवाद्य च ॥ ५ ॥
किं नु स्यात् पुरुषो यज्जस्तज्जास्तस्याऽऽमयाः स्मृताः ।
न वेत्युक्ते नरेन्द्रेण प्रोवाचर्षीन् पुनर्वसुः ॥ ६ ॥
सर्व एवामित-ज्ञान-विज्ञान-च्छिन्न-संशयाः ।
भवन्तश्छेत्तुमर्हन्ति काशिराजस्य संशयम् ॥ ७ ॥

धर्म के प्रत्यक्ष किये हुए महर्षि आत्रेय एक वार महर्षियों के साथ मिलकर बातचीत करने लगे कि—'आत्मा, इन्द्रिय, मन और विषय' इन से युक्त जो 'पुरुष' बनता है इसकी तथा रोगों की उत्पत्ति किस प्रकार और कहां से होती है ? इस प्रसंग में काशि के राजा वामक ऋषिसभा के सन्मुख अभिवादन करके बोलने लगे—हे भगवन् ! जिन कारणों से पुरुषों की उत्पत्ति होती है, उन्हीं कारणों से रोग उत्पन्न होते हैं, यह मानना संगत है या नहीं ? ऋषि पुनर्वसु ने कहा कि—हे महर्षियों ! तुम सब अपार ज्ञान रखते हो, विज्ञान से तुम्हारे सब सन्देह मिट चुके हैं। आप लोग इन काशिपति के सन्देह को दूर करें ॥७॥

पारीक्षिस्तत्परीक्ष्याग्रे मौद्गल्यो वाक्यमब्रवीत् ।
आत्मजः पुरुषो रोगाश्चाऽऽत्मजाः कारणं हि सः ॥ ८ ॥
स चिनोत्युपभुङ्क्ते च कर्म कर्मफलानि च ।
नह्यते चेतनाधातोः प्रवृत्तिः सुखदुःखयोः ॥ ९ ॥

पारीक्षि मौद्गल्य कहने लगे कि—पुरुष आत्मा से उत्पन्न होता है और रोग भी आत्मा से ही उत्पन्न होते हैं। वही आत्मा आहार-विहारादि कर्मों को

१. महर्षय उपासीना प्रादुश्चक्रुरिमां कथामिति वा पाठः ।

करता है और इसीसे आरोग्यता या रोग रूपी कर्मफलों का भोग करता है। क्योंकि 'चेताना धातु' आत्मा के विना सुख दुःख के हेतु रूप आरोग्यता या व्याधि नहीं हो सकती ॥ ८-६ ॥

शरलोमा तु नेत्याह न ह्यात्माऽऽत्मानमात्मना।
योजयेद् व्याधिभिर्दुःखैर्दुःखद्वेषी कदाचन ॥ १० ॥
रजस्तमोभ्यां तु मनः परीतं सत्त्वसंज्ञकम्।
शरीरस्य समुत्पत्तौ विकाराणां च कारणम् ॥ ११ ॥

शरलोमा ऋषि बोले—यह ठीक नहीं। क्योंकि आत्मा स्वभाव से दुःखों से द्वेष रखने वाला 'आनन्दमय' है। इसलिये आत्मा अपने आपको व्याधियों के कष्टों से युक्त नहीं करेगा। वास्तव में, 'सत्त्व' नामक मन के साथ रज और तम गुण मिलकर पुरुष और रोग दोनों को ही उत्पन्न करते हैं ॥ १०-११ ॥

वार्योविदस्तु नेत्याह नह्येकं कारणं मनः।
नर्ते शरीरं शारीररोगा न मनसः स्थितः ॥ १२ ॥
रसजानि तु भूतानि व्याधयश्च पृथग्विधाः।
आपो हि रसवत्यस्ताः स्मृता निर्वृत्तिहेतवः ॥ १३ ॥

वार्योविद ऋषि बोले—यह ठीक नहीं है कि अकेला मन ही इनकी उत्पत्ति में कारण है। क्योंकि शरीर के विना न तो शारीरिक रोग हो सकते हैं और न मन ही रह सकता है। इसलिये प्राणियों की उत्पत्ति में कारण रस है और 'रस' से ही सब नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। रस की उत्पत्ति का जल ही इनकी उत्पत्ति का कारण है ॥ १२-१३ ॥

हिरण्याक्षस्तु नेत्याह न ह्यात्मा रसजः स्मृतः।
नातीन्द्रियं मनः सन्ति रोगाः शब्दादिजास्तथा ॥ १४ ॥
षड्धातुजस्तु पुरुषो रोगाः षड्धातुजास्तथा।
राशिः षड्धातुजो ह्येष सांख्यैराद्यैः प्रकीर्तितः ॥ १५ ॥

हिरण्याक्ष ऋषि बोले—कि नहीं, यह ठीक नहीं, आत्मा रसजन्य नहीं है, आत्मा और मन अतीन्द्रिय हैं। (कुछ रोग) भी शब्दादि (अतियोग अयोग, मिथ्यायोग) से उत्पन्न होते हैं। जो कि रसजन्य नहीं। वास्तव में पुरुष छः धातुओं (आत्मा और पृथ्वी अप, तेज, वायु एवं आकाश) से उत्पन्न होता है, रोग भी इन्हीं छः धातुओं से पैदा होते हैं। सांख्य दर्शन का सिद्धान्त भी है कि 'छः धातुओं के समूह का नाम पुरुष' है ॥ १४-१५ ॥

तथा ब्रुवाणं कुशिकमाह तन्नेति शौनकः ।
कस्मान्मातापितृभ्यां हि विना षड्धातुजो भवेत् ॥ १६ ॥
पुरुषः पुरुषाद् गौर्गोरश्वादश्वः प्रजायते ।
पैत्र्या मेहादयश्चोक्ता रोगास्तावत्र कारणम् ॥ १७ ॥

इस प्रकार कहते हुए कुशिक (हिरण्याक्ष) को शौनक ने कहा कि—माता पिता के विना छः धातु कैसे हो सकते हैं ? पुरुष से, पुरुष गौ से गाय, और घोड़े से घोड़ा उत्पन्न होता है और माता पिता के प्रमेहादि रोग पुत्र में आते हैं, इसलिये रोगों और पुरुषों की उत्पत्ति में कारण माता-पिता ही हैं ॥१७॥

भद्रकाप्यस्तु नेत्याह नह्यन्धोऽन्धात्प्रजायते ।
मातापित्रोरपि च ते प्रागुत्पत्तिर्न युज्यते ॥ १८ ॥
कर्मजस्तु मतो जन्तुः कर्मजास्तस्य चाऽऽमयाः ।
नह्यृते कर्मणो जन्म रोगाणां पुरुषस्य च ॥ १९ ॥

भद्रकाप्य ऋषि बोले—यह ठीक नहीं, क्योंकि अन्धे माता-पिता से पुत्र अन्धा उत्पन्न नहीं होता । मता-पिता की उत्पत्ति से पूर्व पुरुष का और रोग का होना असम्भव होता है । इसलिये कर्म से ही पुरुष उत्पन्न होता है और कर्म से ही रोग उत्पन्न होते हैं । कर्म के विना न तो पुरुष का और न रोगों का जन्म हो सकता है ॥ १८–१९ ॥

भरद्वाजस्तु नेत्याह कर्ता पूर्वं हि कर्मणः ।
दृष्टं न चाकृतं कर्म यस्य स्यात्पुरुषः फलम् ॥ २० ॥
भावहेतुः स्वभावस्तु व्याधीनां पुरुषस्य च ।
खरद्रवचलोष्णत्वं तेजोन्तानां यथैव हि ॥ २१ ॥

भरद्वाज ऋषि बोले कि—कर्म से पहिले कर्त्ता है । विना कर्मों के किये हुए कर्म का फल नहीं देखा जाता । प्रथम कर्म होने से फल होता है, इसलिये प्रथम कर्म होना चाहिये, जिसके फलस्वरूप पुरुष उत्पन्न होना चाहिये । कर्म को करने के लिये कर्त्ता (पुरुष) आवश्यक है । इसलिये मनुष्य और रोग की उत्पत्ति में कारण 'स्वभाव' ही है । जिस प्रकार पृथ्वी, अप, वायु और अग्नि में खरत्व (खरखरापन) द्रवत्व (तरलता), चलत्व (गति) और उष्णत्व (गरमी), स्वभाव से ही होता है ॥ २०-२१ ॥

काङ्कायनस्तु नेत्याह नह्यारम्भ फलं भवेत् ।
भवेत्स्वभावाद्भावानामसिद्धिः सिद्धिरेव वा ॥ २२ ॥

स्रष्टा त्वमितसंकल्पो ब्रह्मापत्यं प्रजापतिः ।
चेतनाचेतनस्यास्य जगतः सुखदुःखयोः ॥ २३ ॥

कांकायन ऋषि बोले—यह ठीक नहीं। यदि स्वभाव से ही रोग और पुरुषों की सिद्धि और असिद्धि होती हो, तो आरम्भ अर्थात् लोक और शास्त्र में प्रसिद्ध यज्ञ, कृषि, पढ़ाना, पढ़ना आदि कार्य निष्प्रयोजन होजायें। इस सुख-दुःख को बनाने वाला एवं चेतन तथा अचेतन जगत् का कर्त्ता अनन्त संकल्प वाला, ब्रह्मा का पुत्र प्रजापति है ॥ २२–२३ ॥

तन्नेति भिक्षुरात्रेयो नह्यपत्यं प्रजापतिः ।
प्रजाहितैषी सततं दुःखैर्युञ्ज्यादसाधुवत् ॥ २४ ॥
कालजस्त्वेव पुरुषः कालजास्तस्य चाऽऽमयाः ।
जगत्कालवशं सर्वं कालः सर्वत्र कारणम् ॥ २५ ॥

भिक्षुरात्रेय बोले—यह ठीक नहीं है। यह संसार प्रजापति से (पुत्र रूपेण) उत्पन्न नहीं हुआ। क्योंकि प्रजा की मंगलकामना करने वाला प्रजापति, संतान से द्वेष करने वाले की भांति किस प्रकार से दुःखों को देता, अपनी संतान को दुःखी करता, वास्तव में पुरुष काल से उत्पन्न होता है और रोग भी काल से ही उत्पन्न होते हैं। सम्पूर्ण जगत् काल के वश में है और सब जगह काल ही कारण है ॥ २४-२५ ॥

तथर्षीणां विवदतामुवाचेदं पुनर्वसुः ।
मैवं वोचत तत्त्वं हि दुष्प्रापं पक्षसंश्रयात् ॥ २६ ॥
वादान् सप्रतिवादान् हि वदन्तो निश्चितानिव ।
पक्षान्तं नैव गच्छन्ति तिलपीडकवद् गतौ ॥ २७ ॥
मुक्त्वैवं वादसंघट्टमध्यात्ममनुचिन्त्यताम् ।
नाविधूततमःस्कन्धे ज्ञेये ज्ञानं प्रवर्तते ॥ २८ ॥
येषामेव हि भावानां संपत्संजनयेन्नरम् ।
तेषामेव विपद्व्याधीन् विविधान् समुदीरयेत् ॥२९॥

इस प्रकार ऋषिमण्डल में विवाद चलते हुए देख कर पुनर्वसु ऋषि बोले कि इस प्रकार एक पक्ष को लेकर वादविवाद करते जाओगे तो किसी निश्चित तत्त्व को नहीं पहुंच सकोगे। जिस प्रकार तैल के कोल्हू (चरखी) पर बैठा हुआ मनुष्य चारों ओर अनन्त काल तक घूमता रहता है, परन्तु किसी निश्चित दिशा या स्थान पर नहीं पहुंचता। इस लिये इस वादविवाद को छोड़ कर मतलब की बात सोचो। अन्धकारसमूह को नष्ट किये बिना ज्ञातव्य विषय में ज्ञान

नहीं प्राप्त होता। जिस प्रकार के गुणों से पुरुष उत्पन्न होता है उसी प्रकार के अप्रशस्त गुणों से रोग उत्पन्न होते हैं। पांच महाभूतों से पुरुष उत्पन्न होता और इन्हीं महाभूतों से वात, पित्त, कफ, (रोगों के कारण) बनते हैं ॥२६-२९॥

अथात्रेयस्य भगवतो वचनमनुनिशम्य पुनरेव वामकः काशिपतिरुवाच भगवन्तमात्रेयं—भगवन्! संपन्निमित्तजस्य पुरुषस्य विपन्निमित्तजानां च रोगाणां किमभिवृद्धिकारणमिति ॥ ३० ॥

आत्रेय ऋषि के वचन सुन कर फिर काशिपति वामक कहने लगे। हे भगवन्! प्रशस्त गुणों से उत्पन्न पुरुष की और अप्रशस्त गुणों से उत्पन्न रोगों की वृद्धि करने वाले कौन से कारण हैं? ॥३०॥

तमुवाच भगवानात्रेयः—हिताहारोपयोग एक एव पुरुषस्याभिवृद्धिकरो भवति, अहिताहारोपयोगः पुनर्व्याधीनां निमित्तमिति ॥३१॥

वामक ऋषि को भगवान् आत्रेय ने उत्तर दिया। हितकारी वस्तुओं का आहार रूप में उपयोग करना ही पुरुष की वृद्धि में अकेला कारण है। अहितकारी वस्तुओं का सेवन करना ही रोगों की वृद्धि में एकमात्र कारण है ॥३१॥

एवंवादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—कथमिह भगवन्! हिताहितानामाहारजातानां लक्षणमनपवादमभिजानीयाम्, हितसमाख्यातानां चैव ह्याहारजातानामहितसमाख्यातानां च मात्राकालक्रियाभूमिदेहदोषपुरुषावस्थान्तरेषु विपरीतकारित्वमुपलभामहे ।३२। इति

इस प्रकार कहते हुए आत्रेय ऋषि को अग्निवेश ने पूछा—हे भगवन्! किस प्रकार से हितकारी या अहितकारी आहार रूप पदार्थों को बिना दोष (अपवाद) के जान सकते हैं। क्योंकि हितकारी पदार्थ एवं अहितकारी पदार्थ मात्रा, काल, क्रिया (संस्कार), भूमि, देह, दोष और पुरुष भेद से विपरीत, विरुद्ध गुण वाले हितकारी पदार्थ अहितकारी, और अहितकारी पदार्थ हितकारी बन जाते हैं ॥ ३२ ॥

तमुवाच भगवानात्रेयः—यदाहारजातमग्निवेश! समांश्चैव शरीरधातून् प्रकृतौ स्थापयति विषमांश्च समीकरोतीत्येतद्धितं विद्धि, विपरीतमहितमिति; एतद्धिताहितलक्षणमनपवादं भवति ॥ ३३ ॥

अग्निवेश को भगवान् आत्रेय ने उत्तर दिया—हे अग्निवेश जो भोजन (आहार के पदार्थ) शरीर के सम धातुओं को प्रकृति अर्थात् समानावस्था में रखता है और विषम धातुओं को सम करता है वह हितकारी है। इसके विपरीत पदार्थ अहितकारी हैं, हित और अहित पदार्थों का यह लक्षण दोषशून्य है ॥ ३३ ॥

एवंवादिनं च भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—भगवन्! नत्वेतदेवमुपदिष्टं भूयिष्ठकल्पाः सर्वभिषजो विज्ञास्यन्ति ॥ ३४ ॥

तमुवाच भगवानात्रेयः—येषां विदितमाहारतत्त्वमग्निवेश! गुणतो द्रव्यतः कर्मतः सर्वावयवतश्च मात्रादयो भावाः, त एतदेवमुपदिष्टं विज्ञातुमुत्सहन्ते। यथा तु खल्वेतदुपदिष्टं भूयिष्ठकल्पाः सर्वभिषजो विज्ञास्यन्ति, तथैतदुपदेक्ष्यामो मात्रादीन् भावानुदाहरन्तः। तेषां हि बहुविधविकल्पा भवन्ति। आहारविधिविशेषांस्तु खलु लक्षणतश्चावयवतश्चानुव्याख्यास्यामः॥ ३५ ॥

तद्यथा—आहारत्वमाहारस्यैकविधमर्थाभेदात्; स पुनर्द्वियोनिः, स्थावरजङ्गमात्मकत्वात्; द्विविधप्रभावो हिताहितोदर्कविशेषात्; चतुर्विधोपयोगः पानाशन-भक्ष्य-लेह्योपयोगात्; षडास्वादो रसभेदतः षड्विधत्वात्; विंशतिगुणो गुरु-लघु-शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-मन्द-तीक्ष्ण-स्थिर-सर-मृदु-कठिन-विशद-पिच्छिल-श्लक्ष्ण-खर-सूक्ष्म-स्थूल-सान्द्र-द्रवा-नुगमात्; अपरिसंख्येयविकल्पो द्रव्य-संयोग-करण-बाहुल्यात् ॥३६॥

इस प्रकार कहते हुए आत्रेय ऋषि को अग्निवेश बोले—इतना कह देने से सब वैद्य सब बातों को नहीं समझ सकेंगे। अग्निवेश को भगवान् आत्रेय ने कहा—कि जिन वैद्यों को आहारयोग्य पदार्थ गुण, (गुरु लघु आदि) कारण (यह आप्य है, यह आग्नेय है इत्यादि), कर्म (यह जीवनीय, यह बृंहणीय इत्यादि) सब अवयव २ (रस, वीर्य, विपाक प्रभाव से), मात्रा एवं पुरुष की अवस्था का ज्ञान होगा वे ही इतने (ऊपर कहे हुए) उपदेश से समझ सकते हैं। जिस प्रकार कहने से सब वैद्य सम्पूर्ण रूप में जान सकेंगे, उसी प्रकार से मात्रा आदि वस्तुओं को उदाहरण के साथ कहेंगे। इनके बहुत से भेद होते हैं। आहार की जो विशिष्ट विधि है, उसको प्रथम साधारण रूप में कहकर फिर विभाग पूर्वक कहेंगे। यथा—आहारत्व (खाद्यत्व) गुण समान होने से सम्पूर्ण आहार एक प्रकार का है, क्योंकि अर्थ में कोई भेद नहीं है। इस आहार के दो उत्पत्ति स्थान हैं, स्थावर और जंगम। इस आहार के दो प्रकार के प्रभाव हैं, एक हितफलजनक और दूसरा अहितफलजनक। इस आहार का चार प्रकार से उपयोग होता है। यथा—पान (पीना), अशन (दांतों से काटकर खाना), भक्ष्य (चबाना) और लेह्य (चाटने) के उपयोग से। इस आहार के छः स्वाद होने से यह रस भेद से छः प्रकार का है, क्योंकि रस छः प्रकार के हैं। इस आहार के गुण बीस प्रकार के हैं। यथा—गुरु, लघु,

शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मन्द, तीक्ष्ण, स्थिर, सर, मृदु, कठिन, विशद, पिच्छिल श्लक्ष्ण, खर, सूक्ष्म, स्थूल, सान्द्र, द्रव भेद से। द्रव्य (शूकधान्यादि), संयोग (खाद्य पदार्थों का मिश्रण), करण (संस्कार) भेद से आहार-द्रव्य असंख्य प्रकार का हो जाता है ॥ ३४-३६ ॥

तस्य खलु ये ये विकारावयवा भूयिष्ठमुपयुज्यन्ते, भूयिष्ठकल्पानां च मनुष्याणां प्रकृत्यैव हिततमाश्चाहिततमाश्च, तांस्तान्यथावदनुव्याख्यास्यामः ॥ (१)

तद्यथा-लोहितशालयः शूकधान्यानां पथ्यतमत्वे श्रेष्ठतमा भवन्ति, मुद्गाः शमीधान्यानां, आन्तरिक्षमुदकानां, सैन्धवं लवणानां, जीवन्तीशाकं शाकानां, ऐणेयं मृगमांसानां, लावः पक्षिणां, गोधा बिलेशयानां, रोहितो मत्स्यानां, गव्यं सर्पिषां, गोक्षीरं क्षीराणां, तिलतैलं स्थावरजातानां स्नेहानां, वराहवसा आनूपमृगवसानां, चुलुकीवसा मत्स्यवसानां, पाकहंसवसा जलचरविहङ्गवसानां, कुक्कुटवसा विष्किरशकुनिवसानां, अजमोदः शाखादमेदसां, शृङ्गवेरं कन्दानां, मृद्वीका फलानां, शर्करा इक्षुविकाराणामिति प्रकृत्यैव हिततमानामाहारविकाराणां प्राधान्यतो द्रव्याणि व्याख्यातानि भवन्ति ॥ (२)

प्रायः करके जो जो आहार पदार्थ हितकारी और अहितकारी कहे जाते हैं और बहुत अधिक व्यवहार में आते हैं, उन पदार्थों का यहां वर्णन करते हैं। जैसे—लाल चावल शूकधान्यों में सबसे अधिक हितकारी (श्रेष्ठ) है। मूंग शमीधान्यों में, बरसात का पानी सब पानियों में, सेंधा नमक सब नमकों में, जीवन्ती का शाक सब शाकों में, मृग का मांस सब पशुओं के मांसों में, बटेर सब पक्षियों में, गोधा (गोह) बिल में रहने वाले जन्तुओं में, रोहित मत्स्य सब मछलियों में, गौ का घी सब घी में, गाय का दूध सब दूधों में, तिल का तेल स्थावरजन्य सब स्नेहों में, वराह की चर्बी सब जलचर प्राणियों की चर्बियों में, चुलुकी (शुशु) मछली की चर्बी सब मछलियों की चर्बियों में, सफेद हंस की वसा सब जलचर पक्षियों की वसा में, मुर्गे की चर्बी बिखेर कर खाने वाले सब पक्षियों में, बकरी का मेद शाखा या टहनी खाने वाले पशुओं की मेदों में, अदरख सब कन्दों अर्थात् भूमि में रहने वाले फलों में, किशमिश सब फलों में, शक्कर गन्ने के रस से बनी सब वस्तुओं में श्रेष्ठ है। ये भोज्य पदार्थों में स्वभाव से हितकारी द्रव्य कह दिये हैं ॥

अत ऊर्ध्वमहितानप्युपदेक्ष्यामः-यवकाः शूकधान्यानामपथ्यतमत्वे

प्रकृष्टतमा भवन्ति, माषाः शमीधान्यानां, वर्षानादेयमुदकानां, औषरं लवणानां, सर्षपशाकं शाकानां, गोमांसं मृगमांसानां, काणकपोतः पक्षिणां, भेको बिलेशयानां, चिलिचिमो मत्स्यानां, आविकं सर्पिः, अविक्षीरं क्षीराणां, कुसुम्भस्नेहः स्थावरस्नेहानां, महिषवसा आनूपमृगवसानां, कुम्भीरवसा मत्स्यवसानां, काकमद्गुवसा जलचरविहङ्गवसानां, चटकवसा विष्किरशकुनिवसानां, हस्तिमेदः शाखादमेदसां, लिकुचं फलानां, आलुकं कन्दानां, फाणितमिक्षुविकाराणाम्.—इति प्रकृत्यैव अहिततमानामाहारविकाराणां प्रकृष्टतमानि द्रव्याणि व्याख्यातानि भवन्ति—इति हिताहितावयवो व्याख्यात आहारविकाराणाम् ॥ ३७ ॥

अब इसके अनन्तर अहित पदार्थों का उपदेश करेंगे—यवक (जई, जवी) शूक-धान्यों में सबसे अपथ्य एवं अति निन्दित है। माष (उड़द) शमी-धान्यों में, बरसात में नदियों का पानी सब पानियों में, ऊसर देश मे उत्पन्न नमक सब नमकों में, सरसों का शाक सब शाकों में, गाय का मांस सब पशुओं के मांसों में, छोटा कबूतर सब पक्षियों में, मेंढक बिल में रहने वालों में, चिलचिम मत्स्य सब मछलियों में, भेड़ का घी सब घीयों में, भेड़ का दूध सब दूधों में, कुसुम्भ का तेल सब स्थावर तैलों में, भैंस की चर्बी सब जलीय देश के पशुओं की चर्बियों में, कुम्भीर मछली की वसा सब मछलियों की वसा में, पानी के कौवे (पनकव्वा) की चर्बी सब जलचर पक्षियों में, कारण्डव (पनडुब्बी हंसभेद) की चर्बी सब जलचारी पक्षियों की चर्बियों में, हाथी की चर्बी शाखा खानेवाले सब पशुओं में, लिकुच, (बड़हल, ल्यो) सब प्रकार के फलों में, आलू सब कन्दों में, राब गन्ने से बने सब विकारों में, चिड़िया की चर्बी बिखेर कर खाने वाले सब पक्षियों की चर्बियों में निन्दित हैं। ये भोज्य पदार्थों मे स्वभाव से ही हितकारी एवं निन्दनीय द्रव्य कहे गये हैं ॥ ३७ ॥

अतो भूयः कर्मौषधानां च प्राधान्यतः सानुबन्धानि च द्रव्याण्यनुव्याख्यास्यामः। तद्यथा—अन्नं वृत्तिकराणां श्रेष्ठं, उदकमाश्वासकराणां, सुरा श्रमहराणां, क्षीरं जीवनीयानां, मांसं बृंहणीयानां, रसस्तर्पणीयानां, लवणमन्नद्रव्यरुचिकराणां, अम्लं हृद्यानां, कुक्कुटो बल्यानां, नक्ररेतो वृष्याणां, मधु श्लेष्मपित्तप्रशमनानां, सर्पिर्वातपित्तप्रशमनानां, तैलं वातश्लेष्मप्रशमनानां, वमनं श्लेष्महराणां, विरेचनं पित्तहराणां, बस्तिर्वातहराणां, स्वेदो मार्दवकराणां, व्यायामः स्थैर्यकराणां, क्षारः पुंस्त्वोपघातिनां, तिन्दुकमनन्नद्रव्यरुचिकराणां, आमं कपित्थमकण्ठ्यानां, आ-

विकं सर्पिरहृद्यानां, अजाक्षीरं शोषघ्न-स्तन्य-सात्म्य-शोषघ्न-रक्त-सांग्रा-हिक-रक्त-पित्त-प्रशमनानां, अविक्षीरं श्लेष्मपित्तोपचयकराणां, महिषी-क्षीरं स्वप्नजननानां, मन्दकं दध्यभिष्यन्दकराणां, गवेधुकान्नं कर्षणीया-नां, उद्दालकान्नं रूक्षणीयानां, इक्षुर्मूत्रजननानां, यवाः पुरीषजननानां, जाम्बवं वातजननानां, शष्कुल्यः श्लेष्मपित्तजननानां, कुलत्था अम्ल-पित्तजननानां, माषाः श्लेष्मपित्तजननानां, मदनफलं वमनास्थापनानु-वासनोपयोगिनां, त्रिवृत्सुखविरेचनानां, चतुरङ्गुलं मृदुविरेचनानां, स्नुक्पयस्तीक्ष्णविरेचनानां, प्रत्यक्पुष्पा शिरोविरेचनानां, विडङ्गं क्रिमिघ्नानां, शिरीषो विषघ्नानां, खदिरः कुष्ठघ्नानां, रास्ना वातहराणां, आमलकं वयःस्थापनानां, हरीतकी पथ्यानां, एरण्डमूलं वृष्यवात-हराणां, पिप्पलीमूलं दीपनीय-पाचनीयानाह-प्रशमनानां, चित्रकमूलं दीपनीय-पाचनीय-गुदशूलशोथार्शो-हराणां, पुष्करमूलं हिक्का-श्वास-कास-पार्श्व-शूलहराणां, मुस्तं संग्राहक-दीपनीय-पाचनीयानां, उदीच्यं निर्वाप-णीय-दीपनीय-पाचनीय-च्छर्द्यतीसार-हराणां, कट्वङ्गं संग्राहक-दीपनीय-पाचनीयानां, अनन्ता संग्राहक-दीपनीय-रक्त-प्रशमनानां, अमृता संग्रा-हक-वातहरदीपनीय-श्लेष्म-शोणित-विबन्ध-प्रशमनानां, बिल्वं संग्राहक-दीपनीयवात-कफ-प्रशमनानां, अतिविषा दीपनीय-पाचनीय-संग्राहक-सर्व-दोष हराणां, उत्पल-कुमुद-पद्म-किञ्जल्कं संग्राहक रक्त-पित्त-प्रशमनानां, दुरालभा पित्त-श्लेष्म-प्रशमनानां, गन्धप्रियङ्गुः शोणित-पित्तातियोग-प्रशम-नानां, कुटजत्वक् श्लेष्म-पित्त-रक्त-संग्राहकोपशोषणानां, काश्मर्यफलं रक्तसं-ग्राहक-रक्त-पित्त-प्रशमनानां, पृश्निपर्णी संग्राहक-वातहर-दीपनीय-वृष्या-णां, विदारिगन्धा वृष्यसर्वदोषहराणां, बला संग्राहक-बल्य-वात-हराणां, गोक्षुरको मूत्रकृच्छ्रानिलहराणां, हिङ्गुनिर्यासश्छेदनीय-दीपनीय-भेदनी-यानुलोमिक-वात-कफ-प्रशमनानां, अम्लवेतसो भेदनीय-दीपनीयानुलोमि-क-वात-श्लेष्म-प्रशमनानां, यावशूकः स्रंसनीय-पाचनीयार्शोघ्नानां, तक्रा-भ्यासो ग्रहणी-दोषार्शो-घृत-व्यापत्प्रशमनानां, क्रव्याद्-मांस-रसाभ्यासो ग्रहणी-दोष-शोषार्शोघ्नानां, घृतक्षीराभ्यासो रसायनानां, समघृतशक्तुप्रा-शाभ्यासो वृष्योदावर्तहराणां, तैलगण्डूषाभ्यासो दन्त-बल-रुचि-कराणां, चन्दनोदुम्बरं दाहनिर्वापणालेपनानां, रास्नागुरुणी शीतापनयन-प्रलेप-नानां, लामज्जकोशीरे दाहत्वग्दोषस्वेदापनयप्रलेपनानां; कुष्ठं वातहराभ्य-ङ्गोपनाह-योगिनां, मधुकं चक्षुष्य-वृष्य-केश्य-कण्ठ्य-वर्ण्य-विरजनीय-

रोपणीयानां, वायुः प्राणसंज्ञाप्रधानहेतूनां, अग्निरामस्तम्भ-शीत-शूलो-द्वेपन-प्रशमनानां, जलं स्तम्भनीयानां, मृद्भृष्टलोष्ट्रनिर्वापितमुदकं तृष्णातियोगप्रशमनानां, अतिमात्राशनमामप्रदोषहेतूनां,तथाऽग्न्यभ्यवहारोऽग्निसंधुक्षणानां, यथासात्म्यं चेष्टाभ्यवहारावुपसेव्यानां, कालभोजनमारोग्यकराणां, वेगसंधारणमनारोग्यकराणां, तृप्तिराहारगुणानां, मद्यं सौमनस्यजननानां, मद्याक्षेपो धी-धृति-स्मृति-हराणां, गुरुभोजनं दुर्विपाकानां, एककालभोजनं सुखपरिणामकराणां, स्त्रीष्वतिप्रसङ्गः शोषहाराणां, शुक्रवेगनिग्रहः षाण्ढ्यकराणां, पराघातनमन्नाश्रद्धाजननानां, अनशनमायुषो ह्रासकराणां, प्रमिताशनं कर्षणीयानां, अजीर्णाध्यशनं ग्रहणीदूषणानां, विषमाशनमग्निवैषम्यकराणां, विरुद्धवीर्याशनं निन्दितव्याधिकराणां, प्रशमः पथ्यानां, आयासः सर्वापथ्यानां, मिथ्यायोगो व्याधिमुखानां, रजस्वलाभिगमनमलक्ष्मीमुखानां, ब्रह्मचर्यमायुष्याणां, सकल्पो वृष्याणां, दौर्मनस्यमवृष्याणां, अयथाबलमारम्भः प्राणोपरोधिनां, विषादो रोगवर्धनानां, स्नानं श्रमहराणां, हर्षः प्रीणनानां, शोकः शोषणानां, निर्वृतिः पुष्टिकराणां, पुष्टिः स्वप्नकराणां,स्वप्नस्तन्द्राकराणां, सर्वरसाभ्यासो बलकराणां, एकरसाभ्यासो दौर्बल्यकराणां, गर्भशल्यमनाहार्याणां, अजीर्णमुद्धार्याणां, बालो मृदु भेषजीयानां, वृद्धो याप्यानां, गर्भिणी तीक्ष्णौषध-व्यायाम-वर्जनीयानां, सौमनस्यं गर्भधारकाणां, संनिपातो दुश्चिकित्स्यानां, आमो विषमचिकित्स्यानां, ज्वरो रोगाणां, कुष्ठं दीर्घरोगाणां, राजयक्ष्मा रोगसमूहानां, प्रमेहोऽनुषङ्गिणां, जलौकसोऽनुशस्त्राणां, बस्तिस्तन्त्राणां, हिमवानौषधिभूमीनां, मरुभूरारोग्यदेशानां, अनूपोऽहितदेशानां, निर्देशकारित्वमातुरगुणानां, भिषक् चिकित्साङ्गानां, नास्तिको वर्ज्यानां, लौल्यं क्लेशकराणां, अनिर्देशकारित्वमरिष्टानां, अनिर्वेदो वार्तलक्षणानां, वैद्यसमूहो निःसंशयकराणां, योगो वैद्यगुणानां, विज्ञानमोषधीनां, शास्त्रसहितस्तर्कः साधनानां, संप्रतिपत्तिः कालज्ञान-प्रयोजनानां, अव्यवसायः कालातिपत्तिहेतूनां, दृष्टकर्मता निःसंशयकराणां, असमर्थता भयकराणां, तद्विद्यसंभाषा बुद्धिवर्धनानां, आचार्यः शास्त्राधिगमहेतूनां, आयुर्वेदोऽमृतानां, सद्वचनमनुष्ठेयानां, असंबद्धवचनमसंग्रहणसर्वाहितानां, सर्वसंन्यासः सुखानामिति ॥ ३८ ॥

अब तक सब प्रकार के हितकारी वा अहितकारी मुख्य-मुख्य द्रव्य कहे हैं।

अब इसके आगे बस्ति आदि कर्मों में तथा ओषधियों में मुख्य रूप से—अनुबन्ध सहित द्रव्यों की व्याख्या करेंगे—

शरीर की स्थिति करने वाले सब पदार्थों में अन्न श्रेष्ठ है। धैर्य, उत्साह पैदा करने वाले सब पदार्थों में पानी, थकान मिटाने वाले सब पदार्थों में शराब, जीवन देने वाले पदार्थों में दूध, बृंहण करने वालों में मांस, अन्नद्रव्य भोजन में रुचि उत्पन्न करनेवालों में नमक, हृदय को पसंद आने वालों में अम्ल रस, बलकारक वस्तुओं में कुक्कुट, वृष्य (शुक्रवर्धक) वस्तुओं में नक्र (मकर) का वीर्य, कफ-पित्तनाशक वस्तुओं में मधु, वातपित्तनाशकों में घी, वात-कफनाशक वस्तुओं में तेल, कफनाशक वस्तुओं में विरेचन, वातनाशक वस्तुओं में बस्तिकर्म, कामलता उत्पन्न करने वालों में स्वेदन, स्थिरता करनेवालों में व्यायाम, पुरुषत्व नाश करने वालों में क्षार, अन्न के अन्दर अरुचि करने वाले पदार्थों में तिन्दुक, आवाज़ या गला बिगाड़ने वाले पदार्थों में कच्चा कैथ, हृदय के लिये ग्लानिकारक अप्रिय वस्तुओं में भेड़ का घी; शोषनाशक, दूध के लिये हितकारी दोषनाशक, रक्त बन्द करने वालों, रक्त-पित्तनाशक वस्तुओं में बकरी का दूध; अभिष्यन्द अर्थात् कफवर्द्धक वस्तुओं में मन्दक दही, [1] कृश करने वाली वस्तुओं में गवेधुक (कसई), कफ पित्त को बढ़ाने वालों में भेड़ का दूध, नींद लाने वालों में भैंस का दूध, विरूक्षता पैदा करने वालों में जंगली कोदों (वनकोद्रव), मूत्र लाने वालों में गन्ना, मल लाने वालों में जौ, वात पैदा करने वालों में जामुन, कफ पित्त पैदा करने वालों में तिल में तले हुए बड़े या कचौरी, अम्लपित्त पैदा करने वालों में कुलथी, कफ पित्त करने वालों में उड़द; वमन, आस्थापन और अनुवासन के लिये उपयोगी वस्तुओं में मैनफल, सुखपूर्वक विरेचन करने वालों में निशोथ; मृदु विरेचकों में अमलतास, तीक्ष्ण विरेचक वस्तुओं में थोर का दूध, शिरोविरेचनों में चिरचिटे के चावल, कृमिनाशकों में वायविडंग, विषनाशकों में शिरीष (सिरस), कुष्ठ रोग नाशकों में खैर, वातनाशकों में रास्ना, आयु स्थिर करने वालों में आंवला, पथ्य हितकारी वस्तुओं में छोटी हरड़; वृष्य, वातनाशक वस्तुओं में एरण्ड की जड़; दीपन पाचन, अफारे को नाश करने वाली वस्तुओं में पिप्पलीमूल; दीपन, पाचन, गुदा की शोथ, बवासीर और शूलनाशक वस्तुओं में चित्रकमूल; हिक्का, श्वास, कास और पार्श्वशूल नाशक द्रव्यों में पुष्कर मूल; संग्राहक, दीपन, पाचन गुण

१. मन्दक—मन्द हुई दूध में पांच गुना पानी मिलाकर जो दही बनाई जाय।

वाली वस्तुओं में नागरमोथा; निर्वापण (दाह को कम करनेवाली) दीपन, पाचन, वमन, अतिसार को नष्ट करनेवाली वस्तुओं में नेत्रबाला; संग्राहक, पाचन और दीपनीय वस्तुओं में टेंटू (स्योनाक); संग्राहक, रक्त पित्तनाशक वस्तुओं में सारिवा; संग्राहक, दीपनीय, वात-कफ-रक्त और विबन्धनाशक वस्तुओं में गिलोय, संग्राहक, दीपन, वात कफनाशक वस्तुओं में बेलगिरी; दीपन, पाचन, संग्राहक सर्वदोषनाशकों में अतीस; संग्राहक, रक्त-पित्तनाशक वस्तुओं में नील कमल; कमल श्वेत, पद्म का केशर (कमल केशर); पित्त-कफनाशक वस्तुओं में धमासा; रक्त-पित्त के अतियोग को कम करने वाली वस्तुओं में गन्धपियंगू (घेउला); कफ-पित्त-रक्त संग्राहक, शुष्क करने वाली वस्तुओं में कुड़े की छाल, रक्तसंग्राहक, रक्त-पित्तनाशक-वस्तुओं में गम्भारी का फल; संग्राहक, वातनाशक, दीपनीय और शुक्रवर्धक वस्तुओं में पृश्निपर्णी; वृष्य और सर्वदोषनाशक वस्तुओं में विदारीकन्द, संग्राहक, बलकारक, वातनाशक वस्तुओं में बला (खरैंटी); मूत्रकृच्छ्र, वायुनाशक वस्तुओं में गोखरू; छेदनीय, दीपनीय, आनुलोमिक (वायु मल-मूत्र का अनुलोमन करने वाले), वात-कफनाशक वस्तुओं में अम्लवेतस; मलनिःसारक, पाचनीय अर्शनाशक वस्तुओं में यवक्षार; ग्रहणी-दोष, अर्श, घृतजन्य रोगों की शान्ति के लिये तक्र का अभ्यास अर्थात् सतत सेवन; ग्रहणी रोग, शोष, अर्श नाशक वस्तुओं में व्याघ्र आदि मांस खाने वाले पशुओं का मांस; रसायनों में दूध और घी का सततसेवन; उदावर्त्तनाशक और वृष्यकारक वस्तुओं में बराबर घी और सत्तू को खाना; दांतों को बल और रुचि, चमक, कान्ति पैदा करने की वस्तुओं में तैल के कोगले करना; दाह जलन को शान्त करने लिये चन्दन और गूलर का लेप; शीत को दूर करने वाले लेपों में चन्दन और अगर का लेप; जलन में त्वग्-रोग, पसीने को दूर करने वाले लेपों में कत्तृण और खस का लेप, वातनाशक मर्दन और लेप के प्रयोग में कूठ; आंखों के लिये हितकारी, वृष्य केश्य, कण्ठ के हितकारी वर्ण, बल और विरजनीय (रंग पैदा करने) और रोपण करने वाली वस्तुओं में मुलैहठी; प्राण वा जीवन देने वाली वस्तुओं में वायु; आमविकार, मल मूत्रादि का अवरोध, ठण्ड, शूल, कम्पन को दूर करने के लिए आग का सेक; स्तम्भक पदार्थों में जल; प्यास की अधिकता को कम करने के लिये मिट्टी के ढेले वा पत्थर को खूब गरम करके बुझाया हुआ पानी पिलाना; आम रोग को करने वाले कारणों में बहुत अधिक खाना; अग्निवर्धक वस्तुओं में जाठराग्नि के बलानुसार खाना; सेव्य, उपयोगी वस्तुओं में अपनी

प्रकृति के अनुसार आहार विहार करना; आरोग्यकारक वस्तुओं में, समय पर भोजन करना; अनारोग्योत्पादक वस्तुओं में, वेगों का रोकना; मन की प्रसन्नता करने वालों में मद्य; बुद्धि, धैर्य और स्मृतिनाशक वस्तुओं में, मद्य का अधिक उपयोग; पचने में कठिन वस्तुओं में, गुरु, गरिष्ठ भोजन; सुगमता से पचाने वाली वस्तुओं में, एक समय भोजन करना; शोष और क्षय करने वाली वस्तुओं में, स्त्री संग की अधिकता; नपुंसक करनेवाले कारणोंमें शुक्र के उपस्थित वेग का रोकना; अन्न में अश्रद्धा पैदा करने वालों में वधस्थान; आयु का ह्रास करने वाले कारणों में न खाना; क्षीण, निर्बल करने वालों में थोड़ा खाना; ग्रहणी राग को करने वाले कारणों में अजीर्णावस्था में अध्यशन अर्थात् खाने के ऊपर खाना; अग्नि को विषम करने वाले कारणों में विषम (ठीक समय पर न खाना) खाना; कुष्ठ आदि निन्दित रोगों को पैदा करने में विरुद्ध वीर्य (जैसे दूध और मछली आदि) वस्तुओं का खाना; सब पथ्यों में शान्ति; सब अपथ्यों में परिश्रम थकान (शक्ति से बाहर परिश्रम करना); व्याधियों में मुख्य वमन, विरेचन, आहार-विहार का मिथ्यायोग; दारिद्र या अमंगलता के कारणों में रजस्वला स्त्री के साथ सम्भोग; आयुवर्धक वस्तुओं में ब्रह्मचर्य; वृष्य-वस्तुओं में संकल्प; अवृष्य वस्तुओं में मन की अप्रसन्नता; प्राणहारक वस्तुओं में बल से बाहर काम करना; रोग के बढ़ाने में शोक; श्रमनाशक वस्तुओं में स्नान; प्रीणन, पुष्टिकारक वस्तुओं में प्रसन्नता; सुखाने वाली वस्तुओं में शोक; पुष्ट करने वाली वस्तुओं में वेफिकरी (सन्तोष); नींद लाने वाली वस्तुओं में पुष्टि; आलस्य करने वाली वस्तुओं में नींद; बलकारक वस्तुओं में सब रसों का अभ्यास, निर्बल करने वालों में एक ही रस का निरन्तर सेवन; आनाहार्य्य अर्थात् खींच कर निकालने में अयोग्य वस्तुओं में गर्भ रूपी शल्य; बाहर निकालने वाली वस्तुओं में अजीर्ण, कोमल औषधियों के उपचार में बालक; याप्य रोगों में वृद्ध; तीक्ष्ण वेग की औषध और व्यायाम त्याग करनेवालों में गर्भिणी; गर्भ स्थिर कराने वालों में मन की प्रसन्नता; दुश्चिकित्स्य रोगों में सन्निपात जन्य रोग; विषम चिकित्सा (कठिन) व ले रोगों में आमजन्य रोग; सब रोगों में ज्वर; दीर्घ रोगों में कुष्ठ; रोग समूहों में राजयक्ष्मा; आनुषङ्गिक रोगों में प्रमेह; अनुशस्त्रों में, जोंक, तंत्रों में बस्ति; औषध-भूमियों में हिमालय, आरोग्य देशों में मरुभूमि; अहितकारी देशों में जल-प्राय प्रदेश (जैसे बंगाल), रोगी के चारों गुणों में वैद्य के आदेशानुसार काम करना; चिकित्सा के चारों अंगों में वैद्य; त्याज्य वस्तुओं में नास्तिक; दुःखदायक कारणों में लोभ; अरिष्ट अर्थात् मृत्यु-कारणों में कहे के अनुसार न चलना; रोग

के लक्षणों में मन की दुश्चिन्ता; शोक, सन्देह मिटानेवालों में वैद्यों का समूह अर्थात् बहुत वैद्यों का होना; वैद्य के गुणों में देश काल के अनुसार चिकित्सा करना; औषधियों में यथार्थ ज्ञान; ज्ञानसाधनों में शास्त्र सहित तर्क; काल ज्ञान समयानुसार काम करना; व्यवसाय न करना-समय के नाश करने वाले कारणों में, कर्म का देखना सन्देह को मिटाने वाली वस्तुओं में; भय करनेवाले कार्य्योंमें असामर्थ्य; बुद्धि बढ़ाने वाले कारणों में उस विद्या को जानने वालों से बात-चीत; शास्त्र के तत्त्व को जानने के लिये आचार्य; अमृतों में आयुर्वेद, कर्त्तव्य कार्यों में उत्तम सत्य वचन, सब अहितकारी वस्तुओं में 'असत्य' का सेवन; सब प्रकार के सुखों में; संन्यास (सर्वस्व त्याग) श्रेष्ठ अर्थात् श्रेयस्कर है ॥

भवन्ति चात्र—अग्र्याणां शतमुद्दिष्टं यद् द्विपञ्चाशदुत्तरम् ।
अलमेतद्विकाराणां विघातायोपदिश्यते ॥ ३९ ॥

इस प्रकार से १५२ (एक सौ बावन) श्रेष्ठ पदार्थ कहे हैं, ये विकार अर्थात् रोगों के नाश करने के लिये पर्य्याप्त हैं ॥ ३९ ॥

समानकारिणो येऽर्थास्तेषां श्रेष्ठस्य लक्षणम् ।
ज्यायस्त्वं कार्यकारित्वेऽवरत्वं चाप्युदाहृतम् ॥ ४० ॥
वातपित्तकफेभ्यश्च यद्यत्प्रशमने हितम् ।
प्राधान्यतश्च निर्दिष्टं यद् व्याधिहरमुत्तमम् ॥ ४१ ॥
एतन्निशम्य निपुणं चिकित्सां संप्रयोजयेत् ।
एवं कुर्वन् सदा वैद्यो धर्मकामौ समश्नुते ॥ ४२ ॥
पथ्यं पथोऽनपेतं यद्यच्चोक्तं मनसः प्रियम् ।
यच्चाप्रियमपथ्यं च नियतं तन्न लक्षयेत् ॥ ४३ ॥
मात्रा-काल-क्रिया-भूमि-देह-दोष-गुणान्तरम् ।
प्राप्य तत्तद्धि दृश्यन्ते ते ते भावास्तथा तथा ॥ ४४ ॥
तस्मात्स्वभावो निर्दिष्टस्तथा मात्रादिराश्रयः ।
तदपेक्ष्योभयं कर्म प्रयोज्यं सिद्धिमिच्छता ॥ ४५ ॥

जो पदार्थ शरीर के दोषों को समान करते हैं, या समान अवस्था में रहने देते हैं वे श्रेष्ठ का लक्षण है । इन के कार्य करने की शक्ति से ही श्रेष्ठ और हीन भेद किये हैं । (यथा—लोहितशालयः शूकधान्यानां श्रेष्ठतमाः, उदकमाश्वासकराणां श्रेष्ठम्) । इसी प्रकार वात, पित्त, कफ के नाश के लिये जो वस्तु मुख्य रूप में श्रेष्ठ है और जो रोग को नष्ट करने के लिये उत्तम है, इन को जानकर चिकित्सा का आरम्भ करना चाहिये । इस प्रकार करने से वैद्य को

धर्म और काम दोनों मिलते हैं। शरीर और मन के लिये जो प्रिय या हितकर हों, वे पथ्य हैं और जो शरीर और मन के लिये अप्रिय हों वे अपथ्य हैं, ऐसा लक्षण नहीं समझना चाहिये। क्योंकि मात्रा (जैसे–घृत पथ्य होते हुए भी अधिक मात्रा में अपथ्य है), काल (वसन्त में घी अपथ्य है), क्रिया (घृत विरुद्ध द्रव्य के साथ अपथ्य है), भूमि (जल बहुत देश में अपथ्य है)। देह (अतिस्थूल शरीर में घी अपथ्य है), दोष (कफ दोष में घी अपथ्य है) से भेद हो जाता है। इसी प्रकार विष भी पथ्य हो जाता है (यथा—'उदरे विषं तिलं दद्यात्।' उदर रोगों में तिलमात्र विष देना चाहिये)। इस प्रकार पथ्य वस्तु अपथ्य हो जाती है और अपथ्य वस्तु पथ्य बन जाती है, इसलिये जो वैद्य यश की इच्छा करते हों, उन को वस्तु के स्वभाव, प्राकृतिक गुण और मात्रा, काल आदि का विचार करके प्रयोग करना चाहिये ॥ ४०–४५ ॥

तदात्रेयस्य भगवतो वचनमनुनिशम्य पुनरपि भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—यथोद्देशमभिनिर्दिष्टः केवलोऽयमर्थो भगवता श्रुतस्त्वस्माभिः। आसवद्रव्याणामिदानीं लक्षणमनतिसंक्षेपेणोपदिश्यमानं शुश्रूषामह इति ॥ ४६ ॥

आत्रेय ऋषि के वचन को सुनकर फिर भी अग्निवेश भगवान् आत्रेय मुनि से पूछने लगे। हे महाराज! आपने प्रतिज्ञानुसार पथ्यापथ्य का प्रधान विषय सम्पूर्ण रूप से प्रतिपादन कर दिया है। इस समय आसव द्रव्यों के लक्षणों को विस्तार में आपसे सुनना चाहते हैं ॥ ४६ ॥

तमुवाच भगवानात्रेयः—धान्य-फल-मूल-सार-पुष्प-काण्ड-पत्र-त्वचो भवन्त्यासवयोनयोऽग्निवेश! संग्रहेणाष्टौ शर्करानवमीकाः, तास्वेव द्रव्यसंयोगकरणतोऽपरिसंख्येयासु यथापथ्यतमानामासवानां चतुरशीतिं निबोध। तद्यथा—सुरा-सौवीर-तुषोदक-मैरेय-मेदक-धान्याम्लाः षड् धान्यासवा भवन्ति, मृद्वीका-खर्जूर-काश्मर्य-धन्वन-राजादन-तृणशून्य-परूषकाभयामलक-मृगलिण्डिका-जाम्बव-कपित्थ-कुवल-बदर-कर्कन्धु-पीलु-प्रियाल-पनस-न्यग्रोधाश्वत्थ-प्लक्ष-कपीतनोदुम्बराजमोद-शृङ्गाटक-शङ्खिनीभिः फलासवाः षड्विंशतिः। विदारिगन्धाश्वगन्धा-कृष्णगन्धा-शतावरी-श्यामा-त्रिवृद्दन्ती-बिल्वोरुबूक-चित्रक-मूलैरेकादश मूलासवाः। शालप्रियकाश्वकर्ण-चन्दन-स्यन्दन-खदिर-कदर-सप्तपर्णार्जुनासनारिमेद-तिन्दुक-किणिही-शमी-शुक्ति-शिंशपा-शिरीष-वञ्जुल-धन्वन-मधूकैः सारासवा विंशतिः। पद्मोत्पल-नलिन-कुमुद-सौगन्धिक-

पुण्डरीक-शतपत्र-मधूक-प्रियङ्गु-धातकीपुष्पैर्दश पुष्पासवा भवन्ति। इक्षु-काण्डेक्षिवक्षुवालिका-पुण्ड्रक-चतुर्थाः काण्डासवा भवन्ति । पटोल-ताडपत्रासवौ द्वौ भवतः। तिल्वक-लोध्रैलवालुक-क्रमुक-चतुर्थास्त्वगासवा भवन्ति, शर्करासव एक एवेति। एवमेषामासवानां चतुरशीतिः परस्परेणासंसृष्टानामासवद्रव्याणामुपनिर्दिष्टा भवति । एषामासवानामासुतत्वादासवसंज्ञा। द्रव्य-संयोग-विभागस्त्वेषां बहुविकल्पः संस्कारश्च । यथास्वं योनिसंस्कारसंस्कृताश्चाऽऽसवाः स्वकर्म कुर्वन्ति। संयोग-संस्कार-देश-काल-स्थापन-मात्रादयश्च भावास्तेषां तेषामासवानां ते ते समुपदिश्यन्ते तत्तत्कार्यमभिसमीक्ष्येति ॥ ४७ ॥

अग्निवेश को भगवान् आत्रेय ने कहा—हे अग्निवेश ! संक्षेप से उन सब के उत्पत्ति स्थान ९ (नौ) हैं। यथा—धान्य, फल, मूल, सार, पुष्प, काण्ड, पत्र, त्वचा, (छाल) और शर्करा । इन्हीं में द्रव्यसंयोग (मिश्रण), करण (संस्कार) द्वारा असंख्येय आसव बन जाते हैं। इनमें अधिक हितकारी (मुख्य) आसव २४ (चौबीस) हैं। उनको कहते हैं–

सुरा, सौवीरक, तुषोदक, मैरेय और मेदक और धान्याम्ल—ये छः धान्याम्लक (कांजी) आसव होते हैं [1]। द्राक्षा, खजूर, गम्भारी, धान्वन, राजादन (खिरनी), तृणशून्य (केतकी), परूषक (फालसा), अभया (हरड़), आमलक (आंवला), मृगलिण्डिका (बहेड़ा ?), जाम्बव (जामुन), कपित्थ (कैथ), कुवल (बड़ा बेर), बदर (छोटा बेर), कर्कन्धु (झाड़ी का बेर), पीलु, पियालु (प्याल), पनस (कटहल), न्यग्रोध (बड़), अश्वत्थ (पीपल), प्लक्ष (पिलखन), कपीतन, उदुम्बर (गूलर), अजमोद (अजवायन), शृङ्गाटक (सिंघाड़ा), और शंखिनी, ये छब्बीस फलासव हैं। विदारीगन्धा (शालपर्णी), अश्वगन्धा (असगन्ध), कृष्णागन्धा (शोभाञ्जन), शतावरी, निशोथ, जमालगोटा, द्रवन्ती (मुगलई ऐरण्ड), बेलगिरी, एरण्डमूल, चीतामूल, ये ग्यारह मूलासव हैं। बड़ासाल, अश्वकर्ण (साल भाग), चन्दन, तीनस, खैर, सफेद खैर, सलवन, अर्जुन, असन, अरिमेद (विट् खदिर), तिन्दुक, किणिही (अपामार्ग), शमी (जंड), शुक्ति (बेर), शीशम, सिरस, अशोक, धान्वन और मुलैहठी ये बीस 'सारासव' है। पद्म (लाल आठ पत्तों वाला), उत्पल (नील कमल), कुमुद, सौगन्धिक, पुण्डरीक, (श्वेत कमल), शतपत्र,

---

१. सौवीरं निस्तुषयवकृतम्, मैरेयं सुरासवकृता सुरा, मेदकः श्वेतसुरजगलाख्या, धान्याम्बु (काञ्जि)।

कमल, मधूक (महुवे के फूल), प्रियंगु, धाय के पुष्प, ये दस 'पुष्पासव' हैं। गन्ना, इक्षुवालिका (गन्ने के ऊपर का भाग), गन्ने की जड़, पौण्डा ये चार 'काण्डासव' हैं। परवल और ताड़ के पत्ते ये दो 'पत्रासव' होते हैं। तिल्वक (शाबर लोध), लोध (पठानी लोध), एलवालुक, क्रमुक ये चार 'त्वगासव' हैं। शर्करासव एक ही है। इस प्रकार एक एक द्रव्य से बनने वाले ये ८४ (चौरासी) आसव हैं। आसुत अर्थात् सत के खिंच जाने से इन को 'आसव' कहते हैं। द्रव्यों के संयोग और विभाग से ये बहुत प्रकार के और असंख्य बन जाते हैं। आसव अपने संयोग तथा संस्कार के अनुसार अपना कार्य करते हैं। संयोगसंस्कार से अभिप्राय देश (भस्मराशि, धान्यराशि), काल (पन्द्रह दिन, एक मास), स्थापन (सन्धान), मात्रा आदि (द्रव्यस्वभाव) से है। कार्य की अपेक्षा से ही आसवों के संयोग संस्कार रूपी कार्य किये जाते हैं॥ ४७॥

भवति चात्र—मनःशरीराग्नि-बल-प्रदानामस्वप्न-शोकारुचि-नाशनानाम्।
संहर्षणानां प्रवरासवानामशीतिरुक्ता चतुरुत्तरैषा॥ ४८॥

तत्र श्लोकः—

शरीररोगप्रकृतौ मतानि तत्त्वेन चाऽऽहारविनिश्चयो यः।
उवाच यज्जःपुरुषादिकेऽस्मिन्मुनिस्तथाऽग्र्याणि वरासवांश्च॥ ४९॥

मन, शरीर, अग्नि को बल देनेवाले, नींद न आना, शोक और अरुचि को मिटाने वाले, मन में प्रसन्नता करने वाले ये उत्तम (श्रेष्ठ) ८४ आसव कह दिये। शरीर एवं रोगों की उत्पत्ति, ऋषियों के मत, आहार को हिताहित-विधि का अन्तिम सार, पथ्यापथ्य और श्रेष्ठ आसव इस अध्याय में कह दिये हैं।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने अन्नपानचतुष्के
यज्जःपुरुषीयोऽध्यायः पञ्चविंशतितमः समाप्तः॥

षड्विंशोऽध्यायः।

अथात आत्रेयभद्रकाप्यीयमध्यायं व्याख्यास्यामः॥ १॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः॥ २॥

अब 'भद्रकाप्यीय' अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था॥ १–२॥

आत्रेयो भद्रकाप्यश्च शाकुन्तेयस्तथैव च ।
पूर्णाक्षश्चैव मौद्गल्यो हिरण्याक्षश्च कौशिकः ॥ ३ ॥
यः कुमारशिरा नाम भरद्वाजः स चानघः ।
श्रीमान् वार्योविदश्चैव राजा मतिमतां वरः ॥ ४ ॥
निमिश्च राजा वैदेहो वडिशश्च महामतिः ।
काङ्कायनश्च बाह्लीको बाह्लीकभिषजां वरः ॥ ५ ॥
एते श्रुतवयोवृद्धा जितात्मानो महर्षयः ।
वने चैत्ररथे रम्ये समीयुर्विजिहीर्षवः ॥ ६ ॥
तेषां तत्रोपविष्टानामियमर्थवती कथा ।
बभूवार्थविदां सम्यग्रसाहारविनिश्चये ॥ ७ ॥

आत्रेय, भद्रकाप्यीय, शाकुन्तेय, पूर्णाक्ष, मौद्गल्य, हिरण्याक्ष, कौशिक, भरद्वाज कुमारशिर, विद्वच्छ्रेष्ठ वार्योविद, वैदेहमहाराज निमि, महाराज वडिश, बाह्लीक देशी भिषजों में श्रेष्ठ बाह्लीक (बलख देशीय), कांकायन ये ज्ञानवृद्ध वयोवृद्ध और जितेन्द्रिय महर्षि चैत्ररथ नामक सुन्दर वन में विहार करते थे। वहां इन के एक साथ बैठने पर रस द्वारा आहार के निर्णय करने के लिये आपस में गोष्टी आरम्भ हुई ॥३–७॥

एक एव रस इत्युवाच भद्रकाप्यो यं पञ्चानामिन्द्रियार्थानामन्यतमं जिह्वावैषयिकं भावमाचक्षते कुशलाः, स पुनरुदकानन्य इति । द्वौ रसाविति शाकुन्तेयो ब्राह्मणश्छेदनीयश्चोपशमनीयश्चेति । त्रयो रसा इति पूर्णाक्षो मौद्गल्यश्छेदनीयोपशमनीयौ साधारणश्चेति । चत्वारो रसा इति हिरण्याक्षः कौशिकः स्वादुर्हितश्च स्वादुरहितश्चास्वादुर्हितश्चेति । पञ्च रसा इति कुमारशिरा भरद्वाजो भौमोदकाग्नेयवायवीयान्तरिक्षाः । षड्रसा इति निमिर्वैदेहो मधुराम्ल-लवण-कटुक-तिक्त-कषाय-क्षाराः । अष्टौ रसा इति बडिशो धामार्गवो मधुराम्ल-लवण-कटु-तिक्त-कषाय-क्षाराव्यक्ताः । अपरिसंख्येया रसा इति काङ्कायनो बाह्लीक-भिषक्,आश्रय-गुण-कर्म-संस्वाद-विशेषाणामपरिमेयत्वात् ॥ ८ ॥

भद्रकाप्य ऋषि बोले कि—'रस' एक ही है जिसको कि पांचों इन्द्रियों के विषयों में से एक जिह्वा का ही विषय कहते हैं, वह 'रस' पानी से अभिन्न है और एक ही है । शाकुन्तेय ब्राह्मण ने कहा कि—'रस' दो हैं, एक छेदनीय और दूसरा उपशमनीय (अर्थात् अपतर्पण-कारक और बृंहणकारक)। पूर्णाक्ष मौद्गल्य ऋषि बोले कि—तीन रस हैं । यथा—छेदनीय, उपशमनीय और साधारण अर्थात् आग्नेय और सौम्य गुणों की समानता से लंघन, बृंहण दोनों कार्य करने वाला। हिर-

व्याघ्र कौशिक ने कहा कि—'रस' चार हैं। स्वादु (प्रिय) हितकारी, स्वादु अहित, अस्वादु हित और अस्वादु अहित। कुमारशिरा भरद्वाज ने कहा कि—रस पांच हैं। भौम (पृथ्वी का), उदक (पानी का), आग्नेय (तेज का), वायवीय (वायु का) और आन्तरिक्ष (आकाश का) ये पांच रस हैं। राजर्षि वार्योविद बोले—'रस' छः हैं। गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष। वैदेह निमि ने कहा—रस सात हैं। मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषाय और क्षार। धामार्गव बडिश बोले—रस आठ हैं। यथा—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय, क्षार और अव्यक्त। बाह्लीकभिषक् कांकायन ने कहा कि—'गुण (गुरु लघु आदि), कर्म (धातु वर्धन क्षयण आदि), संस्वाद (रसों के नाना अवान्तर भेद) भेदों से रस अगणित बन जाते हैं ॥ ८ ॥

षडेव रसा इत्युवाच भगवानात्रेयः पुनर्वसुर्मधुराम्ल-लवण-कटु-तिक्त-कषायाः। तेषां षण्णां रसानां योनिरुदकं, छेदनोपशमने द्वे कर्मणी, तयोर्मिश्रीभावात्साधारणत्वं, स्वाद्वस्वादुता भक्तिः, हिताहितौ द्वौ प्रभावौ। पञ्चमहाभूतविकारास्त्वाश्रयाः प्रकृति-विकृति-विचार-देश-कालवशाः, तेष्वाश्रयेषु द्रव्यसंज्ञकेषु गुणा गुरु-लघु-शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्षाद्याः। क्षरणात्क्षारो नासौ रसः, द्रव्यं तदनेकरससमुत्पन्नमनेकरसं कटुक-लवण-भूयिष्ठमनेकेन्द्रियार्थसमन्वितं करणाभिनिर्वृत्तम्। अव्यक्तीभावस्तु खलु रसानां प्रकृतौ भवत्यनुरसेऽनुरससमन्विते वा द्रव्ये। अपरिसंख्येयत्वं पुनस्तेषामाश्रयादीनां भावानां विशेषापरिसंख्येयत्वान्न युक्तं, एकैकोऽपि हि पुनरेषामाश्रयादीनां भावानां विशेषानाश्रयते विशेषापरिसंख्येयत्वात्। न च तस्मादन्यत्वमुपपद्यते। परस्पर-संसृष्ट-भूयिष्ठत्वान्न चैषामभिनिर्वृत्तेर्गुणप्रकृतीनामपरिसंख्येयत्वं भवति, तस्मान्न संसृष्टानां रसानां कर्मोपदिशन्ति बुद्धिमन्तः। तच्चैव कारणमपेक्षमाणाः षण्णां रसानां परस्परेणासंसृष्टानां लक्षणपृथक्त्वमुपदेक्ष्यामः ॥ ९ ॥

पुनर्वसु भगवान् आत्रेय ने कहा कि—रस छः ही हैं। यथा—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय। इन छः रसों की उत्पत्ति का स्थान पानी ही है। छेदन और उपशमन ये दोनों कर्म हैं, इन दोनों कर्मों के मिल जाने से साधारण हो जाता है। स्वादु और अस्वादु यह रुचि हैं, हित और अहित प्रभाव हैं। पंच महाभूत विकार हैं। वे रस के आश्रय स्थान हैं, वे रस नहीं हैं। गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष ये द्रव्यों में आश्रित गुण हैं, जो कि प्रकृति (यथा—मूंग, कषाय और मधुर स्वभाव से ही हैं इसलिये लघु हैं),

विकृति (चावलों से बने ताज़ा खील लघु और सत्तू बड़े भारी होते हैं), विचार (द्रव्यान्तर संयोग यथा—मधु और घी का मेल विष बनता है), देश (दो प्रकार का है यथा—भूमि और रोगी। भूमि जैसे—श्वेतकपोती वल्मीकाधिरूढ़ा विषहरी होती है, हिमालय की ओषधियां अधिक गुण युक्त होती हैं, शरीर देश जैसे टांग के मांस से कन्धे आदि का मांस गुरु होता है) और काल इन के भेद से बनते हैं। क्षार रस नहीं है। क्योंकि क्षरण किया जाने से, अनेक पदार्थों से उत्पन्न होने के कारण अनेक रस होने से, कटुक, लवण आदि रसों का अनुभव होने से, क्षार में स्पर्श और गन्ध होने से यह द्रव्य है, रस नहीं, और हेत्वन्तर अर्थात् अन्य कारण—भस्म स्राव आदि से बनने के कारण, रस नहीं है। 'अव्यक्त' भी रस नहीं। क्योंकि अव्यक्तता तो कारण में ही है। (रसों के कारण जल में ही अव्यक्तता है)। इस के अतिरिक्त अनुरस में अव्यक्तीभाव होता है। रस के पीछे जो रस होता है, वह अनुरस है। यथा—रूक्षः कषायानुरसो मधुरः कफपित्तहा। यथा—विष के विषय में ('उष्णमनिर्देश्यरसम्')। अथवा अनुरसयुक्त द्रव्य में अव्यक्तता होती है। और जो यह कहा है कि रसों के आश्रय आदि भावों के असंख्य होने से रस भी असंख्य हैं, यह ठीक नहीं। क्योंकि एक-एक रस इन आश्रय रूपी भावों में से किसी एक भाव का आश्रय करके विशेष रूप से रहता है (यथा—चावल, मूंग, घृत, दूध आदि वस्तुओं में मधुर रस के आश्रय की भिन्नता रहने पर भी मधुरत्व रस समान है, जिस प्रकार की बगुला, दूध, और कपास में आश्रय भेद होने पर भी सफ़ेद रंग समान है)। आश्रय आदि असंख्य हैं। इसलिये छः से भिन्न अन्य रस का होना सम्भव नहीं। और यदि कहो कि रसों के परस्पर मिलने से रस असंख्य हो जायंगे? यह भी ठीक नहीं, क्योंकि परस्पर मिलने पर भी इनके गुरु, लघु आदि गुण या मधुर आदि स्वभाव अथवा आयुष्यवर्द्धक आदि असंख्य भेद हो जाते हैं। यहां पर भी मधुर आदि के प्रत्येक के गुण और प्रकृतियां जो कहीं हैं वे ही परस्पर मिलती हैं। इसलिये एक रस के दूसरे रस के साथ मिलने से और दोषों के दूसरे दोषों से मिलने पर भी रस असंख्य, अगणित नहीं होते। इसीलिये मिले हुए रसों के कर्मों का बुद्धिमान् उपदेश नहीं करते। और इसी कारण से परस्पर न मिले हुए छः रसों के लक्षणों को पृथक्-पृथक् कहेंगे ॥ ९ ॥

अग्रे तु तावद् द्रव्यभेदमभिप्रेत्य किंचिदभिधास्यामः। सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकमस्मिन्नेवार्थे। तच्चेतनावदचेतनं च, तस्य गुणाः शब्दादयो

गुर्वादयश्च द्रवान्ताः, कर्म पञ्चविधमुक्तं वमनादि। तत्र द्रव्याणि गुरु-खर-कठिन-मन्द-स्थिर-विशद-सान्द्र-स्थूल-गन्धगुण- बहुलानिपार्थिवानि, तान्युपचय-संघात-गौरव-स्थैर्य-कराणि; द्रव-स्निग्ध-शीतमन्द-मृदु-पिच्छिल-रस-गुण-बहुलान्याप्यानि, तान्युत्क्लेद-स्नेह-बन्ध-विष्यन्द-मार्दव-प्रह्लाद-कराणि;उष्ण-तीक्ष्ण-सूक्ष्म-लघु-रूक्ष-विशद-रूपगुण-बहुलान्याग्नेयानि, तानि दाह-पाक-प्रभा-प्रकाश-वर्ण-कराणि। लघु-शीत-रूक्ष-खर-विशद-सूक्ष्म-स्पर्श-गुणबहुलानि वायव्यानि, तानि रौक्ष्य-ग्लानि-विचार-वैशद्य-लाघव-कराणि; मृदु-लघु-सूक्ष्म-श्लक्ष्ण-शब्द-गुण-बहुलान्याकाशात्मकानि, तानि मार्दव-सौषिर्य-लाघव-कराणि ॥ १० ॥

इस के आगे आयुर्वेद के उपयोगी द्रव्यों के भेद को लेकर कुछ कहेंगे—यहां पर जो भी द्रव्य कहेंगे वे सब पांचभौतिक अर्थात् पांच महाभूतों से बने हैं। ये दो प्रकार के हैं, चेतना से युक्त और अचेतन। इस द्रव्य के जहां शब्दादि गुण हैं, वहां गुरु आदि (बोस) गुण हैं। द्रव्य का कर्म पांच प्रकार का है। यथा वमन, विरेचन, शिरोविरेचन, आस्थापन, अनुवासन। इन द्रव्यों में जो द्रव्य पार्थिव (पृथ्वीजन्य) है वे गुरु, कर्कश, कठोर, धीमे, स्थिर, विशद, (पृथक् पृथक्), सान्द्र, स्थूल और गन्ध युक्त इन गुणों वाले प्रायः करके होते हैं। ये पार्थिव पदार्थ उपचय संघात, गौरव (भारीपन) और स्थिरता करते हैं। जलीय पदार्थ तरल, स्निग्ध शीत, मन्द, पिच्छिल और जलीयगुण युक्त प्रायः करके होते हैं। ये द्रव्य उत्क्लेद नमी, स्नेह, बन्धन परस्पर मिलाने वाले, कोमलता, प्रह्लाद शरीर इन्द्रियों का तर्पण करनेवाले हैं। अग्नि-गुणयुक्त अर्थात् आग्नेय द्रव्य गरम, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, लघु, रूक्ष, विशद एवं रूप गुण में (अग्निवत्) होते हैं। ये द्रव्य जलन, पकाना, कान्ति, प्रकाश और वर्ण (रंग) को उत्पन्न करते हैं। वायवीय पदार्थ लघु, शीत, रूक्ष, खर, विशद, सूक्ष्म, स्पर्श गुण (वायवीय गुण) वाले होते हैं। ये शरीर में रूक्षता, ग्लानि, विचारों की निर्मलता और लघुता उत्पन्न करते हैं। आकाश गुण वाले द्रव्य मृदु, लघु, सूक्ष्म, स्रोतों में पहुंचाने वाला, चिकना एवं शब्द गुण आकाश गुण युक्त होते हैं। ये द्रव्य शरीर में मृदुता, सौषिर्य (छिद्राधिक्य) और लघुता उत्पन्न करते हैं ॥१०॥

अनेनोपदेशेन नानौषधिभूतं जगति किंचिद् द्रव्यमुपलभ्यते तां तां युक्तिमर्थं च तं तमभिप्रेत्य। न तु केवलं गुणप्रभावादेव कार्मुकाणि भवन्ति। द्रव्याणि हि द्रव्यप्रभावाद् गुणप्रभावाद् द्रव्यगुणप्रभावाच्च तस्मिंस्तस्मिन् काले तत्तदधिष्ठानमासाद्य तां तां च युक्तिमर्थं च तं तमभिप्रेत्य यत्कु-

र्वन्ति तत्कर्म, येन कुर्वन्ति तद्वीर्यं, यत्र कुर्वन्ति तदधिकरणं, यदा कुर्वन्ति स कालः, यथा कुर्वन्ति स उपायः, यत्साधयन्ति तत्फलम् ।११।

इस उपरोक्त उपदेश द्वारा जगत् में जो भी द्रव्य मिलते हैं, वे सब उपाय, प्रयोजन के उद्देश्य से औषध समझने चाहियें अर्थात् वे सब द्रव्य दोष-नाशक हैं, निरुपयोगी नहीं हैं। पार्थिवादि द्रव्य केवल गुरु खर आदि गुणों से औषध या दोष नष्ट करने वाले नहीं बन जाते, परन्तु द्रव्य द्रव्य के प्रभाव से, गुण के प्रभाव से, द्रव्य एवं गुण दोनों के प्रभाव से, उस उस समय में, उस अधिष्ठान का आश्रय लेकर, और उस योजना तथा प्रयोजन को लक्ष्य में करके जो करते हैं, उसका नाम 'कर्म' है, यथा—द्रव्य के प्रभाव से दन्ती (जमाल गोटा) विरेचक है, मणि आदि का धारण विष को दूर करता है। गुण के प्रभाव से—ज्वर में तिक्त रस, शीत में अग्नि। द्रव्य एवं गुण के प्रभाव से जैसे—कृष्णाजिन (काली मृगछाला)। यहां पर मृगछाला द्रव्य और कृष्ण गुण है। उसपर वे जो कार्य करते हैं। यथा—शिरोविरेचन द्रव्य शिर का विरेचन करते हैं, यह कर्म है। जिस के द्वारा (उष्ण गुण के द्वारा शिरो विरेचन) करते हैं वह 'वीर्य' अर्थात् 'शक्ति' है। जहां कर्म करते हैं, वह 'अधिकरण' है जैसे शिर। जिस समय करते हैं वह 'काल' है। जिस प्रकार करते है वह उपाय है। इस प्रकार से जो सिद्ध करते हैं वह फल है ॥११॥

भेदश्चैषां त्रिषष्टिविधविकल्पो द्रव्यदेशकालप्रभावाद् भवति, तमुपदेक्ष्यामः ॥ १२ ॥

रसों के भेद इन छः रसों के द्रव्य प्रभाव से, देश प्रभाव से (यथा—हिमालय की द्राक्षा और दाडिम मीठे होते हैं दूसरे स्थानों के खट्टे), काल प्रभाव से (यथा—कच्चा आम और कसैला, कुछ बड़ा होने पर भी कच्चा आम खट्टा और पकने पर मीठा, इसी प्रकार हेमन्त में ओषधियां मीठी और वर्षा में खट्टी), (६३) भेद बन जाते हैं ॥१२॥ यथा—

स्वादुरम्लादिभिर्योगे शेषैरम्लादयः पृथक्।
यान्ति पञ्चदशैतानि द्रव्याणि द्विरसानि तु ॥ १३ ॥

दो रस वाले पन्द्रह भेद हैं यथा—स्वादु (मधुर) और अम्ल के योग से पांच, अम्ल और लवण के योग से चार, लवण और कटु के योग से तीन, कटु, तिक्त और कषाय के योग से दो, तथा तिक्त और कषाय के योग से एक। जैसे—(१) मधुराम्ल (२) मधुरलवण (३) मधुरकटु (४) मधुरतिक्त (५) मधुरकषाय (६) अम्ललवण (७) अम्लकटु (८) अम्लतिक्त (९) अम्लकषाय (१०)

लवणकटु (११) लवणतिक्त (१२) लवणकषाय (१३) कटुतिक्त (१४) कटुकषाय (१५) तिक्तकषाय ।।१३।।

पृथगम्लादियुक्तस्य योगः शेषैः पृथग्भवेत् ।
मधुरस्य तथाऽम्लस्य लवणस्य कटोस्तथा ।। १४ ।।
त्रिरसानि यथासंख्यं द्रव्याण्युक्तानि विंशतिः ।

तीन तीन रसों के २० भेद हैं, जैसे—(१) मधुर, अम्ल के साथ लवण आदि चारों का पृथक् २ योग होने से चार भेद । (२) मधुर, लवण के साथ कटु आदि तीन का पृथक् २ योग होने से तीन भेद । (३) मधुर कटु का कटु, कषाय से पृथक् २ योग होने से दो भेद । (४) मधुर तिक्त का कषाय से योग होने से एक भेद । (४) अम्ल लवण का कटु आदि तीन के साथ योग होने से तीन भेद । (५) अम्ल कटु का तिक्त कषाय दो के साथ पृथक् पृथक् योग होने से दो भेद । (६) अम्ल तिक्त का कषायसे योग होने से एक भेद । (७) लवण कटु का तिक्त और कषाय दो से योग होने से दो भेद । (८) लवण तिक्त का कषाय से योग होने से एक भेद । (९) कटु तिक्त का कषाय से योग होने से १ भेद । जैसे—(१) मधुर अम्ल लवण, (२) मधुर अम्ल कटु, (३) मधुर अम्ल तिक्त (४) मधुर अम्ल कषाय । (५) मधुर लवण कटु, (६) मधुर लवण तिक्त, (७) मधुर लवण कषाय । (८) मधुर कटु तिक्त, (९) मधुर कटु कषाय । (१०) मधुर तिक्त कषाय । (११) अम्ल कटु तिक्त, (१२) अम्ल कटु कषाय । (१३) अम्ल तिक्त कषाय । (१४) लवण कटु तिक्त, (१५) लवण कटु कषाय । (१६) अम्ल लवण कटु (१७) अम्ल लवण तिक्त (१८) अम्ल लवण कषाय । (१९) कटु तिक्त कषाय, (२०) लवण तिक्त कषाय ।।१४।।

वक्ष्यन्ते तु चतुष्केण द्रव्याणि दश पञ्च च ।। १५ ।।
स्वाद्वम्लौ सहितौ योगं लवणाद्यैः पृथग्गतौ ।
योगं शेषैः पृथग्यातश्चतुष्करससंख्यया ।। १६ ।।

चार रसों के भेद पन्द्रह हैं । यथा—चार रसों (स्वादु, अम्ल, लवण और कटु), में एक एक रस का (कटु, तिक्त, कषाय) संयोग होने से छः रस बनते । इन में स्वादु और अम्ल रस स्थिर रहते हैं ।।१५-१६।।

संहितौ स्वादुलवणौ तद्वत्कट्वादिभिः पृथक् ।
युक्तौ शेषैः पृथग्योगं यातः स्वादूषणौ तथा ।। १७ ।।
कटवाद्यैरम्ललवणौ संयुक्तौ सहितौ पृथक् ।

यातः शेषैः पृथग्योगं शेषैरम्लकटू तथा ॥ १८ ॥
युज्येते तु कषायेण सतिक्तौ लवणोषणौ ।

स्वादु और लवण के साथ कटु, तिक्त, कषाय के योग से तीन, और लवण को छोड़कर स्वादु, कटु, तिक्त, कषाय के योग से एक, इस प्रकार से दस भेद हुए। अब स्वादु (मधुर) रस के छोड़ने से (अम्ल, लवण इन का कटु, तिक्त, कषाय के साथ योग होने से) तीन, लवण के छोड़ने से अम्ल, कटु, तिक्त और कषाय के योग से एक और मधुर, अम्ल रस को छोड़ने से लवण, कटु, तिक्त, कषाय, यह एक भेद, इस प्रकार से पन्द्रह भेद बन जाते हैं। जैसे—(१) मधुराम्ललवणकटु, (२) मधुराम्ललवणतिक्त, (३) मधुराम्ललवणकषाय, (४) मधुराम्लकटुतिक्त, (५) मधुराम्लकटुकषाय, (६) मधुराम्लतिक्तकषाय, (७) मधुरलवणकटुतिक्त, (८) मधुरलवण तिक्तकषाय, (९) मधुरलवणकषायकटु, (१०) मधुरकटुतिक्तकषाय, (११) अम्ललवणकटुतिक्त, (१२) अम्ललवणतिक्तकषाय, (१३) अम्ललवण कषायकटु, (१४) अम्लकटुतिक्तकषाय, (१५) लवणकटुतिक्तकषाय ॥ १७–१८ ॥

षट् तु पञ्चरसान्याहुरेकैकस्यापवर्जनात् ॥ १९ ॥
षट् चैवैकरसानि स्युरेकं षड्रसमेव तु ।
इति त्रिषष्टिर्द्रव्याणां निर्दिष्टा रससंख्यया ॥ २० ॥
त्रिषष्टिः स्यात्त्वसंख्येया रसानुरसकल्पनात् ।
रसास्तरतमाभ्यां तां संख्यामतिपतन्ति हि ॥ २१ ॥
संयोगाः सप्तपञ्चाशत्कल्पना तु त्रिषष्टिधा ।
रसानां तत्र योग्यत्वात्कल्पिता रसचिन्तकैः ॥ २२ ॥

एक एक रस के छोड़ने से छः रस बनते हैं, (यथा—मधुर को छोड़ने से अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषाय; अम्ल को छोड़ने से स्वादु, लवण, कटु, तिक्त, कषाय, इसी प्रकार लवण, कटु, तिक्त, कषाय के छोड़ने से छः रस)। (१) अम्ललवणकटुतिक्तकषाय (२) मधुरलवणकटुतिक्तकषाय (३) मधुराम्लकटुतिक्तकषाय (४) मधुराम्ललवणतिक्तकषाय (५) मधुराम्ललवणकटुकषाय (६) मधुराम्ललवणकटुतिक्त ।

एक एक रस के छः भेद (यथा—मधुर, अम्ल, आदि) और सब मिलित होने से एक भेद, इस प्रकार से कुल मिलाकर तिरसठ (६३) रस जाते हैं। ये जो तिरसठ (६३) प्रकार के रसों के भेद कहे हैं, इन में एवं अनुरस की कल्पना नहीं की गई है। और यदि रस और अनुरस मिला दें,

तो असंख्य हो जाते हैं। इसी प्रकार रसों के तर-तम (यथा—मधुरतर, मधुरतम आदि) भेद से भी रस असंख्य-अगणित बन जाते हैं। इस प्रकार रसों के असंख्य होने पर भी आचार्यों ने चिकित्सा व्यवहार के लिये रसों के सत्तावन (५७) संयोग और मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषाय इन को मिलाकर तिरसठ (६३) भेदों की कल्पना कर रक्खी है ॥ १९–२२ ॥

क्वचिदेको रसः कल्प्यः संयुक्ताश्च रसाः क्वचित् ।
दोषौषधादीन् संचिन्त्य भिषजा सिद्धिमिच्छता ॥ २३ ॥
द्रव्याणि द्विरसादीनि संयुक्तांश्च रसान् बुधः ।
रसानेकैकशो वाऽपि कल्पयन्ति गदान् प्रति ॥ २४ ॥
यः स्याद्रसविकल्पज्ञः स्याच्च दोषविकल्पवित् ।
न स मुह्येद्विकाराणां हेतुलिङ्गोपशान्तिषु ॥ २५ ॥

कहीं पर एक रस की, कहीं पर मिलित रसों की, दोष ओषधि आदि (देश, काल) का विचार करके सफलता चाहने वाले वैद्य को कल्पना करनी चाहिये। जैसे—दो रस वाले द्रव्य (मूंग कषाय और मधुर होते हैं), तीन रस वाले (मधुराम्लकषायं च विष्टम्भि गुरु शीतलम् , पित्त-श्लेष्महरं भव्यम्), चार रस वाले (जैसे–तिल,स्निग्धोष्णमधुरस्तिक्तकषायः कटुकस्तिलः ।) पांच रस (जैसे–हरीतकी, शिवा पंचरसा), छः रस (अव्यक्त हों यथा—विष । 'विषन्त्वव्यक्तं षड्रससंयुक्तम्' या हरिण का मांस)। एवं दो रस वाले रसों की या मिलित द्रव्य या रसों की कल्पना, अथवा एक एक रस की कल्पना रोगों के अनुसार करते हैं। जो मनुष्य रस के भेदों को भली प्रकार जानता है (वह रोगों के कारण द्रव्य ज्ञान को भी अनिवार्य रूप से जान ही जायेगा), एवं दोषों (वातादि) के लक्षणों को भी भली प्रकार से पहिचानता है, अथवा जो मनुष्य भेषज द्रव्यों को स्वरूप से एवं इन के प्रयोग विषय को जानता है, वह रोगों के कारण लक्षण, और शान्ति (चिकित्सा) में नहीं घबराता और भ्रम में नहीं फंसता ॥ २३–२५ ॥

व्यक्तः शुष्कस्य चाऽऽदौ च रसो द्रव्यस्य लक्ष्यते ।
विपर्ययेणानुरसो रसो नास्ति हि सप्तमः ॥ २६ ॥

अनुरस—शुष्क या गीले द्रव्य में जो रस जिह्वा के स्पर्श से स्पष्ट होता है, वह व्यक्त रस है। परन्तु जो रस इस प्रकार से ज्ञात नहीं होता अर्थात् पीछे द्वारा जाना जाता है, वह 'अनुरस' है। अथवा जो रस गीले द्रव्य में वह व्यक्त (अनुरस) और जो रस शुष्क होने पर स्पष्ट होता है वह

'रस' है। यथा—पिप्पली आर्द्रावस्था में मधुर, और शुष्क अवस्था में 'कटु' रस है। इसलिये कटु व्यक्त रस, और मधुर अव्यक्त अनुरस है। अथवा पीछे से जो रस अनुभव होता है, वह 'अनुरस' है। यथा—कांजी, तक्र आदि पदार्थों के पीने पर प्रथम जिस रस का अनुभव हो वह रस और जो पीछे स्पष्ट हो वह 'अनुरस' है। सातवां रस कोई पृथक् नहीं हैं ॥ २६ ॥

परापरत्वे युक्तिश्च संख्या संयोग एव च।
विभागश्च पृथक्त्वं च परिमाणमथापि च ॥ २७ ॥
संस्कारोऽभ्यास इत्येते गुणा ज्ञेयाः परादयः।
सिद्ध्युपायाश्चिकित्साया लक्षणैस्तान् प्रचक्ष्महे ॥२८॥

दस गुण—पर, अपर, युक्ति, संख्या, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परिणाम, संस्कार और अभ्यास ये दस गुण हैं। चिकित्सा में सफलता इन दस गुणों में आश्रित है। इनके लक्षण कहते हैं ॥ २७–२८ ॥

देश-काल-वयो-मान-पाक-वीर्य-रसादिषु।
परापरत्वे, युक्तिस्तु योजना या च युज्यते ॥ २९ ॥
संख्या स्याद् गणितं, योगः सह संयोग उच्यते।
द्रव्याणां द्वन्द्वसर्वैककर्मजोऽनित्य एव च ॥ ३० ॥
विभागस्तु विभक्तिः स्याद्वियोगो भागशो ग्रहः।
पृथक्त्वं स्यादसंयोगो वैलक्षण्यमनेकता ॥ ३१ ॥
परिमाणं पुनर्मानं, संस्कारः करणं मतम्।
भावाभ्यसनमभ्यासः शीलनं सततक्रिया ॥ ३२ ॥
इति स्वलक्षणैरुक्ता गुणाः सर्वे परादयः।
चिकित्सा यैरविदितैर्न यथावत् प्रवर्तते ॥ ३३ ॥
गुणा गुणाश्रया नोक्तास्तस्माद्रसगुणान् भिषक्।
विद्याद् द्रव्यगुणान् कर्तुरभिप्रायाः पृथग्विधाः ॥ ३४ ॥
अतश्च प्रकृतं बुद्ध्वा देशकालान्तराणि च।
तत्र कर्तुरभिप्रायानुपायांश्चार्थमादिशेत् ॥ ३५ ॥

देश—मरुदेश पर और आनूप अपर। काल—विसर्ग पर, आदान अपर। वय—तरुण पर, बाल, वृद्ध अपर। मान—शरीर का कहा हुआ पर, इस के अन्य अपर। पाक, वीर्य और रस ये जिस योग के प्रति हों उसके लिये पर दूसरों के प्रति अपर पर-अपर यह देश, काल, वय, मान, वीर्य, रस आदि के अपेक्षा से हैं। जैसे मरुदेश—बंगाल की अपेक्षा पर है, और बंगाल-मरुदेशों वालों की अपेक्षा से पर

है; इसी प्रकार वयमें बाल्यावस्था से यौवनावस्था पर है और बाल्यावस्था अपर है पर-अपर अपेक्षा से है। अथवा सन्निकृष्ट,और विप्रकृष्ट भेद से पर-अपर भाव होता है।युक्ति योजना दोषादि के अपेक्षा से औषध की भली प्रकार कल्पना करना। संख्या-गिनती, एक, दो, तीन आदि। संयोग—द्रव्यों का परस्पर संयुक्त होना संयोग है। यह संयोग तीन प्रकार का होता है। १ द्वन्द्व (दो का जैसे—लड़ते हुए दो मेढ़ों का), २ सबका (जैसे—एक पात्र में रक्खे उड़दों का), और ३. एककर्मजन्य,(जैसे—वृक्ष पर बैठे कौवे का) यह संयोगजन्य कर्म अनित्य है। विभाग—विभजन, बांटना, भाग करना। संयोग का वियोग या विभाग रूप में ग्रहण होना विभाग है। पृथक्त्व—जिसके द्वारा यह बुद्धि उत्पन्न होती है कि यह वस्तु घड़े से भिन्न है वह पृथक्त्व है। यह तीन प्रकार का है। १ सर्वथा अभिन्न वस्तुओं का जैसे—मेरु और हिमालय का। २. विजातियों में जैसे— भैंस और सूअर का। ३. विलक्षणताजन्य—विशिष्ट लक्षण युक्त विजातियों से भेद, अनेकता—एक जातीय द्रव्यों के संयोग में रहने वाली भिन्नता का नाम 'अनेकता' है, यथा—उड़दों में अनेकता मिलती है, सब उड़द एक समान नहीं होते। परिमाण—मान, तोल, वजन। संस्कार—किसी द्रव्य में जिस क्रिया से गुणान्तर उत्पन्न किया जाता है, उस क्रिया का नाम संस्कार है (संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते)। अभ्यास—किसी द्रव्य या क्रिया का निरन्तर उपयोग करना, व्यवहार करना, अभ्यास कहाता है। इस 'अभ्यास' को शील या निरन्तर करना या आदत भी कहते हैं। इस प्रकार से पर आदि दस गुणों के लक्षण कह दिये हैं। यदि वैद्य को इनका पूरा ज्ञान न होगा तो चिकित्सा पूर्ण रूप में सफल नहीं हो सकेगी। अब तक रसों के परस्पर संयोगी गुण कहे हैं। अब स्निग्धत्वादि गुण कहते हैं। जो गुण कहे हैं, वे गुण रूप, रस आदि में आश्रित नहीं, अपितु रस के आधारभूत द्रव्य में आश्रित हैं। इसलिये रस के गुणों को भी द्रव्य का गुण समझना चाहिये, रस का नहीं। यथा—मधुर रस, स्निग्ध, शीत, गुरु है, इस का अर्थ यह है कि मधुर रस वाला द्रव्य स्निग्ध, शीत गुरु इन गुणों से युक्त है। गुण गुण का आश्रय करके नहीं रह सकते। इस प्रकार कहना ग्रन्थकार की शैली है। प्रत्येक ग्रन्थ को समझने के लिए ग्रन्थकार के अभिप्राय को (उस के अभिप्राय के पृथक् होने से), प्रकरण, देश, और काल को भी [ज]नना चाहिये। प्रकरण जैसे—"क्षारः क्षीरं फलं पुष्पम्" यहां पर वनस्पति प्रकरण होने से थोर का दूध लेना चाहिये, गाय, भैंस का नहीं। देश—शिर शोधन कहने में, 'क्रिमिव्याधि' अर्थात् शिरोजन्य कृमि रोग में ऐसा समझना

चाहिये। काल—वमन काल में कहने पर 'प्रतिग्रहं चोपहारयेत्' अर्थात् वमन का पात्र लाओ। इसी प्रकार भोजन के समय 'सैन्धवमानय' कहने से नमक का लाना उचित है, न कि घोड़े का। इसलिये ग्रन्थकर्त्ता के अभिप्राय से रसों में गुणों का कथन समझना चाहिये। जहां पर प्रकरणगत देश काल आदि द्वारा ग्रन्थकर्ता का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता, वहां उपायों द्वारा तन्त्र-युक्ति रूपी उपायों से अर्थ को समझना चाहिये।२९—।३५॥

परं चातः प्रवक्ष्यन्ते रसानां षड् विभक्तयः।
षट्पञ्च भूतप्रभवाः संख्याताश्च यथारसाः॥ ३६॥

सौम्याः खल्वापोऽन्तरिक्षप्रभवाः प्रकृतिशीता लघ्व्यश्चाव्यक्तरसाश्च;तास्त्वन्तरिक्षाद् भ्रश्यमाना भ्रष्टाश्चपञ्चमहाभूत-विकार-गुण-समन्विता जङ्गमस्थावराणां भूतानां मूर्तीरभिप्रीणयन्ति, तासु मूर्तिषु षडभिमूर्च्छन्ति रसाः॥ ३७॥

पञ्च महाभूतों से उत्पन्न छः रसों को विभाग करके कहते हैं किस प्रकार से छः रस उत्पन्न होते हैं। सब रसों का उत्पत्तिस्थान पानी है। यह पानी सौम्य (सोमगुणी), अन्तरिक्ष से उत्पन्न होने वाला, स्वभाव से शीतल, लघु एवं 'अव्यक्त रस' है। यह पानी अन्तरिक्ष से नीचे गिरता हुआ अन्तरिक्ष में स्थित पृथ्वी आदि के परमाणुओं से दूषित होकर, पञ्च महाभूतों से बने स्थावर (जड़) और जंगम (चल) पदार्थों को तर्पण करता है, इन पदार्थों के स्वरूप को बनाता है, उत्पन्न करता है। इन पदार्थों से ही छः रस अभिव्यक्त होते हैं॥३७॥

तेषां षण्णां रसानां सोमगुणातिरेकान्मधुरो रसः पृथिव्यग्निभूयिष्ठत्वादम्लः, सलिलाग्निभूयिष्ठत्वाल्लवणः, वाय्वग्निभूयिष्ठत्वात्कटुकः, वाय्वाकाशातिरेकात्तिक्तः, पवनपृथिव्यतिरेकात्कषाय इति। एवमेषां रसानां षट्त्वमुत्पन्नं, ऊनातिरेकविशेषान्महाभूतानां भूतानामिव जङ्गमस्थावराणां नानावर्णाकृतिविशेषाः, षड़ृतुकत्वाच्च कालस्योपपन्नो महाभूतानामूनातिरेकविशेषः॥ ३८॥

यहां पर अन्तरिक्ष स्थित पानी को रसोत्पत्ति में मुख्य कारण माना है। इस से पृथ्वी पर स्थित पानी भी स्थावर और जंगम पदार्थों में रस उत्पन्न करने में कारण है। इन छः रसों में सोम गुण के अधिक होने से (अर्थात् अन्य भूत भी थोड़ी २ मात्रा में हैं) मधुर रस, पृथ्वी और अग्नि गुण की अधिकता से अम्ल, पानी और अग्नि गुण की अधिकता से लवण, वायु और अग्नि की अधिकता से कटु, वायु और आकाश गुण की अधिकता से तिक्त,

वायु और पृथिवी गुण की अधिकता से कषाय रस उत्पन्न होता है। इस प्रकार से पञ्च महाभूतों के कम अधिक होने से छः रस उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार सम्पूर्ण स्थावर और जंगम पदार्थों में महाभूतों के कम अधिक होने से नाना प्रकार के वर्ण, रंग, आकृति, रूप आदि बन जाते है, उसी प्रकार छः रस भी बन जाते हैं। इसी प्रकार महाभूतों के कम अधिक होने से ही काल, संवत्सर छः ऋतुओं में विभक्त हो जाता है। यथा—हेमन्त काल में सोम गुण की अधिकता होती है, शिशिर ऋतु में वायु और आकाश गुण की अधिकता होती है। 'तावेतावर्कवायू' (च० सू० अ० ६) में स्पष्ट कर चुके हैं। बीजाङ्कुरवत् कार्य कारण की भांति संसार के अनादि होने से, पंच महाभूत और ऋतुओं का कार्यकारण सम्बन्ध समझना चाहिये ॥३८॥

तत्राग्निमारुतात्मका रसाः प्रायेणोर्ध्वभाजः, लाघवात्प्लवनत्वाच्च वायोरूर्ध्वज्वलनत्वाच्च वह्नेः, सलिलपृथिव्यात्मकस्तु प्रायेणाधोभाजः, पृथिव्या गुरुत्वान्निम्नगत्वाच्चोदकस्य, व्यामिश्रात्मकाः पुनरुभयतोभाजः ॥ ३९ ॥

इन में अग्नि और वायु गुण की अधिकता वाले रसयुक्त द्रव्य प्रायः ऊर्ध्वगामी (वमनकारक) होते हैं। क्योंकि वायु हलकी और उड़ने वाली है। अग्नि का स्वभाव ऊपर को जलने का है, वह ऊपर को गति करता है, इसलिए इन गुणों वाले द्रव्य ऊर्ध्वगामी हैं। जल और पृथ्वी गुण युक्त रस वाले द्रव्य प्रायः करके अधोगामी (विरेचनकारक) होते हैं। क्योंकि पृथिवी गुरु है और पानी का स्वभाव नीचाई की ओर बहना है। जिन पदार्थों में चारों तत्त्व मिले रहते हैं वे ऊर्ध्वगामी और अधोगामी दोनों तरह के होते हैं ॥ ३९ ॥

तेषां षण्णां रसानामेकैकस्य यथाद्रव्यं गुणकर्माण्यनुव्याख्यास्यामः। तत्र मधुरो रसः शरीरसात्म्याद्रस-रुधिर-मांस-मेदोऽस्थि-मज्जौजः-शुक्राभिवर्धन आयुष्यः षडिन्द्रियप्रसादनो बलवर्णकरः पित्त-विष-मारुत-घ्नस्तृष्णा-प्रशमनस्त्वच्यः केश्यः कण्ठ्यः प्रीणनो जीवनस्तर्पणो बृंहणः स्थैर्यकरः क्षीणक्षतसंधानकरो घ्राण-मुख-कण्ठौष्ठ-जिह्वा-प्रह्लादनो दाहमूर्च्छाप्रशमनः षट्पदपिपीलिकानामिष्टतमः स्निग्धः शीतो गुरुश्च। स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानः स्थौल्यं मार्दवमालस्यमतिस्वप्नं गौरवमनन्नाभिलाषमग्निदौर्बल्यमास्यकण्ठमांसाभिवृद्धिं श्वास-कास-प्रतिश्यायालस-क-शीत-ज्वरानानाहास्य-माधुर्य-वमथु-संज्ञास्वरप्रणाश-गलगण्डगण्डमा-

ला-श्लीपद-गलशोफ - बस्ति-धमनीगण्डोपलेपाक्ष्यामयानभिष्यन्दमित्येवं प्रभृतीन् कफजान् विकारानुपजनयति ॥ (१) ॥

इन छः रसों में से एक-एक रस के आधार द्रव्य के अनुसार गुण, कर्म की व्याख्या करेंगे। इन में मधुर रस—जन्म से ही शरीर के अनुकूल (सात्म्य) है। (जन्म से ही मधुर रसयुक्त दूध को पीकर बच्चा बढ़ता है)। रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि, ओज और शुक्र को बढ़ाता है, आयुवर्द्धक, श्रोत्र, त्वक्, नासिका, चक्षु, रसना ये पांच ज्ञानेन्द्रिय और मन इन को प्रसन्न, निर्मल करता है। बलकारक, कान्तिकारक पित्त-नाशक, विषनाशक, वायुनाशक, तृष्णानाशक, त्वचा, केश, और स्वर के लिये हितकारी, आह्लादजनक, अभिघात आदि से बेहोश पुरुष को जीवन देने वाला, तृप्ति करने वाला, वृद्धि करने वाला, स्थिरकारक, क्षीण और क्षत व्यक्ति का पोषण करने एवं सन्धान अर्थात् टूटे का जोड़ने वाला नासिका, मुख, कण्ठ, ओष्ठ और जीभ का आह्लाद करने वाला, जलन और मूर्च्छानाशक, भ्रमर और चिऊंटियों का प्रिय, स्निग्ध, शीत और गुरु है। यद्यपि इस मधुर रस में इतने गुण हैं, तो भी इस अकेले रस को ही निरन्तर अधिक मात्रा में खाने से स्थूलता कोमलता, आलस्य, नींद की अधिकता, भारीपन, अन्न में अरुचि, अग्नि की निर्बलता, मुख (गाल), गले में मांस की वृद्धि, श्वास, कास, प्रतिश्याय, अलसक, शीत ज्वर, आनाह (अफारा), मुख की मधुरता, वमन, संज्ञानाश, स्वर नाश, गलगण्ड, गण्डमाला, श्लीपद, गले की सूजन, बस्ति, धमनी गुदा (गले में) में मांस, चर्बी या कफ कोई पदार्थ बढ़ जाता है, नेत्र रोग, अभिष्यन्द, कफ रोग (कफस्राव) आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं ॥

अम्लो रसो भक्तं रोचयति, अग्निं दीपयति, देहं बृंहयति ऊर्जयति, वातमनुलोमयति, हृदयं तर्पयति, आस्यमास्रावयति, भुक्तमपकर्षयति, क्लेदयति, जरयति, प्रीणयति, लघुरुष्णः स्निग्धश्च। स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो दन्तान् हर्षयति, तर्षयति, संमीलयति अक्षिणी, संवेजयति लोमानि, कफं विलापयति, पित्तमभिवर्धयति, रक्तं दूषयति, मांसं विदहति, कायं शिथिलीकरोति, क्षीण-क्षत-कृश-दुर्बलानां श्वयथुमापादयति, अपि च क्षताभिहत-दष्ट-दग्ध-भग्न-शून-च्युतावमूत्रित-परिसर्पित-मर्दित-छिन्न-भिन्न-विश्लिष्ट-विद्धोत्पिष्टादीन् पाचयत्याग्नेयस्वभावात् परिदहति कण्ठ-मुरो हृदयं च ॥ (२) ॥

अम्ल रस अन्न में रुचि पैदा करता है, अग्नि को बढ़ाता है, शरीर

बढ़ाता है, तेज देता है, मन को उत्तेजित (जाग्रत) करता है। इन्द्रियों को बलवान् करता है, बल को बढ़ाता है वायु का अनुलोमन करता है, हृदय के लिये हितकारी है। मुख में लार चुआता है, खाये हुए भोजन को बाहर निकालता है, क्लिन्न (शरीर को गीला) बनाता है। खाये भोजन को पचाता है, प्रसन्नता करता है लघु, उष्ण, स्निग्ध गुण वाला है ॥

यही एक रस यदि अधिक मात्रा में सेवन किया जाय, तो दांतों को कोट करता है, (खट्टा करता है), तृप्ति अर्थात् भोजन में अनिच्छा उत्पन्न करता है, आंखों को मीचाता है, शरीर के बालों को कंपा देता है, (रोमांचित करता है), कफ को पिघलाता है, पित्त को बढ़ाता है, रक्त को दूषित करता है, मांस में जलन पैदा करता है, शरीर को ढीला (सुस्त करता है), क्षीण, उरःक्षत रोगी, निर्बल, कमजोर पुरुषों में सूजन उत्पन्न करता है और भी जख्म, चोट, दांत लगे, जले, अस्थि आदि का टूटना, सूजन, सन्धिभ्रंश, प्राणियों के मूत्रजन्य विष, स्पर्शजन्य विष (मकड़ी के), रगड़ लगे हुए, दो टुकड़े हुए, चुभे हुए पिसे हुए आदि व्रणों को पका देता है। अग्निगुण होने से कण्ठ, छाती और हृदय में जलन उत्पन्न करता है ॥ (२) ॥

लवणो रसः पाचनः क्लेदनो दीपनश्च्यावनश्छेदनो भेदनस्तीक्ष्णः सरो विकास्यधः स्रंस्यवकाशकरो वातहरः स्तम्भ-बन्ध संघात-विधमनः सर्वरसप्रत्यनीकभूतः, आस्यमास्रावयति, कफं विष्यन्दयति, मार्गान् विशोधयति, सर्वशरीरावयवान्मृदूकरोति, रोचयत्याहारमाहारयोगी, नात्यर्थं गुरुः स्निग्ध उष्णश्च; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानः पित्तं कोपयति, रक्तं वर्धयति, तर्षयति, मूर्च्छयति, तापयति, दारयति, कुष्णाति मांसानि, प्रगालयति कुष्ठानि, विषं वर्धयति, शोफान् स्फोटयति, दन्तांश्च्यावयति, पुंस्त्वमुपहन्ति, इन्द्रियाण्युपरुणद्धि, वली-पलित-खालित्यमापादयति, अपि च लोहित-पित्ताम्ल-पित्त-वीसर्प-वात-रक्त-विचर्चिकेन्द्रलुप्त-प्रभृतीन्विकारानुपजनयति ॥ (३)॥

लवण रस—पाचक, नरम बनाने वाला, अग्निदीपक, नीचे गिराने वाला, छेदन भेदन करने वाला, तीक्ष्ण, सर (मल लाने वाला), विकासी (क्लेद का छेदन करने वाला) अधःस्रंसी, विष्यन्दशील (रेचक) विरलता करने वाला वातनाशक, मल-मूत्रादि के अवरोध को नाश करने वाला और जहां पर जरा सा अधिक हो जाता है, वहां पर और कोई दूसरा रस स्पष्ट नहीं में थूक उत्पन्न करता है, कफ को पिघलाता है, मार्गों का शोधन

करता है, शरीर के सब अवयवों को कोमल करता है, आहार में रुचि उत्पन्न करता है, आहार में सदा बरता जाता है, बहुत भारी नहीं होता, स्निग्ध और उष्ण गुणवाला है।

यही एक रस यदि अधिक सेवन किया जाय तो पित्त को कुपित करता है, रक्त को बढ़ाता है, प्यास उत्पन्न करता है, संज्ञा नाश करता है, शरीर को गरम करता है, फाड़ता है, मांस को गलाता है, कुष्ठों को द्रवित करता है, विष को बढ़ाता है, सूजन को फाड़ता है, दांतों को गिरा देता है, पुरुषत्व का नाश करता है, इन्द्रियों को जड़ बनाता है। झुर्रियां पैदा करता, बालों को श्वेत करता, गंज अर्थात् बालों को गिराता है। इसके अतिरिक्त रक्तपित्त, अम्लपित्त, वीसर्प, वातरक्त, विचर्चिका, इन्द्रलुप्त आदि रोगों को उत्पन्न करता है ॥(३)॥

कटुको रसो वक्त्रं शोधयति, अग्निं दीपयति, भुक्तं शोषयति, घ्राणमास्रावयति, चक्षुर्विरेचयति, स्फुटीकरोतीन्द्रियाणि, अलसक-श्वयथूपचयोदर्दाभिष्यन्द-स्नेह-स्वेद-क्लेद मलानुपहन्ति, रोचयत्यशनं कण्डूर्विनाशयति, क्रिमीन् हिनस्ति, मांसं विलिखति, शोणितसंघातं भिनत्ति, बन्धांश्छिनत्ति, मार्गान्विवृणोति, श्लेष्माणं शमयति, लघुरुष्णो रूक्षश्च। स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो विपाकप्रभावात् पुंस्त्वमुपहन्ति, रसवीर्यप्रभावान्मोहयति, ग्लपयति, सादयति, कर्षयति, मूर्च्छयति, नमयति, तमयति, भ्रमयति, कण्ठं परिदहति, शरीरतापमुपजनयति, बलं क्षिणोति, तृष्णां चोपजनयति। अपिच वाय्वग्निबाहुल्याद् भ्रम-मद-द्रवथु[1] कम्प-तोद भेदैश्चरण-भुज-पार्श्वपृष्ठ-प्रभृतिषु मारुतजान्विकारानुपजनयति ॥ (४) ॥

कटु रस मुख का शोधन करता है, अग्नि को बढ़ाता है, खाये हुए भोजन को सुखाता है, नाक से कफ बहाता है, आंखों में आंसू लाता है, इन्द्रियों को उत्तेजित करता है, अलसक, सूजन, वृद्धि, उदर्द, अभिष्यन्द, स्नेह, पसीना, क्लेद, मल का नाश करता है। कृमियों को मारता है, मांस का लेखन करता है (स्थूलता को कम करता है)। खाये हुए भोजन का रेचन करता है, खाज़ को मिटाता है, व्रणों को बैठाता है, भरता है। जमे हुए रक्त को तोड़ता है, सन्धि-बन्धनों को छेदन करता है, मार्गों को साफ़ बनाता है, कफ को शान्त करता है। लघु, उष्ण और रूक्ष होता है।

यही एक रस यदि अधिक मात्रा में सेवन किया जाय तो कटु[

१. 'भ्रममदवमथु' इति च पाठः।

प्रभाव से (कटु रस का कटु विपाक) पुरुषत्व का नाश करता है। रस और वीर्य के प्रभाव से संज्ञानाश करता है। ग्लानि उत्पन्न करता है, अवसन्न करता है, कर्षण (निर्बल) करता है, मूर्च्छित करता है, शरीर को झुकाता है, अन्धकार लाता है, चक्कर लाता है, गले में जलन तथा शरीर में तापज्वर उत्पन्न करता है। बल को कम करता है, प्यास को पैदा करता है। वायु, अग्नि गुण की अधिकता होने से चक्कर; मुख ओठ में जलन, कंपकपी, चुभने की सी दर्द, भेदन जैसी पीड़ा, पांव, हाथ, पार्श्व पसलियों और पीठ में वात विकार उत्पन्न करता है ॥ (४) ॥

तिक्तो रसः स्वयमरोचिष्णुररोचकघ्नो विषघ्नः कृमिघ्नो मूर्च्छा-दाह-कण्डू-कुष्ठ-तृष्णा-प्रशमनः त्वङ्मांसयोः स्थिरीकरणो ज्वरघ्नो दीपनः पाचनः स्तन्यशोधनो लेखनः क्लेद-मेदो-वसा-मज्ज-लसीका-पूय-स्वेद-मूत्र-पुरीष-पित्त-श्लेष्मोपशोषणो रूक्षः शीतो लघुश्च। स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो रौक्ष्यात् खरविशदस्वभावाच्च रस-रुधिर-मांस-मेदोऽस्थि-मज्ज-शुक्राण्युच्छोषयति, स्रोतसां खरत्वमुपपादयति, बलमादत्ते, कर्षयति, ग्लपयति, मोहयति, भ्रमयति, वदनमुपशोषयति, अपरांश्च वातविकारानुपजनयति, ॥ (५) ॥

तिक्त रस अपने आप अरुचिकारक होने पर भी दूसरे भोजनों में रुचि उत्पन्न करता है, इसलिये अरोचकनाशक है। विषनाशक, कृमिनाशक, मूर्च्छा, जलन, खाज़, कोढ़ और प्यास को शान्त करने वाला, त्वचा मांस को स्थिर करने वाला, ज्वरनाशक, अग्निदीपक, पाचक, दूध का शोधन करने वाला, लेखन करने वाला, क्लेद, मेद, वसा, मज्जा, लसीका, पूय, स्वेद, मूत्र पुरीष (मल) पित्त, कफ को सुखाता है, रूक्ष, शीत और लघु है।

यही रस अधिक मात्रा में सेवन करने से रूक्ष, कर्कश और विशद स्वभाव होने से रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र का शोषण करता है, स्रोतसों में खरता उत्पन्न करता है, बल देता है, शरीर की स्थूलता का कर्षण करता है, हर्ष का क्षय करता है, संज्ञानाश करता है, चक्कर उत्पन्न करता है, मुख में शुष्कता उत्पन्न करता है और अन्य वात रोगों को भी उत्पन्न [illegible]ा है ॥ (५) ॥

[illegible]ो रसः संशमनः [1] संग्राही संधारणः पीडनो रोपणः शोषणः

---

[1] इति च पाठः।

स्तम्भनः श्लेष्म-पित्त-रक्त-प्रशमनः शरीरक्लेदस्योपयोक्ता, रूक्षः शीतो गुरुश्च। स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमान आस्यं शोषयति, हृदयं पीडयति, उदरमाध्मापयति, वाचं निगृह्णाति, स्रोतांस्यवबध्नाति, श्यावत्वमापादयति, पुंस्त्वमुपहन्ति, विष्टभ्य जरां गच्छति, वातमूत्र-पुरीषाण्यवगृह्णाति, कर्षयति, ग्लापयति, तर्षयति, स्तम्भयति, खर-विशद-रूक्षत्वात्पक्ष-वध-ग्रहापतानकार्दित-प्रभृतींश्च वातविकारानुपज-नयतीति ॥ (६)॥

कषाय रस संशमन करने वाला, संग्राहक, सन्धारक, व्रण का पीडन करने वाला, रोपण, व्रण को शुष्क करने वाला, स्तम्भन, कफ, रक्त, पित्तनाशक, शरीर में क्लेद को चूसने वाला, रूक्ष, शीत और गुरु है। यही रस अधिक मात्रा में उपयोग करने से मुख को सुखा देता है, हृदय को पीडित करता है, उदर में वायु से फुलाव उत्पन्न करता है, वाणी को जड़ कर देता है, स्रोतों को बन्द कर देता है, कृष्णता उत्पन्न करता है, पुरुषत्व को नष्ट करता है, अन्न को अवरोध करके पचन कराता है, वात, मूत्र, मल, रेतस् (शुक्र) को बन्द कर देता है, रोक देता है, शरीर को कर्षण करता है, म्लान कर (मुरझा) देता है, प्यास लगाता है, जकड़ देता है। खर, विशद और रूक्ष होने से पक्षवध, हनुग्रह, मन्याग्रह, पृष्ठग्रह, अपतानक, अर्दित आदि वात रोगों को उत्पन्न करता है ॥ (६)॥

एवमेते षड् रसाः पृथक्त्वेनैकत्वेन वा मात्रशः सम्यगुपयुज्यमाना उपकारकरा भवन्त्यध्यात्मलोकस्य, अपकारकराः पुनरतोऽन्यथोपयुज्य-मानाः। तान् विद्वानुपकारार्थमेव मात्रशः सम्यगुपयोजयेदिति ॥ ४१ ॥

इस प्रकार से ये छः रस पृथक् पृथक् या दो या तीन अथवा सब परस्पर, मिलकर मात्रा में योग्य प्रमाण से सेवन करने से सर्व प्राणिमात्र को आरोग्य पुष्टि देकर उपकार करते हैं और असम्यक् रूप में उपयोग करने से सब प्राणियों का अपकार करते हैं। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि इन को मात्रा में सम्यक् प्रकार से बरतें ॥ ४१ ॥

भवन्ति चात्र—शीतं वीर्येण यद् द्रव्यं मधुरं रसपाकयोः।
तयोरम्लं यदुष्णं च यच्चोष्णं कटुकं तयोः ॥ ४२ ॥
तेषां रसोपदेशेन निर्देश्यो गुणसंग्रहः।
वीर्यतोऽविपरीतानां पाकतश्चोपदेक्ष्यते ॥ ४३ ॥

यथा पयो यथा सर्पिर्यथा वा चव्यचित्रकौ ।
एवमादीनि चान्यानि निर्दिशेद्रसतो भिषक् ॥ ४४ ॥

इसमें श्लोक हैं—रसानुसारी द्रव्यों का वीर्य—जो द्रव्य रस और विपाक में मधुर हो, उस को शीतवीर्य समझना चाहिये, और जो द्रव्य रस और पाक में अम्ल हो, उस को उष्णवीर्य, जो द्रव्य रस और पाक में कटु हो, उस को भी उष्णवीर्य समझना चाहिये। जो द्रव्य वीर्य और विपाक में विरोधि न हों—एक समान हों, उनके गुणों का ज्ञान रस से ही करना चाहिये। परन्तु इस का अपवाद भी है। जहां पर रस समान हैं, वहां पर विपाक द्वारा गुणों का ज्ञान होता है। जिस प्रकार कि दूध और घी मधुर रस और मधुर विपाक हैं, इन का वीर्य भी शीत है, इसी प्रकार चव्य और चित्रक इन का रस और विपाक कटु हैं, इसलिये वीर्य भी इन का 'उष्ण' है। इस प्रकार से अन्य द्रव्यों को भी रसनिर्देश से वैद्य सुगमता से समझ सकता है। क्योंकि रस के अनुसार गुण हैं ॥ ४२-४४ ॥

मधुरं किंचिदुष्णं स्यात्कषायं तिक्तमेव च ।
यथा महत्पञ्चमूलं यथा चानूपमामिषम् ॥ ४५ ॥
लवणं सैन्धवं नोष्णमम्लमामलकं तथा ।
अर्कागुरुगुडूचीनां तिक्तानामुष्णमुच्यते ॥ ४६ ॥
किंचिदम्लं हि संग्राहि किंचिदम्लं भिनत्ति च ।
यथा कपित्थं संग्राहि, भेदि चामलकं तथा ॥ ४७ ॥
पिप्पली नागरं वृष्यं कटु चावृष्यमुच्यते ।
कषायः स्तम्भनः शीतः सोऽभयायामतोऽन्यथा ॥४८॥
तस्माद्रसोपदेशेन न सर्वं द्रव्यमादिशेत् ।
दृष्टं तुल्यरसेऽप्येवं द्रव्ये द्रव्ये गुणान्तरम् ॥ ४९ ॥

कभी कभी मधुर, कषाय और तिक्त रस भी उष्णवीर्य हो जाते हैं। यथा—बिल्वादि महापञ्चमूल तिक्त और कषाय होने पर भी उष्ण वीर्य हैं, और जलचर या जलदेशीय मांस मधुर होने पर भी उष्ण है। सैन्धव नमक उष्णवीर्य नहीं और आंवला खट्टा होने पर भी उष्णवीर्य नहीं है। आकडा, अगरू और गिलोय ये तिक्त रस होने पर भी 'उष्ण' वीर्य हैं। अम्ल-रस में कोई द्रव्य [ग्रा]हक और कोई रेचक हैं। जिस प्रकार की कैथ अम्ल होने पर संग्राही और [आंवला] अम्ल होने पर भी रेचक है। पिप्पली और सोंठ कटु रस होने पर भी [वृष्य (शु]क्रवर्धक) हैं, क्योंकि उनका मधुर विपाक है और वैसे कटु-रस

अवृष्य होता है। कषाय रस स्तम्भनकारक और शीतवीर्य होता है, परन्तु हरड़ का कषाय रस रेचक और उष्ण-वीर्य है। इस लिये रस को ही देखकर 'सब द्रव्य के गुण नहीं समझने चाहिये। रस की समानता होने पर भी द्रव्य-द्रव्य में गुणभेद देखा जाता है ॥ ४५-४९ ॥

रौक्ष्यात्कषायो रूक्षाणामुत्तमो मध्यमः कटुः।
तिक्तोऽवरस्तथोष्णानामुष्णत्वाल्लवणः परः ॥ ५० ॥
मध्योऽम्लः कटुकश्चान्त्यः, स्निग्धानां मधुरः परः।
मध्योऽम्लो लवणश्चान्त्यो रसः स्नेहान्निरुच्यते ॥५१॥
मध्योत्कृष्टवराः शैत्यात्कषाय-स्वादु-तिक्तकाः।
[तिक्तात्कषायो मधुरः शीताच्छीततरः परः।]
स्वादुर्गुरुत्वादधिकः कषायाल्लवणोऽवरः ॥ ५२ ॥
अम्लात्कटुस्ततस्तिक्तो लघुत्वादुत्तमो मतः।
केचिल्लघूनामवरमिच्छन्ति लवणं रसम् ॥ ५३ ॥
गौरवे लाघवे चैव सोऽवरस्तूभयोरपि।

इन छः रसों में कषाय, कटु, तिक्त तीनों रस रूक्ष हैं। इनमें भी कषाय रस रूक्षतम (उत्तम), कटु रसरूक्षतर (मध्यम) और तिक्त रस रूक्ष (अवर) है। इसी प्रकार लवण रस उष्णतम (उत्तम), अम्ल उष्णतर (मध्यम), कटु रस उष्ण (अवर) है। मधुर रस स्निग्धतम (उत्तम), अम्ल रस स्निग्धतर (मध्यम), लवण रस स्निग्ध (अवर) है। शैत्य धर्म सम्बन्ध की दृष्टि में कषाय रस मध्यम; स्वादु रस उत्कृष्ट और तिक्त रस अवर है। गुरुता की दृष्टि से मधुर रस सबसे गुरु, कषाय रस मध्यम और लवण रस सब से अवर है। लघु गुण की दृष्टि से अम्ल रस उत्तम, कटु मध्यम और तिक्त रस अवर है। कुछ आचार्य लवण रस को सब से लघु (अवर) मानते हैं। क्योंकि अम्ल में पृथ्वी कारण है, लवण में जल कारण है। इसलिये पृथिवीजन्य रस की अपेक्षा जलजन्य वस्तु हलकी होनी चाहिये, इसलिये भूतों के आधार से गौरव या लाघव का ज्ञान नहीं करना चाहिये। क्योंकि पानी की अधिकता से उत्पन्न रस, पृथ्वी की अधिकता से उत्पन्न कषाय रस से 'गुरु' होता है। यहां पर गुरुत्व की
से लघु माना है। वास्तव में इस मतभेद का कोई विशेष अर्थ नहीं, क्योंकि
ही पक्ष (लवण रस) को अवर मानते हैं। अम्ल, कटु, तिक्त रस
जो लवण रस को गुरु समझते हैं; वे गुरुता की दृष्टि से देखते हैं

मानते हैं वे लघुत्व होने से लघु समझते हैं। दोनों ही पक्ष किञ्चित् गुरुत्व स्वीकार करते हैं॥

परं चातो विपाकानां लक्षणं संप्रवक्ष्यते॥ ५४॥
कटु तिक्त-कषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः।
अम्लोऽम्लं पच्यते, स्वादुर्मधुरं लवणस्तथा॥५५॥
मधुरो लवणाम्लौ च स्निग्धभावात्त्रयो रसाः।
वात-मूत्र-पुरीषाणां प्रायो मोक्षे सुखा मताः॥५६॥
कटुतिक्तकषायास्तु रूक्षभावात्त्रयो रसाः।
दुःखाय मोक्षे दृश्यन्ते वातविण्मूत्ररेतसाम्॥ ५७॥
शुक्रहा बद्धविण्मूत्रो विपाको वातलः कटुः।
मधुरः सृष्टविण्मूत्रो विपाकः कफशुक्रलः॥ ५८॥
पित्तकृत्सृष्टविण्मूत्रः पाकोऽम्लः शुक्रनाशनः।
तेषां गुरुः स्यान्मधुरः कटुकाम्लावतोऽन्यथा॥ ५९॥
विपाकलक्षणस्याल्पमध्यभूयिष्ठतां प्रति।
द्रव्याणां गुणवैशेष्यात्तत्र तत्रोपलक्षयेत्॥ ६०॥

विपाक—इसके आगे विपाकों[1] का लक्षण कहते हैं। कटु, तिक्त, कषाय रस के आधार भूत द्रव्यों का विपाक प्रायः कटु होता है। (पिप्पली कटु रस होने पर भी विपाक में प्रायः कटु होना है। पिप्पली कटु रस होने पर भी विपाक में मधुर है, इसलिये प्राय शब्द है)। अम्ल रस का अम्ल और मधुर तथा लवण रस का मधुर विपाक होता है। मधुर, अम्ल और लवण ये तीनों रस स्निग्ध होने के कारण वायु, मूत्र, मल को सुख पूर्वक बाहर निकालने में सहायक होते हैं। कटु, तिक्त और कषाय रस रूक्षगुण होने से वात, मल, मूत्र और शुक्र के बाहर निकालने में कष्ट रूप होते हैं, अवरोध करते हैं। जिस द्रव्य का विपाक कटु होता है, वह वीर्यनाशक, मल मूत्र का अवरोध करने वाला और वायुकारक होता है। जिस द्रव्य का विपाक मधुर होता है, वह मल मूत्र का प्रवर्त्तक (रेचक) और कफ एवं शुक्र को बढ़ाता है। जिस द्रव्य का विपाक अम्ल होता है, वह पित्तकारक, मल-मूत्र का रेचक और वीर्यनाशक होता है।

---

१. विपाक—खाये हुए अन्न का जाठराग्नि में पाचन क्रिया के पश्चात् रस उत्पन्न होता है उसका नाम विपाक है।

"जाठरेणाग्नियोगात् यदुदयति रसान्तरम्।
रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः॥"

इन विपाकों में मधुर विपाक गुरु और कटु तथा अम्ल विपाक लघु होते हैं। विपाक के अल्पत्व और बहुत्व उस उस द्रव्य के रस रूपी गुण की अधिकता या न्यूनता पर निर्भर करते हैं। उदाहरण के लिये गन्ने में मधुर रस अधिक प्रमाण में है, इसलिये इसका विपाक भी मधुर (उत्तम) होगा। इसी प्रकार जिसमें मध्यम प्रमाण में होगा उस का विपाक भी मध्यम, जिसमें न्यून प्रमाण में होगा, उसका विपाक भी अवर होगा। प्रत्येक पदार्थ का विपाक उसके रस के परिमाण में होता है ॥ ५४–६० ॥

तीक्ष्णं रूक्षं मृदु स्निग्धं लघूष्णं गुरु शीतलम्[1] ।
वीर्यमष्टविधं केचित्केचिद् द्विविधमास्थिताः ॥ ६१ ॥
शीतोष्णमिति, वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया ।
नावीर्यं कुरुते किंचित्सर्वा वीर्यकृता क्रिया ॥ ६२ ॥
रसो निपाते द्रव्याणां, विपाकः कर्मनिष्ठया ।
वीर्यं यावदधीवासान्निपाताच्चोपलभ्यते ॥ ६३ ॥

कोई आचार्य वीर्य को आठ प्रकार मानते हैं। यथा—मृदु, तीक्ष्ण रूक्ष, लघु, स्निग्ध, उष्ण और शीतल। और कोई आचार्य वीर्य को दो प्रकार का मानते हैं। यथा—शीत और उष्ण। रस, विपाक और प्रभाव इनसे व्यतिरिक्त जो द्रव्य के अन्दर छिपी शक्ति विशेष कार्य करती है, उसका नाम 'वीर्य' है। कार्यरहित वस्तु कुछ क्रिया नहीं कर सकती, सम्पूर्ण क्रियायें वीर्य अर्थात् शक्ति से होती हैं।

रस, वीर्य और विपाक के पृथक्-पृथक् लक्षण कहकर अब एक द्रव्य में स्पष्ट करते हैं। जिह्वा के साथ किसी पदार्थ का सम्बन्ध होने पर जो रस (खट्टा, कड़ुवा) अनुभव होता है, वह रस, वस्तु के पाचन होने के पीछे शरीर में कफ-वृद्धि, पित्तवृद्धि, वीर्यवृद्धि, वातवृद्धि आदि कार्य के होने से जो अनुभव होता है, उसका नाम विपाक है। वस्तु का (पचन से पूर्व और रसना के सम्बन्ध होने के पीछे) शरीर के साथ संयोग होने से वीर्य का ज्ञान होता है। तथा—जलचर प्राणियों के मांस का जिह्वा के साथ सम्बन्ध मात्र से उष्णत्व स्पष्ट हो जाता है, मरिच का तीक्ष्णवीर्य जिह्वा स्पर्श से मालूम हो जाता है। मरिच की अग्निवर्धक दीपन क्रिया शरीर के साथ सम्बन्ध होने पर ज्ञात होती है। रसका ज्ञान द्रव्य का जिह्वा के साथ सम्बन्ध होने पर तुरन्त होता है; विपाक का ज्ञान कर्म से; वीर्य का ज्ञान-शरीर में जब तक रहने से तथा जिह्वा के साथ सम्

१. 'मृदुतीक्ष्णगुरुस्निग्धलघुरूक्षोष्णशीतलम् ।' इति च पाठः ।

होने से होता है। रस प्रत्यक्ष है, विपाक सदा परोक्ष और वीर्य अनुमान द्वारा ज्ञात होता है। यथा—सैन्धव नमक शीत वीर्य और जलचर मांस उष्ण है। कहीं २ वीर्य का प्रत्यक्ष द्वारा भी ज्ञान हो जाता है। यथा—राई को चखकर तीक्ष्ण वीर्य का पता लग जाता है। यह वीर्य सहज और कृत्रिम है, उड़द का भारीपन और मूंग का हल्कापन यह स्वभाव से ही है। और लाजा का हल्कापन यह कृत्रिम है॥ ६१-६३॥

रसवीर्यविपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते।
विशेषः कर्मणां चैव प्रभावस्तस्य स स्मृतः॥ ६४॥
कटुकः कटुकः पाके वीर्योष्णश्चित्रको मतः।
तद्वद्दन्ती प्रभावात्तु विरेचयति मानवम्॥ ६५॥
विषं विषघ्नमुक्तं यत् प्रभावस्तत्र कारणम्।
ऊर्ध्वानुलोमिकं यच्च तत्प्रभावप्रभावितम्॥ ६६॥
मणीनां धारणीयानां कर्म यद्विविधात्मकम्।
तत्प्रभावकृतं तेषां, प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते॥ ६७॥
किंचिद्रसेन कुरुते कर्म वीर्येण चापरम्।
द्रव्यं गुणेन पाकेन प्रभावेण च किंचन॥ ६८॥
रसं विपाकस्तौ वीर्यं प्रभावस्तानपोहति।
बलसाम्ये रसादीनामिति नैसर्गिकं बलम्॥ ६९॥
सम्यग्विपाकवीर्याणि प्रभावश्चाप्युदाहृतः।

प्रभाव—जिस स्थान पर रस, वीर्य और विपाक की समानता होने पर भी कार्य में विशेषता उत्पन्न होती हो, उसे 'प्रभाव' कहते हैं। जिस प्रकार चित्रक (चीतामूल) का रस कटु, विपाक कटु और वीर्य उष्ण है, उसी प्रकार दन्ती (जमालगोटा) भी कटु रस, कटु विपाक और उष्णवीर्य है। परन्तु जमालगोटा विरेचन करता है, चीता नहीं करता। जो विष विष को (स्थावर विष जंगम विष को—'तस्माद् दंष्ट्राविषं मौलम्') नष्ट करता है, उसका भी कारण प्रभाव है। जो द्रव्य ऊर्ध्वगामी और अधोगामी दोनों मार्गों का संशोधन करता है, वह भी प्रभाव है। मणियों के धारण करने से विषनाश, शूलहरण आदि जो नाना प्रकार के कार्य होते हैं, वे सब प्रभाव के कारण ही होते हैं। [illegible] द्रव्य की वह अचिन्त्य शक्ति है जिसके विषय में कुछ कह नहीं सकते कि [illegible]ता है। कोई द्रव्य अपने रस से, कोई वीर्य से, कोई गुण से, कोई विपाक [illegible] प्रभाव से कार्य करता है। किसी पदार्थ में रस आदि का बल

समान हों, तो वहां पर रस को विपाक, रस और विपाक को वीर्य, रस, विपाक, वीर्य को प्रभाव अपने स्वाभाविक बल से जीत लेता है। जिस प्रकार कि भैंस की चर्बी रस और विपाक में मधुर है,परन्तु वीर्य-उष्ण है, इसलिये वह मधुर रस के कार्य पित्त-शमन को न करके, उष्ण वीर्य के कार्य पित्तप्रकोप को करता है। मद्य, इसका रस और विपाक अम्ल है, वीर्य उष्ण है, परन्तु यही मद्य अपने प्रभाव से इन तीनों को रद्द करके स्त्रियों में दुग्ध उत्पन्न करता है। अब तक विपाक, वीर्य और प्रभाव का वर्णन भली प्रकार कर दिया है ॥ ६४–६६ ॥।

षण्णां रसानां विज्ञानमुपदेक्ष्याम्यतः परम् ॥ ७० ॥
स्नेहन-प्रीणनाह्लाद-मार्दवैरुपलभ्यते ।
मुखस्थो मधुरश्चाऽऽस्यं व्याप्नुवँल्लिम्पतीव च ॥ ७१ ॥
दन्तहर्षान्मुखस्रावात्स्वेदनान्मुखबोधनात् ।
विदाहाच्चाऽऽस्यकण्ठस्य प्राश्यैवाम्लं रसं वदेत् ॥ ७२ ॥
प्रलीयन्क्लेदविष्यन्दमार्दवं कुरुते मुखे ।
यः शीघ्रं लवणो ज्ञेयः स विदाहान्मुखस्य च ॥ ७३ ॥
संवेजयेद्यो रसनां निपाते तुदतीव च ।
विदहन्मुखनासाक्षि संस्रावी स कटुः स्मृतः ॥ ७४ ॥
प्रतिहन्ति निपाते यो रसनं स्वदते न च ।
स तिक्तो मुख-वैशद्य-शोष-प्रह्लाद-कारकः ॥ ७५ ॥
वैशद्य-स्तम्भ-जाड्यैर्यो रसनं योजयेद्रसः ।
बध्नातीव च यः कण्ठं कषायः स विकास्यपि ॥ ७६ ॥ इति ॥

इसके आगे छः रसों के लक्षण कहते हैं। जो रस स्निग्धता, प्रसन्नता, आल्हाद अथवा मृदुता उत्पन्न करता है, मुख में रखने से सम्पूर्ण मुख को चिकास से भर देता है, लिसलिसा बना देता है, वह मधुर रस है। जो रस दांतों को खट्टा कर देता है, मुख से थूक (लाला) चुआता है, पसीना लाता है, मुख में जागृति उत्पन्न कर देता है, मुख और गले में जलन करता है, वह 'अम्ल' रस है। जो रस मुख में रखने से घुलने लगे, क्लिन्न नमीदार, लाला बहावे, मुख में हल्कापन लाये, मुख में विदाह करता हो, उसे 'लवण' रस कहते हैं। जो रस जीभ को छूते ही चुरचुराहट उत्पन्न करे और सुई जैसा चुभने लगे, मुख को जलाता हुआ नाक और आँखों से पानी बहाने लगे [illegible] 'कटु' रस है। जो रस जीभ के साथ स्पर्श होने पर जीभ को जड़ कर दे [illegible] और कुछ अच्छा नहीं लगता और मुख को साफ करता है, [illegible] की

आल्हादित करता है वह 'तिक्त' रस है। जिस रस के खाने से जीभ स्वच्छ, जड़ और स्तम्भित हो जाती है और गले को रोक देता है और हृदय को पीड़ित करता है, वह 'कषाय' रस है ॥ ७०–७६ ॥

एवंवादिनं भगवन्तमात्रेयं पुनरग्निवेश उवाच—भगवन्! श्रुतमेतदवितथमर्थसंपद्युक्तं भगवतो यथावद् द्रव्यगुणकर्माधिकारे वचः, परं त्वाहारविकाराणां वैरोधिकानां लक्षणमनतिसंक्षेपेणोपदिश्यमानं शुश्रूषामह इति ॥ ७७ ॥

तमुवाच भगवानात्रेयः—देहधातुप्रत्यनीकभूतानि द्रव्याणि देहधातुभिर्विरोधमापद्यन्ते, परस्परगुणविरुद्धानि कानिचित् कानिचित्संयोगात्संस्कारादपराणि देश-काल-मात्रादिभिश्चापराणि तथा स्वभावादपराणि ॥ ७८ ॥

तत्र यान्याहारमधिकृत्य भूयिष्ठमुपयुज्यन्ते तेषामेकदेशं वैरोधिकमधिकृत्योपदेक्ष्यामः—न मत्स्यान् पयसा सहाभ्यवहरेत्, उभयं ह्येतन्मधुरं मधुरविपाकं महाभिष्यन्दि शीतोष्णत्वाद्विरुद्धवीर्यं विरुद्धवीर्यत्वाच्छोणितप्रदूषणाय महाभिष्यन्दित्वान्मार्गोपरोधाय चेति ॥७९॥

इस प्रकार से कहते हुए महर्षि आत्रेय को अग्निवेश ने कहा कि हे भगवन्! आपने द्रव्यगुण कर्म के विषय में जो कुछ अर्थयुक्त वाणी कही है, वह यथार्थ रूप में सुन ली। परन्तु विरुद्ध आहार के लक्षणों को विस्तार से सुनने की इच्छा से, इसलिये आप उसको प्रतिपादन करें। इस पर आत्रेय ऋषि ने कहा—शरीर के रसादि सात धातु या वातादि दोष, इनको प्रकृति के विरुद्ध करने (दूषित करने) वाले द्रव्यों से शरीर के धातु बिगड़ जाते हैं। इन द्रव्यों में कुछ द्रव्य परस्पर गुणों से कुछ संयोग से और कुछ संस्कार से, कुछ देश, काल, मात्रा से और कुछ स्वभाव से ही दूषित करने वाले (विरोधी गुण के) होते हैं। परस्पर विरुद्ध जैसे मछलियों को दूध के साथ खाना। संयोग विरुद्ध-जैसे पके हुए बड़हल को उड़दों में मिलाकर खाना। संस्कार विरुद्ध-जैसे कबूतर को सरसों के तेल में भून कर खाना। देश दो प्रकार का है, भूमि और शरीर। भूमि विरुद्ध—राख और धूल में मिला भोजन या परोक्ष में बना भोजन खाना। शरीरविरुद्ध—उष्णावस्था में मधु खाना। समयविरुद्ध-बासी रक्खा मकोय का खाना। मात्रा विरुद्ध-एक वजन में मधु और घी खाना। स्वभाव विरुद्ध-विष ओज के विरुद्ध दसगुण रखता है। इनमें से जो विरोधी द्रव्य में व्यवहार किये जाते हैं, उनके कुछ उदाहरण देते हैं। यथा—

मछलियों को दूध के साथ नहीं खाना चाहिये। क्योंकि दोनों ही वस्तुएं मधुर रस और मधुर विपाक वाली हैं। इसलिये दोनों को एक साथ सेवन करने से कफ की बहुत वृद्धि होती है, दूध शीतवीर्य और मछलियां उष्णवीर्य हैं। इसलिये रक्त को दूषित करती हैं और महा अभिष्यन्दि होने से स्रोतों को रोक देंगी॥

तदनन्तरमात्रेयवचनमनुनिशम्य भद्रकाप्योऽग्निवेशमुवाच—सर्वानेव मत्स्यान् पयसा सहाभ्यवहरेदन्यत्रैकस्माच्चिलिचिमात्, स पुनः शकली सर्वतो लोहितराजी रोहितप्रकारः प्रायो भूमौ चरति, तं चेत्पयसा सहाभ्यवहरेन्निःसंशयं शोणितजानां विबन्धजानां च व्याधीनामन्यतममथवा मरणं प्राप्नुयादिति ॥ ८० ॥

आत्रेय महर्षि के वचन को श्रवण कर भद्रकाप्य मुनि अग्निवेश को बोले कि एक चिलचिम मछली को छोड़कर और सब मछलियों को दूध के साथ खा सकते हैं। इस चिलचिम मछली पर चारों ओर लाल लाल रेखायें, धारियां होती हैं, इसका रंग लाल होता है और प्रायः भूमि (रेगिस्तान, जैसलमेर में जिसे रेगमाही मच्छी कहते हैं) में फिरती हैं। इस मछली को दूध के साथ खाने से निश्चय रूप में रक्तजन्य या अवरोध (मलमूत्र) जन्य रोगों या मृत्यु को भी प्राप्त हो सकता है ॥ ८० ॥

नेति भगवानात्रेयः। सर्वानेव मत्स्यान्न पयसाऽभ्यवहरेद्विशेषतस्तु चिलिचिमं, स हि महाभिष्यन्दित्वात्स्थूललक्षणतरानेतान् व्याधीनुपजनयत्यामविषमुदीरयति च ॥ ८१ ॥

ग्राम्यानूपौदकपिशितानि च मधु-तिल-गुड-पयो-माष-मूलक-बिसैर्विरूढधान्यैश्च नैकधाऽद्यात्, तन्मूलं च बाधिर्यान्ध्य-वेपथु-जाड्य-विकल-मूकतामैन्मिण्यमथवा मरणमाप्नोति न पौष्करं, रोहिणीकं शाकं, कपोतान् वा सार्षप-तैल-भृष्टान्मधुपयोभ्यां सहाभ्यवहरेत्, तन्मूलं हि शोणिताभिष्यन्द-धमनी-प्रविचयापस्मार-शङ्खक-गलगण्ड-रोहिणीकानामन्यतमं प्राप्नोत्यथवा मरणमिति। न मूलक-लशुन कृष्णगन्धार्जक-सुमुख-सुरसादीनि भक्षयित्वा पयः सेव्यं, कुष्ठाबाधभयात्। न जातुक-शाकं न लिकुचं पक्कं मधुपयोभ्यां सहोपयोज्यं, एतद्धि मरणायाथवा बल-वर्ण-तेजो-वीर्योपरोधायालघुव्याधये षाण्ढ्याय चेति। तदेव लिकुचं पक्कं न माष-सूप-गुड-सर्पिर्भिः सहोपयोज्यं वैरोधिकत्वात्। तथाऽम्लाम्रातक-मातुलुङ्ग-लिकुच-करमर्द-मोच-दन्त-शठ-बदर-कोशाम्र-भव्य-जाम्बव-कपित्थ-तिन्तिडीक-पारावताक्षोट-पनस-नालिकेर-दाडिमामलकानी

प्रकाराणि चान्यानि सर्वं चाम्लं द्रवमद्रवं च पयसा सह विरुद्धम्। तथा कङ्कुवनक-मकुष्ठक-कुलत्थ-माष-निष्पावाः पयसा सह विरुद्धाः। पद्मोत्तरिकाशाकं शार्करो मैरेयो मधु च सहोपयुक्तं विरुद्धं वातं चातिकोपयति। हारिद्रकः सर्षप-तैल-भृष्टो विरुद्धः पित्तं चातिकोपयति। पायसो मन्थानुपानो विरुद्धः श्लेष्माणं चातिकोपयति। उपोदिका तिलकल्कसिद्धा हेतुरतीसारस्य। बलाका वारुण्या सह कुल्माषैरपि विरुद्धा। सैव सूकरवसापरिभृष्टा सद्यो व्यापादयति मायूर-मांसमेरण्ड-सीसकावसक्तमेरण्डाग्नि-प्लुष्टमेरण्ड-तैल-युक्तं सद्यो व्यापादयति तदेव भस्मपांसुपरिध्वस्तं सक्षौद्रं मरणाय। हारीतकमांसं [1]हारिद्रसीसकावसक्तं हारिद्राग्निप्लुष्टं सद्यो व्यापादयति। तदेव भस्मपांशुपरिध्वस्तं सक्षौद्रं मरणाय मत्स्यनिस्तालनसिद्धाः पिप्पल्यस्तथा काकमाची मधु च मरणाय; मधु चोष्णमुष्णार्तस्य च मधु मरणाय। मधुसर्पिषी समधृते; मधु वारि चान्तरिक्षं समधृतं, मधुपुष्करबीजं, मधु पीत्वोष्णोदकं, भल्लातकोष्णोदकं; तक्रसिद्धः कम्पिल्लकः, पर्युषिता काकमाची, अङ्गारशूल्या भासश्चेति विरुद्धानि—इत्येतद्यथाप्रश्नमभिनिर्दिष्टं भवतीति ॥ ८२ ॥

भगवान् आत्रेय ने कहा—यह ठीक नहीं। सभी मछलियों को दूध के साथ नहीं खाना चाहिये, परन्तु खासकर चिलचिम मछली को तो कभी भी नहीं खाना चाहिये। क्योंकि यह मछली (चिलचिम) बहुत अभिष्यन्द करने वाली है, इसलिये भयंकर बड़े २ रोगों को और आमविष को उत्पन्न करती है। ग्राम्य, आनूप और जलचर प्राणियों का मांस, मधु, तिल, गुड, दूध, उड़द, मूली, भिस, नाल, अंकुरित धान्यों के साथ एक साथ नहीं खाना चाहिये। इन के साथ में खाने से बहरापन, अन्धत्व, कम्पन, जड़ता, अव्यक्त उच्चार (मिन्मिन) गूंगापन, नाक से बोलना, अथवा मरण तक हो सकता है। पुष्करपत्र के शाक कटु रोहिणी के शाक को, या कबूतर के मांस के सरसों के तेल में भूनकर दूध और शहद के साथ नहीं खाना चाहिये; इन के खाने से रक्ताभिष्यन्द, सिराजन्य ग्रन्थि-रोग, अपस्मार, शंखकशूल, गलगण्ड, रोहिणी (कण्ठरोहिणी) रोगों में से कोई एक रोग अथवा मृत्यु प्राप्त होती है। मूली, लहसुन, शोभाञ्जन की भाजी, अर्जक (कुठरेक), सुमुख (राई) और तुलसी आदि को खाकर दूध नहीं पीना चाहिये, क्योंकि कुष्ठरोग होने की शंका है। वंशपत्रिका का शाक या पके हुए ल्यो (बड़हल) को शहद और दूध के साथ नहीं खाना

[1] 'हारिद्रक' इति च पाठः।

चाहिये, क्योंकि इन के खाने से या तो मृत्यु हो जाती है, अथवा बल, वर्ण, तेज, वीर्य का नाश होता है और बड़े २ रोग तथा नपुंसकता उत्पन्न होती है। इसी पके हुए ढ्यो फल को उड़द की दाल, गुड़ और घी के साथ मिलाकर नहीं खाना चाहिये क्योंकि संयोग विरुद्ध है। इसी प्रकार कच्चे आम, बिजौरा, ढ्यो, करौंदा, केला, निम्बू, बेर, जंगली आम, कमरख, जामुन, कैथ, इमली, फालसा, अखरोट, पनस (कटहल), नारियल, अनार, आंवला या इस प्रकार के अन्य सब तरल अथवा ठोस सब प्रकार के खट्टे पदार्थ दूध के साथ विरोधी गुण रखते हैं। इसी प्रकार कंगु (नीवार धान्य), जंगली मूंग, मोठ, कुलत्थी, उड़द, या पिट्ठी से बने पदार्थ दूध के साथ विरोधी हैं। पद्मोत्तरिका के शाक, को शक्कर, मैरेय, मधु के साथ खाना विरुद्ध है और वायुकारक है। कबूतर को सरसों के तेल में भूनकर खाना विरुद्ध है, वह पित्त को बहुत कुपित करता है। सत्तू को दूध में या खीर में मथकर खाना विरुद्ध है और श्लेष्मा को बढ़ाता है। तिल कल्क के साथ तैयार की हुई चोलाई की भाजी अतीसार रोग को उत्पन्न करती है। बलाका (पक्षी), वारुणी शराब तथा कुल्माष (धान्य) के साथ विरुद्ध है। इसी बलाका पक्षी को सुअर की चर्बी में भूनकर खाने से शीघ्र मरण होता है। मोर का मांस, एरण्ड की कड़छी (खौंचा, भूनने की लकड़ी) से, एरण्ड की लकड़ियों की आग से, एरण्ड तैल में पकाकर खाने से तुरन्त मार देता है। हल्दा कबूतर का मांस, हलद की लकड़ी की बनी कड़छी से, हलद की लकड़ियों के आंच में पकाकर खाने से शीघ्र मार देता है। इसी कबूतर के मांस को राख, धूल में मिले हुए शहद में मिलाकर खाने से मृत्यु होती है। मछलियों की चर्बी में अथवा जिस बर्तन में मछलियां पकाई जाती हैं, उसी पात्र में पिप्पली, मकोय या शहद पकाकर खाने से मृत्यु होती है। उष्ण क्रिया करने पर या उष्ण शरीरावस्था में गरम शहद खाना मृत्यु का कारण होता है। एक मात्रा में मधु और घी, मधु और वृष्टि जल, शहद और कमलगट्टा, मधु पीकर गरमपानी, भिलावा और गरमपानी, छाछ में सिद्ध पकाया कमीला, रात की बासी रक्खी मकोय, अंगारों पर शूलाकृत भास (कुक्कुट) पक्षी का मांस ये विरुद्ध होते हैं। ये प्रश्न के अनुसार विरोधी अन्न कह दिये गये ॥ ८१-८२ ॥

भवन्ति चात्र श्लोकाः—

यत्किंचिद्दोषमुत्क्लेश्य न निर्हरति कायतः।
आहारजातं तत्सर्वमहितायोपपद्यते ॥ ८३ ॥

यच्चापि देश-कालाग्नि-मात्रा[1]-सात्म्यानिलादिभिः ।
संस्कारतो वीर्यतश्च कोष्ठावस्थाक्रमैरपि ॥ ८४ ॥
परिहारोपचाराभ्यां पाकात्संयोगतोऽपि च ।
विरुद्धं तच्च न हितं हृत्संपद्विधिभिश्च यत् ॥ ८५ ॥
विरुद्धं देशतस्तावद्रूक्षतीक्ष्णादि धन्वनि ।
आनूपे स्निग्धशीतादि भेषजं यन्निषेव्यते ॥ ८६ ॥
कालतोऽपि विरुद्धं यच्छीत-रूक्षादि-सेवनम् ।
शीते काले तथोष्णे च कटुकोष्णादिसेवनम् ॥ ८७ ॥
विरुद्धमनले तद्वदन्नानुरूपं चतुर्विधे ।
मधुसर्पिः समधृतं मात्रया तद्विरुध्यते ॥ ८८ ॥
कटुकोष्णादिसात्म्यस्य स्वादुशीतादिसेवनम् ।
यत्तत्सात्म्यविरुद्धं तु, विरुद्धं त्वनिलादिभिः ॥ ८९ ॥
या समानगुणाभ्यासविरुद्धान्नौषधक्रिया ।
संस्कारतो विरुद्धं तद्यद्भोज्यं विषवद् भवेत् ॥ ९० ॥
ऐरण्डसीसकासक्तं शिखिमांसं तथैव हि ।
विरुद्धं वीर्यतो ज्ञेयं वीर्यतः शीतलात्मकम् ॥ ९१ ॥
तत्संयोज्योष्णवीर्येण द्रव्येण सह सेव्यते ।
क्रूरकोष्ठस्य चात्यल्पं मन्दवीर्यमभेदनम् ॥ ९२ ॥
मृदुकोष्ठस्य गुरु च भेदनीयं तथा बहु ।
एतत्कोष्ठविरुद्धं तु, विरुद्धं स्यादवस्थया ॥ ९३ ॥
श्रम-व्यवाय-व्यायाम-सक्तस्यानिलकोपनम् ।
निद्रालसस्यालसस्य भोजनं श्लेष्मकोपनम् ॥ ९४ ॥
यच्चानुत्सृज्य विण्मूत्रं भुङ्क्ते यश्चाबुभुक्षितः ।
तच्च क्रमविरुद्धं स्याद्यच्चातिक्षुद्वशानुगः ॥ ९५ ॥
परिहारविरुद्धं तु वराहादीन्निषेव्य यत् ।
सेवेतोष्णं, घृतादींश्च पीत्वा शीतं निषेवते ॥ ९६ ॥
विरुद्धं पाकतश्चापि दुष्टदुर्दारुसाधिनम् ।
अपक्व-तण्डुलात्यर्थ-पक्व-दग्धं च यद्भवेत् ।
संयोगतो विरुद्धं यद्यथाऽम्लं पयसा सह ।
अमनोरुचितं यच्च हृद्विरुद्धं तदुच्यते ॥ ९८ ॥

---

[1] त्म्यासात्म्यानिलादिभिरिति च पाठः ।

संपद्विरुद्धं तद्विद्यादसंजातरसं तु यत् ।
अतिक्रान्तरसं वाऽपि विपन्नरसमेव वा ॥ ९९ ॥
ज्ञेयं विधिविरुद्धं तु भुज्यते निभृतेन यत् ।
तदेवंविधमन्नं स्याद्विरुद्धमुपयोजितम् ॥ १०० ॥
सात्म्यतोऽल्पतया वाऽपि दीप्ताग्नेस्तरुणस्य च ।
स्नेह-व्यायाम-बलिनो विरुद्धं वितथं भवेत् ॥ १०१ ॥
षाण्ढ्यान्ध्य-वीसर्प-दकोदराणां विस्फोटकोन्माद-भगन्दराणाम् ।
मूर्च्छा-मदाध्मान-गलामयानां पाण्ड्वामयस्याऽऽम-विषस्य चैव ॥१०२॥
किलास-कुष्ठ-ग्रहणी-गदानां शोषास्र-पित्त-ज्वर-पीनसानाम् ।
संतानदोषस्य तथैव मृत्योर्विरुद्धमन्नं प्रवदन्ति हेतुम् ॥ १०३ ॥

जो भोजन दोषों को विशेष रूप में कुपित करके शरीर से बाहर नहीं करता, अर्थात् कुपित अवस्था में शरीर में ही रहने देता है वह सब अन्न अहितकारी होता है । इसी प्रकार देश, काल, अग्नि, सात्म्य, वायु आदि दोष, संस्कार वीर्य, कोष्ठ, अवस्था, क्रम, परिहार, उपचार, पाक, संयोग, हृत्-संपत् और विधि में जो द्रव्य विरोधी हों, वे अहितकारी हैं । मारवाड़ आदि निर्जल देशों में रूक्ष, तीक्ष्ण पदार्थ; जलबहुल (बंगाल आदि) प्रदेश मे स्निग्ध और शीत पदार्थों का सेवन करना देशविरुद्ध है । इसी प्रकार शीत ऋतु में शीत और रूक्ष पदार्थों का सेवन या उष्णकाल में कटु और उष्ण पदार्थों का सेवन कालविरुद्ध है । अग्नि के विषम, मन्द या तीक्ष्ण या सम इन चार प्रकार की जाठराग्नि में विरोधी अन्न-पान (यथा—तीक्ष्णाग्नि में मन्द आहार और मन्दाग्नि में गुरु आहार करना) विरोधी है। मधु और घी एकसमान मात्रामे परस्पर विरोधी हैं। जिस पुरुषको कटु, उष्ण आदि वस्तुओं का सात्म्य हो, वह यदि मधुर और शीत पदार्थ सेवन करे तो यह सात्म्य-विरोधी है । समान गुणों के अभ्यास के विरुद्ध जो आहार है वह वायु आदि दोषों का भी विरोधी है । एरण्ड की कड़छी से पकाया हुआ मोर का मांस विष के समान होने से संस्कार-विरुद्ध है । जो वस्तु शीतवीर्य हो उस को यदि उष्णवीर्य की वस्तु के साथ मिलाकर खाया जाये तो यह वीर्य-विरोधी है । क्रूरकोष्ठ वाले पुरुष को थोड़ा, मृदुवीर्य अथवा अरेचक पदार्थ देना और मृदुकोष्ठ वाले पुरुष को गुरु, बहुत अथवा रेचक पदार्थ देना, कोष्ठविरोधी है । परिश्रम, मैथुन, स्त्रीसंग और व्यायाम में लगे हुए पुरुष को वायुकोपक आहार देना या निद्राशील, आलसी पुरुष को कफकोपक भोजन देना अवस्थाविरुद्ध है। जो मल मूत्र का त्याग किये विना, विना भूख के खाना, अथवा बहुत भूख की

लाचार होकर खाना ये क्रमविरुद्ध है। सुअर आदि का मांस खाकर या गरम अथवा घी आदि खाकर ऊपर शीतल पदार्थों का सेवन करना परिहार विरोधी है। दुष्ट या बुरी (बांस आदि, या मिट्टी के तेल से) लकड़ियों से पकाये, कच्चे-पके, बहुत पके, या जले हुए चावल आदि आहार का खाना पाकविरोधी कहते हैं। खटाई का दूध के साथ संयोग करना यह संयोगविरोधी है। जो आहार मन को नहीं रुचता वह हृदयविरोधी है। जिस आहार में रस उत्पन्न नहीं हुआ वह सम्पद्विरुद्ध है। इसी प्रकार जिस आहार का रस नष्ट हो गया या बिगड़ गया है, वह भी सम्पद्विरुद्ध है। जो भोजन एकान्त में नहीं खाया जाता है वह आहारविधि अर्थात् शास्त्र के विरुद्ध है। इस प्रकार का विरोधी अन्न भी स्वस्थ पुरुष को, जिसकी अग्नि दीप्त हो, युवा पुरुष को, सात्म्य बन गया हो, या अल्पमात्रा में हो अथवा स्नेह एवं व्यायाम से बलवान् बने पुरुष को विरुद्ध भोजन विशेष हानि नहीं करते।

विरोधी अन्न के सेवन से निम्न रोग उत्पन्न होते हैं। यथा—नपुंसकता, अन्धापन, वीसर्प, जलोदर, विस्फोटक, उन्माद, भगन्दर, मूर्च्छा, मद, अफारा, गलरोग, पाण्डुरोग, आमविष, किलास, कुष्ठ, संग्रहणी, शोष, रक्तपित्त, ज्वर, पीनस। इसी प्रकार संतति में पहुंचने वाले दोषों एवं मृत्यु का भी कारण विरुद्ध आहार को ही कहते हैं॥ ८३—१०३॥

एषां च खलु परेषां च वैरोधिकनिमित्तानां व्यधीनामिमे भावाः प्रतिकारा भवन्ति। यथा—वमनं विरेचनं च, तद्विरोधिनां च द्रव्याणां संशमनार्थमुपयोगः, तथाविधैश्च द्रव्यैः पूर्वमभिसंस्कारः शरीरस्येति॥ १०४॥

इस प्रकार के विरुद्ध अन्न पान के सेवन से अथवा अन्य विरोधरूपी कारणों से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा के ये उपाय हैं। यथा—वमन, विरेचन, उक्त रोगों के विरोधी द्रव्यों का शान्ति के लिये उपयोग करना, विरुद्ध आहार-जन्य रोगों के विरुद्धद्रव्यों का निरन्तर उपयोग करके शरीर को संस्कृत करना, अथवा रसायन ओषधियों से शरीर को शुद्ध करना॥ १०४॥

भवति चात्र—विरुद्धाशनजान् रोगान् प्रतिहन्ति विरेचनम्।
वमनं शमनं चैव पूर्वं वा हितसेवनम्॥ १०५॥

[illegible]रुद्ध आहार से उत्पन्न रोगों को विरेचन, वमन, संशमन क्रिया अथवा [illegible]धि के निवारणार्थ पहले ही पथ्य तथा रसायनादि का सेवन नष्ट [illegible]१०५॥

तत्र श्लोकाः—मतिरासीन्महर्षीणां या या रसविनिश्चये ।
द्रव्याणि गुणकर्मभ्यां द्रव्यसंख्या रसाश्रयाः ॥ १०६ ॥
कारणं रससंख्या या रसानुरसलक्षणम् ।
परादीनां गुणानां च लक्षणानि पृथक् पृथक् ॥ १०७ ॥
पञ्चात्मकानां षट्त्वं च रसानां येन हेतुना ।
ऊर्ध्वानुलोमभाजश्च यद्गुणातिशयाद्रसाः ॥ १०८ ॥
षण्णां रसानां षट्त्वे च सविभक्ता विभक्तयः ।
उद्देशश्चापवादश्च द्रव्याणां गुणकर्मणी ॥ १०९ ॥
प्रवरावरमध्यत्वं रसानां गौरवादिषु ।
पाकप्रभावयोर्लिङ्गं वीर्यसंख्याविनिश्चयः ॥ ११० ॥
षण्णामास्वाद्यमानानां रसानां यत्स्वलक्षणम् ।
यद्यद्विरुध्यते तस्माद्येन यत्कारि चैव यत् ।
वैरोधिकनिमित्तानां व्याधीनामौषधं च यत् ।
आत्रेयभद्रकाप्यीये तत्सर्वमवदन्मुनिः ॥ ११२ ॥

रस-निश्चय सम्बन्ध में महर्षियों की भिन्न २ मति, द्रव्यों के गुण कर्म, रस की संख्या, इन के भेद होने के कारण, रस या अनुरस का लक्षण, पर आदि गुण एवं उन के लक्षण, पंच महाभूतों से उत्पन्न रसों की संख्या, कौन कौन द्रव्य ऊर्ध्वगामी, अधोगामी क्रिया करते हैं, छः रसों के विभाग, रसके आधार-भूत द्रव्यों के सामान्य गुण, कर्म और इनके अपवाद, गौरव, लघुता, रसों में उत्कृष्ट, मध्यम, अवर भेद, विपाक, प्रभाव का लक्षण, वीर्य कितने प्रकार का, छः रसों के लक्षण, परस्पर विरुद्ध द्रव्य, इन के सेवन से उत्पन्न विकार एवं इन रोगों की औषध ये सब विषय इस 'आत्रेय-भद्रकाप्यीय' अध्याय में आत्रेय ऋषि ने कह दिये ॥ १०६–११२ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थानेऽन्नपानचतुष्के
आत्रेयभद्रकाप्यीयोऽध्यायः षड्विंशतितमः समाप्तः ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः ।

अथातोऽन्नपानविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इस के आगे अन्नपानविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १–२॥

इष्ट-वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शं विधिविहितमन्नपानं प्राणिनां प्राणिसंज्ञकानां प्राणमाचक्षते कुशलाः, प्रत्यक्षफलदर्शनात्, तदिन्धना ह्यन्तराग्नेः स्थितिः; तत् सत्त्वमूर्जयति, तच्छरीर-धातु-व्यूह-बल-वर्णेन्द्रियप्रसाद-करं यथोक्तमुपसेव्यमानं, विपरीतमहिताय संपद्यते ॥ ३ ॥

प्रिय या हितकर वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शयुक्त विधिपूर्वक[1] सेवन किया अन्न पान, प्राणिमात्र का प्राण है; ('अन्नं वै प्राणाः') ऐसा विद्वान् मनुष्य कहते हैं। सब प्राणियों के प्राण स्थिर रखने के लिये आहार मुख्य कारण है। यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध है। ठीक प्रकार सेवन करने पर अन्न शरीर में स्थित जाठराग्नि का आधार है और इस अग्नि का अन्न इन्धन रूप होता है। अन्न के सेवन करने से मन की शक्ति बढ़ती है, शरीर के धातुसमूह, बल वर्ण बढ़ता है, तथा इन्द्रियां निर्मल होती हैं। विधि से विपरीत[1] सेवन करने पर अन्न, विपरीत परिणाम उत्पन्न करता है ॥ ३ ॥

तस्माद्धिताहितावबोधनार्थमन्नपानविधिमखिलेनोपदेक्ष्यामोऽग्निवेश ! तत्स्वभावादुदकं क्लेदयति, लवणं विष्यन्दयति, क्षारः पाचयति, मधु संदधाति, सर्पिः स्नेहयति, क्षीरं जीवयति, मांसं बृंहयति, रसः प्रीणयति, सुरा जर्जरीकरोति, शीधुरवधमयति, द्राक्षासवो दीपयति, फाणितमाचिनोति, दधि शोफं जनयति, पिण्याकशाकं ग्लपयति, प्रभूतान्तर्मलो माषसूपः, दृष्टिशुक्रघ्नः क्षारः, प्रायः पित्तलमम्लमन्यत्र दाडिमामलकात्, प्रायो मधुरं श्लेष्मलमन्यत्र मधुनः पुराणाच्च शालियवगोधूमात्, प्रायः सर्वं तिक्तं वातलमवृष्यं चान्यत्र वेत्राग्रपटोलात्, प्रायः कटुकं वातलमवृष्यं चान्यत्र पिप्पलीविश्वभेषजात् ॥ ४ ॥

इसलिये हे अग्निवेश ! हितकारी और अहितकारी विषयका ज्ञान करनेके लिये अन्न-पान विधि को विस्तार से कहते हैं। स्वाभाविक रीति से जल (क्लिन्नता) उत्पन्न करता है। लवण विष्यन्द (नरम बनाना, जलस्राव उत्पन्न) करता है। क्षार पाचन करता है, शहद जोड़ता है, घी चिकना बनाता है। दूध जीवन देता है, मांस बृंहण पोषण देता है। रस क्षीणता को पुष्ट करता है। मद्य शरीर को जीर्ण करता है। शीधु [सिरका] शरीर का लेखन करता है, द्राक्षासव अग्नि को बढ़ाता है।

१ सूत्रस्थान इन्द्रियोपक्रमणीय अध्याय (८। सू० १६) में ('नारक-ल्प' इत्यादि भोजन करने के सम्बन्ध में उचित विधान किया है।

फाणित [राब] वात, पित्त, कफ इन को बढ़ाता है, दही सूजन को उत्पन्न करता है। पिण्याक (तिलकल्क) और हरे शाक प्रसन्नता का नाश करते हैं। उड़द की दाल मल को विशेष रूप से उत्पन्न करती है। क्षार नेत्र और शुक्र को नाश करते हैं। अनार और आंवले को छोड़ कर प्रायः सब अम्ल पित्तकारक हैं। मधु और पुराने चावल, जौ और गेहूं को छोड़कर प्रायः करके मधुर रस कफकारक होता है, बेंत के अग्रिम भाग और परवल को छोड़ प्रायः करके सब तिक्त रस वायुकारक और शुक्र-नाशक होते हैं। पिप्पली और सोंठ को छोड़ कर प्रायः करके सब कटु रस वायुकारक तथा शुक्रनाशक हैं ॥ ४ ॥

परमतो वर्गसंग्रहेणाहारद्रव्याण्यनुव्याख्यास्यामः ॥ ५ ॥
शूकधान्य-शमीधान्य-मांस-शाक-फलाश्रयान् ।
वर्गान् हरित-मद्याम्बु-गोरसेक्षु-विकारिकान् ॥ ६ ॥
दश द्वौ च परौ वर्गौ कृतान्नाहारयोगिनाम् ।
रसवीर्यविपाकैश्च प्रभावैश्च प्रचक्ष्महे ॥ ७ ॥

इस के आगे वर्गक्रम से आहार पदार्थों की व्याख्या करेंगे। यथा—शूकवर्ग, शमीधान्यवर्ग, मांसवर्ग, शाकवर्ग, फलवर्ग, हरितवर्ग, मद्यवर्ग, अम्बुवर्ग, गोरसवर्ग, इक्षुविकारवर्ग, कृतान्नवर्ग और आहारयोगवर्ग। इन बारह वर्गों में सब द्रव्यों के रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव का वर्णन करेंगे ॥ ५–७ ॥

अथ शूकधान्यवर्गः—

रक्तशालिर्महाशालिः कलमः शकुनाहृतः ।
तूर्णको दीर्घशूकश्च गौरः पाण्डुकलाङ्गलौ ॥ ८ ॥
सुगन्धिका लोहवालाः शारिवाख्याः प्रमोदकाः ।
पतङ्गास्तपनीयाश्च ये चान्ये शालयः शुभाः ॥ ९ ॥
शीता रसे विपाके च मधुराः स्वल्पमारुताः ।
बद्धाल्पवर्चसः स्निग्धा बृंहणाः शुक्रमूत्रलाः ॥ १० ॥
रक्तशालिर्वरस्तेषां तृष्णाघ्नस्त्रिमलापहः ।
महांस्तस्यानु कलमस्तस्याप्यनु ततः परे ॥ ११ ॥
यवका हायनाः पांशुवाप्या नैषधकादयः ।
शालीनां शालयः कुर्वन्त्यनुकारं गुणागुणैः ॥ १२ ॥
शीतः स्निग्धोऽगुरुः स्वादुस्त्रिदोषघ्नः स्थिरात्मकः ।
षष्टिकः प्रवरो गौरः कृष्णगौरस्ततोऽनु च ॥ १३ ॥
वरकोद्दालकौ चीन-शारदोज्ज्वल-दर्दुराः ।

गन्धलाः कुरुविन्दाश्च षष्टिकाल्पान्तरा गुणैः ॥ १४ ॥
मधुरश्चाम्लपाकश्च व्रीहिः पित्तकरो गुरुः ।
बहुमूत्रपुरीषोष्मा त्रिदोषस्त्वेव पाटलः ॥ १५ ॥
सकोरदूषः श्यामाकः कषायमधुरो लघुः ।
वातलः कफपित्तघ्नः शीतः संग्राहिशोषणः ॥ १६ ॥
हस्ति-श्यामाक-नीवार-तोय-पर्णी-गवेधुकाः
प्रशातिकाम्भः श्यामाक-लोहिताणु-प्रियङ्गवः ॥ १७ ॥
मुकुन्दो झिण्टिगर्मुटी चारुका वरकास्तथा ।
शिबिरोत्कटजूर्णाह्वाः श्यामाकसदृशा गुणैः ॥ १८ ॥
रूक्षः शीतोऽगुरुः स्वादुर्बहुवातशकृद्यवः ।
स्थैर्यकृत्सकषायस्तु बल्यः श्लेष्मविकारनुत् ॥ १९ ॥
रूक्षः कषायानुरसो मधुरः कफपित्तहा ।
मेदः क्रिमिविषघ्नश्च बल्यो वेणुयवो मतः ॥ २० ॥
सन्धानकृद्वातहरो गोधूमः स्वादुशीतलः ।
जीवनो बृंहणो वृष्यः स्निग्धः स्थैर्यकरो गुरुः ॥ २१ ॥
नन्दीमुखी मधूली च मधुरस्निग्धशीतले ।
इत्ययं शूकधान्यानां पूर्वो वर्गः समाप्यते ॥ २२ ॥

रक्तशालि, महाशालि, कलम, शकुनाहृत, तूर्णक, दीर्घशूक, गौर, पाण्डुक, लांगुल, सुगन्धिकर (हंसराज), लोहवाल, शारिवा, प्रमोदक, पतंग और तपनीय तथा अन्य उत्तम शालि (चावल) ठण्डे, रस और विपाक में मधुर, किंचित् वातकारक, स्निग्ध, पुष्टिकारक, शुक्र और मूत्रवर्द्धक हैं। मल को थोड़ा उत्पन्न करनेवाले एवं रोकने वाले हैं (मधुर विपाक होने से कब्ज़ करना प्रभाव से है)। इन सब चावलों में लाल चावल श्रेष्ठ हैं, ये लाल चावल तृषानाशक और त्रिदोषनाशक हैं। इन से उतर कर महान् शालि, फिर कलम और फिर उत्तरोत्तर गुण न्यून होते गये हैं। यवक,[1] हायन, पांसु, वाप्य, नैषध आदि चावल (मोटे धान्य) लाल चावल आदि के विपरीत गुण करते हैं। अर्थात् लाल चावल, तृषानाशक और त्रिदोषहारक हैं और ये इन के विरुद्ध गुण वाले हैं। (३) षष्टिक (साठी ग्रीष्म ऋतु में पकने वाले) धान्य शीत, लघु,

१. यहां पर दिये हुए नाम नाना देशों में प्रसिद्ध हैं। इसलिये सब का लिखना असम्भव है। 'शालि है मन्तं धान्यम्, षष्टिकादयश्च, ग्रीष्मकाः, [illegible]दाः'—इन में यही भेद है।

मधुर, त्रिदोष नाशक, शरीर को दृढ़ करने वाले हैं। इन में श्वेत साठी श्रेष्ठ हैं, और काली जाति के धान्य इन से हीन गुण वाले हैं, (४) वरक, उद्दालक, चीन; शारद, उज्ज्वल, दर्दुर, गन्धक और कुरुविन्द ये षष्ठिक धान्यों की जातियां हैं। ये गुणों में हीनगुण वाले होते हैं। (५) व्रीहि (शरद् ऋतु में पकने वाले) चावल, मधुर रस, अम्लपाकी, पित्तकारक गुरु हैं। इनमें पाटल जाति का धान्य मल-मूत्रवर्द्धक और त्रिदोषकारक है।

(५) कोरदूष (कोद्रव कुधान्य कोदों), श्यामाक (सांवक) ये धान्य कषाय और मधुर रस, लघु, वायुकारक, कफ-पित्तनाशक, शीतवीर्य, संग्राही और शोषक हैं। (६) हस्ति, सांवक, नीवार (देवभात), तोयपर्णी, गवेधुक, प्रशातिका; अम्भःश्यामाक, लोहिताणु, प्रियंगु (कांग), मुकुन्द, झिंटी, गर्मुटी, चारुक, वरक, शिविर, उत्कट, जूर्णाह्व (जोनार) ये सब धान्य गुणों में सांवक के समान हैं। (७) जौ रूक्ष, शीत, गुरु, मधुर रस, वायु और मलकारक, शरीर को स्थिर करने वाले, कषाय रस, बल कारक और कफजन्य विकारों को नाश करने वाले हैं। वेणुयव रूक्ष, मधुर, कषाय अनुरस, कफ-पित्तनाशक, मेद, कृमि और विष के नाशक एवं बलकारक हैं। (८) गेहूँ-टूटे हुए को मिलाने वाला, वातनाशक, स्वादु रस, शीत वीर्य जीवनीय, बृंहणकारक, वृष्य, शुक्रवर्द्धक, स्निग्ध, स्थिरताकारक गुरु है। नान्दीमुखी और मधूली ये दोनों मधुर, स्निग्ध, शीतल हैं। यह शूक-धान्यों का पहिला वर्ग समाप्त हुआ ॥ ८-२२ ॥

इति शूकधान्यवर्गः।

अथ शमीधान्यवर्गः।

कषायमधुरो रूक्षः शीतः पाके कटुर्लघुः।
विशदः श्लेष्मपित्तघ्नो मुद्गः सूप्योत्तमो मतः ॥ २३ ॥
वृष्यः परं वातहरः स्निग्धोष्णमधुरो गुरुः।
बल्यो बहुमलः पुंस्त्वं माषः शीघ्रं ददाति च ॥ २४ ॥
राजमाषः सरो रुच्यः कफ-शुक्राम्ल-पित्तकृत्।
तत्स्वादुर्वातलो रूक्षः कषायो विशदो गुरुः ॥ २५ ॥
उष्णाः कषायाः पाकेऽम्लाः कफशुक्रानिलापहाः।
कुलत्था ग्राहिणः कास-हिक्का-श्वासार्शसां हिताः ॥ २६ ॥
मधुरा मधुराः पाकैर्ग्राहिणो रूक्षशीतलाः।
मकुष्ठकाः प्रशस्यन्ते रक्त-पित्त-ज्वरादिषु ॥ २७ ॥

चणकाश्च मसूराश्च खण्डिकाः सहरेणवः ।
लघवः शीतमधुराः सकषाया विरूक्षणाः ॥ २८ ॥
पित्तश्लेष्मणि शस्यन्ते सूपेष्वालेपनेषु च ।
तेषां मसूरः संग्राही कलायो वातलः परः ॥ २९ ॥
स्निग्धोष्णमधुरस्तिक्तः कषायः कटुकस्तिलः ।
त्वच्यः केश्यश्च बल्यश्च वातघ्नः कफपित्तकृत् ॥ ३० ॥
गुर्व्योऽथ मधुराऽशीता बलघ्न्यो रूक्षणात्मिकाः ।
सस्नेहा बलिभिर्भोज्या विविधाः शिम्बिजातयः ॥ ३१ ॥
शिम्बी रूक्षा कषाया च कोष्ठवातप्रकोपिनी ।
न च वृष्या न चक्षुष्या विष्टभ्य च विपच्यते ॥ ३२ ॥
आढकी कफपित्तघ्नी वातला कफवातनुत् ।
अवल्गुजः सैडगजो, निष्पावा वातपित्तलाः ॥ ३३ ॥
काकाण्डोलात्मगुप्तानां माषवत्फलमादिशेत् ।
द्वितीयोऽयं शमीधान्यवर्गः प्रोक्तो महर्षिणा ॥ ३४ ॥

शमीधान्य वर्ग—१. मूंग कषाय, मधुर रस, रूक्ष, शीत, विपाक में कटु, लघु, स्वच्छ, श्लेष्म पित्तनाशक और दालों में सब से उत्तम और शमीधान्यों में भी उत्तम है। २. उड़द-अत्यन्त वृष्य, वातनाशक, स्निग्ध; उष्ण, मधुर और गुरु हैं; ये बलकारक, अधिकमात्रा में मल उत्पन्न करने वाले, और पुरुषत्व को शीघ्र उत्पन्न करने वाले हैं[1]। राजमाष मल-भेदक, रुचिकर, कफ, वीर्य और अम्लपित्त को करने वाले, उड़द के समान मधुर, वायुकारक, रूक्ष, कषाय, स्वच्छ और गुरु हैं। कुलत्थी कषाय रस, विपाक में अम्ल, कफ शुक्र और वायुनाशक, ग्राही (संग्राही) तथा कास, श्वास, हिचकी, अर्श रोग में हितकारी है। मोठ मधुर रस, मधुर विपाक, संग्राहि, रूक्ष, शीतल, रक्तपित्त तथा ज्वर में प्रशस्त हैं। चने, मसूर, खण्डिक त्रिपुट (फाफरा) और मटर लघु, शीतवीर्य, मधुर, कषाय रस, रूक्ष, कफ-पित्त में हितकारी हैं। इन का उपयोग दाल में तथा लेप में होता है। इन में मसूर सब से अधिक संग्राही और मटर

१. वृष्य वस्तु तीन प्रकार की होती है। यथा—

शुक्रस्रुतिकरं किञ्चित् किञ्चिच्छुक्रविवर्धनम् ।
स्रुतिवृद्धिकरं किञ्चित् त्रिविधं वृष्यमुच्यते ॥

कोई वस्तु शुक्र का क्षरण करती, कोई शुक्र को बढ़ाती है और कोई दोनों करती है। उड़द में तीनों प्रकार के गुण हैं।

सब से अधिक वायुकारक है। तिल (काले तिल[1]) स्निग्ध, उष्ण, मधुर रस, तीक्ष्ण, कषाय, तिक्त, त्वचा और बालों के लिये हितकारी, शक्तिदायक, वातनाशक तथा कफ-पित्तवर्द्धक हैं। यहां पर कहे हुए शमीधान्यों के सिवाय जो दूसरे गोल जाति के धान्य हैं, वे सब गुरु, मधुर, उष्ण, बलनाशक, रूक्ष, स्निग्ध, शक्तिशाली पुरुषों के खाने लायक हैं। सामान्यतः शिम्बीधान्य रूक्ष, कषाय, कोष्ठ में वायु का प्रकोप करने वाले, अवृष्य, नेत्रों के लिये अहितकारी और पचने तक मल मूत्र का अवरोध करने वाले है। अरहर (तुअर) कफ-पित्तनाशक, वायुकारक है। बाबची, चक्रमर्द के बीज, कफ वायुनाशक हैं। निष्पाव (सफेद बाल लोभिया) पित्तकारक, वायुकारक हैं। काकाण्ड (शूकरशिम्बी, कौंच), उमा (अलसी), और कौंच इन का गुण उड़द के अनुसार है। इस प्रकार आत्रेय ऋषि ने शमीधान्य का दूसरा वर्ग कह दिया ॥ २३-३४ ॥

इति शमीधान्यवर्गः।

अथ मांसवर्गः।

गोखराश्वतरोष्ट्राश्व-द्वीपि-सिंहर्क्ष-वानराः।
वृको व्याघ्रस्तरक्षुश्च बभ्रु-मार्जार-मूषिकाः ॥ ३५ ॥
लोपाको जम्बुकः श्येनो वान्तादश्चाष-वायसौ।
शशघ्नी मधुहा भासो गृध्रोलूक-कुलिङ्गकाः ॥ ३६ ॥
धूमीका कुररश्चेति प्रसहा मृगपक्षिणः।

गाय, गधा, घोड़ा, ऊंठ, खच्चर, चीता, सिंह, भालु रीछ, बानर, भेड़िया, व्याघ्र, तरक्षु (व्याघ्रभेद), बभ्रु (जिस के ऊपर बहुत सा बाल होते हैं), बिल्ली, चूहा, लोमड़ी, गीदड़, बाज, कुत्ता, चाष (नीलकण्ठ), कौवा, शशघ्नी (बाज चील), कुरर (भास), मधुहा, गीध, उल्लू, कुलिंग (बगुला की जाति), धूमिका, कुरर ये 'प्रसह' श्रेणी के पशु पक्षी हैं ॥३५-३६॥

श्वेतः श्यामश्चित्रपृष्ठः कालकः काकुलीमृगः ॥ ३७ ॥
कूर्चीका चिल्लटो भेको गोधा शल्लकगण्डकौ।
कदली नकुलः श्वाविदिति भूमिशयाः स्मृताः ॥ ३८ ॥

---

१. तिलों में काले तिल अच्छे हैं—
"तिलेषु सर्वेष्वसितः प्रधानो मध्यः सितो, हीनतरास्ततोऽन्ये।"

काकुलीमृग (मालया सर्प) की चार श्रेणियां हैं यथा—श्वेत, काली, चितकबरी और कालक, कूर्चीका चिल्लट (चियार), मेंढ़क, शल्लक, गोह, गाण्डक (गोह का भेद, सर्पणी), कदली, नेवला, श्वावित् ये भूमिशय या बिलेशय अर्थात् बिल में रहनेवाले हैं ॥ ३७–३८ ॥

सृमरश्चमरः खड्गो महिषो गवयो गजः ।
न्यङ्कुर्वराहश्चानूपा मृगाः सर्वे रुरुस्तथा ॥ ३९ ॥

सृमरः (सूवर) चमर (चमरिया गाय), गैंड़ा, भैंसा, नील गाय, हाथी न्यंकु (हरिण), सुअर (छोटा) और रुरु (बारह सींगा) ये सब 'आनूप' अर्थात् जल बहुल प्रदेश के पशु हैं ॥३९॥

कूर्मः कर्कटको मत्स्यः शिशुमारस्तिमिङ्गिलः ।
शुक्ति-शङ्खोद्र-कुम्भीर-चुलुकी-मकरादयः ॥ ४० ॥
इति वारिशयाः प्रोक्ताः, वक्ष्यन्ते वारिचारिणः ।

कछुआ, केंकड़ा, मछली, तिमिंगिल (मछली भेद), सीप शंखमें होने वाले जन्तु शिशुमार, उद्र (जल बिड़ाल, ऊदबिलाव) कुम्भीर (नाका), चुलुकी, और मकर ये 'वारिशय' अर्थात् जल में रहने वाले जन्तु हैं। पानी पर रहने वाले प्राणियों के नाम कहते हैं ॥ ४० ॥

हंसः क्रौञ्चो बलाका च बकः कारण्डवः प्लवः ॥ ४१ ॥
शरारिः पुष्कराह्वश्च केशरी मानतुण्डकः ।
मृणालकण्ठो मद्गुश्च कादम्बः काकतुण्डकः ॥ ४२ ॥
उत्क्रोशः पुण्डरीकाक्षो मेघरावोऽम्बुकुक्कुटी ।
आरा नन्दीमुखी वाटी सुमुखाः सहचारिणः ॥ ४३ ॥
रोहिणी कामकाली च सारसो रक्तशीर्षकः ।
चक्रवाकास्तथाऽन्ये च खगाः सन्त्यम्बुचारिणः ॥ ४४ ॥

हंस, कौंच, बलाका, बगुला, कारण्डव (हंसभेद बत्तख), लव, शरारि, पुष्कराह्व, केशरी, मानतुण्डक, मद्गु (जलकौवा), कादम्ब, काकतुण्ड, उत्क्रोश (कुरल), पुण्डरीकाक्ष, मेघराव (मेघनाद मोर), अम्बुकुक्कटी (पानी की मुर्गी), आरा, नन्दीमुखी, वाटी, सुमुख, सहचारी, रोहिणी, कामकाली, सारस, लाल शिर वाला सारस, चक्रवाक (चकवा) और अन्य जलचर पक्षी पानीमें विचरने वाले हैं ॥४१-४४॥

पृषतः शरभो रामः श्वदंष्ट्रा मृगमातृका ।
शशोरणौ कुरङ्गश्च गोकर्णः कोट्टकारकः ॥ ४५ ॥

चारुष्को हरिणैणौ च शम्बरः कालपुच्छकः ।
ऋष्यश्च वरपोतश्च विज्ञेया जाङ्गला मृगाः ॥ ४६ ॥

चित विरंगे हरिण, शरभ (आठ पांव का ऊंठ के आकार का मोटे सींगों का एक हरिण, इस के पीठ में चार पाये होते हैं, काश्मीर देश में प्रसिद्ध है), राम (हिमालय का महामृग) श्वदंष्ट्रा (चार दांत का एक जाति का पशु), मृगमातृका (छोटा-मोटे उदर वाला पशु), शश हरिण, कुरङ्ग (हरिणभेद) गोकर्ण (गाय के से मुख का हरिण), कोट्टकारक, चारुष्क, हरिण, एण, शम्बर (सांभर), कालपुच्छ, ऋष्य और वरपोत ये जंगली मृग हैं। यहां पर शश-शब्द मृगवाची है। जैसे चन्द्रमा को शशांक और मृगाङ्क कहते हैं इसमें वस्तु तो एक होनी चाहिये या तो शशका चिन्ह हो या मृग का ॥ ४५–४६ ॥

लावो वर्तीं बकश्चैव वार्तीकः सकपिञ्जलः ।
चकोरश्चोपचक्रश्च कुक्कुभो रक्तवर्णकः ॥ ४७ ॥
लावाद्या विष्किरास्त्वेते वक्ष्यन्ते वर्तकादयः ।
वर्तको वर्तिका चैव बर्ही तित्तिरिकुक्कुटौ ॥ ४८ ॥
कङ्क-सारपदेन्द्राभ-गोनर्द-गिरिवर्तकाः
क्रकरोऽवकरश्चैव वारटाश्चेति विष्किराः ॥ ४९ ॥

बटेर, वर्त्ती (तीतर), बक (बगुला), वार्तीक (बतख), कपिञ्जल (श्वेत तीतर), चकोर, उपचक्र (चकोर भेद), कुक्कुभ, रक्तवर्णक, विष्किर पक्षी हैं। वर्त्तक (बटेर), वर्तिका, बर्ही (मोर), तीतर, कुक्कुट, कङ्क, सारपद, इन्द्राभ, गोनर्द, गिरिवर्त्तक, क्रकर, अवकर और वारटा से सब मुर्गा जाति के 'विष्किर' पक्षी हैं ॥ ४७–४९ ॥

शतपत्रो भृङ्गराजः कोयष्टी जीवजीवकः ।
कैरातः कोकिलोऽत्यूहो गोपापुत्रः प्रियात्मजः ॥ ५० ॥
लट्वा लट्टूषको बभ्रुर्वटहा डिण्डिमानकः ।
जटी दुन्दुभिवा (पा) क्कार-लोह-पृष्ठ-कुलिङ्गकाः ॥ ५१ ॥
कपोत-शुक-सारङ्गाश्चिरिटी-कङ्कुयष्टिकाः ।
शारिका कलविङ्कश्च चटकोऽङ्गारचूडकः ॥ ५२ ॥
पारावतः पानविक इत्युक्ताः प्रतुदा द्विजाः ।

शतपत्र (कटफोड़ा) भृंगराज (भ्रांवरा), कोयष्टि (कोड़ा) जीवजी[illegible] कैरात, कोकिल, अत्यूहा, गोपापुत्र, प्रियात्मज, लट्वा, लट्टूषक, बभ्रु [illegible] पक्षी, पीले बालोंवाला पक्षी), वटहा डिंडिमानक (उत्कट[illegible]

दुन्दुभि, वाक्कार, लोहपृष्ठ, कुलिंग, कबूतर, तोता, चारक, चिरिटा, कडुयष्टिक, सारिका, कलविंक, चटक, अंगारचूड़क (बुलबुल), पारावत, पानविक ये सब 'प्रतुद' पक्षी हैं ॥ ५०–५२ ॥

प्रसह्य भक्षयन्तीति प्रसहास्तेन संज्ञिताः ॥ ५३ ॥
भूशया बिलवासित्वादानूपाऽनूपसंश्रयात् ।
जले निवासाज्जलजा जलेचर्याज्जलेचराः ॥ ५४ ॥
स्थलजा जाङ्गलाः प्रोक्ता मृगा जाङ्गलचारिणः ।
विकीर्य विष्किराश्चैव प्रतुद्य प्रतुदाः स्मृताः ॥ ५५ ॥
योनिरष्टविधा त्वेषां मांसानां परिकीर्तिता ।

गाय, घोड़ा, बाघ आदि प्राणी भक्ष्य दृष्टि से एकदम जोर से खाने पर गिरते हैं, इसलिये इनको 'प्रसह' कहते हैं। सांप, मेंढक आदि बिल में रहते हैं, इसलिये इनको 'बिलेशय' कहते हैं। हाथी भैंसा आदि प्राणी पानी के आश्रय से रहते हैं, इसलिये इनको 'आनूप' कहते हैं। पानी में रहने से 'जलज', जल में चरने-विचरने से 'जलचर', स्थलभूमि पर चलने वाले जंगल में फिरने वाले पशुओं को 'जांगल' कहते हैं। तीतर आदि पक्षी अपने खाद्य पदार्थ को बिखेर कर खाते हैं, इसलिये 'विष्किर' और तोता आदि पक्षी अपने खाद्य पदार्थ को चोंच से तोड़कर खाते हैं इस लिये 'प्रतुद' कहलाते हैं। इस प्रकार से मांस के आठ उत्पत्तिस्थान हैं ॥ ५३–५५ ॥

प्रसहा भूशयानूपवारिजा वारिचारिणः ॥ ५६ ॥
गुरूष्ण-स्निग्ध-मधुरा बलोपचयवर्धनाः ।
वृष्याः परं वातहराः कफपित्ताभिवर्धिनः ॥ ५७ ॥
हिता व्यायामनित्येभ्यो नरा दीप्ताग्नयश्च ये ।
प्रसहानां विशेषेण मांसं मांसाशिनां भिषक् ॥ ५८ ॥
जीर्णार्शो-ग्रहणी-दोष-शोषार्तानां प्रयोजयेत् ।
लावाद्यो वैष्किरो वर्गः प्रतुदा जाङ्गला मृगाः ॥ ५९ ॥
लघवः शीतमधुराः सकषाया हिता नृणाम् ।
पित्तोत्तरे वातमध्ये सन्निपाते कफानुगे ॥ ६० ॥
विष्किरा वर्तकाद्यास्तु प्रसहाल्पान्तरा गुणैः ।
नातिशीत गुरु-स्निग्धं मांसमाजमदोषलम् ॥ ६१ ॥
शरीर-धातु-सामान्यादनभिष्यन्दि बृंहणम् ।
मांसं मधुरशीतत्वाद् गुरु बृंहणमाविकम् ॥ ६२ ॥
अजाविके मिश्रगोचरत्वादनिश्रिते ।

सामान्येनोपदिष्टानां मांसानां स्वगुणैः पृथक् ॥ ६३ ॥
केषांचिद् गुणवैशेष्याद्विशेष उपदेक्ष्यते ।
दर्शन-श्रोत्र-मेधाग्नि-वयो-वर्ण-स्वरायुषाम् ॥ ६४ ॥
बर्ही हिततमो बल्यो वातघ्नो मांसशुक्रलः ।
गुरूष्ण-स्निग्ध-मधुराः स्वर-वर्ण-बल-प्रदाः ॥ ६५ ॥
बृंहणाः शुक्रलाश्चोक्ता हंसा मारुतनाशनाः ।
स्निग्धाश्चोष्णाश्च वृष्या श्च बृंहणाः स्वरबोधनाः ॥ ६६ ॥
बल्याः परं वातहराः स्वेदनाश्चरणायुधाः ।
गुरूष्णमधुरो नातिधन्वानूपनिषेवणात् ॥ ६७ ॥
तित्तिरिः संजयेच्छीघ्रं त्रीन् दोषाननिलोल्बणान् ।
पित्तश्लेष्मविकारेषु सरक्तेषु कपिञ्जलाः ॥ ६८ ॥
मन्दवातेषु शस्यन्ते शैत्य-माधुर्य-लाघवात् ।
लावाः कषायमधुरा लघवोऽग्निविवर्धनाः ॥ ६९ ॥
सन्निपातप्रशमनाः कटुकाश्च विपाकतः ।
कषायमधुराः शीता रक्तपित्तनिबर्हणाः ॥ ७० ॥
विपाके मधुराश्चैव कपोता गृहवासिनः ।
तेभ्यो लघुतराः किंचित्कपोता वनवासिनः ॥ ७१ ॥
शीताः संग्राहिणश्चैव स्वल्पमूत्रकराश्च ते ।
शुकमांसं कषायाम्लं विपाके रूक्षशीतलम् ॥ ७२ ॥
शोष-कास-क्षय-हितं संग्राहि लघु दीपनम् ।
कषायो विशदो रूक्षः शीतः पाके कटुर्लघुः ॥ ७३ ॥
शशः स्वादुः प्रशस्तश्च संनिपातेऽनिलावरे ।
चटका मधुराः स्निग्धा बलशुक्रविवर्धनाः ॥ ७४ ॥
सन्निपातप्रशमनाः शमना मारुतस्य च ।
मधुरामधुराः पाके त्रिदोषशमनाः शिवाः ॥ ७५ ॥
लघवो बद्धविण्मूत्राः शीताश्चैणाः प्रकीर्तिताः ।
गोधा विपाके मधुरा कषायकटुका रसे ॥ ७६ ॥
वात-पित्त-प्रशमनी बृंहणी बलवर्धनी ।
शल्लको मधुराम्लश्च विपाके कटुकः स्मृतः ॥ ७७ ॥
वात-पित्त-कफघ्नश्च कास-श्वास-हरस्तथा ।
गुरूष्णमधुरा बल्या बृंहणा पवनापहाः ॥ ७८ ॥

मत्स्याः स्निग्धाश्च वृष्याश्च बहुदोषाः प्रकीर्तिताः ।
शैवलाहारभोजित्वात्स्वप्नस्य च विवर्जनात् ॥ ७९ ॥
रोहितो दीपनीयश्च लघुपाको महाबलः ।
स्नेहनं बृंहणं वृष्यं श्रमघ्नमनिलापहम् ॥ ८० ॥
वराहपिशितं बल्यं रोचनं स्वेदनं गुरु ।
बल्यो वातहरो वृष्यश्चक्षुष्यो बलवर्धनः ॥ ८१ ॥
मेधास्मृतिकरः पथ्यः शोषघ्नः कूर्म उच्यते ।
गव्यं केवलवातेषु पीनसे विषमज्वरे ॥ ८२ ॥
शुष्क-कास-श्रमात्यग्नि-मांस-क्षय-हितं च तत् ।
स्निग्धोष्णमधुरं वृष्यं माहिषं गुरु तर्पणम् [1] ॥ ८३ ॥
दार्ढ्यं बृहत्त्वमुत्साहं स्वप्नं च जनयत्यपि ।
धार्तराष्ट्रचकोराणां दक्षाणां शिखिनामपि ॥ ८४ ॥
चटकानां च यानि स्युरण्डानि च हितानि च ।
रेतःक्षीणेषु कासेषु हृद्रोगेषु क्षतेषु च ॥ ८५ ॥
मधुराण्यविदाहीनि [2] सद्यो बलकराणि च ।
शरीरबृंहणे नान्यदाद्यं [3] मांसाद्विशिष्यते ।
इति वर्गस्तृतीयोऽयं मांसानां परिकीर्तितः ॥ ८६ ॥

इनमें प्रसह, भूशय, आनूप, जलज और जलचर प्राणियों का मांस गुरु, स्निग्ध, मधुर, शक्ति बढ़ाने वाला, वीर्यवर्द्धक, वातनाशक, कफपित्त को बढ़ाने वाला है, इनका मांस नित्य प्रति व्यायाम करने वाले, जिनकी जाठराग्नि प्रदीप्त हो, उनके लिये हितकारी है। 'प्रसह' जानवर दो प्रकार के हैं। एक मांस खाने वाले सिंह आदि, दूसरे मांस न खाने वाले गाय आदि। इनमें मांस खाने वाले 'प्रसह' पक्षी या पशुओं का मांस पुराने अर्श-रोग, ग्रहणी-रोग, क्षय, या निर्बल पुरुष के लिये उपकारी है।

लावा (बटेर) आदि विष्किरवर्ग के पक्षी, प्रतुदपक्षी, जांगलदेश के पशु इनका मांस लघु, शीतल, मधुर कषाय रस, और पित्तप्रधान, मध्यम वात, कनिष्ठ कफ वाले सन्निपात में हितकारी है। बटेर आदि समस्त विष्किर पक्षियों का मांस 'प्रसह' श्रेणी के मांसों से गुणों में मिलता है, थोड़ा ही अन्तर है।

बकरी का मांस बहुत ठण्डा नहीं, बहुत भारी नहीं, बहुत स्निग्ध नहीं, कुछ ठण्डा, कुछ गुरु और कुछ स्निग्ध है) इसलिये वह दोषों को कुपित

---

१. ... पाठः । २. मधुराण्यविपाकीनि इति पाठः । ३. खाद्यं इति पाठः ।

नहीं करता, कफ को उत्पन्न नहीं करता। उक्त गुणों के कारण मनुष्यों के मांस के समान धातुओं वाला है, जो गुण मनुष्य के धातुओं के हैं, वे ही गुण बकरी के मांस के हैं इसलिये पुष्टिकारक है। मेढ़ का मांस मधुर, ठण्डा और भारी है। मधुर और शीतल होने से पित्तनाशक[1] है। बकरी और मेढ़ के मिश्रित[2] स्थान में चरने से मांस का गुण अनिश्चित है, फिर भी सामान्य रूप से कह दिया। और जो मांस अपने गुणों में विशेषता रखते हैं उन को कहते हैं।

मोर का मांस—आंख, कान, मेधा, अग्नि, तारुण्य, वर्ण, स्वर और आयु के लिये हितकारी; बलकारक, वायुनाशक और मांस एवं शुक्रवर्धक है। हंस का मांस गुरु, उष्ण, स्निग्ध, मधुर, स्वर, वर्ण, बल को बढ़ाने वाला, बृंहण पुष्टिकारक, शुक्रवर्धक और वातनाशक है। कुक्कुट का मांस—स्निग्ध, उष्ण, वृष्य, पुष्टिकारक, स्वर को अच्छा करने वाला, बलकारक और विशेषतः वातनाशक तथा पसीना लाता है। तित्तिर पक्षी का (मरुभूमि और आनूप देश दोनों स्थानों में रहने से) मांस मध्यम गुरु, मध्यम उष्ण और मध्यम मधुर है, वातप्रधान सन्निपात को शीघ्र शान्त करता है। कपिंजल पक्षी का मांस—ठण्डा, मधुर और लघु होने से वात का जोर कम होने पर रक्तयुक्त पित्त या रक्तयुक्त कफ विकार में प्रशस्त है। लावा (बटेर), कषाय, मधुर, लघु, अग्निवर्धक, सन्निपात को शमन करने वाले और विपाक में कटु हैं।

घर में पाले हुए कबूतरों का मांस—कषाय, विशद, शीत, रक्तपित्तनाशक, मधुर विपाक वाला होता है। और जो कबूतर जंगल में रहते हैं, उन का मांस इन से कुछ हल्का और शीतल, संग्राही और मूत्र को कम करने वाला होता है। तोते का मांस—कषाय, विपाक में अम्ल, रूक्ष, ठण्डा, शोष, क्षय, दमा, में हितकारी, स्तम्भक, हल्का, दीपक होता है। खरगोश का मांस—कषाय, स्वच्छ, रूक्ष, शीतल, विपाक में कटु, हल्का, मधुर और हीनवायु सन्निपात में प्रशस्त है। चिड़िया का मांस—मधुर, स्निग्ध, शक्ति व वीर्य को बढ़ाने वाला, सन्नि-

---

१. सुश्रुत में भी कहा है—

"बृंहणं मांसमौरभ्रं पित्तश्लेष्मापहं गुरु" ॥

२. मिश्र-गोचरत्वात्—बकरी या मेढ़ आनूप और मरु दोनों प्रदेशों में रहती है। इसलिये इन की योनि निश्चित नहीं है। तित्तिर पक्षी धन्व और आनूप किसी एक स्थान पर रहता है, ऐसा निश्चित करके कहा जा सकता, इसलिये वह इस श्रेणी में नहीं है।

पात को शान्त करने वाला और विशेषतः वायुनाशक है[1]। शिवा (गीदड़) का मांस—मधुर रस, मधुर विपाक, त्रिदोषनाशक है। काले हरिण का मांस—हल्का, मल मूत्र को रोकने वाला और शीतल होता है। गोह का मांस—विपाक में मधुर, कषाय, कटु रस, वात-पित्तनाशक, पुष्टिकारक, बल-वर्धक है। शल्लकी का मांस—मधुर अम्लरस, विपाक में कटु, त्रिदोषनाशक, श्वास-कास नाशक है।

मछलियों का मांस—गुरु, उष्ण, मधुर, बलकारक, पुष्टिकारक, वायुनाशक, स्निग्ध, वृष्य, वीर्यवर्धक और बहुत से दोषों को उत्पन्न करने वाला है। रोहू मछली का मांस—शैवाल (सरवाल) का भोजन करने से, कभी न सोने से, दीपनीय, अग्निवर्धक, पचने में लघु और बहुत बल देने वाला है।

सूअर का मांस—स्नेहन, बृंहण, वीर्यवर्धक, थकान और वायुनाशक बलकारक, रुचिकर और बहुत पसीना लाने वाला है। कछुए का मांस—बल-कारक, वातनाशक, वीर्यवर्धक, आंखों के लिये हितकारी, बलवर्धक, मेधा, बुद्धि और स्मरण शक्ति को बढ़ाने वाला, आयु के लिये हितकारी, शोषनाशक है। गाय का मांस—केवल वात रोगों में, पीनस में, विषम ज्वर में, सूखी खांसीमें, थकान में, अग्नि या मांस के बहुत अधिक क्षय हो जाने में हितकारी है। भैंस का मांस—स्निग्ध, उष्ण, मधुर, वीर्यवर्धक, भारी, पुष्टिदायक, शरीर में दृढ़ता, पुष्टि, उत्साहवर्धक और नींद लाने वाला है। हंस (जिन के पांव और चोंच काले होते हैं) चकोर, बत्तख, मोर और चिड़ियां इनके अण्डे वीर्य की क्षीणता में, कास रोग में, हृदय रोग में, क्षत (उरःक्षत) में हितकारी हैं। ये अण्डे मधुर अविपाकी और तत्काल बलदायक हैं। खाद्य पदार्थ में शरीर को पुष्ट करने के लिये मांस से बढ़कर और कोई दूसरी वस्तु नहीं है। यह तीसरा मांस-वर्ग कह दिया ॥ ५६—८६॥

इति मांसवर्गः।

अथ शाकवर्गः।

पाठा शुषा शटीशाकं वास्तुकं सुनिषण्णकम्।
विद्याद् ग्राहि त्रिदोषघ्नं भिन्नवर्चस्तु वास्तुकम् ॥ ८७ ॥
त्रिदोषशमनी वृष्या काकमाची रसायनी।
नात्युष्णशीतवीर्या च भेदिनी कुष्ठनाशनी ॥ ८८ ॥
राजक्षवकशाकं तु त्रिदोषशमनं लघु ॥

[1] शोष्य के लिये—"तृप्तिं चटकमांसानां गत्वा योऽनु पिबेत्पयः।"

ग्राहि शस्तं विशेषेण ग्रहण्यर्शोविकारिणाम् ॥ ८९ ॥
कालशाकं तु कटुकं दीपनं गरशोफजित् ।
लघूष्णं वातलं रूक्षं कालीयं शाकमुच्यते ॥ ९० ॥
दीपनी चोष्णवीर्या च ग्राहिणी कफमारुते ।
प्रशस्यतेऽम्लचाङ्गेरी ग्रहण्यर्शोहिता च सा ॥ ९१ ॥
मधुरा मधुरा पाके भेदिनी श्लेष्मवर्धिनी ।
वृष्या स्निग्धा च शीता च मदघ्नी चाप्युपोदिका ॥ ९२ ॥
रूक्षो महाविषघ्नश्च प्रशस्तो रक्तपित्तिनाम् ।
मधुरोऽमधुरः पाके शीतलस्तण्डुलीयकः ॥ ९३ ॥
मण्डूकपर्णी वेत्राग्रं कुचेला वनतिक्तकम् ।
कर्कोटकावल्गुजकौ पटोलं शकुलादनी ॥ ९४ ॥
वृषपुष्पाणि शार्ङ्गेष्टा केबूकं सकठिल्लकम् ।
नाडी कलायं गोजिह्वा वार्ताकं तिलपर्णिका ॥ ९५ ॥
कुलकं कार्कशं निम्बं शाकं पार्पटिकं च यत् ।
कफपित्तहरं तिक्तं शीतं कटु विपच्यते ॥ ९६ ॥
सर्वाणि सूप्यशाकानि फञ्जी चिल्ली कुतुम्बकः ।
आलुकानि च सर्वाणि सपत्राणि कुटिञ्जरम् ॥ ९७ ॥
शणशाल्मलिपुष्पाणि कर्बुदारः सुवर्चला ।
निष्पावः कोविदारश्च पत्तूरश्चुचुपर्णिका ॥ ९८ ॥
कुमारजीवो लोट्टाकः पालङ्क्या मारिषस्तथा ।
कलम्बनालिकासूर्यः कुसुम्भवृकधूमकौ ॥ ९९ ॥
लक्ष्मणा प्रपुनाडश्च नलिनीका कुठेरकः ।
लोणिका यवशाकं च कुष्माण्डकमवल्गुजम् ॥ १०० ॥
यातुकः शालकल्याणी त्रिपर्णी पीलुपर्णिका ।
शाकं गुरु च रूक्षं च प्रायो विष्टभ्य जीर्यति ॥ १०१ ॥
मधुरं शीतवीर्यं च पुरीषस्य च भेदनम् ।
स्विन्नं निष्पीडितरसं स्नेहाढ्यं तत्प्रशस्यते ॥ १०२ ॥
शणस्य कोविदारस्य कर्बुदारस्य शाल्मलेः ।
पुष्पं ग्राहि प्रशस्तं च रक्तपित्ते विशेषतः ॥ १०३ ॥
न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थ-प्लक्ष-पद्मादि-पल्लवाः ।
कषायाः स्तम्भनाः शीता हिताः पित्तातिसारिणाम् ॥

वायुं वत्सादनी हन्यात्कफं गण्डीरचित्रकौ ।
श्रेयसी बिल्वपर्णी च बिल्वपत्रं च वातनुत् ॥ १०५ ॥
भण्डी शतावरीशाकं बला जीवन्तिकं च यत् ।
पर्वण्याः पर्वपुष्प्याश्च वातपित्तहरं स्मृतम् ॥ १०६ ॥
लघुभिन्नशकृत्तिक्तं लाङ्गलक्युरुबूकयोः ।
तिलवेतसशाकं च शाकं पञ्चाङ्गुलस्य च ॥ १०७ ॥
वातलं कटुतिक्ताम्लमधोमार्गप्रवर्तकम् ।
रूक्षाम्लमुष्णं कौसुम्भं कफघ्नं पित्तवर्धनम् ॥ १०८ ॥
त्रपुसैर्वारुकेस्वादु-गुरु-विष्टम्भि-शीतले ।
मुखप्रियं च रूक्षं च मूत्रलं त्रपुसं त्वति ॥ १०९ ॥
एर्वारुकं च संपक्वं दाह-तृष्णा-क्लमार्ति-नुत् ।
वर्चोभेदीन्यलाबूनि रूक्षशीतगुरूणि च ॥ ११० ॥
चिर्भट्युर्वारुके तद्वद्वर्चोभेदहिते तु ते ।
कूष्माण्डमुक्तं सक्षारं मधुराम्लं तथा लघु ॥ १११ ॥
सृष्टमूत्रपुरीषं च सर्वदोषनिबर्हणम् ।
केलुटं च कदम्बं च नदीमाषकमैन्दुकम् ॥ ११२ ॥
विशदं गुरु शीतं च समभिष्यन्दि चोच्यते ।
उत्पलानि कषायाणि रक्तपित्तहराणि च ॥ ११३ ॥
तथा तालप्रलम्बं च उरःक्षतरुजापहम् ।
खर्जूरं तालशस्यं च रक्तपित्तक्षयापहम् ॥ ११४ ॥
तरूट-बिस-शालूक-क्रौञ्चादन-कशेरुकम् ।
शृङ्गाटमङ्कलोड्यं च गुरु विष्टम्भि शीतलम् ॥ ११५ ॥
कुमुदोत्पलनालास्तु सपुष्पाः सफलाः स्मृताः ।
शीताः स्वादुकषायास्तु कफमारुतकोपनाः ॥ ११६ ॥
कषायमीषद्विष्टम्भि रक्तपित्तहरं स्मृतम् ।
पौष्करं तु भवेद् बीजं मधुरं रसपाकयोः ॥ ११७ ॥
बल्यः शीतो गुरुः स्निग्धस्तर्पणो बृंहणात्मकः ।
वातपित्तहरः स्वादुर्वृष्यो मुञ्जातकः स्मृतः ॥ ११८ ॥
जीवनो बृंहणो वृष्यः कण्ठ्यः शस्तो रसायने ।
विदारिकन्दो बल्यश्च मूत्रलः स्वादुशीतलः ॥ ११९ ॥
अम्लिकायाः स्मृतः कन्दो ग्रहण्यर्शोहितो लघुः ।
नात्युष्णः कफवातघ्नो ग्राही शस्तो मदात्यये ॥ १२० ॥

त्रिदोषं बद्धविण्मूत्रं सार्षपं शाकमुच्यते ।
तद्वत्पिण्डालुकं विद्यात्कन्दत्वाच्च मुखप्रियम् ॥ १२१ ॥
सर्पच्छत्राकवर्ज्यास्तु बह्व्योऽन्याश्छत्रजातयः ।
शीताः पीनसकर्त्र्यश्च मधुरा गुर्व्य एव च ॥ १२२ ॥
चतुर्थः शाकवर्गोऽयं पत्रकन्दफलाश्रयः ।

शाकवर्ग–पाठा, शुषा (सुसवी,), कचूर, वास्तुक (बथुआ), सुनिषण्णक (मेथी) ये सब शाक (भाजी) ग्राहक, त्रिदोषनाशक हैं, परन्तु बथुआ की भाजी ज़रा रेचक है । काकमाची (मकोय) की भाजी तीनों दोषों को नाश करने वाली, पुष्टिदायक, और रसायन है, यह न तो बहुत गरम और न बहुत ठण्डी है, मध्यमवीर्य, रेचक और कुष्ठनाशक है[1] । राजक्षवक की भाजी त्रिदोषनाशक, लघु, संग्राही है, ग्रहणी और अर्श रोग में विशेषतः हितकारी है । काल नामक शाक—कटु, अग्निदीपक, संयोगजन्य विषनाशक और शोथनाशक, लघु, उष्ण, वायुकारक और रूक्ष है । खट्टी चांगेरी (चौपतिया) की भाजी—अग्निदीपक, उष्णवीर्य, संग्राही, कफ-वायु रोग में उत्तम तथा ग्रहणी और अर्श रोग में हितकारी है । उपोदिका (चौलाई) मधुर रस मधुर विपाक, रेचक, श्लेष्मवर्धक, वृष्य; स्निग्ध, शीतल और उन्मादनाशक (धत्तूरे आदि के मद को नष्ट करनेवाली) है । तण्डुलीयक (चौलाई का भेद) रूक्ष, मद और विषनाशक, रक्तपित्त रोग में श्रेष्ठ, मधुर रस, मधुर विपाक और शीतल है । मण्डूकपर्णी का शाक, बेंत का अग्र भाग, कुचेला, वनतिक्ता, कंकोड़ा, अवल्गुजा (बाबची), परवल, शकुनादनी, अडूसे के फूल, शार्ङ्गेष्टा केम्बुक, कठिल्लक (पुनर्नवा), नाड़ी (नाड़ीच), कलाय (मटर), गोजिह्वा (गाज़वां), वार्त्ताक (बैंगन), तिलपर्णी (हुलहुल), कुलक (करेला या परवल का भेद), कर्कश (अरुणदत्त के अनुसार कुचला, चक्रदत्त के अनुसार कर्कोटक), नीम का शाक, पित्तपापड़ा इन की भाजी कफ-पित्त नाशक, तिक्त, शीत और कटु विपाक है । 'सूप्य शाक' (माषपर्णी, उड़दपर्णी आदि) पंजी (ब्राह्मण, यष्टिका, भांर्गी), चिल्ली[2] कुतुम्बक (द्रोणपुष्पी, गोमा), आलुक (आलु, रतालु, पिण्डालु कन्द मूल), इन के पत्ते और कुटिंजर (जंगली बथुआ), सन, सिम्बल के फूल, कर्बुदार (कचनार), सुवर्चला (हुलहुल), निष्पाव (पालक), कोविदार

१. सुश्रुत में काकमाची को—"तिक्ता काकमाची वातं शमयत्युष्णवीर्यत्वात् ।" उष्णवीर्य कहा है ।

२. 'चिल्ली'–'माषपर्ण्यां शुनः पुच्छे चिल्ली स्याच्छाकलोध्रयोः' (०नि०)

(लाल कचनार), पत्तुर (शालिंच), चुचुपर्णिका (नाड़ीच का भेद) उंदुरकानी (आखुपर्णी), कुमारजीव (जीवशाक), लोट्टाक (लोहा मारिष), पालंक्य (पालक), मारिष कलम्ब, नालिका, आसुरी (राई), कुसुम्भ (धनिया), वृकधूमक, लक्ष्मणा, प्रपुन्नाड़ (चक्रमर्द), नलिनी (कमल की नाल, भिस), कुठेरक (तुलसी भेद), लोणिका (लूणी), यवशाक (खेत पापड़ा), कूष्माण्डक (पेठा), अवल्गुजा (बावची), यातुक (सफेद शालपर्णी), शालकल्याणी, त्रिपत्री (हंसपादिका), पीलुपर्णी (मोरटक, मोरबेल), इन की भाजी गुरु, रूक्ष और प्रायः करके जब तक पचती नहीं, तब तक पेट में अफ़रा करती है, मधुर, शीतवीर्य और मल के रेचक है। इनको पानी में भापकर (विना बाहर का पानी गिलाये) रस निकाल कर इस में घी या तैल मिलाकर खाना उत्तम है।

सन, कचनार, लाल कचनार और सिम्बल इनके फूल संग्राही है, इसलिये रक्तपित्त में विशेषतः प्रशस्त हैं। न्यग्रोध (बड़), गूलर, पीपल, पिलखन, कमल आदि के पत्ते कषाय रस, स्तम्भक, शीत तथा पित्तातिसार में हित-कारी हैं।

वत्सादनी (गिलोय) की भाजी वायु नाशक, गण्डीर (शमठ, कडुवा जिमीकन्द) और चीता की भाजी कफनाशक, श्रेयसी (गज पिप्पली), बिल्वपर्णी और बेल के पत्तों की भाजी वायुनाशक है। भण्डी (भिण्डो), शतावर, बला, खरैटी, जीवन्ती, पर्वणी (इन्द्रवारुणी), पर्वपुष्पी इन की भाजी वातपित्तनाशक है। लांगली (कलिहारी) की, लाल एरण्ड की भाजी तिक्त, रेचक और लघु है। तिक्त अम्ल वेतस (या बेंत का शाक), या एरण्ड की भाजी वायुकारक, कटु, तिक्त, अम्ल तथा रेचक है। कुसुम्भ की भाजी रूक्ष, अम्ल, उष्ण, कफनाशक, पित्तवर्धक है। त्रपुस (खीरा), उर्वारुक (ककड़ी), स्वादु गुरु, अवष्टम्भ करने वाली और शीतल है। इनमें खीरा मुखप्रिय (खाने में स्वादु), रूक्ष और बहुत मूत्र लाने वाले हैं। पका हुआ उर्वारुक (ककड़ी), प्यास, जलन थकान की पीड़ा को नष्ट करती है। अलाबू (तूंबी, घीया, आल) मल का रेचक, रूक्ष, शीतल और गुरु है। चिर्भटी (ककड़ी), एर्वारुक भी रेचक हैं। पेठा कद्दू-क्षारयुक्त, मधुर, अम्ल, लघु, मल मूत्र का रेचक, त्रिदोषनाशक है[1]।

---

१. कच्चे और पक्के कूष्माण्ड के गुणों में अन्तर है। यथा—

"पित्तघ्नं तेषु कूष्माण्डं बालं मध्यं कफावहम्।
पक्वं लघूष्णं स क्षारं दीपनं बस्तिशोधनम्॥
सर्वदोषहरं हृद्यम्—॥"

केलुट (केंबुक कन्द शाक) और कदम्ब नन्दी माषक (उन्दी मानवक), ऐन्द्रक इन की भाजी स्वच्छ, गुरु, शीतल, कफकारक है। नीला कमल कषाय रस और रक्त पित्तनाशक है। ताल प्रलम्ब (ताड़ का अंकुर), खर्जूर, तालशस्य (ताल के सिर की मज्जा) रक्त-पित्त और क्षयरोगनाशक है। तरूट (तिरट कन्द), बिस वा भिस, कमल की दण्डी, लाल कमल का कन्द, कौंचादन (डूकर कन्द, कमल), कशेरू, शृंगाटक (सिंघाड़ा) अंकालोड्य (ह्रस्व उत्पलकन्द), गुरु, विष्टम्भि और शीतल हैं। कुमुद (श्वेत कमल), उत्पल (नीला कमल) फूल और फल समेत शीतल, मधुर, कषाय रस, कफ वायु के प्रकोपक हैं। पुष्कर का बीज कषाय रस, थोड़ा विष्टम्भ करने वाला, रक्तपित्तनाशक, मधुर रस और मधुर विपाक है। मुंजातक (औत्तरपथिक कन्द) बलकारक, शीतल, गुरु, स्निग्ध, तृप्तिकारक, बृंहण पुष्टिकारक, वात-पित्तनाशक, मधुर वृष्य है। विदारीकन्द, जीवनीय, बृंहण, वृष्य, स्वर के लिये हितकारी, रसायन में प्रशस्त, बलकारक, मूत्ररेचक, मधुर और शीतल है। अम्ली कन्द (आसाम में होता है आंवर जाति का कन्द) ग्रहणी, अर्श में हितकारी, लघु, बहुत गरम, कफ-वातनाशक, संग्राहि और मदात्यय रोग में प्रशस्त है। सरसों का शाक—त्रिदोषकारक मल-मूत्र का अवरोधक है। पिण्डालु (रतालु) भी इसी प्रकार का है, परन्तु कन्द जाति का होने से खाने में अच्छा लगता है। सर्पछत्रक (खुम्बी) को छोड़कर अन्य सब इस प्रकार की भाजियां शीतल, पीनस रोग को उत्पन्न करने वाली, मधुर गुरु होती हैं। इस प्रकार से पत्ते, कन्द और फलवाला शाकवर्ग समाप्त हुआ ॥ ८७—१२२ ॥

इति शाकवर्गः ।

अथ फलवर्गः

तृष्णा-दाह-ज्वर-श्वास-रक्त-पित्त-क्षत-क्षयान् ।
वातपित्तमुदावर्त्तं स्वरभेदं मदात्ययम् ॥ १२३ ॥
तिक्तास्यतामास्यशोषं कासं चाऽऽशु व्यपोहति ।
मृद्वीका बृंहणं वृष्या मधुरा स्निग्धशीतला ॥ १२४ ॥
मधुरं बृंहणं वृष्यं खर्जूरं गुरु शीतलम् ।
क्षयेऽभिघाते दाहे च वातपित्ते च तद्धितम् ॥ १२५ ॥
तर्पणं बृंहणं फल्गु गुरु विष्टम्भि शीतलम् ।
परूषकं मधूकं च वातपित्ते च शस्यते ॥ १२६ ॥

मधुरं बृंहणं बल्यमाम्रातं तर्पणं गुरु ।
सस्नेहं श्लेष्मलं शीतं वृष्यं विष्टभ्य जीर्यति ॥ १२७ ॥
तालशस्यानि सिद्धानि नारिकेलफलानि च ।
बृंहणस्निग्धशीतानि बल्यानि मधुराणि च ॥ १२८ ॥
मधुराम्लकषायं च विष्टम्भि गुरु शीतलम् ।
पित्तश्लेष्मकरं भव्यं ग्राहि वक्त्रविशोधनम् ॥ १२९ ॥
अम्लं परूषकं द्राक्षा बदराण्यारुकाणि च ।
पित्त-श्लेष्म-प्रकोपीणि कर्कन्धुलकुचान्यपि ॥ १३० ॥
नात्युष्णं गुरु संपक्वं स्वादुप्रायं मुखप्रियम् ।
बृंहणं जीर्यति क्षिप्रं नातिदोषलमारुकम् ॥ १३१ ॥
द्विविधं शीतमुष्णं च मधुरं चाम्लमेव च ।
गुरु पारावतं ज्ञेयमरुच्यत्यग्निनाशनम् ॥ १३२ ॥
भव्यादल्पान्तरगुणं काश्मर्यफलमुच्यते ।
तथैवाल्पान्तरगुणं तूदमम्लपरूषकात् ॥ १३३ ॥
कषायमधुरं टङ्कं वातलं गुरु शीतलम् ।
कपित्थं विषकण्ठघ्नमामं संग्राहि वातलम् ॥ १३४ ॥
मधुराम्लकषायत्वात्सौगन्ध्याच्च रुचिप्रदम् ।
तदेव पक्वं दोषघ्नं विषघ्नं ग्राहि गुर्वपि ॥ १३५ ॥
बिल्वं तु दुर्जरं सिद्धं दोषलं पूतिमारुतम् ।
स्निग्धोष्णतीक्ष्णं तद्बालं दीपनं कफवातजित् ॥ १३६ ॥
वातपित्तकरं बालमापूर्णं पित्तवर्धनम् ।
पक्वमाम्रं जयेद्वायुं मांसशुक्रबलप्रदम् ॥ १३७ ॥
कषायमधुरप्रायं गुरु विष्टम्भि शीतलम् ।
जाम्बवं कफपित्तघ्नं ग्राहि वातकरं परम् ॥ १३८ ॥
मधुरं बदरं स्निग्धं भेदनं वातपित्तजित् ।
तच्छुष्कं कफवातघ्नं पित्ते न च विरुध्यते ॥ १३९ ॥
कषायमधुरं शीतं ग्राहि सिम्बितिकाफलम् ।
गाङ्गेरुकं करीरं च बिम्बीतोदनधन्वनम् ॥ १४० ॥
मधुरं सकषायं च शीतं पित्तकफापहम् ।
संपक्वं पनसं मोचं राजादनफलानि च ॥ १४१ ॥
स्वादूनि सकषायाणि स्निग्धशीतगुरूणि च ।

कषायविशदत्वाच्च सौगन्ध्याच्च रुचिप्रदम् ॥ १४२ ॥
अवदंशक्षमं रूक्षं वातलं लवलीफलम् ।
नीपं शताह्वकं[1] पीलु तृणशून्यं विकङ्कतम् ॥ १४३ ॥
प्राचीनामलकं चैव दोषघ्नं गरहारि च ।
ऐङ्गुदं तिक्तमधुरं स्निग्धोष्णं कफवातजित् ॥ १४४ ॥
तिन्दुकं कफपित्तघ्नं कषायमधुरं लघु ।
विद्यादामलके सर्वान् रसाँल्लवणवर्जितान् ॥ १४५ ॥
स्वेद-मेदः-कफोत्क्लेद-पित्तरोग-विनाशनम् ।
रूक्षं स्वादु कषायाम्लं कफपित्तहरं परम् ॥ १४६ ॥
रसासृङ्-मांस-मेदो-जान्दोषान् हन्ति बिभीतकम् ।
स्वरभेद-कफोत्क्लेद-पित्तरोग-विनाशनम् ।
अम्लं कषायमधुरं वातघ्नं ग्राहि दीपनम् ॥ १४७ ॥
स्निग्धोष्णं दाडिमं हृद्यं कफपित्ताविरोधि च ।
रूक्षाम्लं दाडिमं यत्तु तत्पित्तानिलकोपनम् ॥ १४८ ॥
मधुरं पित्तनुत्तेषां तद्धि दाडिममुत्तमम् ।
वृक्षाम्लं ग्राहि रूक्षोष्णं वातश्लेष्मणि शस्यते ॥ १४९ ॥
अम्लिकायाः फलं पक्वं तस्मादल्पान्तरं गुणैः ।
गुणैस्तैरेव संयुक्तं भेदनं त्वम्लवेतसम् ॥ १५० ॥
शूलेऽरुचौ विबन्धे च मन्देऽग्नौ मद्यविक्लवे ।
हिक्काकासे च श्वासे च वम्यां वर्चोगदेषु च ॥ १५१ ॥
वातश्लेष्मसमुत्थेषु सर्वेष्वेतेषु दिश्यते ।
केशरं मातुलुङ्गस्य लघु शीतमतोऽन्यथा ॥ १५२ ॥
गुर्वी त्वगस्य कटुका मारुतस्य च नाशिनी ।
रोचनो दीपनो हृद्यः सुगन्धिस्त्वग्विवर्जितः ॥ १५३ ॥
कर्चूरः कफवातघ्नः श्वासहिक्कार्शसां हितः ।
मधुरं किंचिदम्लं च हृद्यं भक्तप्ररोचनम् ॥ १५४ ॥
दुर्जरं वातशमनं नागरङ्गफलं गुरु ।
वातामाभिषुकाक्षोट-मकूलक-निकोचकाः ॥ १५५ ॥
गुरूष्णस्निग्धमधुराः सोरुमाणा बलप्रदाः ।
वातघ्ना बृंहणा वृष्याः कफपित्ताभिवर्धनाः ॥ १५६ ॥

१. शताह्वकं, शताङ्ककमिति च पाठौ ।

पियालमेषां सदृशं विद्यादौष्ण्यं विना गुणैः ।
श्लेष्मलं मधुरं शीतं श्लेष्मातकफलं गुरु ॥ १५७ ॥
श्लेष्मलं गुरु विष्टम्भि चाङ्कोटफलमग्निजित् ।
गुरूष्णं मधुरं रूक्षं[1] केशघ्नं च शमीफलम् ॥ १५८ ॥
विष्टम्भयति कारञ्जं पित्तश्लेष्माविरोधि च ।
आम्रातकं दन्तशठमम्लं सकरमर्दकम् ॥ १५९ ॥
रक्तपित्तकरं विद्यादैरावतकमेव च ।
वातघ्नं दीपनं चैव वार्ताकं कटुतिक्तकम् ॥ १६० ॥
वातलं कफपित्तघ्नं विद्यात्पर्पटकीफलम् ।
पित्तश्लेष्मघ्नमम्लं च वातलं चाक्षिकीफलम् ॥ १६१ ॥
मधुराण्यनुपाकीनि वातपित्तहराणि च ।
अश्वत्थोदुम्बर-प्लक्ष-न्यग्रोधानां फलानि च ॥ १६२ ॥
कषायमधुराम्लानि वातलानि गुरूणि च ।
भल्लातकास्थ्यग्निसमं त्वङ्मांसं स्वादु शीतलम् ।
पञ्चमः फलवर्गोऽयमुक्तः प्रायोपयोगिकः ॥ १६३ ॥

फलवर्ग—पकी हुई किशमिश प्यास, जलन, ज्वर, श्वास, रक्त-पित्त, उरःक्षत, क्षय, वातपित्त, उदावर्त, स्वरभेद, मदात्यय, मुख की कटुता मुखशोष और और कास को शीघ्र नष्ट करती है। यह बृंहणी पुष्टिकारक, वृष्य, मधुर, स्निग्ध शीतल है। खजूर-मधुर, पुष्टिकारक, शुक्रवर्धक, गुरु शीतल, क्षय, चोट लगने, जलन और वात-पित्त रोग में हितकारी है। फल्गु (अंजीर), तृप्तिकारक, बृंहण, गुरु, विष्टम्भी और शीतल है। फालसा और महुवा वात-पित्त रोग में उत्तम है। आम्रात (आमड़ा) मधुर, पुष्टिकारक, बलकारक, तृप्तिकारक, गुरु, स्निग्ध, कफकारक, शीतल, वृष्य और पेट में अफारा करता है। ताड़के फल (ताड़फल) और पका हुआ नारियल बृंहण, स्निग्ध, शीतल, बलकारक और मधुर होते हैं।

भव्य (कमरख) मधुर, अम्लकषाय, विष्टम्भि, गुरु, शीतल, पित्तश्लेष्मकारक, स्तम्भक और मुख को शोधन करता है। खट्टा फालसा, द्राक्षा, झाड़ी के बेर, आरुक (आड़ु या आलुबुखारा), ये पित्तकफ को कुपित करने वाले हैं। इसी प्रकार बेर और लकुच (ढ्यो), भी पित्त-कफकारक है। आरुक (आलुबुखारा) बहुत गरम नहीं, स्वादुमधुर और खाने में स्वादिष्ट, बृंहण पुष्टिकारक,

१. 'शीतं' इति च पाठः ।

जल्दी पच जाता है, बहुत अधिक दोषों को नहीं बढ़ाता। पारावत (कामरूप में प्रसिद्ध है) दो प्रकार का है। मधुर और अम्ल। इनमें मधुर शीतल और अम्ल, उष्ण गुरु, अरुचि और अग्नि की तीक्ष्णता को नाश करता है।

काश्मरी (गम्भारी) का फल लगभग कमरख के फल के समान है, इसी प्रकार खट्टे फालसे के समान तूद (औत्तरपथिक शहतूत) भी है। टंक का फल कषाय मधुर, वातल, गुरु और शीतल है। कच्चा कैथ कण्ठ (स्वर) को नाश करने वाला (स्वर बिठानेवाला), विषनाशक, आम का संग्राहक, वायुकारक है। पका हुआ कैथ मधुर-अम्लकषाय रस एवं सुगन्धित होने से खाने में रुचिकर और अच्छी तरह पक जाने पर दोषनाशक, विषनाशक, संग्राही और गुरु है। पका हुआ बेल पचने में दुर्जर, दोषकारक, बहुत दुर्गन्धयुक्त वायु पैदा करने वाला है। कच्चा बेल स्निग्ध, उष्ण, तीक्ष्ण, अग्निदीपक, कफ-वायुनाशक है। कच्चा आम (गुठली बैठने से पहिले) रक्तपित्तकारक, पित्तकारक है। पकने पर आम वायुनाशक, मांस शुक्र और बलवर्द्धक है। पका हुआ जामुन कषाय मधुर रस, गुरु विष्टम्भी, शीतल, कफ-पित्तनाशक संग्राही और वायुकारक है। बेर—मधुर, स्निग्ध, रेचक, वात-पित्तनाशक है, सूखा बेर कफ-वातनाशक और पित्त के लिये अविरोधी है, पित्त का प्रकोप नहीं करता। सिञ्चितिका (सेव, सफरजंद) कषाय, मधुररस, शीतल, संग्राही है। गंगेरन (नागबला) और करीर (करौंदा), कन्दूरी, तोदन और धाय के फल मधुर-कषाय, शीतल, पित्त-कफनाशक हैं। पका हुआ कटहल, केला और राजादन (खिरनी) स्वादु, कषाय, स्निग्ध, शीतल, गुरु हैं।

लवली का फल (हरफारेवड़ी) कषाय और विशद एवं सुगन्धित होने से रुचिकर हृद्य, वायुकारक तथा अवदंशक्षम (इस फलको खाकर दूसरे वस्तुओंमें रुचि होती) है, नीप (कदम्ब), शताह्वक (शरका), पीलु, तृणशून्य (केतकी फल), विकङ्कत, प्राचीन आमलक, दोषनाशक और विषनाशक हैं। इंगुद (हिंगोट) का फल तिक्त मधुर स्निग्ध, उष्ण और कफवातनाशक है। तिन्दुक-फल (तेन्दु), कफ-पित्तनाशक कषाय, मधुर और लघु है। आंवले में लवण रस को छोड़कर और सब रस हैं और स्वेद मेद,कफ, उत्क्लेद (वमन की रुचि) और पित्त के रोगों को नष्ट करता है, रूक्ष, स्वादु, कषाय, अम्ल, कफ-पित्तनाशक है। बिभीतक (बहेड़ा), रस, रक्त, मांस, मेदजन्य रोगों को नष्ट करती है स्वर भेद, कफ के उत्क्लेद, तथा पित्त रोग नाशक है। खट्टा अनार कषाय, मधुर, वातनाशक, संग्राही, अग्निदीपक, स्निग्ध और उष्ण है, तथा हृदय के

लिये रुचिकर कफपित्त का अविरोधी (प्रकोपक नहीं) रूक्ष है । मीठा अनार पित्तनाशक है इन सब में खट्टा अनार श्रेष्ठ है ।

वृक्षाम्ल (कोकम) संग्राही, रूक्ष, उष्ण, वात-कफ में प्रशस्त है। अम्लिका (इमली) का फल पकने पर लगभग कोकम के समान गुणवाला होता है। अम्लवेतस का गुण भी इसी प्रकार है, परन्तु रेचक है। मातुलुंग (बिजौरे निम्बू) का केशर शूल, अरुचि, विबन्ध, मन्दाग्नि, मदात्यय, हिक्का, कास, श्वास, वमन, मल सम्बन्धी रोगों में और तथा वातकफ-जन्य रोगों में प्रशस्त और लघु है । इसकी छाल, गिरी आदि गुरु और वात-प्रकोपक है ।

बिना छाल का कचूर रोचक, अग्निदीपक, हृदय के लिये हितकारी, सुगन्धित, कफ-वातनाशक, श्वास, हिचकी और अर्श रोग में हितकारी है। नारंगी का फल—मधुर, कुछ खट्टा, हृद्य, खाने में रुचिकर, पचने में दुर्जर, वातनाशक और गुरु है। बादाम, अभिषुक् (पिस्ता), अखरोट, मकूलक, निकोच, गुरु, उष्ण स्निग्ध, मधुर, शक्तिवर्धक, वायुनाशक, पुष्टिदायक और कफ-पित्त को बढ़ाने वाला है । इनमें पियाल के गुण भी इसी के समान हैं, परन्तु वह उष्ण नहीं है। श्लेष्मातक (लसूड़े) का फल कफकारक, मधुर, शीतल, गुरु है । अंकोटक का फल कफकारक, गुरु, विष्ट भी और अग्निनाशक है। शमी (जंडी) का फल गुरु, उष्ण, मधुर, शीतल और बालों का नाश-कारक है । करंज का फल विष्टम्भी और वात-कफ के लिये अविरोधी है ।

आम्रातक, दन्तशठ (निम्बू, खट्टा), करौंदा और ऐरावत ये रक्त-पित्तनाशक हैं । वार्ताक, वातनाशक, अग्निदीपक, कटुतिक्त रस है । पित्तपापडे का फल वायुकारक और कफ-पित्तनाशक है । आसिकी-फल पित्त-कफनाशक, खट्टा और वायुकारक है । पीपल, गूलर, पिलखन, बड़ इनके फल पकने पर मधुर और वात-पित्तनाशक हैं । कच्चे फल कषाय मधुर, अम्ल, वायुकारक और गुरु हैं । भिलावे का फल अग्नि के समान (छाले डालने वाला) है, भिलावे की छाल, मज्जा स्वादु, शीतल है । इस प्रकार से उपयोगी पांचवां फलवर्ग भी कह दिया है ॥ १२३–१६३ ॥

इति फलवर्गः ।

अथ हरितवर्गः ।

रोचनं दीपनं वृष्यमार्द्रकं विश्वभेषजम् ।
वातश्लेष्मविबन्धेषु रसस्तस्योपदिश्यते ॥ १६४ ॥

रोचनो दीपनस्तीक्ष्णः सुगन्धिर्मुखशोधनः ।
जम्बीरः कफवातघ्नः क्रिमिघ्नो भुक्तपाचनः ॥ १६५ ॥
बालं दोषहरं, वृद्धं त्रिदोषं, मारुतापहम् ।
स्निग्धसिद्धं, विशुष्कं तु मूलकं कफवातजित् ॥ १६६ ॥
हिक्का-कास-विष-श्वास-पार्श्व-शूल-विनाशनः ।
पित्तकृत्कफवातघ्नः सुरसः पूतिगन्धहा ॥ १६७ ॥
यवानी चार्जकश्चैव शिग्रुशालेयमृष्टकम् ।
हृद्यान्यास्वादनीयानि पित्तमुत्क्लेशयन्ति च ॥ १६८ ॥
गण्डीरो जलपिप्पल्यस्तुम्बुरुः शृङ्गवेरिका ।
तीक्ष्णोष्ण-कटु-रूक्षाणि कफवातहराणि च ॥ १६९ ॥
पुंस्त्वघ्नः कटुरूक्षोष्णो भूस्तृणो वक्त्रशोधनः ।
खराश्वा कफवातघ्नी बस्तिरोगरुजापहा ॥ १७० ॥
धान्यकं चाजगन्धा च सुमुखाश्चेति रोचनाः ।
सुगन्धना नातिकटुका दोषानुत्क्लेशयन्ति च ॥ १७१ ॥
ग्राही गृञ्जनकस्तीक्ष्णो वातश्लेष्मार्शसां हितः ।
स्वेदनेऽभ्यवहार्ये च योजयेत्तमपित्तिनाम् ॥ १७२ ॥
श्लेष्मलो मारुतघ्नश्च पलाण्डुर्न च पित्तनुत् ।
आहारयोगी बल्यश्च गुरुर्वृष्योऽथ रोचनः ॥ १७३ ॥
कृमि-कुष्ठ-किलासघ्नो वातघ्नो गुल्मनाशनः ।
स्निग्धश्चोष्णश्च वृष्यश्च लशुनः कटुको गुरुः ॥ १७४ ॥
शुष्काणि कफवातघ्नान्येतान्येषां फलानि च ।
हरितानामयं चैषां षष्ठो वर्गः समाप्यते ॥ १७५ ॥

हरितवर्ग—आर्द्रक (अदरक) रोचक, अग्निदीपक, वीर्यवर्धक है। इस का रस वात-कफजन्य अवरोधों में गुणकारी है। नीम्बू, रुचिकारक, दीपक, तीक्ष्ण, सुगन्धित, मुख को साफ करने वाला, कफ-वातनाशक, कृमिनाशक और अन्न का पाचक है। कच्ची मूली दोषनाशक है और बढ़ने पर (पक जाने पर) त्रिदोषकारक है, स्निग्ध और सिद्ध (पकाई हुई) मूली वायु नाशक, सूखी मूली कफ-वातनाशक है[1]। तुलसी—हिचकी, कास, विष, श्वास, पार्श्वशूल का नाश करती तथा पित्तकारक, कफ- वायुनाशक एवं शरीर तथा

(१. मूली—यावद्धि चाव्यक्तरसान्वितानि, नवप्ररूढानि च मूलकानि ।)
तावल्लघु दीपनानि पित्तानिलश्लेष्महराणि चैव ॥

अन्न के दुर्गन्ध को नष्ट करती है। अजवायन, अर्जक (अजवका), शोभाञ्जन, शालेयमृष्टक और राई ये हृदय को प्रिय और स्वादिष्ट तथा पित्तवर्धक हैं। गण्डीर (लाल और श्वेत भेद से दो प्रकार का है, यहां पर लाल का ग्रहण है और श्वेत को शाकवर्ग में कह दिया है), जल पिप्पली, तुम्बरु, गोजिह्वा (गाज़बां) ये तीक्ष्ण, उष्ण, कटु, रूक्ष, कफ-वायुनाशक हैं। भूस्तृण (गन्धतृण), पुरुषत्वनाशक, कटु, रूक्ष, उष्ण और मुख का शोधक है। खराश्वा (कालाजीरा) कफ-वातनाशक, बस्तिरोग और बस्तिशूलनाशक है।

धनिया, अजवायन, सुमुखा (तुलसी भेद), रोचक, सुगन्धि बहुत कटु नहीं और दोषों को उत्तेजित करते हैं। गाजर (गृञ्जन) या शलजम संग्राही, तीक्ष्ण, वात-कफ अर्श रोग में हितकारी, स्वेदन कार्य में हितकारी है, इसका उपयोग पित्त जहां न बढ़ा हो वहां पर करना चाहिये। पलाण्डु (प्याज़) कफकारक, वायुनाशक है, परन्तु पित्त नाशक नहीं है, भोजन में उपयोगी, बलकारक, गुरु, वृष्य और रुचिकर है। लहसुन कृमि, कुष्ठ, किलास रोगनाशक, वायुनाशक, गुल्मनाशक, स्निग्ध और उष्ण, वीर्यवर्धक, कटु, और गुरु है। ये सब सूखे होने पर तथा इनके फल कफ-वायु नाशक हैं। यह छठा हरितवर्ग समाप्त हुआ। हरितवर्ग की वस्तुवें प्रायः हरी कच्ची ही बरती जाती हैं; इस लिये इसे हरितवर्ग कहते हैं—जैसे आजकल सलाद, प्याज टमाटर कच्चे खाने का रिवाज़ है ॥ १६४—१७५ ॥

इति हरितवर्गः।

अथ मद्यवर्गः।

प्रकृत्या मद्यमम्लोष्णमम्लं चोक्तं विपाकतः।
सर्वं सामान्यतस्तस्य विशेष उपदेक्ष्यते ॥ १७६ ॥
कृशानां सक्तमूत्राणां ग्रहण्यर्शोविकारिणाम्।
सुरा प्रशस्ता वातघ्नी स्तन्यरक्तक्षयेषु च ॥ १७७ ॥
हिक्का-श्वास-प्रतिश्याय-कास-वर्चो-ग्रहारुचौ।
वम्यानाहविबन्धेषु वातघ्नी मदिरा हिता ॥ १७८ ॥
शूल-प्रवाहिकाटोप-कफ-वातार्शसां हितः।
जगलो ग्राहिरूक्षोष्णः शोफघ्नो भुक्तपाचनः ॥ १७९ ॥
शोफार्शो-ग्रहणीदोष-पाण्डुरोगारुचिज्वरान्।
हन्त्यरिष्टः कफकृतान् रोगान् रोचनदीपनः ॥ १८० ॥

सुखप्रियः सुखमदः सुगन्धिर्बस्तिरोगनुत्।
जरणीयः परिणतो हृद्यो वर्ण्यश्च शार्करः ॥ १८१ ॥
रोचनो दीपनो हृद्यः शोषशोफार्शसां हितः।
स्नेह-श्लेष्म-विकारघ्नो वर्ण्यः पक्वरसो मतः ॥ १८२ ॥
जरणीयो विबन्धघ्नः स्वरवर्णविशोधनः।
कर्षणः शीतरसिको हितः शोफोदरार्शसाम् ॥ १८३ ॥
सृष्टभिन्नशकृद्वातो गौडस्तर्पणदीपनः।
पाण्डुरोगव्रणहिता दीपनी चाक्षिकी मता ॥ १८४ ॥
सुरासवस्तीव्रमदो वातघ्नो वदनप्रियः।
छेदी मध्वासवस्तीक्ष्णो मैरेयो मधुरो गुरुः ॥ १८५ ॥
धातक्याभिषुतो हृद्यो रूक्षो रोचनदीपनः।
माध्वीकवन्न चात्युष्णो मृद्वीकेक्षुरसासवः ॥ १८६ ॥
रोचनं दीपनं हृद्यं बल्यं पित्ताविरोधि च।
विबन्धघ्नं कफघ्नं च मधु लघ्वल्पमारुतम् ॥ १८७ ॥
सुरा समण्डा रूक्षोष्णा यवानां वातपित्तला।
गुर्वी जीर्यति विष्टभ्य श्लेष्मला तु मधूलिका ॥१८८॥
दीपनं जरणीयं च त्पाण्डुकृमिरोगनुत्।
ग्रहण्यर्शोहितं भेदि सौवीरकतुषोदकम् ॥ १८९ ॥
दाहज्वरापहं स्पर्शात्पानाद्वातकफापहम्।
विबन्धघ्नमविस्रंसि दीपनं चाम्लकाञ्जिकम् ॥ १९० ॥
प्रायशोऽभिनवं मद्यं गुरु दोषसमीरणम्।
स्रोतसां शोधनं जीर्णं दीपनं लघु रोचनम् ॥ १९१ ॥
हर्षणं प्रीणनं बल्यं भय-शोक श्रमापहम्।
प्रागल्भ्य-वीर्य-प्रतिभा-तुष्टि-पुष्टि-बल-प्रदम् ॥ १९२ ॥
सात्त्विकैर्विधिवद्युक्त्या पीतं स्यादमृतं यथा।
वर्गोऽयं सप्तमो मद्यमधिकृत्य प्रकीर्तितः ॥ १९३ ॥

मद्यवर्ग—स्वभाव से मद्य खट्टा, उष्ण है, वह रस में अम्ल नहीं, विपाक में अम्ल है। पीने पर दांत खट्टे होजाते हैं, मुख से स्राव होता है इसलिये अम्ल[1] है। यह बात सब मद्यों में समान है, विशेष रूप से आगे कहते हैं—सुरा (अनुद्धृतमण्ड) कृश पुरुषों के लिये, मूत्र रुक जाने पर, ग्रहणी, अर्श-

१. मद्य—सर्वेषां मद्यमम्लनामुपर्युपरि वर्त्तते ॥सु०॥

रोग में हितकारी, वायुनाशक तथा स्तन्य (दूध) और रक्तक्षय में उपकारी है। मदिरा (सुरामण्ड) हिचकी, श्वास, प्रतिश्याय, कास, मलावरोध, अरुचि, वमन, अफ़ारा, विबन्ध में हितकारी एवं वायुनाशक है। जगल (अन्न से बनी सुरा) शूल, प्रवाहिका, अफ़ारा, कफ-वायु और अर्शरोग में हितकारी संग्राही, रूक्ष, उष्ण, शोफनाशक और अन्न को पचाने वाली है। अरिष्ट (औषध क्वाथ से सम्पादित) शोष, अर्श, ग्रहणी, पाण्डु, अरुचि, ज्वर एवं कफजन्य रोगों को नष्ट करता है, रोचक और अग्निवर्धक है। शार्कर (शर्करा का प्राकृतिक आसव) खाने में प्रिय, सुखपूर्वक नशा करने वाला, सुगन्धित, बस्तिरोगनाशक जीर्ण होकर पचने वाला, हृदय को प्रिय, वर्ण, कान्तिकारक है। पक्व रस (गन्ने के रस को पका कर बनाने पर) रोचक, अग्निदीपक, हृद्य, शोष, शोफ, अर्श रोग में हितकारी, स्नेह-श्लेष्मा के रोगों का नाशक और कान्तिकारक है। शीत रस (गन्ने के अपक्व रस से बनाया) लाघवकारक, विबन्धनाशक, स्वर वर्ण को साफ करने वाला, लेखन, शोफ, उदर, अर्श रोग में हितकारी है। गौड (गुड़ से बना) मद्य रेचक, वायु का अनुलोमक, तृप्तिकारक और अग्निवर्धक है। बहेड़े का मद्य पाण्डुरोग, व्रण में हितकारी और दीपक है। सुरासव (सुरा को ही पानी के स्थान पर जहां व्यवहार करें) तीव्र मदकारी, वायु-नाशक, मुख और शरीर के लिये प्रिय है। महुवे के फूलों से बना आसव छेदक और तीक्ष्ण है, मैरेय[1] मधुर और गुरु है। धाय के फूलों से बना आसव हृद्य, रूक्ष, रोचक और दीपक है। मृद्वीका रस और गन्ने के रस को मिलाकर तैयार किया हुआ आसव माध्वीक से बने आसव के समान गरम नहीं, रोचक, दीपक, हृद्य, बलकर और पित्त के लिये अविरोधी है। मधु प्रधान आसव विबन्धनाशक, कफनाशक, लघु और थोड़ी वायुकारक है। मण्ड के साथ सुरा (यव-तण्डुलों से बनी) रूक्ष, उष्ण, वात-पित्तकारक है। मधूलक (गेहूँ से बनी मद्य) गुरु, पेट में अफ़ारा करके जीर्ण होती है, कफकारक है। धान्य-तुष से बनी कांजी दीपक, लघु, हृदय पांडु, कृमि, रोगनाशक, ग्रहणी, अर्शरोग में हितकारी और रेचक है। खट्टी कांजी के पीने से दाह, ज्वर नष्ट होता है, वात-कफ-नाशक, विबन्धनाशक, अविस्रंसी, दीपक है। नवीन मद्य प्रायः गुरु और दोष प्रकोपक होता है। पुराना[2] मद्य स्रोतों का शोधक, दीपक, लघु, रुचिकर, हर्षो-

१. मैरेय—'आसवस्य सुरायाश्च द्वयोरेकत्र भाजने।
सन्धानं तद् विजानीयात् मैरेयमुभयाश्रयम् ॥'

२. एक वर्ष के पीछे शराब पुरानी मानी जाती है।

त्पादक, पुष्टिदायक, बलकारक, भय, शोक, श्रम को मिटाने वाला है। सात्त्विक विधिपूर्वक सेवन किया हुआ मद्य अमृत के समान होता है, यह मद्य अत्यन्त वीर्यप्रद, प्रतिभा, प्रसन्नता, पुष्टिबल को देता है। यह सातवां मद्यवर्ग समाप्त हुआ ॥ १७६–१९३ ॥

इति मद्यवर्गः।

अथ जलवर्गः।

जलमेकविधं सर्वं पतत्यैन्द्रं नभस्तलात्।
तत्पतत्पतितं चैव देशकालावपेक्षते ॥ १९४ ॥
खात्पतत्सोमवाय्वर्कैः स्पृष्टं कालानुवर्तिभिः।
शीतं शुचि शिवं मृष्टं विमलं लघु षड्गुणम्।
प्रकृत्या दिव्यमुदकं, भ्रष्टं पात्रमपेक्षते । १९६ ॥
श्वेते कषायं भवति पाण्डुरे चैव तिक्तकम्।
कपिले क्षारसंसृष्टमूषरे लवणान्वितम्।
कटु पर्वतविस्तारे मधुरं कृष्णमृत्तिके ॥ १९७ ॥
एतत्षाड्गुण्यमाख्यातं महीस्थस्य जलस्य हि।
तथाऽव्यक्तरसं विद्यादैन्द्रं कारं हिमं च यत् ॥ १९८ ॥
यदन्तरीक्षात्पततीन्द्रसृष्टं चोक्तैश्च पात्रैः परिगृह्यतेऽम्भः
तदैन्द्रमित्येव वदन्ति धीरा नरेन्द्रपेयं सलिलं प्रधानम् ॥ १९९ ॥
ऋतावृताविह ख्याताः सर्व एवाम्भसो गुणाः।
ईषत्कषायमधुरं सुसूक्ष्मं विशदं लघु ॥ २०० ॥
अरूक्षमनभिष्यन्दि सर्वं पानीयमुत्तमम्।
गुर्वभिष्यन्दि पानीयं वार्षिकं मधुरं नवम् ॥ २०१ ॥
तनु लघ्वनभिष्यन्दि प्रायः शरदि वर्षति।
तत्तु ये सुकुमाराः स्युः स्निग्धभूयिष्ठभोजनाः ॥ २०२ ॥
तेषां भोज्ये च भक्ष्ये च लेह्ये पेये च शस्यते।
हेमन्ते सलिलं स्निग्धं वृष्यं बलहितं गुरु ॥ २०३ ॥
किंचित्ततो लघुतरं शिशिरे कफवातजित्।
कषायमधुरं रूक्षं विद्याद्वासन्तिकं जलम् ॥ २०४ ॥
ग्रैष्मिकं त्वनभिष्यन्दि रूपमित्येष निश्चयः।
विभ्रान्तेषु तु कालेषु यत्प्रयच्छन्ति तोयदाः ॥ २०५ ॥

सलिलं तत्तु दोषाय युज्यते नात्र संशयः।
राजभी राजमात्रैश्च सुकुमारैश्च मानवैः ॥ २०६ ॥
संग्रहीताः शरद्यापः प्रयोक्तव्या विशेषतः।
नद्यः पाषाण-विच्छिन्न-विक्षुब्धाभिहतोदकाः ॥ २०७ ॥
हिमवत्प्रभवाः पथ्याः पुण्या देवर्षिसेविताः।
नद्यः पाषाण-सिकतावाहिन्यो विमलोदकाः ॥ २०८ ॥
मलयप्रभवा याश्च जलं तास्वमृतोपमम्।
पश्चिमाभिमुखा याश्च पथ्यास्ता निर्मलोदकाः ॥ २०९ ॥
प्रायो मृदुवहा गुर्व्यो याश्च पूर्वसमुद्रगाः।
पारियात्रभवा याश्च विन्ध्यसह्यभवाश्च याः ॥ २१० ॥
शिरोहृद्रोगकुष्ठानां ता हेतुः श्लीपदस्य च।
वसुधा-कीट-सर्पाखु-मल-संदूषितोदकाः ॥ २११ ॥
वर्षाजलवहा नद्यः सर्वदोषसमीरणाः।
वापी-कूप-तडागोत्स-सरः-प्रस्रवणादिषु ॥ २१२ ॥
आनूपशैलधन्वानां गुणदोषैर्विभावयेत्।
पिच्छिलं कृमिलं क्लिन्नं पर्णशैवालकर्दमैः ॥ २१३ ॥
विवर्णं विरसं सान्द्रं दुर्गन्धि न हितं जलम्।
विस्रं त्रिदोषं लवणमम्बु यद्वरुणालयम् ॥ २१४ ॥
इत्यम्बुवर्गः प्रोक्तोऽयमष्टमः सुविनिश्चितः।
जलवर्गः समुद्दिष्टो मानवानां सुखप्रदः ॥ २१५ ॥

सम्पूर्ण पानी एक प्रकार का है। यह पानी बरसात के रूप में आकाश से गिरता है। यह गिरता हुआ, और गिरकर, [गुण-दोष के लिये] देश, समय की अपेक्षा करता है। आकाश से गिरता हुआ पानी ऋतु के अनुसार सूर्य, चन्द्रमा और वायु (आकाश में स्थित धूलि, तथा क्षुद्र जन्तु आदि परमाणुओं से मिलकर) तथा भूमि के ऊपर गिर कर उस ऋतु के अनुसार भूमि की शीतलता, उष्णिमा, स्निग्धता, रूक्षता आदि के सम्बन्ध होने पर उसी गुण वाला हो जाता है। आकाश से गिरता हुआ पानी स्वभाव से शीतल, पवित्र, कल्याणकारी, स्वादिष्ठ, स्वच्छ, हल्का—इन छः गुणों वाला है। नीचे भूमि पर गिरकर पात्र की अपेक्षा से गुण वाला बन जाता है। श्वेत भूमि पर गिरने से पानी कसैला, पाण्डुर जमीन में तिक्त; कपिल भूमि अर्थात् क्षारमिश्रित (ऊसर में) नमकीन; पहाड़ की भूमि पर कटु और काली भूमि में मधुर हो

जाता है। भूमि का जल इन छः गुणों वाला होता है। बरसात का पानी, बर्फ का पानी और कार अर्थात् ओले के पानी में कोई रस व्यक्त नहीं होता। आकाश से गिरते हुए पानी को नदी आदि स्थानों के अतिरिक्त, किसी शुद्ध पात्र में एकत्र कर लिया जाय तो इसे बरसात का पानी कहते हैं। यह पानी राजाओं के पीने योग्य है। ऋतु-ऋतु के अनुसार बरसात के पानी में गुण होते हैं। जो पानी थोड़ा कषाय, मधुर, पतला (सूक्ष्म), स्वच्छ, लघु, अरूक्ष अनभिष्यन्दि, कफ न करे, वह पानी उत्तम समझना चाहिये। बरसात का नया पानी गुरु, अभिष्यन्दि और मधुर रस होता है। शरद् ऋतु में बरसात का पानी बहुत स्वच्छ, लघु, अनभिष्यन्दि कफ नहीं करने वाला होता है।-यह पानी सुकमार, एवं विशेषतः स्निग्ध एवं बहुत भोजन खाने वाले पुरुषों के भोजन में, भक्षण (दांत से काट कर खाने की वस्तुओं) में, पीने और चाटने में भी प्रशस्त है। हेमन्त ऋतु में बरसात का पानी स्निग्ध, वीर्यवर्धक, बलकारक, गुरु है। शिशिर ऋतु में बरसात का और हेमन्त ऋतु के पानी से कुछ हल्का एवं कफ-वातनाशक होता है। वसन्त ऋतु में बरसात का पानी कषाय, मधुर रस और रूक्ष होता है। ग्रीष्म ऋतु में बरसात का पानी कफनाशक और रूक्ष होता है, विभ्रान्त अर्थात् बरसात के दिनों में बादलों से जो पानी गिरता है वह निश्चित रूप में दोषकारक होता है। राजाओं, श्रीमन्तों, रईसों तथा सुकुमार पुरुषों को चाहिये कि वे शरद् ऋतु में बरसात के पानी को इकट्ठा करलें और सारे साल इसीका उपयोग करें।

हिमालय से उत्पन्न नदियों का पानी पत्थरों की टक्कर के कारण मथे जाने से निर्दोष, पथ्यकारी, पुण्य है। इनको देवता व ऋषि सेवन करते थे, वे अति पुण्यकारी हैं। मलयाचल पर्वत से उत्पन्न नदियों का पानी पत्थर, रेतीली भूमि में बहने से स्वच्छ हो जाता है। इन का जल भी अमृत के समान है। पश्चिम समुद्र में गिरने वाली नदियां पथ्यकारी एवं स्वच्छ पानी वाली हैं। पूर्वीय समुद्र में गिरने वाली नदियां धीरे धीरे चलती हैं और गुरु पानी वाली हैं। पारियात्र पर्वत से उत्पन्न होनेवाली, विन्ध्याचल एवं सह्याद्रि के पहाड़ों से उत्पन्न नदियां शिरोरोग, हृदयरोग, कुष्ठ और श्लीपद रोग को उत्पन्न करती हैं।

बरसात का पानी, मिट्टी, कृमि, कीट, सर्प, चूहा आदि के मलों से दूषित हो कर नदियों में आकर मिलता है, इसलिये सब नदियों का पानी दूषित होता है इसलिये इस ऋतु में नदियों का पानी दोष बढ़ाने वाला होता है। बावली,

कूंवा, तड़ाग, चश्मा, सरोवर, झरना आदि का पानी आनूप, पर्वत, और धन्वन अर्थात् जांगल देश के गुण-दोषों के अनुसार समझना चाहिये[1]। जो पानी पिच्छिल (चिकना), क्रिमियुक्त क्लिन्न, पत्ते, सरवाल अथवा कीचड़ से मिला, जिस पानी का रंग बदल गया हो, रस बिगड़ गया हो, सान्द्र (तरल न हो, गाढ़ा हो), दुर्गन्ध युक्त हो, वह जल हितकारी नहीं है। समुद्र का पानी विस्र (आमगन्धी) तीनों दोषों को करने वाला; नमकीन होता है। इसलिये नहीं पीना चाहिये। यह आठवां जलवर्ग समाप्त हुआ॥ १९४–२१५॥

इति जलवर्गः।

अथ दुग्धवर्गः।

स्वादु शीतं मृदु स्निग्धं बहलं श्लक्ष्णपिच्छिलम्।
गुरु मन्दं प्रसन्नं च गव्यं दशगुणं पयः॥ २१६॥
तदेवंगुणमेवोजः सामान्यादभिवर्धयेत्।
प्रवरं जीवनीयानां क्षीरमुक्तं रसायनम्॥ २१७॥
महिषीणां गुरुतरं गव्याच्छीततरं पयः।
स्नेहान्न्यूनमनिद्राय हितमत्यग्नये च तत्॥ २१८॥
रूक्षोष्णं क्षीरमुष्ट्रीणामीषत्सलवणं लघु।
शस्तं वात-कफानाह-कृमि-शोफोदरार्शसाम्॥ २१९॥
बल्यं स्थैर्यकरं सर्वमुष्णं चैकशफं पयः।
साम्लं सलवणं रूक्षं शाखावातहरं लघु॥ २२०॥
छागं काषयमधुरं शीतं ग्राहि पयो लघु।
रक्तपित्तातिसारघ्नं क्षय-कास-ज्वरापहम्॥ २२१॥
हिक्काश्वासकरं तूष्णं पित्तश्लेष्मलमाविकम्।
हस्तिनीनां पयो बल्यं गुरु स्थैर्यकरं परम्॥ २२२॥
जीवनं बृंहणं सात्म्यं स्नेहनं मानुषं पयः।
नावनं रक्तपित्ते च तर्पणं चाक्षिशूलिनाम्॥ २२३॥

---

१. सुश्रुत में भी कहा है—अनूपदेशे यद् वारि गुरु तत् श्लेष्मवर्धकम्।
विपरीतमतो मुख्यं लघु जाङ्गलमुच्यते॥
सुश्रुत में कूप, तड़ाग, वापी झरने आदि के पानी के गुण पृथक्-पृथक् दिये हैं।

रोचनं दीपनं वृष्यं स्नेहनं बलवर्धनम् ।
पाकेऽम्लमुष्णं वातघ्नं मङ्गल्यं बृंहणं दधि ॥ २२४ ॥
पीनसे चातिसारे च शीतके विषमज्वरे ।
अरुचौ मूत्रकृच्छ्रे च कार्श्ये च दधि शस्यते ॥ २२५ ॥
शरद्-ग्रीष्म-वसन्तेषु प्रायशो दधि गर्हितम् ।
रक्तपित्तकफोत्थेषु विकारेष्वहितं च तत् ॥ २२६ ॥
त्रिदोषं मन्दकं, जातं वातघ्नं दधि, शुक्लः[1] ।
सरः, श्लेष्मानिलघ्नस्तु मण्डः स्रोतोविशोधनः ॥ २२७ ॥
शोफार्शो-ग्रहणी-दोष-मूत्र-कृच्छ्रोदरा-[2]रुचौ ।
स्नेहव्यापदि पाण्डुत्वे तक्रं दद्याद् गरेषु च ॥ २२८ ॥
संग्राहि दीपनं हृद्यं नवनीतं नवोद्धृतम् ।
ग्रहण्यर्शो-विकार-घ्नमर्दितारुचिनाशनम् ॥ २२९ ॥
स्मृति-बुद्ध्यग्नि-शुक्रौजः-कफ-मेदो-विवर्धनम् ।
वात-पित्त-विषोन्माद-शोषालक्ष्मी-विषापहम्[3] ॥ २३० ॥
सर्वस्नेहोत्तमं शीतं मधुरं रसपाकयोः ।
सहस्रवीर्यं विधिभिर्घृतं कर्मसहस्रकृत् ॥ २३१ ॥
मदापस्मार-मूर्च्छाय-शोषोन्माद-गर-ज्वरान् ।
योनिकर्णशिरःशूलं घृतं जीर्णमपोहति ॥ २३२ ॥
सर्पीष्यजावि-महिषी-क्षीरवत्स्वानि निर्दिशेत् ।
पीयूषो मोरटं चैव किलाटा विविधाश्च ये ॥ २३३ ॥
दीप्ताग्नीनामनिद्राणां सर्व एते सुखप्रदाः ।
गुरवस्तर्पणा वृष्या बृंहणाः पवनापहाः ॥ २३४ ॥
विशदा गुरवो रूक्षा ग्राहिणस्तक्रपिण्डकाः ।
गोरसानामयं वर्गो नवमः परिकीर्तितः ॥ २३५ ॥

क्षीरवर्ग—दूध-मधुर, शीतल, मृदु, स्निग्ध, बहल, श्लक्ष्ण, पिच्छिल, गुरु, मन्द, प्रसन्न इन दस गुणोंवाला गाय का दूध है। ओज के भी ये ही दस गुण हैं। इस लिये सामान्य होने से दूध ओज को बढ़ाता है। इसलिये जीवनीय वस्तुओं में दूध सब से अधिक श्रेष्ठ गिना जाता है। वह रसायन है।

भैंस का दूध—गाय के दूध से भारी, गाय के दूध से ठण्डा और उसमें स्नेह अर्थात् घी भी अधिक होता है, निद्रा न आने वाले के लिये तथा अग्नि के बहुत बढ़ने में हितकारी है, अग्नि को कम करता है।

---

१. शुक्लं इति पाठः। २. मूत्रग्रहोदरा इति पाठः। ३. ज्वरापहम् इति पाठः।

ऊंटनी का दूध रूक्ष, उष्ण, थोड़ा नमकीन, लघु, वात, कफ, आनाह कृमि, शोफ, उदर एवं अर्श रोग में हितकारी है। एक खुर वाले घोड़ी या गधी, खच्चर आदि जानवरों का दूध बलकारक, शरीर को स्थिर बनाने वाला, उष्ण, अम्ल-लवण रस, रूक्ष, हाथ पांव के वातविकारों को नाश करने वाला और लघु है। बकरी का दूध—कषाय, मधुर, शीतल, संग्राहि, लघु, रक्तपित्त-अतीसार नाशक, क्षय, कास, ज्वर में हितकारी है। भेड़ी का दूध—हिक्का, श्वास रोग करने वाला, गरम, पित्त कफ को उत्पन्न करता है। हथिनी का दूध बल-कारक, गुरु, और शरीर को दृढ़ करने वाला है। स्त्रियों का दूध—जीवनीय, बृंहणीय, शरीर के सात्म्य, स्नेहक, नस्य के लिये और रक्तपित्त में हितकारी, आंख के दुःखने में तर्पण करने के लिये उत्तम है।

दही के गुण—दही रुचिकारक, अग्निदीपक, वीर्यवर्धक, स्नेहन के योग्य, बलवर्धक, विपाक में अम्ल, उष्णवीर्य, वातनाशक, मंगलकारी, बृंहण, पौष्टिक है। पीनस, अतिसार, शीतजन्य विषमज्वर में, अरुचि, मूत्रकृच्छ्र, और स्वाभाविक कृशता में दही उत्तम है। शरद्-ग्रीष्म और बसन्त ऋतु में दही का खाना निन्दित है। मन्दक (जब, दही पूरी तरह न जमे उसे मन्दक कहते हैं) दही त्रिदोषकारक है, और ठीक तरह जमा दही वातनाशक होता है। सरः (दही के ऊपर की मलाई) शुक्रवर्धक (शुक्र की वृद्धि करने वाली) है। दही का मण्ड स्वच्छ द्रवभाग (मस्तु), कफ-वात नाशक और स्रोतों को साफ़ करने वाला है।

छाछ के गुण—शोफ, अर्श, ग्रहणी, मूत्राघात (मूत्रावरोध), उदर रोग अरुचि, स्नेहकर्म जन्य रोगों में, पाण्डुरोग में तथा संयोग जन्य विष में छाछ प्रशस्त है। मक्खन-संग्राही, अग्निदीपक, हृद्य, ग्रहणी, अर्शरोग-नाशक, अर्दित तथा अरुचि को मिटाता है। ताजा मक्खन ही अधिक प्रशस्त गुणकारी है, पुराना नहीं।

गाय के घी के गुण—स्मरण शक्ति, बुद्धि, अग्नि, शुक्र, ओज, कफ-मेद, को बढ़ानेवाला, वात, पित्त, विष, उन्माद, शोष, दौर्भाग्य, अशुभ-एवं ज्वर का नाशक है। सब स्नेहों में घी उत्तम है, शीतल, मधुर (रस एवं पाक में मधुर) है। नाना प्रकार के कर्म करने वाले द्रव्यों से घी का संस्कार करने पर घी सहस्रों प्रकार के, कर्म कर सकता है। मद, अपस्मार, मूर्च्छा, शोष, उन्माद, विष, ज्वर, योनिरोग, कर्ण रोग, शिर के शूल में पुराना घी (दस साल का पुराना—'जीर्णं तु दशवर्षातीतम्') प्रशस्त है। अन्य बकरी-आदि के घी का गुण उनके दूध के समान समझना चाहिये।

पीयूष (ताजी ब्याई हुई मादा पशु का दूध, खीस), मोरट (यही पीयूष जब अगले दिन तक स्वच्छ नहीं होता, इसको मोरट कहते हैं), किलाट (जिसमें दूध से स्नेह भाग निकाल लिया जाय) तथा इस प्रकार की अन्य वस्तुएं जिनकी अग्नि बढ़ी हुई हो, या जिनको अनिद्र रोग हो, उनके लिये सुखदायक हैं, गुरु, तृप्तिकारक, पौष्टिक, वीर्यवर्द्धक, वातनाशक हैं। छाछ का छना या पनीर (छाछ या दही को कपड़े में लटका कर उसका द्रव भाग निकाल देने पर बचा भाग) स्वच्छ, गुरु, रूक्ष और संग्राही है। यह नवां गोरस का वर्ग समाप्त हुआ ॥ २१६–२३५ ॥

इति गोरसवर्गः ।

अथेक्षुवर्गः ।

वृष्यः शीतः स्थिरः स्निग्धो बृंहणो मधुरो रसः ।
श्लेष्मलो भक्षितस्येक्षोर्यान्त्रिकस्तु विदह्यते ॥ २३६ ॥
शैत्यात्प्रसादान्माधुर्यात्पौण्ड्रकाद्वांशको वरः ॥
प्रभूत-कृमि-मज्जासृङ्-मेदो-मांस-करो गुडः ॥ २३७ ॥
क्षुद्रो गुडश्चतुर्भागत्रिभागार्धावशेषितः ।
रसो गुरुर्यथापूर्वं धौतः स्वल्पमलो गुडः ॥ २३८ ॥
यतो मत्स्यण्डिकाखण्डशर्करा विमलाः परम् ।
यथा यथैषां वैमल्यं भवेच्छैत्यं तथा तथा ॥ २३९ ॥
वृष्याः क्षीणक्षतहिताः सस्नेहा गुडशर्कराः ।
कषायमधुराः शीताः सतिक्ता याः सशर्कराः ॥ २४० ॥
रूक्षा वम्यतिसारघ्नी छेदनी मधुशर्करा ।
तृष्णासृक्पित्तदाहेषु प्रशस्ताः सर्वशर्कराः ॥ २४१ ॥
माक्षिकं भ्रामरं क्षौद्रं पौत्तिकं मधुजातयः ।
माक्षिकं प्रवरं तेषां विशेषाद् भ्रामरं गुरु ॥ २४२ ॥
माक्षिकं तैलवर्णं स्यात् श्वेतं भ्रामरमुच्यते ।
क्षौद्रं तु कपिलं विद्याद् घृतवर्णं तु पौत्तिकम् ॥ २४३ ॥
वातलं गुरु शीतं च रक्तपित्तकफापहम् ।
संधात्‍ छेदनं रूक्षं कषायमधुरं मधु ॥ २४४ ॥
हन्यान्मधूष्णमुष्णार्तमथवा सविषान्वयात् ।
गुरु-रूक्ष-कषायत्वाच्छैत्याच्चाल्पं हितं मधु ॥ २४५ ॥

नातः कष्टतमं किंचिन्मध्वामात्तद्धि मानवम् ।
उपक्रमविरोधित्वात्सद्यो हन्याद्यथा विषम् ॥ २४६ ॥
आमे सोष्णा क्रिया कार्या सा मध्वामे विरुध्यते ।
मध्वामं दारुणं यस्मात्सद्यो हन्याद्यथा विषम् ॥ २४७ ॥
नानाद्रव्यात्मकत्वाच्च योगवाहि परं मधु ।
इतीक्षुविकृतिप्रायो वर्गोऽयं दशमो मतः ॥ २४८ ॥

इक्षुविकारवर्ग—गन्ने का दांतों से चूसकर खाया हुआ रस वीर्य-वर्द्धक, शीतल, रेचक, स्निग्ध, पौष्टिक, मधुर एवं कफकारक होता है। यान्त्रिक (कोल्हू) में पेल कर निकाला हुआ रस विदाहयुक्त हो जाता है। छिलके और गांठ के योग से उसमें विदाह उत्पन्न होता है और बाहर धूप में वायु के योग से भी विदाह उत्पन्न होता है। पौण्डा (नरम छिलके का) गन्ना अधिक शीतल, अधिक निर्मल (प्रसन्नता देने वाला) और अधिक मीठा होता है, बांस गन्ना इससे उतर कर होता है।

गुड़—अतिशय कृमि, मज्जा, रक्त, मेद, और मांस को बढ़ाता है। क्षुद्र गुड़ (काले रंग का गुड़), चार भाग तीन भाग और आधा भाग बचाकर गन्ने के रस से बनाये गुड़ की अपेक्षा पूर्वापर क्रम से गुरु हैं। अर्थात् क्षुद्र गुड़ चार भाग से बने गुड़ से और चार भाग का गुड़ तीन भाग के गुड़ से अधिक गुरु हैं। साफ करके बनाया हुआ अर्थात् थोड़े मल वाला गुड़ कम नुकसान करता। इसके पीछे मत्स्यण्डिका (राब) खांड, शक्कर, उत्तरोत्तर निर्मल-स्वच्छ होते जाते हैं और जिस प्रकार इनमें स्वच्छता बढ़ती है उसी प्रकार शीतलता भी बढ़ती जाती है। अर्थात् राब से खाण्ड और खाण्ड से शक्कर शीतल है।

गुड़ से बनी शक्कर वीर्यवर्धक, क्षीण, उरःक्षत के रोगी के लिये हितकारी स्नेहयुक्त होती है। धमासे के क्वाथ से बनाई शर्करा कषाय, मधुर रस, शीतल और कुछ तिक्त होती है। मधु की शर्करा, रूक्ष, वमन, अतिसार नाशक, छेदक (कफ आदि को तोड़ने वाली) होती है। तृष्णा रक्तपित्त और दाह रोग में सब शर्करायें प्रशस्त हैं।

मधु के गुण—मधु की चार जातियां हैं। यथा १. माक्षिक (बड़ी मक्खियों या पिंगल रंग की मक्खियों से बना), २. भ्रामर (भ्रमरों द्वारा बनाया) ३. क्षौद्र (छोटी मक्खियों द्वारा बना) ४. पौत्तिक (पीली मक्खियों से बना श्वेत रंग का)। इन चारों प्रकार के शहद में 'माक्षिक' शहद श्रेष्ठ है। भ्रमरों से बनाया मधु विशेषतः गुरु होता है। माक्षिक शहद का रंग तेल के समान (पीला) और

पौत्तिक शहद का रंग घी के समान (सफेद) पीला होता है। क्षौद्र शहद श्वेत होता है[1]।

मधु—वायुकारक, गुरु, शीतल, रक्त-पित्त, कफनाशक, व्रणों को जोड़ने वाला, कफ मेद आदि को उखाड़ने वाला, रूक्ष, कषाय और मधुर होता है। मधु नाना प्रकार के फूलों से विषैली मक्खियों द्वारा उत्पन्न किया जाता है, इसलिये इसे गरम करके देने से अथवा गरम अवस्था में मनुष्य को देने से मारक होता है।* मधु गुरु, रूक्ष और कषाय रस, तथा शीतल होने से थोड़ा सेवन करना उत्तम है। मधु के अधिक खाने से उत्पन्न आम रोग जैसा कष्टसाध्य दूसरा रोग नहीं है। क्योंकि इसकी चिकित्सा में विरोध है। इसलिये विष की भांति मनुष्य को शीघ्र मार देता है। क्योंकि आम-विकार में उष्ण क्रिया करनी चाहिये, वह मधु में विरुद्ध है; और मधु के हितकारी जो शीतल क्रिया है, वह आमरोग के विरुद्ध है। इसलिये मधुजन्य आमरोग दारुण रोग है, इसलिये वह विष की भाँति मनुष्य को शीघ्र मार देता है। नाना प्रकार की रस-वीर्य वाली औषधियों के पुष्पों से उत्पन्न होने के कारण मधु में नाना प्रकार की शक्तियां छिपी रहती हैं। इसलिये तथा प्रभाव के कारण मधु योगवाही अर्थात् वमनकारक, आस्थापन या वृष्य कर्म करने वाले जिस द्रव्य के साथ दिया जाता है वैसा ही कार्य करता है। इस प्रकार से यह दसवां इक्षुविकार-वर्ग समाप्त हुआ ॥ २३६–२४८ ॥

इतीक्षुवर्गः।

अथ कृतान्नवर्गः।

क्षुत्तृष्णा-ग्लानि-दौर्बल्य-कुक्षिरोग-विनाशिनी[2]।
स्वेदाग्निजननी पेया वातवर्चोनुलोमनी ॥ २४९ ॥
तर्पणी ग्राहिणी लघ्वी हृद्या चापि विलेपिका।

---

१. सुश्रुत में आठ भेद किये हैं—
'पौत्तिकं भ्रामरं क्षौद्रं माक्षिकं छात्रमेव च।
आर्घ्यमौद्दालिकं दालमित्यष्टौ मधुजातयः ॥'

* शिलाजतु, तैल आदि भी योगवाही हैं। योगवाही होने पर भी स्नेहन कार्य में शहद प्रयुक्त नहीं होता। वायु में रूक्षादि गुण हैं। मधु में रूक्ष, कषाय गुण विशेषतः स्पष्ट हैं।

२. रोगज्वरापहा इति पाठः।

मण्डः संदीपयत्यग्निं वातं चाप्यनुलोमयेत् ॥ २५० ॥
मृदूकरोति स्रोतांसि स्वेदं संजनयत्यपि ।
लङ्घितानां विरिक्तानां जीर्णे स्नेहे च तृष्यताम् ॥ २५१ ॥
दीपनत्वाल्लघुत्वाच्च मण्डः स्यात्प्राणधारणः ।
लाजपेया श्रमघ्नी तु क्षामकण्ठस्य देहिनः ॥ २५२ ॥
तृष्णातीसारशमनो धातुसाम्यकरः शिवः ।
लाजमण्डोऽग्निजननो दाहमूर्च्छानिवारणः ॥ २५३ ॥
मन्दाग्निविषमाग्नीनां बाल-स्थविर-योषिताम् ।
देयश्च सुकुमाराणां लाजमण्डः सुसंस्कृतः ॥ २५४ ॥
क्षुत्पिपासापहः पथ्यः शुद्धानां तु मलापहः ।
शृतः पिप्पलिशुण्ठीभ्यां युक्तो लाजाम्लदाडिमैः ॥ २५५ ॥

पेया (ग्यारह गुने पानी में थोड़ी स्विन्न होने पर बनी हुई कांजी) भूख, प्यास, ग्लानि, दुर्बलता, उदर रोग को नष्ट करती है, स्वेदकारक, अग्नि को बढ़ाती और वायु, मल का अनुलोमन करती है। विलेपी (चार गुने पानी में बनाई) तृप्तिकारक, संग्राही लघु, हृदय के अनुकूल होती है। मण्ड (चौदह गुने पानी में तैयार किया) अग्नि का दीपन और वायु का अनुलोमन करता है, स्रोतों को कोमल करता तथा पसीना लाता है। उपवास किये, विरेचन किये, स्नेहपान के जीर्ण होने पर, प्यास लगने पर; अग्निदीपक और लघु होने से मण्ड का सेवन करना उत्तम है (मण्ड, लघु और दीपक गुण वाला है)। लाजपेया (लाज अर्थात् खीलों से बनाई पेया) श्रमनाशक, गले के खुश्क होजाने पर हितकारी है। लाजमण्ड, अग्निवर्धक, दाह-मूर्छानाशक है। मन्दाग्नि और विषमाग्नि वाले पुरुषों के लिये, बालक, वृद्ध, स्त्रियों को तथा कोमल-नाजुक प्रकृति वालों को लाजमण्ड पका करके देना चाहिये *। जो भूख और प्यास को सहन न कर सकते हों, पथ्य सेवन करते हों, वमन विरेचन से जो शुद्ध देह वाले हों, परन्तु थोड़ा मल वमन विरेचन के पीछे रुक गया हो इस अवस्था में पिप्पली. सोंठ, अनारदाना (खट्टे अनार के रस) से बनाया लाजमण्ड अग्नि को बढ़ाता और वायु का अनुलोमन करता है ॥ २४९–२५५ ॥

सुधौतः प्रस्रुतः स्विन्नः संतप्तश्चौदनो लघुः ।
अधौतोऽप्रस्रुतोऽस्विन्नः शीतश्चाप्योदनो गुरुः ॥ २५६ ॥
भृष्टतण्डुलमिच्छन्ति गरश्लेष्मामयेष्वपि ।
मांस-शाक-वसा-तैल-घृत-मज्ज-फलौदनाः ॥ २५७ ॥

---

* धनिया, पिप्पली, सोंठ, मरिच के साथ पकाना चाहिये।

बल्याः संतर्पणा हृद्या गुरवो बृंहयन्ति च ।
तद्वन्माषतिलं क्षीर-मुद्ग-संयोग-साधिता ॥ २५८ ॥
कुल्माषा गुरवो रूक्षा वातला भिन्नवर्चसः ।
स्विन्नभक्ष्यास्तु ये केचित्सौप्य-गोधूम-यावकाः ॥ २५९ ॥
भिषक् तेषां यथाद्रव्यमादिशेद् गुरुलाघवम् ।
अकृतं कृतयूषं च तनुं सांस्कारिकं रसम् ॥ २६० ॥
सूपमम्लमनम्लं च गुरुं विद्याद्यथोत्तरम् ।

भली प्रकार से धोये, मांड निकाले, गलाये हुये, गरम-चावल (भात) लघु होते हैं। गलाये और ठण्डे चावल गुरु हो जाते हैं। कृत्रिम विष और कफजन्य रोगों में भूने हुए चावलों का भात अच्छा है। पूरे न धोये, बिना मांड उतारे, मांस, शाक, वसा, तैल, घृत, मज्जा और फल इनको मिलाकर तैयार किये चावल बलकारक, सन्तर्पक हृदय प्रिय, गुरु और पौष्टिक होते है। इसी प्रकार उड़द, तिल, दूध, मूंग, के योग से बनाये भात भी इसी प्रकार गुणकारक होते हैं। कुल्माष (जौ को थोड़ा सा पकाकर) गुरु रूक्ष, वायुकारक और रेचक होते हैं। स्विन्नभक्ष्या (भाप देकर तैयार की वस्तुएँ) जो उड़द, मूंग, गेहुं, जौ आदि से पिट्ठी करके बनाये जांय, वे जिस वस्तु से बनाये जाते है उसी वस्तु के अनुसार गुरु या लघु गुण वाले होते हैं।

अकृतयूष (धनिया आदि मसाले से संस्कार न किया हुआ यूष), कृतयूष (मसाले से संस्कार किया), पतला एवं सांस्कारिक [बहुत-मांस-स्नेहादि से संस्कृत] मांस रस; अम्लसूप (खट्टी दाल) और अनम्ल सूप, ये उत्तरोत्तर भारी हैं × अर्थात् अकृत यूष से कृतयूष भारी है, तनुमांस रस से सांस्कारिक मांस रस भारी है। अम्ल सूप से अनम्ल सूप भारी है ॥ २५६–२६० ॥

सक्तवो वातला रूक्षा बहुवर्चोऽनुलोमिनः ॥ २६१ ॥
तर्पयन्ति नरं सद्यः पीताः सद्योबलाश्च ते ।
मधुरा लघवः शीताः सक्तवः शालिसंभवाः ॥ २६२ ॥
ग्राहिणो रक्तपित्तघ्नास्तृष्णा-च्छर्दि-ज्वरापहाः ।

सत्तू वायुकारक, रूक्ष, पुष्कल मल उत्पन्न करने वाले, वायु के अनुलोमक, पीने पर जल्दी ही तृप्ति करने वाले, एवं शीघ्र बलकारक है ॐ शालि

× अस्नेहलवणं सर्वमकृतं कटुकैर्विना ।
विज्ञेयं लवणस्नेहकटुकैः संस्कृतं कृतम् ॥

ॐ सुश्रुत ने—"पवनापहा" वायुनाशक किया है।

(हेमन्त धान्य) धान्य से बनाये सत्, मधुर, लघु, शीतल होते हैं। वे संग्राही, रक्तपित्त, तृष्णा, वमन, और ज्वर के नाशक हैं ॥ २६१—२६२ ॥

हन्यात् व्यर्धान् यवापूपो यावको वाट्य एव च ॥ २६३ ॥
उदावर्त-प्रतिश्याय-कास-मेह-गलग्रहान्।
धानासंज्ञास्तु ये भक्ष्याः प्रायस्ते लेखनात्मकाः ॥ २६४ ॥
शुष्कत्वात्तर्पणाश्चैव विष्टम्भित्वाच्च दुर्जराः।
विरूढधानाः शष्कुल्यो मधुक्रोडाः सपिण्डकाः ॥ २६५ ॥
पूपाः पूपलिकाद्याश्च गुरवः पैष्टिकाः परम्।

जौ के पूड़े, जौ की बड़ियां, वाट्य, [भूने जौ के चावल], ये उदावर्त, प्रतिश्याय, कास, प्रमेह और गले के रोगों को मिटाती हैं। धाना (भूने जौ), प्रायः करके लेखन, कफ आदि के उखाड़ने वाले हैं। एवं शुष्क होने से प्यास लगाने वाले है। विष्टम्भी होने से देर में पचते हैं। विरूढ धाना (अंकुरित धान्य), शष्कुली (चावलों को पीसकर तिल मिलाकर तेल में पकाने से), मधुक्रोडा (पकाकर, घन बनाकर बीच में शहद रखने से), सपिण्डका (मधु क्रोडा, पूरन पोली), पूप (पूड़े), पूपलिका (मालपूआ; चापड़ा), ये अत्यन्त गुरु और पौष्टिक होते हैं ॥ २६३—२६५ ॥

फल-मांस-वसा-शाक-पलल-क्षौद्र-संस्कृताः ॥ २६६ ॥
भक्ष्या वृष्याश्च बल्याश्च गुरवो बृंहणात्मकाः।
वेशवारा गुरुः स्निग्धो बलोपचयवर्धनः ॥ २६७ ॥
गुरवस्तर्पणा वृष्याः क्षीरेक्षुरसपूपकाः।
सगुडाः सतिलाश्चैव सक्षीरक्षौद्रशर्कराः ॥ २६८ ॥
वृष्या बल्याश्च भक्ष्यास्तु ते परं गुरवः स्मृताः।

फल, मांस, वसा, शाक, पलल (तिल का चूर्ण), मधु इनके साथ बनाये खाद्य पदार्थ वीर्यवर्धक, बलकारक, गुरु और पौष्टिक हैं। वेशवार (मांस में से हड्डी निकाल कर पत्थर पर पिसकर पिप्पली, मरिच, गुड़ और घी के साथ पका लेने पर वेशवार बनता है) गुरु, स्निग्ध, बलशक्तिवर्धक है। दूध और गन्ने के रस से तैयार किये खाद्य पदार्थ गुरु, तृप्तिकारक और वीर्यवर्धक है। गुड़, तिल, दूध और शर्करा से बनाये पदार्थ वीर्यवर्धक, बलकारक, और बहुत गुरु हैं ॥ २६६—२६८ ॥

सस्नेहाः स्नेहसिद्धाश्च भक्ष्या विविधलक्षणाः ॥ २६९ ॥
गुरवस्तर्पणा वृष्या हृद्या गौधूमिका मताः।
संस्कारात्लघवः सन्ति भक्ष्या गौधूमपैष्टिकाः ॥ २७० ॥

धाना-पर्पट-पूपाद्यास्तान्बुद्ध्वा निर्दिशेत्तथा।

गेहूँ के आटे को घी आदि स्नेह में मथकर या घी आदि स्नेह में पका कर नाना प्रकार के जो खाद्य पदार्थ बनाये जाते हैं वे सब गुरु, तृप्तिकारक, पौष्टिक (वीर्यवर्धक) और हृदय को प्रिय होते हैं। इसी प्रकार गेहूं आदि के जो पदार्थ अधिक अग्निसंयोग से तैयार किये जाते हैं, जो कि स्वभाव से गुरु हैं, वे भी संस्कार द्वारा लघु बन जाते हैं। इसी प्रकार गेहूँ की पीठी, धान्य पर्पट, पूप आदि वस्तुएं भारी होने पर संस्कार के कारण लघु बन जाती हैं। इसलिये वैद्य को संस्कार का विचार करके गुणों का निश्चय करना चाहिये ॥ २६९-२७० ॥

पृथुका गुरवो भृष्टान्भक्षयेदल्पशस्तु तान् ॥ २७१ ॥
यावा विष्टभ्य जीर्यन्ति सरसा भिन्नवर्चसः।
सूप्यान्नविकृता भक्ष्या वातला रूक्षशीतलाः ॥ २७२ ॥
सकटुस्नेहलवणानल्पशो भक्षयेत्तु तान्।
मृदुपाकाश्च ये भक्ष्याः स्थूलाश्च कठिनाश्च ये ॥ २७३ ॥
गुरवस्ते व्यतिक्रान्तपाकाः पुष्टिबलप्रदाः।

पृथुक (चिवड़ा) भारी होता है। भूने हुए चिवड़े को थोड़ा खाना चाहिये। याव (जौ का बना चिवड़ा) पेट में अवरोध करके जीर्ण होते हैं। सरस (न भूने हुए जौ) रेचक हैं। सूप्य अन्न (मूंग, उड़द आदि से बनी वस्तुएं) वायुकारक, रूक्ष, शीतल होते हैं। इनको कटु रस, स्नेह (घी या तैल), नमक के साथ थोड़ी मात्रा में खाना चाहिये। जो खाद्य पदार्थ मीठी आँच पर बनते हैं और जो स्थूल और कठोर होते हैं, वे गुरु, एवं देर में पचते हैं तथा पुष्टि और बल देते हैं ॥ २७१-२७३ ॥

द्रव्यसंयोगसंस्कारं द्रव्यमानं पृथक्तथा ॥ २७४ ॥
भक्ष्याणामादिशेद् बुद्ध्वा यथास्वं गुरुलाघवम्।
नानाद्रव्यैः समायुक्तः पक्वामक्लिन्नभर्जितैः * ॥ २७५ ॥
विमर्दको गुरुर्हृद्यो वृष्यो बलवतां हितः।
रसाला बृंहणी वृष्या स्निग्धा बल्या रुचिप्रदा ॥ २७६ ॥
स्नेहनं तर्पणं हृद्यं वातघ्नं सगुडं दधि।

किसी पदार्थ के गुरु या लघु होने का निश्चय उस पदार्थ के मूल स्वभाव, संयोग, संस्कार (पकाने की विधि)), मिलने के परिणाम (राशि), आदि सब बातों का विचार करके करना चाहिये। जिसमें ये बातें गुरु पक्ष में जाती

* पक्त्वा वन्हिषु भर्जितैः ॥ इति वा पाठः ॥

हों वे वस्तु गुरु समझना,जिसमें लघु पन में हो वह वस्तु हल्की समझनी चाहिये। विमर्दक (मांस को नाना प्रकार से बनाने की विधि से), नाना प्रकार के पदार्थों से मिला हुआ, पकाया, आम, क्लिन्न और भूने हुए भेद से गुरु, हृदय के लिये, प्रिय, वीर्यवर्धक और बलवान् पुरुषों के लिये हितकारी है। मलाई वाली दही को खूब मथकर इसमें दालचीनी, इलायची, तेजपात, नागकेशर, अजवायन, गुड़, अद्रक, सोंठ के साथ मिलाकर तैयार की रसाला पुष्टिकारक, वृष्य, वीर्यवर्धक, स्निग्ध, बलकारक, रुचिकारक है। गुड़के साथ दही स्नेहक तृप्तिकारक,हृदय के लिये प्रिय और वातनाशक है।२७४-२७६॥

द्राक्षा-खर्जूर-कोलानां गुरु विष्टम्भि पानकम् ॥ २७७ ॥
परूषकाणां क्षौद्रस्य यच्चेक्षुविकृतिं प्रति।
तेषां कटवम्लसंयोगाः पानकानां पृथक् पृथक् ॥२७८॥
द्रव्यमानं च विज्ञाय गुणकर्माणि निर्दिशेत्।
कटवम्ल-स्वादु-लवणा लघवो रागषाडवाः ॥ २७९ ॥
मुखप्रियाश्च हृद्याश्च दीपना भक्तरोचनाः।
आम्रामलकलेह्याश्च बृंहणा बलवर्धनाः ॥ २८० ॥
रोचनास्तर्पणाश्चोक्ताः स्नेहमाधुर्यगौरवात्।
बुद्ध्वा संयोगसंस्कारं द्रव्यमानं च तच्छ्रितम् ॥ २८१ ॥
गुणकर्माणि लेह्यानां तेषां तेषां तथा वदेत्।

द्राक्षा, खजूर, बेर, फालसा, शहद, गन्ने का रस इनके रस में गुड़ या शर्कर डालकर बनाया हुआ शरबत, गुरु, मल-मूत्र का रोधक होता है। इन शरबतों में कटु या अम्ल वस्तुओं का योग तथा द्रव्य परिमाण जानकर रोग एवं रुचि के अनुसार पृथक् पृथक् रूप में देना चाहिये, इनके गुण कर्म पृथक् २ होजाते हैं। गुड़ के साथ आम रस को पका तेल, सोंठ आदि मिलाकर बनाया रस, या अनार, दाख, फालसा, जामुन रसादि से बना मधुर पाक 'रागषाडव' कहाता है। वह कटु, अम्ल, स्वादु नमकीन, लघु, स्वादिष्ठ, हृदय को प्रिय, अग्निदीपक और खाने में रुचिकर होता है। आम या आंवले के रस से बनाये चाटन, पुष्टिकारक, बलवर्द्धक, रुचिकारक, तृप्तिकारक, होते हैं, क्योंकि इनमें स्नेह मधुरता और भारीपन होता है। द्रव्यों के संयोग संस्कार (पाक-विधि) और द्रव्यों की मात्रा को चाटने योग्य (लेहों)में देखकर विचार कर गुण कर्म का निश्चय करना चाहिये॥ २७७-२८१ ॥

रक्तपित्तकफोत्क्लेदि शुक्तं वातानुलोमनम् ॥ २८२ ॥
कन्दमूलफलाद्यं च तद्वद्विद्यात्तदासुतम् ।
शिण्डाकी* चाऽऽसुतं चान्यत् कालाम्लं रोचनं लघु ।
विद्याद्वर्गं कृतान्नानामेकादशतमं भिषक् ॥ २८३ ॥

शुक्त (चुक्र)—शुद्ध पात्र में गुड़, शहद, कांजी सहित मस्तु डालकर धान के ढेर में तीन रात रखने से शुक्त या चुक्र तैयार होता है। वह रक्त-पित्तनाशक, कफ को पतला करने वाला, वायु का अनुलोमक होता है। शुक्त में कन्द, मूल फल आदि डाले गये हों तो इसको 'आसुत' कहते हैं। शिण्डाकी (सिरके में काला जीरा आदि डालने से), आसुत, कालाम्ल (देर तक रखने से जो अम्ल बन गया हो, अम्ल डालने से नहीं) वह रोचक और लघु होता है। इस ग्यारहवें कृतान्नवर्ग का वैद्य अवश्य ज्ञान करे ॥ २८२-२८३ ॥

इति कृतान्नवर्गः ।

अथाऽऽहारयोगिवर्गः ।

कषायानुरसं स्वादु सूक्ष्ममुष्णं व्यवायि च ।
पित्तलं बद्धविण्मूत्रं न च श्लेष्माभिवर्धनम् ॥ २८४ ॥
वातघ्नेषूत्तमं बल्यं त्वच्यं मेधाग्निवर्धनम् ।
तैलं संयोगसंस्कारात्सर्वरोगापहं मतम् ॥ २८५ ॥
तैलप्रयोगादजरा निर्विकारा जितश्रमाः ।
आसन्नतिबलाः संख्ये दैत्याधिपतयः पुरा ॥ २८६ ॥
ऐरण्डतैलं मधुरं गुरु श्लेष्माभिवर्धनम् ।
वातासृग्गुल्म-हृद्रोग-जीर्ण-ज्वर-हरं परम् ।
कटूष्णं सार्षपं तैलं रक्तपित्तप्रदूषणम् ।
कफशुक्रानिलहरं कण्डूकोठविनाशनम् ॥ २८८ ॥
पियालतैलं मधुरं गुरु श्लेष्माभिवर्धनम् ।
हितमिच्छन्ति नात्यौष्ण्यात्संयोगे वातपित्तयोः ॥ २८९ ॥
आतस्यं मधुराम्लं तु विपाके कटुकं तथा ।
उष्णवीर्यं हितं वाते रक्तपित्तप्रकोपणम् ॥ २९० ॥
कुसुम्भतैलमुष्णं च विपाके कटुकं गुरु ।
विदाहि च विशेषेण सर्वरोगप्रकोपणम् ॥ २९१ ॥

---

* शाण्डाकी इति च पाठः ।

फलानां यानि चान्यानि तैलान्याहारसंविधौ ।
युज्यन्ते गुणकर्मभ्यां तानि ब्रूयाद्यथाफलम् ॥ २९२ ॥
मधुरो बृंहणो वृष्यो बल्यो मज्जा तथा वसा ।
यथासत्त्वं तु शैत्यौष्ण्ये वसामज्ज्ञोर्विनिर्दिशेत् ॥ २९३ ॥

तिल का तैल कषाय अनुरस, स्वादु, सूक्ष्म (स्रोतों में घुसनेवाला) उष्ण, व्यवायी, छिद्रों में पहुंचने वाला (शरीर में फैलनेवाला), पित्तकारक, मल मूत्र को रोकने वाला है, परन्तु कफ को बढ़ानेवाला नहीं है । वातनाशक ओषधियों में श्रेष्ठ, बलकारक, त्वचा के लिये हितकारी, बुद्धि, और अग्नि को बढ़ाने वाला है, संयोग एवं संस्कार करने से सब रोगों को नाश करने वाला है। प्राचीन काल में इस तेल के प्रयोग से दैत्याधिपति, बुढ़ापे से रहित, विकार-शून्य, परिश्रम सहन करनेवाले, न थकने वाले, लड़ाई में बहुत बलवान् हुए थे ।

(१) ऐरण्ड का तेल–मधुर, गुरु, कफ को बढ़ानेवाला, वातरक्त, गुल्म, हृदय रोग, अजीर्ण और ज्वरका नाशक है । सरसों का तेल कटु, उष्ण, रक्त-पित्त को दूषित करने वाला, कफ, शुक्र और वायु को नष्ट करने वाला, कण्डू और कोठ का नाशक है । (सरसों के तेल को खाने से रक्त पित्त दूषित होते हैं, मलने से नहीं) (३) पियाल फल (चिरौंजी) का तेल मधुर, गुरु, कफ को बढ़ाने वाला और बहुत गरम न होने से वात-पित्त के सम्मिलित विकारों में उत्तम है (४) अलसी का तेल-मधुर, अम्ल, विपाक में कटु, उष्णवीर्य वात-रोग में हितकारी, रक्त और पित्त को कुपित करने वाला है । (५) धनिये का तेल–गरम, विपाक में कटु, गुरु, विदाही और सब रोगों को (दोषों को) कुपित करने वाला है । जिन फलों से अन्य तैल तैयार किये जाते हैं, उन तैलों के गुण उन्हीं फलों के अनुसार समझने चाहिये ।

चिरायता तिक्तक, अतिमुक्तक, बिभीतक (बहेड़ा) नारियल, बेर, अख-रोट, जीवन्ती, पियाल (चिरौंजी) कुबुंदार, सूर्यवल्ली, त्रपुस, ऐरावारू, ककरि कूष्माण्ड आदि के तेल मधुर, मधुवीर्य, मधुर विपाक वाले, वात पित्त को शान्त करने वाले, शीतवर्य, मार्गशोधक, मलमूत्रकारक, अग्निवर्धक होते हैं (सुश्रुत) मज्जा और वसा, मधुर रस, पुष्टिकारक, शुक्रवर्धक, बलकारक होती हैं। इनकी शीतता और उष्णता प्राणियों के अनुसार समझनी चाहिये । जिस प्राणी का मांस उष्ण है उसकी मज्जा भी उष्ण, जिसका मांस शीत उस प्राणी की मज्जा भी शीत समझनी चाहिये ॥ २८४–२९३ ॥

सस्नेहं दीपनं वृष्यमुष्णं वातकफापहम् ॥ २९४ ॥
विपाकमधुरं हृद्यं रोचनं विश्वभेषजम् ॥

श्लेष्मला मधुरा चाऽऽर्द्रा गुर्वी स्निग्धा च पिप्पली ।
सा शुष्का कफवातघ्नी कटूष्णा वृष्यसंमता ॥ २९५ ॥
नात्यर्थमुष्णं मरिचमवृष्यं लघुरोचनम् ।
छेदित्वाच्छोषणत्वाच्च दीपनं कफवातजित् ॥ २९६ ॥
वातश्लेष्मविबन्धघ्नं कटूष्णं दीपनं लघु ।
हिङ्गु शूलप्रशमनं विद्यात्पाचनरोचनम् ॥ २९७ ॥
रोचनं दीपनं वृष्यं चक्षुष्यमविदाहि च ।
त्रिदोषघ्नं समधुरं सैन्धवं लवणोत्तमम् ॥ २९८ ॥
सौक्ष्म्यादौष्ण्याल्लघुत्वाच्च सौगन्ध्याच्च रुचिप्रदम् ।
सौवर्चलं विबन्धघ्नं हृद्यमुद्गारशोधि च ॥ २९९ ॥
तैक्ष्ण्यादौष्ण्याद् व्यवायित्वाद्दीपनं शूलनाशनम् ।
ऊर्ध्वं चाधश्च वातानामानुलोम्यकरं बिडम् ॥ ३०० ॥
सतिक्तं कटु सक्षारं तीक्ष्णमुत्क्लेदि चौद्भिदम् ।
न काललवणे गन्धः सौवर्चलगुणाश्च ते ॥ ३०१ ॥
सामुद्रकं समधुरं, सतिक्तं कटु पांशुजम् ।
रोचनं लवणं सर्वं पाकि स्रंस्यनिलापहम् ॥ ३०२ ॥
हृत्पाण्डु-ग्रहणी-दोष-प्लीहानाह-गलग्रहान् ।
कासं कफजमर्शांसि यावशूको व्यपोहति ॥ ३०३ ॥
तीक्ष्णोष्णो लघुरूक्षश्च क्लेदी पक्ता विदारणः ।
दाहनो दीपनश्छेत्ता सर्वः क्षारोऽग्निसंनिभः ॥ ३०४ ॥
कारव्यः कुञ्चिकाऽजाजी यवानी धान्यतुम्बुरु ।
रोचनं दीपनं वात-कफ-दौर्गन्ध्य-नाशनम् ॥ ३०५ ॥
आहारयोगिनां भक्तिनिश्चयो न तु विद्यते ।
समाप्तो द्वादशश्चायं वर्ग आहारयोगिनाम् ॥ ३०६ ॥

सोंठ—थोड़ी स्निग्ध, अग्निदीपक, वीर्यवर्धक, गरम, वातकफनाशक, विपाक में मधुर, हृदय के लिये हितकारी, रुचिप्रिय होती है । हरी पिप्पली-कफकारक, मधुर, गुरु और स्निग्ध होती है । सूखी पिप्पली कफ वातनाशक कटु, उष्ण, वीर्यवर्धक है । काली मरिच सूखी—बहुत गरम नहीं, वीर्य को न बढ़ाने वाली, लघु, रुचिकारक, छेदन करने वाली, कफ आदि को उखाड़ने वाली और शोषक होने से अग्निदीपक एवं कफ-वातनाशक है । और हरी अवस्था में स्वादु गुरु, कफवर्धक होती है । हींग वायु-कफ विबन्धनाशक, कटु, उष्ण, अग्निदीपक, लघु, शूलनाशक, पाचक और रुचिकर है । सेन्धा नमक—रुचि-

कारक, अग्निवर्धक, सूक्ष्म, आँखों के लिये हितकारी, अविदाही, त्रिदोषनाशक, कुछ मधुर और सब नमकों में श्रेष्ठ है।

सौवर्चल नमक (संचल नमक)—सूक्ष्म, उष्ण, लघु होने से तथा सुगन्धि होने से रुचिदायक, विबन्धनाशक, हृद्य, उद्गार (डकार) को शोधन करने वाला है। बिड (काला नमक)—तीक्ष्ण, उष्ण और व्यवायी (शरीर में फैलने वाला होने से) अग्निदीपक, शूलनाशक, एवं वायु को ऊपर या नीचे, अधोमार्ग दोनों से अनुलोमन करने वाला है। ऊद्भिद् नमक–तिक्त, कटु, क्षारयुक्त, तीक्ष्ण उत्क्लेदि अर्थात् वमन की रुचि करने वाला है। काले लवण के गुण संचल नमक के समान हैं, परन्तु इस में संचल के समान गन्ध नहीं होती। समुद्र के पानी से तैयार किया नमक मधुर है। पांशुज (सज्जी) जिससे धोबी कपड़ा धोते हैं, ऐसी मिट्टी से तैयार किया नमक कटु और तिक्त होता है। सब प्रकार के नमक रुचिकारक, अन्न या व्रण को पकाने वाले; संसी और वात-नाशक हैं।

जौ-खार—हृदय, पाण्डु, ग्रहणी रोग, प्लीहा, आनाह, गलरोग, कफजन्य कास और अर्शरोग को नष्ट करते हैं। सब प्रकार के क्षार (टंकण, सज्जी, पापड़ खार आदि) तीक्ष्ण, उष्ण, लघु, रूक्ष, क्लेदि, अन्न और व्रण को पकाने वाले, पके हुए व्रण को फाड़ने वाले, जलाने वाले, अग्निवर्द्धक, कफ आदि का छेदन करने वाले अग्नि के समान गुण वाले (उष्ण) होते हैं। कारवी (काला जीरा,) कुंचीका (मोटा जीरा) ये रुचिकर अग्नि-दीपक, वात, कफ, दुर्गन्ध को नाश करने वाले हैं। खान पान में किन किन द्रव्यों का व्यवहार होता है या होना चाहिये इसका निश्चय करना कठिन है, कोई एक नियम नहीं बन सकता, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य की रुचि भिन्न भिन्न है। यह बारहवां आहारयोगी द्रव्यों का वर्ग भी समाप्त हुआ ॥ २९४–३०६ ॥

इत्याहारयोगिवर्गः।

शूकधान्यं शमीधान्यं समातीतं प्रशस्यते।
पुराणं प्रायशो रूक्षं प्रायेणाभिनवं गुरु ॥ ३०७ ॥
यद्यदागच्छति क्षिप्रं तत्तल्लघुतरं स्मृतम्।
निस्तुषं युक्तिभृष्टं तु सूप्यं लघु विपच्यते ॥ ३०८ ॥

शूकधान्य (चावल, गेहूँ आदि), शमीधान्य (मूंग, मसूर, उड़द आदि) ये एक साल पुराने प्रशस्त हैं। प्राय: करके पुराने धान्य रूक्ष होते हैं।

जो धान्य बोने पर जल्दी उग आता है (जैसे ग्रीष्म ऋतु के साठी चावल) वह हल्का होता है और मूंग आदि दाल की वस्तुओं को तुषरहित करके छिलका उतारकर थोड़ा भून लिया जावे तो ये लघु हो जाते हैं ॥ ३०७–३०८ ॥

मृतं कृशातिमेद्यं च वृद्धं बालं विषैर्हतम् ।
अगोचरभृतं व्याडसूदितं मांसमुत्सृजेत् ॥ ३०९ ॥
अतोऽन्यथा हितं मांसं बृंहणं बलवर्धनम् ।
प्रीणनः सर्वधातूनां हृद्यो मांसरसः परम् ॥ ३१० ॥
शुष्यतां व्याधिमुक्तानां कृशानां क्षीणरेतसाम् ।
बलवर्णार्थिनां चैव रसं विद्याद्यथाऽमृतम् ॥ ३११ ॥
सर्वरोगप्रशमनं यथास्वं विहितं रसम् ।
विद्यात्स्वर्यं बलकरं वयोबुद्धीन्द्रियायुषाम् ॥ ३१२ ॥
व्यायामनित्याः स्त्रीनित्या मद्यनित्याश्च ये नराः ।
नित्यं मांसरसाहारा नाऽऽतुराः स्युन दुर्बलाः ॥ ३१३ ॥

त्याज्य मांस—मरा हुआ, कृश दुर्बल प्राणी का, बहुत चर्बी वाला, बुड्ढे पशु का, बालक का, विष द्वारा मारा, अगोचरभृत अर्थात् अपने स्वाभाविक स्थान को छोड़कर दूसरे प्रदेश में पले (जलीय देश के प्राणी को मरुस्थल में पोषण करने पर), व्याड अर्थात् व्याघ्र या सांप आदि हिंसक पशुओं से मारे हुए पशु का मांस त्याज्य है। इससे विपरीत प्रकार का मांस हितकारी, शरीर का पोषक, बलकारक है। मांस रस, पुष्टिदायक, सब प्राणियों के लिये हितकारी, हृदय को प्रिय होता है। सूखते हुए, कृश होते हुए, रोग से उठे हुए, निर्बल, शुक्र जिनका क्षीण हो गया है, बल या कान्ति को चाहने वाले पुरुषों के लिये मांस रस अमृत के समान है। मांस रस सब रोगों को* शान्त करने वाला है, स्वर के लिये उत्तम, आयुवर्धन, बुद्धि और इन्द्रियों के लिये हितकारी एवं बलकारक है। जो पुरुष नित्य प्रात व्यायाम करते, स्त्री संग करते, शराब पीते हैं और नित्य प्रति मांस रस का सेवन करते हैं, वे न रोगी होते और न निर्बल होते हैं ॥ ३०९–३१३ ॥

कृमिवातातपहतं शुष्कं जीर्णमनार्तवम् ।
शाकं निःस्नेहसिद्धं च वर्ज्यं यच्चापरिस्रुतम् ॥ ३१४ ॥
पुराणमामं संक्लिष्टं कृमिव्यालहिमातपैः ।
अदेशकालजं क्लिन्नं यत्स्यात्फलमसाधु तत् ॥ ३१५ ॥

* उन्माद रोग में मांस का निषेध है—यथा 'उन्मादे निवृत्तामिषमद्यो वा।'

हरितानां यथाशाकं निर्देशः साधनादृते ।
मद्याम्बुगोरसादीनां स्वे स्वे वर्गे विनिश्चयः ॥ ३१६ ॥

त्याज्य शाक—कृमि, वात, धूप से मरा (सूखा), शुष्क, पुराना, ऋतु में उत्पन्न नहीं हुआ, और जो शाक बिना स्नेह (घी या तेल) के तैयार किया गया हो और जिसका कि भांप कर पानी न निकाल दिया गया हो, वह शाक त्याज्य है। जो फल पुराना, (बहुत पका), कच्चा, सड़ा, कृमि सर्प या हिंसक पशु से खाया हुआ हो, बर्फ या धूप से खराब हो, भले देश में उत्पन्न न हुआ, क्लिन्न (सड़ा) हो वह फल उत्तम नहीं। पकाने की विधि को छोड़कर हरित-वर्ग को शाकों की भांति समझना चाहिये। अर्थात् इनमें पानी का निचोड़ना, घी आदि में संस्करित करना नहीं है। मद्य, जल, दूध आदि के अच्छे-बुरे का निश्चय इनके अपने अपने वर्ग में कर दिया है ॥ ३१४-३१६ ॥

यदाहारगुणैः पानं विपरीतं तदिष्यते ।
अन्नानुपानं धातूनां दृष्टं यन्न विरोधि च ॥ ३१७ ॥
आसवानां समुद्दिष्टा अशीतिश्चतुरुत्तरा ।
जलं पेयमपेयं च परीक्ष्यानुपिबेद्धितम् ॥ ३१८ ॥
स्निग्धोष्णं मारुते शस्तं पित्ते मधुरशीतलम् ।
कफेऽनुपानं रूक्षोष्णं, क्षये मांसरसः परम् ॥ ३१९ ॥
उपवासाध्व-भाष्य-स्त्री मारुतातप-कर्मभिः ।
क्लान्तानामनुपानार्थं पयः पथ्यं यथाऽमृतम् ॥ ३२० ॥
सुरा कृशानां पुष्ट्यर्थमनुपानं प्रशस्यते ।
कार्श्यार्थं स्थूलदेहानामनुशस्तं मधूदकम् ॥ ३२१ ॥
अल्पाग्नीनामनिद्राणां तन्द्रा-शोक-भय-क्लमैः ।
मद्यमांसोचितानां च मद्यमेवानुशस्यते ॥ ३२२ ॥

अथानुपानकर्म प्रवक्ष्यामि—अनुपानं तर्पयति, प्रीणयति, ऊर्जयति, पर्याप्तिमभिनिवर्तयति, भक्तमवसादयति, अन्नसंघातं भिनत्ति, मार्दवमापादयति, क्लेदयति, जरयति, सुखपरिणामितामाशुव्यवायितां चाऽऽहारस्योपजनयतीति ॥३२३॥

अनुपान—जो पेय पदार्थ आहार गुण के विपरीत (यथा-उष्ण आहार के पीछे शीत अनुपान*) तथा जो धातुओं का विरोधी न हो अपितु सात्म्य करने

* अनु-पश्चात्-भोजनात् इत्यर्थः, पानं जलादिपानम् ॥ दाह के पीछे मधुर, दूध या खीर के पीछे कांजी (खट्टा) अनुपान न देवें, इसलिये कि धातुओं का विरोधी न हो।

वाला हो, वह अनुपान प्रशस्त है। 'यवःपुरुषीय' अध्याय में चौरासी प्रकार के आसव कहे हैं। जल पीना हितकारी है, या नहीं इसका विचार करके हितकारी जल पीना चाहिये। वायुदोष में स्निग्ध और उष्ण; पित्तविकार में मधुर और शीतल; कफ में रूक्ष एवं उष्ण तथा क्षय में रस का अनुपान श्रेष्ठ है। उपवास से, मार्ग चलने से ऊँचे या बहुत बोलने से स्त्रीसंग, वायु, धूप या पंच कर्मों के कारण जो थके हुए हों, उनको अनुपान देने के लिये दूध अमृत के समान पथ्य, हितकारी है। मोटे शरीर वालों को पतला बनाने के लिये पानी में शहद मिलाकर देना उत्तम है। जिनको मन्दग्नि हो, नींद न आती हो, तन्द्रा, शोक, भय, क्लम से थके, मद्य मांस सेवन करने वालों के लिये मद्य अनुपान ही श्रेष्ठ है।

अनुपान के कर्म (गुण) कहते हैं—अनुपान शरीर का तर्पण करता है, शरीर को और जीवन को पुष्ट करता है, तेज बढ़ाता है, खाये हुए भोजन से मिलकर शरीर में मिल जाता है, खाये हुए को पचाता है, मिले हुए अन्न को तोड़ता, पृथक् पृथक् करता है। शरीर में कोमलता है, आहार को क्लिन्न करता, पचाता और सुख पूर्वक पचाकर शीघ्र शरीर में व्याप्त कर देता है॥ ३२३॥

भवति चात्र—अनुपानं हितं युक्तं तर्पयत्याशु मानवम्।
सुखं पचति चाऽऽहारमायुषे च बलाय च॥ ३२४॥

योग्य हितकारी अनुपान मनुष्य को शीघ्र तर्पण कर देता है। भोजन को सुखपूर्वक पचाता है और आयु एवं बल को बढ़ाता है॥ ३२४॥

नोर्ध्वाङ्गमारुताविष्टा न हिक्का-श्वास-कासिनः।
न गीत-भाष्याध्ययन-प्रसक्ता नोरसि क्षताः॥ ३२५॥
पिबेयुरुदकं भुक्त्वा, तद्धि कण्ठोरसि स्थितम्।
स्नेहमाहारजं हत्वा भूयो दोषाय कल्पते॥ ३२६॥
अनुपानैकदेशोऽयमुक्तः प्रायोपयोगिकः।
द्रव्यं तु न हि निर्देष्टुं शक्यं कार्त्स्न्येन नामभिः॥ ३२७॥
यथा नानौषधं किंचिद्देशजानां वचो यथा।
द्रव्यं तत्तथा वाच्यमनुक्तमिह यद्भवेत्॥ ३२८॥

किनको अनुपान नहीं करना चाहिये—कण्ठ, छाती; शिर, (ऊर्ध्वांग) में जब वायु का जोर हो, जिनको हिचकी, श्वास, कास रोग हों, गीत, भाषण, अध्ययन में जो लगे रहते हों, जिनकी छाती में चोट लगी हो इनको भोजन

करके पानी अनुपान रूप में नहीं पीना चाहिये। इस अवस्था में पिया पानी कण्ठ, छाती (आमाशय) में स्थित आहारजन्य स्नेह को दूषित करके नाना प्रकार के रोग उत्पन्न करता है ।

प्रायः उपयोग में आने वाले आहार, खान-पान का कुछ भाग यहीं पर कह दिया है। खानपान के सब द्रव्यों का नाम से कथन करना सम्भव नहीं है, जिस प्रकार की कोई भी औषध रहित वनस्पति नहीं, जिस प्रकार देश वाले उसे जैसा गुणकारी या हानि कारक कहते हों, उसके अनुसार यहां पर न कहे हुए द्रव्य को समझना चाहिये। गुणज्ञान के विषय में और भी कहते हैं ॥३२८॥

चरः शरीरावयवाः स्वभावो धातवः क्रिया।
लिङ्गं प्रमाणं संस्कारो मात्राचात्र परीक्ष्यते ॥ ३२९ ॥

चरोऽनूप-जलाकाश-धन्वाद्यो भक्ष्यसंविधिः।
जलजानूपजाश्चैव जलानूपचराश्च ये ॥ ३३० ॥

गुरुभक्ष्याश्च ये सत्त्वाः सर्वे ते गुरवः स्मृताः।
लघुभक्ष्यास्तु लघवो धन्वजा धन्वचारिणः ॥ ३३१ ॥

शरीरावयवाः सक्थि-शिर-स्कन्धादयस्तथा।
सक्थिमांसाद् गुरुः स्कन्धस्ततः क्रोडस्ततः शिरः ॥ ३३२ ॥

वृषणौ चर्ममेढ्रं च श्रोणी वृक्कौ यकृद् गुदम्।
मांसाद् गुरुतरं विद्याद्यथास्वं मध्यमस्थि च ॥ ३३३ ॥

स्वभावाल्लघवो मुद्गास्तथा लावकपिञ्जलाः :
स्वभावाद् गुरवो माषा वराहमहिषास्तथा ॥ ३३४ ॥

धातूनां शोणितादीनां गुरुं विद्याद्यथोत्तरम्।
अलसेभ्यो विशिष्यन्ते प्राणिनो ये बहुक्रियाः ॥ ३३५ ॥

गौरवं लिङ्गसामान्ये पुंसां स्त्रीणां च लाघवम्।
महाप्रमाणा गुरवः स्वजातौ लघवोऽन्यथा ॥ ३३६ ॥

चर (जिस स्थान पर विचरता है), शरीरावयव (शरीर का अंग), स्वभाव (प्रकृति), धातु (रस, रक्तादि धातु), क्रिया, लिंग, प्रमाण, संस्कार, मात्रा ये बातें गुरु लघु विचार करने में देखनी चाहिये। चर, गति रूपचर और भक्ष्य रूप चर भेद से दो प्रकार के हैं। इनमें गति रूप चर आनूप अर्थात् जलबहुल प्रदेश में विचरने वाले, आकाश में, धन्व देश में तथा जल आनूप दोनों देशों में विचरने वाले हैं। भक्ष्य रूप चर गुरु, शीतल पदार्थ

जाते हैं ऐसे दोनों प्रकार के प्राणी गुरु होते हैं। धन्व प्रदेश में उत्पन्न या धन्व (रेतीले) देश में विचरने वाले तथा लघु भोजन करने वाले प्राणी लघु होते हैं।

जांघ, शिर, स्कन्ध आदि शरीर के अवयव हैं। इनमें जंघा से स्कन्ध, स्कन्ध से क्रोड और क्रोड से शिर, का मांस गुरु होता है। शिर से वृषण और वृषण से इनका चर्म, फिर शिश्न, फिर श्रोणी भाग, फिर वृक्क (गुर्दे) और फिर यकृत्, उसके पीछे गुर्दा और पीछे मध्यास्थि (मज्जा या अस्थि के ऊपर का मांस) गुरु होता है।

स्वभाव वा प्रकृति से मूंग, बटेर कपिंजल लघु होते हैं और उड़द-सुअर, भैंस ये गुरु होते हैं। धातुओं में रक्त मांस, और मेद ये क्रमशः उत्तरोत्तर गुरु होते जाते हैं। जो प्राणी बहुत चेष्टाशील होते हैं, वे आलसी स्वभाव वाले प्राणियों से भिन्न अर्थात् लघु होते हैं (आलसी प्राणी गुरु होते हैं) लिंग की दृष्टि से नर गुरु और मादा पशु लघु होते हैं, (पशुओं में यह नियम है, परन्तु पक्षियों में नर लघु होता है।) अपनी जाति में बड़े शरीर वाले गुरु और छोटे शरीर के प्राणी लघु होते हैं॥ ३२६-३३६॥

गुरूणां लाघवं विद्यात्संस्कारात्सविपर्ययम्।
व्रीहेर्लाजा यथा च स्युः सक्तूनां सिद्धपिण्डकाः॥ ३३७॥
अल्पादाने गुरूणां च लघूनां चातिसेवने।
मात्राकारणमुद्दिष्टं द्रव्याणां गुरुलाघवे॥ ३३८॥
गुरूणामल्पमादेयं लघूनां तृप्तिरिष्यते।
मात्रां द्रव्याण्यपेक्षन्ते मात्रा चाग्निमपेक्षते॥ ३३९॥
बलमारोग्यमायुश्च प्राणाश्चाग्नौ प्रतिष्ठिताः।
अन्नपानेन्धनैश्चाग्निर्दीप्यते शाम्यतेऽन्यथा[1]॥ ३४०॥
गुरुलाघवचिन्तेयं प्रायेणाल्पबलान् प्रति।
मन्दक्रियाननारोग्यान् सुकुमारान् सुखोचितान्॥ ३४१॥
दीप्ताग्नयः खराहाराः कर्मनित्या महोदराः।
ये नराः प्रति ताँश्चिन्त्यं नावश्यं गुरुलाघवम्॥ ३४२॥

संस्कार द्वारा गुरु पदार्थ लघु और लघु पदार्थ गुरु बन जाते हैं। जैसे व्रीहि (धान्य) स्वभाव से गुरु हैं, परन्तु लाजा के रूप में लघु बन जाते हैं और सत्तू स्वभाव से लघु होने पर भी उनकी आग से पकाई पिण्डिकायें

1. ज्वलयति श्वेति चान्यथा इति वा पाठः।

गुरु होजाती हैं। गुरु पदार्थों को थोड़ा और लघु पदार्थों को अधिक सेवन करने से वे गुरु हो जाते हैं। इसलिये गुरु लघुता के निश्चय करने में भी मात्रा कारण है। गुरु पदार्थों को थोड़ा लेना और लघु पदार्थों को तृप्तिपूर्वक खाना चाहिये जिससे पेट फूल न जाय, श्वास चढ़ने न लगे। द्रव्य, मात्रा अर्थात् परिमाण की अपेक्षा करते हैं और मात्रा अग्नि की अपेक्षा करती है। बल, आरोग्यता, आयु और प्राण अग्नि पर आश्रित हैं—अग्नि के अधीन हैं। अन्न पान (खान, पान) रूपी इन्धन से अग्नि प्रदीप्त होती है, और खान पान के न मिलने से वह बुझ जाती है, शान्त होजाती है। जो पुरुष अल्प बल वाले हों, मन्द क्रिया, मन्द-चेष्टावाले, अनारोग्य, रोगी, सुकुमार अर्थात् नाजुक प्रकृति, के आराम का जीवन व्यतीत करने वाले हैं उनके विषय में गुरु-लघु का विचार करना चाहिये। जिनकी अग्नि प्रबल हो, जो कठिन आहार को भी पचा सकते हों, नित्य मेहनत करने वाले, बड़े पेट वाले, जिनकी अग्नि बढ़ी हुई हो उनके विषय में गुरु-लघु का विचार करने की आवश्यकता नहीं है॥ ३३७-३४२॥

हिताभिर्जुहुयान्नित्यमन्तराग्निं समाहितः।
अन्नपानसमिद्भिर्ना मात्राकालौ विचारयन्॥ ३४३॥
आहिताग्निः सदा पथ्यान्यन्तराग्नौ जुहोति यः।
दिवसे दिवसे ब्रह्म जपत्यथ ददाति च॥ ३४४॥
नरं निःश्रेयसे युक्तं सात्म्यज्ञं पानभोजने।
भजन्ते नाऽऽमयाः केचिद्भाविनोऽप्यन्तराहते॥ ३४५॥
षट्त्रिंशतं सहस्राणि रात्रीणां हितभोजनः।
जीवत्यनातुरो जन्तुर्जितात्मा संमतः सताम्॥ ३४६॥

मनुष्य को चाहिये कि मात्रा और काल का विचार करके, हितकारी खान-पान रूपी समिधाओं से अन्तराग्नि में नित्यप्रति संयमित चित्त से हवन करे। जो आहिताग्नि हवन करने वाला नित्य प्रति दोनों समय अन्तराग्नि में हितकारी अन्न की आहुति देकर ब्रह्म (ओंकार) का जप करता है और यथाशक्ति दान करता है, जिसको खान-पान सम्बन्धी सात्म्य का ज्ञान होता है, ऐसे पुण्यवान् पुरुष को कारण के बिना कभी भी रोग नहीं होते। इसी प्रकार संचित धर्म के प्रभाव से जन्मान्तर में भी रोग नहीं होते। हितकर आहार करने वाला व्यक्ति ३६००० रात्रि (१०० वर्ष) पर्यन्त नीरोगी, जितेन्द्रिय, और सज्जनों से पूजित होकर निवास करता है॥ ३४३-३४६॥

तत्रश्लोकाः—प्राणाः प्राणभृतामन्नमन्नं लोकोऽभिधावति ।
वर्णः प्रसादः सौस्वर्यं जीवितं प्रतिभा सुखम् ॥ ३४७ ॥
तुष्टिः पुष्टिर्बलं मेधा सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ।
लौकिकं कर्म यद्वृत्तौ स्वर्गतौ यच्च वैदिकम् ॥ ३४८ ॥
कर्मापवर्गे यच्चोक्तं तच्चाप्यन्ने प्रतिष्ठितम् ।

अन्न, सब प्राणियों का प्राण है, सारा संसार इसी अन्न की याचना करता है (पेट के लिये आदमी सब कुछ करता है) । अन्न में ही वर्ण, शरीर की प्रसन्नता, सुस्वरता, जीवन, प्रतिभा, सुख, तुष्टि, हर्ष, पोषण, बल, मेधा, ये सब बातें स्थिर हैं । सांसारिक कर्म, तथा स्वर्ग प्राप्ति में यज्ञादि जो वैदिक मोक्षदायक यज्ञ, तप आदि कर्म हैं, वे सब अन्न में प्रतिष्ठित हैं ॥ ३४७–३४८ ॥

तत्र श्लोकः—अन्नपानगुणाः साग्र्या वर्गा द्वादश निश्चिताः ॥ ३४९ ॥
सगुणान्यनुपानानि गुरुलाघवसंग्रहः ।
अन्नपानविधावुक्तं तत्परीक्ष्यं विशेषतः ॥ ३५० ॥

इस अन्नपान नामक अध्याय में, अन्न-पान के गुण, बारह वर्गों में कह दिये हैं । अनुपान के गुण, गुरु एवं लघु विषय का निरूपण किया है, इस विधि को विचार कर प्रयोग करना चाहिये ॥ ३४९–३५० ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने अन्नपानविधिर्नाम
सप्तविंशतितमोऽध्यायः ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

अथातो विविधाशितपीतीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब से 'विविधाशित-पीतीय' अध्याय का व्याख्यान करेंगे । जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १–२ ॥

विविधमशित-पीत-लीढ-खादितं जन्तोर्हितमन्तरग्निसन्धुक्षितबलेन यथास्वेनोष्मणा सम्यग्विपच्यमानं कालवदनवस्थितसर्वधातुपाकमनुपहतसर्वधातूष्ममारुतस्रोतः केवलं शरीरमुपचय-बल-वर्ण-सुखायुषा योजयति, शरीरधातूनूर्जयति, । धातवो हि धात्वाहाराः प्रकृतिमनुवर्तन्ते ॥ ३ ॥

मनुष्य का खाया, पीया, चाटा या चबाकर खाये से खाया भोजन, नाना प्रकार का हितकारी पदार्थ, जाठराग्नि के प्रदीप्त बल के कारण, तथा पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पांच महाभूतों की अपनी-अपनी गरमी से (पृथ्वी आदि के गुण वाले) आहार द्रव्यों का पाचन होता है। इस प्रकार से पचा हुआ अन्न काल की भांति नित्य निरन्तर गति करता हुआ, सब धातुओं के निरन्तर पाक होने से जिस शरीर में क्षीणता उत्पन्न होरही है उस शरीर को तथा जिस शरीर में सब धातुओं की गरमी बनी हुई है, और वायुवह स्रोत जिस शरीर में उपस्थित हैं, ऐसे सम्पूर्ण शरीर को वृद्धि करने के साथ साथ बल, वर्ण, सुख और आयु देता है, तथा शरीर के धातुओं को तेज प्रदान करता है। धातु ही जिनका भोजन है ऐसे रसादि धातु नित्य प्रति क्षीण होते हुए खाये हुए भोजन रूपी धातु को खाकर स्वस्थ अवस्था में रहते हैं॥ ३॥

तत्राऽऽहारप्रसादाख्यो रसः किट्टं च मलाख्यमभिनिर्वर्तते; किट्टात् स्वेद-मूत्र-पुरीष-वात-पित्त-श्लेष्माणः कर्णाक्षि-नासिकास्य-लोम-कूप-प्रजनन-मलाः केश-श्मश्रु-लोम-नखादयश्चावयवाःपुष्यन्ति। पुष्यन्ति त्वाहाररसात् रस-रुधिर-मांस-मेदोऽस्थि-मज्ज-शुक्रौजांसि पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि धातुप्रसादसंज्ञकानि शरीर-सन्धि-बन्ध-पिच्छादयश्चावयवाः ते सर्व एव धातवो मलाख्याः प्रसादाख्याश्च रसमलाभ्यां पुष्यन्तः स्वं मानमनुवर्तन्ते यथावयः शरीरम्। एवं रसमलौ स्वप्रमाणावस्थितौ आश्रयस्य सम धातोर्धातुसाम्यमनुवर्तयतः; निमित्ततस्तु क्षीणवृद्धानां प्रसादाख्यानां धातूनां वृद्धिक्षयाभ्यामाहारमूलाभ्यां रसः साम्यमुत्पादयत्यारोग्याय, किट्टं च मलानामेवमेव। स्वमानातिरिक्ताः पुनरुत्सर्गिणः शीतोष्णपर्ययगुणैश्चोपचर्यमाणा मलाः शरीरधातुसाम्यकराः समुपलभ्यन्ते। तेषां तु मलप्रसादाख्यानां धातूनां स्रोतांस्ययनमुखानि; तानि यथाविभागेन यथास्वं धातूनापूरयन्ति। एवमिदं शरीरमशित-पीत-लीढ-खादित-प्रभवम्, अशित-पीत-लीढ-खादित-प्रभवाश्चास्मिन् शरीरे व्याधयो भवन्ति; हिताहितोपयोगविशेषास्त्वत्र शुभाशुभविशेषकरा भवन्तीति॥ ४॥

इस आहार से तीन वस्तुएं बनती हैं एक प्रसाद रूपी रस, २. किट्ट, आहार भाग और ३. मल। इनमें किट्ट भाग से पसीना, मूत्र, मल, वायु, पित्त, कफ और कान, आंख, नाक, मुख, लोम, कूप और लिङ्ग के मल उत्पन्न होते हैं। तथा केश, दाढ़ी, मूंछ, रोम (शरीर के बाल) और नख आदि अव-

सब पुष्ट होते हैं। आहार के प्रसाद रूपी रसभाग से, रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र, ओज तथा पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश (ये पंच महाभूत तो इन्द्रियों को बनाने वाले हैं) अत्यन्त शुद्ध रूप में स्थित धातु, शरीर को बांधने वाली स्नायु, शिरा आदि, सन्धियां, आर्त्तव और दूध बनाते हैं। ये सब मल नामक धातु या प्रसाद रूप धातु रस और मल द्वारा पुष्ट होते हुए आयु के अनुसार अपने परिणाम में बनते हैं (अथवा कृश, स्थूल, छोटे, बड़े में अपने परिणाम से बनते हैं)। *

* आहार के रसादि धातु में बदलने के विषय में एक पक्ष यह है कि रस, रक्त धातु में बदलता है और रक्त, मांस में, इस प्रकार आगे परिवर्त्तन होता जाता है। जिस प्रकार दही जमते हुए सम्पूर्ण दूध दही रूप में बदलता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण रस रक्त रूप में बदल जाता है और रक्त मांस में इसी प्रकार आगे। दूसरे आचार्य इस परिवर्तन को 'केदार-कुल्यान्याय' से मानते हैं। अर्थात् खेत में बहती पानी की धार में से प्रत्येक क्यारी अपना २ पानी ले लेती है इसी प्रकार यहां पर भी अन्न से उत्पन्न रस, रस धातु में जाकर कुछ भाग से रस बन जाता है और शेष रस भाग रक्त में जाकर रक्त के गन्ध, वर्ण से मिल कर रक्त बन जाता है और शेष रस भाग आगे मांस धातु में पहुंचता है, वहां मांस के गन्ध-वर्ण में मिलकर मांस बन जाता है, और इससे अवशिष्ट रस भाग मेद में चला जाता है, वहां भी पूर्व की भाँति क्रिया होती है। इसी प्रकार आगे २ चलता जाता है। तीसरे पक्ष वाले कहते हैं कि—अन्न रस पृथक् २ धातुमार्ग में जाकर रसादि धातुओं का पोषण करता है, यह नहीं कि इस धातु को पोषण करने वाला ही रक्त धातु में जाता है। रस आदि को पोषण करने वाले स्रोत उत्तरोत्तर सूक्ष्म मुख वाले और लम्बे हैं। इस प्रकार से रस को पोषण करने वाला भाग रसमार्ग में गमन करके रस का पोषण करता है, एवं रस का पोषण करने के पीछे रक्त पोषक मार्ग में जाने से रक्त का पोषण करता है, इस प्रकार रक्त का पोषण करने के पीछे मांस को पोषण करने वाला रस भाग दूर एवं सूक्ष्म मार्ग में गमन करने से मांस का पोषण करता है। इसी प्रकार आगे मेद आदि का पोषण हो जाता है। इस पक्ष में दूध आदि वृष्य वस्तुओं से उत्पन्न रस प्रभाव से शीघ्र ही शुक्र से मिलकर शुक्र का पोषण कर देता है, इसी प्रकार दुष्टावस्था में भी एक दोष के दुष्ट होने से अन्य धातु दुष्ट नहीं होते, परन्तु परिमाण पक्ष में रस-धातु के दुष्ट होने से रक्त आदि धातु भी दूषित हो जाते हैं, इसके अतिरिक्त परिणाम पक्ष में तीन चार उपवास से शरीर की मृत्यु होनी चाहिये और एक मास के वृष्यसेवन से तो सम्पूर्ण

इस प्रकार से शरीर के अपने स्वरूप में (न अधिक और न कम परिमाण में) स्थित होने पर धातु-साम्यावस्था में रहते हैं। प्रसाद रूप धातुओं का क्षय या वृद्धि जो निमित्त को लेकर होती है, वह आहार के कारण ही होती है, इस-लिये आहार द्वारा वृद्धि और क्षय का सात्म्य उत्पन्न होकर आरोग्यता उत्पन्न होती है इसी प्रकार किट्ट और मल भी शरीर के आरोग्य सम्पादन में सहायक होते हैं। अपने परिमाण से अधिक बढ़े हुए किट्ट और मल को बाहर निकाल कर तथा शीत से उत्पन्न मल में उष्ण, उष्ण से उत्पन्न मल में शीत परिचर्या से मल शरीर के धातुओं को समानावस्था में रखते हैं। इन मल अर्थात् प्रसाद नामक धातुओं के स्रोत गमन करने के मार्ग हैं और ये स्रोत जो जो जिन जिनके हैं उन उन धातुओं को पूर्ण करते हैं। इस प्रकार से यह सम्पूर्ण शरीर खाये, पिये, चाटे, चाले आहार रूपी रस से पूर्ण होता है। और रोग भी इस शरीर में खाये, पिये, चाटे आदि भोजन से उत्पन्न होते हैं। इसमें हित वस्तुओं का उपयोग शुभकारी और अहित वस्तुओं का उपयोग अशुभकारी होता है ॥ ४ ॥

एवं वादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—दृश्यन्ते हि भगवन्! हितसमाख्यातमप्याहारमुपयुञ्जाना व्याधिमन्तश्चागदाश्च, तथैवाहित-समाख्यातम्, एवं दृष्टे कथं हिताहितोपयोगविशेषात्मकं शुभाशु-भविशेषमुपलभामह इति ॥ ५ ॥

तमुवाच भगवानात्रेयः—न हिताहारोपयोगिनामग्निवेश! तन्निमित्त-व्याधयो जायन्ते, न च केवलं हिताहारोपयोगादेव सर्वं व्याधिभयमति-क्रान्तं भवति, सन्ति हि ऋतेऽप्यहिताहारोपयोगादन्या रोगप्रकृतयः, तद्यथा—कालविपर्ययः, प्रज्ञापराधः, परिणामश्च, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाश्चासात्म्या इति. ताश्च रोगप्रकृतयो रसान् सम्यगु-पयुञ्जानमपि पुरुषमशुभेनोपपादयन्ति, तस्माद्धिताहारोपयोगिनोऽपि दृश्यन्ते व्याधिमन्तः। अहिताहारोपयोगिनां पुनः कारणतो न सद्यो दोषवान् भवत्यपचारः, न हि सर्वाण्यपथ्यानि तुल्यदोषाणि, न च सर्वे दोषास्तुल्यबलाः, न च सर्वाणि शरीराणि व्याधिक्षमित्वे समर्थानि भवन्ति, तदेव ह्यपथ्यं देश-काल-संयोग-वीर्य-प्रमाणातियोगाद् भूय-

---

शरीर शुक्रमय ही होना चाहिये और 'केदारकुल्या न्याय, वाला पक्ष तीसरे पक्ष के समान ही है। इसमें भी वृष्य वस्तुएं प्रभाव से शीघ्र शुक्र को उत्पन्न कर देती हैं।

स्तरकष्टं संपद्यते, स एव दोषः संसृष्टयोनिर्विरुद्धोपक्रमो गम्भीरानुगतश्चिरस्थितः प्राणायतनसमुत्थो मर्मोपघाती वा भूयान् कष्टतमः क्षिप्रकारितमश्च संपद्यते, शरीराणि चातिस्थूलान्यतिकृशान्यनिविष्टमांसशोणितास्थीनि दुर्बलान्यसात्म्याहारोपचितान्यल्पाहाराण्यल्पसत्त्वानि वा भवन्त्यव्याधिसहानि, विपरीतानि पुनर्व्याधिसहानि, एभ्यश्चैवापथ्याहार-दोष-शरीर-विशेषेभ्यो व्याधयो मृदवो दारुणाः क्षिप्रसमुत्थाश्चिरकारिणश्च भवन्ति। अत एव च वात-पित्त-श्लेष्माणः स्थानविशेषे प्रकुपिता व्याधिविशेषानभिनिर्वर्तयन्त्यग्निवेश ! ॥ ६ ॥

इस प्रकार से कहते हुए आत्रेय ऋषि को अग्निवेश बोले—'हे भगवान्। संसार में देखने में आता है, कि जो मनुष्य हितकारी आहार का उपभोग करते हैं, वे रोगी दिखाई देते हैं और अहितकारी भोजन करने वाले भी नीरोग दीखते हैं।

अग्निवेश को भगवान् आत्रेय ने कहा—हे अग्निवेश ! जो मनुष्य हितकारी अन्न खाते हैं उनको इनके कारण से उत्पन्न होने वाले रोग नहीं होते और न केवल हित आहार का उपसेवन ही सब रोगों से बचा सकता। अहित आहार को छोड़कर कुछ दूसरी भी रोग की प्रकृति है। यथा काल विपर्य्यय (ऋतुओं का परिवर्तन), प्रज्ञापराध और परिणाम, शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का असात्म्य (अतियोग, मिथ्यायोग, या अयोग) होना। ये रोग के कारण आहार रसों का सम्यक् प्रकार से उपयोग करने पर भी पुरुष में अशुभ लक्षण उत्पन्न कर देते हैं। इसलिये हितकारी आहार को सेवन करने वाले भी रोगी दिखाई देते हैं। इसी प्रकार जो व्यक्ति अहित आहार का उपसेवन करते हैं, उनमें रोगों के ये कारण जल्दी दोषयुक्त नहीं होते। क्योंकि सम्पूर्ण अपथ्य समान दोषकारक नहीं हैं और सब दोष समान बल वाले भी नहीं हैं और सारे शरीर रोग को सहन करने में समर्थ नहीं होते। इसलिये अपथ्य देश चावल पित्तकारक हैं, यही आनूप देश के योग से अधिक अपथ्य कारक हो जाता है, काल (शरत्काल में अपथ्य बलवान् और हेमन्त में निर्बल), संयोग दही राब के साथ बलवान् और शहद केसाथ निर्बल), वीर्य (संस्कार या उष्ण करने से अपथ्यतम और शीत से अपथ्य), प्रमाण अर्थात् मात्रा के अतियोग से अपथ्यतम और हीन बल से निर्बल बन जाते हैं। इसी प्रकार बहुत से कारणों के मिलने से, विरुद्ध चिकित्सा होने से गम्भीर[1] आशयों में, शरीर के बहुत अन्तर प्रवेश कर जाने से

१. त्वङ्मांसाश्रयमुत्तानं गम्भीरं त्वन्तराश्रयम्।

तथा शरीर में चिरकाल से जड़पकड़ जाने पर, शंख आदि दस प्राणायतनों में स्थित होने से, मर्मस्थानों को पीड़ित करने से बहुत दुःख देने के कारण असाध्य होने से, शीघ्र विकार उत्पन्न करने से अवश्य बलवान् बन जाता है। इसी प्रकार बहुत मोटा, बहुत कृश, जिनके मांस, रक्त, अस्थि, ढीले, निर्बल हो गये हों जो विषम शरीर वाले हैं, जो असात्म्य आहार को सेवन करने वाले, थोड़ा खाने वाले, अल्प सत्व वाले शरीर रोगों को सहन नहीं कर सकते। इनके विपरीत गुणों वाले शरीर व्याधि को सहन कर सकते हैं। इसलिये अपथ्य आहार, दोष शरीर की विशेषता से रोग मृदु, दारुण, शीघ्र होने वाले, अथवा देर में होने वाले होते हैं। इसलिये हे अग्निवेश! वात, पित्त, कफ विशेष स्थानों में कुपित होकर भिन्न-भिन्न प्रकार के रोगों को उत्पन्न करते हैं ॥ ५-६ ॥

तत्र रसादिषु स्थानेषु प्रकुपितानां दोषाणां यस्मिन् यस्मिन् स्थाने ये ये व्याधयः संभवन्ति तांस्तान् यथावदनुव्याख्यास्यामः ॥ ७ ॥

अश्रद्धा चारुचिश्चास्य वैरस्यमरसज्ञता ।
हृल्लासो गौरवं तन्द्रा साङ्गमर्दो ज्वरस्तमः ॥ ८ ॥
पाण्डुत्वं स्रोतसां रोधः क्लैब्यं सादः कृशाङ्गता ।
नाशोऽग्नेरयथाकालं वलयः पलितानि च ॥ ९ ॥
रसप्रदोषजा रोगा, वक्ष्यन्ते रक्तदोषजाः ।
कुष्ठ-वीसर्प-पिडका रक्तपित्तमसृग्दरः ॥ १० ॥
गुदमेढ्रास्यपाकश्च प्लीहा गुल्मोऽथ विद्रधी ।
नीलिका कामला व्यङ्गं विप्लवस्तिलकालकाः ॥ ११ ॥
दद्रुश्चर्मदलं श्वित्रं पामा कोठास्रमण्डलम् ।
रक्तप्रदोषाज्जायन्ते, शृणु मांसप्रदोषजान् ॥ १२ ॥
अधिमांसार्बुदं कील-गल-शालूक-शुण्डिकाः ।
पूतिमांसालजी-गण्ड-गण्डमालोपजिह्विकाः ॥ १३ ॥
विद्यान्मांसाश्रयान्, मेदःसंश्रयांस्तु प्रचक्ष्महे ।
निन्दितानि प्रमेहाणां पूर्वरूपाणि यानि च ॥ १४ ॥
अध्यस्थि-दन्त-दन्तास्थि-भेदशूलं विवर्णता ।
केश-लोम-नख-श्मश्रु-दोषाश्चास्थिप्रकोपजाः ॥ १५ ॥
रुक् पर्वणां भ्रमो मूर्च्छा दर्शनं तमसो मताः ।
अरुषां स्थूलमूलानां पर्वजानां च दर्शनम् ॥ १६ ॥
मज्जप्रदोषाच्छुक्रस्य दोषात्क्लैब्यमहर्षणम् ।

रोगिणं वा क्लीबमल्पायुर्विरूपं वा प्रजायते ॥ १७ ॥
न वा संजायते गर्भः पतति प्रस्रवत्यपि ।
शुक्रं हि दुष्टं सापत्यं सदारं बाधते नरम् ॥ १८ ॥

इनमें रस आदि स्थानों में कुपित वात आदि दोष, जिस जिस स्थान पर जो जो रोग उत्पन्न करते हैं उन उन रोगों को कहते हैं—अश्रद्धा, भोजन में श्रद्धा न होना, अरुचि (भोजन में अरुचि, अनिच्छा), भारीपन, तन्द्रा, शरीर में पीड़ा, ज्वर, तम, अन्धकार, पाण्डु वर्ण स्रोतों का अवरोध, नपुंसकता, साद (शिथिलता) शरीर की निर्बलता, अग्नि (जाठराग्नि) का नाश, बिना समय के झुर्रियां और बालों का श्वेत होना ये रसजन्य रोग हैं ।

रक्तजन्य रोग कहते हैं—कुष्ठ, वीसर्प, पिडकायें, रक्तपित्त, रक्तप्रदर, गुदपाक, शिश्न का पकना, प्लीहा, गुल्म, विद्रधि नीलिका, व्यंग (झाईं), कामला, विप्लव, तिल के आकार के मस्से, दाद, चर्मदल श्वित्र, पामा, कोठ, रक्तमण्डल (लाल लाल चकत्ते) ये रक्तजन्य रोग हैं ।

मांसजन्य रोग कहते हैं—अधिमांस, अर्बुद, कील, गलशालूक, (गले में शोथ होने से बढ़ा हुआ मांस) गलशुण्डिका, पूतिमांस, अलजी, गलगण्ड, गण्डमाला, उपजिह्विका, ये मांसजन्य रोग हैं ।

मेदजन्य रोग—कहते हैं प्रमेह के निन्दित पूर्वरूप (बालों की जटिलता, आदि अथवा अति स्थूल पुरुष के आयु ह्रास आदि आठ रूप) ये रोग हैं अथवा अतिस्थूलता से उत्पन्न आयु का ह्रास आदि रोग मेद जन्य है ।

अस्थि के नीचे दूसरी अस्थि आना, अधिदन्त, दन्तभेद, दांत दुखना, अस्थियों में शूल, केश, रोम, नख और दाढ़ी मूंछ के रंग का परिवर्तन होना ये अस्थिजन्य रोग हैं । जोड़ों में दर्द, चक्कर, आना, मूर्छा, आँखों के सामने अंधेरा आना, व्रण, शिर में छोटी-छोटी फुन्सियां छोटे-छोटे जोड़ों में गांठें पड़ जाना ये मज्जाजन्य रोग हैं ।

शुक्र के दोष से नपुंसकता, अहर्षण (ध्वज के खड़े होने पर भी मैथुन में अशक्ति), संतान रोगी, नपुंसक या थोड़ी आयु वाली, विरूप, उत्पन्न हो, अथवा गर्भ नहीं रहता, रहने पर गिर जाता है या तीन मास से पूर्व ही बह जाता है । दूषित शुक्र, बच्चे और स्त्री दोनों को तकलीफ देता है ॥ १७-१८ ॥

इन्द्रियाणि समाश्रित्य प्रकुप्यन्ति यदा मलाः ।
उपघातोपतापाभ्यां योजयन्तीन्द्रियाणि ते ॥ १९ ॥
स्नायौ शिराकण्डरयोर्दुष्टाः क्लिश्यन्ति मानवम् ।

स्तम्भ-सङ्कोच-खल्लीभिर्ग्रन्थि-स्फुरण-सुप्तिभिः ॥ २० ॥
मलानाश्रित्य कुपिता भेद-शोष-प्रदूषणम् ।
दोषा मलानां कुर्वन्ति सङ्गोत्सर्गावतीव च ॥ २१ ॥
विविधादशितात्पीतादहिताल्लीढखादितात् ।
भवन्त्येते मनुष्याणां विकारा य उदाहृताः ॥ २२ ॥
तेषामिच्छन्ननुत्पत्तिं सेवेत मतिमान् सदा ।
हितान्येवाशितादीनि न स्युस्तज्जास्तथाऽऽमयाः ॥ २३ ॥

जिस समय अपथ्य आहार के कारण मल कुपित होकर इन्द्रियों में स्थित होते हैं, उस समय ये मल इन्द्रियों का नाश या इन्द्रियों को पीड़ित करने लगते हैं। ये मल वायु, शिरा, कण्डराओं में कुपित होकर मनुष्य को बहुत कष्ट पहुंचाते हैं। इससे स्तम्भ, जड़ता, संकोच सिकुड़ना, खल्ली हाथ पांव का मुड़ जाना, ग्रन्थि (स्नायु आदि में गांठ), स्फुरण, वमन, और संज्ञानाश उत्पन्न होता है। जिस समय वात आदि दोष मलों का आश्रय लेकर कुपित होते हैं, उस समय मल का भेद (अतिसार) तथा मलों को सुखाना अथवा मलों के रंग को विकृत करना या मलों का अवरोध अथवा अतिप्रवृत्ति उत्पन्न कर देते हैं। जो रोग यहां पर लिखे हैं, वे नाना प्रकार के खान, पान, चाटन, खाद्य रूप आहार द्वारा मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं। ये रोग उत्पन्न न हों, इस इच्छा से मनुष्य सदा हितकारक आहार का सेवन करे, जिससे कि आहारजन्य रोग न होवें ॥ १६–२३ ॥

रसजानां विकाराणां सर्वं लङ्घनमौषधम् ।
विधिशोणितकेऽध्याये रक्तजानां भिषग्जितम् ॥ २४ ॥
मांसजानां तु संशुद्धिः शस्त्रक्षाराग्निकर्म च ।
अष्टौनिन्दितकेऽध्याये मेदोजानां चिकित्सितम् ॥ २५ ॥
अस्थ्याश्रयाणां व्याधीनां पञ्चकर्माणि भेषजम् ।
बस्तयः क्षीरसर्पींषि तिक्तकोपहितानि च ॥ २६ ॥
मज्ज-शुक्र-समुत्थानामौषधं स्वादुतिक्तकम् ।
अन्नं व्यवायव्यायामौ शुद्धिः काले च मात्रया ॥ २७ ॥
शान्तिरिन्द्रियजानां तु त्रिमर्मीये प्रवक्ष्यते ।
स्नाय्वादिजानां प्रशमो वक्ष्यते वातरोगिके ॥ २८ ॥
न वेगान्धारणेऽध्याये चिकित्सासंग्रहः कृतः ।
मलजानां विकाराणां सिद्धिश्चोक्ता क्वचित्क्वचित् ॥ २९ ॥

रसजन्य सब विकारों की चिकित्सा लंघन अर्थात् उपवास है। रक्तजन्य रोगों की चिकित्सा विधिशोणित अध्याय में कहेंगे। मांसजन्य रोगों की चिकित्सा शस्त्र, क्षार और अग्नि कर्म से होती है। मेदजन्य रोगों की चिकित्सा 'अष्टौनिन्दित' अध्याय में कह दी है। अस्थियों में आश्रित रोगों की चिकित्सा पंचकर्म, एवं तिक्त वस्तुओं से तथा दूध एवं घृत से सिद्ध बस्तियां (विशेष) चिकित्सा हैं। मज्जा और शुक्र से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा स्वादु, तिक्त अन्न, व्यवाय, (स्त्री-संग) व्यायाम और समय पर मात्रानुसार वमन आदि से शुद्धि है। इन्द्रियजन्य रोगों की चिकित्सा 'त्रिमर्मीय' अध्याय में कहेंगे। स्नायु आदि से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा वातरोगाधिकार में कहेंगे। मलजन्य रोगों की चिकित्सा 'न वेगान्धारणीय' अध्याय में कह दी और कहीं २ (अतिसार, ग्रहणी आदि में) आगे भी कहेंगे ॥ २४–२६ ॥

व्यायामादूष्मणस्तैक्ष्ण्याद्धितस्यानवचारणात् ।
कोष्ठाच्छाखां मला यान्ति द्रुतत्वान्मारुतस्य च ॥ ३० ॥
तत्रस्थाश्च विलम्बन्ते कदाचिन्न समीरिताः ।
नादेशकाले कुप्यन्ति भूयो हेतुप्रतीक्षिणः ॥ ३१ ॥

निम्न कारणों से दोष शाखाओं में पहुंच जाते हैं, यथा व्यायाम से उत्पन्न क्षोभ से कोष्ठ को छोड़कर मल शाखा में आजाते हैं। अग्नि के तीक्ष्ण होने से पिघले हुए दोष शाखा में आ जाते हैं। हितकारी वस्तु के अति सेवन से बहुत बढ़े हुए दोष पानी के पूर की भांति अपने स्थान पर भरकर दूसरे स्थान पर पहुंच जाते हैं। वायु के गतिशील होने से वायु द्वारा दूसरे स्थान पर पहुँच जाते हैं। वहां शाखा आदि में पहुंचकर रोग उत्पन्न करने में विलम्ब करते हैं। क्योंकि निर्बल दोष किसी प्रबल दोष की प्रेरणा के विना कुपित नहीं हो सकते। इसलिये उचितस्थान पर और उचित काल में ही कुपित होते हैं। वे निर्बल दोष और कारण की प्रतीक्षा करते रहते हैं। बलवान् दोष दूसरे प्रेरक कारण की बाट नहीं देखते। शाखाओं से दोष कोष्ठ में किस प्रकार जाते हैं यह कहते हैं ॥ ३०–३१ ॥

वृद्ध्याभिष्यन्दनात् पाकात्स्रोतोमुखविशोधनात् ।
शाखां मुक्त्वा मलाः कोष्ठं यान्ति वायोश्च निग्रहात् ॥ ३२ ॥

दोषों के बढ़ने से, (अभिष्यन्द से बढ़यन से सरल, होने से) दोष के पकने से, स्रोतों के मुख खुल जाने से अवरोध हटने से; तथा फेंकने वाली वायु के रुक जाने से वे स्थित दोष कोष्ठ में आजाते हैं ॥ ३२ ॥

अजातानामनुत्पत्तौ जातानां विनिवृत्तये ।
रोगाणां यो विधिर्दृष्टः सुखार्थी तं समाचरेत् ॥ ३३ ॥
सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः ।
ज्ञानाज्ञानविशेषात्तु मार्गामार्गप्रवृत्तयः ॥ ३४ ॥
हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः ।
रजोमोहावृतात्मानः प्रियमेव तु लौकिकाः ॥ ३५ ॥
श्रुतं बुद्धिः स्मृतिर्दार्ढ्यं धृतिर्हितनिषेवणम् ।
वाग्विशुद्धिः शमो धैर्यमाश्रयन्ति परीक्षकम् ॥ ३६ ॥
लौकिकं नाश्रयन्त्येते गुणा मोहरजःश्रितम् ।
तन्मूला बहुलाश्चैव रोगाः शारीरमानसाः ॥ ३७ ॥

संक्षेप से सुख की इच्छा रखने वाले पुरुष को चाहिये कि रोगों को उत्पन्न न होने देने की जो विधि कही है, तथा उत्पन्न हुए रोगों को हटाने की जो विधि कही है, उसका आचरण, सेवन करें। क्योंकि सब प्राणियों की सब प्रवृत्तियां सुख प्राप्त करने की इच्छा से ही होती हैं। ज्ञान और अज्ञान के भेद से ही मनुष्य मार्ग या अमार्ग का अनुसरण करने लगता है। परीक्षक विद्वान् परीक्षा करके हितकारी वस्तुओं का सेवन करते हैं, रजो गुण और मोह में फंसे साधारण-जन प्रिय पदार्थ ही चाहते हैं। श्रुत, बुद्धि, स्मृति दृढ़ता हितकारी वस्तुओं का सेवन, वाणी की शुद्धि, शम, और धैर्य्य, ये गुण विवेकी पुरुष में होते हैं। परन्तु मोह और रज से युक्त होने के कारण लौकिक, अविवेकी पुरुष में ये गुण नहीं होते। इसलिये इनको शारीरिक और मानसिक बहुत प्रकार के रोग होते हैं ॥ ३३–३७ ॥

प्रज्ञापराधाद्ध्यहितानर्थान् पञ्च निषेवते ।
संधारयति वेगांश्च सेवते साहसानि च ॥ ३८ ॥
तदात्वसुखसंज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते ।
रज्यते न तु विज्ञाता विज्ञाने ह्यमलीकृते ॥ ३९ ॥
न रागान्नाप्यविज्ञानादाहारमुपयोजयेत् ।
परीक्ष्य हितमश्नीयाद्देहो ह्याहारसंभवः ॥ ४० ॥
आहारस्य विधावष्टौ विशेषा हेतुसंज्ञकाः ।
शुभाशुभसमुत्पत्तौ तान् परीक्ष्योपयोजयेत् ॥ ४१ ॥
परिहार्याण्यपथ्यानि सदा परिहरन्नरः ।
भवत्यनृणतां प्राप्तः साधूनामिह पण्डितः ॥ ४२ ॥

यस्तु रोगसमुत्थानमशक्यमिह केनचित् ।
परिहर्तुं, न तत्प्राप्य शोचितव्यं मनीषिणा ॥ ४३ ॥

अज्ञानी मनुष्य बुद्धि के दोष से पञ्चेन्द्रियों के अहित शब्द, स्पर्शादि विषयों का सेवन करता है, मल मूत्रादि के वेगों को रोकता है, साहस के कामों को करता है, प्रारम्भ में सुखदायक और परिणाम में दुःखदायक कर्मों को करता है, इसलिये दुःख उठाता है । परन्तु ज्ञानी पुरुष ज्ञान द्वारा बुद्धि के स्वच्छ होने से इन कामों में नहीं फंसता, अतः सुखी रहता है । राग अर्थात् आसक्ति से (जानते हुए भी भोजन अहितकर है, फिर भी लालच से) या अज्ञान से भोजन को नहीं खाना चाहिये, परीक्षा करके ज्ञानपूर्वक हितकारी अन्न को ही खाना चाहिये । क्योंकि शरीर आहार से उत्पन्न होता है । भोजन की शुभ-अशुभ परीक्षा के लिये आठ प्रकार की परीक्षा है । ये आठ परीक्षायें विमान स्थान अध्याय १ में प्रकृति-करण, संयोग आदि से कही हैं । भोजन की इन आठ विशेषताओं से परीक्षा करके भोजन करना चाहिये । जिन अपथ्यों से मनुष्य बच सकता हो उनसे बचने का सदा यत्न करना चाहिये, इस प्रकार करने से पुरुष अपराधरहित होता है और साधु पुरुषों में बुद्धिमान् गिना जाता है । क्योंकि प्रारब्ध से उत्पन्न व्याधि को साधु पुरुष बुरा नहीं मानते । जो रोग प्रारब्ध के बलवान् होने से उत्पन्न होता है वह यदि चिकित्सा कार्य के लिये असाध्य भी हो तो भी बुद्धिमान् मनुष्य को शोक, चिन्ता नहीं करनी चाहिये ॥ ३८-४३ ॥

तत्र श्लोकाः—आहारसंभवं वस्तु रोगाश्चाऽऽहारसंभवाः ।
हिताहितविशेषाश्च विशेषः सुखदुःखयोः ॥ ४४ ॥
सहत्वे चासहत्वे च दुःखानां देहसत्त्वयोः ।
विशेषो रोगसङ्घाश्च धातुजा ये पृथक् पृथक् ॥ ४५ ॥
तेषां चैव प्रशमनं कोष्ठाच्छाखा उपेत्य च ।
दोषा यथा प्रकुप्यन्ति शाखाभ्यः कोष्ठमेव च ॥ ४६ ॥
प्राज्ञाज्ञयोर्विशेषश्च स्वस्थातुरहितं च यत् ।
विविधाशितपीतीये तत्सर्वं संप्रकाशितम् ॥ ४७ ॥

यह शरीर आहार से उत्पन्न होता है, रोग भी आहार से उत्पन्न होते हैं । हित और अहित की विशेषता ही सुख दुःख में कारण है । दुःखों के सहन करने या न सहन कर सकने में देह, सत्त्व आदि विशेषतायें धातुजन्य पृथक् २ रोग, इनकी चिकित्सा, दोष जिस प्रकार से कोष्ठ से शाखा में जाकर कुपित

होते हैं और धातुओं से जिस प्रकार कोष्ठ में आते हैं, विकार और अविकार की भिन्नता, स्वस्थ और रोगी के लिये जो कुछ हितकारी है, वह सब 'विविधाशितपीतीय' अध्याय में कह दिया ॥ ४४–४७ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थानेऽन्नपानचतुष्के
विविधाशितपीतीयो नाम अष्टाविंशोऽध्यायः समाप्तः ॥ २८ ॥
समाप्तमिदं सप्तममन्नपानचतुष्कम् ।

एकोनत्रिंशोऽध्यायः ।

अथातो दशप्राणायतनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब आगे 'प्राणायतनीय' अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १–२ ॥

दशैवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः ।
शङ्खौ मर्मत्रयं कण्ठो रक्तं शुक्रौजसी गुदम् ॥ ३ ॥
तानीन्द्रियाणि विज्ञानं चेतनाहेतुमामयम् ।
जानीते यः स वै विद्वान् प्राणाभिसर उच्यते ॥ ४ ॥ इति ॥

प्राण जिन स्थानों पर आश्रित हैं वे दस स्थान हैं । यथा (१–२) शंख-प्रदेश (कनपटी) दो, (३–५) तीन मर्म-हृदय, वस्ति और शिर, (६) कण्ठ, (७) रक्त, (८) शुक्र, (९) ओज और (१०) गुदा ये दस प्राणों के स्थान हैं ।

इन दस स्थानों को, इन्द्रियों (आध्यात्मिक), चेतनाहेतु (आत्मा) और रोगों के कारण, लक्षण और ओषधि-चिकित्सा को जो विद्वान् जानता है, वही 'प्राणाभिसर' कहलाता है ॥ ३–४ ॥

द्विविधास्तु खलु भिषजो भवन्त्यग्निवेश ! प्राणानामेकेऽभिसरा हन्तारो रोगाणां, रोगाणामेकेऽभिसरा हन्तारः प्राणानामिति ॥ ५ ॥

एवं वादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—भगवन् ! ते कथमस्माभिर्वेदितव्या भवेयुरिति ॥ ६ ॥

भगवानुवाच—य इमे कुलीनाः पर्यवदातश्रुताः परिदृष्टकर्माणो दक्षाः शुचयो जितहस्ता जितात्मानः सर्वोपकरणवन्तः सर्वेन्द्रियोपपन्नाः प्रकृतिज्ञाः प्रतिपत्तिज्ञास्ते प्राणानामभिसराः, हन्तारो रोगा-

णाम्, तथाविधा हि केवले शरीरज्ञाने शरीराभिनिर्वृत्ति-ज्ञान-
प्रकृति-विकार-ज्ञाने च निःसंशयाः सुख-साध्य-कृच्छ्र-साध्य-याप्य-प्रत्या-
ख्येयानां च रोगाणां समुत्थान-पूर्वरूप-लिङ्ग-वेदनोपशय-विशेष-विज्ञाने
व्यपगतसन्देहाः, त्रिविधस्याऽऽयुर्वेदसूत्रस्य ससंग्रह-व्याकरणस्य सत्रिवि-
धौषधग्रामस्य प्रवक्तारः, पञ्चत्रिंशतश्च मूलफलानां चतुर्णां च स्नेहानां
पञ्चानां च लवणानामष्टानां च मूत्राणामष्टानां च क्षीराणां क्षीरत्वग्वृ-
क्षाणां च षण्णां शिरोविरेचनादेश्च पञ्चकर्माश्रयस्यौषधगणस्याष्टाविंश-
तेश्च यवागूनां द्वात्रिंशच्च चूर्णप्रदेहानां षण्णां च विरेचनशतानां पञ्चानां
च कषायशतानां, स्वस्थवृत्तावपि च भोजन-पान-नियम-स्थान-चङ्क्रमण-
शय्यासन-मात्रा-द्रव्याञ्जन-धूम-नावनाभ्यञ्जन-परिमार्जन-वेगाविधारणा-
व्यायाम-सात्म्येन्द्रिय-परीक्षोपक्रम-सद्वृत्तकुशलाः; चतुष्पादोपगृहीते च
भेषजे षोडशकले सविनिश्चये सत्रिपर्येषणे सवातकलाकलज्ञाने व्यप-
गतसन्देहाः, चतुर्विधस्य च स्नेहस्य चतुर्विंशत्युपनयस्योपकल्पनी-
यस्य चतुःषष्टिपर्यन्तस्य व्यवस्थापयितारो बहुविधानामुक्तानां च स्नेह-
स्वेद्य-वम्य-विरेच्यौषधोपचाराणां च कुशलाः; शिरोरोगादेश्च दोषांशवि-
कल्पजस्य व्याधिसंग्रहस्य सक्षयपिडकाविद्रधेस्त्रयाणां च शोफानां बहु-
विधशोफानुबन्धानामष्टाचत्वारिंशतश्च रोगाधिकरणानां चत्वारिंशदुत्त-
रस्य च नानात्मजस्य व्याधिशतस्य तथा विगर्हितातिस्थूलातिकृशानां च
सहेतुलक्षणोपक्रमाणां स्वप्नस्य च हिताहितस्यास्वप्नातिस्वप्नस्य च
सहेतूपक्रमस्य षण्णां च लङ्घनादीनामुपक्रमाणां सन्तर्पणापतर्पणजानां
च रोगाणां सरूपप्रशमनानां च शोणितजानां व्याधीनां मदमूर्च्छायसं-
न्यासानां च सकारणरूपौषधोपचाराणां कुशलाः; कुशलाश्चाऽऽहारविधि-
विनिश्चयस्य प्रकृत्या च हिताहितानामाहारविकाराणामग्र्यसंग्रहस्याऽऽ-
सवानां च चतुरशीतेः द्रव्यगुणविनिश्चयस्य रसानुरससंश्रयस्य सवि-
कल्पकवैरोधिकस्य द्वादशवर्गाश्रयस्य चान्नपानस्य सगुणप्रभावस्य सानु-
पानगुणस्य नवविधस्यार्थसंग्रहस्याऽऽहारगतेश्च हिताहितोपयोगविशेषा-
त्मकस्य च शुभाशुभविशेषस्य धात्वाश्रयाणां च रोगाणामौषधसंग्रहाणां
च दशानां च प्राणायतनानां यं च वक्ष्यामोऽर्थेदशमहामूलीये त्रिंशत्तमा-
ध्याये तत्र च कृत्स्नस्य तन्त्रोद्देशलक्षणस्य तन्त्रस्य च ग्रहण-धारण-विज्ञान-
प्रयोग-कर्म-कार्य-काल-कर्तृ-करण-कुशलाकुशलाश्च स्मृति-मति-शास्त्र-युु-
क्ति-युक्ति-ज्ञानस्याऽऽत्मनः शीलगुणैरविसंवादनेन च संपादनेन सर्वप्रा-

णिषु चेतसो मैत्रस्य मातृ-पितृ-भ्रातृ-बन्धुवदेवं युक्ता[1] भवन्त्यग्निवेश ! प्राणानामभिसरा हन्तारो रोगाणामिति ॥ ७ ॥

वैद्यों के लक्षण—हे अग्निवेश ! वैद्य दो प्रकार के होते हैं। एक, 'प्राणाभिसर' प्राणों को लाने वाले और रोगों का नाश करने वाले। दूसरे 'रोगाभिसर' रोगों को लाने वाले और प्राणों का नाश करने वाले।

इस प्रकार से कहते हुए भगवान् आत्रेय को अग्निवेश बोले—हम इन दोनों प्रकार के वैद्यों को किस प्रकार से किन किन लक्षणों से जान सकते हैं।

भगवान् आत्रेय ने कहा कि जो कुलीन उत्तम कुल में उत्पन्न हुए हों, जिनकी बुद्धि व शास्त्रज्ञान निर्मल हो, जिन्होंने क्रिया-कर्म देखा हो, जो अनुभवी, चतुर, सदाचारी, अभ्यस्त हाथ वाले (शस्त्र चलाने में जिनको संशय न हो, कुशल हाथवाले) जितेन्द्रिय, सर्व सामग्री से सम्पन्न, आंख, कान आदि सब इन्द्रियों से युक्त, जो कि शरीर की नीरोगस्थिति को भली प्रकार जानते हैं, उत्तम सूझ व परिणाम को भली प्रकार जानने वाले हों वे वैद्य प्राणरक्षक एवं रोगनाशक होते हैं। इस प्रकार से वैद्य सम्पूर्ण शरीर के ज्ञान से, वीर्य और शोणित के संयोग से शरीर किस प्रकार बनता है इसको जान, शारीरस्थान में कहे सांख्यशास्त्र के अनुसार प्रकृति विकृति के ज्ञान को विना सन्देह के समझते हों, सुखसाध्य, कष्टसाध्य, याप्य वा असाध्य इन चार प्रकार के रोगों के कारण, पूर्वरूप, लक्षण, वेदना, अनुकूल, आहार-विहार भली प्रकार जानते हों, सम्पूर्ण आयुर्वेद के सूत्र रूप जो त्रिविध सूत्र हेतु, लिंग, लक्षण और औषध का ज्ञान है इसको; सामान्य और विशेष रूप से इनके संक्षेप और विस्तार को तथा तीन प्रकार की औषध दैवव्यपाश्रय और युक्तिव्यपाश्रय, सत्वावजय समूह को जाननेवाले, १६ प्रकार की मूलिनी औषधियोंको, १९ प्रकार की फलवर्ग की औषधियों को, चार प्रकार के स्नेहों, पांच प्रकार के नमक, आठ प्रकार के मूत्र, आठ प्रकार के दूध, छः प्रकार के क्षीरी-वृक्षों को, शिरोविरेचनादि पांचकर्मों के औषध समूहों को, अट्ठाइस प्रकार की यवागुओं को, ३२ प्रकार के चूर्ण या प्रदेहों को, छः सौ विरेचन, पांच सौ कषाय, मनुष्यों की प्रकृति स्वस्थ रहे इसके लिये भोजन, पान, के नियम, स्थान, चलना, फिरना, सोना, बैठना, मात्रा, द्रव्य, अंजन, धूमपान, नस्य, अभ्यंजन, स्नान, वेगों को न रोकना, व्यायाम, सात्म्य, इन्द्रियपरीक्षा-उपक्रम, सद्वृत्त में कुशल, इनके नियमों को जानने वाले, चिकित्सा के चारों पाद और

१. 'बन्धुवदेवमुक्ता' इति पाठः ॥

सोलह अंगों में सन्देहरहित, तीन प्रकार की वासना, वायु के गुण-दोष में सन्देहरहित; चार प्रकार के स्नेह, स्नेह की २४ प्रकार की विचारणा में चतुर; रस भेद के ६४ प्रकार की योग्य योजना करने में, बहुत प्रकार के स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन ओषधियों को यथायोग्य प्रयोग करने में कुशल, शिरोरोगादि रोग, वातादि दोषों की अधिकता या कमी से उत्पन्न होने वाले रोगों को; क्षय, पिडका, तीन प्रकार की विद्रधि, शोथजन्य नाना प्रकार के रोगों को, रोगों के ४८ प्रकरण, १४० प्रकार के वात, पित्त, कफ रोगों को निन्दित अतिस्थूल अतिकृश पुरुषों की हेतु, लक्षण, चिकित्सा को; हितकर अहितकर निद्रा को; अनिद्रा व अतिनिद्रा के कारण और चिकित्सा को; लंघनादि छः प्रकार की चिकित्सा को, सन्तर्पण अपतर्पण से होने वाले रोगों को, उनकी चिकित्सा को जानें,रक्तजन्य रोग, मद, मूर्छा और संन्यास के कारण, लक्षण और चिकित्सा में कुशल, आहारविधि में कुशल, स्वभावतः पथ्यापथ्य आहार व संस्कार से होने वाले परिवर्त्तन, चौरासी (८४) प्रकार के आसव, रस व अनुरसात्मक द्रव्य गुण निश्चय, विकल्प में कुशल; अन्नपान के बारह वर्ग, गुण, प्रभाव, अनुपान गुण, अन्नपानादि से, रसादि धातुओं की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, पथ्यापथ्य, आहार के हितकारी फल, वातादि दोष के प्रकुपित होने से उत्पन्न होने वाले रोग और उनकी चिकित्सा, प्राणायतनों के दस स्थान, इन सब विषयों में तथा अगले 'अर्थे दशमहामूलीय' अध्याय में जो कुछ कहेंगे, उन सब में निपुण, आयुर्वेद के उद्देश, लक्षण को जानने वाले हों, एवं आयुर्वेद शास्त्र के ग्रहण करने, ग्रहण किये हुए को धारण करने और अर्थ से जानने, प्रयोग, चिकित्सा-प्रयोग, अनेक प्रकार से चिकित्सा करने, कार्य-धातुओं के समान करने, काल, क्रिया, काल, कर्त्ता, भिषक्, करण औषध में कुशल, तथा स्मरण शक्ति, बुद्धि, शास्त्रयोजना और तर्कज्ञान में समर्थ, अपने शील, स्वभाव रूपी गुणों से सब प्राणि मात्रा में मन, आत्मा द्वारा, माता, पिता, भाई, बन्धु, आदि के समान मैत्री भाव रखने में कुशल होते हैं, स्नेह का व्यवहार करते हैं, हे अग्निवेश ! इस प्रकार के जो वैद्य होते हैं, वे 'प्राणाभिसर' अर्थात् प्राणरक्षक तथा रोगनाशक होते हैं ॥ ५–७ ॥

अतो विपर्ययेण विपरीता रोगाणामभिसरा हन्तारः प्राणानां भिषक्छद्मप्रतिच्छन्नाः कण्टकभूता लोकस्य प्रतिरूपकसधर्माणो राज्ञां प्रमादाच्चरन्ति राष्ट्राणि। तेषामिदं विशेषविज्ञानम्। अत्यर्थं वैद्यवेषेण श्लाघमाना विशिखान्तरमनुचरन्ति कर्मलोभात्, श्रुत्वा च कस्यचिदा-

तुर्यमभितः परिपतन्ति, संश्रवणे चास्याऽऽत्मनो वैद्यगुणानुच्चैर्वदन्ति, यश्चास्य वैद्यः प्रतिकर्म करोति तस्य च दोषान् मुहुर्मुहुरुदाहरन्ति, आतुरमित्राणि च प्रहर्षणोपजापोपसेवादिभिरिच्छन्त्यात्मीकर्तुं, स्वल्पेच्छतां चाऽऽत्मनः ख्यापयन्ति, कर्म चाऽऽसाद्य मुहुर्मुहुरवलोकयन्ति दाक्ष्येणाज्ञानमात्मनः प्रच्छादयितुकामाः, व्याधिं चापवर्तयितुमशक्नुवन्तो व्याधितमेवानुपकरणमपचारिकमनात्मवन्तमुद्दिशन्ति, अन्तगतं चैनमभिसमीक्ष्यान्यमाश्रयन्ति देशमपदेशमात्मनः कृत्वा, प्राकृतजनसन्निपाते चाऽऽत्मनः कौशलमकुशलवद्वर्णयन्ति, अधीरवच्च धैर्यमपवदन्ति धीराणां, विद्वज्जनसन्निपातं चाभिसमीक्ष्य प्रतिभयमिव कान्तारमध्वगाः परिहरन्ति दूरात्, यश्चैषां कश्चित्सूत्रावयवो भवत्युपयुक्तस्तमप्रकृते प्रकृतान्तरे वा सततमुदाहरन्ति, न चानुयोगमिच्छन्त्यनुयोक्तुं वा, मृत्योरिव चानुयोगादुद्विजन्ते, न चैषामाचार्यः शिष्यो वा सब्रह्मचारी वैवादिको वा कश्चित्प्रज्ञायत इति ॥ ८ ॥

इनसे विपरीत गुण वाले वैद्य 'रोगाभिसर' अर्थात् रोगों को लानेवाले और प्राणों का नाश करने वाले होते हैं। ये वैद्य वैद्य के वेष में लोक में कांटे के समान दुःखदायी, बिगाड़ करने वाले, द्रोह करने वाले, धर्म का त्याग करके, राजाओं के आलस्य से ही राष्ट्र में विचरते हैं। इन वैद्यों के विशेष लक्षण ये हैं—ये वैद्य के समान वस्त्र धारण करके अपनी प्रशंसा करते हुए रोगी के घर में गली में चिकित्सा कर्म के लोभ से जाते हैं, किसी को रोगी सुनकर उसको चारों ओर से घेर बैठते हैं, और अपने गुणानुवादों को ऊंचे २ सुनाने लगते हैं। जो पहले वैद्य चिकित्सा कर रहा है, उसके दोषों को बार २ कहते हैं। रोगी के मित्रों को खुश करके, चापलूसी, चुगली से, सेवा आदि द्वारा अपना बनाना चाहते हैं। और अपनी इच्छा को थोड़ा बतलाते हैं। चिकित्सा कार्य मिलने पर बार २ इधर उधर देखते हैं। चालाकी से अपने अज्ञान को छिपाने की चेष्टा करते हुए, रोग को अच्छा करने में अशक्त होने पर रोगी को ही उलाहना देने लगते हैं, तुम्हारे पास साधन नहीं, सेवक नहीं, पथ्य नहीं रखते। मरता हुआ देखकर बहाना करके दूसरे देश में चले जाते हैं। भोले भाले आदमी को देखकर अपनी कुशलता को मूर्ख पुरुष की भांति विरुद्ध वचनों द्वारा प्रकट करते हैं। धीर पुरुषों के सामने अधीर की भांति जोर २ से अपना धैर्य कहने लगते हैं। विद्वान् मनुष्यों को देखकर दुम दबाकर ऐसे भाग जाते हैं, जिस प्रकार कि भयंकर भय की आशंका से जंगल के रास्ते को

दूर से ही छोड़ देते हैं। इन लोगों को जो ज़रासा भी आयुर्वेद चिकित्सा का सूत्र मिल जाता है, तो उसीको बेसमय या विना मतलब के (प्रसंग के विना ही) बार २ बोलने लगते हैं। ये न तो स्वयं किसी से कुछ पूछते हैं और न यह चाहते हैं कि कोई हमसे पूछे। वे प्रश्न के पूछने से मृत्यु से जैसे डर कर भागते हैं। न तो कोई इनका आचार्य, न कोई शिष्य और न कोई सहाध्यायी होता है ॥ ८ ॥

भिषक्छद्म प्रविश्यैव व्याधितांस्तर्कयन्ति ते।
वीतंसमिव संश्रित्य वने शाकुन्तिको द्विजान् ॥ ९ ॥
श्रुत-दृष्टि-क्रिया-काल-मात्रा-ज्ञान-बहिष्कृताः।
वर्जनीया हि ते मृत्योश्चरन्त्यनुचरा भुवि ॥ १० ॥
वृत्तिहेतोर्भिषङ्मानपूर्णान् मूर्खविशारदान्।
वर्जयेदातुरो विद्वान् सर्पास्ते पीतमारुताः ॥ ११ ॥
ये तु शास्त्रविदो दक्षाः शुचयः कर्मकोविदाः।
जितहस्ता जितात्मानस्तेभ्यो नित्यं कृतं नमः ॥ १२ ॥

रोगी को देखकर वैद्य का वेष पहिन कर रोगी के घर में घुस जाते हैं। ये जंगल में पहुंचे चिड़ीमार की तरह पक्षियों को जाल में फंसाने वाले होते हैं। इनको शास्त्रश्रवण, कर्मदर्शन, चिकित्सा और काल, मात्रा शास्त्र का ज्ञान नहीं होता। ये मृत्यु के नौकर होकर पृथ्वी पर विचरते हैं, इसलिये इनको छोड़ देना चाहिये। जीविका प्राप्त करने के लिये वैद्य बने हुए, पूरे मूर्खों को, बुद्धिमान् रोगी छोड़ देवे, क्योंकि वे वायु पिये हुए सांप के समान है। जो वैद्य शास्त्रज्ञानी, कर्म में दक्ष, पवित्र, कर्मकुशल, जितहस्त, संयमी, ऐसे प्राणाभिसर वैद्यों को नित्य प्रति नमस्कार है ॥ ९-१२ ॥

तत्र श्लोकः—दश प्राणायतनिके श्लोकस्थानार्थसंग्रहः।
द्विविधा भिषजश्चोक्ताः प्राणस्याऽऽयतनानि च ॥ १३ ॥

इस दश प्राणायतनीय अध्याय में सम्पूर्ण सूत्रस्थान की संक्षिप्त सूची, दो प्रकार के वैद्य, शरीर के दस प्राणायतन ये विषय प्रतिपादन कर दिये हैं ॥१३॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने दशप्राणायतनीयो नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः समाप्तः ॥ २९ ॥

त्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातोऽर्थे दशमहामूलीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब इसके आगे 'अर्थे दशमहामूलीय' नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

अर्थे दश महामूलाः समासक्ता महाफलाः ।
महच्चार्थश्च हृदयं पर्यायैरुच्यते बुधैः ॥ ३ ॥

हृदय जिनका मूलस्थान है ऐसी महान् कार्य करने वाली दस धमनियां हृदय में आश्रित हैं । 'महत्' और 'अर्थ' ये हृदय के ही नामान्तर हैं ॥ ३ ॥

षडङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम् ।
आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संश्रितम् ॥ ४ ॥
प्रतिष्ठार्थं हि भावानामेषां हृदयमिष्यते ।
गोपानसीनामागारकर्णिकेवार्थचिन्तकैः ॥ ५ ॥
तस्योपघातान्मूर्च्छायं भेदान्मरणमृच्छति ।
यद्धि तत्स्पर्शविज्ञानं धारि तत्तत्र संश्रितम् ॥ ६ ॥
तत्परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः ।
हृदयं महदर्थश्च तस्मादुक्तं चिकित्सकैः ॥ ७ ॥

छः अंगोंवाला शरीर (दो हाथ, दो पांव, शिर और ग्रीवा एवं कटि का मध्य भाग), विज्ञान (निश्चयात्मक बुद्धि), पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा इन इन्द्रियों के शब्द, स्पर्श आदि विषय, आत्मा, गुणयुक्त मन, चिन्त्य (मन के विषय) ये सब हृदय में आश्रित हैं । यहां पर यह संशय हो सकता है कि हृदय तो दो अंगुल मात्र है, इसमें छ अंगों वाला शरीर किस प्रकार समा सकता है । इन्द्रियां अपने आश्रितों में स्थित हैं, विषय बाह्य द्रव्यों में आश्रित हैं । आत्मा व्यापक होने से अनाश्रित है, गुणयुक्त मन भी अनाश्रित है, ध्येय आदि हृदय में नहीं रहते । इस सन्देह का उत्तर देते हैं कि हृदय में ये भाव (पदार्थ) कार्य-कारण सम्बन्ध से अविरोध रूप में रहते हैं । इनमें आधार-आधेय-सम्बन्ध नहीं, परन्तु आश्रय-आश्रयि, अथवा अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है। आगारकर्णिका अर्थात् घर को ढांपने के बीचमें एक बड़ी बल्ली होती है और उसके दोनों ओर दूसरी शहतीरीयां पड़ी रहती हैं, उसी प्रकार हृदय के चारों ओर ये वस्तुयें पड़ी हैं । इस हृदय को उपघात (चोट) लगने से मूर्छा हो

जाती है और हृदय के विदीर्ण होने से मनुष्य मर जाता है। हृदय के नाश होने से हृदय में आश्रित संसारी आत्मा भी नष्ट हो जाता है। स्पर्श को जो जानता है या जिसके कारण स्पर्श ज्ञान होता है वही 'धारी' शरीर इन्द्रिय, सत्त्व और आत्मा के संयोग (शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्) ये सब हृदय में आश्रित हैं। यह हृदय परम (श्रेष्ठ) ओज का स्थान है, चैतन्य विषयों में फैले हुए मन का इसी हृदय में संग्रह होता है। विषयों में गये हुए इसी मनको हृदय में रोकने से योगी बनते हैं और योग मोक्ष का साधन (योगो मोक्षप्रवर्त्तकः) है। इसलिये हृदय को महत् और इन शब्दों से चिकित्सक कहते हैं ॥ ४–७ ॥

तेन मूलेन महता महामूला मता दश।
ओजोवहाः शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः ॥ ८ ॥
येनौजसा वर्तयन्ति प्रीणिताः सर्वजन्तवः।
यदृते सर्वभूतानां जीवितं नावतिष्ठते ॥ ९ ॥
यत्सारमादौ गर्भस्य यत्तद्गर्भरसाद्रसः।
संवर्तमानं हृदयं समाविशति यत्पुरा ॥ १० ॥
यस्य नाशात्तु नाशोऽस्ति धारि यद्धृदयाश्रितम्।
यः शरीररसस्नेहः प्राणा यत्र प्रतिष्ठिताः ॥ ११ ॥
तत्फला बहुधा वा ताः फलन्तीव महाफलाः।
ध्मानाद्धमन्यः स्रवणात् स्रोतांसि सरणात्सिराः ॥ १२ ॥

इस हृदय से महामूल वाली (जिनका प्रभावस्थान बड़ा है, ऐसी) दस ओजवाहिनी धमनियां निकल कर इस सम्पूर्ण शरीर में फैलती हैं। जिस ओज के पुष्ट होने पर सब प्राणी जीते हैं, जिस ओज के बिना प्राणियों का जीवन नहीं रह सकता, जो ओज शुक्र रक्त संयोग से बने गर्भ में सारभूत है, और जो शुक्र रक्त के संयोग से बने कलल रूप में रसरूप सार है, जो ओज हृदय के बनने पर स्पष्ट होकर हृदय में रहता है, जिस ओज के नष्ट होने पर (धातुओं का क्षय न होने पर भी) मृत्यु निश्चित है, जो कि प्राणों को धारण करने में मुख्य है, जिस ओज में प्राण आश्रित हैं उस ओज को लेजाने वाली, ओजोवहा, महाफला दस धमनियां हृदय का आश्रय लेकर अनेक प्रकार से फलती हैं। वे हृदय में दस होती हुई भी शरीर में प्रतान भेदों से असंख्य बनजाती हैं।

पूरण अर्थात् बाह्य रस द्वारा भरने से (स्पन्दन होने से), धमनियां, स्रवण अर्थात् रस, पौष्य वस्तु का स्रवण होने से स्रोतस् और दूसरे देश या स्थान में जाने से 'सिरा' कहलाती हैं ॥ ८–१२ ॥

तन्महत्ता महामूलास्तच्चौजः परिरक्षता ।
परिहार्या विशेषेण मनसो दुःखहेतवः ॥ १३ ॥
हृद्यं यत्स्याद्यदौजस्यं स्रोतसां यत्प्रसादनम् ।
तत्तत्सेव्यं प्रयत्नेन प्रशमो ज्ञानमेव च ॥ १४ ॥

हृदय स्थित मन की रक्षा में कारण छः अंगों वाले शरीर, बुद्धि आदि का हृदय स्थान है। ओजोवहा धमनियां भी इसी हृदय से निकलती हैं, यही हृदय इनका मूल है। इसलिये ओज की रक्षा करने के लिये मानसिक दुःखों के कारणों से विशेष रूप में बचना चाहिये। जो वस्तु हृदय और ओज के लिये हितकारी हो, एवं मनोवहा आदि स्रोतों को निर्मल करनेवाली हो और शान्ति तथा तत्त्वज्ञान को देने वाली हो, उसे प्रयत्नपूर्वक सेवन करना चाहिये।१३-१४।

अथ खल्वेकं प्राणवर्धनानामुत्कृष्टतममेकं बलवर्धनानामेकं बृंहणानामेकं नन्दनानामेकं हर्षणानामेकमयनानामिति। तत्राहिंसा प्राणिनां प्राणवर्धनानामुत्कृष्टतमं, वीर्यं बलवर्धनानां विद्या बृंहणानां, इन्द्रियजयो नन्दनानां, तत्त्वावबोधो हर्षणानां, ब्रह्मचर्यमयनानामित्यायुर्वेदविदो मन्यन्ते ॥ १५ ॥

सेवन करने योग्य वस्तुएं कहते हैं—प्राणों को बढ़ाने के लिये सबसे उत्कृष्ट वस्तु एक ही है (दूसरा नहीं), बल को बढ़ाने में एक; बृंह्य वस्तुओं में उत्कृष्टतम एक, श्रेय समृद्धिकारक हर्षोत्पादक में एक; मोक्षदायक में सबसे श्रेष्ठ वस्तु एक ही है। जैसे प्राणियों के प्राणों को बढ़ाने के लिये अहिंसा सबसे उत्कृष्ट है, बल वर्धकों में वीर्य, बृंहण वस्तुओं में विद्या, श्रेयस्कर वस्तुओं में इन्द्रियों का संयम, हर्षोत्पादक वस्तुओं में तत्त्वज्ञान और मोक्षदायक वस्तुओं में ब्रह्मचर्य ही सबसे श्रेष्ठ है, ऐसा आयुर्वेद विद्वान् मानते हैं ॥ १५ ॥

तत्राऽऽयुर्वेदविदस्तन्त्रस्थानाध्यायप्रश्नानां पृथक्त्वेन वाक्यशो वाक्यार्थशोऽर्थावयवशश्च प्रवक्तारो मन्तव्याः ॥ १६ ॥

अत्राऽऽह-कथं तन्त्रादीनि वाक्यशो वाक्यार्थशोऽर्थावयवशश्चेत्युक्तानि भवन्तीति। अत्रोच्यते—तन्त्रमार्षं कार्त्स्न्येन यथाम्नायमुच्यमानं वाक्यशो भवत्युक्तम्। बुद्ध्या सम्यगनुप्रविश्यार्थतत्त्वं वाग्भिर्व्यास-समास-प्रतिज्ञा-हेतूदाहरणोपनय-निगमन-युक्ताभिस्त्रिविध-शिष्य-बुद्धिगम्याभिरुच्यमानं वाक्यार्थशो भवत्युक्तम्। तन्त्रनियतानामर्थदुर्गाणां पुनर्विभावनैरुक्तमर्थावयवशो भवत्युक्तम् ॥ १७ ॥

जो पुरुष आयुर्वेद के ग्रन्थ, उनके स्थान, प्रसंग, अध्याय, प्रश्न उनके अवान्तर विषय, वाक्यार्थों और अर्थावयवों का निरूपण कर सकते हों, उनको आयुर्वेद का ज्ञाता मानना चाहिये। आयुर्वेद के ग्रन्थ में वाक्य, अर्थ और अर्थावयव किस प्रकार से कहे जाते हैं ? यह कहते हैं, ऋषिकृत तन्त्र को 'अथ' से 'इति' पर्यन्त समस्त ग्रन्थ को पाठक्रम से पढ़ना वाक्यार्थ होता है। अर्थतत्त्व को बुद्धि से भली प्रकार समझ कर वाणी द्वारा व्यास अर्थात् विभाग, समास, प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण (दृष्टान्त), उपनय[1] निगमन[2] तीनों प्रकार (उत्तम मध्यम और अधमकोटि) के शिष्य जिस युक्ति से समझ सकें इस प्रकार से कहना वाक्यार्थशः निरूपण कहाता है। तन्त्र में आये हुए कठिन अर्थों को पुनः पुनः व्याख्यानों द्वारा स्पष्ट करना यह 'अर्थावयवशः निरूपण' होता है ॥ १६-१७ ॥

तत्र चेत्प्रष्टारः स्युः—चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानां कं वेदमुपदिशन्त्यायुर्वेदविदः, किमायुः, कस्मादायुर्वेदः, किं चायमायुर्वेदः शाश्वतोऽशाश्वतश्च। कति कानि चास्याङ्गानि, कैश्चायमध्येतव्यः, किमर्थं चेति ॥ १८ ॥

तत्र भिषजा पृष्टेनैवं चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या। वेदो ह्याथर्वणः स्वस्त्ययन-बलि-मङ्गल-होम-नियम-प्रायश्चित्तोपवास-मन्त्रादि-परिग्रहाच्चिकित्सां प्राह, चिकित्सा चाऽऽयुषो हितायोपदिश्यते ॥ १९ ॥

वेदं चोपदिश्याऽऽयुर्वाच्यं; तत्राऽऽयुश्चेतनानुवृत्तिर्जीवितमनुबन्धो धारि चेत्येकोऽर्थः ॥ २० ॥

तत्राऽऽयुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः। कथमिति चेदुच्यते—स्वलक्षणतः सुखासुखतो हिताहिततः प्रमाणाप्रमाणतश्च। यतश्चाऽऽयुष्याण्यनायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि वेदयत्यतोऽप्यायुर्वेदः ॥ २१ ॥

तत्राऽऽयुष्याण्यनायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि केवलेनोपदेक्ष्यन्ते तन्त्रेण ॥ २२ ॥

यदि कोई पूछे कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इन चारों वेदों में से किस वेद को आयुर्वेद कहते हैं। आयुर्वेद का कौन से वेद के साथ सम्बन्ध है ? आयु क्या है ? आयुर्वेद किस लिये है ? यह आयुर्वेद शाश्वत

---

१. सिद्धान्तापपादितस्य साधनधर्मस्य साध्ये पुनः कथनमुपनयः।

२. हेतुसाधितसाध्यधर्मकथनं निगमनम् ॥

(नित्य) है या अशाश्वत (अनित्य) ? इस आयुर्वेद के कितने और कौन २ से अंग हैं ? आयुर्वेद किन को पढ़ना चाहिये ? और इस आयुर्वेद का प्रयोजन क्या है ? वैद्य से इस प्रकार प्रश्न पूछे जाने पर वैद्य को ऋग्, यजुः, साम और अथर्व इन चारों वेदों में से अथर्व वेद में ही अपनी भक्ति (श्रद्धा) बतलानी चाहिये। क्योंकि अथर्ववेद ने स्वस्ति-अयन, बलि, मंगल, होम, नियम, प्रायश्चित्त, वा उपवासदि द्वारा रोग की चिकित्सा कही है। चिकित्सा आयु की मंगल कामना से कही जाती है, आयुर्वेद यह अथर्ववेद का एक भाग है। वेद सम्बन्धी विवेचन करने के पीछे ही आयुसम्बन्धी विवेचन किया जाता है। चैतन्यपरम्परा, जीवित, अनुबन्धन, धारि ये आयु-शब्द के समानार्थवाची हैं। आयुर्वेद किस लिये कहते हैं इसका उत्तर अपने लक्षण से, सुख-दुःख हितकारी अहितकारी, प्रमाण अप्रमाण एवं आयुवर्द्धक और आयुक्षयकारक द्रव्योंके गुण कर्म सम्पूर्ण रूपमें कहे जाते हैं, इसलिये, इस शास्त्र को आयुर्वेद कहते हैं ॥ १८—२२ ॥

तत्राऽऽयुरुक्तं स्वलक्षणतो यथावदिहैव। तत्र शारीरमानसाभ्यां रोगाभ्यामनभिद्रुतस्यानभिभूतस्य च विशेषेण यौवनवतः समर्थानुगत-बल-वीर्य-यशः-पौरुष-पराक्रमस्य ज्ञान-विज्ञानेन्द्रियेन्द्रियार्थ-बल-समुदाये वर्तमानस्य परमर्धि-रुचिर-विविधोपभोगस्य समृद्धसर्वारम्भस्य यथेष्टविचारिणः सुखमायुरुच्यते, असुखमतो विपर्ययेण। हितैषिणः पुनर्भूतनां परस्वादुपरस्य सत्यवादिनः शमपरस्य परीक्ष्यकारिणोऽप्रमत्तस्य त्रिवर्गं परस्परेणानुपहतमुपसेवमानस्य पूजार्हसंपूजकस्य ज्ञान-विज्ञानोपशम-शीलस्य वृद्धोपसेविनः सुनियत-राग रोषेर्ष्या-मद-मान-वेगस्य सततं विविधप्रदानपरस्य तपो-ज्ञान-प्रशम-नित्यस्याध्यात्मविदस्तत्परस्य लोकमिमं चामुं चापेक्षमाणस्य स्मृतिमतो हितमायुरुच्यते। अहितमतो विपर्ययेण ॥ २३ ॥

आयु का लक्षण (चेतनानुवृत्ति चेतनपरम्परा०) इस स्थान पर कह दिया है। जिस मनुष्य को शारीरिक या मानसिक किसी प्रकार का रोग नहीं, शरीर में तारुण्य भरा है, शरीर में शक्ति, बल, वीर्य और पौरुष, पराक्रम है, ज्ञान, बुद्धि, इन्द्रिय और विषय बलवान् हैं, सम्पत्ति, प्रिय और नाना प्रकार के भोग्य पदार्थ अनुकूल हों, सब कार्यों में जिसको सफलता मिलती हो, स्वेच्छापूर्वक आहार-विहार करने योग्य जो मनुष्य हो, उसकी आयु सुखमय समझनी चाहिये। इसके विरुद्ध दुःखमय समझना। जो मनुष्य सब प्राणियों का कल्याण चाहता

हो, जो दूसरे के धन की इच्छा नहीं करता, सत्यवादी, शान्तमन (संतोषी), विचार कर कार्य करने वाला, उद्यमी, दूसरे को कष्ट न पहुंचावे, इस प्रकार से जो धर्म, अर्थ, काम का सेवन करता है, पूजा के योग्य पुरुषों का जो पूजन करता है, ज्ञान, विज्ञान, उपशम शील-स्वभाव का, वृद्ध पुरुषों का सत्संग (सेवा) करने वाला, राग, क्रोध, ईर्ष्या, मद, मान के वेगों को दमन करने वाला, निरन्तर नाना प्रकार के दान देने वाला, तप, ज्ञान में रत एवं सदा शान्त चित्त रहने वाला, आत्मा के चिन्तन में दत्तचित्त, इह लोक परलोक दोनों का ध्यान रखने वाला, उत्तम स्मरण शक्ति वाला जो पुरुष होता है, उसकी आयु हितकारी होती है, इससे विपरीत अहित है ॥ २३ ॥

प्रमाणमायुषस्त्वर्थेन्द्रिय-मनो-बुद्धि-चेष्टादीनां विकृतिलक्षणैरुपलभ्य-तेऽनिमित्तैः, इदमस्मात्क्षणान्मुहूर्ताद्दिवसात् त्रिपञ्चसप्तदशद्वादशाहात्प-क्षान्मासात्षण्मासात्संवत्सराद्वा स्वभावमापत्स्यत इति। तत्र स्वभावः, प्रवृत्तेरुपरमो, मरणमनित्यता, निरोध इत्येकोऽर्थः—इत्यायुषः प्रमाण-मतो विपरीतमप्रमाणम्। अरिष्टाधिकारे देहप्रकृतिलक्षणमधिकृत्य चोपदिष्टमायुषः प्रमाणमायुर्वेदे ॥ २४ ॥

प्रयोजनं चास्य—स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्र-शमनं च ॥ २५ ॥

आयु का प्रमाण, इन्द्रियों के विषय (शब्द स्पर्शादि) मन, बुद्धि, चेष्टा आदि के विकृत लक्षणों से जाना जाता है। लक्षण को देखकर यह कहा जा सकता है कि अमुक मनुष्य एक मुहूर्त्त में, एक क्षण में, एक दिन में, तीन दिन में, पांच दिन में, सात दिन में, बारह, पन्द्रह दिनों में महीने, छः मास में, या साल भर में स्वभाव अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो जायेगा। स्वभाव, प्रवृत्ति, उपरम, मरण, अनित्यता, निरोध ये शब्द एकार्थवाची पर्याय हैं। यह आयु का प्रमाण है, इसके विपरीत अप्रमाण। अरिष्टाधिकार (इन्द्रियस्थान) में देह, प्रकृति, लक्षणों के अधिकार से आयु का प्रमाण कहेंगे ॥ २४-२५ ॥

सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात्स्वभावसंसिद्ध-लक्षणत्वाद्भावस्वाभावनित्यत्वाच्च। न हि नाभूत्कदाचिदायुषः सन्तानो बुद्धिसन्तानो वा शाश्वतश्चाऽऽयुषो वेदिता, अनादि च सुखदुःखं सद्रव्य-हेतु-लक्षणमपरापरयोगात्; एष चार्थसंग्रहो विभाव्यते आयु-र्वेदलक्षणमिति। गुरु-लघु-शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्षादीनां च द्वन्द्वानां सामान्यविशेषाभ्यां वृद्धिह्रासौ; यथोक्तम्। गुरुभिरभ्यस्यमानैर्गुरूणा-मुपचयो भवत्यपचयो लघूनामेवमेवेतरेषामित्येष भावस्वभावो नित्यः,

स्वलक्षणं च द्रव्याणां पृथिव्यादीनां। सन्ति तु सर्वदा गुणाश्च नित्यानित्याः। न ह्यायुर्वेदस्याभूत्वोत्पत्तिरुपलभ्यते, अन्यत्रावबोधोपदेशाभ्याम्। एतद्वै द्वयमधिकृत्योत्पत्तिमुपदिशन्त्येके। स्वाभाविकं चास्य लक्षणमकृतकं, यदुक्तमिह चाऽऽद्येऽध्याये—यथाऽग्नेरौष्ण्यमपां द्रवत्वम्। भावस्वभावनित्यत्वमपि चास्य यथोक्तं गुरुभिरभ्यस्यमानैर्गुरूणामुपचयो भवत्यपचयो लघूनामित्येवमादि ॥ २६ ॥

यह आयुर्वेद नित्य है, ऐसा माना जाता है। उसके तीन हेतु हैं, १. अनादि होने से, २. स्वभाव सिद्ध होने से, ३. पदार्थों के गुण, धर्म नित्य होने से। इसका विस्तार से वर्णन करते हैं। आयुर्वेद में आयुष्य का प्रतिपादन किया है और सर्वदा ही आयु की परम्परा सन्तान-न्याय से चली आ रही है (बिना आयु के कोई नहीं हुआ)। इसी प्रकार बुद्धि की परम्परा भी अनादि काल से चली आ रही है। (एक मरता है, दूसरा जीवित रहता है इस प्रकार से आयु की परम्परा चली आरही है) इसलिये आयुष्यादि प्रतिपाद्य विषय अनादि है। इसको प्रतिपादन करने वाला आयुर्वेद भी अनादि है। आयुर्वेद उपकरण और आयुष्य उपकार्य है। बिना उपकरण के कार्य नहीं रह सकता। इसी प्रकार बुद्धि के भी अनादि होने से आयुर्वेद का ज्ञान भी अनादि है और इस ज्ञान को जानने वाले भी अनादि हैं। दूसरा आरोग्यता या रोग को उत्पन्न करने वाले, अथवा रोग के लक्षण, कारण, चिकित्सा आयुर्वेद में प्रतिपादन किये हैं और वे अनादि हैं। क्योंकि सुख-दुःख अनादि काल से चला आ रहा है, इसलिये इनको प्राप्त तथा नाश करने के भी उपाय अनादि होने चाहिये। तीसरी गुरु, हलका, ठण्ठा, गरम, स्निग्ध, रूक्ष पदार्थों के ये गुण धर्म भी नित्य हैं, इसलिये इन गुण धर्मों को बताने वाला आयुर्वेद भी नित्य है। पृथिव्यादि पंच महाभूतों के गुण धर्म नित्य हैं, परन्तु इनसे बने पदार्थ अनित्य हैं। इसी प्रकार मिट्टी नित्य और मिट्टी से बना घड़ा अनित्य है। इस प्रकार से मनुष्य-शरीर को बनाने वाले परिणाम नित्य हैं। और इस परिणाम रूप निर्माण क्रिया को बतलाने वाला आयुर्वेद भी नित्य है। आयुर्वेद का एक समय अस्तित्व नहीं था, उत्पन्न हुआ है ऐसा कहीं पर सुनने में नहीं आता। जहां पर भी आयुर्वेद का प्रादुर्भाव लिखा है, वहां पर इसका अवबोध या उपदेश रूप से प्रतिपादन किया है कि इन्द्र के उपदेश से भरद्वाज मुनि मृत्यु लोक में आयुर्वेद को लाये, यह उपदेश और ब्रह्मा के अन्दर जो ज्ञान का उदय हुआ वही इसकी उत्पत्ति है। आयुर्वेद स्वाभाविक एवं अकृतक है। जैसा कि

पहले अध्याय में कहा है (हिताहितं सुखदुःखं०)। अग्नि में उष्णिमा और पानी में तरलता स्वाभाविक है, बनाई हुई नहीं है इसी प्रकार आयुर्वेद भी स्वाभाविक है। भाव, अर्थात् स्वभाव के अकृत अर्थात् स्वाभाविक होने से भी आयुर्वेद नित्य है। यथा–गुरु पदार्थों के उपसेवन से गुरुता बढ़ती है। और लघु पदार्थों के उपसेवन से शरीर में लघुता बढ़ती है। इसलिये आयुर्वेद भी नित्य है ॥ २६ ॥

तस्याऽऽयुर्वेदस्याङ्गान्यष्टौ । तद्यथा—कायचिकित्सा, शालाक्यं शल्यापहर्तृकं, विष-गर-वैरोधिक-प्रशमनं, भूतविद्या, कौमारभृत्यकं, रसायनानि, वाजीकरणमिति ॥ २७ ॥

इस आयुर्वेद के आठ अंग हैं। (१) काय चिकित्सा, (२) शालाक्य, (३) शल्यापहर्तृक, (४) विष-गर–वैरोधिक-प्रशमन, (५) भूतविद्या, (६) कौमार-भृत्यक, (७) रसायन और (८) वीजीकरण ये आठ अंग हैं ॥२७॥

स चाध्येतव्यो ब्राह्मण-राजन्य-वैश्यैः। तत्रानुग्रहार्थं प्राणिनां ब्राह्मणैरात्मरक्षार्थं राजन्यैर्वृत्त्यर्थं वैश्यैः, सामान्यतो वा धर्मार्थकामपरिग्रहार्थं सर्वैः। तत्र च यदध्यात्मविदां धर्मपथस्थापकानां धर्मप्रकाशकानां वा मातृ-पितृ-बन्धु-गुरु-जनस्य वा विकारप्रशमने प्रयत्नवान् भवति यच्चाऽऽयुर्वेदोक्तमध्यात्ममनुध्यायति वेदयत्यनुविधीयते वा सोऽप्यस्य परो धर्मः। या पुनरीश्वराणां वसुमतां वा सकाशात्सुखोपहारनिमित्ता भवत्यर्थावाप्तिरारक्षणं च या च स्वपरिगृहीतानां प्राणिनामातुर्यादारक्षा-सोऽस्यार्थः। यत्पुनरस्य विद्वद्ग्रहणयशः-शरण्यत्वं च, या च संमानशुश्रूषा, यच्चेष्टानां विषयाणामारोग्यमाधत्ते, सोऽस्य काम इति यथाप्रश्नमुक्तमशेषेण ॥ २८ ॥

यह आयुर्वेद ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों को पढ़ना चाहिये। ब्राह्मणों को प्राणियों का भला करने के लिये, क्षत्रियों को अपनी रक्षा के लिये, वैश्यों को वृत्ति अर्थात्, जीविकोपार्जन के लिये पढ़ना चाहिये। अथवा धर्म, अर्थ, काम रूपी पुरुषार्थों के उद्देश्य से ही सब को पढ़ना चाहिये। इनमें जो तत्त्वज्ञान को जानने वाले, धर्मसंस्थापक, धर्मोपदेशक, माता, पिता, भाई बन्धु, पुरजनों के रोगों को दूर करने में प्रयत्नशील होता है और जो पढ़े हुये आयुर्वेद को दूसरों को पढ़ाता है, बतलाता है, वैसा करता है, वह इस का सर्वोत्तम धर्म है। राजाओं या रईसों, सेठों से आरोग्यता प्रदान करने पर जो धन की प्राप्ति होती है, आत्मरक्षा होती है, इसी प्रकार अपने आश्रयजीवी नौकर चाकर आदि को रोग मुक्त करता है वह इसका सर्वोत्तम अर्थ है। विद्वान् लोगों द्वारा

प्राप्त यश, कीर्ति, सब लोगों का शरण में आना, आश्रयप्रदाता होना, आदर सत्कार लोगों से प्राप्त होना, प्रिय विषयों में आरोग्यता का प्राप्त होना यह इसका सर्वोत्तम काम है। इस प्रकार से सब प्रश्नों का पूरा २ उत्तर देदिया ॥२८॥

अथ भिषगादित एव भिषजा प्रष्टव्योऽष्टविधं भवति। तद्यथा–तन्त्रं तन्त्रार्थं स्थानानि स्थानार्थानध्यायानध्यायार्थान् प्रश्नार्थांश्चेति। पृष्टेन चैतद्वक्तव्यमशेषेण वाक्यशो वाक्यार्थशोऽर्थावयवशश्चेति ॥ २९ ॥

वैद्य परीक्षा के लिये वैद्य से आठ प्रश्न पूछे। यथा तन्त्र, तन्त्रार्थ, स्थान स्थानों के अर्थ, अध्याय और अध्याय के अर्थ, प्रश्न और प्रश्नार्थ। पूछे जाने पर वैद्य को सम्पूर्ण रूप से वाक्य, वाक्यार्थ, अर्थावयव रूप से पूर्णतया कहना चाहिये ॥ २९ ॥

तत्राऽऽयुर्वेदः शाखा विद्या सूत्रं ज्ञानं शास्त्रं लक्षणं तन्त्रमित्यनर्थान्तरम् ॥ ३० ॥

तन्त्रार्थः पुनः स्वलक्षणैरुपदिष्टः, स चार्थः प्रकरणैर्विभाव्यमानो भूय एव शरीर-वृत्ति-हेतु-व्याधि-कर्म-कार्य-काल-कर्तृ-करण-विधि-विनिश्चयादशप्रकरणः, तानि च प्रकरणानि केवलेनोपदेक्ष्यन्ते तन्त्रेण ॥३१॥

इसमें आयुर्वेद, शाखा, सूत्र, ज्ञान, शास्त्र, लक्षण व तन्त्र ये सब एकार्थवाची शब्द हैं। तन्त्र का अर्थ "आयुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः" आयु–जिससे जानी जाती है वह आयुर्वेद-इस प्रकार अपने लक्षणों से कह दिया। हित अहित आयुरूप लक्षण है और यह अर्थ प्रकरण भेद से बहुत प्रकार का है। यथा शरीर (पञ्च महाभूतों का समुदायरूप होने से अवयवादि भेद से बहुत प्रकार का है), हेतु (असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग , प्रज्ञापराध, परिणाम), व्याधि (धातुवैषम्य), कर्म (चिकित्सा), कार्य (आरोग्यता), काल (ऋतु आदि), कर्ता (भिषक्), करण (भेषज), विधि (उपकल्पना विधान जिसे काल, द्रव्य और व्याधि की अपेक्षा से समझना चाहिये)। इन प्रकरणों से ग्रन्थ सम्पूर्ण रूप से भली प्रकार सुगठित होता है। ये प्रकरण तन्त्र में सम्पूर्ण रूप से कहे जावेंगे ३०-३१

तन्त्रस्यास्याष्टौ स्थानानि। तद्यथा—श्लोक-निदान-विमान-शारीरेन्द्रिय-चिकित्सित-कल्पसिद्धि-स्थानानि। तत्र त्रिंशदध्यायकं श्लोकस्थानं अष्टाध्यायकानि निदान-विमान-शरीरस्थानानि, द्वादशकमिन्द्रियाणां, त्रिंशकं चिकित्सितानां द्वादशके कल्पसिद्धिस्थाने इति ॥ ३२ ॥

इस तन्त्र के आठ स्थान हैं यथा–१. सूत्र (श्लोक) स्थान, २. निदानस्थान, ३. विमानस्थान, ४. शरीरस्थान, ५. इन्द्रियस्थान, ६. चिकित्सास्थान,

७. कल्पस्थान और ८. सिद्धिस्थान। इनमें श्लोकस्थान ३० अध्यायों का, निदान, विमान और शारीरस्थान, आठ २ अध्यायों के इन्द्रियस्थान बारह का चिकित्सास्थान तीस का, कल्प और सिद्धिस्थान बारह२ अध्यायों के हैं ॥३२॥

भवन्ति चात्र—

द्वे त्रिंशके द्वादशकत्रयं च त्रीण्यष्टकान्येषु समाप्तिरुक्ता।
श्लोकौषधारिष्ट-विकल्प-सिद्धि-निदान-मानाश्रय-संज्ञकेषु ॥३३॥
स्वे स्वे स्थाने यथास्वे च स्थानार्थं उपदेक्ष्यते।
सविंशमध्यायशतं शृणु नामक्रमागतम् ॥ ३४ ॥
दीर्घञ्जीवोऽप्यपामार्गतण्डुलारग्वधादिकौ।
षड्विरेकाश्रयश्चेति चतुष्को भेषजाश्रयः ॥ ३५ ॥
मात्रातस्याशितीयौ च न वेगान्धारणं तथा।
इन्द्रियोपक्रमश्चेति चत्वारः स्वास्थ्यवृत्तिकाः ॥ ३६ ॥
खुड्डाकश्च चतुष्पादो महांस्तिस्रैषणस्तथा।
सह वातकलाख्येन विद्यान्नैर्देशिकान् बुधः ॥ ३७ ॥
स्नेहनस्वेदनाध्यायावुभौ यश्चोपकल्पनः।
चिकित्साप्राभृतश्चैव सर्वा एवोपकल्पनाः ॥ ३८ ॥
कियन्तः शिरसीयश्च त्रिशोफाष्टोदरादिकौ।
रोगाध्याया महांश्चैव रोगाध्यायचतुष्टयम् ॥ ३९ ॥
अष्टौनिन्दितसंख्यातस्तथा लंघनतर्पणौ।
विधिशोणितकश्चेति व्याख्यातास्तत्र योजनाः ॥ ४० ॥
यज्जःपुरुषसंख्यातो भद्रकाप्यान्नपानिकौ।
विविधाशितपीतीयश्चत्वारोऽन्नविनिश्चये ॥ ४१ ॥
दशप्राणायतनिकस्तथाऽर्थेदशमूलिकः।
द्वावेतौ प्राणदेहार्थौ प्रोक्तौ वैद्यगुणाश्रयौ ॥ ४२ ॥
औषधस्वस्थनिर्देशकल्पनारोगयोजनाः
चतुष्काः षट् क्रमेणोक्ताः सप्तमश्चान्नपानिकः ॥ ४३ ॥
द्वौ चान्त्यौ संग्रहाध्यायाविति त्रिंशत्कमर्थवत्।
श्लोकस्थानं समुद्दिष्टं तन्त्रस्यास्य शिरः शुभम् ॥ ४४ ॥
चतुष्काणां महार्थानां स्थानेऽस्मिन् संग्रहः कृतः।
श्लोकार्थः संग्रहार्थश्च श्लोकस्थानमतः स्मृतम् ॥ ४५ ॥

इस ग्रन्थ में तीस तीस अध्याय के सूत्र और चिकित्सास्थान हैं। बारह २

अध्याय के तीन अरिष्ट (इन्द्रिय), कल्प और सिद्धि स्थान, आठ २ अध्याय के निदान, विमान और शरीर ये तीन स्थान हैं। श्लोक, औषध, अरिष्ट, विकल्प, सिद्धि, निदान, विमान और आश्रय नामक १२० अध्यायों में ग्रन्थ समाप्त हुआ है। अपने २ स्थान में यथायोग्य स्थानों का उपदेश तत्त्वार्थ सहित कहेंगे। इन १२० अध्यायों के क्रम से नाम सुनो—

दीर्घञ्जीवितीय, अपामार्गतण्डुलीय, आरग्वधीय, षड्विरेचनशताश्रितीय, इन चार अध्यायों में 'औषध-चतुष्क' का निरूपण किया है। मात्राशितीय, तस्याशितीय, नवेगान्धारणीय और इन्द्रियोपक्रमणीय ये चार स्वास्थ्य-चतुष्क हैं। खुड्डाकचतुष्पाद, महाचतुष्पाद, तिस्रैषणीय और वातकलाकलीय ये चार निर्देश चतुष्क (कर्त्तव्य अकर्त्तव्य विषयक) हैं। स्नेहन, स्वेदन, उपकल्पनीय और चिकित्सा प्राभृतीय ये चार कल्पनाचतुष्क हैं। कियन्तःशिरसीय, त्रिशोथीय, अष्टोदरीय, महारोगाध्याय—ये चार रोगचतुष्क हैं। अष्टौनिन्दितीय लंघन-बृंहणीय सन्तर्पणीय और विधिशोणितीय ये चार योजनाचतुष्क हैं। यज्जःपुरुषीय, आत्रेयभद्रकाप्यीय, अन्नपानीय, विविधाशितपीतीय ये चार अन्नपान-चतुष्क हैं। दश प्राणायतनीय और अर्थे-दशमहामूलीय इन पिछले दोनों अध्यायों में प्राण, ओज, धमनी और वैद्यों के गुणों का निरूपण किया है। इस प्रकार से इस सूत्रस्थान में औषध-चतुष्क, स्वास्थ्य-चतुष्क; निर्देश-चतुष्क, कल्पना-चतुष्क; रोग-चतुष्क; योजना-चतुष्क, अन्नपान-चतुष्क तथा पहले दो अध्यायों में इन अट्ठाईस अध्यायों की सूची है। इस प्रकार से सूत्रस्थान के तीस अध्यायों में इन विषयों का वर्णन किया है। जिस प्रकार मनुष्य के सब अंगों में श्रेष्ठ मस्तिष्क है उसी प्रकार से सब ग्रन्थों में यह श्रेष्ठ है। इस सूत्र स्थान में उपयोगी चतुष्कों का संग्रह किया है। श्लोक रूप में संग्रह होने के कारण इसको 'श्लोकस्थान' कहते हैं ॥ ३३–४५ ॥

ज्वराणां रक्तपित्तस्य गुल्मानां मेहकुष्ठयोः।
शोषोन्मादनिदाने च स्यादपस्मारिणां च यत् ॥ ४६ ॥
इत्यध्यायाष्टकमिदं निदानस्थानमुच्यते।

ज्वर निदान, रक्तपित्त निदान, गुल्म निदान, प्रमेह निदान, कुष्ठ निदान, शोष निदान, उन्माद निदान और अपस्मार निदान—ये आठ अध्याय निदानस्थान में हैं ॥ ४६ ॥

रसेषु त्रिविधे कुक्षौ ध्वंसे जनपदस्य च ॥ ४७ ॥
त्रिविधे रोगविज्ञाने स्रोतःस्वपि च वर्तने।

रोगानीके व्याधिरूपे रोगाणां च भिषग्जिते ॥ ४८ ॥
अष्टौ विमानान्युक्तानि मानार्थानि महर्षिणा ।

विमान स्थान में रस विमान, त्रिविधकुक्षीय, जनपदोद्ध्वंसनीय, त्रिविधरोग-विशेषविज्ञानीय, स्रोतोविमान, रोगानीक, व्याधिरूपीय और रोगभिषग्जितीय—ये आठ अध्याय हैं ॥ ४७–४८ ॥

कतिधापुरुषीयं च गोत्रेणातुल्यमेव च ॥ ४९ ॥
खुड्डीका महती चैव गर्भावक्रान्तिरुच्यते ।
पुरुषस्य शरीरस्य विचयौ द्वौ विनिश्चितौ ॥ ५० ॥
शरीरसंख्या सूत्रं च जातेरष्टममुच्यते ।
इत्युद्दिष्टानि मुनिना शारीराण्यत्रिसूनुना ॥ ५१ ॥

शरीर स्थान में कतिधापुरुषीय, अतुल्यगोत्रीय, खुड्डीकागर्भावक्रान्ति, पुरुषविचय, शारीरविचय, शरीरसंख्या और जातिसूत्रीय ये आठ अध्याय हैं ।४९-५१।

वर्णस्वरीयः पुष्पाख्यस्तृतीयः परिमर्षणः ।
तथैव चेन्द्रियानीकः पूर्वरूपिक एव च ॥ ५२ ॥
कतमानिशरीरीयः पन्नरूपोऽप्यवाक्शिराः ।
यस्य श्यावनिमित्तश्च सद्योमरण एव च ॥ ५३ ॥
अणुज्योतिरिति ख्यातस्तथा गोमयचूर्णवान् ।
द्वादशाध्यायकं स्थानमिन्द्रियाणां प्रकीर्तितम् ॥ ५४ ॥

वर्णस्वरीय, पुष्पितक, परिमर्षणीय, इन्द्रियानीक, पूर्वरूपीय, कतमानि शरीराणि, पन्नरूपीय, अवाक्शिरसीय, यस्यश्यावनिमित्तीय, सद्योमरणीय, अणुज्योतीय और गोमयचूर्णीय ये बारह अध्याय इन्द्रियस्थान में हैं ॥ ५२–५४ ॥

अभयामलकीयं च प्राणकामीयमेव च ।
करप्रचितिकं वेदसमुत्थानं रसायनम् ॥ ५५ ॥
संयोगशरमूलीयमासक्तक्षीरिकं तथा ।
माषपर्णभृतीयं च पुमाञ्जातबलादिकम् ॥ ५६ ॥
चतुष्कद्वयमप्येतदध्यायद्वयमुच्यते ॥
रसायनमिति ज्ञेयं वाजीकरणमेव च ॥ ५७ ॥
ज्वराणां रक्तपित्तस्य गुल्मानां मेहकुष्ठयोः ।
शोषोन्मादेऽप्यपस्मार-क्षत-शोफोदरार्शसाम् ॥ ५८ ॥
ग्रहणीपाण्डुरोगाणां श्वासकासातिसारिणाम् ।
छर्दिवीसर्पतृष्णानां विषमद्यविकारिणाम् ॥ ५९ ॥

द्विव्रणीयं त्रिमर्मीयमूरुस्तम्भिकमेव च ।
वातरोगे वातरक्ते योनिव्यापदि चैव यत् ॥ ६० ॥
त्रिंशच्चिकित्सितान्युक्त्वाऽन्यतः कल्पान् परं शृणु ।

अभयामलकीय, प्राणकामीय, करप्रचितीय, आयुर्वेदसमुत्थानीय, संयोग-शरमूलीय, आसिक्तक्षीरीय, माषपर्ण, पुमाञ्जातबलादिक इन भिन्न २ आठ प्रकरणों के दो अध्याय हैं। इनमें पहिले चार प्रकरणों में रसायनाध्याय और दूसरे चार में वाजीकरणाध्याय कहा है। इसके पीछे ज्वरचिकित्सा, रक्तपित्त-चिकित्सा, गुल्म-चिकित्सा, प्रमेह-चिकित्सा कुष्ठ, शोष, उन्माद, अपस्मार, उरःक्षत, शोफ, उदर, अर्श, ग्रहणी, पाण्डुरोग, श्वास, कास, अतीसार, छर्दि, वीसर्प, तृष्णा, विषरोग, मद्यरोग, द्विव्रणीय, त्रिमर्मीय, ऊरुस्तम्भ, वातव्याधि, वात-रक्त इस प्रकार से कुल मिलाकर चिकित्सा स्थान में तीस अध्याय हैं ॥५५–६०॥

फलजीमूतकेक्ष्वाकु-कल्पो धामार्गवस्य च ॥ ६१ ॥
पञ्चमो वत्सकस्योक्तः षष्ठश्च कृतवेधने ।
श्यामात्रिवृतयोः कल्पस्तथैव चतुरङ्गुले ॥ ६२ ॥
तिल्वकस्य सुधायाश्च सप्तलाशङ्खिनीषु च ।
दन्तीद्रवन्त्योः कल्पश्च द्वादशोऽयं समाप्यते ॥ ६३ ॥

मदनफलकल्प जीमूतकल्प, ईक्ष्वाकुकल्प, धामार्गवकल्प, वत्सक-कल्प, कृतवेधनकल्प, श्यामात्रिवृत्कल्प, महावृक्षकल्प, सप्तलाशंखिनीकल्प, और दन्ती-द्रवन्तीकल्प ये बारह अध्याय कल्पस्थान में हैं ॥ ६१–६३ ॥

कल्पना पञ्चकर्माख्या बस्तिसूत्रा तथैव च ।
स्नेहव्यापदिकी सिद्धिर्नेत्रव्यापदिकी तथा ॥ ६४ ॥
सिद्धिः शोधनयोश्चैव बस्तिसिद्धिस्तथैव च ।
प्रासृती मर्मसंख्याता सिद्धिर्बस्त्याश्रया च या ॥ ६५ ॥
फलमात्रा तथा सिद्धिः सिद्धिश्चोत्तरसंज्ञिता ।
सिद्धयो द्वादशैवैतास्तन्त्रं चासु समाप्यते ॥ ६६ ॥

सिद्धिस्थान, कल्पसिद्धि, पंचकर्मीय सिद्धि, बस्तिसूत्रीय सिद्धि, स्नेहव्याप-दिक सिद्धि, नेत्रव्यापदिक सिद्धि, वमनविरेचन-व्यापत्सिद्धि, बस्तिव्यापदिक सिद्धि, प्रसृतयोगिकसिद्धि, त्रिमर्मीय सिद्धि, बस्ति सिद्धि, फलमात्र सिद्धि, और उत्तर सिद्धि—ये बारह अध्याय सिद्धि स्थान में हैं। इस प्रकार से यह ग्रन्थ समाप्त होता है ॥ ६४–६६ ॥

स्वे स्वे स्थाने तथाऽध्याये चाध्यायार्थः प्रवक्ष्यते ।
तं ब्रूयात्सर्वतः सर्वं यथास्वं ह्यर्थसंग्रहात् ॥ ६७ ॥

प्रत्येक अध्याय में वर्णित विषयों का निरूपण संग्रह रूप से प्रत्येक अध्याय के अन्त में दे दिया है और जो मुख्य विषय आया है, उसको स्थान २ पर संक्षिप्त रूप से फिर कह दिया है। इसलिये एक अध्याय का वर्णन जो यत्र तत्र आया है, वह सब वर्णन उसी एक अध्याय का समझना चाहिये ॥ ६७ ॥

पृच्छा तन्त्राद्यथाम्नायं विधिना प्रश्न उच्यते।
प्रश्नार्थो युक्तिमांस्तत्र तन्त्रेणैवार्थनिश्चयः ॥ ६८ ॥
निरुक्तं तन्त्रणात्तन्त्रं स्थानमर्थप्रतिष्ठया।
अधिकृत्यार्थमध्यायनामसंज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६९ ॥
इति सर्वं यथाप्रश्नमष्टकं संप्रकाशितम्।
कार्त्स्न्येन चोक्तस्तन्त्रस्य संग्रहः सुविनिश्चितः ॥ ७० ॥

ग्रन्थ के प्रारम्भ करने में सामान्य विशेष रूप से अथवा पूर्वापरविरोध से रहित जो विचार करना है उसका नाम 'प्रश्न' और विचार पूर्वक किये हुए प्रश्न का शास्त्र के आधार से युक्तिपूर्वक जो निर्णय है उसका नाम 'प्रश्नार्थ' है। जिसमें अनेक विषय एक साथ में एकत्र किये गये हों उसका नाम 'तन्त्र' है। तन्त्र अर्थात् शास्त्र में मुख्य मुख्य विषयों में से एक एक भाग को जो पृथक् पृथक् लेकर प्रतिपादन किया है उसका नाम 'अध्याय' है (जैसे—दीर्घंजीवितीय, अपामार्गतण्डुलीय-इत्यादि प्रत्येक विषय के अनुक्रम में निर्दिष्ट भाग का नाम अध्याय है)। इस प्रकार तन्त्र, तन्त्रार्थ, स्थान स्थानार्थ आदि जो आठ प्रश्न किये उनका उत्तर दे दिया है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ का संक्षेप है ॥ ६८–७० ॥

सन्ति पाल्पविकोत्पाताः संक्षोभं जनयन्ति ये।
वर्तकानामिवोत्पाताः सहसैवाविभाविताः ॥ ७१ ॥
तस्मात्तान् पूर्वसंजल्पे सर्वत्राष्टकमादिशेत्।
परावरपरीक्षार्थं तत्र शास्त्रविदां बलम् ॥ ७२ ॥
शब्दमात्रेण तन्त्रस्य केवलस्यैकदेशिकाः।
भ्रमन्त्यल्पबलास्तन्त्रे ज्याशब्देनैव वर्तकाः ॥ ७३ ॥
पशुः पशूनां दौर्बल्यात्कश्चिन्मध्ये वृकायते।
ससत्त्वं वृकमासाद्य प्रकृतिं भजते पशुः ॥ ७४ ॥
तद्वदज्ञोऽज्ञमध्यस्थः कश्चिन्मौखर्यसाधनः।
स्थापयत्याप्तमात्मानमाप्तं त्वासाद्य भिद्यते ॥ ७५ ॥
बभ्रुर्गूढ इवोर्णाभिरबुद्धिरबहुश्रुतः।
किं वै वक्ष्यति संजल्पे कुण्डभेदी जडो यथा ॥ ७६ ॥

कुछ ऐसे भी मनुष्य हैं जो शास्त्र के थोड़े से भाग को पढ़कर विक्षोभ उत्पन्न करते हैं। सहसा उड़कर जिस प्रकार बटेर पक्षी उत्पात करने लगते हैं, उसी प्रकार ये अर्धपठित वैद्य भी उत्पात किया करते हैं। इसलिये प्रथम जल्प (वाद-विवाद में) तन्त्र, तन्त्रार्थ आदि आठ प्रश्नों को पूछना चाहिये। अपने से श्रेष्ठ या हीन की परीक्षा करने के लिये यही आठ प्रश्न असली शास्त्र को जानने वालों के बल हैं। थोड़े बल वाले, जिन्होंने शास्त्र का कुछ थोड़ा सा भाग ही देखा होता है वे इन प्रश्नों से इस प्रकार से भाग खड़े होते हैं जिस प्रकार धनुष की डोरी की टंकार से बटेरें भाग जाते हैं। जैसे कोई पशु निर्बल पशुओं में अपने को भेड़िया मानकर बोलने लगता है, परन्तु जब कोई बलवान् पशु सामने आ जाता है, तब वह पुनः अपने असली रूप में आजाता है, वह जो होता है वही बन जाता है। इसी प्रकार अपने मुख से प्रशंसा करने वाला मूर्ख मूर्खों में बैठकर अपना पाण्डित्य दिखाने लगता है, परन्तु जब कोई पण्डित विद्वान् सामने आखड़ा होता है, तब यह अबुद्धि मूढ़, अबहुश्रुत, कुण्डभेदी (दुष्ट-भ्रष्टयोनि), जड़ मूर्ख, वाद प्रतिवाद में क्या कहेगा? कुछ भी नहीं। जिस प्रकार मकड़ी के जाल में फंसा कीड़ा कुछ नहीं कर सकता उसी प्रकार यह मूढ़ भी विद्वान् के सामने कुछ नहीं कर सकता ॥ ७१-७७ ॥

सद्वृत्तन विगृह्णीयाद्भिषगल्पश्रुतैरपि।
हन्यात्प्रश्नाष्टकेनादावितरांस्त्वात्ममानिनः ॥ ७७ ॥
दम्भिनो मुखरा ह्यज्ञाः प्रभूताबद्धभाषिणः।
प्रायः प्रायेण सुमुखाः सन्तो युक्ताल्पभाषिणः ॥ ७८ ॥
तत्त्वज्ञानप्रकाशार्थमहङ्कारमनाश्रिताः।

परन्तु जो निरभिमानी सच्चे वैद्य हों वे यदि थोड़े भी पढ़े लिखे हों तो भी उनके साथ शिष्टाचार, सम्मानपूर्वक बरतना चाहिये और जो आत्माभिमानी हों उनको इन आठ प्रश्नों से परास्त करना चाहिये। ऐसे पुरुष प्रायः दम्भी, अपनी मुख से अपनी श्लाघा करने वाले, मूर्ख, बहुत एवं असम्बद्ध, प्रसंगरहित बोलने वाले होते हैं और जो अच्छे विद्वान् होते हैं वे थोड़ा और उचित प्रसंग में ही बोलते हैं, वे तत्वज्ञान का प्रकाश करने के लिये बोलते हैं और अहंकार का आश्रय नहीं लेते हैं ॥ ७७-७८ ॥

स्वल्पाधाराज्ञमुखरान्मर्षयेन्न विवादिनः ॥ ७९ ॥
परो भूतेष्वनुक्रोशस्तत्त्वज्ञाने परा दया।
येषां तेषामसद्वादनिग्रहे निरता मतिः ॥ ८० ॥

परन्तु जो अपने तत्त्वज्ञान को दिखाने के लिये अहंकार के कारण आये हों, जो थोड़े पढ़े हों, उन मूर्ख आत्मप्रशंसकों की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। जिनकी प्राणीमात्र पर कृपा और तत्त्वज्ञान में दया है उनकी असत्-वाद के रोकने में सदा मति रहती है। क्योंकि इस प्रकार न करने से असद् वैद्यों को उत्तेजन मिलकर संसार का अपकार होता है। इसलिये इनको निग्रह करने में सदा तत्पर रहना चाहिये॥ ७६–८०॥

अमत्पक्षाक्षणित्वार्तिदम्भपारुष्यसाधनाः।
भवन्त्यनाप्ताः स्वे तन्त्रे प्रायः परविकत्थकाः॥ ८१॥
तान् कालपाशसदृशान्वर्जयेच्छास्त्रदूषकान्।
प्रशम-ज्ञान-विज्ञान-पूर्णाः सेव्या भिषक्तमाः॥ ८२॥

खोटे (असत्) पक्ष को लेकर विवाद करना, मुझको समय नहीं है, फिर पूछना ऐसा बहाना करने वाले, पूछने पर शिर दुखता है, दाम्भिक, पूछने पर गुस्से या जोर से उत्तर दे और दूसरों को व्यर्थ निन्दा करने वाले अपने तन्त्र में अनभिज्ञ होते हैं। इस प्रकार के शास्त्र को बदनाम करने वालों को मृत्यु के फांसों के समान दूर से ही छोड़ देना चाहिये। जो शान्त, ज्ञान-विज्ञान से परिपूर्ण हों ऐसे उत्तम वैद्यों की सेवा करनी चाहिये॥ ८१–८२॥

समग्रं दुःखमायत्तमविज्ञाने द्वयाश्रयम्।
सुखं समग्रं विज्ञाने विमले च प्रतिष्ठितम्॥ ८३॥
इदमेवमुदारार्थमज्ञानार्थप्रकाशकम्।
शास्त्रं दृष्टिप्रनष्टानां यथैवाऽऽदित्यमण्डलम्॥ ८४॥ इति।

सब प्रकार के दुःखों का कारण शारीरिक और मानसिक ज्ञान का अभाव है। शरीर और मन सम्बन्धी ज्ञान न होने से सब रोग होते हैं। इन दोनों के विशुद्ध ज्ञान से सम्पूर्ण सुख-आरोग्य मिलता है। यह शास्त्र अति गम्भीर, दोनों लोकों में हितकारी अर्थ को बतलाता है, तथा अज्ञात वस्तु को प्रकाशित करता है, परन्तु जिस प्रकार नेत्रहीन पुरुष चमकते हुए सूर्य का कुछ भी उपयोग नहीं कर सकता, इसी प्रकार शास्त्रहीन व्यक्तियों के लिये यह कुछ काम नहीं दे सकता॥ ८३–८४॥

तत्र श्लोकाः—अर्थे दश महामूलाः संज्ञा चैषां यथा कृता।
अयनान्ताः षडग्र्याश्च रूपं वेदविदां च यत्॥ ८५॥
सप्तकश्चाष्टकश्चैव परिप्रश्नः सनिर्णयः।
यथा वाच्यं यदर्थं च यद्विधाश्चैकदेशिकाः॥ ८६॥

अर्थे दशमहामूले सर्वमेतत्प्रकाशितम् ।
संग्रहश्चायमध्यायस्तन्त्रस्यास्यैव केवलः ॥ ८७ ॥
यथा सुमनसां सूत्रं संग्रहार्थं विधीयते ।
संग्रहार्थं तथाऽर्थानामृषिणा संग्रहः कृतः ॥ ८८ ॥

हृदय से सम्बन्धित दस धमनियां, 'महामूला' इस संज्ञा होने के कारण, आयुवर्द्धक, छः उत्तम उपाय, आयुर्वेद का स्वरूप, सात व आठ प्रश्न विशेष, वाक्यांश, अर्थांश, निर्णय और अधूरे वैद्य, इतने विषयों का निरूपण इस 'अर्थे दशमहामूलीय' अध्याय में किया है। इस ग्रन्थ में वर्णित सब विषयों का संक्षिप्त निरूपण भी इस अध्याय में किया है। जिस प्रकार कि फूलों की माला को गूंथने के लिये सूत्र की आवश्यकता होती है उसी प्रकार सब विषयों का संग्रह करने के लिये ऋषि ने यह सूत्र (सूत्रस्थान) बनाया है ॥ ८५–८८ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने अर्थे दशमहामूलीयो नाम त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३० ॥

अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इयताऽवधिना सर्वं सूत्रस्थानं समाप्यते ॥

इति सूत्रस्थानं समाप्तम् ।

निदानस्थानम्[1]

प्रथमोऽध्यायः

अथातो ज्वरनिदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब इसके आगे ज्वरनिदान का व्याख्यान करेंगे जैसा कि भगवान् आत्रेय ने कहा था[2] ॥ १-२ ॥

इह खलु हेतुर्निमित्तमायतनं कर्ता कारणं प्रत्ययः समुत्थानं निदानमित्यनर्थान्तरम्। तत्त्रिविधं—असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः, प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति ॥ ३ ॥

निदान के पर्य्याय—इस निदान स्थान में हेतु, निमित्त, आयतन, कर्त्ता कारण, प्रत्यय, समुत्थान ये निदान शब्द के पर्यायवाची शब्द हैं। निदान अर्थात् रोगों की उत्पत्ति का कारण तीन प्रकार का है, १. असात्म्येन्द्रियार्थ-संयोग, २. प्रज्ञापराध (बुद्धि का दोष) और ३. परिणाम (काल) ॥ ३ ॥

अतस्त्रिविधविकल्पा व्याधयः प्रादुर्भवन्त्याग्नेय-सौम्य-वायव्याः। द्विविधाश्चापरे राजसास्तामसाश्च। तत्र व्याधिरामयो गद आतङ्को यक्ष्मा ज्वरो विकारो रोग इत्यनर्थान्तरम् ॥ ४ ॥

इसलिये रोग भी तीन प्रकार के ही होते हैं। १. आग्नेय (पित्तजन्य) २. सौम्य (कफजन्य), और ३. वायव्य (वायुजन्य)। ये शारीरिक रोग के

---

१. जिससे रोग जाना जाय उसका नाम 'निदान' है।
'निश्चित्य दीयते प्रतिपाद्यते व्याधिरनेनेति निदानम्' ॥ जैज्जट ॥

२. संक्षेप में लिंग को निर्देश करने वाला सूत्रस्थान कहने के पश्चात् हेतु और लिंग को बतलाने वाला 'निदानस्थान' कहते हैं। क्योंकि हेतु और लिंग को जानकर की हुई चिकित्सा फलवती होती है। हेतु सन्निकृष्ट, विप्रकृष्ट, व्यभिचार और प्रधान भेद से चार प्रकार का है। विस्तार के लिये मधुकोष देखिये।

भेद हैं। मानसिक रोग भी दो प्रकार के हैं। १. राजस (रजोगुण से उत्पन्न हुए), और २. तामस, (तमोगुण से उत्पन्न हुए)।

रोग के पर्य्याय—व्याधि, आमय, गद, आतंक, यक्ष्मा, ज्वर, विकार और रोग ये सब शब्द एक ही अर्थ (रोग) को कहते हैं ॥ ४ ॥

तस्योपलब्धिर्निदान-पूर्वरूप-लिङ्गोपशय-संप्राप्तितः ॥५॥

निदान पंचक अर्थात् रोगज्ञान के पांच उपाय—१. निदान २. पूर्वरूप, ३. लिंग (रूप), ४. उपशय और ५. सम्प्राप्ति, इन पांच उपायों से रोग पहिचाना जाता है ॥ ५ ॥

तत्र निदानं कारणमित्युक्तमग्रे पूर्वरूपं प्रागुत्पत्तिलक्षणं व्याधेः।

रोगों के कारण को निदान कहते हैं, यह पहिले कह चुके हैं। रोग के उत्पन्न होने से पूर्व जो लक्षण उत्पन्न होते हैं, उनको 'पूर्वरूप' कहते हैं। (जैसे जंभाई का आना, अंगों का टूटना, शिर का दुखना आदि ये ज्वर के पूर्वरूप हैं।) रोग के आगे चलनेवाले लक्षण पूर्वरूप हैं। जैसे राजा के आने की सूचना राजा के आगे चलने वाले लोगों से मिल जाती है।

प्रादुर्भूतलक्षणं पुनर्लिङ्गं, तत्र लिङ्गमाकृतिर्लक्षणं चिह्नं संस्थानं व्यञ्जनं रूपमित्यनर्थान्तरमस्मिन्नर्थे।

रोग के उत्पन्न होने पर जो लक्षण स्पष्ट होते हैं, जिन लक्षणों से रोग का भान होने लगता है, उनको लिंग कहते हैं। इसके लिंग, आकृति, लक्षण, चिह्न, संस्थान, व्यञ्जन और रूप ये सब पर्य्यायवाची हैं।

उपशयः पुनर्हेतुव्याधिविपरीतानां विपरीतार्थकारिणां चौषधाहारविहाराणामुपयोगः सुखानुबन्धः।

उपशय—हेतुविपरीत, व्याधि-विपरीत और विपरीतार्थकारी, औषध, आहार और विहार का सुखोत्पत्ति के लिये सेवन करना 'उपशय'[1] है।

---

१. उपशय द्वारा गूढ़ लिंगों, चिह्नों वाली व्याधि की परीक्षा की जाती है। जैसे 'मलेरिया' और 'कालाज़ार' रोग में। इनमें मलेरिया कुनीन से चला जाता है, परन्तु कालाज़ार नहीं जाता। इसका विवरण नीचे लिखे प्रकार से जानें।

हेतुविपरीत
- औषध—जैसे शीत कफ ज्वर में सोंठ
- अन्न—जैसे श्रम-वातजन्य ज्वर में मांस रस और चावल।
- विहार—जैसे दिन में सोने से उत्पन्न कफ ज्वर में रात को जागना।

संप्राप्तिर्जातिरागतिरित्यनर्थान्तरं व्याधेः। सा संख्या-प्राधान्य-विधि-विकल्प-बल-काल-विशेषैर्भिद्यते। संख्या तावद्यथा—अष्टौ ज्वराः, पञ्च गुल्माः, सप्त कुष्ठान्येवमादिः। प्राधान्यं पुनर्दोषाणां तरतमाभ्यां योगेनोपलभ्यते। तत्र द्वयोस्तरस्त्रिषु तम इति। विधिर्नाम द्विविधा व्याधयो निजागन्तुभेदेन, त्रिविधास्त्रिदोषभेदेन, चतुर्विधाः साध्यासाध्य-मृदुदारुण-भेदेन। समवेतानां पुनर्दोषाणामंशांश-बल-विकल्पोऽस्मिन्नर्थे। बल-कालविशेषः पुनर्व्याधीनामृत्वहोरात्राऽऽहार-काल-विधि-विनियतो भवति। तस्माद् व्याधीन् भिषगनुपहतसत्त्वबुद्धिर्हेत्वादिभिर्भावैर्यथावदनुबुध्येत ॥ ६ ॥

इत्यर्थसंग्रहो निदानस्थानस्योद्दिष्टो भवति, तं विस्तरेण भूयस्तरमतोऽनुव्याख्यास्यामः ॥ ७ ॥

व्याधि की सम्प्राप्ति, जाति और आगति ये तीनों शब्द एक ही अर्थ के

व्याधिविपरीत	औषध—जैसे अतिसार में पाठा स्तम्भन। अन्न—जैसे अतिसार में मसूर। विहार—जैसे उदावर्त्त में प्रवाहण।
हेतु-व्याधिविपरीत	औषध—जैसे वातजन्य शोथ में दशमूल। अन्न—जैसे शीत ज्वर में ज्वरनाशक यवागू। विहार—जैसे दिन में सोने से उत्पन्न तन्द्रा में रात्रिजागरण।
हेतु-विपरीतार्थकारी	औषध—जैसे पित्तजन्य शोथ में गरम उपनाह (पुलटिस) अन्न—जैसे पित्तजन्य शोथ में विदाही अन्न। विहार—जैसे वातोन्माद में भय बतलाना।
व्याधि-विपरीतार्थकारी	औषध—जैसे छर्दि में मैनफल से वमन कराना। अन्न—जैसे अतिसार में दूध से विरेचन। विहार—जैसे छर्दि में प्रवाहण।
हेतु-व्याधि-विपरीतार्थकारी	औषध—जैसे अग्नि से जलने पर अगरु का लेप। अन्न—जैसे मदात्यय रोग में मद्यपान। विहार—जैसे श्रमजनित मूढ़वात में पानी में तैरना।

बाधक हैं।[1] यह सम्प्राप्ति १. संख्या, २. प्राधान्य, ३. विधि, ४. विकल्प और ५ बलकाल भेद से पांच प्रकार की है।

(१) संख्यासम्प्राप्ति—प्रत्येक रोग के भेदों की गणना का नाम संख्या-संप्राप्ति है। जैसे आठ प्रकार के ज्वर, पांच प्रकार के गुल्म, सात प्रकार के कुष्ठ इत्यादि।

(२) प्राधान्य-सम्प्राप्ति दोषों के अधिकतर व अधिकतम (तारतम्य) से रोगों की प्रधानता व अप्रधानता होती है। (वृद्ध पित्त, वृद्धतर वायु और वृद्ध-तम कफ, यह एक प्रकार का सन्निपात है।) दो दोषों में एक दोष बढ़ा हो तो अधिकतर, तीन दोषों में एक दोष बढ़ा हो तो 'अधिकतम' समझना चाहिये।[2]

(३) विधि-सम्प्राप्ति—व्याधि भेद से विधिरूप सम्प्राप्ति होती है। निज अर्थात् शारीरिक और आगन्तुज भेद से व्याधि दो प्रकार का है। वात आदि दोष भेद से तीन प्रकार का, और साध्य, असाध्य, मृदु और दारुण भेद से चार प्रकार का है।

(४) विकल्प-संप्राप्ति—जिस समय वात आदि दोष दो या तीन मिलते हैं, उस समय अंशांश बल की कल्पना (विवेचना) को विकल्प-सम्प्राप्ति कहते हैं। यथा—वायु के प्रकुपित होने पर भी कभी तो वात का शीत अंश बलवान् होता है, कभी लघु अंश और कभी रूक्ष अंश एवं कभी लघु और रूक्ष दोनों अंश बलवान् होते हैं।

(५) बलकालसम्प्राप्ति—ऋतु, दिन, रात, आहार और काल भेद से रोग के बलकाल में अन्तर पड़ जाता है। जैसे ऋतु और कफज्वर का वसन्त, अहोरात्र कफज्वर का पूर्वाह्ण और प्रदोष, आहार—कफज्वर का भुक्तमात्रकाल।

स्वस्थचित्त एवं बुद्धिमान् वैद्य (धैर्य एवं शान्ति तथा बुद्धि से) हेतु पूर्वरूप आदि से रोगों की यथार्थ परीक्षा करे। यह निदानस्थान का संक्षेप में वर्णन कर दिया, अब इसी का विस्तार से वर्णन करते हैं ॥६-७॥

तत्र प्रथमत एव तावदाद्याँल्लोभाभिद्रोह-कोप-प्रभवानष्टौ व्याधी-न्निदानपूर्वेण क्रमेणानुव्याख्यास्यामः, तथा सूत्रसंग्रहमात्रं चिकि-

---

१. कुछ लोग रोगोत्पत्ति के अन्तिम कारण से उत्पन्न कर्म को सम्प्राप्ति कहते हैं। यथा—'स यदा प्रकुपितः प्रविश्याऽऽमाशयम्' यहां से लेकर 'तदा ज्वर-मभिनिर्वर्तयति' तक ज्वर की सम्प्राप्ति कही है।

२. माधव-निदान में स्वतन्त्रता और परतन्त्रता को लक्ष्य में रखकर रोग की प्रधानता या अप्रधानता की परीक्षा की है।

त्सायाः। चिकित्सितेषु चोत्तरकालं तथोद्दिष्टं यथोपचितविकाराननुव्याख्यास्यामः ॥८॥

इनमें प्रथम निदान क्रम से लोभ, अभिद्रोह, कोप आदि से उत्पन्न आठ रोगों का वर्णन निदान स्थान में करेंगे, इसके पीछे संक्षेप से चिकित्सासूत्र कहेंगे। इसके अनन्तर सब रोगों का सविस्तर वर्णन चिकित्सास्थान में किया जायगा ॥ ८ ॥

इह तु ज्वर एवाऽऽदौ विकाराणामुपदिश्यते, तत्प्रथमत्वाच्छारीराणाम्। अथ खल्वष्टाभ्यो ज्वरः संजायते मनुष्याणाम्। तद्यथा वातात् पित्तात् कफात् वातपित्ताभ्यां, वातकफाभ्यां, पित्तश्लेष्मभ्यां, वातपित्तश्लेष्मभ्यः, आगन्तोरष्टमात्कारणात्। तस्य निदान-पूर्वरूप-लिङ्गोपशय-संप्राप्ति-विशेषानुपदेक्ष्यामः ॥ ९ ॥

ज्वर निदान—सब रोगों में प्रथम ज्वर का ही वर्णन करते हैं। क्योंकि शारीरिक रोगों में सब से मुख्य ज्वर है।

मनुष्यों को ज्वर आठ कारणों से होता है। १. वात से, २. पित्त से, ३. कफ से, ४. वात-पित्त से, ५. पित्त-कफ से, ६. वात-कफ से, ७. वात-कफ और पित्त (सन्निपात) से और ८. आगन्तुज कारण से।

अब ज्वर के निदान, पूर्वरूप, लिंग, उपशय और सम्प्राप्ति का विस्तार से वर्णन करते हैं ॥ ९ ॥

तद्यथा--रूक्ष-लघु-शीत-व्यायाम-वमन-विरेचनाऽऽस्थापन-शिरोविरेचनातियोग-वेगसंधारणानशनाभिघात-व्यवायोद्वेग-शोक-शोणिताभिषेक-जागरण-विषम-शरीर-न्यासेभ्योऽतिसेवितेभ्यो वायुः प्रकोपमापद्यते।

वात प्रकोप के कारण—रूक्ष, लघु, शीत, व्यायाम, वमन, विरेचन, आस्थापन इनके अतियोग से, मल-मूत्र आदि के उपस्थित वेग को रोकने से, उपवास से, चोट लगने से, स्त्रीसंग, उद्वेग, शोक, और रक्त के अधिक निकलने से, रात्रि-जागरण से, विषम रीति से शरीर के अवयवों को रखने से, इन कारणों के अतिसेवन से वायु प्रकुपित होती है।

स यदा प्रकुपितः प्रविश्याऽऽमाशयमूष्मणः स्थानमूष्मणा सह मिश्रीभूत आद्यमाहारपरिणामधातुं रसनामानमन्ववेत्य रसस्वेदवहानि च स्रोतांसि च पिधायाग्निमुपहत्य पक्तिस्थानादूष्माणं बहिर्निरस्य केवलं शरीरमनुप्रपद्यते, तदा ज्वरमभिनिर्वर्तयति। तस्येमानि लिङ्गानि भवन्ति ॥

सम्प्राप्ति—उपरोक्त कारणों से कुपित हुवा वायु उष्णिमा के स्थान आमाशय में पहुंच जाता है। वहां उष्णिमा के साथ मिलता है। फिर अन्न के पाचन से उत्पन्न 'रस' नाम के धातु का आश्रय लेता है। इस धातु का आश्रय लेकर वायु रसवह और स्वेदवह स्रोतों को बन्द कर देता है, जठराग्नि को मन्द कर देता है और आमाशय से पाचकाग्नि को बाहर निकाल कर सम्पूर्ण शरीर में फैला देता है, इस लिये ज्वर उत्पन्न होता है। इस वातज्वर के निम्न लिखित लक्षण होते हैं॥

तद्यथा–विषमारम्भविसर्गित्वम्, ऊष्मणो वैषम्यं, तीव्रतनुभावानवस्थानानि ज्वरस्य, जरणान्ते दिवसान्ते निशान्ते धर्मान्ते वा ज्वराभ्यागमनमभिवृद्धिर्वा ज्वरस्य। विशेषेण परुषारुणवर्णत्वं नख-नयन-वदन-मूत्र-पुरीष-त्वचामत्यर्थं क्षुप्तीभावश्च, अनेकविधोपमाश्चलाचलाश्च वेदनास्तषां तेषामङ्गावयवानां, तद्यथा–पादयोः सुप्तता, पिण्डिकयोरुद्वेष्टनं, जानुनोः केवलानां च सन्धीनां विश्लेषणमूर्वोः सादः, कटि-पार्श्व-पृष्ठ-स्कन्ध-बाह्वंसोरसां च भग्न-रुग्ण-मृदित-मथित-चटितावपीडितावनुन्नत्वमिव, हन्वोश्चाप्रसिद्धिः, स्वनश्च कर्णयोः, शङ्खयोर्निस्तोदः, कषायास्यताऽऽस्यवैरस्यं वा, मुख-तालु-कण्ठ-शोषः, पिपासा, हृदयग्रहः, शुष्कच्छर्दिः, शुष्ककासः, क्षवथूद्गारविनिग्रहोऽन्नरसखेदः, प्रसेकारोचकाविपाकाः, विषाद-विजृम्भा-विनाम-वेपथु-श्रम-भ्रम-प्रलाप-जागरण-रोमहर्ष-दन्तहर्षास्तथोष्णाभिप्रायता, निदानोक्तानामनुपशयो विपरीतोपशयश्चेति वातज्वरस्य लिङ्गानि स्युः॥ १०॥

वातज्वर के लक्षण—जैसे ज्वर के चढ़ने या उतरने के समय का नियम न होना, शरीर में उष्णिमा का नियम न होना, ज्वर की तीव्रता या कम होने की प्रतीति में अस्थिरता, अन्न के पचन होने के समय, सायंकाल में, अथवा वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में ज्वर का आना, अथवा ज्वर में वृद्धि होना; विशेषतः नख, आंख, मूत्र, मल, और त्वचा का बहुत कठिन और काला-लाल रंग पड़ना, मलमूत्र का अवरोध, (नख-त्वचा आदि का फटना), भिन्न-भिन्न अंगों में नाना प्रकार की चल और अचल (गतिशील या स्थिर) पीड़ाओं का होना। जैसे—दोनों पांवों में सो जाने की सी प्रतीति, पिण्डलियों में ऐंठन, घुटने एवं सम्पूर्ण सन्धियों में टूटने और गीले कपड़े से ढांपे होने की भांति की दर्द जंघाओं में शिथिलता; कमर, पार्श्व-पीठ-स्कन्ध-बाहु और छाती में टूटने के समान, फटने के समान, मर्दन करने के समान, चटकने के समान,

अवपीडन अर्थात् दबाने के समान और सूइयां चुभने के समान वेदनायें होती हैं। हनुग्रह (जबाड़े का न खुलना), कानों में आवाज़ (कर्णनाद) कान एवं शंख प्रदेश (कनपटी) में वेदना, मुख का कषाय स्वाद, मुख में विरसता, मुख, तालु, कण्ठ का पुनः २ सूखना; प्यास का अधिक लगना, दिल या छाती का जकड़ना, रुक जाना, सूखी उबकाई, वमन होने पर वमन में किसी पदार्थ का बाहर न निकलना, सूखी खांसी, छींक और डकार का बन्द हो जाना; सब अन्नरसों में अनिच्छा (अथवा अन्न रस का वमन); मुख से पानी का बहना; अरुचि, भोजन की अनिच्छा, अविपाक (भोजन का न पचना), विषाद, जम्भाईयां आना, अंगों का मुड़ना-तुड़ना, अंगड़ाईं आना, कम्पन, प्रलाप, जागरण (नींद का न आना), रोमों का भर-भरा आना (दान्तों का स्तब्ध हो जाना) गरम वस्तुओं की चाह; एवं वातज्वर के निदानभूत वस्तुओं का सेवन अनुकूल न आना तथा निदान (रूक्ष लघु, शीतादि गुणों) के विपरीत गुणों वाले पदार्थों को अनुकूल आना ये सब वातज्वर के लक्षण हैं ॥ १० ॥

उष्णाम्ल-लवण-क्षार-कटुकाजीर्ण-भोजनेभ्योऽतिसेवितेभ्यस्तथाऽतितीक्ष्णातपाग्नि-सन्ताप-श्रम-क्रोध-विषमाहारेभ्यश्च पित्तं प्रकोपमापद्यते।

पित्त प्रकोप के कारण—उष्ण, खट्टा, नमकीन, क्षार, कटु और अजीर्णकारक पदार्थों के अतिसेवन से; तथा अतितीक्ष्ण, बहुत धूप, अग्निसन्ताप, श्रम, क्रोध, विषम भोजन के सेवन से पित्त प्रकुपित होता है।

तद्यदा प्रकुपितमामाशयादूष्माणमुपसृज्याऽऽद्यमाहारपरिणामधातुं रसनामानमन्ववेत्य रसस्वेदवहानि स्रोतांसि पिधाय द्रवत्वादग्निमुपहत्य पक्तिस्थानादूष्माणं बहिर्निरस्य प्रपीडयत्केवलं शरीरमनुप्रपद्यते तदा ज्वरमभिनिर्वर्तयति; तस्येमानि लिङ्गानि भवन्ति।

पित्तज्वर की सम्प्राप्ति—यह प्रकुपित हुवा पित्त आमाशय में स्थित उष्णिमा से मिलकर, अन्न के पाचन से उत्पन्न प्रसाद नामक रस से मिलकर रसवह और स्वेदवह स्रोतों को बन्द कर देता है और पित्त द्रव होने से अग्निको मन्द करता है, इसलिये पक्वाशय से उष्णिमा को बाहर निकाल देता है, तब पित्त सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर शरीर को पीड़ित करता है। इस प्रकार से ज्वर को उत्पन्न करता है। पित्त ज्वर के लक्षण ये होते हैं॥

तद्यथा—युगपदेव केवले शरीरे ज्वरस्याभ्यागमनमभिवृद्धिर्वा भुक्तस्य विदाहकाले मध्यन्दिनेऽर्धरात्रे शरदि वा विशेषेण, कटुकास्यता

घ्राण-मुख-कण्ठोष्ठ-तालु-पाकः, ऊष्मा, तृष्णा, भ्रमः, मदः, मूर्च्छा, पित्तच्छर्दनमतीसारोऽन्नद्वेषः, सदनं, संस्वेदः, प्रलापः, रक्तकोठाभिनिर्वृत्तिः शरीरे, हरितहारिद्रत्वं नख-नयन-वदन-मूत्र-पुरीष-त्वचामत्यर्थमूष्मणस्तीव्रभावोऽतिमात्रं दाहः, शीताभिप्रायता, निदानोक्तानामनुपशयो, विपरीतोपशयश्चेति पित्तज्वरलिङ्गानि भवन्ति ॥ ११ ॥

पित्त-ज्वर के लक्षण—यथा—सम्पूर्ण शरीर में एक साथ (सहसा) ज्वर का चढ़ना, अथवा ज्वर का बढ़ना; भोजन के पचने के समय, मध्यान्ह में, आधी रात में, शरद् ऋतु में, विशेष करके ज्वर बढ़ता है; मुख में कड़वापन; नासिका, मुख, कण्ठ, ओष्ठ, तालु का पकना; गरमी, प्यास का लगना, भ्रम, मद, मूर्च्छा, पित्त का वमन, अतिसार, अन्न में अनिच्छा, पसीना आना, प्रलाप, शरीर पर लाल लाल धब्बे वा चक्के, फुन्सियां निकलना, नख-आंख-मुख-मूत्र-मल-त्वचा इन का रंग हरा या हल्दी के समान हो जाना; गरमी बहुत बढ़ जाना, बहुत अधिक जलन होना, शीत वस्तुओं की चाह रहना और पित्त ज्वर के कारण रूप पदार्थों का अनुकूल न आना एवं विपरीत गुण वाले पदार्थों का अनुकूल आना ये पित्तज्वर के लक्षण हैं ॥ ११ ॥

स्निग्ध-गुरु-मधुर-पिच्छिल-शीताम्ल-लवण-दिवास्वप्न-हर्षाऽव्यायामेभ्योऽतिसेवितेभ्यः श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते ।

कफ प्रकोप के कारण—चिकास, मीठे, भारी, शीतल, पिच्छिल, खट्टे नमकीन पदार्थों के अतिसेवन से, दिन में सोने से, हर्ष वा आनन्द के अति सेवन तथा व्यायाम के न करने से कफ प्रकुपित होता है ।

स यदा प्रकुपितः प्रविश्याऽऽमाशयमूष्मणा सह मिश्रीभूयाऽऽद्यमाहारपरिणामधातुं रसनामानमन्ववेत्य रसस्वेदवहानि स्रोतांसि पिधायाग्निमुपहत्य पक्तिस्थानादूष्माणं बहिर्निरस्य प्रपीडयन् केवलं शरीरमनुप्रपद्यते, तदा ज्वरमभिनिर्वर्तयति; तस्येमानि लिङ्गानि भवन्ति ।

कफज्वर की सम्प्राप्ति—कुपित कफ आमाशय में आकर उष्णिमा के साथ मिलकर, अन्न के परिणाम भूत रस नामक धातु से मिल कर, रसवह और स्वेदवह स्रोतों को बन्द करके अग्नि को मन्द कर देता है । पक्वाशय से अग्नि को बाहर निकाल कर सम्पूर्ण शरीर को पीड़ित करता है । इस प्रकार से कफ ज्वर को उत्पन्न करता है । कफ ज्वर के लक्षण ये होते हैं ।

तद्यथा—युगपदेव केवले शरीरे ज्वरस्याभ्यागमनमभिवृद्धिर्वा । भुक्तमात्रे पूर्वाह्णे पूर्वरात्रे वसन्तकाले वा विशेषेण गुरुगात्रत्वमनन्ना-

मिलाषः, श्लेष्मप्रसेको, मुखस्य च माधुर्य, हृल्लासो, हृदयोपलेपस्तिमितत्वं, छर्दिर्मृदुग्निता, निद्राधिक्यं, स्तम्भस्तन्द्रा, श्वासः, कासः, प्रतिश्यायः,शैत्यं, श्वैत्यं च नख-नयन-वदन-मूत्र-पुरीष-त्वचामत्यर्थं,शीतपिडकाश्च भृशमङ्गेभ्य उत्तिष्ठन्ति, उष्णाभिप्रायता, निदानोक्तानामनुपशयो विपरीतोपशयश्चेति श्लेष्मज्वरलिङ्गानि भवन्ति ॥ १२ ॥

कफज्वर के लक्षण—यथा–सम्पूर्ण शरीर में ज्वर एक साथ आता है, या बढ़ता है। भोजन करने के समय (या खा चुकने पर ही) पूर्वाह्न में, रात्रि के प्रथम भाग में, या वसन्त ऋतु में ज्वर का वेग बढ़ा होता है। शरीर में भारीपन, भोजन में अरुचि, मुख से लार बहना, मुख में मिठास, वमन की रुचि, बेचैनी, हृदय का रुकना, हृदय (आमाशय) प्रदेश पर कफ का लगा रहना, आलस्य (तन्द्रा), वमन, अग्नि का मन्द होना, नींद का अधिक आना, जड़ता सुस्ती, खांसी, श्वास, जुकाम, शीत लगना, नख, आंख, मुख, मूत्र, मल और त्वचा में सफेदी; शरीर पर बहुतसी पिडिकाओं, फुन्सियों का निकल आना, इन पिडकाओं का स्पर्श शीतल होता है। उष्ण पदार्थों की चाह रहती है, कफज्वर के कारण वाले पदार्थों का अनुकूल न आना और विपरीत गुण वाले पदार्थों का अनुकूल आना होता है। ये कफज्वर के लक्षण हैं ॥१२॥

विषमाशनादनशनादन्नपरिवर्त्तादृतुव्यापत्तेरसात्म्यगन्धोपघ्राणाद् विषोपहतस्योदकस्य चोपयोगाद् गरेभ्यो गिरीणां चोपश्लेषात् स्नेह-स्वेद-वमन-विरेचनाऽऽस्थापनानुवासन-शिरोविरेचनानामयथावत्प्रयोगात् मिथ्यासंसर्जनाद्वा स्त्रीणां च विषमप्रजननात् प्रजातानां च मिथ्योपचाराद्यथोक्तानां च हेतूनां मिश्रीभावाद्यथानिदानं द्वन्द्वानामन्यतमः सर्वे वा त्रयो दोषा युगपत्प्रकोपमापद्यन्ते, ते प्रकुपितास्तयैवाऽऽनुपूर्व्या ज्वरमभिनिर्वर्तयन्ति।

तीन दोषों के प्रकोप के कारण ज्वर–विषम भोजन से, भोजन के न करने से, ऋतु के बदलने से, ऋतु के विकृत (अतियोग, मिथ्यायोग) होने से; प्रतिकूल-गंधयुक्त पदार्थों के सूंघने से; विषयुक्त पानी के उपयोग से; संयोगजन्य विष के दोष से; पर्वतों के पास में रहने से; स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, और शिरोविरेचन के अयोग्य प्रयोग से स्त्रियों के विषम प्रसव करने से; बालक की उत्पत्ति के पीछे मिथ्या परिचर्य्या से; और पूर्व कहे हुए वात, पित्त, कफ इन दोषों के परस्पर मिश्रण से दो दोष या तीनों दोष एक साथ प्रकुपित हो जाते हैं। औषधिकी गन्ध से ज्वर होता है–यथा"–हाई फीवर"।

तत्र यथोक्तानां ज्वरलिङ्गानां मिश्रीभावविशेषदर्शनाद् द्वान्द्विकमन्यतमं ज्वरं सान्निपातिकं वा विद्यात् ॥ १३ ॥

संसर्गज व सान्निपातिक ज्वर—इस प्रकार से दो दोष या तीन दोष साथ मिलकर अनुक्रम से—कफ-वातज, कफ-पित्तज और कफ-वात-पित्तज ज्वर को उत्पन्न करते हैं। द्वन्द्वज ज्वर में दो दोष कुपित होकर दोनों दोषों के लक्षण उत्पन्न करते हैं, इसी प्रकार तीनों दोषों से उत्पन्न ज्वर में तीनों दोषों के लक्षण होते हैं। इन लक्षणों को देखकर दो या तीन दोषों से उत्पन्न ज्वरों को जानना चाहिये ॥ १३ ॥

अभिघाताभिषङ्गाभिचाराभिशापेभ्य आगन्तुर्हि व्यथापूर्वो ज्वरोऽष्टमो भवति।

आगन्तुज ज्वर—अभिघात (चोट आदि के लगना), अभिषंग (काम आदि वेग), अभिचार (अथर्वमन्त्र आदि से ज्वर पैदा करना), अभिशाप (गुरु, सिद्ध आदि पुरुषों का शाप), इन मुख्य चार कारणों से व्यथापूर्वक आगन्तुज ज्वर उत्पन्न होता है। [1]यह ज्वर आठवां प्रकार का है।

स किंचित्कालमागन्तुः केवलो भूत्वा पश्चाद् दोषैरनुबध्यते। तत्राभिघातजो वायुना दुष्टशोणिताधिष्ठानेन, अभिषङ्गजः पुनर्वातपित्ताभ्यां, अभिचाराभिशापजौ तु सन्निपातेनानुबध्येते। स सप्तविधाज्ज्वराद्विशिष्टलिङ्गोपक्रमसमुत्थानत्वाद्विशिष्टो वेदितव्यः, कर्मणा साधारणेन चोपक्रम्यत इत्यष्टविधा ज्वरप्रकृतिरुक्ता ॥ १४ ॥

आगन्तुज ज्वर की सम्प्राप्ति—आगन्तुज ज्वर उत्पन्न होकर कुछ काल (सात दिन वा तीन दिन) तक रहता है, फिर वात आदि दोष के साथ मिल जाता है। अभिघातज ज्वर में प्रथम चोट आदि से ज्वर उत्पन्न होता है, पीछे से दोष उत्पन्न होता है। इस ज्वर में वायु दूषित रक्त के साथ मिलकर इसका आश्रय करके रहता है। अभिषंगज ज्वर वात-पित्त का आश्रय करता है। अभिचार और अभिशाप से उत्पन्न ज्वर तीनों दोषों का आश्रय करके रहते हैं। आगन्तुज ज्वर के लक्षण, चिकित्सा और इसका निदान, दूसरे वात आदि दोषों से उत्पन्न सात प्रकार के ज्वर से सर्वथा भिन्न प्रकार के हैं, अर्थात् दैवव्यपाश्रय बलि मंगल आदि तथा युक्ति व्यपाश्रय चिकित्सा करनी चाहिये। इसका साधारण कर्म, सब प्रकार के ज्वरों में सामान्यतः एक ही

---

१. 'व्यथापूर्वः' आगन्तुज ज्वर में व्यथा ही पूर्वरूप है। इन में प्रथम ज्वर होकर फिर दोषों का सम्बन्ध होता है।

प्रकार की चिकित्सा की जाती है, क्योंकि ज्वर एक ही प्रकार का है। इस प्रकार से ज्वर के आठ प्रकार कह दिये हैं ॥१४॥

ज्वरस्त्वेक एव संतापलक्षणः । तमेवाभिप्रायविशेषाद् द्विविधमाचक्षते । निजागन्तुविशेषाच्च । तत्र निजं द्विविधं त्रिविधं चतुर्विधं सप्तविधं चाऽऽहुर्भिषजो वातादिविकल्पात् ॥ १५ ॥

ज्वर तो एक ही प्रकार का है। क्योंकि सब प्रकार के ज्वरों में 'सन्ताप' (गरमी) पाई जाती है। परन्तु अभिप्राय विशेष को लेकर इसके निज (शारीरिक) और आगन्तुज ये दो भेद किये जाते हैं। इसमें निजज्वर को वातादि दोषों की विकल्पना से (संसृष्ट और असंसृष्ट शीत या उष्णभेद से) दो प्रकार का, (वात आदि दोष भेद से) तीन प्रकार का, (वात, पित्त, कफ और सन्निपातज भेद से) चार प्रकार का, (दोष जन्य, मिश्रण सन्निपात भेद से) सात प्रकार का कहा जाता है ॥१५॥

तस्येमानि पूर्वरूपाणि । तद्यथा—मुखवैरस्यं गुरुगात्रत्वमनन्नाभिलाषश्चक्षुषोराकुलत्वमस्रागमनं निद्राया आधिक्यमरतिर्जृम्भा विनामो वेपथुः श्रम-भ्रम-प्रलाप-जागरण लोमहर्ष-दन्तहर्षाः शब्द-शीत-वातातपासहत्वासहत्वमरोचकाविपाकौ दौर्बल्यमङ्गमर्दः सदनमल्पप्राणता-दीर्घसूत्रताऽऽलस्यमुचितस्य कर्मणो हानिः प्रतीपता स्वकार्येषु गुरूणां वाक्येष्वभ्यसूया, बालेषु प्रद्वेषः, स्वधर्मेष्वचिन्ता माल्यानुलेपन-भोजन-परिक्लेशनं मधुरेषु भक्ष्येषु प्रद्वेषोऽम्ललवणकटुकप्रियता चेति ज्वरपूर्वरूपाणि भवन्ति प्राक्सन्तापात्, अपि चैनं सन्तापार्त्तमनुबध्नन्ति ॥ १६ ॥

इत्येतान्येकैकशो ज्वरलिङ्गानि व्याख्यातानि भवन्ति विस्तरसमासाभ्याम् ।

ज्वर के पूर्वरूप—इस ज्वर के पूर्वरूप ये हैं। जैसे-मुख में विरसता, शरीर में भारीपन, भोजन में अनिच्छा, आंखों में बेचैनी, आंखों से आंसू बहना; नींद का अधिक आना,[1] बेचैनी, जंभाई आना, शरीर का मुड़ना[2] कम्पन, श्रम, भ्रम, प्रलाप, नींद का न आना, लोमहर्ष, शब्द, शीत,[3] वायु, धूप की कभी सहन करने की रुचि और कभी सहने में अरुचि का होना; भोजन में

१. 'अस्रागमनम्' इति वा पाठः । अर्थात् आंखे लाल हो जाती हैं।

२. 'विराम' इति पाठान्तरम्, अर्थात् मन की उदासीनता ।

३. शीत के स्थान पर 'गीत' पाठान्तर है, वहां गीत अर्थात् संगीत में अनिच्छा ।

अरुचि, अविपाक, दुर्बलता, अंगों का टूटना, शक्ति का कम हो जाना; अल्पप्राणता, दीर्घसूत्रता (काम में आलस्य), आरम्भ किये हुए कार्य में इच्छा का न होना, अपने किये हुए काम में प्रतिकूलता, गुरुजनों के वाक्यों में अश्रद्धा, बालकों से द्वेष, अपने कर्त्तव्य में (धर्मकार्य में) बेपर्वाही; फूलों की माला, चन्दन का लेपन, और भोजन में दुःख मानना; मधुर वस्तुओं से द्वेष, खट्टे-नमकीन कड़ुवे पदार्थों की चाह होना,—ये ज्वर के पूर्व रूप हैं संताप से भी पूर्व, सन्तापयुक्त रोगी में प्रतीत होने लगते हैं। इस प्रकार से ज्वर के लक्षण अलग अलग विस्तार एवं संक्षेप में कह दिये हैं॥ १६ ॥

ज्वरस्तु खलु महेश्वर-कोप-प्रभवः सर्वप्राणिनां प्राणहरो देहेन्द्रियमनस्तापकरः प्रज्ञा-बल-वर्ण-हर्षोत्साह-सादनः[1],श्रम-क्लम-मोहाहारोपरोध-संजननो, ज्वरयति शरीराणि इति ज्वरः, नान्ये व्याधयस्तथा दारुणा बहूपद्रवा दुश्चिकित्स्याश्च यथाऽयमिति, स सर्वरोगाधिपतिर्नानातिर्यग्योनिषु बहुविधैः शब्दैरभिधीयते, सर्वप्राणभृतश्च सज्वरा एव जायन्ते सज्वरा एव म्रियन्ते, स महामोहः, तेनाभिभूता देहिनः प्राग्दैहिकं कर्म किंचिदपि न स्मरन्ति, सर्वप्राणभृतां च ज्वर एवान्ते प्राणानादत्ते ॥ १७ ॥

ज्वर का परिणाम—ज्वर महेश्वर के क्रोध से उत्पन्न हुआ है। यह ज्वर सब प्राणियों का प्राण लेने वाला, इन्द्रिय और मन को ताप (दुःख) देने वाला; बुद्धि, बल, कान्ति, हर्ष, उत्साह का नाश करने वाला, व्याधि, श्रम, क्लान्ति, मोह और क्षुधानाश को उत्पन्न करने वाला है।

ज्वर शब्द की निरुक्ति—ज्वर शरीरों को पीड़ित करता है, इसलिये इसको 'ज्वर' कहते हैं। इसके समान कठिन, बहुत उपद्रवयुक्त, चिकित्सा करने में दुःसाध्य और दूसरा रोग नहीं है। ज्वर ही सब रोग का अधिपति है। नानाप्रकार के पशु पक्षियों में अनेक प्रकार के शब्दों से कहा जाता है।[2] सब प्राणी ज्वर के साथ उत्पन्न होते हैं और ज्वर के साथ ही मरते हैं। ज्वर महामोह स्वरूप है, इसलिये इस ज्वर से आक्रान्त होने से पूर्वजन्म (पूर्व शरीर) के किसी भी कर्म का स्मरण नहीं करता। यह ज्वर ही सब प्राणियों के प्राणों का हरण करता है॥ १७ ॥

१. 'त्साहह्रासकरः' इति पाठः। २. यथा—हाथियों में होने वाले ज्वर को 'पाकल', गायों में होने वाले ज्वर को 'खेरिक', मछलियों के ज्वर को 'इन्द्रमद', पक्षियों के ज्वर को 'भ्रामरक' कहते हैं।

तत्र पूर्वरूपदर्शने ज्वरादौ वा हितं लघ्वशनमतर्पणं वा ज्वरस्याऽऽमाशयसमुत्थत्वात् ततः कषायपानाभ्यङ्ग-स्वेद-प्रदेह-परिषेकानुलेपन-वमन-विरेचनाऽऽस्थापनानुवासनोपशमन-नस्तःकर्म-धूप-धूमपानाञ्जन-क्षीरभोजन-विधानं च यथास्वं युक्त्या प्रयोज्यम् ।

ज्वर के चिकित्सा सूत्र—ज्वर के पूर्व रूप होने पर अथवा ज्वर के प्रारम्भ में ही हलका अन्न सेवन करना अथवा लंघन करना चाहिये। क्योंकि ज्वर आमाशय से उत्पन्न होता है। इसके अनन्तर कषाय (क्काथ) अभ्यंग, स्वेद प्रदेह (लेप), परिषेक, अनुलोमन (वात को अनुकूल करने की क्रिया), वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासनबस्ति, कर्म उपशमन, नस्यकर्म, धूपन, धूमपान, अंजन और दूध भोजन की कल्पना, यथायोग्य उपयोग करना चाहिये॥

जीर्णज्वरेषु तु सर्वेष्वेव सर्पिषः पानं प्रशस्यते, यथास्वौषधसिद्धस्य सर्पिर्हि स्नेहाद्वातं शमयति, संस्कारात्कफं, शैत्यात्पित्तमूष्माणं च । तस्माज्जीर्णज्वरेषु तु सर्वेष्वेव सर्पिर्हितमुदकमिवाग्निप्लुष्टेषु द्रव्येष्विति १८

जीर्णज्वर में घृतपान—सब प्रकार के जीर्ण ज्वरों में घी का पान करना प्रशस्त है। इसके लिये योग्य रीति से औषधियों द्वारा सिद्ध किया घी काम में लाना चाहिये। चिकना होने से घी वायु का शमन करता है, भिन्न २ औषधियों के संस्कार से कफ को शीतलता से पित्त और उष्मा को शान्त करता है। इसलिये सब प्रकार के जीर्णज्वरों में घी ऐसा ही हितकारक होता है जिस प्रकार कि आग से जलते हुए पदार्थों के लिये पानी हितकारक है ॥१८॥

भवन्ति चात्र—यथा प्रज्वलितं वेश्म परिषिञ्चन्ति वारिणा ।
नराः शान्तिमभिप्रेत्य तथा जीर्णज्वरे घृतम् ॥ १९ ॥
स्नेहाद्वातं शमयति, शैत्यात्पित्तं नियच्छति ।
घृतं तुल्यगुणं दोषं संस्कारात्तु जयेत्कफम् ॥ २० ॥
नान्यः स्नेहस्तथा कश्चित्संस्कारमनुवर्तते ।
यथा सर्पिरतः सर्पिः सर्वस्नेहोत्तमं मतम् ॥ २१ ॥

संस्कारसिद्ध घृत—जिस प्रकार आग से जलते हुए घर को बुझाने के लिये मनुष्य पानी डाला करते हैं, उसी प्रकार जीर्णज्वर में घृत का उपयोग उत्तम है घी स्नेह गुण से वायु को, शीतगुण से पित्त को तथा जिस औषधि से सिद्ध किया जाता है उस औषधि का गुण लेकर कफ को शान्त करता है।

घृत की श्रेष्ठता—जिस प्रकार घी दूसरी दवाईयों के गुण अपने में ग्रहण

करके संस्कारयुक्त हो जाता है उस प्रकार और कोई अन्य स्नेह पदार्थों के गुण ग्रहण नहीं करता। इसलिये सब स्नेहों में घी ही श्रेष्ठ है ॥१९-२१॥

गद्योक्तो यः पुनः श्लोकैरर्थः समनुगीयते।
तद्व्यक्तिव्यवसायार्थं द्विरुक्तं तन्न गह्यते ॥ २२ ॥

जो अर्थ गद्यरूप में कहा गया है, उसी को श्लोक रूप में कहते हैं। इसमें पुनरुक्त दोष नहीं है। क्योंकि गद्य में कहे हुए विषय को ही पुनः और अधिक स्पष्ट और दृढ़ करने के लिये पद्य में कहा जाता है ॥२२॥

तत्र श्लोकाः—त्रिविधं नामपर्यायैर्हेतुं पञ्चविधं गदम्।
गदलक्षणपर्यायान् व्याधेः पञ्चविधं ग्रहम् ॥ २३ ॥
ज्वरमष्टविधं तस्य प्रकृष्टासन्नकारणम्।
पूर्वरूपं च रूपं च भेषजं संग्रहेण च ॥ २४ ॥
व्याख्यातवान्[1] ज्वरस्याग्रे निदाने विगतज्वरः।
भगवानग्निवेशाय प्रणताय पुनर्वसुः ॥ २५ ॥

रोगों के तीन प्रकार के हेतु, पर्य्यायवाचक शब्द, पांच प्रकार के रोग, इनके लक्षण, पर्य्यायवाचक शब्द, रोगों के पांच प्रकारों का संग्रह, ज्वर के आठ भेद, इसके समीप एवं दूरवर्त्ती कारण, ज्वर के पूर्वरूप, रूप और औषध का संक्षेप में वर्णन, ये सब विषय 'ज्वर-निदान' नामक अध्याय में विनीत अग्निवेश को भगवान् पुनर्वसु ने उपदेश किये।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते निदानस्थाने ज्वरनिदानं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

अथातो रक्तपित्तनिदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब रक्तपित्त निदान का व्याख्यान करेंगे, जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

पित्तं यथा भूतं लोहितपित्तमिति संज्ञां लभते तथाऽनुव्याख्यास्यामः। यदा जन्तुर्यवकोद्दालक-कोरदूषक-प्रायाण्यन्नानि भुङ्क्ते भृशोष्ण-

1. 'व्याजहार' इति पाठः।

तीक्ष्णमपि चान्नजातं निष्पाव-माष-कुलत्थ-क्षार-सूपोपहितं दधि-मण्डोदश्वित्कट्वराम्ल-काञ्जिकोपसेकं वाराह-माहिषाविक-मात्स्य-गव्य-पिशित-पिण्याक-पिण्डालु-शुष्क-शाकोपहितं मूलक-सर्षप-लशुन-करञ्ज-शिग्रु-मधुशिग्रु-खडयूष-भूस्तृण-सुमुख-सुरस-कुठेर-गण्डीर-कालमानक-पर्णास-क्षवक-फणिज्जकोपदंशं सुरासौवीरक-तुषोदक-मैरेय-मेदक-मधूलक-शुक्त-कुवल-बदराम्ल-प्रायानुपानं पिष्टान्नोत्तरभूयिष्ठमुष्णाभितप्तो वाऽतिमात्रमतिवेलं पयः पिबति पयसा वा समश्नाति रौहिणीकं काणकपोतं वा सर्षपतैलक्षारसिद्धं कुलत्थ-पिण्याक-जाम्बव-लकुच-पक्वैः शौक्तिकैर्वा सह क्षीरमाममतिमात्रमथवा पिबत्युष्णाभितप्तस्तस्यैवमाचरतः पित्तं प्रकोपमापद्यते, लोहितं च स्वप्रमाणमतिवर्तते, तस्मिन् प्रमाणातिप्रवृत्ते पित्तं प्रकुपितं शरीरमनुसर्पद्यदैव यकृत्प्लीहप्रभवाणां लोहितवहानां स्रोतसां लोहिताभिष्यन्दगुरूणि मुखान्यासाद्य प्रतिरुन्ध्यात् तदैव लोहितं दूषयति ॥ ३ ॥

जिस प्रकार से पित्त को 'रक्तपित्त' कहते हैं, उसकी व्याख्या करते हैं। जब मनुष्य यवक (व्रीहि-विशेष), उद्दालक (वनकोद्रव) कोरदूष, इनमें मिले खान-पान के अति सेवन से, अथवा दूसरे कोई अति उष्ण या तीक्ष्ण गुण वाले अन्न के सेवन करने से, अथवा पूए, उड़द, कुलथी, दालें, क्षारयुक्त पदार्थों के सेवन से, दही, दधिमण्ड (मस्तु), उदश्वित् (आधा जल मिश्रित तक्र), कट्वर, (बिना पानी का तक्र या खट्टी छाछ), अम्लकांजी (खट्टी कांजी), सूअर, भैंस, भेड़, मछली और गाय के मांस के सेवन से, पिण्याक (फेणी) पिण्डालु, कचालु शुष्क शाक (सूखे शाक) से युक्त अन्न पान के सेवन से, मूली, सरसों, लशुन, करञ्ज, सहजन, मधुशिग्रु (मीठा सहजन), खडयूष (कढी आदि), भूस्तृण (रोहिष तृण), सुमुख, सुरस, कुठेर, गण्डीर, कालमानक, पर्णास, क्षवक और फणिज्जक (सब तुलसी के भेद) इनके सेवन से, सुरा, सौवीर (कांजी), तुषोदक, मैरेय, मेदक, मधूलक (महुवे की शराब), शुक्त (सिरका आदि), कुवल (बड़ा बेर), बेर अथवा दूसरे खट्टे पदार्थ मिश्रित वस्तुओं के अत्यन्त उपयोग करने से, अधिक उष्णिमा में रहने के पीछे अथवा पिट्ठी युक्त अन्न के खाने के उपरान्त बार बार पानी के पीने से, अथवा दूध के साथ रोहितक शाक या कबूतर का मांस, सरसों के तेल अथवा क्षार में सिद्ध किये हुए पदार्थों के खाने से, अथवा कुलथी, उड़द, पिण्याक, जामुन, लकुचा आदि पके हुए फलों के साथ कांजी या कच्चा दूध

अतिमात्रा में अथवा शरीर की गरम स्थिति में खाने से, मनुष्य का पित्त प्रकुपित होजाता है और रक्त अपनी मात्रा से अधिक बढ़ जाता है।

पित्त प्रकोप से रक्त का दोष—इस प्रकार प्रमाण में अधिक बढ़ा हुआ रक्त तथा प्रकुपित हुआ पित्त सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है और यकृत् एवं प्लीहा से उत्पन्न होने वाले रक्तवह स्रोतों के बढ़े हुए रक्त के कारण भरे हुए मुखों को पहुँचकर बन्द कर देता है। इस प्रकार संसर्ग द्वारा पित्त रक्त को दूषित कर देता है* ॥ ३ ॥

तल्लोहितसंसर्गाल्लोहितप्रदूषणाल्लोहितगन्धवर्णानुविधानाच्च पित्तं लोहितपित्तमित्याचक्षते ॥ ४ ॥

पित्त का रक्त के साथ संसर्ग होने से एवं शरीरस्थरक्त के पित्त के द्वारा दूषित होने से तथा पित्त का रक्त के समान गन्ध एवं रंग होने से पित्त को 'रक्तपित्त' कहते हैं ॥ ४ ॥

तस्येमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति। तद्यथा—अनन्नाभिलाषो भुक्तस्य विदाहः शुक्ताम्लगन्धरस उद्गारश्छर्देरभीक्ष्णागमनं छर्दितस्य बीभत्सता स्वरभेदो गात्राणां सदनं परिदाहो मुखाद्धूमागम इव लोहलोहितमत्स्यामगन्धित्वमपि चाऽऽस्यस्य रक्त-हरित-हारिद्रवत्वमङ्गावयवशकृन्मूत्र-स्वेद-लाला-सिङ्घाणकास्य-कर्णमल-पिडकोलिका-पिडकानामङ्गवेदन-लोहित-नील-पीत-श्यावानामर्चिष्मतां च रूपाणां स्वप्ने दर्शनमभीक्ष्णमिति लोहित-पित्त-पूर्वरूपाणि भवन्ति ॥ ५ ॥

रक्तपित्त के पूर्व रूप ये हैं—भोजन में अनिच्छा, खाये हुए अन्न का न पचना, खट्टे या शुक्त गन्ध अथवा रस की डकार आना, बार २ वमन की अभिरुचि, वमन में आये रक्त आदि पदार्थ की भयंकरता, स्वरभेद, अंगों का टूटना, शरीर में दाह, मुख से धुंए के समान श्वास आना, मुख से लोहा, रक्त, या मछली या कच्चे मांस की गन्ध आना, शरीर के अवयव, मल, मूत्र, पसीना, लार, नासिका का मल, मुख का मल, कान का मल, और नेत्र का मल तथा पिडकाओं का, लाल, हरा अथवा हल्दी के समान होना, अंगों में

---

* रक्त के बढ़ने से रक्तवह स्रोतों के मुख खुल जाते हैं। परन्तु पित्त के कारण रक्त के दूषित होने से रक्त में घनता बढ़ जाती है। इससे उनका मुख बन्द हो जाता है। पित्त रक्त को दूषित करता है। रक्तवहस्रोतों का प्रभाव स्थान यकृत् और प्लीहा हैं।

वेदना, स्वप्न में लाल, नीले, पीले, काले वा जलते हुए पदार्थों का बार बार दर्शन होना, रक्तपित्त के पूर्वरूप हैं ॥ ५ ॥

उपद्रवास्तु खलु दौर्बल्यारोचकाविपाक-श्वास-कास-ज्वरातीसार-शोफ-शोष-पाण्डुरोगाः स्वरभेदश्च ॥ ६ ॥

रक्तपित्त के उपद्रव—दुर्बलता, अरुचि, अविपाक, श्वास, कास, ज्वर, अतिसार, सूजन, शोष, पाण्डुरोग, और स्वरभेद ये रक्तपित्त के उपद्रव हैं ॥६॥

मार्गौ पुनरस्य द्वावूर्ध्वं चाधश्च । तद्बहुश्लेष्मणि शरीरे श्लेष्मसंसर्गादूर्ध्वं प्रपद्यमानं कर्णनासिकानेत्रास्येभ्यः प्रच्यवते । बहुवाते तु शरीरे वातसंसर्गादधः प्रपद्यमानं मूत्रपुरीषमार्गाभ्यां प्रच्यवते । बहुवातश्लेष्मणि शरीरे श्लेष्मवातसंसर्गाद् द्वावपि मार्गौ प्रपद्यते, तौ मार्गौ प्रपद्यमानं सर्वेभ्य एव यथोक्तेभ्यः खेभ्यः प्रच्यवते शरीरस्य ॥ ७ ॥

रक्तपित्त के दो मार्ग—रक्तपित्त के बाहर आने के दो मार्ग हैं । एक ऊर्ध्वमार्ग और दूसरा अधोमार्ग । जिस समय शरीर में कफ की प्रधानता होती है उस समय शरीर का पित्त कफ से मिलकर ऊर्ध्वगामी बन कर कान, नाक, नेत्र और मुखद्वार से बाहर निकलता है । वातप्रधान शरीर में पित्त वायु से मिलकर अधोगामी होता है । इस अवस्था में वह मल मूत्र के रास्ते से बाहर निकलता है और जब शरीर में वात और कफ दोनों प्रबल होते हैं तब शरीर में वात और कफ से मिलकर ऊर्ध्वमार्ग एवं अधोमार्ग दोनों से बाहर आता है । इन दोनों मार्गों से बाहर निकलता हुआ रक्तपित्त शरीर के सम्पूर्ण छिद्रों से निकलने लगता है ॥ ७ ॥

तत्र यदूर्ध्वभागं तत्साध्यं, विरेचनोपक्रमणीयत्वाद् बह्वौषधत्वाच्च । यदधोभागं तद्याप्यं, वमनोपक्रमणीयत्वादल्पौषधत्वाच्च । यदुभयभागं तदसाध्यं, वमनविरेचनायोगित्वादनौषधत्वाच्चेति ॥ ८ ॥

साध्य-असाध्य का विचार—इसमें जो रक्तपित्त ऊर्ध्वगामी है, वह साध्य है, क्योंकि इसकी चिकित्सा विरेचन द्वारा होती है और विरेचन की औषधियां बहुत हैं । जो रक्तपित्त अधोगामी है वह याप्य अर्थात् कष्टसाध्य है, क्योंकि इस की चिकित्सा वमन द्वारा होती है और वमन की औषधियां कम हैं । जो रक्तपित्त उभय-मार्गगामी अर्थात् ऊर्ध्व-अधोमार्गगामी है वह असाध्य है, क्योंकि इसमें वमन और विरेचन दोनों का उपयोग होता है और ऐसी औषधियां नहीं हैं ॥ ८ ॥

रक्तपित्तप्रकोपस्तु खलु पुरा दक्षयज्ञोद्ध्वंसे रुद्रकोपप्रभवाग्निना[1] प्राणिनां परिगतशरीरप्राणानामनु ज्वरमभवत्[2] ॥ ९ ॥

तस्याऽऽशुकारिणो दावाग्नेरिवाऽऽपतितस्यात्ययिकस्याऽऽशु प्रशान्तौ यतितव्यं मात्रां देशं कालं चाभिसमीक्ष्य संतर्पणेन वा मृदु-मधुर-शिशिर-तिक्त-कषायैरभ्यवहार्यैः प्रदेह-परिषेकावगाह-संस्पर्शनैर्वमनाद्यैर्वा तत्रावहितेनेति ॥ १० ॥

रक्तपित्त का इतिहास—प्राचीन काल में जिस समय रुद्र के गणों ने दक्ष के यज्ञ[3] का विध्वंस किया था। उस समय रुद्र के कोप से, सम्पूर्ण देहधारी प्राणियों को कष्ट देने वाले ज्वर के पीछे, अग्नि के समान उष्णशक्ति (रक्तपित्त) उत्पन्न हुआ। यह रक्तपित्त शीघ्र कार्य करने वाला, प्राणहारक एवं अग्नि के समान नाश करने वाला है। इसको शान्त करने का शीघ्र उपाय करना चाहिये। मात्रा, देश, काल आदि का विचार करके संतर्पण या अपतर्पण क्रिया द्वारा अथवा मृदु, मधुर, शीत, कटु, कषाय, रसयुक्त-भोजनों से, लेप, परिषेक, अवगाहन, संस्पर्शन, वमन आदि द्वारा सावधानी से चिकित्सा करनी चाहिये ॥१०॥

भवन्ति चात्र—साध्यं लोहितपित्तं तद्यदूर्ध्वं प्रतिपद्यते।
विरेचनस्य योगित्वाद् बहुत्वाद्भेषजस्य च ॥११॥
विरेचनं तु पित्तस्य जयार्थे परमौषधम्।
यश्च तत्रान्वयः श्लेष्मा तस्य चानधमं स्मृतम् ॥१२॥
भवेद्योगावहं तत्र मधुरं चैव भेषजम्।
तस्मात्साध्यं मतं रक्तं यदूर्ध्वं प्रतिपद्यते ॥१३॥

ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त साध्य—जो रक्तपित्त ऊर्ध्वमार्ग-गामी हो, वह साध्य है, क्योंकि इसमें विरेचन द्वारा चिकित्सा की जाती है और विरेचन की औषधियां बहुत हैं। ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त में पित्तदोष प्रधान होता है, और कफ दोष गौण होता है। पित्तदोष को शान्त करने के लिये विरेचन परम श्रेष्ठ क्रिया है। और जो कफ इसमें अनुबन्ध रूप में रहता है, इसके लिये विरेचन मध्यम उपाय है। कषाय और तिक्त रसों के सिवाय मधुर रस भी अन्य

१. 'दक्षयज्ञध्वंसे रुद्रकोपामर्षाग्निना' इति पाठः।

२. 'मभवज्ज्वरमनु' इति वा पाठः।

३. यह इतिहास आलंकारिक है। दक्ष का यज्ञ इस देह में ही है। रुद्र शिव जाठराग्नि है। उसके विकृत होने से ही रोग उत्पन्न होते हैं।

औषधियों के साथ मिलकर योगवाही हो जाता है। इसलिये ऊर्ध्वगामी रक्त-पित्त साध्य हैं ॥११-१३॥

रक्तं तु यदधोभागं तद्याप्यमिति निश्चयः ।
वमनस्याल्पयोगित्वादल्पत्वाद्भेषजस्य च ॥ १४ ॥
वमनं हि न पित्तस्य हरणे श्रेष्ठमुच्यते ।
यश्च तत्रानुगो वायुस्तच्छान्तौ चावरं मतम् ॥१५॥
तच्चायोगावहं तत्र कषायं तिक्तकानि च ।
तस्माद्याप्यं समाख्यातं यदुक्तमनुलोमगम् ॥ १६ ॥

अधोगामी रक्तपित्त याप्य—जो रक्तपित्त अधोमार्गगामी है वह याप्य है। क्योंकि पित्त को जीतने के लिये 'वमन' पूर्णरूप से पर्य्याप्त क्रिया नहीं है और वमन की औषधियां भी कम हैं। कफ दोष के साथ मिश्रित पित्त को निकालने में वमन पर्याप्त है। परन्तु रक्तपित्त के मूलरूप पित्त को निकालने में वमन श्रेष्ठ नहीं है। इसमें अनुबन्ध रूप से रहने वाले वायु को शमन करने के लिये वमन क्रिया निरुपयोगी है। इसी प्रकार कषाय और कटु रस जो रक्तपित्त के नाशक हैं, वे रस वायु को बढ़ाने वाले हैं इसलिये योगों में इनका उपयोग नहीं किया जा सकता इसलिये अधोगामी रक्तपित्त याप्य हो जाता है ॥ १४-१६ ॥

रक्तपित्तं तु यन्मार्गौ द्वावपि प्रतिपद्यते ।
असाध्यमिति तज्ज्ञेयं पूर्वोक्तादपि कारणात् ॥१७॥
न हि संशोधनं किंचिदस्त्यस्य प्रतिमार्गगम् ।
प्रतिमार्गं च हरणं रक्तपित्ते विधीयते ॥ १८ ॥
एवमेवोपशमनं सर्वशो नास्य विद्यते ।

उभयमार्गगामी असाध्य रक्तपित्त—दोनों मार्गों से जाने वाला रक्तपित्त, उपरोक्त कारणों से असाध्य हो जाता है। क्योंकि (१) इसके प्रति-कूल मार्ग के लिये संशोधन-चिकित्सा किसी प्रकार की भी नहीं है। और (२) रक्तपित्त में विरुद्ध मार्ग से संशोधन कार्य गुणकारी होता है। इसलिये सब प्रकार की शान्ति करने वाले कोई भी औषध नहीं है ॥ १७-१८ ॥

संसृष्टेषु च दोषेषु सर्वजिच्छमनं मतम् ॥ १९ ॥
इत्युक्तं त्रिविधोदर्कं रक्तं मार्गविशेषतः ।

द्वि-दोषों से व त्रि-दोषज रक्तपित्त की चिकित्सा—संसृष्ट दो दोषों या तीनों दोषों से मिश्रित रक्तपित्त में सब दोषों को शमन करने वाली औषधि देनी

चाहिये । इस प्रकार से रक्तपित्त के तीन प्रकार बाहर आने के मार्गों के भेदानुसार कह दिये ॥ १९ ॥

एभ्यस्तु खलु हेतुभ्यः किंचित्साध्यं न सिध्यति ॥ २० ॥
प्रेष्योपकरणाभावाद्दौरात्म्याद्वैद्यदोषतः ।
अकर्मतश्च साध्यत्वं कश्चिद्रोगोऽतिवर्तते ॥ २१ ॥
तत्रासाध्यत्वमेकं स्यात्साध्ययाप्यपरिक्रमात् ।
रक्तपित्तस्य विज्ञानमिदं तस्योपदेक्ष्यते ॥ २२ ॥

साध्य रोग असाध्य हो जाने के कारण—इन निम्नलिखित कारणों से कोई साध्य रोग असाध्य बन जाता है। जैसे भृत्य आदि के अभाव से, अन्य आवश्यक सामग्री के अभाव से, आत्मसंयम के अभाव से रोगी के दुष्ट आहार-विहार के कारण; वैद्य के दोष से, तथा चिकित्सा न करने से साध्य रोग भी असाध्य हो जाता है ।

उभय मार्ग से जाने वाला रक्तपित्त असाध्य है। इसी प्रकार साध्य रक्तपित्त का याप्य हो जाना, या याप्य रक्तपित्त का असाध्य हो जाना दोनों ही असाध्य हैं। इसके आगे रक्तपित्त विषयक विज्ञान और अधिक कहते हैं ॥ २०–२२ ॥

यत्कृष्णमथवा नीलं यद्वा शक्रधनुष्प्रभम् ।
रक्तपित्तमसाध्यं तद्वाससो रञ्जनं च यत् ॥ २३ ॥
भृशं पूत्यतिमात्रं च सर्वोपद्रववच्च यत् ।
बलमांसक्षये यच्च तच्च रक्तमसिद्धिमत् ॥ २४ ॥
येन चोपहतो रक्तं रक्तपित्तेन मानवः ।
पश्येद् दृश्यं वियच्चैव तच्चासाध्यमसंशयम् ॥ २५ ॥
तत्रासाध्यं परित्यज्य याप्यं यत्नेन यापयेत् ।
साध्यं चावहितः सिद्धैर्भेषजैः साधयेद्भिषक् ॥ २६ ॥

असाध्य रक्तपित्त के लक्षण—जो रक्तपित्त काला, नीला, अथवा इन्द्र धनुष के समान नाना प्रकार के रंगों वाला हो, और जिसमें वस्त्र पर लगा रक्त का दाग धोने से न मिटे और अतिशय दुर्गन्ध वाला हो, जिसमें सब उपद्रव हों, जिस के कारण रोगी का बल और मांस क्षीण होगया हो, वे असाध्य रक्तपित्त के लक्षण हैं। रक्तपित्त का रोगी जब सब पदार्थों को लाल लाल ही देखने लगे तब रक्तपित्त निःसंशय असाध्य समझना चाहिये। असाध्य अवस्था की चिकित्सा आरम्भ ही नहीं करनी चाहिये, दुःसाध्य या कष्टसाध्य रोग

की प्रयत्नपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिये। साध्य रोग की सावधान होकर गुण-कारी ओषधियों से चिकित्सा करनी चाहिये ॥ २३–२६ ॥

तत्र श्लोकौ—कारणं नामनिर्वृत्तिं पूर्वरूपाण्युपद्रवान्।
मार्गौ दोषानुबन्धं च साध्यत्वं न च हेतुमत् ॥ २७ ॥
निदाने रक्तपित्तस्य व्याजहार पुनर्वसुः।
वीत-मोह-रजोदोष-लोभ-मान-मद-स्पृहः ॥ २८ ॥ इति ॥

मोह, रजोगुण, दोष, लोभ, अभिमान, मद, और स्पृहा से रहित पुनर्वसु ने इस अध्याय में, रक्तपित्त की उत्पत्ति का कारण, पूर्वरूप, उपद्रव, इसके दोनों मार्ग, वात आदि दोषों का अनुबन्ध, साध्यासाध्यत्व, हेतु इत्यादि सब विषय वर्णन कर दिये हैं ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते निदानस्थाने रक्तपित्तनिदानं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः।

अथातो गुल्मनिदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब इसके आगे 'गुल्मनिदान' का व्याख्यान करेंगे जैसा कि भगवान् आत्रेय ने कहा था[1] ॥ १–२ ॥

इह खलु पञ्च गुल्मा भवन्ति। तद्यथा—वातगुल्मः, पित्तगुल्मः, श्लेष्मगुल्मो, निचयगुल्मः, शोणितगुल्मश्चेति ॥ ३ ॥

एवंवादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—कथमिह भगवन्! पञ्चानां गुल्मानां विशेषमभिजानीयाम् नह्यविशेषविद्रोगाणामौषधविदपि भिषक् प्रशमनसमर्थो भवतीति ॥ ४ ॥

तमुवाच भगवानात्रेयः—समुत्थान-पूर्वरूप-लिङ्ग-वेदनोपशय-विशेषेभ्यो विशेषविज्ञानं गुल्मानां भवत्यन्येषां च रोगाणामग्निवेश! तत्तु खलु गुल्मेषूच्यमानं निबोध ॥ ५ ॥

---

१. शरीर के भीतर दोष संचित होकर पिण्डाकार होजाते हैं। इससे वे 'गुल्म' कहाते हैं।

कुपितानिलमूलत्वाद् गूढमूलोदयादपि।
गुल्मवद्वा विशालत्वाद् गुल्म इत्यभिधीयते ॥ सुश्रुत ॥

गुल्म के भेद—गुल्म पांच प्रकार के होते हैं। जैसे (१) वातगुल्म, (२) पित्तगुल्म, (३) कफगुल्म, (४) निचयगुल्म और (५) रक्तगुल्म[1]।

इस प्रकार कहते हुए भगवान् आत्रेय से अग्निवेश ने पूछा कि इन पांच प्रकार के गुल्मों के विषय में विशेष (भेद-ज्ञान) ज्ञान किस प्रकार करूं? क्योंकि इनके भेदों को सम्पूर्णरूप से जाने विना, सम्पूर्ण औषध-ज्ञान होने पर भी वैद्य रोगों के शमन करने में समर्थ नहीं होता।

भगवान् आत्रेय ने उत्तर दिया—हे अग्निवेश! उत्पत्ति, पूर्वरूप, लक्षण, वेदना और उपशय इनके भेद से भिन्न-भिन्न गुल्मों का विशेष ज्ञान होता है और इन्हीं साधनों से दूसरे अन्य रोगों का भी पता चलता है। इसलिये गुल्म के लक्षण आदि का वर्णन करते हैं, इसको ध्यान से सुनो और समझो ॥३-५॥

यदा पुरुषो वातलो विशेषेण ज्वर-वमन-विरेचनातीसाराणामन्यतमेन कर्शनेन कर्शितो वातलमाहारमाहरति शीतं वा विशेषेणातिमात्रमस्नेहपूर्वं वा वमनविरेचने पिबत्यनुदीर्णां वा छर्दिमुदीरयत्युदीर्णान् वात-मूत्र-पुरीष-वेगान्निरुणद्ध्यत्यशितो वा पिबति नवोदकमतिमात्रमतिमात्रसंक्षोभिणा वा यानेन यात्यतिव्यवाय-व्यायाम-मद्यरुचिर्वाऽभिघातमृच्छति वा विषमाशन-शयनासन-स्थान-चङ्क्रमण-सेवी भवत्यन्यद्वा किंचिदेवंविधं विष[2]ममतिमात्रं व्यायामजातमारभते, तस्यापचाराद्वातः प्रकोपमापद्यते ॥ ६ ॥

वातगुल्म—जब वातप्रकृति का मनुष्य विशेष कर ज्वर, वमन, विरेचन और अतिसार इनमें से किसी एक के कारण कृश हो जाता है, इस स्थिति में जब वह वायुकारक आहार या अति शीतल पदार्थों का सेवन करता है, वा स्नेहन कर्म किये विना विरेचन का उपयोग करता है, वमन की इच्छा न रहने पर भी बलात्कार से वमन करता है, अधोवायु, मल, मूत्र के उपस्थित वेगों को रोकता है, अधिक भोजन करके नवीन पानी (बरसात में कुएं आदि का पानी) अधिक पीता है, बहुत अधिक झकोले वाली गाड़ी वा सवारी से यात्रा करता है, स्त्री-सम्भोग और मद्य के अति उपयोग से, रुचि के अभिघात होने से, विषम स्थिति में बैठने, सोने, चलने या रहने से, इसी प्रकार के अन्य

---

१. इन पांच गुल्मों के सिवाय तीन और भी गुल्म हैं जैसा कि आगे चिकित्सा में कहेंगे—"व्यामिश्रलिंगानपरांस्तु गुल्मांस्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम्"। अर्थात् वातपित्तज, पित्तकफज और वातकफज। इस प्रकार से आठ प्रकार के गुल्म हैं। २. 'विषमतिमात्रं' इति च पाठः।

व्यायाम आदि श्रमजनक कार्यों को अधिक मात्रा में करने से, वायु प्रकुपित हो जाता है ॥ ६ ॥

स प्रकुपितो महास्रोतोऽनुप्रविश्य रौक्ष्यात्कठिनीभूतमाप्लुत्य पिण्डितोऽवस्थानं करोति हृदि बस्तौ पार्श्वयोर्नाभ्यां वा। स शूलमुपजनयति ग्रन्थींश्चानेकविधान्, पिण्डितश्चावतिष्ठते, स पिण्डितत्वाद् गुल्म इत्युच्यते ॥ ७ ॥

वातगुल्म की सम्प्राप्ति—इस प्रकार से कुपित हुआ वायु महास्रोतों से घुस कर अपने रूक्ष गुण के कारण कठिन होकर कोष्ठ में फैलकर गोल-पिण्डाकार बन जाता है और हृदय, बस्तिभाग, दोनों पार्श्वभाग अथवा नाभि भाग में शूल अथवा अनेक प्रकार की गांठें उत्पन्न कर देता है। वायु गोलाकार बनकर पिण्डाकार होने से 'गुल्म' कहा जाता है। (इसी को 'वायुगोला' कहते हैं, जोकि वातगुल्म का अपभ्रंश है।) ॥७॥

स मुहुराध्मति, मुहुरणुत्वमापद्यते, अनियतविपुलाणुवेदनश्च भवति चलत्वाद्वायोः, पिपीलकासंप्रचार इवाङ्गेषु, तोद-स्फुरणायाम-संकोच-सुप्ति-हर्ष-प्रलयोदय-बहुलस्तदातुरश्च सूच्येव शङ्कुनेव चातिविद्धमात्मानं मन्यते, अपि च दिवसान्ते ज्वर्यते शुष्यति चाऽऽस्यम्, उच्छ्वासश्चोपरुध्यते। हृष्यन्ति चास्य रोमाणि वेदनायाः प्रादुर्भावे।

वातगुल्म के लक्षण—यह वातगुल्म क्षण भर में फैलकर बड़ा हो जाता है और क्षण भर में सिकुड़कर छोटा हो जाता है, इसकी पीड़ा अनिश्चित, कभी अधिक और कभी कम हो जाती है। इसका कारण वायु का चंचल स्वभाव है, शरीर के अवयवों में कीड़ियों के चलने की सी प्रतीति होती है, इसमें तोद (चुभने की सी वेदना), स्फुरण (धड़कन), आयाम (विस्तार), संकोच (सिकुड़ना), सुप्ति (स्पर्शज्ञान का अभाव), हर्ष (स्पर्शज्ञानका बढ़ना), प्रलय (नाश), उदय (जन्म) प्रायः होते हैं अर्थात् कभी तो उत्पन्न होते हैं, और कभी शान्त हो जाते हैं। इस अवस्था में रोगी सूई चुभने या कील आदि से विंधने का सा अनुभव करता है। सन्ध्याकालमें पीड़ा होती है, रोगी का मुख सूख जाता है, श्वास घुटने या बन्द होने लगता है, वेदना के समय शरीर रोमाञ्चित हो जाता है ॥

प्लीहाऽऽटोपान्त्र-कूजनाविपाकोदावर्ताङ्गमर्द-मन्या-शिरः-शङ्ख-शूल-ब्रध्नरोगाश्चैनमुपद्रवन्ति, कृष्णारुण-परुषत्वङ्-नख-नयन-वदन-मूत्र-पुरीषश्च भवति।

प्लीहा, आटोप (वायु का आध्मान), आंतो में गुड़-गुड़ ध्वनि, अपचन, उदावर्त्त, अंगों का टूटना, मन्याशूल, शिरःशूल, शंखशूल, ब्रध्न-रोग आदि नाना उपद्रव होने लगते हैं। रोगी की त्वचा, नख, मुख, मूत्र और मल का रंग काला या लाल हो जाता है, तथा ये कर्कश हो जाते हैं।

निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते, विपरीतानि चोपशेरते—इति वातगुल्मः ॥ ८ ॥

वातगुल्म के कारणानुकूल आहार-विहार करने से रोग शान्त नहीं होता, परन्तु रोग के कारण के विपरीत गुणवाले आहार-विहार से रोग शान्त हो जाता है। वातगुल्म के ये लक्षण हैं ॥८॥

तैरेव तु कर्शनैः कर्शितस्याम्ल-लवण-कटुक-क्षारोष्ण-तीक्ष्ण-शुक्त-व्यापन्न-मद्य-हरित-फलाम्लानां विदाहिनां च शाक-धान्य-मांसादीनामुपयोगादजीर्णाध्यशनाद्रौक्ष्यानुगते चाऽऽमाशये वमनविरेचनमतिवेलं संधारणं वातातपौ चातिसेवमानस्य पित्तं सह मारुतेन प्रकोपमापद्यते ॥ ९ ॥

वात के साथ पित्त प्रकोप के कारण—वातगुल्म में कहे हुए कारणों से कर्षित हुआ पुरुष जब खट्टे, नमकीन, कड़वे, क्षार, उष्ण, तीक्ष्ण, शुक्त, सड़े, खराब हुए, मद्य, या हरी सब्जियां और फल खाता या दाहकारक शाक या मांस का सेवन करता है, अजीर्ण या अध्यशन (भोजन के ऊपर फिर भोजन करने) से आमाशय में रूक्षता के उत्पन्न होने से वमन, विरेचन के वेगों को बहुत देर तक रोकने से, वायु या धूप के अतिसेवन करने से वायु के साथ पित्त भी कुपित होजाता है ॥ ९ ॥

तत्प्रकुपितं मारुत आमाशयैकदेशे संमूर्च्छ्य तानेव वेदनाप्रकारानुपजनयति य उक्ता वातगुल्मे, पित्तं त्वेनं विदहति कुक्षौ हृद्युरसि कण्ठे च, स विदह्यमानः सधूममिवोद्गारमुद्गिरत्यम्लान्वितं, गुल्मावकाशश्चास्य दह्यते दूयते धूप्यते उष्णायते स्विद्यति क्लिद्यते शिथिल इव च स्पर्शासहोऽल्परोमाञ्चो भवति। ज्वर-भ्रम-दवथु पिपासा-गल-वदन-तालु-शोष-प्रमोह-विड्भेदाश्चैनमुपद्रवन्ति, हरित-हारिद्रत्वङ्-नख-[illegible] भवति। निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते,विपरीतानि चोपशेरते—इति पित्तगुल्मः ॥ १० ॥

पित्तगुल्म की सम्प्राप्ति—इस प्रकार से कुपित हुआ पित्त और वायु आमाशय के एक प्रदेश में मिलकर वातगुल्म में कही हुई वेदनाओं को

उत्पन्न करते हैं। [1]पित्तगुल्म में विशेषता यह है कि प्रकुपित पित्त कुक्षि, हृदय, वक्षःस्थल और कण्ठ इन स्थानों में दाह उत्पन्न करता है। इस दाह के कारण धुंए के समान और खट्टा डकार रोगी को आता है और गुल्म के स्थान में दाह होता है, धूंआ निकलता है, गरमी रहती है, पसीना आता है, क्लिन्नता होती है, शरीर ढीला पड़ा प्रतीत होता है, स्पर्श की असह्यता रहती है और किञ्चित् रोमांच रहता है। ज्वर, भ्रम, दवथु (धक् धक् स्पन्दन), पिपासा, गले मुख और तालु में शुष्कता, मूर्च्छा, मल का पतला आना, ये उपद्रव होजाते हैं। त्वचा, नख, आँख, मूत्र और मल इनका रंग हरा या हल्दी के समान होजाता है। इसके निदान के समान गुण वाली वस्तुओं के उपयोग से रोग बढ़ता है और विपरीत गुणवाली वस्तुओं से कम होता है। यह पित्तगुल्म का वर्णन हुआ ॥ १० ॥

तैरेव तु कर्शनैः कर्षितस्यात्यशनादतिस्निग्ध-गुरु-मधु-शीताशनात्पिष्टेक्षु-क्षीर-माष-तिल-गुड-विकृति-सेवनान्मन्दक-मद्यातिपानाद्धरितकातिप्रणयनादानूपौदक-ग्राम्य-मांसातिभक्षणात्संधारणादतिसुहितस्य चातिप्रगाढमुदपानात्संक्षोभणाद्वा शरीरस्य श्लेष्मा सह मारुतेन प्रकोपमापद्यते ॥ ११ ॥

वात के साथ कफ-प्रकोप के कारण—वातगुल्म में कहे हुए कारणों से कृश हुए व्यक्ति के अत्यन्त भोजन करने से, अतिस्निग्ध, गुरु, मधुर, शीत पदार्थों के खाने से, पीठी (उड़द आदि को पीसकर), ईख, दूध, उड़द, तिल, गुड़ इनसे बने पदार्थों के अति सेवन से, मन्दक-दही और मद्य के अतिसेवन से, हरे शाक, आनूप या जलचर प्राणियों के अथवा ग्राम्य मांस के अति सेवन से, शरीर को बहुत विक्षोभित करने से, वायु कफ के साथ मिलकर कुपित होजाता है ॥ ११ ॥

तं प्रकुपितं मारुत आमाशयैकदेशे संमूर्च्छ्य तानेव गाढवेदनाप्रकारानुपजनयति य उक्ता वातगुल्मे। श्लेष्मा त्वस्य शीतज्वरारोचकाविपाकाङ्गमर्द-हर्ष-हृद्रोग-च्छर्दि-निद्रालस्य-स्तैमित्य-गौरव-शिरोभितापानुपजनयति, अपिच गुल्मस्य स्थैर्य-गौरव-काठिन्यावगाढ-सुप्तताः,

---

१. आमाशय के एकदेश में मूर्च्छित होने से पित्तगुल्म और कफगुल्म बस्ति में नहीं होते। क्योंकि नाभि और स्तनों के बीच के स्थान को आमाशय कहते हैं। वातगुल्म बस्ति में भी होता है। इसलिये वातगुल्म में 'महास्रोतस्' शब्द पढ़ा है। महास्रोतस् शब्द से बस्ति का भी ग्रहण होजाता है।

तथा कास-श्वास-प्रतिश्यायान् राजयक्ष्माणं चातिप्रवृद्धः, श्वैत्यं च त्वङ्-नख-नयन-वदन-मूत्र-पुरीषेषूपजनयति। निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते, तद्विपरीतानि चोपशेरते—इति श्लेष्मगुल्मः ॥ १२ ॥

कफगुल्म की सम्प्राप्ति—इस प्रकार से कुपित कफ और वायु आमाशय के एक प्रदेश में मिलकर वातगुल्म में कही हुई अनेक प्रकार की तीव्र वेदनायें उत्पन्न करते हैं। प्रकुपित कफ शीतज्वर, अरुचि अविपाक अंगों में वेदना, रोमहर्ष, हृदय-रोग, वमन, निद्रा, आलस्य, स्तिमितता (भारीपन), शिर और अंगों में उष्णिमा, (ताप) उत्पन्न करता है। इस गुल्म में स्थिरता (हिलने का अभाव), भारीपन, कठिनता, स्पर्शज्ञान का एकदम अभाव, (बधिरता) रहती है। बहुत बढ़ने पर कास, श्वास, प्रतिश्याय और क्षय रोग उत्पन्न करता है। त्वचा, नख, आंख, मुख, मल, मूत्र, उनका रंग श्वेत हो जाता है। इसके निदान के समान गुण वाले आहार-विहार से रोग बढ़ता है और विपरीत गुणवाली वस्तुओं से कम होता है। यह कफगुल्म का निदान कह दिया है ॥ १२ ॥

त्रिदोष-हेतु-लिङ्ग-सन्निपातात्तु सान्निपातिकं गुल्ममुपदिशन्ति कुशलाः। स विप्रतिषिद्धोपक्रमत्वादसाध्यो निचयगुल्मः ॥ १३ ॥

सान्निपातिक गुल्म—जिस गुल्म में तीनों दोषों के हेतु और तीनों दोषों के लक्षण मिले होते हैं; उसको बुद्धिमान् वैद्य 'सान्निपातिक गुल्म' कहते हैं। यह सान्निपातिक गुल्म चिकित्सा में विरोधि होने से चिकित्सा कर्म में असाध्य है ॥ १३ ॥

शोणितगुल्मस्तु खलु स्त्रिया एव भवति; न पुरुषस्य, गर्भकोष्ठार्तवागमनवैशेष्यात्।

पारतन्त्र्यादवैशारद्यात्सततमुपचारानुरोधाद्वेगानुदीर्णानुपरुन्धन्त्या आमगर्भे वाऽप्यचिरात्पतितेऽथवाऽप्यचिरप्रजाताया ऋतौ वा वातप्रकोपणान्यासेवमानायाः क्षिप्रं वातः प्रकोपमापद्यते ॥ १४ ॥

रक्तगुल्म—रक्तगुल्म केवल स्त्रियों को ही होता है, पुरुषों में नहीं होता, क्योंकि स्त्रियों में ही गर्भाशय तथा रजोदर्शन होता है। [1]स्त्रियां परवश होने से वेगों को रोकती हैं, अशिक्षित होने से, पति आदि की सेवा में तत्पर रहने से और मल मूत्रादि के उपस्थित वेगों को रोकने से, इन कारणों से वा अपक्व

१. सामान्यतः रक्त का दूषित होना और दूसरे गुल्मों में भी मिलता है। प्रकार आगे कहेंगे।

गर्भ के गिर जाने से, या बालक प्रसव करने के पीछे अथवा ऋतुकाल में वात-प्रकोपक वस्तुओं के सेवन करने से वायु शीघ्र ही प्रकुपित हो जाता है ॥१४॥

स प्रकुपितो योनिमुखमनुप्रविश्याऽऽर्तवमुपरुणद्धि, मासि मासि तदार्तवमुपरुध्यमानं कुक्षिमभिवर्धयति। तस्याः शूल-कासातीसारच्छर्द्यरोचकाविपाकाङ्गमर्द-निद्रालस्य-स्तैमित्य-कफ-प्रसेकाः समुपजायन्ते। स्तनयोश्च स्तन्यमोष्ठयोः स्तनमण्डलयोश्च कार्ष्ण्यं, ग्लानिश्चक्षुषोर्मूर्च्छा, हृल्लासो, दोहदः, श्वयथुः पादयोरीषच्चोद्गमो रोमराज्याः, योन्याश्चाटालत्वं, अपि च योन्या दौर्गन्ध्यमास्रावश्चोपजायते, केवलश्चास्या गुल्मः पिण्डित एव स्पन्दते, तामगर्भां गर्भिणीमित्याहुर्मूढाः ॥ १५ ॥

रक्तगुल्म की सम्प्राप्ति—यह कुपित वायु योनिमुख में प्रविष्ट होकर आर्त्तव को रोक देता है। प्रत्येक मास में रुक रुक कर यह आर्त्तव कोष्ठ को बढ़ा कर देता है। इससे स्त्री को शूल, कास, अतीसार, वमन, अरुचि, अविपाक, अंगों का टूटना, निद्रा, आलस्य, कफ का (लार का) मुख से आना, स्तनों में दूध का आना * ओंठ एवं स्तनों के चूचुकों का काला हो जाना, आंखों में ग्लानि, मूर्च्छा, वमन की अभिरुचि, गर्भ के समान अनेक लक्षण, पांव में सूजन, रोमराजि में विस्फुरण, योनि का फैल जाना, योनि में दुर्गन्ध आना तथा योनि में से स्राव होना इत्यादि विकार उत्पन्न होजाते हैं। इस प्रकार गुल्म पेट में हिलता है, अज्ञानी लोग गर्भरहित स्त्री को भी गर्भिणी कहने लगते हैं [1] ॥१५॥

एषां तु खलु पञ्चानां गुल्मानां प्रागभिनिर्वृत्तेरिमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति। तद्यथा—अनन्नाभिलषणमरोचकाविपाकावग्निवैषम्यं विदाहो भुक्तस्य विपाककाले चायुक्त्या छर्द्युद्गारौ, वातमूत्रपुरीषवेगानामप्रादुर्भावः, प्रादुर्भूतानां चाप्रवृत्तिरीषदागमनं वा, वातशूलाटोपान्त्रकूजनापरिहर्षणातिवृत्तपुरीषताऽबुभुक्षा, दौर्बल्यं, सौहित्यस्य चासहत्वमिति गुल्मपूर्वरूपाणि भवन्ति ॥ १६ ॥

---

* आर्त्तव रोग का यह प्रभाव है कि स्तनों में दूध आजाता है। गर्भावस्था में भी आर्त्तव के रुकने से स्तनों में दूध आता है। गर्भवती स्त्री में जो रस बनता है, उसके तीन कार्य होते हैं। (१) माता के शरीर का पोषण, (२) स्तनों में दूध, (३) बच्चे का पोषण, इसलिये यह आर्तव भी स्तनों में दूध उत्पन्न कर देता है।

१. जो स्त्रियां बच्चों के लिये बहुत लालायित रहती हैं उनमें भी ऋतुधर्म के रुक जाने पर ये लक्षण दीखने लगते हैं। इस अवस्था में यदि डुंघाकर परीक्षा करें तो सिवाय वायु के और कुछ उपलब्ध नहीं होता

गुल्म का पूर्वरूप—इन पांचो प्रकार के गुल्मों की उत्पत्ति से पूर्व निम्न-लिखित लक्षण होते हैं। यथा—अन्न में अनिच्छा, अरुचि, अविपाक, अग्नि की विषमता (कभी तेज़ और कभी मन्द), विदाह (जलन), भोजन के पचने के समय जलन, विना कारण के वमन और डकार आना, अधोवायु, मूत्र व मलों की अप्रवृत्ति अथवा प्रवाहण की प्रवृत्ति होने पर भी मलादि का बाहर न निकलना, अथवा थोड़ा आना, वातशूल, पेट में गुड़-गुड़ाहट, आंतों में अफ़ारा, शरीर में रोमांच, गांठदार मल का आना, भूख का न लगना, कृशता, पेट भर अन्न खाने पर उसका सहन न होना, इत्यादि लक्षण सब प्रकार के गुल्मों के पूर्वरूप हैं ॥ १६ ॥

सर्वेष्वपि च खल्वेतेषु न कश्चिद्वातादृते संभवति गुल्मः ॥ १७ ॥

इन सब प्रकार के गुल्मों का मूलभूत कारण वायु ही है, वायु के विना कोई भी गुल्म नहीं होता ॥१७॥

तेषां सन्निपातजमसाध्यं ज्ञात्वा नोपक्रमेत। एकदोषजे तु यथास्वमारम्भं प्रणयेत्। संसृष्टांस्तु साधारणेन कर्मणोपचरेत्। यच्चान्यदप्यविरुद्धं मन्येत तदवचारयेद्विभज्य गुरुलाघवमुपद्रवाणां समीक्ष्य, गुरूनुपद्रवांस्त्वरमाणश्चिकित्सेज्जघन्यमितरान्, त्वरमाणस्तु विशेषमनुपलभ्य गुल्मेष्वात्ययिके कर्मणि वातचिकित्सितं प्रणयेत्, स्नेहस्वेदौ वातहरौ, स्नेहोपसंहितं च मृदुविरेचनं, बस्तींश्चाम्ललवणमधुरांश्च रसान् युक्तितोऽवचारयेत्। मारुते ह्युपशान्ते स्वल्पेनापि प्रयत्नेन शक्योऽन्योपि दोषो नियन्तुं गुल्मेष्विति ॥ १८ ॥

इनमें सन्निपातजन्य गुल्म को असाध्य समझ कर चिकित्सा में हाथ नहीं डालना चाहिये। एक दोष से उत्पन्न गुल्म की यथायोग्य रीति से चिकित्सा करनी चाहिये। दो दोषवाले गुल्मों की चिकित्सा साधारण प्रकार से करनी चाहिये। अथवा वैद्य रोगी के उपद्रवों की गुरुता लघुता को देखकर, दूसरे किसी से चिकित्सा विरुद्ध न पड़े, इस प्रकार से चिकित्सा आरम्भ करनी चाहिये। जो उपद्रव गुरु हों, उनकी तत्काल चिकित्सा करनी चाहिये और जो उपद्रव कम हों उन की पीछे से चिकित्सा करनी चाहिये। जिस गुल्म में कुछ पता न चलता हो या काम ज़रूरी या जल्दी करना हो तो प्रथम वायु की चिकित्सा करनी चाहिये। क्योंकि वायु को शान्त करने के लिये स्नेहन, मृदु विरेचन, बस्तिकर्म, खट्टा, नमकीन और मधुर रस युक्तिपूर्वक देने चाहिये। वायु के शान्त होजाने पर थोड़े से परिश्रम से दूसरे दोष भी सुगमता से वश में किये जा सकते हैं ॥ १८ ॥

भवति चात्र—

गुल्मिनामनिलशान्तिरुपायैः सर्वशो विधिवदाचरितव्या ।
मारुते ह्यवजितेऽन्यमुदीर्णं दोषमल्पमपि कर्म निहन्यात् ॥ १९ ॥

गुल्मरोग में वायु को शान्त करने के लिये सम्पूर्ण विधि काम में लानी चाहिये। क्योंकि वायु को शान्त न करने पर दूसरा थोड़ा सा बढ़ा हुआ दोष भी सम्पूर्ण किये कराये पर पानी फेर देता है ॥ १६ ॥

तत्र श्लोकाः—संख्या निमित्तं रूपाणि पूर्वरूपमथापि च ।
दृष्टं निदाने गुल्मानामेकदेशश्च कर्मणाम् ॥ २० ॥

इस गुल्म निदान में गुल्मों की संख्या, कारण, पूर्वरूप और चिकित्सा कह दी हैं ॥ २० ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते निदानस्थाने गुल्मनिदानं नाम तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

अथातः प्रमेहनिदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब इसके आगे प्रमेह-निदान का व्याख्यान करेंगे जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥२॥

त्रिदोषकोपनिमित्ता विंशतिः प्रमेहा भवन्ति, विकाराश्चापरेऽपरिसंख्येयाः । तत्र यथा त्रिदोषप्रकोपः प्रमेहानभिनिर्वर्तयति तथाऽनुव्याख्यास्यामः ॥ ३ ॥

प्रमेहों की संख्या—वात आदि तीनों दोषों से उत्पन्न होने वाले प्रमेह बीस प्रकार के हैं, इनके सिवाय दूसरे रोग असंख्य हैं। त्रिदोष के कोप से प्रमेह किस प्रकार उत्पन्न होते हैं इसका आगे वर्णन करते हैं ॥३॥

इह खलु निदान-दोष-दूष्य-विशेषेभ्यो विकार-विघात-भावाभाव-प्रतिविशेषा भवन्ति ॥ ४ ॥

निदान, दोष और दूष्य इनके विशेष-भेदों को लेकर रोगों के विघात अर्थात् रोग का देर में होना, थोड़ा या अधिक विकार होना आदि भाव-विशेष उत्पन्न होते हैं। इस सूत्रात्मक सिद्धान्त को विस्तार करते हैं ॥४॥

यदा ह्येते त्रयो निदानादिविशेषाः परस्परं नानुबध्नन्ति, अथवा वा कालप्रकर्षादबलीयांसो वाऽनुबध्नन्ति न तदा विकाराभिनिर्वृत्तिः, चिराद्वाऽप्यभिनिर्वर्तन्ते, तनवो वा भवन्त्यथवाऽप्ययथोक्तसर्वलिङ्गाः। विपर्यये विपरीताः; इति सर्वविकार-विघात-भावाभाव-प्रतिविशेषाभिनिर्वृत्तिहेतुर्भवत्युक्तः ॥ ५ ॥

रोगों के उत्पन्न होने और न होने का कारण—निदान दोष और दूष्य भावों की भिन्नता से रोग उत्पन्न होते हैं और नहीं भी उत्पन्न होते हैं। जब निदानादि ये तीनों परस्पर नहीं मिलते, अथवा लम्बे समय पीछे मिलते हैं, या निर्बल अवस्था में मिलते हैं, तब रोग उत्पन्न नहीं होता, यदि उत्पन्न भी होता है तो देर में उत्पन्न होता है या निर्बल रूप में या असम्पूर्ण लक्षणों के साथ उत्पन्न होता है। परन्तु जब निदान, दोष और दूष्य परस्पर समानरूप में मिलते हैं, तब शीघ्र, बलवान् एवं सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त रोग उत्पन्न होता है। सब रोगों की उत्पत्ति में निदान दोष और द्रव्य का होना या न होना कारण होता है ॥५॥

तत्रेमे त्रयो निदानादिविशेषाः श्लेष्मनिमित्तानां प्रमेहाणामाशु-अभिनिर्वृत्तिकरा भवन्ति। तद्यथा—हायनक-यवक-चीनकोद्दालक-नैषधेत्कट-मुकुन्दक-महाव्रीहि-प्रमोदक-सुगन्धकानां नवानामतिवेलमतिप्रमाणेनोपयोगः, तथा सर्पिष्मतां नवहरेणुमाषसूप्यानां ग्राम्यानूपौदकानां च मांसानां शाक-तिल-पलल-पिष्टान्न-पायस-कृशर-विलेपीक्षुविकाराणां क्षीर-मन्दक-दधि-द्रव-मधुर-तरुणप्रायाणामुपयोगो, मृजा-व्यायाम-वर्जनं, स्वप्नशयनासनप्रसङ्गो यश्च कश्चिद्विधिरन्योऽपि श्लेष्म-मेदो-मूत्र-संजननः स सर्वो निदानविशेषः ॥ ६ ॥

कफजन्य प्रमेह में निदानादि की भिन्नता—निम्न कारणों से कफजन्य प्रमेह मुख्यतः उत्पन्न होता है। यथा हायनक (धान्य विशेष), यवक (जौ), चीनक, उद्दालक, नैषध, इत्कट, मुकुन्दक, महाव्रीहि, प्रमोदक, सुगन्धिक इत्यादि जाति के चावलों को अतिमात्रा में वा नूतन चावलों का उपयोग करने से, इसी प्रकार घी के साथ हरेणु (मटर), उड़द की दाल, ग्राम्य या आनूप अथवा जलचर प्राणियों का मांस अधिक खाने से, भाजी, तिल, मांस, पिट्ठी से बने पदार्थ खीर, खिचड़ी, विलेपी गाढ़ी कांजी), [illegible]ने के रस से बनी वस्तुओं के अति उपयोग करने से, दूध, [illegible]दक, दही, द्रव, मधुर पदार्थ या नवीन धान्यों के अति उपयोग करने से, [illegible]रीर का शोधन न करने से, अंगों को परिचालन न करने से, सोने, लेटने या

बैठे रहने से, अथवा कफ, मेद व मूत्र को बढ़ाने वाला जो भी कारण होता है वे सब प्रमेहों के विशेष कारण हैं ॥६॥

बहुद्रवः श्लेष्मा दोषविशेषः ॥ ७ ॥

बह्वबद्धं मेदोमांसं शरीरजक्लेदः शुक्रं शोणितं च वसा मज्जा लसीका रसश्चौजःसंख्यात इति दूष्यविशेषाः ॥ ८ ॥

कफप्रमेह के दूष्य— बहुत तरल (द्रव) कफ इसमें दोष होता है, बहुत अबद्ध (असंहत अर्थात् ढीला-शिथिल) मेद मांस, शरीरजन्य क्लेद, शुक्र, शोणित, वसा, मज्जा, लसीका, रस और ओज ये दूष्य विशेष हैं अर्थात् इनमें ही दोष अपना बुरा प्रभाव उत्पन्न करता है[1] ॥८॥

त्रयाणामेषां निदानादिविशेषाणां सन्निपाते क्षिप्रं श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते प्रागतिभूयस्त्वात्, स प्रकुपितः क्षिप्रमेव शरीरे विसृप्तिं लभते, शरीरशैथिल्यात्स विसर्पञ्छरीरे मेदसैवादितो मिश्रीभावं गच्छति, मेदसश्चैव बह्वबद्धत्वान्मेदसश्च गुणानां गुणैः समानगुणभूयिष्ठत्वात्स मेदसा मिश्रीभावं गच्छन् दूषयत्येनद्विकृतत्वात्, स विकृतो दुष्टेन मेदसोपहितः शरीरक्लेदमांसाभ्यां संसर्गं गच्छति, क्लेदमांसयोरतिप्रमाणाभिवृद्धत्वात् स मांसे मांसप्रदोषात्पूतिमांसपिडकाः शराविकाकच्छपिकाद्याः संजनयति, अप्रकृतिभूतत्वात्, शरीरक्लेदं पुनर्दूषयन्मूत्रत्वेन परिणमयति। मूत्रवहानां च स्रोतसां वङ्क्षणबस्तिप्रभवाणां मेदःक्लेदोपहितानि गुरूणि मुखान्यासाद्य प्रतिरुध्यते; ततस्तेषां स्थैर्यमसाध्यतां वा जनयति, प्रकृतिविकृतिभूतत्वात् ॥ ९ ॥

कफप्रमेह की सम्प्राप्ति—निदान, दोष और दूष्य इन तीनों के मिलने से कफ शीघ्र कुपित हो जाता है। क्योंकि रोग उत्पत्तिकाल में कफ अधिक बढ़ा होता है। इस प्रकार से कुपित कफ जल्दी ही शरीर में फैल जाता है। शरीर के शिथिल होने से फैलता हुआ यह कफ सबसे प्रथम शरीर में मेद के साथ

---

१. प्रमेह में सब से प्रथम कफ का ही बिगाड़ होता है। इसलिये यह तो दोष है, और सप्तधातु, रस, रक्त, मांस आदि ये इससे दूषित होते हैं, इसलिये ये दूष्य हैं। इस अवस्था में जिस अपर ओज का परिमाण आधा अञ्जलि कहा है, वह ओज भाग विकृत होता है। क्लेद रक्त का तरल भाग है जिसके दूषित होने से मधुमेह रोगी के व्रण शीघ्र अच्छे नहीं होते। शरीर में त्वचा के नीचे रहने वाला पतला श्वेत, चिकना पदार्थ है जो की रक्षा करता है। ये सब दूष्य हैं।

मिलता है। क्योंकि मेद बहुत अबद्ध अर्थात् शिथिल रूप में होता है। तथा मेद के गुणों के समान गुण ही कफ के हैं और शरीर में मेद का परिमाण भी बहुत है। मेद के साथ मिलकर कफ अपने आप दूषित होने से इस को भी दूषित बना देता है। यह विकृत कफ दुष्ट मेद के साथ मिलकर शरीर के क्लेद भाग और मांस के साथ मिल जाते हैं। शरीर में क्लेद और मांस बहुत मात्रा मे बढ़े होते हैं। यह मांस को दूषित करके मांस में उत्पन्न होने वाली पिडकायें, शराविका, कच्छपिका आदि को उत्पन्न करता है। क्योंकि कफ अपनी प्रकृति में नहीं रहता, इसलिये अपनी शक्ति से इनको उत्पन्न करता है। शरीर के क्लेद को दूषित करके मूत्र रूप में बदल देता है। वंक्षण सन्धि तथा बस्ति से उत्पन्न होने वाले मूत्र वह स्रोतों के मुख मेद और क्लेद के भारी होने से बन्द हो जाते हैं। इसलिये इनमें प्रमेह टिक जाता है। या बहुत बढ़कर असाध्य बन जाता है। क्योंकि कफ, मेद और वसा में समान है, परन्तु रक्तादि में असमान होता है; इसलिये प्रकृति विकृति होने से प्रमेह स्थिर बन जाते हैं या असाध्य हो जाते हैं ॥९॥

शरीरक्लेदस्तु श्लेष्म-मेदो-मिश्रः प्रविशन्मूत्राशयं मूत्रत्वमापद्यमानः श्लैष्मिकैरेभिर्दशभिर्गुणैरुपसृज्यते वैषम्ययुक्तः। तद्यथा—श्वेत-शीत-मूर्त-पिच्छिलाच्छ-स्निग्ध-गुरु-प्रसाद-मधुर-सान्द्र-मन्दैः; अत्र येन गुणेनैकेनानेकेन वा भूयस्तरमुपसृज्यते तत्समाख्यं गौणं नामविशेषं प्राप्नोति ॥१०॥

शरीर की आर्द्रता कफ और मेद से मिलकर मूत्राशय में प्रवेश करती है। वहां पर मूत्ररूप होकर विषमतावाले कफ के दस गुणों के साथ मिल जाती है। कफ के दस गुण—श्वेत, शीतल, मूर्त, पिच्छिल, स्निग्ध, गुरु, प्रसाद, मधुर, सान्द्र और मन्द, इनमें से एक गुण की या अनेक गुणों की प्रधानता होने से उसी के अनुसार सामान्य या विशेष नाम मिलता है ॥१०॥

ते तु खल्विमे दश प्रमेहा नामविशेषेण भवन्ति। तद्यथा—उदकमेहश्चेक्षुवालिकारसमेहश्च, सान्द्रमेहश्च, सान्द्रप्रसादमेहश्च, शुक्लमेहश्च, शुक्रमेहश्च, शीतमेहश्च, सिकतामेहश्च, शनैर्मेहश्चाऽऽलालमेहश्चेति ॥११॥

ते दश प्रमेहाः साध्याः समानगुणमेदःस्थानत्वात्कफस्य प्राधान्या-क्रियत्वाच्च ॥ १२ ॥

कफजन्य दस प्रमेह—इस प्रकार से कफजन्य प्रमेह दस प्रकार के हैं। नाम (१) उदकमेह, (२) इक्षुवालिकारसमेह, (३) सान्द्रमेह, (४) सान्द्र-

प्रसादमेह, (५) शुक्लमेह, (६), शुक्रमेह, (७) शीतमेह (८) सिकतामेह (६) शनैर्मेह और (१०) आलालमेह।

ये कफजन्य दस प्रमेह साध्य हैं। क्योंकि कफ और मेद के गुण एवं स्थान समान हैं, तथा कफ की प्रधानता होने से और कफ और मेद की चिकित्सा के समान होने से कफप्रमेह साध्य है * ॥१२॥

तत्र श्लोकाः श्लेष्मप्रमेहविज्ञानार्थो भवन्ति।

कफप्रमेहों को बताने के लिये श्लोक कहते हैं—

अच्छं बहुसितं शान्तं निर्गन्धमुदकोपमम्।
श्लेष्मकोपान्नरो मूत्रमुदमेही प्रमेहति ॥ १३ ॥
अत्यर्थमधुरं शीतमीषत्पिच्छिलमाविलम्।
काण्डेक्षुरससंकाशं श्लेष्मकोपात्प्रमेहति ॥ १४ ॥
यस्य पर्युषितं मूत्रं सान्द्रीभवति भाजने।
पुरुषं कफकोपेन तमाहुः सान्द्रमेहिनम् ॥ १५ ॥
यस्य संहन्यते मूत्रं किंचित् किंचित्प्रसीदति।
सान्द्रप्रसादमेहीति तमाहुः श्लेष्मकोपतः ॥ १६ ॥
शुक्लं पिष्टनिभं मूत्रमभीक्ष्णं यः प्रमेहति।
पुरुषं कफकोपेन तमाहुः शुक्लमेहिनम् ॥ १७ ॥
शुक्राभं शुक्रमिश्रं वा मुहुर्मेहति यो नरः।
शुक्रमेहिनमाहुस्तं पुरुषं श्लेष्मकोपतः ॥ १८ ॥
अत्यर्थशीतमधुरं मूत्रं मेहति यो भृशम्।
शीतमेहिनमाहुस्तं पुरुषं श्लेष्मकोपतः ॥ १६ ॥
मूर्तान्मूत्रगतान्दोषानणून्मेहति यो नरः।
सिकतामेहिनं विद्यान्नरं तं श्लेष्मकोपतः ॥ २० ॥
मन्दं मन्दमवेगं तु कृच्छ्रं यो मूत्रयेच्छनैः।
शनैर्मेहिनमाहुस्तं पुरुषं श्लेष्मकोपतः ॥ २१ ॥
तन्तुबद्धमिवाऽऽलालं पिच्छिलं यः प्रमेहति।
आलालमेहिनं विद्यात्तं नरं श्लेष्मकोपतः ॥ २२ ॥

(१) उदकमेह—उदकमेह का रोगी कफ के प्रकोप के कारण बहुत स्वच्छ, बहुत सफेद, शीतल, बिना गन्ध का, पानी के समान मूत्र करता है यह उदकमेह के लक्षण हैं।

* मूत्रमार्ग से शुक्र का मूत्र से पृथक् रूप में आना यह शुक्रदोष इसका प्रमेह में अन्तर्भाव नहीं होता।

(२) इक्षुवालिकारसमेह—कफ के प्रकोप से अतिशय मधुर, शीतल, थोड़ा चिकास वाला, मैला, अस्वच्छ, गन्ने के रस के समान मूत्र करता है। वह 'इक्षुमेह' का रोगी है।

(३) सान्द्रमेह—पहिले दिन का बरतन में रखा हुआ जिसका मूत्र, कफके कारण दूसरे दिन गाढ़ा हो जाता है, उसको 'सान्द्रमेह का रोगी समझना चाहिये।

(४) सान्द्र-प्रसादमेह—कफप्रकोप के कारण मूत्र ऊपर जम जाये और नीचे थोड़ा-थोड़ा पतला रहे तो 'सान्द्रप्रसाद मेह' का रोगी समझना चाहिये।

(५) शुक्लमेह—कफप्रकोप के कारण जो मनुष्य श्वेत, पिट्ठी के समान मूत्र बार बार करता है उसको 'शुक्लमेह' का रोगी समझना चाहिये।

(६) शुक्रमेह—कफप्रकोप के कारण जो मनुष्य शुक्र के समान, या शुक्र से मिला, मूत्र बार-बार करता है उसको 'शुक्रमेह' का रोगी समझना चाहिये।

(७) शीतमेह—जो मनुष्य कफप्रकोप से अत्यन्त शीतल, मीठा-मूत्र अधिकतर करता है, उसको 'शीतमेह' का रोगी जानना चाहिये।

(८) सिकतामेह—कफप्रकोप से जब मनुष्य के मूत्र में सूक्ष्म, बालू के समान छोटे छोटे कठिन कण जाने लगते हैं, तब उसे 'सिकता-मेह' का रोगी समझना चाहिये।

(९) शनैर्मेह—जब मनुष्य कफ के प्रकोप से धीरे-धीरे, विना वेग के, कठिनाई से, मूत्र करता हो तब इसको शनैर्मेह का रोगी समझना चाहिये।

(१०) आलालमेह—जो मनुष्य कफ के प्रकोप से तारवाला या लार के समान चिकना मूत्र करता है तो इसको 'आलालमेह' का रोगी समझना चाहिये ॥ १३—२२ ॥

इत्येते दश प्रमेहाः श्लेष्मप्रकोपनिमित्ता व्याख्याता भवन्ति ॥

इस प्रकार से कफ के प्रकोप से उत्पन्न होने वाले दस प्रकार के प्रमेहों का वर्णन कर दिया है।

उष्णाम्ल-लवण-क्षार-कटुकाजीर्ण-भोजनोपसेविनस्तथाऽतितीक्ष्णातपाग्नि-संताप-श्रम-क्रोध-विषमाहारोपसेविनश्च तथाऽऽत्मकशरीरस्यैव क्षिप्रं पित्तं प्रकोपमापद्यते ॥ २३ ॥

तत्प्रकुपितं तयैवाऽऽनुपूर्व्या प्रमेहानिमान् षट् क्षिप्रमभिनिर्वर्तयति ॥ २४ ॥

तेषामपि च पित्तगुणविशेषेण नामविशेषा पूर्ववद् युक्ता भवन्ति। यथा—क्षारमेहश्च, कालमेहश्च, नीलमेहश्च, लोहितमेहश्च, मञ्जिष्ठामेहश्च, हारिद्रमेहश्चेति। ते षड्भिरेतैः क्षाराम्ल-लवण-कटुक-विस्रोष्णैः

पित्तगुणैः पूर्ववत्समन्विता भवन्ति। सर्वे एव च ते याप्याः, संसृष्ट-दोष-मेदः-स्थानत्वाद्विरुद्धोपक्रमत्वाच्चेति ॥ २५ ॥

पित्तप्रमेह के कारण और सम्प्राप्ति—उष्ण, अम्ल, लवण, क्षार, वा कटु पदार्थों के अति सेवन करने से, अजीर्णावस्था में भोजन करने से, तीव्र धूप, अग्नि, सन्ताप, श्रम, क्रोध वा विषम भोजन के सेवन से, पित्त प्रकृतिवाले पुरुष में पित्त शीघ्रता से प्रकुपित हो जाता है।

यह प्रकुपित पित्त, पूर्व वर्णित प्रकार से ही छः प्रकार के प्रमेह उत्पन्न करता है।

पित्तजन्य प्रमेह—छः प्रकार के प्रमेह भी, कफप्रमेह के समान ही पित्त के गुण के अनुसार भिन्न २ नाम वाले होते हैं। जैसे—(१) क्षारमेह, (२) कालमेह, (३) नीलमेह, (४) लोहितमेह, (५) मंजिष्ठामेह और (६) हारिद्रमेह। ये छः प्रकार के प्रमेह पूर्ववत् क्षार, लवण, कटु, अम्ल, विस्र (दुर्गन्ध) और उष्ण इन पित्त के गुणों से युक्त होते हैं। ये पित्तजन्य प्रमेह सब के सब याप्य हैं। क्योंकि पित्त और मेद इनका स्थान समीप, एवं धर्म परस्पर विरुद्ध हैं, एवं चिकित्सा भी परस्पर विरोधी हैं *॥२३-२५॥

तत्र श्लोकाः पित्तप्रमेहविशेषविज्ञानार्था भवन्ति—

पित्त प्रमेह को बताने के लिये ये निम्न लिखित श्लोक कहे हैं—

गन्धवर्णरसस्पर्शैर्यथा क्षारस्तथात्मकम्।
पित्तकोपान्नरो मूत्रं क्षारमेही प्रमेहति ॥ २६ ॥
मसीवर्णमजस्रं यो मूत्रमुष्णं प्रमेहति।
पित्तस्य परिकोपेण तं विद्यात्कालमेहिनम् ॥ २७ ॥
चाषपक्षनिभं मूत्रं मन्दं मेहति यो नरः।
पित्तस्य परिकोपेण तं विद्यान्नीलमेहिनम् ॥ २८ ॥
विस्रं लवणमुष्णं च रक्तं मेहति यो नरः।
पित्तस्य परिकोपेण तं विद्याद्रक्तमेहिनम् ॥ २९ ॥
मञ्जिष्ठाम्भःपि योऽजस्रं भृशं विस्रं प्रमेहति।
पित्तस्य परिकोपात्तं विद्यान्माञ्जिष्ठमेहिनम् ॥ ३० ॥

---

* पित्त का स्थान आमाशय, और मेद का वसाबहुल स्थान आमाशय का एक प्रदेश है। इसलिये दोष एवं दूष्य के नित्यप्रति पास में रहने से याप्य है। पित्त को शान्त करने वाले जो मधुर, शीत आदि पदार्थ हैं, वे मेद के लिये अपथ्य हैं और जो मेद के लिये कटु रस आदि वस्तु पथ्य हैं, वे पित्त के लिये अपथ्य हैं। इसलिये चिकित्सा परस्पर विरोधी पड़ जाती हैं।

हरिद्रोदकसंकाशं कटुकं यः प्रमेहति ।
पित्तस्य परिकोपात्तु विद्याद्धारिद्रमेहिनम् ॥ ३१ ॥
इत्येते षट्प्रमेहाः पित्तप्रकोपनिमित्ता व्याख्याता भवन्ति ॥ ३२ ॥

(१) क्षारमेह–जो मनुष्य पित्तप्रकोप के कारण क्षार के समान गन्ध, वर्ण रस और स्पर्शवाला मूत्र करता है वह क्षारमेह का रोगी होता है ।

(२) कालमेह—जो मनुष्य पित्तप्रकोप के कारण स्याही के समान काला एवं गरम मूत्र बार-बार करता हो उसको कालमेह का रोगी जानना चाहिये ।

(३) नीलमेह—जो मनुष्य पित्तप्रकोप के कारण चाष (नीलकण्ठ) पक्षी के पंख के समान नीले रंग का एवं अम्ल मूत्र त्याग करता है, उसे 'नीलमेह' का रोगी समझना चाहिये ।

(४) रक्तमेह—जो मनुष्य पित्तप्रकोप के कारण दुर्गन्धयुक्त, नमकीन, गरम एवं लाल रंग का मूत्र त्याग करता है, उसको रक्तमेह का रोगी समझना चाहिये ।

(५) मंजिष्ठामेह—जो मनुष्य पित्तप्रकोप के कारण मंजीठ के समान या ताम्बे के रंगवाला, दुर्गन्धयुक्त, मात्रा में बहुत, बार-बार मूत्र त्याग करता है, उसको मंजिष्ठामेह का रोगी समझना चाहिये ।

(६) हारिद्रमेह—जो मनुष्य पित्तप्रकोप के कारण हल्दी के पानी के समान पीला, एवं कडुवा मूत्र त्याग करता है, उसको हारिद्रमेह का रोगी समझना चाहिये । इस प्रकार से पित्तप्रकोप के कारण होनेवाले छः प्रमेहों का वर्णन-कर दिया ॥२६–३२॥

रूक्ष-कटु-कषाय-तिक्तक-लघु-शीत-व्यवाय-व्यायाम-वमन-विरेचना-स्थापनशिरोविरेचनातियोग-संधारणानशनाभिघातातपोद्वेग-शोक-शोणितातिसेक-जागरण-विषम-शरीरन्यासानुपसेवमानस्य तथात्मकशरीरस्यव क्षिप्रं वायुः प्रकोपमापद्यते । स प्रकुपितस्तथात्मके शरीरे विसर्पन् यदा वसामादाय मूत्रवहानि स्रोतांसि प्रतिपद्यते,तदा वसामेहमभिनिर्वर्तयति यदा पुनर्मज्जानं मूत्रबस्तावाकर्षति, तदा मज्जमेहमभिनिर्वर्तयति;यदा लसीकां मूत्राशयेऽभिवहन्मूत्रमनुबन्धं च्योतयति लसीकातिबहुत्वाद्विक्षेपणाच्च वायोः खल्वस्यातिमूत्रप्रवृत्तिसङ्गं करोति, तदा स मत्त इव गजः क्षरत्यजस्रं मूत्रमवेगं, तं हस्तिमेहिनमाचक्षते; ओजः पुनर्मधुरस्वभावं, तद्यदा रौक्ष्याद्वायोः कषायत्वेनाभिसंसृज्य मूत्राशयेऽभिवहति तदा मधुमेहं करोति ॥ ३३ ॥

तानिमांश्चतुरः प्रमेहान् वातजानसाध्यानाचक्षते भिषजः, महात्ययिकत्वाद्विरुद्धोपक्रमत्वाच्च । तेषामपि च पूर्ववद् गुणविशेषेण नामवि-

शेषा भवन्ति । तद्यथा—वसामेहश्च, मज्जमेहश्च, हस्तिमेहश्च, मधुमेहश्चेति ॥ ३४ ॥

वातजमेह के कारण—रूक्ष, कटु, कषाय, तिक्त, लघु,शीत पदार्थों के उपयोग से स्त्रीसंग, व्यायाम, वमन, विरेचन, बस्तिकर्म और शिरोविरेचन इनके अतियोग से, वेगों को रोकना, अनशन (उपवास), चोट लगने से, धूप, शोक, उद्वेग, रक्त के अधिक निकलनेसे, जागने से, शरीर को विषम अवस्था में रखने से, वातप्रकृतिवाले पुरुष में वायु तत्काल प्रकुपित हो जाता है ।

(१) वसाप्रमेह की सम्प्राप्ति—इन कारणों से कुपित वायु, वात प्रकृति वाले मनुष्य के शरीर में फैलता हुआ जब वसा के साथ मिलकर मूत्रवह स्रोतों में पहुंच जाता है, तब वसामेह को उत्पन्न करता है ।

(२) मज्जमेह—और जब वायु मज्जा को मूत्रबस्ति में खींचकर ले जाताहै उस समय 'मज्जमेह' उत्पन्न होता है ।

(३) हस्तिमेह—जिस समय वायु लसीका[१] से मिल कर मूत्राशय में जाकर मूत्र रूप से बाहर निकलता है, उस समय लसीका की अधिकता एवं वायु की विक्षेपण शक्ति के कारण मूत्र बहुत अधिक मात्रा में आता है । तब पुरुष मस्त हाथी के समान निरन्तर वेग से रहित मूत्र बहाया करता है, इसको 'हस्तिमेह' कहते हैं ।

(४) मधुमेह—शरीर में स्थित ओज का स्वभाव मधुर है । इस के साथ वायु का रूक्ष एवं कषाय गुण (वायु अपनी शक्ति से ओज को कषाय में बदल देता है) मिलकर जब मूत्राशय में जाता है, तब 'मधुमेह' रोग उत्पन्न होता है ।

सब वातजमेह असाध्य—वैद्य लोग इन चार वातजन्य प्रमेहों को असाध्य मानते हैं । क्योंकि मज्जा आदि सार रूप धातुओं का क्षय हो जाता है और चिकित्सा विपरीत पड़ती है, क्योंकि वायु के लिये स्निग्ध आदि पदार्थ पथ्य हैं, यही मेद के लिये अपथ्य और जो रूक्ष आदि मेद के लिये पथ्य हैं वह वायु के लिये अपथ्य हैं । इनके भी नाम पूर्व की भाँति गुणविशेष को लेकर हैं । यथा—१. वसामेह, २. मज्जमेह, ३. हस्तिमेह और ४. मधुमेह ॥ ३३–३४ ॥

तत्र श्लोका वातप्रमेहविशेषविज्ञानार्था भवन्ति—

वातप्रमेहों को विशेष रूप से कहने के लिये ये निम्नलिखित श्लोक हैं—

१ लसीका का अर्थ मांस की त्वचा के अन्दर रहने वाले जलीय भाग जैसा कहेंगे—'यन्मांसत्वगन्तरे उदकं तल्लसीकाशब्दं लभते ।'

वसामिश्रं वसाभं च मुहुर्मेहति यो नरः ।
वसामेहिनमाहुस्तमसाध्यं वातकोपतः ॥ ३५ ॥
मज्जानं सह मूत्रेण मुहुर्मेहति यो नरः
मज्जमेहिनमाहुस्तमसाध्यं वातकोपतः ॥ ३६ ॥
हस्ती मत्त इवाजस्रं मूत्रं क्षरति यो भृशम् ।
हस्तिमेहिनमाहुस्तमसाध्यं वातकोपतः ॥ ३७ ॥
कषायमधुरं पाण्डुं रूक्षं मेहति यो नरः ।
वातकोपादसाध्यं तं प्रतीयान्मधुमेहिनम् ॥ ३८ ॥

इत्येते चत्वारः प्रमेहा वातप्रकोपनिमित्ता व्याख्याता भवन्ति ॥ ३९ ॥

(१) वसामेह—जो मनुष्य वात के प्रकोप के कारण वसामिश्रित या वसा के समान रंगवाला मूत्र बार-बार करता है, उसको वसामेह का रोगी जानना चाहिये, यह रोग असाध्य है ।

(२) मज्जमेह—जो मनुष्य वायु के प्रकोप से मज्जा से युक्त मूत्र बारबार त्याग करता हो, उसको मज्जमेह का रोगी जानना चाहिये । यह भी रोग असाध्य है ।

(३) हस्तिमेह—जो मनुष्य वायु के प्रकोप से मस्त हाथी की भांति एक समान मूत्र, निरन्तर और बहुत अधिक करता है, उसको हस्तिमेह का रोगी कहते हैं, यह भी असाध्य है ।

(४) मधुमेह—जो मनुष्य वायु के प्रकोप से कषाय, मधुर, पाण्डुवर्ण और रूक्ष मूत्र त्याग करता है उसको मधुमेह का रोगी जानना चाहिये । यह भी असाध्य है । ये चार प्रमेह वायु के प्रकोप के कारण होते हैं ॥ ३५–३९ ॥

त एवं त्रिदोषप्रकोपनिमित्ता विंशतिः प्रमेहा व्याख्याता भवन्ति ४०

इस प्रकार से तीनों दोषों से उत्पन्न होने वाले सम्पूर्ण बीस प्रकार के प्रमेहों का वर्णन कर दिया है ॥ ४० ॥

त्रयस्तु दोषाः प्रकुपिताः प्रमेहानभिनिर्वर्तयिष्यन्त इमानि पूर्वरूपाणि दर्शयन्ति । तद्यथा—जटिलीभावं केशेषु, माधुर्यमास्ये, करपादयोः सुप्ततादाहौ, मुखतालुकण्ठशोषं, पिपासां, आलस्यं, मलं च काये, कायच्छिद्रेषूपदेहं, परिदाहं, सुप्ततां चाङ्गेषु, षट्पद-पिपीलिकाभिश्च शरीरमूत्राभिसरणं, मूत्रे च मूत्रदोषान्, विस्रं शरीरगन्धं, तन्द्रां च कालमिति ॥ ४१ ॥

ों का पूर्वरूप—तीनों दोष कुपित होकर प्रमेह रोग को उत्पन्न करते समय ये पूर्वरूप दिखाई देते हैं । यथा—बालों का उलझ जाना,

मुख में मिठास, हाथ-पांव में शून्यता और जलन, मुख, तालु और कण्ठ में शुष्कता, प्यास का लगना, आलस्य, कार्य करने में अनिच्छा, शरीर में मल का जमना, शरीर के रोम-छिद्रों का बन्द हो जाना, अंगों में जलन एवं शून्यता, शरीर या मूत्र पर भौंरों या चिउंटी का चलना, मूत्र में मूत्र के दोष शरीर से दुर्गन्ध आना, तथा हर समय आंखों में नींद या तन्द्रा (भारीपन) रहता है ॥ ४१ ॥

उपद्रवास्तु खलु प्रमेहिणां—तृष्णातीसार-ज्वर-दाह-दौर्बल्यारोचकाविपाकाः पूति-मांस-पिडकालजी-विद्रध्यादयश्च तत्प्रसंगाद्भवन्ति॥४२॥

तत्र साध्यान् प्रमेहान् संशोधनोपशमनैर्यथार्हमुपपादयंश्चिकित्सेदिति ॥ ४३ ॥

प्रमेह के उपद्रव—प्रमेह के रोगियों में ये उपद्रव उत्पन्न होते हैं। यथा-तृष्णा, प्यास, अतिसार, ज्वर, दाह, दुर्बलता, अरुचि, अविपाक, अपचन, मांस में दुर्गन्धयुक्त पिडकायें, अलजी, विद्रधि आदि ये सब उपद्रव प्रमेह के कारण होते हैं।

चिकित्सा—इन सब प्रमेहों में जो प्रमेह साध्य हों, उनकी यथायोग्य रीति से संशोधन या शमनविधि से चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ४२-४३ ॥

भवन्ति चात्र—गृध्नुमभ्यवहार्येषु स्नानचङ्क्रमणद्विषम्।
प्रमेहः क्षिप्रमभ्येति नीडद्रुममिवाण्डजः ॥ ४४ ॥
मन्दोत्साहमतिस्थूलमतिस्निग्धं महाशनम्।
मृत्युः प्रमेहरूपेण क्षिप्रमादाय गच्छति ॥ ४५ ॥
यस्त्वाहारं शरीरस्य धातुसाम्यकरं नरः।
सेवते विविधाश्चान्याश्चेष्टाः स सुखमश्नुते ॥ ४६ ॥

प्रमेह किसको होता है—घोंसले की ओर जिस प्रकार पक्षी जल्दी पहुंच जाता है, उसी प्रकार खाने-पीने के लालची, स्नान एवं चलने-फिरने से द्वेष करने वाले पुरुष को प्रमेह बहुत शीघ्र लग जाता है। मन्द उत्साहवाले निरुत्साही, अतिस्थूल, अत्यन्त स्निग्ध शरीर वाले एवं बहुत खाने वाले पुरुष को मृत्यु प्रमेह रूप लेकर चली आती है। जो मनुष्य शरीर के धातुओं को समान करने वाले आहार तथा अन्य प्रकार की चेष्टाओं (विहार) का सेवन करता है, वह सुख भोगता है ॥ ४४-४६ ॥

तत्र श्लोकाः—हेतुर्व्याधिविशेषाणां प्रमेहाणां च कारणम्।
दोषधातुसमायोगो रूपं विविधमेव च ॥ ४७ ॥

दशश्लेष्मकृता यस्मात्प्रमेहाः षट् च पित्तजाः ।
यथा करोति वायुश्च प्रमेहांश्चतुरो बली ॥ ४८ ॥
साध्यासाध्यविशेषाश्च पूर्वरूपाण्युपद्रवाः ।
प्रमेहाणां निदानेऽस्मिन् क्रियासूत्रं च भाषितम् ॥ ४९ ॥

इस प्रमेह-अध्याय में हेतु, व्याधि, प्रमेहों के कारण, दोष एवं दूष्य का वर्णन, इनके नाना रूप, दस प्रकार कफजन्य, छः प्रकार के पित्तजन्य और चार प्रकार के वातजन्य प्रमेह, उनके साध्य-असाध्य भेद, प्रमेहों के पूर्वरूप, उपद्रव और क्रियासूत्र ये सब विषय कह दिये हैं ॥ ४७–४९ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते निदानस्थाने प्रमेह-
निदानं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

अथातः कुष्ठनिदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब इसके आगे कुष्ठनिदान का व्याख्यान करते हैं। जैसा कि भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥२।

सप्त द्रव्याणि कुष्ठानां प्रकृति-विकृतिमापन्नानि भवन्ति। तद्यथा—त्रयो दोषा वातपित्तश्लेष्माणः प्रकोपणविकृताः। दूष्याश्च शरीरधातवस्त्वङ्-मांस-शोणित-लसीकाश्चतुर्धा दोषोपघातविकृताः; इत्येतत्सप्तानां सप्तधातुकमेवंगतमाजननं कुष्ठानाम्, अतः प्रभवाण्यभिनिर्वर्तमानानि केवलं शरीरमुपतपन्ति ॥ ३ ॥

शरीर के अन्दर सात द्रव्य विकृत होकर कुष्ठ रोग के कारण बनते हैं। यथा—प्रकोपकारक पदार्थों के संयोग से वात, पित्त और कफ ये तीन दोष विकृत होकर, त्वचा, मांस, रक्त और लसीका इन चार दूष्य (धातु तथा उपधातुओं) को अपने संसर्ग से विकृत करते हैं। इस प्रकार से ये सात द्रव्य विकृत होकर कुष्ठ रोग को उत्पन्न करते हैं।[1] इन सातों धातुओं से उत्पन्न

---

१. वीसर्प और कुष्ठ रोग में दोष और दूष्य एक समान ही हैं। इस समानता पर भी वीसर्प फैलाने वाला तथा रक्त का प्रधान दोष इसमें रहता है।
अकेली और सब चिकित्साओं के समान है। रक्तजन्य
कण्डू, पूय, त्वक्-शून्यता, पसीने का न आना होता है जो वीसर्प में
[भेद है।

कुष्ठ सात धातुओं में अपना प्रभाव प्रकट करता हुआ सम्पूर्ण शरीर को पीड़ित करता है ॥३॥

न च किंचिदस्ति कुष्ठमेकदोषप्रकोपनिमित्तं, अस्ति तु खलु समानप्रकृतीनामपि सप्तानां कुष्ठानां दोषांशांश-विकल्प-स्थान-विभागेन वेदना-वर्ण-संस्थान-प्रभाव-नाम-चिकित्सित-विशेषः ॥ ४ ॥

कोई भी कुष्ठ एक दोष के प्रकोप से उत्पन्न नहीं होता। सातों प्रकार के कुष्ठों में प्रकृति के समान होने पर दोष, अंश, बल, विकल्प तथा स्थान भेद से, वेदना,[1] रंग, स्थिति, प्रभाव एवंनाम से चिकित्सा में भेद आजाता है ॥ ४ ॥

स सप्तविधोऽष्टादशविधोऽपरिसंख्येयविधो वा भवति। दोषा हि विकल्पनैर्विकल्प्यमाना विकल्पयन्ति विकारान्, अन्यत्रासाध्यभावात्; तेषां विकल्प-विकार-संख्यानेऽतिप्रसंगमभिसमीक्ष्य सप्तविधमेव कुष्ठविशेषमुपदेक्ष्यामः ॥ ५ ॥

इस प्रकार से कुष्ठ सात प्रकार का, अठारह प्रकार का अथवा असंख्य प्रकार का हो जाता है।

कुष्ठ के सात भेद—दोष अनेक प्रकार की विकल्पनाओं के कारण भिन्न होते हुए नाना प्रकार से नाना रोग उत्पन्न कर देते हैं। अर्थात् व्याधि, करण और दोष इनके भेद से कार्यरूप व्याधि के भी बहुत से भेद होजाते हैं। इसलिये दोषभेद से उत्पन्न भेदों को असाध्य भेद में नहीं गिना जाता। अतः इन कुष्ठों के भेदों की गणना को बहुत विस्तृत जान कर यहां पर केवल सात प्रकार के कुष्ठों का उपदेश करेंगे ॥५॥

इह वातादिषु त्रिषु प्रकुपितेषु त्वगादींश्चतुरः प्रदूषयत्सु वातेऽधिकतरे कापालकुष्ठमभिनिर्वर्तते, पित्ते त्वौदुम्बरं, श्लेष्मणि मण्डलकुष्ठं, वातपित्तयोर्ऋष्यजिह्वं, पित्तश्लेष्मणोः पुण्डरीकं, श्लेष्ममारुतयोः सिध्म, सर्वदोषाभिवृद्धौ काकणकमभिनिर्वर्तते; इत्येवमेष सप्तविधः कुष्ठविशेषो भवति ॥ ६ ॥

स चैष भूयस्तरमतः प्रकृतौ विकल्प्यमानायां भूयसीं विकारविकल्पसंख्यामापद्यते ॥ ७ ॥

---

१. वेदनाविशेष—कापालं तोदबहुलम्। वर्णविशेष—काकणन्तिकावर्णं। संस्थान—ऋष्यजिह्वासंस्थानम्। प्रभाव—साध्यताऽसाध्यतादि। नामविशेष—कापालः,—ये उदाहरण हैं।

वातादि दोष के अनुसार कुष्ठ—वात आदि तीनों दोष प्रकुपित होकर जब त्वचा, मांस, रक्त और लसीका इन चारों को दूषित करते हैं, तब कुष्ठ-रोग उत्पन्न होता है। इनमें वात की अधिकता से कापालकुष्ठ, पित्त की अधिकता से औदुम्बर-कुष्ठ, कफ की अधिकता से मण्डल-कुष्ठ, वात-पित्त की अधिकता से ऋष्यजिह्व-कुष्ठ, पित्त-कफ की अधिकता से पुण्डरीक-कुष्ठ, कफ-वायु की अधिकता से सिध्म-कुष्ठ होता है और सब दोषों की वृद्धि होने से काकणक-कुष्ठ उत्पन्न होता है। इस प्रकार से सात कुष्ठ उत्पन्न होते हैं।

यही सात प्रकार के कुष्ठ प्रकृति के तर-तम अर्थात् न्यूनाधिक भेद के कारण नाना प्रकार के कुष्ठों के असंख्य भेद उत्पन्न कर देते हैं ॥७॥

तत्रेदं सर्वकुष्ठनिदानं समासेनोपदेक्ष्यामः। शीतोष्णव्यत्यासमननुपूर्व्योपसेवमानस्य तथा संतर्पणापतर्पणाभ्यवहार्यव्यत्यासं च, मधु-फाणित-मत्स्य-मूल-काकमाचीश्च सततमतिमात्रमप्यजीर्णेऽन्ने समश्नतश्चिलिचिमं च पयसा,हायनक-यवक-चीनकोद्दालक-कोरदूषप्रायाणि चान्नानि क्षीर-दधि-तक्र-कोल-कुलत्थ-माषातसी-कुसुम्भ-परुष-स्नेहवन्ति, एतैरेवातिमात्रं सुहितभक्षितस्य च व्यवाय-व्यायाम-संतापानत्युपसेवमानस्य, अतिभयश्रमसंतापोपहृतस्य च सहसा शीतोदकमवतरतो, विदग्धं चाऽऽहारजातमनुल्लिख्य विदाहीन्यभ्यवहरतः, छर्दिं च प्रतिघ्नतः, स्नेहांश्चातिचरतो युगपत् त्रयो दोषाः प्रकोपमापद्यन्ते, त्वगादयश्चत्वारः शैथिल्यमापद्यन्ते, तेषु शिथिलेषु त्रयो दोषाः प्रकुपिताः स्थानमभिगम्य संतिष्ठमानास्तानेव त्वगादीन् दूषयन्तः कुष्ठान्यभिनिर्वर्तयन्ति ॥ ८ ॥

कुष्ठ रोग के कारण—अब संक्षेप से सब कुष्ठों का निदान कहते हैं। शीत और उष्ण के परिवर्त्तन से, शीत और उष्ण के परित्याग से (अर्थात् उष्ण सेवन करके सहसा शीत सेवन या इसके विपरीत तथा अनुचित काल में शीतोष्ण सेवन से), संतर्पण एवं अपतर्पण दोनों के उलट फेर से, मधु, फाणित (राब), मछली, मूली, काकमाची (मकोय), इनके निरन्तर या अधिक मात्रा में खाने से, अजीर्ण में भोजन करने से, दूध के साथ चिलचिम-मछली के उपयोग से, हायनक, यवक, चीनक, उद्दालक, कोद्रव आदि कुधान्यों के बहुत खाने से, दूध, दही, छाछ, बेर, कुलथी, उड़द, अलसी, धनिया, इनके तेल में तैयार किये पदार्थों के अतिसेवन से, मैथुन, व्यायाम और सन्ताप के करने से, भय, श्रम और सन्ताप से युक्त होने पर एकदम ठण्डे पानी से (ठण्डी वायु के स्पर्श से भी), विदाहकारक पदार्थों का वमन

न करके पुनः विदाहकारक पदार्थों के खाने से; वमन के वेग को रोकने से, स्निग्ध पदार्थों के अति भोजन से, तीनों दोष एक साथ में कुपित होजाते हैं, तथा त्वचा, रक्त, मांस और लसीका चारों धातु शिथिल होजाते हैं। इन शिथिल हुए धातुओं में कुपित हुए दोष किसी एक भाग में स्थान पाकर घर कर लेते हैं। वहां पर रहकर त्वचा आदि को दूषित बनाकर कुष्ठरोग उत्पन्न करते हैं ॥८॥

तेषामिमानि खलु पूर्वरूपाणि। तद्यथा—अस्वेदनमतिस्वेदनं पारुष्यमतिश्लक्ष्णता वैवर्ण्यं कण्डूर्निस्तोदः सुप्तता परिदाहः परिहर्षो लोमहर्षः खरत्वमुष्णायनं गौरवं श्वयथुर्विसर्पागमनमभीक्ष्णं कायच्छिद्रेषूपदेहः पक्व-दग्ध-दष्ट-क्षतोपस्खलितेष्वतिमात्रं वेदना स्वल्पानामपि च व्रणानां दुष्टिरसंरोहणं चेति कुष्ठपूर्वरूपाणि भवन्ति ॥ ९ ॥

कुष्ठरोग के पूर्वरूप ये हैं—जैसे पसीने का सर्वथा न आना या बहुत पसीना आना, त्वचा में कर्कशता या कठोरता, अथवा बहुत चिकनापन, रंग परिवर्त्तन, खाज, सूई चुभने की सी वेदना, स्पर्शज्ञान की शून्यता, जलन, रोमांच, हर्ष, रूक्षता, उष्णता, भारीपन, सूजन, वीसर्प रोग का होना, शरीर के छिद्रों में बार बार लेप सा होना, अवरोध, पकने या जलने या कटने या चोट लगने या गिरने पर बहुत दर्द होना, थोड़े से व्रण का भी संक्रान्त होना या शीघ्र न भरना, ये कुष्ठ के पूर्वरूप हैं ॥९॥

तेभ्योऽनन्तरं कुष्ठानि जायन्ते। तेषामिदं वेदना-वर्ण-संस्थान-प्रभाव-नाम-विशेष-विज्ञानं भवति। तद्यथा—रूक्षारुणपरुषाणि विषमविसृतानि खरपर्यन्तानि तनून्युद्वृत्तबहिस्तनूनि सुप्तसुप्तानि हृषितलोमाचितानि निस्तोदबहुलान्यल्पकण्डू-दाह-पूय-लसीकान्याशुगतिसमुत्थानान्याशुभेदीनि जन्तुमन्ति कृष्णारुणकपालवर्णानि च कापालकुष्ठानीति विद्यात् ॥ १० ॥

उनके पीछे कुष्ठ उत्पन्न होते हैं। इसके आगे इनके वेदना, वर्ण, संस्थान, प्रभाव, नाम विशेष वर्णन करते हैं।

कापाल-कुष्ठ—रूक्ष, अरुण वर्ण, कर्कश, विषम, फैला, तथा किनारों पर खरखर, बाह्य पार्श्व से पतला तथा थोड़ा उभरा हुआ, पतला, फैला, सोये हुये के समान सोया, बहरा (स्पर्शज्ञान शून्य), रोमांच सहित, अतिशय चुभने की वेदनावाले, थोड़ी, खाज, दाह, पूय, लसीका युक्त; शीघ्रता उत्पन्न होनेवाले, शीघ्र फटनेवाले, कीड़ेवाले, काले लाल, कपाल वर्ण के को 'कापाल कुष्ठ' कहते हैं। कपाल—मिट्टी का ठीकरा, उसके समान ॥ १

ताम्राणि ताम्र-खर-रोम-राजीभिरवनद्धानि बहलानि बहुबहल-रक्त-पूय-लसीकानि कण्डू-क्लेद-कोथ-दाह-पाकवन्त्याशुगतिसमुत्थानभेदीनि ससंतापकृमीणि पक्वोदुम्बरफलवर्णान्युदुम्बरकुष्ठानीति विद्यात् ॥ ११ ॥

उदुम्बर-कुष्ठ—जो कुष्ठ ताम्बे के समान या ताम्बे के समान रंगवाले तथा कर्कश रोमवाले; बहुत रक्त-पूय और लसीका से युक्त, जिन में खाज, क्लेद (स्राव), कोथ (गलना), दाह एवं पाक हो, शीघ्रता से उत्पन्न होनेवाले एवं पकनेवाले, जिनमें ताप एवं कृमि हों, जिनका रंग पके हुए गूलर के समान हो उनको 'उदुम्बर कुष्ठ' जानना चाहिये ॥ ११ ॥

स्निग्धानि गुरूण्युत्सेधवन्ति श्लक्ष्णस्थिरपीनपर्यन्तानि शुक्लरक्तावभासानि शुक्लरोमराजीसन्तानानि बहुल-बहल-शुक्ल-पिच्छिल-स्रावाणि बहु-क्लेद-कण्डू-कृमीणि सक्तगतिसमुत्थानभेदीनि परिमण्डलानि मण्डलकुष्ठानीति विद्यात् ॥ १२ ॥

मण्डल कुष्ठ—जो कुष्ठ स्निग्ध, भारी, ऊंचाईवाले, चिकने, स्थिर, किनारों से मोटे, सफेद या लाल रंग के, सफेद बालों (रोम) से व्याप्त, जिनमें बहुत, गाढ़ा एवं सफेद तथा चिकना स्राव होता हो, जो बहुत स्राव, खाज तथा कृमि से युक्त हों, जिनकी गति और उत्पत्ति धीरे २ होती हो, जिनका आकार चक्र के समान गोलाकार हो, उनको 'मण्डलकुष्ठ' कहते हैं ॥ १२ ॥

परुषाण्यरुणवर्णानि बहिरन्तःश्यावानि नील-पीत-ताम्रावभासान्याशुगतिसमुत्थानान्यल्प-कण्डू-क्लेद-कृमीणि दाह-भेद-निस्तोद-पाक-बहुलानि शूकोपहतोपमानवेदनान्युत्सन्नमध्यानि तनुपर्यन्तानि कर्कशपिडकाचितानि दीर्घपरिमण्डलानि ऋष्यजिह्वाकृतीनि ऋष्यजिह्वानीति विद्यात् ॥ १३ ॥

ऋष्यजिह्व-कुष्ठ—जो कुष्ठ बाहर के पार्श्व में खर्खर तथा लाल रंग के, अन्दर से काले रंग के, जिनमें नीले, पीले, ताम्बे के रंग की झांई दीखती हो, जो कि शीघ्रता से बढ़ते या उत्पत्ति वाले हों, जिनमें कण्डू, कृमि और क्लेद कम हो, जिनमें दाह, फटना, वेदना तथा पाक बहुत हो, जिनमें शूक (जल शूक, कृमि) के लगने के समान पीड़ायें हों, बीच से उठे हुए न हों, किनारों से पतले, [स्पर्शवाली फुन्सियों द्वारा चारों ओर से घिरे हों, बड़े २ चकत्तेवाले जीभ के समान आकृतिवाले कुष्ठों को ऋष्यजिह्वकुष्ठ जानना ॥ १३ ॥

शुक्लरक्तावभासानि रक्तपर्यन्तानि रक्तराजीसंततान्युत्सेधवन्ति बहु-बहल-रक्त-पूय-लसीकानि कण्डू-कृमि-दाह-पाकवन्त्याशुगतिसमुत्थानभेदीनि पुण्डरीकपलाशसंकाशानि पुण्डरीकाणीति विद्यात् ॥ १४ ॥

पुण्डरीककुष्ठ—सफेद या लाल रंग की चमक वाले, किनारों पर लाल, लाल रोम (बालों) से व्याप्त, त्वचा से ऊपर उठे हुए न हों, गाढ़ी पूय (पीप), रक्त एवं लसीका बहुत हो, खाज, कृमि, दाह और पाकयुक्त, जल्दी बढ़ने एवं उत्पन्न होने वाले, शीघ्रभेदी, कमल के पत्तों के समान आकारवाले कुष्ठों को 'पुण्डरीक-कुष्ठ' कहते हैं ॥ १४ ॥

परुषारुणविशीर्णबहिस्तनून्यन्तःस्निग्धानि बहून्यल्पवेदनान्यल्प-कण्डू-दाह-पूय-लसीकानि लघुसमुत्थानान्यल्पभेदकृमीण्यलाबु-पुष्प-संकाशानि सिध्मकुष्ठानीति विद्यात् ॥ १५ ॥

सिध्मकुष्ठ—जो कुष्ठ बाहर से कठिन, लाल वर्ण, किनारों से कटे-फटे, अन्दर से स्निग्ध, जिनमें सफेद या लाल रंग की चमक हो, जो कि बहुत अधिक हों जिनमें पीड़ा कण्डू, दाह, पूय, लसीका कम हो, जिनकी उत्पत्ति धीरे-धीरे हो, जो अल्पभेदी हों, जिनमें कृमि थोड़े हों और जिनका रंग दूधिया, घीया कद्दू के फूल के समान हो उनको 'सिध्म कुष्ठ' कहते हैं ॥१५॥

काकणन्तिकावर्णान्यादौ पश्चात्सर्व-कुष्ठ-लिङ्ग-समन्वितानि पापीयसा सर्वकुष्ठलिङ्गसंभवेनानेकवर्णानि काकणकानीति विद्यात्, तान्यसाध्यानि साध्यानि पुनरितराणि ॥ १६ ॥

काकणक-कुष्ठ—जिन कुष्ठों का रंग प्रथम लाल रती के समान हो और पीछे से उनमें सम्पूर्ण कुष्ठों के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं, उनको 'काकणक कुष्ठ' कहते हैं। (इनमें अनेक रंग उत्पन्न हो जाते हैं,) ये कुष्ठ पापी मनुष्यों को होते है। इनमें सब कुष्ठों के लक्षण होने से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं ॥ १६ ॥

तत्र यदसाध्यं, तदसाध्यतां नातिवर्तते, साध्यं पुनः किंचित्साध्यतामतिवर्तते कदाचिदपचारात्। साध्यानीह षट् काकणकवर्ज्यान्यचिकित्स्यमानान्यपचारतो वा दोषैरभिष्यन्दमानान्यसाध्यतामुपयान्ति १७

साध्य-असाध्य भेद—इन कुष्ठों में से कुछ कुष्ठ साध्य हैं, और कुछ कुष्ठ असाध्य हैं, वे कभी अच्छे नहीं होते। परन्तु जो साध्य हैं, वे अपचार और मिथ्या आहार-विहार के कारण असाध्य होजाते हैं। काकणक-कुष्ठ को छोड़कर शेष छः कुष्ठ भी चिकित्सा के न करने से अथवा दोषों के बढ़ असाध्य होजाते हैं ॥१७॥

साध्यानामपि ह्यपेक्ष्यमाणानामेषां त्वङ्-मांस-शोणित-लसीका-कोथ-क्लेद-संस्वेदजाः क्रमयोऽभिमूर्च्छन्ति । ते भक्षयन्तस्त्वगादीन् दोषाश्च पुनर्दूषयन्त इमानुपद्रवान् पृथक्पृथगुत्पादयन्ति ।

साध्य कुष्ठों में भी उपेक्षा करने से त्वचा, मांस, रक्त, लसीका में सड़ना, स्राव और पसीने से कीड़े उत्पन्न होजाते हैं। ये कृमि त्वचा आदि को खाते हैं, और वात आदि दोष और अधिक दूषित होकर नीचे लिखे उपद्रवों को पृथक् पृथक् रूप में उत्पन्न करते हैं।

तत्र वातः श्यावारुणवर्णपरुषतामपि च रौक्ष्य-शूल-शोष-तोद-वेपथु-व्यथा-हर्ष-संकोचाऽऽयास-स्तम्भ-सुप्ति-भेद-भङ्गान्, पित्तं पुनर्दाह-स्वेद-क्लेद-कोथ-कण्डू-स्राव-पाक-रागान्, श्लेष्मा त्वस्य श्वैत्य-शैत्य-स्थैर्य-कण्डू-गौरवोत्सेधोपस्नेहोपलेपान्, क्रमयस्त्वगादींश्चतुरः शिराः स्नायूनि मांसान्यस्थीन्यपि च तरुणानि खादन्ति ॥ १८ ॥

अस्यामवस्थायामुपद्रवाः कुष्ठिनं स्पृशन्ति । तद्यथा—प्रस्रवण-मङ्गभेदः पतनान्यङ्गावयवानां तृष्णा-ज्वरातीसार-दाह-दौर्बल्यारोचका-विपाकाश्च, तद्विधमसाध्यं विद्यादिति ॥ १९ ॥

उपद्रव—वायु के कोप के कारण रंग लाल, काला, कर्कशता, रूक्षता, शूल चुभने की सी वेदना, बींधने का सा अनुभव, रोमांच, हर्ष, कम्प, संकोच, श्रम, स्तम्भ, अंग का सो जाना, भेदन या भंग अर्थात् अंगों का टूटना—ये उपद्रव होते हैं। पित्तप्रकोप के कारण दाह, पसीना, क्लिन्नता, सड़ना, खाज, स्राव, पकना इत्यादि उपद्रव होते हैं। कफ के प्रकोप के कारण, श्वेत वर्ण, शीतलता, खाज, स्थिरता, भारीपन, उभार, चिकास, उपलेप होना ये—उपद्रव होते हैं।

इस प्रकार से उत्पन्न कीड़े त्वचा आदि चार धातुओं को तथा शिरा, स्नायु, मांस एवं कोमल अस्थियों (जैसे नाक की कोमल अस्थि) को खाने लगते हैं। इस अवस्था में कुष्ठरोगी को निम्न लिखित उपद्रव घेर लेते हैं। यथा—स्राव का बहना, अंगों का फटना या टूटना, अंगों का गिरना, तृष्णा, ज्वर, अतिसार, दाह, निर्बलता, अरुचि, अविपाक ये उपद्रव होते हैं। इस अवस्था में रोग असाध्य हो जाता है ॥ १८–१९ ॥

चात्र—साध्योऽयमिति यः पूर्वं नरो रोगमुपेक्षते ।
स किंचित्कालमासाद्य मृत एवावबुध्यते ॥ २० ॥
यस्तु प्रागेव रोगेभ्यो रोगेषु तरुणेषु च ।

भेषजं कुरुते सम्यक् स चिरं सुखमश्नुते ॥ २१ ॥
यथा स्वल्पेन यत्नेन छिद्यते तरुणस्तरुः ।
स एवातिप्रवृद्धस्तु छिद्यतेऽतिप्रयत्नतः ॥ २२ ॥
एवमेव विकारोऽपि तरुणः साध्यते सुखम् ।
विवृद्धः साध्यते कृच्छ्रादसाध्यो वाऽपि जायते ॥ २३ ॥

जो मनुष्य रोग के आरम्भ में 'साध्य' है ऐसा समझ कर उपेक्षा कर देता है, वह थोड़े समय पीछे ही मुर्दा होकर (असाध्यावस्था में आकर) ही चेतता है, और रोग के असाध्य होने पर ही उसकी नींद टूटती है। जो मनुष्य रोग के आक्रमण से पूर्व ही या रोग की नवीन अवस्था में ही औषध उपचार कर लेता है, वह देर तक सुख (जीवन) का उपभोग करता है। जिस प्रकार थोड़े से परिश्रम से ही छोटा वृक्ष काटा जा सकता है, वही वृक्ष बड़ा होने पर बहुत परिश्रम से कटता है, इसी प्रकार नवीन अवस्था में रोग भी सुगमता से अच्छा हो जाता है और यही रोग बढ़ने पर कठिनाई से अच्छा होता है, अथवा असाध्य रूप में बदल जाता है ॥२०-२३॥

तत्र श्लोकाः—संख्या द्रव्याणि दोषाश्च हेतवः पूर्वलक्षणम् ।
रूपाण्युपद्रवाश्चोक्ताः कुष्ठानां कौष्ठिके पृथक् ॥ २४ ॥

इस कुष्ठनामक अध्याय में कुष्ठों की संख्या, द्रव्य, हेतु, दोष, पूर्वरूप, और उपद्रव ये सब विषय पृथक् पृथक् कह दिये हैं ॥ २४ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते निदानस्थाने कुष्ठनिदानं नाम पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः ।

अथातः शोषनिदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब शोष के निदान की व्याख्या करते हैं, ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है ॥१-२॥

इह खलु चत्वारि शोषस्याऽऽयतनानि । तद्यथा—साहसं, संधारणं, क्षयो, विषमाशनमिति ॥ ३ ॥

शोष रोग के चार कारण होते हैं जैसे—(१) साहस, (२) सन्ध...

(मल मूत्रादि के उपस्थित वेगों को रोकना), (३) क्षय, (४) विषमाशन (विषम गुणों वाले अन्नों का भोजन करना), ॥ ३ ॥

तत्र यदुक्तं साहसं शोषस्याऽऽयतनमिति तदनुव्याख्यास्यामः—यदा पुरुषो दुर्बलो हि सन् बलवता सह विगृह्णाति, अतिमहता वा धनुषा व्यायच्छति, जल्पति वाऽप्यतिमात्रं, अतिमात्रं वा भारमुद्वहति, अप्सु वा प्लवते चातिदूरं, उत्सादनपदाघातने वाऽतिप्रगाढमासेवते, अतिप्रकृष्टं वाऽध्वानं द्रुतमभिपतति, अभिहन्यते वाऽन्यद्वा किंचिदेवंविधं विषममतिमात्रं वा, व्यायामजातमारभते; तस्यातिमात्रेण कर्मणा उरः क्षण्यते ॥

साहस शोषरोग का कारण है, यह जो कहा है, इसकी व्याख्या करेंगे—जब कोई दुर्बल पुरुष अपने से बलवान् व्यक्ति के साथ कुश्ती आदि करता है, बहुत बड़े धनुष को तानता है, अथवा बहुत अधिक बोलता है, बहुत अधिक बोझ को उठाता है, पानी में बहुत तैरता है, बहुत ऊंचा लम्बा कूदता है, जोर से भूमि पर पांव पटकता है, या बहुत लम्बे या कठिन रास्ते को बहुत तेज़ी से पार करता है, अथवा ऊंचे-नीचे या किसी भारी दुःसह कार्य द्वारा चोट खाता है या और कोई ऐसा ही विषम या बहुत अधिक व्यायाम करता है अथवा आरम्भ किये कार्य को बहुत अधिक करता है; इससे उस की छाती फट पड़ती है ॥

तस्योरःक्षतमुपप्लवते वायुः, स तत्रावस्थितः श्लेष्माणमुरःस्थमुपसंसृज्य शोषयन् विहरत्यूर्ध्वमधस्तिर्यक् च । योंऽशस्तस्य शरीरसंधीनाविशति तेनास्य जृम्भाऽङ्गमर्दो ज्वरश्चोपजायते, यस्त्वामाशयमभ्युपैति तेनास्य वर्चो भिद्यते, यस्तु हृदयमाविशति तेन रोगा भवन्त्युरस्याः, यो रसनां तेनास्यारोचकश्च, यः कण्ठं प्रपद्यते, कण्ठस्तेनोद्ध्वंस्यते स्वरश्चावसीदति, यः प्राणवहानि स्रोतांस्यन्वेति तेन श्वासः प्रतिश्यायश्चोपजायते, यः शिरस्यवतिष्ठते शिरस्तेनोपहन्यते ॥३॥

इन घावों में वायु प्रवेश कर जाता है । वायु प्रवेश करके छाती में स्थित कफ के साथ मिलकर इसको सुखाकर ऊपर, नीचे या तिर्यक् दशा में स्वयं गमन करने लगता है । इस वायु का जो अंश शरीर की सन्धियों में जाता है, जम्भाई, अंगों का टूटना और ज्वर उत्पन्न हो जाता है और जो अंश में पहुँचता है उससे मल पतला आता है, जो भाग हृदय में पहुँचता हृदय (छाती) में अन्य रोग होते हैं । जो जीभ में पहुँचता है उससे

अरुचि, जो भाग कण्ठ में पहुँचता है, उससे कण्ठ नष्ट होता तथा स्वरभंग हो जाता है, जो भाग प्राणवह स्रोतों में पहुँचता है उससे श्वास और प्रतिश्याय उत्पन्न होते हैं और जो भाग शिर में पहुंचता है उससे शिरोरोग होता है ॥३॥

ततः क्षणनाच्चैवोरसो विषमगतित्वाच्च वायोः कण्ठस्य चोद्ध्वंसनात्कासः सततमस्य संजायते, स कासप्रसंगादुरसि क्षते शोणितं ष्ठीवति, शोणितागमाच्चास्य दौर्गन्ध्यमुपजायते, एवमेते साहसप्रभवाः साहसिकमुपद्रवाः स्पृशन्ति । ततः सोऽप्युपशोषणैरेतैरुपद्रवैरुपद्रुतः शनैः शनैरुपशुष्यति । तस्मात्पुरुषो मतिमान् बलमात्मनः समीक्ष्य तदनुरूपाणि कर्माण्यारभेत कर्तुं, बलसमाधानं हि शरीरं, शरीरमूलश्च पुरुष इति ॥ ४ ॥

इसके अनन्तर छाती में व्रण होने और वायु की विषम गति होने से तथा कण्ठ के खर्खर बनने से निरन्तर कास (खांसी), उत्पन्न हो जाता है । कास के होने से छाती में व्रण बनने से थूक में रक्त आ जाता है, रक्त के आने से दुर्गन्ध उत्पन्न हो जाती है । इस प्रकार से साहस करने वाले पुरुष को साहस से उत्पन्न होने वाले उपद्रव घेर लेते हैं । इन शुष्क करने वाले उपद्रवों से आक्रान्त होकर पुरुष भी धीरे-धीरे सूख जाता है । इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि अपने बल को देखकर तदनुसार कार्य का आरम्भ करे । बल के कारण ही शरीर अच्छे प्रकार से धारण किया जाता है और शरीर ही पुरुष अर्थात् आत्मा का मुख्य आश्रय है ॥ ४ ॥

भवति चात्र—साहसं वर्जयेत्कर्म रक्षञ्जीवितमात्मनः ।
जीवन् हि पुरुषस्त्विष्टं कर्मणः फलमश्नुते ॥ ५ ॥

अपना जीवन चाहने वाले पुरुष को साहस के कार्य छोड़ देने चाहिये, क्योंकि जीता हुआ पुरुष ही अपने कर्म का इष्टफल भोग सकता है ॥५॥

अथ संधारणं शोषस्याऽऽयतनमिति यदुक्तं तदनुव्याख्यास्यामः—यदा पुरुषो राजसमीपे भर्तृसमीपे वा गुरोर्वा पादमूले द्यूतसभमन्यं सतां समाजं स्त्रीमध्यं वाऽनुप्रविश्य यानैर्वाऽप्युच्चावचैरभियन् भयात् प्रसंगात् ह्रीमत्त्वाद् घृणित्वाद्वा निरुणद्ध्यागतानि वातमूत्रपुरीषाणि, तदा तस्य संधारणाद्वायुः प्रकोपमापद्यते । स प्रकुपितः पित्तश्लेष्माणौ समुदीर्योर्ध्वमधस्तिर्यक् च विहरति । ततश्चांशविशेषेण पूर्ववदवयवविशेषं प्रविश्य शूलं जनयति, भिनत्ति पुरीषमुच्छोषयति पार्श्वे चातिरुजति, अंसौ चावमृद्नाति, कण्ठमुरश्चावधमति,

श्चोपहन्ति, कासं श्वासं ज्वरं स्वरभेदं प्रतिश्यायं चोपजनयति। ततः सोऽप्युपशोषणैरेतैरुपद्रवैरुपद्रुतः शनैः शनैरुपशुष्यति। तस्मात्पुरुषो मतिमानात्मनः शरीरेष्वेव योगक्षेमकरेषु प्रयतेत। शरीरं ह्यस्य मूलं, शरीरमूलश्च पुरुषो भवतीति ॥ ६ ॥

भवति चात्र—सर्वमन्यत्परित्यज्य शरीरमनुपालयेत्।
तदभावे हि भावानां सर्वाभावः शरीरिणाम् ॥ ७ ॥ इति ॥

(२) वेग सन्धारण मल मूत्रादि के उपस्थित वेगों को रोकना शोष का कारण है, यह जो कहा है उसकी व्याख्या करते हैं—

जिस समय पुरुष राजा के समीप, स्वामी के समीप, गुरु की चरणसेवा में, जुआख़ाने में, अथवा इसी प्रकार दूसरे सज्जन मनुष्यों की सभा में, या स्त्रियों के बीच में घुसकर, या ऊंची-नीची सवारी पर यात्रा करते समय, भय से, प्रसंग से, लज्जा से वा घृणा से वायु मूत्र या मल के उपस्थित वेगों को रोक लेता है, तब उनके रोकने से वायु प्रकुपित हो जाता है। यह प्रकुपित हुआ वायु, पित्त और कफ को कुपित करके ऊपर-नीचे या तिरछे रूप में बहता है और तब किसी भाग से शरीर के अवयव विशेष में प्रवेश करके पूर्व की भांति शूल उत्पन्न करता है, मल का भेदन अथवा शोषण करता है। रोगी के पार्श्वों में पीड़ा उत्पन्न करता है, कन्धों को तोड़ सा डालता है, (कन्धों का आकार बोतल की गर्दन के समान हो जाता है, समकोण नहीं रहता), कण्ठ और छाती पीड़ित होते हैं, शिर में वेदना होती है। कास, श्वास, ज्वर, स्वरभेद, प्रतिश्याय रोग उत्पन्न हो जाते हैं। रोगी भी इन शोषण करनेवाले उपद्रवों से धीरे-धीरे सूखने लगता है। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि अपना शरीर जिस प्रकार से सुखी, स्वस्थ रहे, उस प्रकार का विशेष रूप से प्रयत्न करे, क्योंकि जो भी कोई अमूल्य अलभ्य वस्तु है वह शरीर से ही होती है और पुरुष का शरीर ही आधार है।

इसलिये और सब कुछ छोड़कर शरीर की रक्षा करनी चाहिये। शरीर के न रहने पर सब वस्तुओं का होना या न होना एक समान है। शरीर के होने पर ही और सब पदार्थ उपयोगी होते हैं ॥ ६–७ ॥

क्षयः शोषस्याऽऽयतनमिति यदुक्तं तदनुव्याख्यास्यामः—यदा पुरु- | शोक-चिन्ता-परीत-हृदयो भवति, ईर्ष्योत्कण्ठा-भय-क्रोधा- ते, कृशो वा सन् रूक्षान्नपानसेवी भवति, दुर्बल- हारोऽल्पाहारो वाऽऽस्ते, तदा तस्य हृदयस्थायी रसः क्षयमु-

पैति, स तस्योपक्षयात्संशोषं प्राप्नोति, अप्रतीकाराच्चानुबध्यते यक्ष्मणा यथोपदेक्ष्यमाणरूपेण ॥ ८ ॥

(३) 'क्षय' शोषरोग का कारण है, यह जो पहिले कहा है, उसकी व्याख्या करेंगे—जिस मनुष्य के हृदय में शोक वा चिन्ता, बहुत काम, ईर्ष्या, उत्कण्ठा, भय, क्रोध (लोभ, मोह) आदि भाव मन में बहुत प्रवेश कर जायें वा जो कृश होता हुआ फिर रूखे खान-पान का सेवन करे, शरीर से दुर्बल प्रकृति हो कर उपवास या आवश्यकता से न्यून भोजन ले, तब उस के हृदय में रहनेवाला रस (ओज) क्षय होने लगता है और इस रस (ओज) के क्षय होने से मनुष्य सूखने लगता है और इसका प्रतिकार न करने से पुरुष राजयक्ष्मा रोग से पीड़ित होता है। जैसा कि आगे उपदेश करेंगे ॥ ८ ॥

यदा वा पुरुषोऽतिप्रहर्षात्प्रसक्तभावः स्त्रीष्वतिप्रसङ्गमारभते, तस्यातिमात्रप्रसङ्गाद्रेतः क्षयमुपैति। क्षयमपि चोपगच्छति रेतसि यदि मनः स्त्रीभ्यो नैवास्य निवर्त्तते एव। तस्य चातिप्रणीतसंकल्पस्य मैथुनमापद्यमानस्य शुक्रं च न प्रवर्तते, अतिमात्रोपक्षीणत्वात्; अथास्य वायुर्व्यायच्छमानशरीरस्यैव धमनीरनुप्रविश्य शोणितवाहिनीस्ताभ्यः शोणितं प्रच्यावयति, तच्छुक्रक्षयाच्छुक्रमार्गेण शोणितं प्रवर्तते वातानुसृतलिङ्गम्। अथास्य शुक्रक्षयाच्छोणितप्रवर्तनाच्च संधयः शिथिलीभवन्ति, रौक्ष्यमुपजायते, भूयः शरीरं दौर्बल्यमाविशति, वायुः प्रकोपमापद्यते। स प्रकुपितोऽवशिकं शरीरमनुसर्पन् परिशोषयति मांसशोणिते, प्रच्यावयति श्लेष्मपित्ते, संरुजति पार्श्वे, चावगृह्णात्यसौ, कण्ठमुद्ध्वंसयति, शिरः श्लेष्माणमुपक्लेश्य प्रतिपूरयति श्लेष्मणा संधींश्च प्रपीडयन् करोत्यङ्गमर्दमरोचकाविपाकौ च, पित्तश्लेष्मोत्क्लेशात्प्रतिलोमगत्वाच्च वायुर्ज्वरं कासं स्वरभेदं प्रतिश्यायं चोपजनयतिः, ततः सोऽप्युपशोषणैरुपद्रवैरुपद्रुतः शनैःशनैरुपशुष्यति। तस्मात्पुरुषो मतिमानात्मनः शरीरमनुरक्षन् शुक्रमनुरक्षेत्। परा ह्येषा फलनिर्वृत्तिराहारस्येति ॥ ९ ॥

भवति चात्र—आहारस्य परं धाम शुक्रं तद्रक्ष्यमात्मनः।
क्षयो ह्यस्य बहून् रोगान्मरणं वा नियच्छति ॥ १० ॥

शुक्रक्षय—जिस समय पुरुष अति कामवेग के का[illegible] में आसक्त होकर अति सम्भोग आरम्भ कर देता है, उस का अ[illegible]

करने से वीर्य का क्षय हो जाता है। वीर्य के क्षय होने पर भी जब मन स्त्रीसंग से नहीं हटता और संग करता ही जाता है तब अति प्रचण्ड कामवासना के कारण मैथुन करने पर भी वीर्य उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि वीर्य बहुत अधिक क्षीण हो चुका होता है। इस समय सम्भोग रूप परिश्रम करते हुए वायु रक्तवाहिनी धमनियों में प्रवेश करके इनसे रक्त बहाने लगता है। तब शुक्र (वीर्य) के क्षय से शुक्रमार्ग द्वारा वायु के साथ मिला रक्त बाहर आने लगता है। इस अवस्था में वीर्य के क्षय से तथा रक्त के निकलने से शरीर की सन्धियां शिथिल हो जाती हैं, शरीर में रूक्षता आ जाती है, शरीर और अधिक कमजोर हो जाता है और वायु का प्रकोप हो जाता है। इस प्रकार से प्रकुपित वायु शून्य (अशक्त) शरीर में संचार करता हुआ मांस और रक्त को शुष्क कर देता है, कफ और पित्त को बाहर निकालता है, पार्श्वों में पीड़ा उत्पन्न करता है, कन्धों को दबा देता है, गले को बिगाड़ देता है, कफ को कुपित करके शिर को कफ से भर देता है, सन्धियों को पीड़ित करके अंगों में वेदना उत्पन्न करता है, पित्त और कफ को कुपित करके अरुचि एवं अपचन उत्पन्न करता है। वायु की प्रतिलोम गति होने से ज्वर, कास, श्वास, स्वरभेद और प्रतिश्याय रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इस अवस्था में पुरुष शोषण करने वाले इन उपद्रवों से पीड़ित होकर धीरे धीरे शुष्क हो जाता है। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि अपने शरीर की रक्षा करता हुआ शुक्र अर्थात् वीर्य की रक्षा करे। यही शुक्र (वीर्य) आहार का सर्वोत्तम फल होता है।

आहार का सर्वोत्कृष्ट सार वीर्य है, इसका रक्षण करना परम आवश्यक है। इसका क्षय बहुत से रोगों वा मृत्यु का भी कारण होता है ॥९-१०॥

विषमाशनं शोषस्याऽयतनमिति यदुक्तं, तदनुव्याख्यास्यामः—यदा पुरुषः पानाशनभक्ष्यलेह्योपयोगान प्रकृति-करण-संयोग-राशि-देश-कालोपयोग-संस्थोपशय-विषमानासेवते, तदा तस्य वातपित्त-श्लेष्माणो वैषम्यमापद्यन्ते, ते विषमाः शरीरमनुसृत्य यदा स्रोतसामयनमुखानि प्रतिवार्यावतिष्ठन्ते तदा जन्तुर्यद्यदाहारजातमाहरति तत्तदस्य मूत्रपुरीषमेवोपजायते भूयिष्ठं नान्यस्तथा शरीरधातुः, स पुरीषोपष्टम्भाद्वर्त्तयति, तस्माच्छुष्यतो विशेषेण पुरीषमनुरक्ष्यं, तथा त्यर्थकृशदुर्बलानां, तस्यानाप्याय्यमानस्य विषमाशनोपचिता पृथगुपद्रवैर्युञ्जन्तो भूयः शरीरमुपशोषयन्ति। तत्र वातः—कण्ठोद्ध्वंसनं पार्श्वसंरुजनमंसावमर्दनं स्वरभेदं प्रतिश्यायं

चोपजनयति, पित्तं पुनर्ज्वरमतीसारमन्तर्दाहं च, श्लेष्मा तु प्रतिश्यायं शिरसो गुरुत्वं कासमरोचकं च । स कासप्रसंगादुरसि क्षते शोणितं ष्ठीवति, शोणितगमनाच्चास्य दौर्बल्यमुपजायते । एवमेते विषमाशनोपचिता दोषा राजयक्ष्माणमभिनिर्वर्तयन्ति । तैरुपशोषणैरुपद्रवैरुपद्रुतः शनैः शनैरुपशुष्यति । तस्मात्पुरुषो मतिमान् प्रकृति-करण-संयोग-राशि-देश-कालोपयोग-संस्थोपशयादविषममाहारमाहरेदिति ॥ ११ ॥

भवति चात्र—हिताशी स्यान्मिताशी स्यात्कालभोजी जितेन्द्रियः ।
पश्यन् रोगान् बहून्कष्टान्बुद्धिमान्विषमाशनात् ॥ १२ ॥ इति ।

(४) *विषमाशन—विषमाशन शोष रोग का कारण है, यह जो कहा है अब उस की व्याख्या करेंगे—*

जब मनुष्य प्रकृति, करण, संयोग, राशि, देश, काल, उपयोग, संस्था तथा उपशय के विरुद्ध, पान-अशन, भक्ष्य और लेह्य रूप में अन्न-पान का उपयोग करता है, तब उस के वात, पित्त और कफ विषम हो जाते हैं। ये विकृत दोष जिस समय शरीर में फैलकर स्रोतसों वा नाड़ियों के मुखों को घेर लेते हैं तब मनुष्य जो भी भोजन खाता है उस का अधिक भाग मूत्र और मल में बदलकर इन को ही अधिक बढ़ाता है, इस प्रकार शरीर के अन्य धातु नहीं बढ़ते । पुरुष मल के रुकने से ही जीवन धारण किया करता है। इसलिये शुष्क होते हुए पुरुष के मल की रक्षा विशेष रूप से करनी चाहिये। इस प्रकार कृश होते हुए मनुष्य के विषम भोजन से बढ़े हुए दोष नाना उपद्रवों से युक्त होकर और भी शरीर को सुखा देते हैं; तब कुपित हुआ वातशूल, अंगों का टूटना, कण्ठभेद, पार्श्वों में पीड़ा, कन्धों का टूटना, स्वरभेद और प्रतिश्याय उत्पन्न करता है। पित्तज्वर, अतिसार और अन्तर्दाह को उत्पन्न करता है। श्लेष्मा—प्रतिश्याय, शिर का भारीपन, कास और अरुचि उत्पन्न करता है। कास के कारण छाती में व्रण होने से थूक में रक्त आता है। रक्त के निकलने से कमज़ोरी आ जाती है। इस प्रकार से विषम भोजन द्वारा एकत्रित हुए दोष राजयक्ष्मा रोग को उत्पन्न करते हैं। शोषण करने वाले इन उपद्रवों से पीड़ित होने पर धीरे धीरे मनुष्य सूखने लगता है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि प्रकृति, करण, संयोग, राशि, देश, काल, उपयोग, संस्था और उपशय के अनुकूल खान पान करे[1]।

१. इस का विस्तार 'रस-विमान' नामक अध्याय में कहेंगे।

बुद्धिमान् मनुष्य विषमाशन के कारण नाना प्रकार के कष्टदायक रोगों की उत्पत्ति को देखकर, हितकारक, परिमित और समय पर भोजन करने वाला और जितेन्द्रिय बने ॥ ११-१२ ॥

एवमेतैश्चतुर्भिः शोषस्याऽऽयतनैरभ्युपसेवितैर्वात-पित्त-श्लेष्माणः प्रकोपमापद्यन्ते, ते प्रकुपिता नानाविधैरुपद्रवैः शरीरमुपशोषयन्ति। तं सर्वरोगाणां कष्टतमत्वाद्राजयक्ष्माणमाचक्षते भिषजः। यस्माद्वा पूर्वमासीद्भगवतः सोमस्योडुराजस्य तस्माद्राजयक्ष्मेति ॥ १३ ॥

राजयक्ष्मा शब्द की निरुक्ति—शोष रोग के कहे हुए इन चार कारणों के सेवन करने से, वात, पित्त, कफ ये तीनों दोष प्रकुपित हो जाते हैं। ये दोष कुपित होकर नाना प्रकार के उपद्रवों से शरीर का शोषण करते हैं। यह रोग सब रोगों में अधिक कष्टसाध्य है, इसलिये वैद्य लोग इस को 'राजयक्ष्मा' कहते हैं। अथवा यह क्षय पहले नक्षत्रराज चन्द्रमा को रहा, इसलिये इस का नाम 'राजयक्ष्मा' है ॥ १३ ॥

तस्येमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति। तद्यथा—प्रतिश्यायः क्षवथुरभीक्ष्णं श्लेष्मप्रसेको मुखमाधुर्यमनन्नाभिलाषोऽन्नकाले चाऽऽयासो दोषदर्शनमदोषेष्वल्पदोषेषु वा पात्रोदकान्न-सूपोपदंश-परिवेशकेषु भुक्तवतो हृल्लासस्तथोल्लेखनमाहारस्यान्तरान्तरा मुखस्य पादयोश्च शोषः पाण्योश्चावेक्षणमत्यर्थमक्ष्णोः श्वेतावभासता चातिमात्रं बाह्वोश्च प्रमाणजिज्ञासा स्त्रीकामताऽतिघृणित्वं बीभत्सदर्शनता चास्य काये स्वप्ने चाभीक्ष्णं दर्शनमनुदकानामुदकस्थानानां,शून्यानां च ग्राम-नगर-निगमन-जनपदानां शुष्कदग्धावभग्नानां च वनानां कृकलास-मयूर-वानर-शुक-सर्प-काकोलूकादिभिः संस्पर्शनमधिरोहणं वा यानं च श्वोष्ट्र-खर-वराहैः केशास्थिभस्म-तुषाङ्गार-राशीनां चाधिरोहणमिति शोषपूर्वरूपाणि भवन्ति ॥१४॥

शोष के पूर्वरूप—शोष रोग के ये पूर्व रूप हैं। यथा—प्रतिश्याय (जुकाम), छींक आना, बार बार कफ का गिरना, मुख मे मिठास, भोजन को अनिच्छा, भोजन करते समय थकान की प्रतीति, पात्र, पानी, अन्न, दाल, चटनी, शाक आदि निर्दोष या अल्प दोषवाली वस्तुओं में भी दोष देखना, भोजन करते समय जी मचलना, मुंह में पानी बहुत आना, खाये हुए अन्न का वमन होना, मुख और पांव का सूखना, हाथों को बहुत अधिक देखते रहना, आंखों का [illegible]आना (रक्त की न्यूनता), भुजाओं में मोटाई, जांचने की प्रवृत्ति, [illegible], अपने शरीर से घृणा या अपने शरीर में भयंकर रूप देखना

और स्वप्न में पानी से रहित स्थानों में पानी को देखना, शून्य स्थानों में ग्राम, नगर, जनपदों की प्रतीति होना जंगलों का जलना, शुष्क होना या टूटना देखना, गिरगट, मोर, बन्दर, तोता, सांप, कौवा, उल्लू आदि के साथ स्पर्श की प्रतीति, कुत्ता, ऊंट, गधा, सुअर आदि पर चढ़कर सवारी करना, केश, अस्थि, भस्म, भूसा, अंगारे के ढेरों पर चढ़ना आदि देखना, ये शोष रोग के पूर्वरूप हैं ॥ १४ ॥

अत ऊर्ध्वमेकादश रूपाणि तस्य भवन्ति, तद्यथा—शिरसः प्रतिपूरणं कासः श्वासः स्वरभेदः श्लेष्मणश्छर्दनं शोणित-ष्ठीवनं पार्श्वसंरुजनमंसावमर्दो ज्वरोऽतीसारस्तथाऽरोचक इति ॥ १५ ॥

ग्यारह रूप—इस के बाद राजयक्ष्मा के ग्यारह लक्षण हो जाते हैं। यथा—(१) शिर का कफ से भरना, (२) कास, (३) श्वास, (४) स्वरभेद, (५) कफ का गिरना, (६) थूक में रक्त आना, (७) पार्श्वों में दर्द, (८) कन्धों का नीचे दबना, (९) ज्वर, (१०) अतिसार और (११) अरोचक (अरुचि) ॥ १५ ॥

तत्रापरिक्षीण-मांस-शोणितो बलवानजातारिष्टः सर्वैरपि शोषलिङ्गैरुपद्रुतः साध्यो ज्ञेयः, बलवर्णोपचयोपचितो हि सहिष्णुत्वाद् व्याध्यौषधबलस्य कामं सुबहुलिङ्गोऽप्यल्पलिङ्ग एव मन्तव्यः। दुर्बलं त्वतिक्षीण-मांस-शोणितमल्पलिङ्गमप्यजातारिष्टमपि बहुलिङ्गमेव जातारिष्टमेव विद्यात्, तदसहत्वाद् व्याध्यौषधबलस्य, तं परिवर्जयेत्, क्षणेन हि प्रादुर्भवन्त्यरिष्टानि, अनिमित्तश्चारिष्टप्रादुर्भाव इति ॥१६॥

साध्य और असाध्य रूप—जिस रोगी के मांस और रक्त कम नहीं हुए, और शक्ति बनी हुई है और अरिष्ट-लक्षण उत्पन्न नहीं हुए, ऐसे रोगी को यदि सब उपद्रव भी घेर लें तो भी रोगी साध्य है, क्योंकि जिस रोगी के बल और वर्ण सुरक्षित हैं, वह व्याधि और औषध के बल को सुगमता से सह सकता है। इसलिये इस प्रकार का रोगी बहुत लक्षणों से युक्त होने पर भी थोड़े लक्षणों वाला ही गिनना चाहिये। जो रोगी मांस और रक्त के क्षीण होने से बहुत दुर्बल हो गया हो, इस में लक्षण चाहे थोड़े ही हों और कोई अरिष्ट-लक्षण न भी उत्पन्न हुआ हो तो भी ऐसे रोगी को बहुत लक्षणों वाला और अरिष्ट लक्षणों से युक्त ही गिनना चाहिये, क्योंकि यह रोगी औषधि और रोग के सहन नहीं कर सकता, इसलिये छोड़ देना चाहिये। इस रोगी में

अन्दर अरिष्ट उत्पन्न हो सकते हैं और बिना कारण ही अरिष्ट लक्षण दीखने लगते हैं ॥ १६ ॥

तत्र श्लोकः—समुत्थानं च लिङ्गं च यः शोषस्यावबुध्यते ।
पूर्वरूपं च तत्त्वेन स राज्ञः कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

जो वैद्य शोष की उत्पत्ति, लक्षण और पूर्वरूप भली प्रकार से जानता है वह राजयक्ष्मा की चिकित्सा करने के योग्य है ॥ १७ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते निदानस्थाने
शोषनिदानं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः ।

अथात उन्मादनिदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब उन्माद निदान का वर्णन करेंगे ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है ॥ २ ॥

इह खलु पञ्चोन्मादा भवन्ति । तद्यथा—वात-पित्त-कफ-सन्निपाताऽऽगन्तु-निमित्ताः ।

उन्माद पांच प्रकार के हैं । जैसे—(१) वातजन्य, (२) पित्तजन्य, (३) कफजन्य, (४) सन्निपातजन्य और (५) आगन्तुज । इन में से पहिले चार उन्माद दोषजन्य हैं ।

तत्र दोषनिमित्ताश्चत्वारः पुरुषाणामेवंविधानां क्षिप्रमभिनिर्वर्तन्ते तद्यथा,—भीरूणामुपक्लिष्टसत्त्वानामुत्सन्नदोषाणां च समलविकृतोपहितान्यनुचितान्याहारजातानि वैषम्ययुक्तेनोपयोगविधिनोपयुञ्जानानां तन्त्रप्रयोगं वा विषममाचरतामन्यां वा चेष्टां विषमां समाचरतामत्युपक्षीणदेहानां च व्याधि-वेग-समुद्भ्रमितानामुपहतमनसां वा काम-क्रोध-लोभ-हर्ष-भय-मोहायास-शोक-चिन्तोद्वेगादिभिः पुनरभिघाताभ्याहतानां वा मनस्युपहते बुद्धौ च प्रचलितायामभ्युदीर्णा दोषाः कुपिता हृदयमुपसृत्य मनोवहानि स्रोतांस्यावृत्य जनयन्त्युन्मादम् ॥ ३ ॥

(दोषजन्य उन्माद निम्न लक्षणोंवाले व्यक्तियों में शीघ्र उत्पन्न
जो मनुष्य डरपोक हों, जिन के शरीर में सत्त्व गुण न हो,

(अपितु रज और तम हों), जिन में वात आदि दोष बढ़े हुए हों, जो अपवित्र बिगड़े हुए एवं विरोधी गुणवाले पदार्थों से मिले, अथवा कुष्ठ आदि के रोगी मनुष्यों द्वारा लाये हुए अन्न पान खाते हों, विषम रीति से भोजन करने वाले व्यक्तियों में, शास्त्रोक्त विधि के विरुद्ध आचरण करने वाले पुरुषों में, अथवा कोई अन्य प्रकार की विषम चेष्टा करने वाले व्यक्तियों में, जिन का शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया हो, जिनका चित्त रोग के वेग के कारण उद्भ्रान्त हो चुका हो, जिन का मन, काम, क्रोध, लोभ, हर्ष, भय, मोह, आयास, (थकान), शोक, चिन्ता और उद्वेग आदि द्वारा दुःखित होता है, घाव या चोट के लगने से जिनका मन ठिकाने पर नहीं रहता तथा बुद्धि चलायमान हो गई हो, ऐसे मनुष्यों के वात आदि दोष प्रकुपित होकर, हृदय को दूषित करके (हृदय में पहुंचकर) मनोवह स्रोतसों की गति को बन्द करके उन्माद रोग उत्पन्न करते हैं ॥ ३ ॥

उन्मादं पुनर्मनो-बुद्धि-संज्ञा-ज्ञान-स्मृति-भक्ति-शील-चेष्टाचार-विभ्रमं विद्यात् ॥ ४ ॥

उन्माद का लक्षण—मन, बुद्धि, संज्ञा, ज्ञान, स्मृति, भक्ति, शील, आहार, चेष्टा इनका विभ्रम अर्थात् विक्षिप्त होना 'उन्माद' कहाता है, इन के विकार से उन्माद-रोग होता है[1] ॥४॥

तस्येमानि पूर्वरूपाणि। तद्यथा—शिरसः शून्यभावश्चक्षुषोराकुलता, स्वनः कर्णयोरुच्छ्वासस्याऽऽधिक्यमास्यसंस्रवणमनन्नाभिलाषोऽरोचका-विपाकौ हृदयग्रहो ध्यानायाससंमोहोद्वेगाश्चास्थाने सततं लोमहर्षो ज्वरश्चाभीक्ष्णमुन्मत्तचित्तत्वमुदर्दित्वमर्दिताकृतिकरणं च व्याधेः स्वप्ने च दर्शनमभीक्ष्णं भ्रान्तचलितावनवस्थितानां च रूपाणामप्रशस्तानां

१. मन चिन्तन का काम करता है, उस के विभ्रम से चिन्तन करने योग्य बातों को नहीं सोचता और चिन्तन न करने योग्य बातों की चिन्ता करता है। बुद्धि के विभ्रम से नित्य को अनित्य और प्रिय को अप्रिय देखने लगता है। संज्ञा, ज्ञान इस के विभ्रम से अग्नि से जलने को प्रतीति नहीं होती। स्मृति के विभ्रम से कुछ स्मरण नहीं होता या उल्टा स्मरण होता है। भक्ति अर्थात् इच्छा, इस के विभ्रम से पहिले जहां इच्छा थी वहां अनिच्छा हो जाती है। शील के विभ्रम से अति क्रोधी वा क्रोध के स्थान में भी
आता है। आचार के विभ्रम से अपवित्र आचरण करता है।

तिळपीडक-चक्राधिरोहणं वातकुण्डलिकाभिश्चोन्मथनं निमज्जनं कलु-षाणामम्भसामावर्तेषु चक्षुषोश्चापसर्पणमिति दोषनिमित्तानामुन्मादानां पूर्वरूपाणि भवन्ति ॥ ५ ॥

उन्माद के पूर्वरूप—उन्माद के पूर्वरूप निम्नलिखित हैं। यथा—शिर (मस्तिष्क) का खालीपन, आंखों में चंचलता, कानों में ध्वनि का होना, श्वास का ज़ोर से चलना, मुख से लार गिरना, भोजन में अनिच्छा, अरुचि अविपाक, हृदयग्रह, बेमौके ध्यान, आयास (थकान), संमोह और उद्वेग होना, अर्थात् जहां पर न करने हों वहां इन का करना, निरन्तर रोमांच रहना, बार बार ज्वर का आना, चित्त का उन्मत्त रहना, उदर्द, कोठ निकलना (अंगों का सूजन या शरीर के ऊर्ध्व भाग में पीड़ा होना), अर्दित (मुख की आकृति का आधा टेढ़ा बनना), बुद्धि आदि का भ्रम होना, स्वप्न में भ्रान्त, चलित, चंचल या भयंकर स्वरूपों का बार-बार दीखना, अप्रशस्त कोल्हू (जिस यन्त्र से तेल निकाला जाता है) आदि उन पर बैठना, वातकुण्ड-लिका-रोग (मूत्ररोध विकार) का होना, गन्दे, खराब पानी के भवरों में खेलना, डुबकी मारना आदि, आंखों की अस्थिरता और चंचलता, दोषजन्य उन्मादों के ये पूर्वरूप हैं ॥ ५ ॥

ततोऽनन्तरमुन्मादाभिनिर्वृत्तिः, तत्रेदमुन्मादविशेषविज्ञानं भव-ति। तद्यथा परिसर्पणमक्षिभ्रुवामोष्ठांस-हनु-हस्त-पाद-विक्षेपणमकस्मात्, अनियतानां च सततं गिरामुत्सर्गः, फेनागमनमास्यात्, स्मित-हसित-नृत्य-गीत-वादित्रादिप्रयोगाश्चास्थाने, वीणा-वंश-शङ्ख-शम्या-ताल-शब्दा-नुकरणमसाम्ना, यानमयानैरलङ्करणमनलङ्कारिकैर्द्रव्यैर्लोभोऽभ्यवहा-र्येष्वलब्धेषु, लब्धेषु चावमानस्तीव्रं मात्सर्यं, कार्श्यं, पारुष्यमु-त्पिण्डिताऽरुणाक्षता, वातोपशयविपर्यासादनुपशयता चेति वातोन्माद-लिङ्गानि भवन्ति ॥ ६ ॥

इन पूर्वरूपों के प्रकट होने के पीछे उन्माद रोग उत्पन्न होता है। उस समय उन्माद-रोग के विशेष लक्षण ये होते हैं:—

(१) वातोन्माद के लक्षण—आंख और भौंहों का चलाते रहना (अस्थि-, जबाड़ा (हनु), कन्धा, हाथ और पांव का फेंकना, बिना स्थान के) हंसना-मुसकुराना, नाचना, गाना, बजाना, बिना [illegible] झाग निकलना, वीणा, बांसुरी, शंख,

मुरली, सनई, ताल[1] आदि वाद्यों का बेसुरा अनुकरण करना, ऊंची और न चढ़ने योग्य सवारी पर चढ़ना, जिन वस्तुओं से शरीर का अलंकार नहीं करना चाहिये उन से अलंकार करना, न मिलने वाले खाद्य पदार्थों में इच्छा, लोभ, तथा प्राप्त वस्तुओं में तिरस्कार, बहुत अधिक द्वेष, मत्सरता (ईर्ष्या), कृशता, कठोरता, आंखों में लाली तथा आंखों का बाहर निकलना, वातवर्धक पदार्थों से रोग का बढ़ना ये वातजन्य उन्माद के लक्षण हैं ॥ ६ ॥

अमर्ष-क्रोध-संरम्भाश्चास्थाने, शस्त्र-लोष्टू-काष्ठ-मुष्टिभिरभिहननं स्वेषां परेषां वा, अभिद्रवणं, प्रच्छायशीतोदकान्नाभिलाषः, संतापोऽतिवेलं, ताम्र-हरित-हारिद्र-संरब्धाक्षता, पित्तोपशयविपर्यासादनुपशयता चेति पित्तोन्मादलिङ्गानि भवन्ति ॥ ७ ॥

(२) पित्तजन्य उन्माद के लक्षण—अनुचित स्थान और अवसर में असहिष्णुता दिखाना, क्रोध करना या स्तम्भित रह जाना, शस्त्र, मिट्टी का ढेला, लकड़ी या मुट्ठी से अपने को या दूसरों को मारना, इधर-उधर दौड़ना, छाया, शीतलखान पान (अन्न या पानी) की इच्छा करना, बहुत समय तक ताप का होना, आंखों का ताम्बे के समान लाल, हरा-पीला एवं खुले रहना और पित्तवर्धक पदार्थों से रोग का बढ़ना ये पित्तजन्य उन्माद के लक्षण हैं ॥७॥

स्थानमेकदेशे, तूष्णींभावो, अल्पशश्चङ्क्रमणं, लालासिङ्घाणकप्रस्रवणं, अनन्नाभिलाषो, रहस्कामता, बीभत्सत्वं, शौचद्वेषः, स्वप्ननिद्रता, श्वयथुरानने, शुक्ल-स्तिमित मलोपदिग्धाक्षता, श्लेष्मोपशयविपर्यासादनुपशयता चेति श्लेष्मोन्मादलिङ्गानि भवन्ति ॥ ८ ॥

(३) कफजन्य उन्माद के लक्षण—एकान्त स्थान में चुपचाप बैठना, थोड़ा चलना फिरना, मुख से लार, नाक से मल का गिरना, भोजन में अनिच्छा, एकान्त स्थान में रहने की इच्छा, भयानक विकृत रूप, स्वच्छता से द्वेष, नींद कम होना, मुख पर सूजन, आंख में सफेदी भारीपन और मल का होना, कफ वर्धक पदार्थों से रोग का बढ़ना ये कफजन्य उन्माद के लक्षण हैं ॥८॥

त्रिदोषलिङ्गसंनिपाते तु सांनिपातिकं विद्यात्, तमसाध्यमित्याचक्षते कुशलाः ॥ ९ ॥

(४) सान्निपातिक उन्माद—तीनों दोषों के एक साथ मिलने से सन्निपातजन्य उन्माद रोग हो जाता है। इस को कुशल वैद्य असाध्य कहते हैं ॥ ९ ॥

साध्यानां तु त्रयाणां साधनानि भवन्ति। तद्यथा-

1. शम्या दक्षिण हाथ से और ताल वाम हाथ से बजाया।

वमन-विरेचनास्थापनानुवासनोपशमन-नस्तःकर्म-धूप-धूमपानाञ्जनाव-पीड-प्रधमनाभ्यङ्ग-प्रदेह-परिषेकानुलेपन-वध-बन्धनावरोधन-वित्रासन-विस्मापन-विस्मारणापतर्पण-सिरा-व्यधनानि भोजनविधानं च यथास्वं युक्त्या, यच्चान्यदपि किंचिन्निदानविपरीतमौषधं कार्यं तत्स्यादिति ॥ १० ॥

उन्माद की चिकित्सा—इन तीन सिद्ध होने वाले उन्मादों की चिकित्सा निम्न प्रकार से करनी चाहिये। यथा—स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, उपशमन, नस्यकर्म, धूप, धूम्रपान, अञ्जन, अवपीड़न, प्रधमन, अभ्यंग, प्रदेह, परिषेक, अनुलेपन, वध (मारने का भय दिखाना), बन्धन, अवरोधन (कमरे में बन्द करना), वित्रासन (डराना), विस्मारण (नाना प्रकार की बातों में भुलाना), विस्मापन (आश्चर्य से चकित करना), अपतर्पण (उपवास), सिराव्यधन (शिरा वेध आदि से रक्त बाहर करना) से चिकित्सा करनी चाहिये और युक्तिपूर्वक दोषों को देखकर अन्न-पान का स्वयं निश्चय करना चाहिये। इस के सिवाय और भी जो कोई औषध रोगजनक कारण के विपरीत, उसको शान्त करने वाली हो, वह भी अवश्य देनी चाहिये ॥ १० ॥

भवति चात्र—उन्मादान्दोषजान् साध्यान् साधयेद्भिषगुत्तमः।
अनेन विधियुक्तेन कर्मणा यत्प्रकीर्तितम् ॥ ११ ॥ इति ॥

श्रेष्ठ वैद्य इस कही हुई विधि से दोषों से उत्पन्न साध्य उन्माद रोग को दूर करे ॥ ११ ॥

यस्तु दोषनिमित्तेभ्य उन्मादेभ्यः समुत्थान-पूर्वरूप-लिङ्ग-वेदनोपशय-विशेष-समन्वितो भवत्युन्मादस्तमागन्तुमाचक्षते। केचित्पुनः पूर्वकृतं कर्माप्रशस्तमिच्छन्ति तस्य निमित्तं। प्रज्ञापराध एवेति भगवान्पुनर्वसुरात्रेय उवाच। प्रज्ञापराधाद्ध्ययं देवर्षि-पितृ-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पिशाच-गुरु-वृद्ध-सिद्धाचार्य- पूज्यानवमत्याहितान्याचरति, अन्यद्वा किंचित्कर्माप्रशस्तमारभते, तमात्मना हतमुपघ्नन्तो देवादयः कुर्वन्त्युन्मत्तम् ॥ १२ ॥

गन्तुज उन्माद—जो उन्माद दोषों से उत्पन्न होने वाले उन्माद से
म, वेदना और उपशय में भिन्न होता है, उस को
' कहते हैं। कुछ आचार्य पूर्वजन्म के अशुभ पाप कर्मों
[की उत्पत्ति मानते हैं। उस का कारण प्रज्ञापराध ही

है—ऐसा भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कहा है। प्रज्ञापराध अर्थात् बुद्धि के दोष से ही मनुष्य देवता ऋषि, पितर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पिशाच, गुरु, वृद्ध, सिद्ध, आचार्य एवं पूज्य पुरुषों का अपमान करता है। अथवा अन्य किसी प्रकार का निन्दनीय कर्म करता है। अपनी आत्मा द्वारा किये हुए अशुभ कर्म के द्वारा उसी पुरुष को मारने के लिये देव आदि उस को उन्मत्त कर देते हैं॥ १२॥

तत्र देवादिप्रकोपनिमित्तेनाऽऽगन्तुकोन्मादेन पुरस्कृतस्येमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति। तद्यथा—देव-गो-ब्राह्मण-तपस्विनां हिंसारुचित्वं कोपनत्वं नृशंसाभिप्रायता अरतिरोजोवर्ण-च्छाया-बल-वपुषामुपतप्तिः, स्वप्ने च देवादिभिरभिभर्त्सनं प्रवर्तनं चेत्यागन्तुनिमित्तस्योन्मादस्य पूर्वरूपाणि भवन्ति। ततोऽनन्तरमुन्मादाभिनिर्वृत्तिः॥ १३॥

आगन्तुज उन्माद के पूर्वरूप—देवता आदि के प्रकोप के कारण आगन्तुज उन्माद के पूर्वरूप निम्न प्रकार के होते हैं। जैसे—देव, गौ, ब्राह्मण, तपस्वी पुरुषों की हिंसा करने में रुचि, क्रोधीपन, दूसरे का अपकार करने की इच्छा, उदासीनता, ओज, बल, वर्ण, छाया और शरीर में ताप होना, बिगड़ना, स्वप्न में देवता आदि का तिरस्कार करना, अथवा इन पर क्रोध करना आदि आगन्तुज उन्माद के पूर्वरूप हैं। इस के पीछे उन्माद उत्पन्न हो जाता है॥ १३॥

तत्रायमुन्मादकराणां भूतानामुन्मादयिष्यतामारम्भविशेषः। तद्यथा—अवलोकयन्तो देवा जनयन्त्युन्मादं, गुरु-वृद्ध-सिद्धर्षयोऽभिशपन्तः, पितरो धर्षयन्तः, स्पृशन्तो गन्धर्वाः, समाविशन्तो यक्षाः, राक्षसास्त्वामगन्धमाघ्रापयन्तः, पिशाचाः पुनरधिरुह्य वाहयन्तः॥ १४॥

उन्माद का प्रारम्भ—उन्माद को उत्पन्न करने वाले भूतों की उन्माद को प्रारम्भ करने में निम्नलिखित प्रकार से भिन्नता होती है। यथा—देव आँखों से देख कर ही उन्माद उत्पन्न करते हैं, गुरु, वृद्ध, सिद्ध और ऋषिजन शाप देकर, पितर-लोग धमकाकर, गन्धर्वगण स्पर्श करके, यक्ष शरीर में घुसकर, राक्षस आम (सड़े मांस आदि की) गन्ध को सुंघाकर और पिशाच चढ़कर उन्माद रोग को उत्पन्न करते हैं॥ १४॥

तस्येमानि रूपाणि भवन्ति। तद्यथा—अमर्त्य-बल-वीर्य-पराक्रम-ग्रहण-धारण-स्मरण-ज्ञान-वचन-विज्ञानानि, अनियत[illegible]कालः॥ १५॥

(५) आगन्तुज के लक्षण—आगन्तुज उन्माद के ये लक्षण होते हैं। जैसे—उन्मत्त रोगी में अमानुष बल, वीर्य, पुरुषार्थ, पराक्रम, ग्रहण, धारण, स्मरण, ज्ञान, वाणी और विज्ञान प्राप्त हो जाता है। उन्माद रोग का काल भी अनिश्चित रहता है ॥ १५ ॥

उन्मादयिष्यतामपि खलु देवर्षि-पितृ-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पिशाचानां गुरुवृद्धानां वा एष्वन्तरेष्वभिगमनीयाः पुरुषा भवन्ति। तद्यथा—पापस्य कर्मणः समारम्भे, पूर्वकृतस्य वा कर्मणः परिणामकाले, एकस्य वा शून्यगृहवासे, चतुष्पथाधिष्ठाने वा, सन्ध्यावेलायां अप्रयतभावे वा, पर्वसंधिषु वा मिथुनभावे, रजस्वलाभिगमने वा, विगुणे वाऽध्ययन-बलि-मङ्गल-होम-प्रयोगे, नियम-व्रत-ब्रह्मचर्य-भङ्गे वा, देश-कुल-पुर-विनाशे वा, महाग्रहोपगमने वा, स्त्रिया वा प्रजननकाले, विविधभूताशुभाशुचि-स्पर्शने वा, वमन-विरेचन-रुधिर-स्रावाशुचेः, अप्रयतस्य वा चैत्यदेवा-यतनाभिगमने वा, मांस-मधु-तिल-गुड-मद्योच्छिष्टे वा, दिग्वाससि वा, निशि नगर-निगम-चतुष्पथोपवन-श्मशानाघातनाभिगमने वा, द्विज-गुरु-सुरपूज्याभिधर्षणे वा धर्माख्यानव्यतिक्रमे वा, अन्यस्य कर्मणोऽप्रशस्त-स्याऽऽरम्भे वेत्याघातकाला व्याख्याता भवन्ति ॥ १६ ॥

आघात काल—देव, ऋषि, पितर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पिशाच आदि निम्नलिखित स्थान या समयों पर मनुष्यों में उन्माद उत्पन्न करते हैं। यथा—पाप कर्म के प्रारम्भ करने के समय; पूर्वजन्मकृत पापकर्म के परिणाम समय पर; निर्जन, एकान्त घर में अकेला होने पर; चौराहे पर खड़े रहने या बैठने पर; सन्ध्या-समय में असावधान या अपवित्र रहने से; पूर्णिमा, अमावस्या में स्त्रीसंग करने से; रजस्वला स्त्री के साथ संग करने से; अव्यवस्थित कार्य करने से; अध्ययन, बलि, मंगल, होम इनको नियम से न करने पर; नियम, व्रत या ब्रह्मचर्य के भंग करने पर; बड़े युद्ध के समय, देश, कुल या नगर के विनाश के समय; बड़े भारी ग्रह के आ जाने पर; प्रसव के समय स्त्री पर; नाना प्रकार के अशुभ पदार्थों के स्पर्श से; वमन, विरेचन, रक्तस्राव आदि अपवित्र काम करके अशुद्ध शरीर से चैत्य (गांव का तरु-खेड़ा), या देवमन्दिर आदि पवित्र स्थान में जाने से; मांस, मधु, तिल, गुड, मद्य या जूठन (उच्छिष्ट), खाकर; या नग्ना-[वस्था] में, अथवा रात के समय ग्राम, नगर वा चौराहे या उपवन, श्मशान [वधस्थ]ाने के समीप जाने से; ब्राह्मण, गुरु, सन्यासी, पूज्यपुरुषों को धमकाने [या मर्यादा] उल्लंघन करने से, इसी प्रकार के अन्य अपवित्र, पाप कर्म के

आरम्भ करने से उन्माद रोग का आक्रमण होता है। इस प्रकार से आघात काल का वर्णन कर दिया है ॥ १६ ॥

त्रिविधं तु खलून्मादकराणां भूतानामुन्मादने प्रयोजनं भवति। तद्यथा—हिंसा, रतिः, अभ्यर्चनं चेति। तेषां तत्प्रयोजनमुन्मत्ताचारविशेषलक्षणैर्विद्यात्। तत्र हिंसार्थमुन्माद्यमानोऽग्निं प्रविशत्यप्सु वा निमज्जति, स्थलाच्छ्वभ्रे वा निपतति, शस्त्र-कशा-काष्ठ-लोष्ट-मुष्टिभिर्हन्त्यात्मानमन्यच्च प्राणवधार्थमारभते किंचित्, तमसाध्यं विद्यात्, साध्यौ पुनर्द्वावितरौ ॥ १७ ॥

उन्माद उत्पन्न करने का प्रयोजन—उन्माद रोग को उत्पन्न करने वाले भूतों के मनुष्यों को उन्मत्त बनाने में तीन प्रकार के प्रयोजन हैं। यथा—हिंसा, रति और पूजा। इन कार्यों (प्रयोजनों) को उन्मत्त पुरुष के लक्षणों से पहिचानना चाहिये। हिंसा के लिये उन्माद होने पर मनुष्य आग में घुसता है, पानी में डूबता है, ऊंचे स्थान से गड्ढे में गिरता है, हथियार, काष्ठ, कशा, (चाबुक), ढेला (पत्थर), मुक्कों आदि से अपने को मारता है, अथवा अन्य इसी प्रकार के प्राणनाश करने वाले कार्यों को करता है। इसको असाध्य जानना चाहिये। [1]बाकी के दोनों प्रकार के उन्माद साध्य हैं ॥ १७ ॥

तयोः साधनानि—मन्त्रौषधि-मणि-मङ्गल-बल्युपहार-होम-नियम-व्रत-प्रायश्चित्तोपवास-स्वस्त्ययन-प्रणिपात-गमनादीनीति। एवमेते पञ्चोन्मादा व्याख्याता भवन्ति ॥ १८ ॥

ये उन्माद मन्त्र, औषधि, मार्ग, मंगल-पाठ, बलिदान, उपहार, हवन, नियम, व्रत, प्रायश्चित्त, उपवास, स्वस्त्ययन, प्रणिपात आदि मंगल कृत्यों से शान्त होते हैं। इस प्रकार से पांचों उन्मादों की व्याख्या करदी ॥ १८ ॥

ते तु खलु निजागन्तुविशेषेण साध्यासाध्यविशेषेण च प्रविभज्यमानाः पञ्च सन्तो द्वावेव भवतः। तौ परस्परमनुबध्नीतः। कदाचिद्यथोक्तहेतुसंसर्गादुभयोः संसृष्टमेव पूर्वरूपं भवति, संसृष्टञ्चैव लिङ्गमभिज्ञेयम्। तत्रासाध्यसंयोगं साध्यासाध्यसंयोगं वाऽसाध्यं विद्यात्।

---

१. रति प्रयोजन से आक्रान्त होने पर मनुष्य खेलता है, पूजा के लिये पूजा करता है। देव आदि मनुष्य को आक्रान्त नहीं करते। जैसा कि सुश्रुतमें कहा है—

"न ते मनुष्यैः सह संविशन्ति न वा मनुष्यान् क्वचिदाविशन्ति।
ये त्वाविशन्ति वदन्ति मोहात्ते भूतविद्याविषयादपोह्याः॥"

साध्यं तु साध्यसंयोगं, तस्य साधनं साधनसंयोगमेव विद्यादिति ॥१९॥

उन्माद के भेद—ऊपर कहे हुए पांच उन्माद निज और आगन्तुज भेदसे या साध्य और असाध्य भेद से, पांच प्रकार के होने पर भी दो प्रकार के होते है। कई बार निज दोषजन्य उन्माद के साथ आगन्तुज उन्माद भी परस्पर अनुबन्ध रूप से मिला होता है और कभी साध्य और असाध्य दोनों प्रकारके उन्मादों के कारणों का संयोग होता है, इस अवस्था में पूर्वरूप और लक्षण दोनों मिश्रित होते हैं। दोनों प्रकार के लक्षणों के मिलने से रोग असाध्य हो जाता है। इस में भी असाध्य संयोग अथवा साध्य और असाध्य दोनों का संयोग हो तो इसको असाध्य जाने। साध्य लक्षणों का संयोग हो तो साध्य जाने। (अर्थात् मिश्रित लक्षणों वाले उन्माद में संयुक्त औषधियों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये) ॥१९॥

भवन्ति चात्र—नैव देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः ।
न चान्ये स्वयमक्लिष्टमुपक्लिश्यन्ति मानवम् ॥ २० ॥
ये त्वेनमनुवर्तन्ते क्लिश्यमानं स्वकर्मणा ।
न तन्निमित्तः क्लेशोऽसौ न ह्यस्ति कृतकृत्यता ॥ २१ ॥
प्रज्ञापराधात्संप्राप्ते व्याधौ कर्मज आत्मनः ।
नाभिशंसेद् बुधो देवान्न पितॄन्नापि राक्षसान् ॥ २२ ॥
आत्मानमेव मन्येत कर्तारं सुखदुःखयोः ।
तस्माच्छ्रेयस्करं मार्गं प्रतिपद्येत नो त्रसेत् ॥ २३ ॥
देवादीनामपचितिर्हितानां चोपसेवनम् ।
ते च तेभ्यो विरोधश्च सर्वमायत्तमात्मनि ॥ २४ ॥

जो मनुष्य स्वयं अपने दोषों से पीड़ित नहीं होता उसको न तो देवता, न गन्धर्व, न पिशाच, न राक्षस और न अन्य योनियां क्लेशित करती हैं। अपने कर्मों के कारण देवता आदि द्वारा जो पीड़ा मिलती है; उसका कारण देवता नहीं होते। क्योंकि अशुभ कर्मों के फल स्वरूप उन्माद होता है। इन कर्मों के कर्ता देवता आदि नहीं हैं। बुद्धि के अपराध से अपने कर्मों के दोष से रोग उत्पन्न होते हैं, इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि देवता, पितर या राक्षस आदि को दोष न दे, उनको उपालम्भ न दे। अपने को ही सुख और दुःख का कारण माने। इसलिये मनुष्य देव आदि से भय न कर के श्रेयस्कर मार्ग का अनुसरण करे। देव आदि की पूजा, हितकारक पदार्थों का सेवन [illegible]ण से विरोध करना, ये सब बातें अपने हाथ में हैं ॥२०-२४॥

[illegible]काः—संख्या निमित्तं द्विविधं लक्षणं साध्यता न च ।

उन्मादानां निदानेऽस्मिन् क्रियासूत्रं च भाषितम् ॥ २५ ॥ इति ।

'उन्मादनिदान' नामक अध्याय में उन्माद रोग की संख्या, निमित्त, दो प्रकार के लक्षण, साध्य और असाध्य भेद और चिकित्सासूत्र ये सब बातें कह दी हैं ॥ २५ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते निदानस्थाने
उन्मादनिदानं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः ।

अथातोऽपस्मारनिदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब 'अपस्मार-निदान' की व्याख्या करते हैं, ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है ॥ १–२ ॥

इह खलु चत्वारोऽपस्मारा भवन्ति वात-पित्त-कफ-सन्निपात-निमित्ताः ॥ ३ ॥

अपस्मार रोग चार प्रकार का होता है । यथा—(१) वातजन्य, (२) पित्तजन्य, (३) कफजन्य और (४) सन्निपातजन्य ॥ ३ ॥

त एवंविधानां प्राणभृतां क्षिप्रमभिनिर्वर्तन्ते, तद्यथा—रजस्तमोभ्यामुपहतचेतसामुद्भ्रान्तविषमबहुदोषाणां समलविकृतोपहितान्यशुचीन्यभ्यवहारजातानि वैषम्ययुक्तेनोपयोगविधिनोपयुञ्जानानां तन्त्रप्रयोगमपि च विषममाचरतामन्याश्च शरीरचेष्टा विषमाः समाचरतामत्युपक्षीणदेहानां वा दोषाः प्रकुपिता रजस्तमोभ्यामुपहतचेतसामन्तरात्मनः श्रेष्ठतममायतनं हृदयमुपसृत्य पर्यवतिष्ठन्ते, तथेन्द्रियायतनानि । तत्र चावस्थिताः सन्तो यदा हृदयमिन्द्रियायतनानि चेरिताः काम-क्रोध-भय-लोभ-मोह-हर्ष-शोक-चिन्तोद्वेगादिभिर्भूयः सहसाऽभिपूरयन्ति; तदा जन्तुरपस्मरति ॥ ४ ॥

निदान और सम्प्राप्ति—अपस्मार रोग निम्न प्रकार के पुरुषों में बहुत जल्दी होता है । यथा—जिन का मन रज और तम से युक्त होता है, जिन में दोष उद्भ्रान्त, विषम या बहुत बढ़े होते हैं, जिन का मन विक्षिप्त रह अपवित्र, मलिन, विरोधी वस्तुओं से मिश्रित, अमंगल विधि से वाले, अनुचित विधि से उपयोग करने वाले, शास्त्र के विरुद्ध

वाले, शरीर की अन्य चेष्टाओं को विषम रूप से करने वाले, अत्यन्त क्षीण शरीर वाले तथा रज और तमोगुण से व्याप्त चित्तवाले—ऐसे पुरुषों में अन्तरात्मा के प्रधान स्थान हृदय को बढ़े हुए दोष घेर लेते हैं। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के स्थानों में भी जब ये कुपित दोष फैल जाते हैं और काम, क्रोध, भय, लोभ, मोह, हर्ष, शोक, चिन्ता, उद्वेग आदि द्वारा हृदय तथा इन्द्रिय स्थानों को भर देते हैं, उस समय मनुष्य की स्मृति (भान) नष्ट हो जाती है और वह बेहोश हो जाता है ॥ ४ ॥

अपस्मारं पुनः स्मृति-बुद्धि-सत्त्व-संप्लवाद्बीभत्सचेष्टमावस्थिकं तमःप्रवेशमाचक्षते ॥ ५ ॥

अपस्मार का लक्षण—स्मृति, बुद्धि और चित्त इन के विकृत होने से मुख में झाग, वमन, अंग-भंग आदि बीभत्स शरीर चेष्टाओं के होने से एकदम तमोगुण के कारण बेसुध स्थिति में आ जाने को 'अपस्मार' कहते हैं ॥५॥

तस्येमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति। तद्यथा—भ्रूव्युदासः सततमक्ष्णोर्वैकृतमशब्दश्रवणं लालासिङ्घाणकप्रस्रवणमनन्नाभिलषणमरोचकाविपाकौ हृदयग्रहः कुक्षेराटोपो दौर्बल्यमङ्गमर्दो मोहस्तमसो दर्शनं मूर्च्छा भ्रमश्चाभीक्ष्णं च स्वप्ने मद-नर्तन-पीडन-वेपथु-व्यथन-व्यधन-पतनादीन्यपस्मारपूर्वरूपाणि भवन्ति। ततोऽनन्तरमपस्माराभिनिर्वृत्तिरेव ॥ ६ ॥

अपस्मार के पूर्वरूप—अपस्मार के निम्नलिखित पूर्वरूप होते हैं। यथा—भ्रुवों का संकुचित (वक्र) होना, आंखों का निरन्तर विकृत रहना, कान की श्रवण शक्ति का नष्ट होना (जो बोला जाय उसे स्पष्ट न सुनना), मुख से लार और नासिका से मल का बहना, भोजन में अनिच्छा, अरुचि, अविपाक, हृदयग्रह, पेट में अफ़ारा, कृशता, अंगों में पीड़ा, मोह, अन्धकार का आंखों के सामने आना, मूर्च्छा, भ्रम (चक्कर आना), स्वप्न में मस्त हो कर नाचना, कांपना, पीड़न, बींधना, गिरना आदि पूर्व-लक्षण होते हैं। इन लक्षणों के पीछे अपस्मार रोग उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥

तत्रेदमपस्मारविशेषविज्ञानं भवति। तद्यथा—अभीक्ष्णमपस्मरन्तं क्षणे संज्ञां प्रतिलभमानमुत्पिण्डिताक्षमसाम्ना विलपन्तमुद्वमन्तं फेनमतीवाऽऽध्मातग्रीवमाविद्धशिरस्कं विषमविनताङ्गुलिकमनवस्थितसक्थि-पाणि-पादमरुण-परुष-श्याव-नख-नयन-वदन-त्वचमनवस्थित-चपल-परुष-रूक्षात्मकानुपशयं विपरीतोपशयं वातेनापस्मरन्तं

वातजन्य अपस्मार के लक्षण—अपस्मार रोग के विशेष लक्षण ये हैं। यथा—रोगी बेसुध होकर शीघ्र ही थोड़े थोड़े समय में सचेत हो जाता है, आंखों का बहुत फैलना, व्यर्थ का बकवाद करना, मुख से झाग गिरना, ग्रीवा का भरा एवं जकड़ा रहना, शिर का टेढ़ा रहना (शिर में खींचने के समान पीड़ा होना), अंगुलियों का विषम होना या मुड़ जाना, टांग, पांव और हाथ का चलाना (इन में अस्थिरता), नख, आंख, मुख और त्वचा का लाल, कठोर, खर्बर होना, चपल, अस्थिर, कठोर, रूक्ष आदि रूप गिरते समय रोगी को दीखते हैं। वातकारक पदार्थों से रोग में वृद्धि और विरुद्ध पदार्थों से इस की शान्ति होती है, ये वातजन्य अपस्मार के लक्षण हैं ॥ ७ ॥

अभीक्ष्णमपस्मरन्तं क्षणे क्षणे संज्ञां प्रतिलभमानमवकूजन्तमास्फालयन्तं च भूमिं हरित-हारिद्र-ताम्र-नख-नयन-वदन-त्वचं रुधिरोक्षितोग्र-भैरव-प्रदीप्त-रूषित-रूप-दर्शिनं पित्तलानुपशयं विपरीतोपशयं पित्तेनापस्मरन्तं विद्यात् ॥ ८ ॥

पित्तजन्य अपस्मार—जो रोगी बार-बार बेसुध होता हो और थोड़ी देर में फिर सचेत हो जाता हो (वातजन्य अपस्मार की अपेक्षा से कुछ देरी में), गले से कूजने का सा शब्द होता हो, भूमि पर हाथ पांव पटकता हो, नख, नयन, मुख और त्वचा हरे, हल्दी के समान वा ताम्बे के समान लाल; रक्त से भरे तीव्र, भयंकर, प्रदीप्त, क्रोधी रूप को देखता हो, पित्तकारक पदार्थों से रोग बढ़े और विपरीत क्रियाओं से शान्त हो, ये पित्त से उत्पन्न अपस्मार के लक्षण हैं ॥ ८ ॥

चिरादपस्मरन्तं चिराच्च संज्ञां प्रतिलभमानं पतन्तमनतिविकृतचेष्टं लालामुद्वमन्तं शुक्ल-नख-नयन-वदन-त्वचं शुक्ल-गुरु-स्निग्ध-रूप-दर्शिनं श्लेष्मलानुपशयं विपरीतोपशयं श्लेष्मणाऽपस्मरन्तं विद्यात् ॥ ९ ॥

कफजन्य अपस्मार—जो रोगी देर में बेहोश होता हो और देर में ही जागृत होता हो, गिरते समय जिस की चेष्टायें बहुत विकृत नहीं होती, मुख से लार गिरती हो, नख, आंख और त्वचा सफेद हो गई हो, जिसको सफेद, गुरु, स्निग्ध रूप दिखाई देता हो तथा कफवर्धक वस्तुओं से जिसका रोग बढ़े और विपरीत वस्तुओं से कम हो; उस को कफजन्य अपस्मार का रोगी समझना चाहिये ॥ ९ ॥

समवेतसर्वलिङ्गमपस्मारं सान्निपातिकं विद्यात्, तमसाध्यम् इति चत्वारोऽपस्मारा व्याख्याताः ॥ १० ॥

सान्निपातिक अपस्मार—जिस अपस्मार में तीनों दोषों के लक्षण मिले रहते हैं; उस को सान्निपातिक अपस्मार समझना चाहिये। यह असाध्य है, इस प्रकार से चार प्रकार के अपस्मार कह दिये ॥ १० ॥

तेषामागन्तुरनुबन्धो भवत्येव कदाचित्, स उत्तरकालमुपदेक्ष्यते। तस्य विशेषविज्ञानं यथोक्तैर्लिङ्गैर्लिङ्गाधिक्यमदोषलिङ्गानुरूपं किंचित् ॥ ११ ॥

इन चार प्रकार के अपस्मार रोगों में भाग्य से कभी आगन्तुज अपस्मार का सम्बन्ध होता है। इस का विस्तार आगे चिकित्सा-स्थान में करेंगे। जिस अपस्मार में उपरोक्त लक्षणों से भिन्न लक्षण अथवा लक्षणों की अधिकता या दोषों के लक्षणों से भिन्न लक्षण दिखाई दें; उसे आगन्तुज अपस्मार समझना चाहिये ॥ ११ ॥

सर्वमेवं हितम्। हितान्यपस्मारिभ्यस्तीक्ष्णानि चैव संशोधनान्युपशमनानि च यथास्वं, मन्त्रादीनि चाऽऽगन्तुसंयोगे ॥ १२ ॥

चिकित्सा सूत्र—अपस्मार रोगी के लिये तीव्र संशोधन या तीव्र संशमन सब औषधियां हितकारी हैं। आगन्तुज अपस्मार में मंत्र आदि का प्रयोग करना होता है ॥ १२ ॥

तस्मिन् हि दक्षाध्वरोद्ध्वंसे देहिनां नाना दिक्षु विद्रवतामतिसरणप्लवन-धावन-लङ्घनाद्यैर्देहविक्षोभणैः पुरा गुल्मोत्पत्तिरभूत्, हविष्प्राशान्मेहकुष्ठानां, भयोत्त्रासशोकैरुन्मादानां, विविधभूताशुचिसंस्पर्शादपस्माराणां, ज्वरस्तु खलु महेश्वरललाटप्रभवः, तत्संतापाद्रक्तपित्तं, अतिव्यवायात्पुनर्नक्षत्रराजस्य राजयक्ष्मेति ॥ १३ ॥

भिन्न भिन्न रोगों की उत्पत्ति—प्राचीन काल में दक्ष प्रजापति के यज्ञ का विध्वंस होने के समय सब प्राणी इधर-उधर दिशाओं में भागे। इन के भागने, कूदने-फांदने आदि शरीर को विक्षोभित करने वाली चेष्टाओं से 'गुल्म' रोग की उत्पत्ति हुई। हविष्य के अधिक खाने से 'प्रमेह' और 'कुष्ठ' रोग की; भय डर और शोक से 'उन्माद' रोग की; नाना प्रकार के अपवित्र पदार्थों के स्पर्श से 'अपस्मार' रोग की उत्पत्ति हुई। ज्वर महादेव के माथे से उत्पन्न हुआ है, ज्वर के सन्ताप से 'रक्तपित्त' रोग और नक्षत्रराज चन्द्रमा अति स्त्रीसंग से 'राजयक्ष्मा' रोग उत्पन्न हुआ ॥ १३ ॥

अपस्मरति वातेन पित्तेन च कफेन च।
सन्निपातेन प्रत्याख्येयस्तथाविधः ॥ १४ ॥

साध्यांस्तु भिषजः प्राज्ञाः साधयन्ति समाहिताः ।
तीक्ष्णैः संशोधनैश्चैव यथास्वं शमनैरपि ॥ १५ ॥
यदा दोषनिमित्तस्य भवत्यागन्तुरन्वयः ।
तदा साधारणं कर्म प्रवदन्ति भिषग्वराः ॥ १६ ॥

साध्य और असाध्य—अपस्मार चार प्रकार का है । वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य और सन्निपातजन्य । इन में सन्निपातजन्य असाध्य है । साध्य अपस्मारों को बुद्धिमान् वैद्य तीक्ष्ण संशोधन एवं संशमन क्रिया से अच्छा करते हैं और जिस समय दोषज और आगन्तुज दोनों अपस्मार मिले रहते हैं उस समय उत्तम वैद्य दोनों प्रकार की मिश्रित चिकित्सा करते हैं ॥१४-१६॥

सर्वरोगविशेषज्ञः सर्वौषधविशेषवित् ।
भिषक् सर्वामयान् हन्ति न च मोहं निगच्छति ॥ १७ ॥
इत्येतदखिलेनोक्तं निदानस्थानमुत्तमम् ।

रोगज्ञान का फल—सब रोगों को और सब ओषधियों को भली प्रकार से जानने वाला वैद्य सब प्रकार के रोगों को शान्त कर सकता है और कभी भी घबराता नहीं । इस प्रकार से उत्तम निदानस्थान को सम्पूर्ण रूप में कह दिया है ॥ १७ ॥

निदानार्थकरो रोगो रोगस्याप्युपलभ्यते ॥ १८ ॥
तद्यथा ज्वरसन्तापाद्रक्तपित्तमुदीर्यते ।
रक्तपित्ताज्ज्वरस्ताभ्यां शोषश्चाप्युपजायते ॥ १९ ॥
प्लीहाभिवृद्ध्या जठरं जठराच्छोथ एव च ।
अर्शोभ्यो जठरं दुःखं गुल्मश्चाप्युपजायते ॥ २० ॥
प्रतिश्यायादथो कासः कासात्संजायते क्षयः ।
क्षयो रोगस्य हेतुत्वे शोषस्याप्युपजायते ॥ २१ ॥

एक रोग के कारण दूसरा रोग—एक रोग दूसरे रोग का निदान अर्थात् उत्पादक कारण भी होता है । जैसे—ज्वर-सन्ताप से रक्तपित्त रोग उत्पन्न होता है । रक्तपित्त और ज्वर से शोष रोग उत्पन्न होता है । प्लीहा के बढ़ने से उदर रोग, उदर रोग से शोथ रोग उत्पन्न होता है । अर्श रोग से दुःखदायी उदर रोग तथा गुल्म रोग भी उत्पन्न हो जाता है । प्रतिश्याय से कास और कास रोग से क्षय तथा क्षय रोग से दूसरे अन्य रोग या शोष ही उत्पन्न हो जाता है ॥ १८-२१ ॥

ते पूर्वं केवला रोगाः पश्चाद्धेत्वर्थकारिणः ।
उभयार्थकरा दृष्टास्तथैवैकार्थकारिणः ॥ २२ ॥

कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति ।
न प्रशाम्यति चाप्यन्यो हेत्वर्थं कुरुतेऽपि च ॥ २३ ॥

ये रोग प्रथम स्वयं रोग रूप होते हैं, परन्तु पीछे से दूसरे रोगों के कारण बन जाते हैं। परन्तु कई रोग दोनों कार्य करते हैं अर्थात् अपने आप रोग रूप से रहते हुए भी कारण रूप बनकर दूसरे रोगों को उत्पन्न करते हैं। कोई रोग दूसरे रोग को उत्पन्न करके स्वयं शान्त हो जाता है। परन्तु कई रोग स्वयं शान्त न होकर दूसरे रोगों के कारण बनते हैं ॥ २२-२३ ॥

प्रयोगः शमयेद्व्याधिं योऽन्यमन्यमुदीरयेत् ।
नासौ विशुद्धः, शुद्धस्तु शमयेद्यो न कोपयेत् ॥ २४ ॥
एवं कृच्छ्रतमा नृणां दृश्यन्ते व्याधिसंकराः ।
प्रयोगापरिशुद्धत्वात्तथा चान्योन्यसंभवात् ॥ २५ ॥

शुद्ध प्रयोग का लक्षण—इस प्रकार से मनुष्यों में होने वाले अनेक प्रकार के कष्टसाध्य रोग दिखाई पड़ते हैं। एक औषध का प्रयोग अविशुद्ध होने से तथा एक से दूसरा रोग उत्पन्न होने से व्याधियों का संकर अर्थात् मिश्रण दिखाई देता है[1]। जो प्रयोग एक रोग को शान्त करे परन्तु साथ में दूसरे रोग को उत्पन्न कर दे वह प्रयोग विशुद्ध नहीं। शुद्ध प्रयोग तो वही है जो उपस्थित रोग को शान्त करदे तथा नया रोग उत्पन्न न करे ॥२४-२५॥

एको हेतुरनेकस्य तथैकस्यैक एव हि ॥ २४-२५ ॥
व्याधेरेकस्य चानेको बहूनां बहवोऽपि च ॥ २६ ॥
ज्वरभ्रमप्रलापाद्या दृश्यन्ते रूक्षहेतुजाः ।
रूक्षेणैकेन चाप्येको ज्वर एवोपजायते ॥ २७ ॥
हेतुभिर्बहुभिश्चैको ज्वरो रूक्षादिभिर्भवेत् ।
रूक्षादिभिर्ज्वराद्याश्च व्याधयः संभवन्ति हि ॥ २८ ॥

कारण भेद—अनेक रोगों का एक कारण, एक रोग का एक ही कारण, एक रोग के अनेक कारण, बहुत से रोगों के बहुत से कारण भी होते हैं। जैसे—एक रूक्ष कारण से ज्वर, भ्रम, प्रलाप आदि बहुत रोग होते हैं। एक रूक्ष कारण से ज्वर रूप एक ही रोग उत्पन्न होता है। रूक्ष आदि बहुत से कारणों

[1] जिस प्रकार अतिसार रोग में अफीम आदि देकर स्तम्भन करने से आनाह या शूल हो जाता है। एक समान रूप होने से प्रतिश्याय से कास ... जाता है।

को लेकर ज्वर एक ही रोग उत्पन्न होता है और रूक्ष आदि बहुत से कारणों से ज्वर आदि अनेक रोग भी उत्पन्न होते हैं ॥ २६-२८ ॥

लिङ्गं चैकमनेकस्य तथैवैकस्य लक्ष्यते।
बहून्येकस्य च व्याधेर्बहूनां स्युर्बहूनि च ॥ २९ ॥
विषमारम्भमूलानां लिङ्गमेकं ज्वरो मतः।
ज्वरस्यैकस्य चाप्येकः संतापी लिङ्गमुच्यते ॥ ३० ॥
विषमारम्भमूलैश्च ज्वर एको निरुच्यते।
लिङ्गैरेतैर्ज्वरश्वासहिक्काद्याः सन्ति चाऽऽमयाः ॥ ३१ ॥

लक्षण भेद—अनेक रोगों का एक लक्षण, एक रोग का एक ही लक्षण, एक रोग के बहुत से लक्षण और अनेक रोगों के बहुत से लक्षण होते हैं। जैसे—उष्मा की विषमता से उत्पन्न होने वाले रोगों का ज्वर रूप एक लक्षण होता है। ज्वर रोग का एक ही लक्षण सन्ताप है। विषमारम्भ मूलक अनेक लक्षणों से युक्त अकेला ज्वर होता है। इसी प्रकार विषमारम्भ मूलक लक्षणों से ज्वर, श्वास, हिचकी आदि अनेक रोग होते हैं ॥ २९-३१ ॥

एका शान्तिरनेकस्य तथैवैकस्य लक्ष्यते।
व्याधेरेकस्य चानेका बहूनां बह्व्य एव च ॥ ३२ ॥
शान्तिरामाशयोत्थानां व्याधीनां लङ्घनक्रिया।
ज्वरस्यैकस्य चाप्येका शान्तिर्लङ्घनमुच्यते ॥ ३३ ॥
तथा लघ्वशनाद्याश्च ज्वरस्यैकस्य शान्तयः।
एताश्चैव ज्वरश्वासहिक्कादीनां प्रशान्तयः ॥ ३४ ॥

चिकित्सा विधान—अनेक रोग एक ही चिकित्सा से शान्त होजाते हैं, एक रोग की शान्ति एक ही प्रकार से, एक रोग की शान्ति अनेक प्रकार से और अनेक रोगों की शान्ति अनेक प्रकार से भी होती है। जैसे आमाशय से उत्पन्न होने वाले अनेक रोगों की शान्ति उपवास क्रिया से, ज्वर अकेले की शान्ति उपवास से हो जाती है। इसी प्रकार अकेले ज्वर को शान्त करने के लिये लघु भोजन आदि अनेक उपाय हैं। लघु भोजन आदि अनेक उपाय ज्वर, श्वास, हिचकी आदि अनेक रोगों को शान्त करते हैं ॥ ३२-३४ ॥

सुखसाध्यः सुखोपायः कालेनाल्पेन साध्यते।
साध्यते कृच्छ्रसाध्यस्तु यत्नेन महता चिरात् ॥ ३५ ॥

सुखसाध्य और कृच्छ्रसाध्य—सुखसाध्य रोग, सुखपूर्वक चिकित्सा पर थोड़े समय में अच्छा हो जाता है। कष्टसाध्य रोग बहुत प्रयत्न से देर में अच्छा होता है ॥ ३५ ॥

याति नाशेषतां व्याधिरसाध्यो याप्यसंज्ञितः ।
परोऽसाध्यः क्रियाः सर्वाः प्रत्याख्येयोऽतिवर्तते ॥ ३६ ॥
नासाध्यः साध्यतां याति, साध्यो याति त्वसाध्यताम् ।
पादापचाराद्दैवाद्वा यान्ति भावान्तरं गदाः ॥ ३७ ॥
वृद्धिस्थानक्षयावस्थां रोगाणामुपलक्षयेत् ।
सुसूक्ष्मामपि च प्राज्ञो देहाग्निबलचेतसाम् ॥ ३८ ॥
व्याध्यवस्थाविशेषान् हि ज्ञात्वा ज्ञात्वा विचक्षणः ।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्तच्छ्रेयः प्रपद्यते ॥ ३९ ॥

याप्य और असाध्य—याप्य-संज्ञक असाध्य रोग कभी भी जड़-मूल से नष्ट नहीं होते (वे पथ्य और औषध द्वारा कुछ काल तक दबे रहते हैं) और असाध्य रोग सब प्रकार की चिकित्सा करने पर भी शान्त नहीं होते । असाध्य रोग साध्य नहीं हो सकते, परन्तु साध्य रोग असाध्य बन जाते हैं । सब रोगों की चिकित्सा के जो चार पाद हैं, इन के अपचार से अथवा दैवबल के कारण रोग दूसरी स्थिति (असाध्य अवस्था) में पहुंच जाते हैं । बुद्धिमान् वैद्य को उचित है कि दोष की वृद्धि, स्थान और क्षय की परीक्षा भली प्रकार करे । रोगी के शरीर, जाठराग्नि, बल और चित्तवृत्ति का सूक्ष्मता से ज्ञान प्राप्त करे । रोग की विशेष अवस्थाओं को भली प्रकार पूर्ण रूप से समझ कर उस प्रकार से शान्तिकारक चिकित्सा करने पर सुख (धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी चारों पुरुषार्थ) प्राप्त होते हैं ॥ ३६–३९ ॥

प्रायस्तिर्यग्गता दोषाः क्लेशयन्त्यातुरांश्चिरम् ।
तेषु न त्वरया कुर्याद्देहाग्नि-बल-विक्रियाम् ॥ ४० ॥
प्रयोगैः क्षपयेद्वा तान् सुखं वा कोष्ठमानयेत् ।
ज्ञात्वा कोष्ठप्रपन्नांस्तान् यथास्वं तं हरेद् बुधः ॥ ४१ ॥
ज्ञानार्थं यानि चोक्तानि व्याधिलिङ्गानि संग्रहे ।
व्याधयस्ते तदात्वे तु लिङ्गानीष्टानि नाऽऽमयाः ॥ ४२ ॥

प्रायः वात आदि दोष कुमार्ग में जाकर रोगियों को बहुत समय तक पीड़ित करते हैं । ऐसे स्थानों में शीघ्रता से काम नहीं लेना चाहिये । अपितु रोगी के शरीर और अग्नि-बल को जानकर औषध-प्रयोग द्वारा दोषों को धीरे धीरे कम करना चाहिये । अथवा दोषों को कोष्ठ-स्थान में लाना चाहिये । और जब दोष ... जाय तब योग्य रीति से बाहर निकाल देने चाहिये । रोगों के ... के लिये जो लक्षण संक्षेप में कहे हैं, उन को एक स्वतन्त्र रोग

समझना चाहिये। परन्तु जिस स्थान पर दूसरे रोगों का ज्ञान कराया गया है वहां पर इन लक्षणों को लक्षण ही समझना चाहिये॥ ४०—४२ ॥

विकाराः प्रकृतिश्चैव द्वयं सर्वं समासतः।
तद्धेतुवशगं हेतोरभावान्न प्रवर्तते ॥ ४३ ॥

विकार और प्रकृति इन दो अवस्थाओं का जो वर्णन किया है ये दोनों ही कारण के अधीन है। कारण के अभाव से इन दोनों में से एक भी नहीं रह सकता* ॥ ४३ ॥

तत्र श्लोकाः—हेतवः पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा।
संप्राप्तिः पूर्वमुत्पत्तिः सूत्रमात्रं चिकित्सितम् ॥ ४४ ॥
ज्वरादीनां विकाराणामष्टानां साध्यता न च।
पृथगेकैकशश्चोक्ता हेतुलिङ्गोपशान्तयः ॥ ४५ ॥
हेतुपर्यायनामानि व्याधीनां लक्षणस्य च।
निदानस्थानमेतावत्संग्रहेणोपदिश्यते ॥ ४६ ॥ इति।

इस निदान स्थान में ज्वर आदि आठ रोगों के हेतु, पूर्वरूप, रूप, उपशय, सम्प्राप्ति, पूर्वोत्पत्ति, चिकित्सा सूत्र, साध्यता और असाध्यता, इन का वर्णन किया है। हेतु, लिंग, उपशय, व्याधि, लक्षण और हेतु के पर्य्यायवाची शब्द ये सब विषय संक्षेप में कह दिये हैं॥ ४४—४६ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते निदानस्थानेऽपस्मारनिदानं नामाष्टमोऽध्यायः।

इति निदानस्थानं संपूर्णम्।

*निदानस्थान में प्रधानभूत ज्वर आदि का ज्ञान कराने के लिये अविपाक, अरुचि आदि जो रोग कहे गये हैं, उनको स्वतंत्र अवस्था में उत्पन्न होने पर रोग ही जानने चाहिये और जब ज्वरादि के कारण ये उत्पन्न होते हैं तब लक्षण ही हैं। क्योंकि आयुर्वेद में स्वतन्त्र अपनी चिकित्सा से शान्त हो रोग कहा जाता है।

विमानस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः ।

अथातो रसविमानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब इस के बाद 'रस-विमान' का व्याख्यान करेंगे जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१-२॥

इह खलु व्याधीनां निमित्त-पूर्वरूप-रूपोपशय-संख्या-प्राधान्यविधि-विकल्प-बल-काल-विशेषाननुप्रविश्यानन्तरं[1] रस-द्रव्य-दोष-विकार-भेषज-देश-काल-बल-शरीराहार-सार-सात्म्य-सत्त्व-प्रकृति-वयसां मानमवहितमनसा यथावज्ज्ञेयं भवति भिषजा, रसादिमानज्ञानायत्तत्वात् क्रियायाः। न ह्यमानज्ञो रसदोषादीनां भिषक् व्याधिनिग्रहसमर्थो भवति। तस्मात् रसादिमानज्ञानार्थं विमानस्थानमुपदेक्ष्यामोऽग्निवेश ! ॥ ३ ॥

विमान-स्थान का प्रयोजन—चिकित्सा में सफलता चाहने वाले वैद्य को चाहिये कि सब से प्रथम रोगोंका निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय, संख्या, प्राधान्य, विधि, विकल्प (भेद), बल, काल, विशेष (संख्या आदि पांच, संप्राप्ति के भेद) को भली प्रकार जानकर, अनन्तर सावधान मन होकर मधुर आदि रस, द्रव्य (भेषज द्रव्य), वात आदि दोष, विकार, देश (भूमि और रोगी), काल (नित्य और आवस्थिक), बल, शरीर, सार (त्वग्, रक्त, ओज आदि), आहार (भोजन), सात्म्य (ओकसात्म्य), सत्त्व (मन), प्रकृति (वात-आदि), वय (काल के प्रमाण की अपेक्षा से बाल्यावस्था आदि) आदि की रोगा में भली प्रकार परीक्षा करे , क्योंकि चिकित्सा-क्रिया का आधार रसादि ज्ञान ही है । इस लिये रसादि का ज्ञान भली प्रकार करना चाहिये । रसादि को न जानने वाला वैद्य रोगों को रोकने और उन की चिकित्सा में सफल नहीं हो सकता । इसलिये हे अग्निवेश! रसादि ज्ञान के अधीन चिकित्सा के होने से, रसादि ज्ञान के लिये विमान-[स्थान का] उपदेश करेंगे ॥३॥

---

[1] 'उपदेशं' इति च पाठः ।

तत्राऽऽदौ रस-द्रव्य-दोष-विकार-प्रभावान् वक्ष्यामः ॥ ४ ॥

इन में सब से प्रथम मधुर आदि रस, भेषज द्रव्य, वात आदि दोष और विकार और इन के प्रभावों को कहेंगे ॥ ४ ॥

रसास्तावत् षट् मधुराम्ल-लवण-कटु-तिक्त-कषायाः। ते सम्यगुपयुज्यमानाः शरीरं यापयन्ति, मिथ्योपयुज्यमानास्तु खलु दोषप्रकोपनायोपकल्पयन्ति ॥ ५ ॥

रस छः हैं, मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय। इन का यदि भली प्रकार उपयोग किया जाय तो ये शरीर को स्वस्थ अवस्था में रखते हैं और यदि अन्यथा अर्थात् अन्यथा रूप में सेवन किये जावे तो वातादि दोषों को प्रकुपित करके रोगों को उत्पन्न करते हैं ॥ ५ ॥

दोषाः पुनस्त्रयो वात-पित्त-श्लेष्माणः। ते प्रकृतिभूताः शरीरोपकारका भवन्ति, विकृतिमापन्नास्तु खलु नानाविधैर्विकारैः शरीरमुपतापयन्ति ॥ ६ ॥

दोष तीन हैं। वात, पित्त और कफ। ये तीनों दोष अपनी प्रकृति अर्थात् समान अवस्था में रहकर शरीर के उपकारक होते हैं और ये ही दोष विषम रूप में विकृत होकर शरीर को नानाप्रकार के रोगों से पीड़ित करते हैं ॥ ६ ॥

तत्र दोषमेकैकं त्रयस्त्रयो रसा जनयन्ति, त्रयस्त्रयश्चोपशमयन्ति। तद्यथा कटुतिक्तकषाया वातं जनयन्ति, मधुराम्ललवणास्त्वेनं शमयन्ति। कटुकाम्ललवणाः पित्तं जनयन्ति, मधुरतिक्तकषायास्त्वेनं शमयन्ति। मधुराम्ललवणाः श्लेष्माणं जनयन्ति, कटुतिक्तकषायास्त्वेनं शमयन्ति ॥ ७ ॥

रसों के प्रभाव—दोषों का शमन करना और दोषों को कुपित करना यह रसों का ही प्रभाव है। इन में तीन तीन रस एक एक दोष को उत्पन्न करते हैं और तीन तीन रस एक एक दोष को शान्त करते हैं। जैसे—कटु, तिक्त और कषाय ये तीन रस वायु को उत्पन्न करते हैं। मधुर, अम्ल और लवण ये तीन रस वायु का शमन करते हैं। कटु, अम्ल और लवण ये तीन रस पित्त को उत्पन्न करते हैं। मधुर, तिक्त और कषाय ये तीन रस पित्त का शमन करते हैं। मधुर, अम्ल और लवण ये तीन रस कफ को उत्पन्न करते हैं और कटु, तिक्त और कषाय ये तीन रस कफ को शमन करते हैं ॥ ७ ॥

रसदोषसन्निपाते तु ये रसा यैर्दोषैः समानगुणाः समानभूयिष्ठा वा भवन्ति ते तानभिवर्धयन्ति, विपरीतगुणास्तु

भूयिष्ठा वा शमयन्त्यभ्यस्यमानाः—इत्येतद्-व्यवस्थाहेतोः षट्त्वमुपदिश्यते रसानां परस्परेणासंसृष्टानां, त्रित्वं च दोषाणाम्। संसर्गविकल्पविस्तरो ह्येषामपरिसंख्येयो भवति, विकल्पभेदापरिसंख्येयत्वात् ॥ ८ ॥

रस और दोषों के सन्निपात होने पर जो जो रस दोषों के समान गुण वाले तथा समान स्वभाव के होते हैं वे उन दोषों को बढ़ाते हैं, विशेषतः जब ये रस नित्य प्रति निरन्तर सेवन किये जाते हैं। इसी प्रकार जो रस जिन दोषों के साथ विपरीत गुण और विपरीत स्वभाव वाले होते हैं वे सेवन करने पर उन दोषों को शमन करते हैं। इस सामान्य और विपर्य्यय के कारण जो वृद्धि और ह्रास का नियम है उस की दृष्टि से परस्पर न मिले हुए रस छः तथा परस्पर न मिले हुए दोष तीन हैं। इन्हीं में यह उपरोक्त व्यवस्था संभव है। इन के पारस्परिक संसर्ग में यह संभव नहीं, क्योंकि इन रसों और दोषों का परस्पर संयोग होने से वे असंख्य हो जाते हैं। क्योंकि विकल्पों के भेद असंख्य हैं ॥ ८ ॥

तत्र खल्वनेकरसेषु द्रव्येष्वनेकदोषात्मकेषु च विकारेषु रसदोषप्रभावमेकैकत्वेनाभिसमीक्ष्य ततो द्रव्यविकारयोः प्रभावतत्त्वं व्यवस्येत्।

इन में अनेक रसवाले द्रव्यों में और अनेक दोषों को प्रारम्भ करने वाले विकारों में रस प्रभाव और दोषों के प्रभाव को पृथक् पृथक् रूप से देखकर, रसविकार द्रव्य-विकार के प्रभाव का निश्चय करे। अर्थात् जहां पर एक रस और एक ही दोष हो वहां पर रस और दोष के प्रभाव से द्रव्य-विकार के प्रभाव का ज्ञान हो ही जाता है। परन्तु जहां पर अनेक रस और अनेक दोष मिले हों वहां पर भी छः रसों और तीन दोषों के प्रभाव का निश्चय कर लेना चाहिये।

नत्वेवं खलु सर्वत्र। न हि [1]विकृति-विषम-समवेतानां नानात्मकानां

१. रस का विकृति-समवाय जैसे मधुर भात में। मधुर रस स्वभाव से स्नेहकारी और वृष्य है, परन्तु द्रव्य के विकार रूप भात में वह मधुरता वह गुण नहीं करती। भात स्निग्ध और वृष्य नहीं है।

रसों का विषम समवाय अर्थात् विषम मेल जैसे तिल में कषाय, कटु, तिक्त और मधुर चार रस मिले हैं। यदि वे बिना मात्रा के मिले न होते तो तिल भी ... और श्लेष्मा को हरने वाला वा त्रिदोष-हारी होता, परन्तु तिल में रसों का ... अर्थात् विषम रूप से मेल है। अतः वह वैसा नहीं है, प्रस्तुत ... को उत्पन्न करता है। पदार्थों में कहीं तो ये रस अपना ठीकर

द्रव्याणां परस्परेण चोपहतानामन्यैश्च विकल्पनैर्विकल्पितानामवयवप्रभावानुमानेन समुदायप्रभावतत्त्वमध्यवसातुं शक्यं । तथायुक्ते हि समुदाये समुदायप्रभावतत्त्वमेवोपलभ्य ततो रस-द्रव्य-विकार-प्रभावतत्त्वं व्यवस्येत् ॥ ९ ॥

परन्तु इस प्रकार सब स्थानों पर जाना नहीं जा सकता। क्योंकि द्रव्य सम्पूर्ण विकृति भाव से और असमान परिमाण में परस्पर मिलते। इस मिलनेके समय एक द्रव्य के द्वारा दूसरा द्रव्य नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार नाना रूपमें भी द्रव्य बदल जाता है। इन अवस्थाओं में अंशांश विकल्पना द्वारा प्रत्येक अंश का प्रभाव अनुमान द्वारा जानकर उससे सम्पूर्ण समुदाय रूप द्रव्य का प्रभाव जानना असम्भव है। इस अवस्था में सम्पूर्ण द्रव्य का सम्पूर्ण प्रभाव जानना चाहिये ॥ ९ ॥

तस्माद्रसप्रभावतश्च द्रव्यप्रभावतश्च दोषप्रभावतश्च विकारप्रभावतश्च तत्त्वमुपदेक्ष्यामः—तत्रैष रस-द्रव्य-दोष-विकार-प्रभाव उपदिष्टो भवति ॥ १० ॥

इसलिये चिकित्सा में रस-प्रभाव, द्रव्य-प्रभाव, दोष प्रभाव और विकार-प्रभाव इन चारों की अपेक्षा है। इससे उन चारो प्रकार के प्रभावों का यथार्थ उपदेश करेंगे। रसों और द्रव्यों का वात, पित्त और कफ इन दोषों को कुपित और शान्त करने का प्रभाव रसनिरूपण अध्याय में कह दिया ॥ १० ॥

द्रव्यप्रभावं पुनरुपदेक्ष्यामः—तैलसर्पिर्मधूनि वात-पित्त-श्लेष्म-प्रशमनार्थानि द्रव्याणि भवन्ति। तत्र तैलं स्नेहौष्ण्यगौरवोपपन्नत्वाद्वातं जयति सततमभ्यस्यमानम्। वातो हि रौक्ष्यशैत्यलाघवोपपन्नो विरुद्धगुणो भवति, विरुद्धगुणसन्निपाते हि भूयसाऽल्पमवजीयते, तस्मा-

---

फल उत्पन्न करते हैं और कहीं नहीं करते, इसी से उनके सम-समवाय या विषम-समवाय का अनुमान किया जाता है।

एक ही पदार्थ के नाना रूप बन जाने से भी उनके गुणों में भेद आता है। रसों और दोषों का दो प्रकार का समवाय अर्थात् मेल होता है। (१) प्रकृतिके अनुकूल (२) प्रकृति के अननुकूल। जहां नाना रस मिलकर भी प्रकृति के गुणों का नाश नहीं करते वैसा मेल 'प्रकृति-सम-समवाय' कहाता है। जहां वे विकृति होकर मूल पदार्थ के गुणों का नाश कर देते हैं, वहां 'विकृति-विषम-समवाय' कहाता है, क्योंकि वहां विकृति हो जाने से विषम अर्थात् प्रकृति के रसों का विपरीत मेल होता है।

तैलं वातं जयति सततमभ्यस्यमानम्। सर्पिः खल्वेवमेव पित्तं जयति, माधुर्याच्छैत्यान्मन्दवीर्यत्वाच्च, पित्तं ह्यमधुरमुष्णं तीक्ष्णं च। मधु च श्लेष्माणं जयति, रौक्ष्यात्तैक्ष्ण्यात् कषायत्वाच्च। श्लेष्मा हि स्निग्धो मन्दो मधुरश्च ॥ ११ ॥

द्रव्य के प्रभाव का अब उपदेश करते हैं। तेल वायु को, घी पित्त को और मधु कफ को शान्त करने वाले द्रव्य हैं। इन में तैल, स्नेह, उष्ण और गुरु होने के कारण निरन्तर सेवन करने से वायु को शान्त करता है। क्योंकि वायु, रूक्ष, शीत और लघु होने से तैल से विपरीत गुण वाला है। दो विरोधी गुणों के मिश्रण में जो गुण अधिक बलवान् होता है वह निर्बल को जीत लेता है। इसलिये तैल निरन्तर सेवन से वायु को जीत लेता है। इसी प्रकार घी भी पित्त को जीतता है, घी, मधुर, शीत एवं मन्दवीर्य है और पित्त अमधुर (कटु, अम्ल), उष्ण और तीक्ष्ण है। वह भी विपरीत गुण होने से पित्त को जीतता है। मधु कफ को जीतता (शमन) करता है। मधु रूक्ष, तीक्ष्ण और कषाय है। कफ स्निग्ध, मन्द और मधुर है, इसलिये मधु कफ से विपरीत गुण वाला है ॥११॥

यच्चान्यदपि किंचिद् द्रव्यमेवं वातपित्तकफेभ्यो गुणतो विपरीतं विरुद्धं तच्चैताञ्जयत्यभ्यस्यमानम् ॥ १२ ॥

इसी प्रकार अन्य जो कोई द्रव्य गुणों में वात, पित्त, कफ से विपरीत गुणवाला होता है, वह निरन्तर सेवन करने से वात, पित्त और कफ को शान्त करता है ॥ १२ ॥

अथ खलु त्रीणि द्रव्याणि नात्युपयुञ्जीताधिकमन्येभ्यो द्रव्येभ्यः। तद्यथा पिप्पलीः, क्षारं, लवणमिति ॥ १३ ॥

इन निम्न-लिखित तीन द्रव्यों को अन्य द्रव्यों की अपेक्षा अधिक सेवन नहीं करे। १. पिप्पली, २. क्षार और ३. लवण ॥ १३ ॥

पिप्पल्यो हि कटुकाः सत्यो मधुरविपाका गुर्व्यो नात्यर्थं स्निग्धोष्णाः प्रक्लेदिन्यो भेषजाभिमताश्च। ताः सद्यः शुभाशुभकारिण्यो भवन्ति, आपातभद्राः प्रयोगसमसाद्गुण्यात्, दोषसंचयानुबन्धाः। सततमुपयुज्यमाना हि गुरुप्रक्लेदित्वाच्छ्लेष्माणमुत्क्लेशयन्ति, औष्ण्यात्पित्तं, न च वातप्रशमनायोपकल्पन्ते, अल्पस्नेहोष्णभावात्, योगवाहिन्यस्तु खलु भवन्ति। तस्मात्पिप्पलीर्नात्युपयुञ्जीत ॥ १४ ॥

(शुष्क पिप्पली) कटु रस की होकर भी विपाक में मधुर, गुरु, न न अधिक उष्ण, शरीर के धातुओं को क्लिन्न करने (गलाने)

वाली है, ओषधि रूप से ठीक भी है, तो भी शीघ्र ही शुभ-अशुभ फल को दिखाने वाली हैं। सम्यक् प्रयोग करने में पूर्णरूप में गुणकारी और ठीक तरह प्रयोग न करने पर दोष का संचय करने वाली होती है। क्योंकि पिप्पली का निरन्तर उपयोग करने से यह भारी तथा क्लेद उत्पन्न करने वाली होने के कारण कफ को कुपित करती है। उष्ण होने से पित्त को कुपित करती है। यह विपरीत गुण होने पर भी वायु का शमन नहीं करती। क्योंकि इन में स्नेह और उष्णगुण न्यून रहता है। पिप्पली योगवाही है अर्थात् जिस द्रव्य के साथ मिलाकर देते हैं उसी द्रव्य के समान कर्म करने वाली होती है। इसीलिये ज्वर, गुल्म, कुष्ठ आदि में इस का उपयोग है। इसलिये पिप्पली का अधिक उपयोग नहीं करना चाहिये। (पिप्पली का भोजनादि में अति प्रयोग हानिकारक है, रसायन में नहीं)॥ १४ ॥

क्षारः पुनरौष्ण्यतैक्ष्ण्यलाघवोपपन्नः क्लेदयत्यादौ पश्चादुपशोषयति। स पचन-दहन-भेदनार्थमुपयुज्यते। सोऽतिप्रयुज्यमानः केशाक्षिहृदयपुंस्त्वोपघातकरः संपद्यते। ये ह्येनं ग्राम-नगर-निगम-जनपदाः सततमुपयुञ्जते तेऽप्यान्ध्य-षाण्ढ्य-खालित्य-पालित्य-भाजो हृदयापकर्तिनश्च भवन्ति, तद्यथा प्राच्याश्चीनाश्च। तस्मात्क्षारं नात्युपयुञ्जीत ॥१५॥

क्षार, उष्ण, तीक्ष्ण और लवण रस से युक्त होते हैं। ये क्षार पहिले तो शरीर को क्लिन्न करते हैं और पीछे से शुष्क करते हैं। शोफ आदि संघात या पिण्डित हुए दोषों को जलाता है, पकाता है और फोड़ता है। इसलिये पकाने, जलाने और फोड़ने के लिये इस का उपयोग किया जाता है। यही क्षार यदि अधिक मात्रा में सेवन किया जाये तो केश (बाल), आंख, हृदय और पुरुषत्व को नाश करता है। इसलिए जिस ग्राम, नगर, बस्ती प्रान्त वा देश के लोग इस का अधिक उपयोग करते हैं वे अन्धे, नपुंसक, बालों का गिरने (गंज) या पकने (पलित) और हृदय के रोग से विशेष रूप से पीड़ित होते हैं। जैसे—प्राच्य (कामरूप) देश के और चीनी। इसलिये क्षार का अधिक उपयोग नहीं करना चाहिये ॥१५॥

लवणं पुनरौष्ण्यतैक्ष्ण्योपपन्नमनतिगुर्वनतिस्निग्धमुपक्लेदि विस्रंसनसमर्थमन्नद्रव्यरुचिकरं आपातभद्रं प्रयोगसमसादुगुण्यात्, दोषसंचयानुबन्धं, तद्रोचनपाचनोपक्लेदनविस्रंसनार्थमुपयुज्यते। तदत्यर्थमुपयुज्यमानं ग्लानि-शैथिल्य-दौर्बल्याभिनिर्वृत्तिकरं शरीरस्य ह्येनद् ग्राम-नगर-निगम-जनपदाः सततमुपयुञ्जते, ते भूयिष्ठं

शिथिल-मांस-शोणिता अपरिक्लेशसहाश्च भवन्ति। तद्यथा बाह्लीक-सौराष्ट्रिक-सैन्धव-सौवीरकाः, ते हि पयसाऽपि सदा लवणमश्नन्ति, येऽपीह भूमेरत्यूषरा देशास्तेष्वौषधिवीरुद्वनस्पतिवानस्पत्या न जायन्तेऽल्पतेजसो वा भवन्ति लवणोपहतत्वात्। तस्माल्लवणं नात्युपयुञ्जीत। ये ह्यतिलवणसात्म्याः पुरुषास्तेषामपि खालित्येन्द्रलुप्तपालित्यानि तथा वलयश्चाकाले भवन्ति ॥ १६ ॥

लवण, उष्ण एवं तीक्ष्ण दोनों गुणों से युक्त है, न तो बहुत गुरु और न बहुत स्निग्ध होता है। क्लिन्न करने वाला, विस्रंसन (बहाने की) शक्ति वाला, भोजन में रुचि पैदा करने वाला, भली प्रकार उपयोग करने पर सम्पूर्णरूप में कल्याणकारी है, ठीक प्रकार से न बरतने से दोषों को कुपित करने वाला होता है। इस का उपयोग रुचि पैदा करने में, पाचन के लिये. क्लिन्न करने के लिये और विस्रंसन के लिये प्रयुक्त होता है। इस का उपयोग बहुत अधिक मात्रा में करने से शरीर में ग्लानि, शिथिलता और दुर्बलता उत्पन्न होती है। जिस ग्राम, नगर, प्रान्त वा देश के व्यक्ति इस का निरन्तर उपयोग करते हैं, उन को ग्लानि बहुत रहती है और उन के रुधिर, स्नायु और मांस शिथिल हो जाते हैं। वे निर्बल होने से क्लेश सहने में असमर्थ रहते हैं। जैसे—बाह्लीक (बल्ख), सौराष्ट्रिक (गुजराती, काठियावाड़ी), सैन्धव (सिन्धु देशी) और सौवीर देश के लोग। ये लोग दूध के साथ भी लवण खाते हैं।

उषर भूमियों में ओषधि (फलवाली), लता, वनस्पति, फल-पुष्पवाले वृक्ष उत्पन्न नहीं होते। यदि होते हैं तो वे अल्पबल होते हैं। नमक ही इन की शक्ति को मार देता है, इसलिये नमक का अधिक उपयोग नहीं करना चाहिये।

इस के अतिरिक्त जिन को लवण बहुत अनुकूल पड़ता है उन के बाल शीघ्र गिर जाते हैं, जल्दी सफेद हो जाते हैं, इन्द्रलुप्त का रोग हो जाता है और युवावस्था में ही चेहरे पर झुर्रियां पड़ जाती हैं ॥ १६ ॥

तस्मात्तेषां तत्सात्म्यतः क्रमेणापगमनं श्रेयः; सात्म्यमपि हि क्रमेणोपनिवर्त्यमानमदोषमल्पदोषं वा भवति ॥ १७ ॥

इसलिये इन पुरुषों को 'न वेगान्धारणीय' (सूत्र० ७) अध्याय में बतलाये हुए क्रम से नमक के इस प्रकार सात्म्य (अनुकूलता) से पृथक् होना ही कल्याणकारी है, क्योंकि ऐसे सात्म्य से क्रमपूर्वक हटना दोषरहित अथवा थोड़े दोष-

: ॥ १७ ॥

[नाम तद् यदात्मन्युपशेते। सात्म्यार्थो ह्युपशयार्थः ॥

सात्म्य—उस को कहते हैं कि जो अपनी देह के लिये सुखकारक या अनुकूल होता है। क्योंकि 'सात्म्य' का अर्थ 'उपशय' है।

तत् त्रिविधं—प्रवरावरमध्यविभागेन। सप्तविधं च रसैकैकत्वेन, सर्वरसोपयोगाच्च ॥ १८ ॥

तत्र सर्वरसं प्रवरं, अवरमेकरसं, मध्यमं तु प्रवरावरमध्यस्थम्। तत्रावरमध्याभ्यां सात्म्याभ्यां क्रमेण प्रवरमुपपादयेत्सात्म्यम्। सर्वरसमपि च द्रव्यं सात्म्यमुपपन्नं प्रकृत्याद्युपयोक्त्रष्टमानि सर्वाण्याहारविधिविशेषायतनान्यभिसमीक्ष्य हितमेवानुरुध्येत ॥ १९ ॥

सात्म्य के भेद—यह सात्म्य तीन प्रकार का है। (१) प्रवर (२) मध्यम और (३) अवर। अथवा सात प्रकार का है। जैसे एक एक रस से छः प्रकार का और सब रसों के उपयोग से सात प्रकार का है। इन सातों में सब रसों का सात्म्य 'प्रवर' है। [1]एक रस का सात्म्य 'अवर' निकृष्ट है। प्रवर और अवर के मध्य में स्थित सात्म्य को 'मध्यम' कहते हैं। इन में अवर और मध्यम सात्म्य को क्रमशः प्रवर सात्म्य में परिवर्तित करने का प्रयत्न करना चाहिये। सब रसों का सात्म्य होने पर भी अर्थात् आहार-विधि के विशेष उपयोक्ता और प्रकृति आदि सब प्रकार के आठों अंगों को देखकर हितकारक पदार्थों का सेवन करना चाहिये ॥ १८-१९ ॥

तत्र खल्विमान्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति। तद्यथा प्रकृति-करण-संयोग-राशि-देश-कालोपयोग-संस्थोपयोक्त्रष्टमानि भवन्ति ॥२०॥

आहार-विधि—ये निम्नलिखित आठ बातें आहार विधि में विशेष कारण या उसके अंग होती हैं। (१) प्रकृति, (२) करण, (३) संयोग, (४) राशि, (५) देश, (६) काल, (७) उपयोग-संस्था और (८) उपयोक्ता ॥ २० ॥

तत्र प्रकृतिरुच्यते। स्वभावो यः स पुनराहारौषधद्रव्याणां स्वाभाविको गुर्वादिगुणयोगः। तद्यथा—माषमुद्गयोः, शूकरैणयोश्च ॥२१॥

उन में से प्रकृति का वर्णन करते हैं—(१) प्रकृति स्वभाव को कहते हैं। आहार-द्रव्य और औषध-द्रव्यों में जो गुरु, लघु आदि गुण स्वभाव से रहते हैं उन का नाम प्रकृति है। जैसे माष (उड़द) और सूकर के मांस स्वभाव से ही गुरु हैं और मूंग तथा हरिण के मांस स्वभाव से ही लघु होते हैं ॥ २१ ॥

करणं पुनः स्वाभाविकानां द्रव्याणामभिसंस्कारः, संस्कारो हि

[1] करीब सब रस के पदार्थ खाती है, इसलिये इस का मांस निर्दोष माना है।

गुणान्तराधानमुच्यते । ते गुणाश्च तोयाग्निसंनिकर्षशौचमन्थनदेश-काल-वशेन भावनादिभिः कालप्रकर्षभाजनादिभिश्चाऽऽधीयन्ते ॥२२॥

(२) करण—स्वाभाविक द्रव्यों के संस्कार का नाम 'करण' है। स्वाभाविक गुण से भिन्न दूसरे गुण को उत्पन्न कर देने का नाम 'संस्कार' है। वे गुण जल, अग्नि के संयोग से, शौच (धोने आदि से), मन्थन (बिलोने से), देश, काल और स्वरस आदि की भावना से, समय की अधिकता से, (पात्र आदि की भिन्नता से), उत्पन्न कर दिये जाते हैं[1]।

बिलोने पर दही के गुण भिन्न हो जाते हैं। दूध को मिट्टी के बर्त्तन और लोहे के बर्त्तन में पकाने पर उसके स्वाद में अन्तर आ जाता है ॥ २२ ॥

संयोगस्तु द्वयोर्बहूनां द्रव्याणां संहतीभावः, स विशेषमारभते यन्नैकैकशो द्रव्याण्यारभन्ते। तद्यथा मधुसर्पिषोः, मधुमत्स्यपयसां च संयोगः ॥ २३ ॥

(३) संयोग—दो या दो से अधिक पदार्थों का मिलना 'संयोग' कहाता है। संयोग विशेष कार्य उत्पन्न करता है जब कि अकेला २ द्रव्य वह कार्य उत्पन्न नहीं करता। जैसे, मधु और घी का समान मात्रा में संयोग मारक है, पृथक् पृथक् नहीं। इसी प्रकार मछली और दूध का संयोग कुष्ठ रोग को उत्पन्न करता है, पृथक् पृथक् नहीं ॥२३॥

राशिस्तु सर्वग्रहपरिग्रहौ, मात्रामात्राफलविनिश्चयार्थः प्रकृतः। तत्र सर्वस्याऽऽहारस्य प्रमाणग्रहणमेकपिण्डेन सर्वग्रहः। परिग्रहश्च पुनः प्रमाणग्रहणमेकैकत्वेनाऽऽहारद्रव्याणाम्। सर्वस्य हि ग्रहः सर्वग्रहः। सर्वतश्च ग्रहः परिग्रह उच्यते ॥ २४ ॥

(४) राशि—दो प्रकार की होती है। (१) सर्वग्रह और (२) परिग्रह। राशि का प्रयोजन मात्रा और अमात्रा अर्थात् कम या अधिक मात्रा में भोजन या औषध के लेने से उत्पन्न अच्छे या बुरे परिणाम का निश्चय करना है। सम्पूर्ण आहार को एक पिण्ड की मात्रा में ग्रहण करने का नाम 'सर्वग्रह' है। आहार द्रव्यों को एक एक करके नियत प्रमाण में

---

१. पानी से बार बार धोने पर पदार्थ के गुण बदल जाते हैं। यथा—'सुधौतः, प्रस्रुतः, स्विन्नः, संतप्तश्चौदनो लघुः।' मथने से—दधि शोथ करती है, मथने पर स्नेह होने पर भी शोथघ्न है। पात्र में—चांदी के पात्र में दही, के पात्र में पानी रखना उत्तम है। काल के कारण पन्द्रह दिन के पीछे या पिये। देशमें—राख के ढेर में रक्खे।

ग्रहण करने का नाम 'परिग्रह' है। सब भोज्य पदार्थों के समुदाय रूप में एक साथ मिलाकर उस में से ग्रहण करना 'सर्वग्रह' है और सब में से प्रत्येक से पृथक् पृथक् ग्रहण करना 'परिग्रह' है। (आहार मात्रा—अग्नि और आहार-द्रव्य की अपेक्षा करती है। इसलिये अग्नि बल की अपेक्षा से सर्वग्रह[१] और द्रव्य की अपेक्षा से परिग्रह समझना चाहिये) ॥ २४ ॥

देशः पुनः स्थानं द्रव्याणामुत्पत्तिप्रचारौ देशसात्म्यं चाऽऽचष्टे ॥ २५॥

(५) देश का अर्थ है स्थान । यह स्थान (स्थावर और जंगम) द्रव्यों की उत्पत्ति, प्रचार के साथ साथ देश-सात्म्य को भी बताता है । उत्पत्ति से जैसे—हिमालय में उत्पन्न अन्नादि गुरु और मरु में लघु होता है। प्रचार से जैसे—लघु पदार्थ खाने वाले, मरु भूमि में विचरने वाले, बहुत फिरने वाले प्राणियों का मांस लघु होता है, अन्यों का गुरु । देशसात्म्य जैसे अनूप देश में उष्ण, रूक्ष और मरुभूमि में शीत स्निग्ध पदार्थ हितकारी हैं ॥ २५ ॥

कालो हि नित्यगश्चाऽऽवस्थिकश्च । तत्राऽऽवस्थिको विकारमपेक्षते, नित्यगस्तु खल्वृतुसात्म्यापेक्षः ॥ २६ ॥

(६) काल दो प्रकार का है। नित्यग और आवस्थिक। रोगी की अवस्थानुरूप इन में आवस्थिक-काल विकार को अपेक्षा करता है। नित्यग काल ऋतु, सात्म्य, शीत, उष्ण, वर्षा आदि की अपेक्षा करता है ॥ २६ ॥

उपयोगसंस्था तु उपयोगनियमः, स जीर्णलक्षणापेक्षः ॥ २७ ॥

(७) उपयोग संस्था—उपयोग-व्यवस्था या उपयोग-नियम को उपयोग-संस्था कहते हैं। यह भोजन के पचने की अपेक्षा करता है। 'जीर्णेऽश्नीयात्' यह आगे कहेंगे ॥ २७ ॥

उपयोक्ता पुनः यस्तमाहारमुपयुङ्क्ते यदायत्तमोकसात्म्यम् ॥ २८ ॥

(८) उपयोक्ता—जो उस आहार का उपयोग करता है, उस भोक्ता को 'उपयोक्ता' कहते हैं। जिस के अधीन अभ्यास-सात्म्य है ॥ २८ ॥

इत्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति । एषां विशेषाः शुभाशुभफलप्रदाः परस्परोपकारका भवन्ति, तान् बुभुत्सेत । बुद्ध्वा च हितेप्सुरेव स्यात्, न च मोहात्प्रमादाद्वा प्रियमहितमसुखोदर्कमुपसेव्यं किञ्चिदाहारजातमन्यद्वा ॥ २९ ॥

---

१ सर्वग्रह—एक मनुष्य का भोजन आठ छटांक होना चाहिये। परिग्रह—चावल, दो छटांक, आटा—५ छटांक, दाल एक छटांक, शाक—एक प्रकार से आठ छटांक।

इस प्रकार से आहार विधि के विशेष आठ आयतन कह दिये हैं। ये प्रकृति आदि आठों आयतन शुभ और अशुभ फल (स्वास्थ्य एवं अस्वास्थ्य) को उत्पन्न करने में परस्पर एक दूसरे के सहायक होते हैं। इस लिये वैद्य इन को भी जाने। इन में जो सम-धातुओं को प्रकृति में रक्खें और विषम धातुओं को समान करें उन को जानकर हितकारक का सेवन करे। मोह, अज्ञान अथवा लापरवाही से आपातप्रिय (सेवन के समय अतिप्रिय), परन्तु उत्तरकाल में परिणाम में दुःख विकार वा रोगकारक अहित आहार पदार्थों या अन्य इस प्रकार के विहार का सेवन नहीं करना चाहिये ॥ २९ ॥

तत्रेदमाहारविधिविधानमरोगाणामातुराणां च केषांचित्काले प्रकृत्यैव हिततमं भुञ्जानानां भवति। उष्णं स्निग्धं मात्रावज्जीर्णे वीर्याविरुद्धमिष्टे देशे इष्टसर्वोपकरणं नातिद्रुतं नातिविलम्बितमजल्पन्नहसंस्तन्मना भुञ्जीताऽऽत्मानमभिसमीक्ष्य सम्यक् ॥ ३० ॥

यहां आगे कही जाने वाली आहार विधि स्वस्थ एवं रोगी दोनों के लिये उचित समय में स्वभाव से हितकारक होती है।

आहार विधि—उष्ण (गरम) भोजन खावे, स्निग्ध भोजन करे, मात्रानुसार खाये, पूर्व भोजन के जीर्ण होने पर खाये, अविरुद्ध वीर्य वाले पदार्थों को खाये, मनोवाञ्छित स्थान पर, मन के अनुकूल उपकरणों के साथ, न बहुत जल्दी, न बहुत धीरे, बिना बोले, बिना हँसे, पूर्ण मन देकर, आत्मा के सात्म्य या अपनी शक्ति को देखकर भली भांति विचार कर खाये ॥ ३० ॥

तस्य साद्गुण्यमुपदेक्ष्यामः—उष्णमश्नीयात्। उष्णं हि भुज्यमानं स्वदते, भुक्तं चाग्निमौदर्यमुदीरयति, क्षिप्रं च जरां गच्छति, वातं चानुलोमयति, श्लेष्माणं च परिशोषयति, तस्मादुष्णमश्नीयात् ॥३१॥

इस प्रकार भोजन करने के सद्गुणों का उपदेश करते हैं—गरम, जितना गरम मुख में सहन हो सके, उतना गरम भोजन करे। गरम भोजन रुचि उत्पन्न करता है, खाने में अच्छा लगता है। खाने पर जाकर अग्नि को बढ़ाता है, शीघ्र पाचन हो जाता है। वायु का अनुलोमन करता है, कफ को सुखाता है। इस लिये गरम भोजन खावे ॥ ३१ ॥

स्निग्धमश्नीयात्। स्निग्धं हि भुज्यमानं स्वदते, भुक्तमौदर्यमग्निमुदीरयति, क्षिप्रं जरां गच्छति, वातमनुलोमयति, दृढीकरोति शरीरोपचयं, बलाभिवृद्धिं चाभिजनयति, वर्णप्रसादमपि चाभिनिर्वर्तयति; तस्मात् स्निग्धमश्नीयात् ॥ ३२ ॥

स्निग्ध भोजन करे। स्निग्ध भोजन खाने में अच्छा लगता है। खाने पर निर्बल जाठराग्नि को बढ़ाता है। शीघ्र परिपाक होता है। वायु का अनुलोमन करता है, शरीर को बढ़ाता है, इन्द्रियों को बलवान् बनाता है, शरीर में बलकी वृद्धि करता है, रंग में कान्ति, चिकनाई उत्पन्न करता है, इसलिये स्निग्ध भोजन करे॥ ३२॥

मात्रावदश्नीयात्। मात्रावद्धि भुक्तं वात-पित्त-कफानप्रपीडयदायुरेव विवर्धयति केवलं, सुखं गुदमनुपर्येति, न चोष्माणमुपहन्ति, अव्यथं च परिपाकमेति, तस्मान्मात्रावदश्नीयात्॥ ३३॥

मात्रा में खावे। मात्रा में खाया हुआ अन्न वात, पित्त और कफ को कुपित नहीं करता, केवल आयु को ही बढ़ाता है। परिपाक होकर सुखपूर्वक गुदा मार्ग से बाहर निकल आता है। शरीर की अन्तराग्नि को नहीं बिगाड़ता, बिना कष्ट के परिपाक हो जाता है, इसलिये मात्रा में भोजन करे॥ ३३॥

जीर्णेऽश्नीयात्। अजीर्णे हि भुञ्जानस्याभ्यवहृतमाहारजातं पूर्वस्याऽऽहारस्य रसमपरिणतमुत्तरेणाऽऽहाररसेनोपसृजत् सर्वान्दोषान् प्रकोपयत्याशु, जीर्णे तु भुञ्जानस्य स्वस्थानस्थेषु दोषेष्वग्नौ चोदीर्णे, जातायां च बुभुक्षायां, विवृतेषु च स्रोतसां मुखेषु, चोद्गारे विशुद्धे, विशुद्धे च हृदये, वातानुलोम्ये, विसृष्टेषु च वात-मूत्र-पुरीष-वेगेष्वभ्यवहृतमाहारजातं सर्वशरीरधातूनप्रदूषयदायुरेवाभिवर्धयति केवलम्, तस्माज्जीर्णेऽश्नीयात्॥ ३४॥

पूर्व-भुक्त भोजन के जीर्ण होने पर खावे। अजीर्ण अवस्था में भोजन करने से पूर्व में खाये हुए भोजन के अपरिपक्व रस से नवीन आहार का रस मिलकर शीघ्र ही दोषों को प्रकुपित कर देता है। इसलिये पूर्व भुक्त भोजन के जीर्ण होने पर, दोषों के अपने स्थान में स्थित होने पर, अग्नि के उद्दीप्त होने पर, भूख लगने पर, अन्नवह स्रोतों के मुखों के खुल जाने पर, डकार के विशुद्ध होने पर, हृदय (आमाशय) के साफ़ होने पर, वायु के अनुकूल होने पर वायु, मूत्र, मल के वेगों के साफ़ होने पर किया हुआ भोजन शरीर के सब धातुओं को समान अवस्था में रखता हुआ, केवल आयु को ही बढ़ता है, इस लिये जीर्ण अवस्था में भोजन करे॥ ३४॥

वीर्याविरुद्धमश्नीयात्। अविरुद्धवीर्यमश्नन् हि न विरुद्धैर्विकारैरुपसृज्यते, तस्माद्वीर्याविरुद्धमश्नीयात्॥ ३५॥

अविरुद्ध वीर्य वाले पदार्थों को खावे। अविरुद्ध

वाले पदार्थ के सेवन करने से, विरुद्ध वीर्य वाले पदार्थों के सेवन से उत्पन्न होने वाले (कुष्ठ, वीसर्प आदि) रोगों से मनुष्य बचा रहता है, इसलिये अविरुद्ध वीर्य वाले पदार्थों को खावे ॥ ३५ ॥

इष्टे देशेऽश्नीयात्। इष्टे हि देशे भुञ्जानो नानिष्टदेशजैर्मनोविघातकरैर्भावैर्मनोविघातं प्राप्नोति, तथेष्टैः सर्वोपकरणैः, तस्मादिष्टे देशे तथेष्टसर्वोपकरणं चाश्नीयात् ॥ ३६ ॥

अभिमत प्रदेश में मनोऽनुकूल उपकरणों के साथ भोजन करे। मनोवाञ्छित स्थान में भोजन करने से, अनिष्ट देश में उत्पन्न होने वाले, मन को दुःखी करने वाले भावों से मनुष्य दुःखी नहीं होता है। यही बात मन के अनुकूल उपकरणों के साथ भी जाने। इसलिये इष्ट स्थान में और अभिमत उपकरणों के साथ भोजन करें ॥ ३६ ॥

नातिद्रुतमश्नीयात्, अतिद्रुतं हि भुञ्जानस्योत्स्नेहनमवसादनं, भोजनस्याप्रतिष्ठानं, भोज्यदोषसाद्गुण्योपलब्धिश्च न नियता, तस्मान्नातिद्रुतमश्नीयात् ॥ ३७ ॥

बहुत जल्दी जल्दी भोजन नहीं करे। बहुत जल्दी भोजन खाने से भोजन उन्मार्ग अर्थात् विरुद्ध मार्ग में जाने लगता है। जल्दी खाया हुआ भोजन अवसन्नता पैदा करता है, तथा भोजन आमाशय में नहीं रहता, वमन हो जाता है। जल्दी खाने से भोजन के गुण दोष की पहिचान भी नहीं होती, इसलिये बहुत जल्दी भोजन नहीं करे ॥ ३७ ॥

नातिविलम्बितमश्नीयात्। अतिविलम्बितं हि भुञ्जानो न तृप्तिमधिगच्छति, बहु भुङ्क्ते, शीतीभवति चाऽऽहारजातं, विषमपाकं च भवति, तस्मान्नातिविलम्बितमश्नीयात् ॥ ३८ ॥

बहुत धीरे रुक रुक कर भी भोजन नहीं करे। बहुत धीरे धीरे खाने से पुरुष को कभी तृप्ति नहीं होती, इसलिये बहुत खा जाता है। भोजन भी ठण्डा पड़ जाता है, भोजन विषम रूप में पचता है, इसलिये बहुत धीरे धीरे भोजन नहीं करे ॥ ३८ ॥

अजल्पन्नहसंस्तन्मना भुञ्जीत—जल्पतो हसतोऽन्यमनसो वा भुञ्जानस्य त एव हि दोषा भवन्ति य एवातिद्रुतमश्नतः, तस्मादजल्पन्नहसंस्तन्मना भुञ्जीत ॥ ३९ ॥

बातें न करते हुए या न हंसते हुए मनोयोग के साथ भोजन करे। बातें करते हुए और हंसते हुए अथवा दूसरी तरफ अन्य कार्य में मन को लगाये

हुए भोजन करने पर वे ही दोष उत्पन्न होते हैं जो जल्दी खाने में उत्पन्न होते हैं। इसलिये बिना बोले, बिना हंसे, पूर्ण मनोयोग के साथ भोजन करे ॥ ३९ ॥

आत्मानमभिसमीक्ष्य भुञ्जीत सम्यक्। इदं ममोपशेते, इदं नोपशेत इति, विदितं ह्यस्य आत्मन आत्मसात्म्यं भवति, तस्मादात्मानमभिसमीक्ष्य भुञ्जीत सम्यगिति ॥ ४० ॥

अपनी रुचि वा हित-अहित को देखकर भोजन करे। मेरी आत्मा को यह अनुकूल है, यह प्रतिकूल है, यह मेरे सात्म्य है, यह मेरे असात्म्य है, ऐसा विचार कर खावे। इस प्रकार खाने से आत्मसात्म्य का ज्ञान रहता है। इसलिये अपनी शक्ति और हित-अहित का विवेचन करके खाना चाहिये ॥४०॥

भवति चात्र—रसान् द्रव्याणि दोषांश्च विकारांश्च प्रभावतः।
वेद यो देशकालौ च शरीरं च स नो भिषक् ॥ ४१ ॥

जो पुरुष रस, द्रव्य, दोष, विकार, प्रभाव, देश, काल, शरीर (प्रकृति, सत्त्व और सात्म्य) इन को भली प्रकार जानता है वही हम में से वैद्य होने योग्य है ॥ ४१ ॥

तत्र श्लोकौ—विमानार्थो रसद्रव्यदोषरोगाः प्रभावतः।
द्रव्याणि नातिसेव्यानि त्रिविधं सात्म्यमेव च ॥ ४२ ॥
आहारायतनान्यष्टौ भोज्यसाद्गुण्यमेव च।
विमाने रससंख्याते सर्वमेतत्प्रकाशितम् ॥ ४३ ॥

विमानस्थान का प्रयोजन, रस, द्रव्य, दोष और रोग इन चारों का प्रभाव, बहुत अधिक सेवन न करने योग्य द्रव्य, तीन प्रकार का सात्म्य, आठ आहार विधि के आयतन, भोजन का साद्गुण्य, ये सब बातें इस 'रस' संज्ञक विमान में भगवान् आत्रेय ने प्रकाशित कर दी हैं ॥ ४२–४३ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते तृतीये विमानस्थाने
रसविमानं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः।

अथातस्त्रिविधकुक्षीयं विमानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब इसके आगे 'त्रिविध कुक्षीय' नामक अध्याय का व्याख्यान करें जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

त्रिविधं कुक्षौ स्थापयेदवकाशांशमाहारस्याऽऽहारमुपयुञ्जानः; तद्यथा- कमवकाशांशं मूर्तानामाहारविकाराणामेकं द्रवाणामेकं पुनर्वातपित्त-श्लेष्मणाम् । एतावतीं ह्याहारमात्रामुपयुञ्जानो नामात्राहारजं किञ्चि-दशुभं प्राप्नोति ॥ ३ ॥

आहार करने वाले मनुष्य को चाहिये कि वह भोजन के निमित्त पेट में तीन विभागों की कल्पना करे। एक स्थान मूर्त (स्थूल) आहार के लिये, दूसरा द्रव (पेय) पदार्थों के लिये और तीसरा वात, पित्त और कफ के लिये। इस प्रकार तीन विभाग करके आहार मात्रा का उपयोग करनेवाले पुरुष को आहार की अमात्रा से उत्पन्न होने वाले किसी भी प्रकार के अशुभ परिणाम नहीं होते ॥ ३ ॥

न च केवलं मात्रावत्त्वादेवाऽऽहारस्य कृत्स्नमाहारफलसौष्ठवमवाप्तुं शक्यं, प्रकृत्यादीनामष्टानामाहारविधिविशेषायतनानां प्रविभक्त-फलत्वात् ॥ ४ ॥

तत्र तावदाहारराशिमधिकृत्य मात्रामात्राफलविनिश्चयार्थः प्रकृतः। एतावानेव ह्याहारराशिविधिविकल्पो यावन्मात्रावत्त्वममात्रा-वत्त्वं च ॥ ५ ॥

केवल आहार की मात्रा से ही सम्पूर्ण आहार फल की उत्तमता प्राप्त नहीं हो सकती, क्योंकि प्रकृति आदि जो आठ आहार-विधि के विशेष अंग हैं, इन का भी भिन्न भिन्न फल होता है। यहां पर प्रकृति आदि आठ आहार-विधि विशेषों में आहार की राशि को लेकर मात्रा और अमात्रा के फल का निश्चय करने के लिये यह प्रकरण है। आहार की राशि-विधि का भेद इतना ही है कि मात्रा का परिमाण इतना और अमात्रा का परिमाण इतना है ॥४—५॥

तत्र मात्रावत्त्वं पूर्वमुपदिष्टं कुक्ष्यंशविभागेन, तद् भूयो विस्तरे-णानुव्याख्यास्यामः। तद्यथा—कुक्षेरप्रपीडनमाहारेण, हृदयस्यानव-रोधः, पार्श्वयोरविपाटनं, अनतिगौरवमुदरस्य, प्रीणनमिन्द्रियाणां, क्षुत्पिपासोपरमः, स्थानासन-शयन-गमन-प्रश्वासोच्छ्वास-हास-संकथासु च सुखानुवृत्तिः, सायं प्रातश्च सुखेन परिणमनं, बलवर्णोपचयकरत्वं चेति मात्रावतो लक्षणमाहारस्य भवति ॥ ६ ॥

इन में मात्रावत्व (मात्रा) को कुक्षि के विभाग से प्रथम संक्षेप में कह चुके हैं। अब मात्रा और अमात्रा दोनों को विस्तार से कहते हैं। जैसे— आहार से कोख का पीड़ित (दबना) न होना, हृदय (श्वास प्रश्वास) का

न बकना, भोजन के भार से पार्श्वों का न फटना (फटते हुए प्रतीत न होना, अधिक न तनना), पेट में बहुत भारीपन का प्रतीत न होना, आंख आदि इन्द्रियों का पूर्ण सन्तुष्ट होना, भूख और प्यास का शान्त होना, स्थान (सीधा खड़ा होने में) आसन (बैठने में), सोने में, चलने में, श्वास लेने एवं छोड़ने में, हास्य और बातचीत में सुखपूर्वक प्रवृत्ति, दिन में किये भोजन का सायंकाल और रात्रि में किये भोजन का प्रातःकाल तक सुखपूर्वक जीर्ण हो जाना, बल, वर्ण, उपचय (पुष्टि) का शरीर से होना ये सब मात्रा में किये भोजन के लक्षण हैं ॥ ६ ॥

अमात्रावत्वं पुनर्द्विविधमाचक्षते । हीनमधिकं चेति । तत्रं हीनमात्रमाहारराशिं बलवर्णोपचयक्षयकरमतृप्तिकरमुदावर्तकरमवृष्यमनायुष्यमनौजस्यं शरीरमनोबुद्धीन्द्रियोपघातकरं सारविधमनमलक्ष्म्याः वहमशीतेश्च वातविकाराणामायतनमाचक्षते ॥ ७ ॥

अमात्रा—आहार की अमात्रा दो प्रकार की बतलाते हैं। (१) हीन और (२) अधिक । इन में आहार राशि की हीन मात्रा बल और वर्ण को पुष्ट नहीं करती, न मनुष्य को तृप्त करती है, वह उदावर्त्त-रोग को उत्पन्न करती है, आयु, वीर्य एवं ओज के लिये हितकारी नहीं है, मन, बुद्धि, इन्द्रिय (आंख आदि) को नष्ट करने वाली है। सार (त्वग् रक्त आदि) को नष्ट करती है। अलक्ष्मी (गरीबी) को पैदा करती है। हीनमात्रा अस्सी प्रकार के वायु रोगों का कारण होती है ऐसा वैद्य लोग बतलाते हैं ॥ ७ ॥

अतिमात्रं पुनः सर्वदोषप्रकोपणमिच्छन्ति सर्वकुशलाः ॥ ८ ॥

यो हि मूर्तानामाहारविकाराणां सौहित्यं गत्वा पश्चाद् द्रवैस्तृप्तिमापद्यते भूयस्तस्याऽऽमाशयगता वातपित्तश्लेष्माणोऽप्यवहारेणातिमात्रेणातिप्रपीड्यमानाः सर्वे युगपत्प्रकोपमापद्यन्ते ॥ ९ ॥

ते प्रकुपितास्तमेवाऽऽहारराशिमपरिणतमाविश्य कुक्ष्यैकदेशमाश्रिता विष्टम्भयन्तः सहसा वाऽप्युत्तराधराभ्यां मार्गाभ्यां प्रच्यावयन्तः पृथक् पृथगिमान् विकारानभिनिर्वर्तयन्त्यतिमात्रभोक्तुः ॥ १० ॥

आहार राशि की अतिमात्रा से सब दोष प्रकुपित होते हैं, ऐसा कुशल चिकित्सक मानते हैं। जो मनुष्य मूर्त्त (स्थूल) आहार पदार्थों से पेट भर लेता है और ऊपर से पेय पदार्थों को पूर्णरूप से पी लेता है; उसके आमाशयमें स्थित वात, पित्त और कफ दोष इस अति अधिक भार से पीड़ित होकर एक साथ कुपित हो जाते हैं। वे प्रकुपित हुए दोष इस कच्ची (अपरिपक्व

राशि के साथ मिलकर इस आहार राशि को उदर के एक भाग में रोक देते हैं अथवा सहसा ऊपर या नीचे के (ऊर्ध्व या अधः) मार्गों से बाहर निकलने लगते हैं। अधिक खानेवाले, पुरुष में भिन्न २ नाना रोग पृथक् २ रूप से उत्पन्न करते हैं ॥ ९–१० ॥

तत्र वातः शूलानाहाङ्गमर्द-मुखशोष-मूर्च्छा-भ्रमाग्निवैषम्य-सिरासंकोचन-संस्तम्भनानि करोति। पित्तं पुनर्ज्वरातीसारमन्तर्दाहं तृष्णामदभ्रमप्रलपनानि। श्लेष्मा तु छर्द्यरोचकाविपाकशीतज्वरालस्यगात्रगौरवाभिनिर्वृत्तिकरः संपद्यते ॥ ११ ॥

वायु, शूल, अफारा, अंगमर्द (अंगों का टूटना), मुख का शुष्क होना, मूर्च्छा, भ्रम, अग्नि की विषमता, पार्श्वग्रह, पृष्ठग्रह, कटिग्रह, शिराओं का आकुञ्चन (संकोच) और स्तम्भन (जड़ता), इन विकारों को उत्पन्न करता है। पित्तज्वर, अतिसार, अन्तर्दाह (शरीर में जलन), तृष्णा, मद, भ्रम और प्रलाप को उत्पन्न करता है और कफ छर्दि (वमन), अरुचि, अविपाक, शीतज्वर, आलस्य और शरीर में भारीपन पैदा करता है ॥ ११ ॥

न खलु केवलमतिमात्रमेवाऽऽहारराशिमामप्रदोषकरमिच्छन्ति, अपि तु खलु गुरु-रूक्ष-शीत-शुष्क-द्विष्ट विष्टम्भि-विदाह्यशुचि-विरुद्धानामकाले चान्नपानानामुपसेवनं,काम-क्रोध-लोभ-मोहेर्ष्या-ह्री-शोक-मानोद्वेग-भयोपतप्तेन मनसा वा यदन्नपानमुपयुज्यते तदप्याममेव प्रदूषयति ॥१२॥

कुशल वैद्य केवल आहार राशि की अतिमात्रा को ही आमदोष का कारण नहीं मानते। किन्तु प्रकृति से भारी, रूक्ष, शीत, शुष्क, द्वेषयुक्त (मन के प्रतिकूल), विष्टम्भी (वायु, दर्द के होने पर भी मल का न आना), दाह (जलन) करने वाले, अपवित्र, प्रकृति, संस्कार, राशि में विरोधी खान-पान का सेवन अथवा हितकारी अन्न को भी अनुचित काल में वा वमन, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, लज्जा, शोक, मन के उद्वेग, भय आदि अवस्था में किया हुआ अन्न-पान भी आम को ही दूषित करता है ॥ १२ ॥

भवति चात्र—मात्रयाऽप्यभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति।
चिन्ता-शोक-भय-क्रोध-दुःख-शय्या-प्रजागरैः ॥ १३ ॥
तं द्विविधमामप्रदोषमाचक्षते भिषजो विसूचिकामलसकं च।
तत्र विसूचिकामूर्ध्वं चाधश्च प्रवृत्तामदोषां यथोक्तरूपां विद्यात् ॥१४॥

हितकारी, पथ्य अन्न मात्रा से खाने पर भी चिन्ता, शोक, भय, क्रोध, दुःख, दिन में सोने, रात्रि में जागने से जीर्ण नहीं होता है। इस आम-

प्रदोष (भोजन के इस प्रकार न पचने) को वैद्य दो प्रकार का मानते हैं। (१) विसूचिका और (२) अलसक। इन में विसूचिका के अन्दर आम दोष (भोजन का न पचा अंश) ऊपर और नीचे दोनों मार्गों से बाहर निकलता है ॥ १३-१४ ॥

अलसकमुपदेक्ष्यामः—दुर्बलस्याल्पाग्नेर्बहुश्लेष्मणो वात-मूत्र-पुरीष-वेग-विधारिणः स्थिर-गुरु-बहु-रूक्ष-शीत-शुष्कान्नसेविनस्तदन्नपानमनिलप्रपीडितं श्लेष्मणा च विबद्धमार्गमतिमात्रलीनमलसत्वान्न बहिर्मुखी भवति, ततश्छर्दतीसारवर्ज्यान्यामप्रदोषलिङ्गानि यथोक्तान्यभिदर्शयत्यतिमात्राणि। अतिमात्रप्रदुष्टाश्च दोषाः प्रदुष्टामबद्धमार्गास्तिर्यग्गच्छन्तः कदाचित्केवलमेवास्य शरीरं दण्डवत्स्तम्भयन्ति, ततस्तमलसकमसाध्यं ब्रुवते ॥ १५ ॥

अलसक का उपदेश करते हैं—दुर्बल, अल्पाग्नि, बहुत कफयुक्त, वात आदि के वे के स्वभाव के, स्थिर, गुरु, बहुत, रूक्ष, शीत, शुष्क इस प्रकार के अन्न को सेवन करने वाले पुरुष में वायु खान-पान को पीड़ित करता है और कफ से मार्ग रुके होने से वह बाहर नहीं निकलता। वही आमाशय में बहुत अधिक मात्रा में व्याप्त हो जाता है। और आलस्य (मन्दता) के कारण बाहर भी नहीं आता। इसलिये इस को 'अलसक' कहते हैं। बाहर न होने से वमन ओर अतिसार को छोड़कर शेष अन्य आमदोष के लक्षण बहुत अधिक मात्रा में स्पष्ट होते हैं।

असाध्य अलसक—बहुत अधिकमात्रा में दूषित हुए वात आदि दोष दुष्ट आम-द्वारा मार्गों के रुक जाने पर तिरछे गति करते हुए कभी अकस्मात् इस बहुत खाने वाले पुरुष के सम्पूर्ण शरीर को दण्डे की भांति स्तब्ध कर (जकड़) देते हैं। इसलिये इस अलसक को असाध्य कहते हैं ॥ १५ ॥

विरुद्धाध्यशनाजीर्णाशनशीलिन; पुनरामदोषमामविषमित्याचक्षते भिषजो विषसदृशलिङ्गत्वात्। तत्परमसाध्यमाशुकारित्वाद्विरुद्धोपक्रमत्वाच्चेति ॥ १६ ॥

विरुद्ध भोजी, अध्यशन (खाने के ऊपर खाना खाने) और अजीर्णावस्था में भोजन करने वाले पुरुष के दोष को वैद्य 'आमविष' कहते हैं, क्योंकि इसके लक्षण विष के समान होते हैं। (आम दोष में भी विष के खाने के समान मुख से लालास्राव होता है)। यह भी बहुत असाध्य है। विषरूप होने से शीघ्र मारने वाला है और इसमें जो उपचार

यह विरोधी पड़ता है। अर्थात् विष में शीतक्रिया और आम एवं अजीर्ण में उष्णक्रिया करनी अपेक्षित है, ये दोनों परस्पर विरोधी होती हैं ॥ १६ ॥

तत्र साध्यमामं प्रदुष्टमलसीभूतमुल्लेखयेदादौ पाययित्वा लवणमुष्णं च वारि। ततः स्वेदनवर्तिप्रणिधानाभ्यामुपाचरेदुपवासयेच्चैनम् ॥ १७ ॥

साध्य अलसक की चिकित्सा—दुष्ट हुए एवं अलस (क्रियाहीन) बने आम-दोष में लवण मिश्रित गरम पानी पिलाकर वमन कारक दोष को बाहर निकालना चाहिये। पीछे से स्वेदन (फलवर्ति) का उपयोग करे और रोगी को उपवास करावे ॥ १७ ॥

विसूचिकायां तु लङ्घनमेवाग्रे विरिक्तवच्चाऽऽनुपूर्वी ॥ १८ ॥

विसूचिका की अवस्था में सबसे प्रथम लंघन ही करवाना चाहिये। इसके पीछे विरेचन दिये पुरुष की भांति पेयादि की व्यवस्था (उपकल्पनीय अध्याय [सूत्र० अ० १५] में कहे अनुसार) करनी चाहिये ॥ १८ ॥

आमप्रदोषेषु त्वन्नकाले जीर्णाहारं पुनर्दोषावलिप्तामाशयं स्तिमित-गुरुकोष्ठमनन्नाभिलाषिणमभिसमीक्ष्य पाययेद्दोषशेषपाचनार्थमौषधमग्नि-संधुक्षणार्थं च, न त्वेवाजीर्णाशनम्। आमप्रदोषदुर्बलो ह्यग्निर्युगपद्दोष-मौषधमाहारजातं चाशक्तः पक्तुम्, अपि चाऽऽमप्रदोषाहारौषधविभ्र-मोऽतिबलवत्त्वादुपरतकायाग्निं सहसैवाऽऽतुरमबलमतिपातयेत् ॥१९॥

आम प्रदोष में औषध प्रयोग—जब भोजन जीर्ण हो गया हो, जिस का कोष्ठ जड़ और भारी हो, जो अन्न की इच्छा न करता हो, ऐसे पुरुष के शेष अपक्व दोषों के पाचन के लिये और उसके अग्नि को बढ़ाने के लिये भोजन के समय में औषध देनी चाहिये, किन्तु अजीर्ण अवस्था में भोजन के जीर्ण हुए बिना औषध नहीं देनी चाहिये। क्योंकि आम-प्रदोष के कारण दुर्बल हुई अग्नि आम दोष, औषध और भोजन इन सबको एक साथ पचाने में समर्थ नहीं होती। इसके अतिरिक्त आमदोष, आहार और औषध में परस्पर विषमता अधिक बलवान् होने से शरीर की अग्नि को नष्ट करके ये निर्बल रोगी को सहसा शीघ्र ही मार सकते हैं ॥१९॥

आमप्रदोषजानां पुनर्विकाराणामपतर्पणेनैवोपरमो भवति, सति त्वनुबन्धे कृतापतर्पणानां व्याधीनां निग्रहे निमित्तविपरीतमपास्यौष-धमातङ्कविपरीतमेवावचारयेद्यथास्वम्। सर्वविकाराणामपि च निग्रहे हेतुव्याधिविपरीतमौषधमिच्छन्ति कुशलाः; तदर्थकारि वा ॥२०॥

सम्पूर्ण आमदोषजन्य रोगों की शान्ति अपतर्पण (उपवास) से होती है[1]। संतर्पण से उत्पन्न रोगों में अपतर्पण किया कारण के विपरीत है। परन्तु अपतर्पण करने पर भी जहाँ अनुबन्ध हो वहां पर निदान के विपरीत औषध को छोड़ कर रोग के विपरीत (जो जिस रोग के विपरीत हो) वही औषध देनी चाहिये। यह बात केवल आमदोषजन्य रोगों के लिये ही नहीं है; अपितु सब रोगों के शमन के लिये निदान और रोग दोनों के विपरीत औषध देनी चाहिये ऐसा कुशल चिकित्सकों का मत है[2] ॥ २० ॥

विमुक्तामप्रदोषस्य पुनः परिपक्वदोषस्य दीप्ते चाग्नावभ्यङ्गास्थापनानुवासनं विधिवत्स्नेहपानं च युक्त्या प्रयोज्यं प्रसमीक्ष्य दोष-भेषज-देश-काल-बल-शरीराहार-सात्म्य-सत्त्व-प्रकृति-वयसामवस्थान्तराणि विकारांश्च सम्यगिति ॥२१॥

जब आम प्रदोष शान्त हो जायें, दोषों का परिपाक हो जाय, अग्नि प्रदीप्त हो जाय तब दोष, देश, औषध, काल, बल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्त्व, प्रकृति और आयु आदि अवस्थाओं को तथा विकारों को भली प्रकार देखकर अभ्यंग, आस्थापन, अनुवासन आदि कर्म और विधिपूर्वक स्नेह-पान युक्ति से कराना चाहिये ॥२१॥

भवन्ति चात्र—अशितं खादितं पीतं लीढं च क्व विपच्यते।
एतत्त्वां धीर! पृच्छामस्तन्न आचक्ष्व बुद्धिमन्! ॥२२॥
इत्यग्निवेशप्रमुखैः शिष्यैः पृष्टः पुनर्वसुः।
आचचक्षे ततस्तेभ्यो यत्राऽऽहारो विपच्यते ॥ २३ ॥
नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय इति स्मृतः।
अशितं खादितं पीतं लीढं चात्र विपच्यते ॥ २४ ॥
आमाशयगतः पाकमाहारः प्राप्य केवलम्।
पक्वः सर्वाशयं पश्चाद्धमनीभिः प्रपद्यते ॥ २५ ॥

---

१. अपतर्पण दोष बल की अपेक्षा से तीन प्रकार का है। (१) लंघन, (२) लंघन-पाचन और (३) दोषावसेचन। अल्पदोष में लंघन, मध्य दोष में लंघन-पाचन और बहुदोष मे दोषावसेचन करना चाहिये।

२. गुरु और स्निग्ध पदार्थों से उत्पन्न रोग में लघु रूक्ष चिकित्सा। स्नेह-स्वेदजन्य रोग में लंघन-बृंहण। वमन में और अधिक वमन कराना तदर्थकारी चिकित्सा है।

खाये, चबाये, पीये या चाटे सब अन्न-पान कहाँ पर पचते हैं, हे धीर गुरो! यह हम आप से पूछते हैं, हे बुद्धिमन्! यह आप हम को बताइये। इस प्रकार अग्निवेश आदि शिष्यों के पूछने पर पुनर्वसु ने उन को उपदेश किया। मनुष्य के नाभि और स्तनों के मध्यवर्ती प्रदेश को 'आमाशय' कहते हैं। स्तनों से नीचे और नाभि से ऊपर 'आमाशय' और नाभि से नीचे गुदा से ऊपर 'पक्वाशय' है। आमाशय में अशित, खादित, पीत और लीढ यह चारों प्रकार का अन्न पचता है। आमाशय में पहुंचा सब प्रकार का अन्न यहाँ पर परिपक्व होकर धमनी-स्रोतों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होता है॥ २२-२५॥

तत्र श्लोकौ—तस्य मात्रावतो लिङ्गं फलं चोक्तं यथायथम्।
अमात्रस्य तथा लिङ्गं फलं चोक्तं विभागशः॥ २६॥
आहारविध्यायतनानि चाष्टौ सम्यक्परीक्ष्याऽऽत्महितं विदध्यात्।
अन्यश्च यः कश्चिदिहास्ति मार्गो हितोपयोगेषु भजेत तं च॥२७॥

मात्रावाले आहार के लक्षण और फल पूर्ण रूप में कह दिये हैं। इसी प्रकार अमात्रा अर्थात् हीन और अधिक रूप में सेवन किये आहार के लक्षण और फल पृथक् २ करके कह दिये हैं। आहार-विधि के आठ आयतन (कारणों, अंगों) की ठीक २ परीक्षा करके अपना हित करें और भी जो कोई उत्तम मार्ग जिसका उपदेश नहीं किया हो उस को भी हित पदार्थों के उपयोग के अवसरों में प्रयोग करे॥ २७॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते विमानस्थाने त्रिविधकुक्षीयविमानं नाम द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः॥ २॥

तृतीयोऽध्यायः।

अथातो जनपदोद्ध्वंसनीयं विमानं व्याख्यास्यामः॥ १॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः॥ २॥

अब इसके आगे 'जनपद-उद्ध्वंसनीय' नाम विमान का व्याख्यान करेंगे। जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था॥ २॥

जनपदमण्डले पञ्चालक्षेत्रे द्विजातिवराध्युषितायां काम्पिल्यराज[illegible]र्यां भगवान्पुनर्वसुरात्रेयोऽन्तेवासिगणपरिवृतः पश्चिमे घर्ममासे [illegible]तीरे [illegible]प्रचारमनुविचरन् शिष्यमग्निवेशमब्रवीत्॥ ३॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन द्विज वर्णों से बसे पंचाल क्षेत्र (पंजाब) के जनपद-मण्डल (प्रान्त) में, काम्पिल्य नाम राजधानी में शिष्यगण सहित भगवान् आत्रेय पुनर्वसु ग्रीष्म काल के द्वितीय अर्थात् ज्येष्ठ मास में गंगा के किनारे वन में विहार करते हुए शिष्य अग्निवेश को बोले ॥ ३ ॥

दृश्यन्ते हि खलु सौम्य ! नक्षत्र-ग्रह-चन्द्र-सूर्यानिलानलानां दिशां चाऽप्रकृतिभूतानामृतुवैकारिका[1] भावाः, अचिरादितो भूरपि च न यथा-वद्रस-वीर्य-विपाक-प्रभावमोषधीनां प्रतिविधास्यति, तद्वियोगाच्चाऽऽतङ्क-प्रायता नियता। तस्मात्प्रागुद्ध्वंसात्प्राक् च भूमेर्विरसीभावादुद्धरध्वं सौम्य ! भैषज्यानि यावन्नोपहत-रस-वीर्य-विपाक-प्रभावाणि भवन्ति। वयं चैषां रसवीर्यविपाकप्रभावानुपयोक्ष्यामहे, ये चास्माननुकाङ्क्षन्ति यांश्च वयमनुकाङ्क्षामः, नहि सम्यगुद्धृतेषु भैषज्येषु सम्यग्विहितेषु सम्यग्विचारितेषु जनपदोद्ध्वंसकराणां विकाराणां किंचित्प्रतीकारगौरवं भवति ॥ ४ ॥

हे सौम्य ! नक्षत्र (अश्विनी आदि), ग्रह (बृहस्पति आदि), चन्द्रमा, सूर्य, वायु, अग्नि और दिशाओं के प्रकृति अर्थात् स्वाभाविक दशा में न होने पर ऋतु-विकार से उत्पन्न होनेवाले नाना परिणाम देखे जाते हैं। इधर पृथ्वी भी ओषधियों में रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव को शीघ्र उत्पन्न नहीं कर सकती, इसलिये प्रायः भयंकर रोगों का होना सम्भव होता है। अतः हे सौम्य ! जन-पदोद्ध्वंस अर्थात् देश भर को नाश कर देने वाले रोग होने से पूर्व तथा पृथ्वी के विरस (रसहीन या विपरीत रसवाली) होने से पूर्व ही औषधियों का संग्रह कर लो; जिस से कि इन ओषधियों के रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव सुरक्षित बने रहें, नष्ट न हों। हम इन ओषधियों के रस, वीर्य, विपाक और प्रभावका उपयोग करते हैं, जिन को हम चाहते हैं और जो हम को चाहते हैं, उनके लिये इन औषधियों का उपयोग करेंगे। ठीक समय पर ओषधियों के उखाड़ लेने पर, ठीक प्रकार से बना लेने पर और ठीक प्रकार से दोष आदि की अपेक्षा से प्रयोग करने पर जनपद-नाशक रोगों के प्रतीकार करने में कुछ भी कठिनाई नहीं होती ॥ ४ ॥

---

१. सुश्रुत में इस विकार को 'मरक' कहा है। यथा—

शीतोष्णवर्षाणि खलु विपरीतान्योषधीर्व्यापादयन्ति, तासामुपयोगाद् विविध-रोगप्रादुर्भावो मरको वा भवेत् ॥ सु० सूत्र० अ० ६

एवं वादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच-उद्धृतानि खलु भगवन्! भेषज्यानि विहितानि च सम्यक् सम्यग्विचारचारितानि च। अपि तु खलु जनपदोद्ध्वंसनमेकेनैव व्याधिना युगपदसमानप्रकृत्याहार-देह-बल-सात्म्य-सत्त्व-वयसां मनुष्याणां कस्माद्भवतीति ॥ ५ ॥

इस प्रकार से कहते हुए भगवान् आत्रेय को अग्निवेश बोले ! हे भगवन् ! ओषधियां ठीक प्रकार से इकट्ठी की गईं, ठीक प्रकार से बना ली जावेंगी और भली प्रकार से विचार कर ही ओषधियां दी जावेंगी। परन्तु भिन्न भिन्न प्रकृति, आहार, देह, बल, सात्म्य, सत्त्व और आयुवाले अनेक मनुष्यों का, देश भर को ध्वंस कर देने वाला एक ही प्रकार का रोग क्यों हो जाता है ॥५॥

तमुवाच भगवानात्रेयः—एवमसामान्यानामेभिरप्यग्निवेश ! प्रकृत्यादिभिर्भावैर्मनुष्याणां येऽन्ये भावाः सामान्यास्तद्वैगुण्यात्समानकालाः समानलिङ्गाश्च व्याधयोऽभिनिर्वर्त्तमाना जनपदमुद्ध्वंसयन्ति। ते तु खल्विमे भावाः सामान्यजनपदेषु भवन्ति। तद्यथा—वायुरुदकं देशः काल इति ॥ ६ ॥

भगवान् आत्रेय ने कहा। हे अग्निवेश ! इन प्रकृति आदि की भिन्नता होने पर भी जो अन्य कारण सब मनुष्यों में समान रूप से रहते हैं, उन में विकार आने से एक ही समय में, एक ही लक्षणोंवाले रोग उत्पन्न होकर जनपद का नाश कर देते हैं। जनपदों में निम्न कारण समान रूप से होते हैं। जैसे—वायु, जल, देश और काल ॥ ६ ॥

तत्र वातमेवंविधमनारोग्यकरं विद्यात्। तद्यथा—यथर्तुविषममतिस्तिमितमतिचलमतिपरुषमतिशीतमत्युष्णमतिरूक्षमत्यभिष्यन्दिनमतिभैरवारावमतिप्रतिहतपरस्परगतिमतिकुण्डलिनमसात्म्य - गन्ध - बाष्प-सिकता-पांशु-धूमोपहतमिति ॥ ७ ॥

इन में निम्न लक्षणोंवाले वायु को आरोग्यनाशक समझना चाहिये। जैसे—ऋतु के विपरीत, सर्वथा गतिरहित, बहुत वेग वाला, अति कर्कश, अति शीत, अति उष्ण, अतिरूक्ष, दोष, धातु, मल, स्रोतों में अति क्लिन्नता उत्पन्न करनेवाला, बहुत भीषण शब्द करनेवाला, परस्पर वायु से वायु का वेग खण्डित होता हो, आवर्त्त (भंवरों) वाला, हानिकारक-दुर्गन्ध वाला, बाष्प, सिकता (रेत), पांशु (धूलि) और धुंए से व्याप्त हो, तब वायु को अनारोग्यकारक (रोगकारक) समझना चाहिये ॥ ७ ॥

उदकं तु खल्वत्यर्थ-विकृत-गन्ध-वर्ण-रस-स्पर्शवत्क्लेदबहुलमपक्रान्त-जलचरविहङ्गमुपक्षीणजलाशयमप्रीतिकरमपगतगुणं विद्यात् ॥ ८ ॥

जल—जिस पानी का गन्ध,रस,वर्ण और स्पर्श बहुत अधिक विकृत हो गया हो, जिस में क्लेद (सडांद) बहुत उठे, जिस पानी को जलचारी पक्षी छोड़कर चले गये हों, जिस पानी में रहने वाली मछलियां नष्ट हो गई हों और जलाशय भी कमती हो गया हो, इस प्रकार के पानी को अप्रिय और गुणरहित जाने ॥८॥

देशं पुनर्विकृत-वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-क्लेद-बहुलमुपसृष्टं सरीसृप-व्याल-मशक-शलभ-मक्षिका-मूषकोलूक-श्माशानिक-शकुनि-जम्बुकादिभिस्तृणोलूपोपवनवन्तं लताप्रतानादिबहुलमपूर्ववदवपतितं शुष्कनष्टशस्यं धूम्रपवनं प्रध्मातपतत्रिगणमुत्क्रुष्टश्वगणमुद्भ्रान्त-व्यथित-विविध-मृग-पक्षि-सङ्घमुत्सृष्ट-नष्ट-धर्म-सत्य-लज्जाचार-शील-गुण-जनपदं शश्वत्क्षुभितोदीर्णसलिलाशयं प्रततोल्कापातनिर्घातभूमिकम्पमतिभयारावरूपं रूक्ष-ताम्रारुणसिताभ्र-जाल-संवृतार्क-चन्द्र-तारकमभीक्ष्णं ससंभ्रमोद्वेगमिव सत्रासरुदितमिव सतमस्कमिव गुह्यकाचरितमिवाऽऽक्रन्दितशब्दबहुलमिव चाहितं विद्यात् ॥ ९ ॥

देश—जिस स्थान का वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श विकृत हो गया हो, क्लेद बहुल हो, जिस स्थान में सरीसृप (सरकने वाले सांप आदि जन्तु), व्याल (सिंह, चीते आदि), मशक (मच्छर) शलभ (पतंगे), मक्खियां मूषक (चूहे), उलूक (उल्लू), श्मशान में रहने वाले पक्षी गीध, चील, गीदड़ आदि का उपद्रव हो, जहां पर ये बहुत हों, जहां पर तृण, घास, लता आदि बहुत हों, जो पहिले से एकदम नया ही दीखे, जहां पर अनाज के खेत सूख या नष्ट हो गये हों, जहां की वायु धुंवाली हो, जहां पर पक्षीगण घोर शब्द करते हों, जहां पर कुत्ते मुंह उठा कर रोते हों, जहां पर घबराये और पीड़ित नाना प्रकार के मृग-पशु-पक्षीसमूह हों, जिन नगरों में से धर्म, सत्य, लज्जा, आचार, शील, दया, दाक्षिण्य आदि गुण नष्ट हो गये हों, जहाँ के तालाबों का पानी विना वायु के भी निरन्तर क्षुभित और तरंगों वाला रहे, जहां पर उल्कापात, बिजली आदि का गिरना, भूकम्प आदि लगातार हों और भयंकर शब्द उत्पन्न होता हो, जहां पर सूर्य, चन्द्र और तारे रूखे, तांबे के से, लाल, काले, बादलों से ढपे दिखाई देवे, जहां पर बार बार भ्रम, उद्वेग, के साथ, भय के साथ रोने का सा शब्द सुने, अन्धकार सा हो, जो गुह्यक (यक्ष) आदि देवयोनियों से आक्रान्त सा हो, तथा रोने के से शब्दों से व्याप्त हो देश को अनारोग्यकारक समझना चाहिये ॥ ९ ॥

कालं तु खलु यथर्तुलिङ्गाद्विपरीतलिङ्गमतिलिङ्गं हीनलिङ्गं चाहितं व्यवस्येत् ॥ १० ॥

काल—शीत, उष्ण और वर्षा इन ऋतुओं के अपने लक्षणों से विपरीत होना या उन लक्षणों का अधिक होना या कम होना (मिथ्यायोग, अतियोग और अयोग) अनारोग्यकारक होता है ॥ १० ॥

इमानेवं दोषयुक्तांश्चतुरो भावान् जनपदोद्ध्वंसकरान् वदन्ति कुशलाः । अतोऽन्यथाभूतांस्तु हितानाचक्षते ॥ ११ ॥

विगुणेष्वपि तु खल्वेतेषु जनपदोद्ध्वंसनकरेषु भेषजेनोपपाद्यमानानामभयं भवति रोगेभ्य इति ॥ १२ ॥

निपुण वैद्य इस प्रकार के दोषों वाले वायु, जल, देश और काल इन चारों को जनपद-नाश का कारण मानते हैं। इनसे विपरीत लक्षणों वाले इन चारों को आरोग्यकारक गिनते हैं। इन चारों के विगुण होने व जनपद के नाशक कारणों के उपस्थित होने पर भी, दोष और दूष्य की अपेक्षा करके औषध द्वारा चिकित्सा करने पर पुरुषों को रोग नहीं होते, वे पुरुष रोगों से बचे रहते हैं ॥ ११–१२ ॥

भवन्ति चात्र—वैगुण्यमुपपन्नानां देशकालानिलाम्भसाम् ।
गरीयस्त्वं विशेषेण हेतुमत्संप्रवक्ष्यते ॥ १३ ॥
वाताज्जलं जलाद्देशं, देशात्कालं, स्वभावतः ।
विद्याद् दुष्परिहार्यत्वाद् गरीयस्तरमर्थवित् ॥ १४ ॥
वाय्वादिषु यथोक्तानां दोषाणां तु विशेषवित् ।
प्रतीकारस्य सौकर्ये विद्याल्लाघवलक्षणम् ॥ १५ ॥

विकृत हुए देश, काल, वायु, और जल इनमें कारण के विचार-अनुसार किसका उत्कर्ष है इसका वर्णन करते हैं। यथार्थ तत्त्व को जानने वाला वैद्य स्वभाव से वायु से जल को, जल से देश को, देश से काल को बढ़ कर समझे। क्योंकि इनका त्याग नहीं किया जा सकता। यदि वायु खराब हो तो दूसरे स्थान पर सुगमता से जाया जा सकता है। जल तो जीवन के लिये सेवन करना आवश्यक है। यदि प्रयत्न से जल को भी छोड़ दें, देश से बचना कठिन है। देश से भी यदि देशान्तर में जायें तो काल से बचना अशक्य है। इसलिये सबसे अधिक प्रबल काल है। वायु, जल, देश और काल इन चारों के दोषों को दूर करने के उपाय जाने और दोषों के प्रतिकार के सुगम होने और कठिन होने पर इनके शान्ति के लक्षण भी जाने ॥ १३–१५ ॥

चतुर्ष्वपि तु दुष्टेषु कालान्तेषु यदा नराः ।
भेषजेनोपपाद्यन्ते न भवन्त्यातुरास्तदा ॥ १६ ॥

वायु आदि इन चारों के विकृत होने पर भी जब पुरुष औषध सेवन करते हैं तब रोगी नहीं होते ॥ १६ ॥

येषां न मृत्युसामान्यं सामान्यं न च कर्मणाम् ।
कर्म पञ्चविधं तेषां भेषजं परमुच्यते ॥ १७ ॥
रसायनानां विधिवच्चोपयोगः प्रशस्यते ।
शस्यते देहवृत्तिश्च भेषजैः पूर्वमुद्धृतैः ॥ १८ ॥

जिन पुरुषों में मरण की समानता नहीं और न कर्मों की समानता है, उनके लिये तो वमन, विरेचन आदि पञ्च कर्म सबसे श्रेयस्कर उपाय हैं । इसके साथ में विधिपूर्वक रसायन (वृष्य प्रयोगों) का सेवन करना चाहिये । तथा व्यापत्ति से पूर्व एकत्र की हुई औषधियों (अन्न आदि) से शरीर का पालन करना चाहिये ॥ १७–१८ ॥

सत्यं भूते दया दानं बलयो देवतार्चनम् ।
सद्वृत्तस्यानुवृत्तिश्च प्रशमो गुप्तिरात्मनः ॥ १९ ॥
हितं जनपदानां च शिवानामुपसेवनम् ।
सेवनं ब्रह्मचर्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम् ॥ २० ॥
संकथा धर्मशास्त्राणां महर्षीणां जितात्मनाम् ।
धार्मिकैः सात्त्विकैर्नित्यं सहास्या वृद्धसंमतैः ॥ २१ ॥
इत्येतद्भेषजं प्रोक्तमायुषः परिपालनम् ।
येषामनियतो मृत्युस्तस्मिन् काले सुदारुणे ॥ २२ ॥

सत्य, प्राणियों में दया, दान, बलि, देवता की अर्चना, सद् वृत्त का पालन, इन्द्रियों को विषयों से रोकना, अपनी रक्षा, अविकृत (अच्छे, जहाँ बीमारी न हो) जनपदों (देशों) का सेवन करना, ब्रह्मचर्य तथा ब्रह्मचारियों का सेवन करना, उनके पास रहना, धर्मशास्त्रों की कथा तथा जितात्मा महर्षियों से बातचीत करना, धार्मिक सत्त्वप्रकृति के वृद्धों के पास उठना-बैठना, (तथा दैवव्यपाश्रय कर्म का सेवन), आयु की रक्षा के लिये औषध है । जिन लोगों की मृत्यु इस दारुण काल में निश्चित (अवश्यम्भावी) नहीं है, उन के लिये उपरोक्त कर्म औषध हैं ॥१९–२२॥

इति श्रुत्वा जनपदोद्ध्वंसने कारणान्यात्रेयस्य भगवतः पुनरपि भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—अथ खलु भगवन् ! कुतो मूलमेषां वाय्वादीनां वैगुण्यमुत्पद्यते, येनोपपन्ना जनपदमुद्ध्वंसयन्तीति ॥२

जनपद-नाश के इन कारणों को सुन कर भी अग्निवेश ने भगवान् आत्रेय से पूछा—हे भगवन्! वायु आदि में किस कारण से विगुणता उत्पन्न होती है, जिस से विकृत होकर ये जनपदों को नाश करते हैं ॥२३॥

तमुवाच भगवानात्रेयः—सर्वेषामप्यग्निवेश! वाय्वादीनां यद्वैगुण्यमुत्पद्यते तस्य मूलमधर्मः, तन्मूलं वाऽसत्कर्म पूर्वकृतम्। तयोर्योनिः प्रज्ञापराध एव। तद्यथा—यदा देश-नगर-निगम-जनपद-प्रधाना धर्ममुत्क्रम्याधर्मेण प्रजां वर्तयन्ति, तदाश्रितोपाश्रिताः पौरजनपदा व्यवहारोपजीविनश्च तमधर्ममभिवर्धयन्ति, ततः सोऽधर्मः प्रसभं धर्ममन्तर्धत्ते, ततस्तेऽन्तर्हितधर्माणो देवताभिरपि त्यज्यन्ते, तेषां तथाऽन्तर्हितधर्माणामधर्मप्रधानानामपक्रान्तदेवतानामृतवो व्यापद्यन्ते, तेन नापो यथाकालं देवो वर्षति, न वा वर्षति, विकृता वा वर्षति, वाता न सम्यगभिवान्ति, क्षितिर्व्यापद्यते, सलिलान्युपशुष्यन्ति, ओषधयः स्वभावं परिहायाऽऽपद्यन्ते विकृतिम्, तत उद्ध्वंसन्ते जनपदाः स्पर्शाभ्यवहार्यदोषात्॥ २४॥

अग्निवेश को भगवान् आत्रेय ने कहा। इन वायु आदि सब में जो विगुणता उत्पन्न होती है, उसका मूल कारण अधर्म है। इस अधर्म का मूल कारण पूर्व किये और असत् कर्म (अहित कर्म) हैं। इन दोनों अधर्म और असत् कर्मों की उत्पत्ति का कारण प्रज्ञापराध अर्थात् बुद्धि का दोष है। जिस समय देश, नगर, प्रान्त और जनपद के अध्यक्ष (प्रधान शासक जन) धर्मका अतिक्रमण करके अधर्म से प्रजाजनों के साथ व्यवहार करने लगते हैं, तब इन प्रधान जनों के आश्रित एवं पीछे चलने वाले नगर और जनपद वासी लोग तथा वाणिज्य व्यवहार वा अदालत द्वारा जीविका प्राप्त करने वाले मनुष्य इस अधर्म को और भी बढ़ाते हैं। इस प्रकार से बढ़ा हुआ अधर्म बलात् धर्म का लोप कर देता है। इस धर्म के लोप हो जाने से देवता लोग नागरिकों के लोगों का साथ छोड़ देते हैं. इस प्रकार से अधर्म की प्रधानता होने और देवता आदि का सहयोग छूट जाने पर ऋतुएं (शीत, उष्ण और वर्षा) विकृत हो जाती हैं। इस से देव (मेघ) ठीक समय पर वर्षा नहीं करता, सर्वथा नहीं करता अथवा विकृत रूप में जल बरसता है, वायुएँ भी भली प्रकार नहीं चलतीं, भूमि बिगड़ जाती है, पानी सूख जाते हैं। ओषधियां अपनी प्रकृति को छोड़ कर विकृति को प्राप्त हो जाती हैं। तब स्पर्श और आहार के दोष से जनपद नष्ट होने लगते हैं ॥ २४ ॥

तथा शस्त्रप्रभवस्यापि जनपदोद्ध्वंसस्याधर्म एव हेतुर्भवति । तेऽतिप्रवृद्ध-लोभ-रोष-मोह-मानास्ते दुर्बलानवमत्याऽऽत्मस्वजनपरोपघाताय शस्त्रेण परस्परमभिक्रामन्ति, परान्वाऽतिक्रामन्ति, परैर्वाऽभिक्राम्यन्ते ॥ २५ ॥

रक्षोगणादिभिर्वा विविधैर्भूतसङ्घैस्तमधर्ममन्यद्वाऽप्यपचारान्तरमुपलभ्याभिहन्यन्ते ॥ २६ ॥

शस्त्र से होने वाले युद्ध आदि में भी जो जनपद का नाश होता है उस का भी कारण अधर्म ही है । जिन पुरुषों में लोभ, क्रोध, मान बहुत बढ़ा होता है, वे दुर्बल पुरुषों का तिरस्कार करके अपने और दूसरों के नाश के लिये परस्पर शस्त्रों से आक्रमण करते हैं । इस अवस्था में राक्षस आदि नाना प्रकार के भूत (प्राणि) समूह इस अधर्म या इसी प्रकार के अन्य अपचारों से इन पर आघात करते हैं ॥२५-२६॥

तथाऽभिशापप्रभवस्याप्यधर्म एव हेतुर्भवति । ये लुप्तधर्माणो धर्मादपेतास्ते गुरु-वृद्ध-सिद्धर्षि-पूज्यानवमत्याहितान्याचरन्ति, ततस्ताः प्रजा गुर्वादिभिरभिशप्ता भस्मतामुपयान्ति प्रागेवानेकपुरुषकुलविनाशाय नियतप्रत्ययोपलम्भान्नियता अनियतप्रत्ययोपलम्भादनियताश्चापरे॥२७॥

इसी प्रकार अभिशाप से देश के नाश होने का भी मुख्य कारण अधर्म ही है । जिन देशों में धर्म लुप्त हो जाता है और जो धर्म से च्युत हो जाते हैं; वे गुरु, वृद्ध, सिद्ध, ऋषि, पूज्य पुरुषों का तिरस्कार करके अहित कार्यों का सेवन करने लगते हैं । तब वे प्रजाएं गुरुजनों से शप्त होकर शीघ्र ही भस्म हो जाती हैं । अनेक पुरुषों के कुल विनाश के लिए जहां विशेष पुरुषों के अपराध होते हैं वहां वे ही नष्ट होते हैं और जहां निश्चित कारण नहीं होता वहां अनियमित रूप से अनेक अन्य भी नष्ट हो जाते हैं ॥ २७ ॥

प्रागपि चाधर्मादृते नाशुभोत्पत्तिरन्यतोऽभूत्, आदिकाले ह्यदितिसुतसमौजसोऽतिबलविपुलप्रभावाः प्रत्यक्ष-देवर्षि-धर्म-यज्ञ-विधि-विधानाः शैलेन्द्र-सार-संहत-स्थिर-शरीराः प्रसन्नवर्णेन्द्रियाः पवन-सम-बल-जव-पराक्रमाश्चारुस्फिचोऽभिरूपप्रमाणाकृतिप्रसादोपचयवन्तः सत्यार्जवानृशंस्य-दान-दम-नियम-तपउपवास-ब्रह्मचर्य-व्रतपरा व्यपगत-भय-राग-द्वेष-मोह-लोभ-क्रोध-शोक-मान-रोग-निद्रा-तन्द्रा-श्रम-क्लमालस्य-परिग्रहाश्च पुरुषा बभूवुरमितायुषः । तेषामुदारसत्त्वगुणकर्मणामचिन्त्य-रस-वीर्य-विपाक-प्रभाव-गुण-समुदितानि प्रादुर्बभूवुः सस्यानि सर्वगुणसमुदितत्वात्पृथिव्यादीनां कृतयुगस्याऽऽदौ ।

रोग आदि की उत्पत्ति का मूल कारण—पहले भी अधर्म के बिना किसी अन्य कारण से रोग आदि अशुभों की उत्पत्ति नहीं हुई। कृतयुग में देवों के समान तेज-पराक्रम वाले, अति बलवान्, विशाल प्रभाव वाले, देव, देवर्षि, धर्म, यज्ञ विधि आदि सत्कर्मों को प्रत्यक्ष देखने वाले, पर्वत के समान दृढ़, संगठित, स्थिर शरीर वाले, निर्मल वर्ण (कान्ति), और इन्द्रियों से युक्त, वायु के समान बल, वेग और पराक्रमवाले, सुन्दर नितम्बवाले, वायु के अनुकूल अवयव परिमाण, आकृति और प्रसादवाले और गुणों और पुष्टि से युक्त, सत्य, आर्जव (ऋजुता, नम्रता), अनृशंसता (दया), दम, दान, नियम, तप, उपवास, ब्रह्मचर्य और व्रतों में तत्पर, भय, राग, द्वेष, मोह, लोभ, क्रोध, शोक, मान, रोग, निद्रा, तन्द्रा, श्रम, क्लम, आलस्य, परिग्रह इन से रहित और अमित (युगों के अनुसार दीर्घ) आयु वाले पुरुष थे। सत्य युग के प्रारम्भ में इन पुरुषों के उदारचित्त और गुणों, धार्मिक कर्मों के अचिन्त्य प्रभाव से पृथिवी आदि महाभूतों के सर्वगुणसम्पन्न होने से सस्य (धान्य) भी रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव और गुणों वाले उत्पन्न होते थे।

भ्रश्यति तु कृतयुगे केषांचिदत्यादानात्सांपन्निकानां शरीरगौरवमासीत्। शरीरगौरवात् श्रमः श्रमादालस्यं, आलस्यात् संचयः, संचयात् परिग्रहः, परिग्रहाल्लोभः प्रादुर्भूतः कृते ॥२८॥

कृतयुग के उतरते हुए अन्तिम भाग से कुछ सम्पन्न धनी लोगों के अति-भोजन से शरीर में भारीपन आ गया। शरीर में भारीपन आने से श्रम, श्रम से आलस्य, आलस्य से संचय (इकट्ठा करने की बुद्धि), संचय से परिग्रह (ममता) और परिग्रह से लोभ उत्पन्न हुआ॥ २८॥

ततस्त्रेतायां लोभादभिद्रोहः,अभिद्रोहादनृतवचनं,अनृतवचनात्काम-क्रोध-मान-द्वेष-पारुष्याभिघात-भय-ताप-शोक-चित्तोद्वेगादयः प्रवृत्ताः। ततस्त्रेतायां धर्मपादोऽन्तर्धानमगमत्, तस्यान्तर्धानात् (युगवर्षप्रमाणस्य पादह्रासः) पृथिव्यादीनां गुणपादप्रणाशोऽभूत्, तत्प्रणाशकृतश्च सस्यानां स्नेह-वैमल्य-रस-वीर्य-विपाक-प्रभाव-गुण-पाद-भ्रंशः। ततस्तानि प्रजाशरीराणि हीयमानगुणपादैश्चाऽऽहारविहारैरयथापूर्वमुपष्टभ्यमानान्यग्निमारुतपरीतानि प्राग्व्याधिभिर्ज्वरादिभिराक्रान्तानि, अतः प्राणिनो ह्रासमवापुरायुषः क्रमश इति॥ २९॥

फिर त्रेता में लोभ से अभिद्रोह, अभिद्रोह से असत्य भाषण, असत्य भाषण काम, क्रोध, मान, द्वेष, कठोर वचन, अभिघात (परस्पर हिंसा), भय,

ताप, शोक, चिन्ता, उद्वेग आदि उत्पन्न हुए। इन के पीछे त्रेता में धर्म का एक चरण लोप हो गया। इस धर्म के एक पांव के लोप होने से आहार-विहार के गुणों का भी एक चतुर्थांश नष्ट हो गया। साथ में पृथिवी आदि के गुणों में भी एक चौथाई कमी आ गई। इस कमी के कारण धान्यों के स्नेह, निर्मलता, रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव में भी चतुर्थांश घटती हो गई। इस से पुरुषों के शरीर के गुणों में चतुर्थांश की कमी होने से, आहार विहार के गुणों में भी घटती होने से, पूर्व युग के समान वे अग्नि, वायु वाले नहीं रहे। अग्नि, वायु के गुणों में भी कमी आ गई। इसलिये ज्वर आदि रोगों से प्रथम प्रथम आक्रान्त हुए। अतः कृतयुग से प्राणियों की आयु में एक एक चतुर्थांश की कमी हुई ॥ २९ ॥

भवतश्चात्र—युगे युगे धर्मपादः क्रमेणानेन हीयते।
गुणपादश्च भूतानामेवं लोकः प्रलीयते ॥ ३० ॥
संवत्सरशते पूर्णे याति संवत्सरः क्षयम्।
देहिनामायुषः काले यत्र यन्मानमिष्यते ॥ ३१ ॥
इति विकाराणां प्रागुत्पत्तिहेतुरुक्तो भवति।

इस क्रम से प्रत्येक युग में धर्म का एक एक पाद (चतुर्थांश) क्षीण होता जाता है। इसी क्रम से पृथिवी आदि भूतों के गुणों में भी एक एक पाद की कमी होती जाती है। अर्थात् सत्य युग में चार पाद, त्रेता में तीन पाद, द्वापर में दो और कलियुग में एक पाद शेष रह जाता है। इस प्रकार से लोक प्रलय को प्राप्त होते हैं। जिस युग में मनुष्यों की आयु और युग का जो जो परिमाण है, उस युगमान के सौ वर्ष पूर्ण होने पर आयु का एक एक वर्ष कम हो जाता है। जैसे कलियुग में सौ वर्ष की आयु है। युगमान १०० वर्ष पूर्ण होने पर एक वर्ष कम होकर निन्यानवें (९९) वर्ष परमायु होती है। यह रोगों के प्रथम उत्पत्ति का कारण कह दिया ॥ ३१ ॥

एवं वादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—किं नु खलु भगवन्! नियतकालप्रमाणमायुः सर्वं न वेति ॥ ३२ ॥

इस प्रकार कहते हुए भगवान् आत्रेय से अग्निवेश ने पूछा—भगवन्! क्या आयु का समय और परिमाण सब निश्चत है वा अनिश्चित? ॥ ३२ ॥

भगवानुवाच—इहाग्निवेश! भूतानामायुर्युक्तिमपेक्षते ॥ ३३ ॥
दैवे पुरुषकारे च स्थितं ह्यस्य बलाबलम्।

भगवान् आत्रेय ने कहा—हे अग्निवेश ! प्राणियों की आयु, दैव और पुरुषकार इन दोनों का योग चाहती है। इसलिये आयु का बल और अबल दैव और पुरुषार्थ पर स्थित है ॥ ३३ ॥

दैवमात्मकृतं विद्यात्कर्म यत्पौर्वदैहिकम् ॥ ३४ ॥
स्मृतः पुरुषकारस्तु क्रियते यदिहापरम् ।
बलाबलविशेषोऽस्ति तयोरपि च कर्मणोः ॥ ३५ ॥

अपने शरीर से जा कर्म पूर्व जन्म में किये हों उन को 'दैव' जाने। और इस जन्म में जो कर्म किया जाता है उसे पुरुषकार कहा है। इन दोनों प्रकार के कर्मों का विशेष बल और अबल होता है ॥ ३४-३५ ॥

दृष्टं हि त्रिविधं कर्म हीनं मध्यममुत्तमम् ।

यह कर्म भी तीन प्रकार का है। हीन, मध्यम और उत्तम।

तयोरुदारयोर्युक्तिर्दीर्घस्य च सुखस्य च ॥ ३६ ॥
नियतस्याऽऽयुषो हेतुर्विपरीतस्य चेतरा ।

तीन प्रकार की आयु—दैव और पुरुषकार दोनों प्रकार के कर्म उत्तम होने से आयु का परिमाण अर्थात् नियत काल दीर्घ होता है। सुखकारक एवं हितकारक आयु मिलती है और यदि इन दोनों प्रकार के कर्मों में विपरीत युक्ति हो तो आयु अनियत, छोटी, दुःखी एवं अहितकारक रहती है ॥ ३६ ॥

मध्यमा मध्यमस्येष्टा,कारणं शृणु चापरम् ॥ ३७ ॥
दैवं पुरुषकारेण दुर्बलं ह्युपहन्यते ।
दैवेन चेतरत्कर्म विशिष्टेनोपहन्यते ॥ ३८ ॥

इन कर्मों में मध्यम बल हो तो आयु भी मध्यम प्रकार की रहती है। और भी कारण सुनो। जहां पर एक कर्म बलवान् हो, दूसरा निर्बल हो, वहां पर बलवान् दुर्बल कारण को दबा लेता है। इसलिये यदि पुरुषकार-कर्म बलवान् होगा तो निर्बल दैव को दबा लेगा और यदि दैव बलवान् होगा तो वह दूसरे कर्म (पुरुषकार) को नष्ट कर देगा। निर्बल को बलवान् दबा लेता है ॥३८॥

दृष्ट्वा यदेके मन्यन्ते नियतं मानमायुषः ।
कर्म किंचित् क्वचित्काले विपाके नियतं महत् ।
किंचित्त्वकालनियतं प्रत्ययैः प्रतिबोध्यते ॥ ३९ ॥

इस बात को देख कर कुछ विद्वान् आयु का परिमाण निश्चित मानते हैं। किसी बलवान् कर्म का तो किसी विशेष निश्चित समय में ही परिपाक होता है और किसी का विपाक काल अनिश्चित है, कभी भी उसका पाक हो सकता है।

कौन कर्म कब पकेगा इस बात का निर्णय कारणों से किया जाता है। कभी सहकारी अन्य कारण को पाकर कर्म का पाक होता है। किया कर्म अवश्य भोगना पड़ता है। इस प्रकार कर्म के परिपाक काल के नियम और अनियत होने से आयु भी नियत तथा अनियत है ॥ ३९ ॥

तस्मादुभयदृष्टत्वादेकान्तग्रहणमसाधु। निदर्शनमपि चात्रोदाहरिष्यामः। यदि हि नियतकालप्रमाणमायुः सर्वं स्यात्, तदायुष्कामानां न मन्त्रौषधि-मणि-मङ्गल-बल्युपहार-होम-नियम-प्रायश्चित्तोपवास-स्वस्त्ययन-प्रणिपात-गमनाद्याःक्रिया इष्टयश्च प्रयुज्येरन्,नोद्भ्रान्त-चण्ड-चपल-गो-गजोष्ट्र-खर-तुरग-महिषादयः पवनादयश्च दुष्टाः परिहार्याः स्युर्न प्रपात-गिरि-विषम-दुर्गाम्बुवेगास्तथा न प्रमत्तोन्मत्तोद्भ्रान्त-चण्ड-चपल-मोह-लोभाकुलमतयो नारयो न प्रवृद्धोऽग्निर्न च विविधविषाश्रयाः सरीसृपोरगादयः, न साहसं नादेशकालचर्या, न नरेन्द्रप्रकोप इत्येवमादयो हि भावा नाभावकराः स्युः, आयुषः सर्वस्य नियतकालप्रमाणत्वात् ॥४०॥

इसलिये नियत और अनियत दोनों प्रकार की आयु के दीखने से कोई एक पक्ष अर्थात् आयु का नियत वा अनियत काल मानना यह ठीक नहीं है। इस के लिये उदाहरण भी देते हैं:—यदि आयु का परिमाण नियत मान लिया जाय तो दीर्घायु चाहने वाले मनुष्य आयु को बढ़ाने वाले मंत्र, ओषधि, क्रिया, इष्टि, याग, मणि, मंगल, बलि, उपहार, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास स्वस्त्ययन, प्रणिपात, गमनादि क्रियाओं को न किया करें। इसी प्रकार इधर उधर दौड़ते हुए भयानक, चपल, गौ, हाथी, ऊंट, गधे, घोड़े, भैंसे आदि तथा दुष्ट वायु आदि से कोई भी अपने को न बचावे, न कोई उन को दूर करने का यत्न करें। प्रपात (जल-प्रपात), पहाड़, कठिन दुर्ग, पानी के वेग से कोई अपने को न बचावें। मस्त, उन्मत्त, भ्रान्त, चण्ड, चपल, मोह, लोभ से व्याप्त बुद्धि वालों से अपने को न बचावें, शत्रु को भी निवारण न करें। तेज़ जलती अग्नि से कोई न डरे। विविध प्रकार के विषैले पदार्थों और सर्प आदि जन्तुओं से कोई भय न माने। अनुचित बल के आरम्भ से न बचे। देश काल के विपरीत आचरण से अपने को न बचावें। राजा का प्रकोप भी मृत्यु का कारण न बन सके। इन समस्त कारणों से भी आयु का नाश न हो। क्योंकि सब की आयु का काल और परिमाण नियत है। आयु के नियत काल होने से यह कारण भी मारक नहीं बनने चाहियें। मृत्यु के भय से ही लोग इन कारणों से बचते हैं ॥ ४० ॥

न चानभ्यस्ताकाल-मरण-भय-निवारकाणामकालमरणभयमागच्छेत्प्राणिनां,ऽयर्थाश्चाऽऽरम्भकथाप्रयोगबुद्धयःस्युर्महर्षीणां रसायनाधिकारे, नापीन्द्रो नियतायुषं शत्रुं वज्रेणाभिहन्यात्, नाश्विनावार्तं भेषजेनोपपादयेतां, न महर्षयो यथेष्टमायुस्तपसा प्राप्नुयुः, नच विदितवेदितव्या महर्षयः ससुरेशा रसायनादीनि सम्यक् पश्येयुरुपदिशेयुराचरेयुर्वा ।

अकाल मरण के भय का निवारण करने वाले अनभ्यासी प्राणियों को अकाल मृत्यु के कारणों से भय भी न हो। महर्षियों के रसायनाधिकार में कहे हुए उपदेश, प्रयोग और ज्ञान ये सब व्यर्थ हो जायें। नियत आयुवाले शत्रु को इन्द्र भी वज्र से नहीं मार सके। अश्विनीकुमार भी रोगी पुरुष को औषधियों से चिकित्सा न कर सकें। और महर्षिगण तप द्वारा वांछित वर्षों तक की आयु भी प्राप्त न कर सके। सर्वज्ञ महर्षिगण इन्द्र के साथ आयुवर्धक रसायनादि को न देखें, न उपदेश करें और न स्वयं व्यवहार करें। क्योंकि आयु का काल और परिमाण तो निश्चित है।

अपि च सर्वचक्षुषामेतत्परं यदैन्द्रं चक्षुः, इदं चास्माकं प्रत्यक्षं, यथा पुरुषसहस्राणामुत्थायोत्थायाऽऽहवं कुर्वतामकुर्वतां चातुल्यायुष्ट्वं, तथा जातमात्राणामप्रतीकारात् प्रतीकाराच्चाविषविषप्राशिनां चाप्यतुल्यायुष्ट्वं, न च तुल्यो योगः क्षेम उदपानघटानां चित्रघटानां चोत्सीदतां, तस्माद्धितोपचारमूलं जीवितमतो विपर्ययान्मृत्युः ।

सब आंखों से श्रेष्ठ प्रमाण यह इन्द्र (आत्मा) की आंख है—हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि हजारों मनुष्य प्रतिदिन उठ उठ कर शस्त्रों से लड़ाई करते हैं, नहीं भी करते हैं, उन सब की आयु तुल्य नहीं होती अर्थात् लड़ने वाले मरते और न लड़ने वाले नहीं मरते हैं। इसी प्रकार उत्पन्न हुए संन्यास रोहिणी आदि रोगों की जो तत्काल चिकित्सा कर लेते हैं वे बच जाते हैं और जो चिकित्सा नहीं करते वे मरते हैं। इसी प्रकार विष खाने वाले मरते हैं और विष नहीं खाने वाले नहीं मरते। पानी रखने या लाने के लिये जो पक्के घड़े बनाये जाते हैं उन का तथा चित्र घटों (कच्चे घड़ों) का योग-क्षेम समान नहीं हो सकता। वे समान काल तक स्थिर नहीं रह सकते। किन्तु रक्षण करने से कच्चे घड़े भी देर तक रह सकते हैं और न पालने से पक्के घड़े भी शीघ्र टूट जाते हैं। इसलिये हितकारी वस्तुओं वा कार्यों का सेवन करना ही जीवन का निमित्त है। इस के विपरीत अहिताचरण करना मृत्यु का कारण है।

अपि च देशकालात्मगुणविपरीतानां कर्मणामाहारविहाराणां च

क्रियोपयोगं सम्यक् सर्वातियोगसंधारणमसंधारणमुदीर्णानां च गतिमतां साहसानां च वर्जनमारोग्यानुवृत्तौ हेतुमुपलभामहे उपदिशामः सम्यक् पश्यामश्चेति ॥ ४१ ॥

और भी, देश, काल, आत्मा इन के गुणों के सात्म्य, कर्म तथा आहार द्रव्यों को विधिपूर्वक उपयोग करना, काल, कर्म और इन्द्रियार्थों के अयोग, मिथ्यायोग और अतियोग का त्याग, अनुपस्थित वेगों को रोकना (बलात्कार से बाहर न करना) और उपस्थित वेगों को न रोकना और सब प्रकार के साहसिक कर्मों (अनुचित बल के कार्यों) का त्याग, ये सब बातें आरोग्य के संरक्षण में कारण होती है। इस स्वस्थवृत्त का हम भली प्रकार उपदेश करते हैं और इसे अच्छी प्रकार देखते भी हैं ॥४१॥

अतः परमग्निवेश उवाच—एवं सत्यनियतकालप्रमाणायुषां भगवन्! कथं कालमृत्युरकालमृत्युर्वा भवतीति ॥४२॥

इस के अनन्तर अग्निवेश बोले! इस प्रकार से यदि आयु का समय अनिश्चित है, तब कालमृत्यु और अकालमृत्यु किस प्रकार होती है? ॥४२॥

तमुवाच भगवानात्रेयः—श्रूयतामग्निवेश! यथा यानसमायुक्तोऽक्षः प्रकृत्यैवाक्षगुणैरुपेतः (स्यात्, स च) सर्वगुणोपपन्नो वाह्यमानो यथाकालं स्वप्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छेत्, तथाऽऽयुः शरीरोपगतं बलवत्प्रकृत्या यथावदुपचर्यमाणं स्वप्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छति, स मृत्युः काले।

भगवान् आत्रेय ने कहा—हे अग्निवेश सुनो! जिस प्रकार गाड़ी में लगा अक्ष (धुरा), धुरे के समस्त गुणों से युक्त होने पर भी अधिक भार आदि के न पड़ने से, ठीक समय में अपने परिमाण के क्षय होने पर घिसता २ टूट जाता है, उसी प्रकार शरीर से सम्बद्ध आयु भी बलवान् प्रकृति, युक्ति तथा स्वस्थवृत्तविधि से पाली हुई, अपने समय में ही क्षय को प्राप्त होती है, इस मृत्यु को 'कालमृत्यु' कहते हैं।

यथा च स एवाक्षोऽतिभाराधिष्ठितत्वाद्विषमपथादपथादक्षचक्रभङ्गाद्वाह्यवाहकदोषादणिमोक्षात् पर्यसनादनुपाङ्गाच्चान्तरा व्यसनमापद्यते, तथाऽऽयुरप्ययथाबलमारम्भादयथाग्न्यभ्यवहरणाद्विषमाभ्यवहरणाद्विषमशरीरन्यासादतिमैथुनादसत्संश्रयादुदीर्णवेगविनिग्रहाद्विधार्यवेगाविधारणाद् भूतविषवाय्वग्न्युपतापादभिघातादाहारप्रतीकारवर्जनाच्च यावदन्तरा व्यसनमापद्यते। तथा नियतायुष अन्तरा

राद्याभिरुध्यन्ते। स मृत्युरकाले। तथा ज्वरादीनप्यातङ्कान्मिथ्योपचरितानकालमृत्यून् पश्याम इति ॥४३॥

और यदि इसी अक्ष पर बहुत अधिक भार रक्खा जाय, अथवा विषम मार्ग से, कुमार्ग से, धुरे या पहिये के टूटने से, बैल या वाहक (सारथि) के दोष से, अणि, धुरी में लगी कील के निकल जाने से, स्नेह न पड़ने से, गिरने से नियत समय से पूर्व ही टूट जाता है उसी प्रकार आयु भी साहसिक कार्यों से, अग्नि के अनुसार भोजन न करने या विषम भोजन करने से, अतिमैथुन से, उपस्थित वेगों को रोकने से, रोकने योग्य (काम क्रोधादि) वेगों को न रोकने से, शरीर को विषम स्थिति में रखने से (उत्कट आसन बैठने से), दुर्जनों का संसर्ग करने से, भूत, विष, वायु, अग्नि, ताप, चोट आदि से, आहार विधि के छोड़ने से, बीच में ही आयु समाप्त हो जाती है, इस का नाम 'अकाल-मृत्यु' है। इसी प्रकार ज्वर आदि रोगों की ठीक प्रकार से चिकित्सा न होने से इन से भी अकाल मृत्युएं होती देखते हैं ॥४३॥

अथाग्निवेशः पप्रच्छ—किं नु खलु भगवन्! ज्वरितेभ्यः पानीयमुष्णं भूयिष्ठं प्रयच्छन्ति भिषजो न तथा शीतम्। अस्ति च शीतसाध्यो धातुर्ज्वरकर इति ॥ ४४ ॥

इस के अनन्तर अग्निवेश ने पूछा—हे भगवन्! वैद्य लोग ज्वर के रोगी को गरम पानी अधिकतः किस लिये देते हैं? शीतल पानी उतना नहीं देते। शीत उपचार से भी ज्वरकारक धातु पित्त शान्त होता है ॥४४॥

तमुवाच भगवानात्रेयः,—ज्वरितस्य कायसमुत्थानदेशकालानभिसमीक्ष्य पाचनार्थं पानीयमुष्णं प्रयच्छन्ति भिषजः। ज्वरो ह्यामाशयसमुत्थः प्रायो भेषजानि चाऽऽमाशयसमुत्थानां विकाराणां पाचनवमनापतर्पणसमर्थानि भवन्ति, पाचनार्थं च पानीयमुष्णं, तस्मादेतज्ज्वरितेभ्यः प्रयच्छन्ति भिषजो भूयिष्ठम्। तच्चैषां पीतं वातमनुलोमयति, अग्निमुदर्यमुदीरयति, क्षिप्रं जरां गच्छति, श्लेष्माणं च परिशोषयति, स्वल्पमपि पीतं तृष्णाप्रशमनायोपपद्यते, तथायुक्तमपि चैतन्नात्यर्थोत्सन्नपित्ते ज्वरे सदाहभ्रमप्रलापातिसारे वा प्रदेयम्, उष्णेन हि दाहभ्रमप्रलापातिसारा भूयोऽभिवर्धन्ते, शीतेनोपशाम्यन्तीति ॥ ४५ ॥

अग्निवेश को भगवान् आत्रेय ने कहा—ज्वर-रोगी के शरीर, निदान (आमाशय से उत्पन्न विकारों में) देश, काल को देखकर पाचन के लिये

वैद्य लोग गरम पानी देते हैं। ज्वर की उत्पत्ति आमाशय से होती है। आमाशय से उत्पन्न होने वाले रोगों के लिये पाचन, वमन, अपतर्पण संशमन आदि उपचार प्रायः होते हैं। इसलिये ज्वर के रोगी को पाचन कराने के लिये वैद्य लोग गरम पानी अधिकतर देते हैं। यह पीया हुआ गरम पानी वायु का अनुलोमन करता है, जाठराग्नि को बढ़ाता है, शीघ्र पच जाता है, जीर्ण हो जाता है, कफ को सुखाता है और थोड़ा भी पिया हुआ गरम पानी प्यास को शान्त करने के लिये पर्याप्त होता है। यह गरम पानी इतना लाभप्रद होने पर भी जिस ज्वर में पित्त बहुत बढ़ा हो उस में और दाह, भ्रम, प्रलाप अथवा अतिसार की अवस्था में भी नहीं देना चाहिये। गरमी से दाह, भ्रम, प्रलाप और अतिसार और अधिक बढ़ते हैं। ये रोग शीत उपचार से शान्त होते हैं ॥ ४५ ॥

भवति चात्र—शीतेनोष्णकृतान् रोगान् शमयन्ति भिषग्विदः।
ये तु शीतकृता रोगास्तेषां चोष्णं भिषग्जितम् ॥ ४६ ॥

चिकित्सक ज्ञानी लोग गरमी (उष्णता) से उत्पन्न हुए रोगों को शीत चिकित्सा से शमन करते हैं और शीत कारण से उत्पन्न रोगों को उष्ण चिकित्सा से शान्त करते हैं अर्थात् निदान से विपरीत चिकित्सा करते हैं ॥ ४६ ॥

एवमितरेषामपि व्याधीनां निदानविपरीतमौषधं भवति कार्यम्। यथा—अपतर्पणनिमित्तानामपि व्याधीनां नान्तरेण पूरणमस्ति शान्तिस्तथा पूरणनिमित्तानां नान्तरेणापतर्पणमिति ॥ ४७॥

इस प्रकार से अन्य रोगों में भी कारण के विपरीत चिकित्सा करनी होती है। जिस प्रकार कि अपतर्पण क्रिया से उत्पन्न रोगों की शान्ति संतर्पण क्रिया के विना नहीं होती, उसी प्रकार सतर्पणजन्य रोगों की शान्ति अपतर्पण क्रिया के विना नहीं होती ॥ ४७ ॥

अपतर्पणमपि च त्रिविधं लङ्घनं, लङ्घनपाचनं, दोषावसेचनं चेति ॥ ४८ ॥

अपतर्पण भी तीन प्रकार का है। (१) लंघन, (२) लंघन-पाचन और (३) दोषावसेचन (दोषों का बाहर निकालना) ॥ ४८ ॥

तत्र लङ्घनमल्पबलदोषाणां, लङ्घनेन ह्यग्निमारुतवृद्धया वातातपपरीतमिवाल्पमुदकमल्पदोषः प्रशोषमापद्यते ॥ ४९ ॥

इन में जब दोषों का बल अल्प हो, तब लंघन करना चाहिये। लंघन

अग्नि और वायु की वृद्धि होती है। जिस प्रकार थोड़ा पानी वायु और धूप के बढ़ने से शुष्क हो जाता है। उसी प्रकार इन की वृद्धि से अल्पबलवाला दोष शुष्क हो जाता है ॥ ४९ ॥

लङ्घनपाचनाभ्यां हि मध्यबलो दोषः सूर्यसन्तापमारुताभ्यां पांशुभस्मावकिरणैरिव चानतिबहूदकं प्रशोषमापद्यते ॥ ५० ॥

दोषों का मध्यम बल होने पर लंघन और पाचन कर्म करना चाहिये जिस प्रकार सूर्य के संताप एवं वायु द्वारा धूल और भस्म के फेंकने से साधारण मात्रा का पानी (बहुत अधिक राशि नहीं) सूख जाता है, उसी प्रकार लंघन और पाचन से मध्यम बलवाले दोष शान्त हो जाते हैं। (धूल और भस्म का फेंकना,पाचन क्रिया का उपलक्षक है और सूर्य का संताप और वायु लंघन क्रिया का ।) ॥ ५० ॥

बहुदोषाणां पुनर्दोषावसेचनमेव कार्यं, न ह्यभिन्ने केदारसेतौ पल्वलप्रसेकोऽस्ति, तद्वद्दोषावसेचनम् ॥ ५१ ॥

दोषों के प्रबल होने पर इन का अवसेचन (निष्कासन) ही करना चाहिये। जैसे खेत की मेढ़ की तोड़े बिना खेत के पानी को सुखा देना असम्भव है। मेढ़ को तोड़कर पानी निकाल देने से खेत शीघ्र सूख जाता है। इसी प्रकार वमन, विरेचन आदि से अधिक बढ़े हुए दोषों को शरीर से बाहर कर देने पर दोषों की शान्ति होती है ॥ ५१ ॥

दोषावसेचनं तु खल्वन्यद्वा भेषजं प्राप्तकालमप्यातुरस्य नैवंविधस्य कुर्यात्, तद्यथा—अनपवादप्रतीकारस्यापरिचारकस्य वैद्यमानिनश्चण्डस्यासूयकस्य तीव्रधर्मारुचेरतिक्षीण-बल-मांस-शोणितस्यासाध्यरोगोपहतस्य मुमूर्षुलिङ्गान्वितस्य चेति। एवंविधं ह्यातुरमुपचरन् भिषक् पापीयसाऽयशसा योगमृच्छतीति ॥ ५२ ॥

चिकित्सा में त्याज्य रोगी वा निम्न प्रकार के रोगी की दोषावसेचन (संशोधन रूप) अथवा संशमनरूप चिकित्सा नहीं करनी चाहिये। यथा जिससे अपवाद का प्रतिकार न हो सके, जो रोगी उपकरणों का संग्रह नहीं कर सके, ऐसे निर्धन की, जिस के पास परिचारक न हो, अपने को वैद्य मानने वाले, क्रोधी, निन्दा करने वाले, जिस का बल, मांस रक्त, बहुत क्षीण हो गया हो, असाध्य रोग से आक्रान्त, जिस में मरणोन्मुख लक्षण स्पष्ट हों, इस प्रकार के रोगी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये। यदि इस प्रकार के रोगी की चिकित्सा वैद्य करता है तो पापमूलक-अपकीर्ति को प्राप्त होता है ॥ ५२ ॥

भवन्ति चात्र—अल्पोदकद्रुमो यस्तु प्रवातः प्रचुरातपः ।
ज्ञेयः स जाङ्गलो देशः स्वल्परोगतमोऽपि च ॥ ५३ ॥
प्रचुरोदकवृक्षो यो निवातो दुर्लभातपः ।
अनूपो बहुदोषश्च, समः साधारणो मतः[1] ॥ ५४ ॥

जिस देश में पानी और वृक्ष कम हों, वायु और धूप बहुत प्रचण्ड हो वह जांगल देश जानना चाहिये । उसमें बहुत कम रोग होते हैं । जिस देश में जल और वृक्ष बहुत हों, वायु न चले और धूप भी न हो, वह अनूप देश कहाता है जिसमें वात और धूप दोनों समान हों वह देश समदेश कहाता है ॥ ५३–५४ ॥

तदात्वे चानुबन्धे वा यस्य स्यादशुभं फलम् ।
कर्मणस्तन्न कर्त्तव्यमेतद् बुद्धिमतां मतम् ॥ ५५ ॥

तत्काल में अथवा उत्तर काल में जिस कर्म का फल अशुभ हो, वह कर्म नहीं करना चाहिये, यह बुद्धिमानों का मत है ॥ ५५ ॥

तत्र श्लोकाः—

पूर्वरूपाणि सामान्या हेतवः स्वस्वलक्षणाः ।
देशोद्ध्वंसस्य भैषज्यं हेतूनां मूलमेव च ॥ ५६ ॥
प्राग्विकारसमुत्पत्तिरायुषश्च क्षयक्रमः ।
मरणं प्रतिभूतानां कालाकालविनिश्चयः ॥ ५७ ॥
यथा चाकालमरणं यथा युक्तं च भेषजम् ।
सिद्धिं यात्यौषधं येषां न कुर्याद्येन हेतुना ॥ ५८ ॥
तदात्रेयोऽग्निवेशाय निखिलं सर्वमुक्तवान् ।
देशोद्ध्वंसनिमित्तीये विमाने मुनिसत्तमः ॥ ५९ ॥

जनपदोद्ध्वंस के पूर्वरूप, सामान्य कारण, प्रत्येक के अपने अपने लक्षण, चिकित्सा (पंच कर्म), कारणों का मूल कारण अधर्म, रोगों की प्रारम्भिक उत्पत्ति, आयु और धर्म के ह्रास का क्रम, कालमृत्यु और अकालमृत्यु, निदान और दोष, बलापेक्षित औषध, जिनकी चिकित्सा नहीं करनी, ये सब बातें इस अध्याय में मुनिश्रेष्ठ भगवान् आत्रेय ने शिष्य अग्निवेश के लिये सम्पूर्ण रूप से कह दीं ॥ ५६–५९ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते तृतीये विमानस्थाने जनपदोद्ध्वंसनीयविमानं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

---

१. ये दो श्लोक भी कहीं २ देखने में आते हैं ।

चतुर्थोऽध्यायः ।

अथातस्त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीयं विमानं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब 'त्रिविधरोग-विशेष-विज्ञानीय' नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति । तद्यथा—आप्तोपदेशः प्रत्यक्षमनुमानं चेति ॥ ३ ॥

रोग-विशेष-विज्ञान तीन प्रकार का है । जैसे—(१) आप्त-उपदेश, (२) प्रत्यक्ष और (३) अनुमान ॥ ३ ॥

तत्राऽऽप्तोपदेशो नाम—आप्तवचनम् । आप्ता ह्यवितर्क-स्मृति-विभागविदो निष्प्रीत्युपतापदर्शिनश्च । तेषामेवंगुणयोगाद्यद्वचनं तत्प्रमाणं, अप्रमाणं पुनर्मत्तोन्मत्त-मूर्ख-रक्त-दुष्टादुष्ट-वचनमिति ॥ ४ ॥

(१) आप्तोपदेश—आप्तजनों के वचनों का नाम आप्त-उपदेश है । आप्त ही वितर्क से भिन्न अर्थात् सन्देह से रहित और स्मृति ज्ञान से युक्त साक्षात् अनुभव और विभाग अर्थात् एक देश से भिन्न सम्पूर्ण तत्त्व के जानने वाले । शास्त्र ज्ञान में संशय रहित एवं प्राणियों में प्रीति (राग) उपताप (द्वेष) के भावों से शून्य, रागद्वेषरहित होते हैं । इस प्रकार के गुण होने से इन आप्त पुरुषों का वचन प्रमाण हो सकता है । मत्त, उन्मत्त (पागल), मूर्ख आदि पुरुषों के दुष्ट[1] (ऐहिक) और अदृष्ट (आमुष्मिक) दोनों तरह के वचन अप्रमाण होते हैं ॥४॥

प्रत्यक्षं तु खलु तत्—यत्स्वयमिन्द्रियैर्मनसा चोपलभ्यते ॥ ५ ॥

प्रत्यक्ष—जो अपनी इन्द्रियों और मन से ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष है ॥५॥

अनुमानं खलु—तर्को युक्त्यपेक्षः ॥ ६ ॥

अनुमान—अनुमान तर्क है जो युक्ति की अपेक्षा करता है । (कार्य कारण सम्बन्ध या अव्यभिचरित व्याप्ति का नाम युक्ति है) ॥६॥

त्रिविधेन खल्वनेन ज्ञानसमुदयेन पूर्वं परीक्ष्य रोगं सर्वथा सर्वमथोत्तरकालमध्यवसानमदोषं भवति । नहि ज्ञानावयवेन कृत्स्ने ज्ञेये ज्ञानमुत्पद्यते ॥ ७ ॥

---

१. 'मूर्खरक्तदुष्टादुष्टवचनं' इति वा पाठः । मूर्ख पुरुष के दोषयुक्त और निर्दोष वचन भी प्रमाण नहीं, अथवा मूर्ख, और (रक्त) दोषयुक्त, ।

तीन प्रकार के ज्ञान-समुदाय से प्रथम रोग की परीक्षा करके सब प्रकार से और सारा देखकर पीछे से पूर्ण निश्चय करके चिकित्सा करना निर्दोष होता है। ज्ञान के एक अवयव को जान लेने से ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये वैद्य को चाहिये कि तीनों प्रमाणों से रोग को एक अंश में ही नहीं, प्रत्युत सम्पूर्ण रूप में जाने ॥७॥

त्रिविधे त्वस्मिन् ज्ञानसमुदाये पूर्वमाप्तोपदेशाज्ज्ञानम्। ततः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षोपपद्यते। किं ह्यनुपदिष्टे पूर्वं प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षमाणो विद्यात्? तस्मात् द्विविधा परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षमनुमानं चेति, त्रिविधा वा सहोपदेशेन ॥ ८ ॥

इस तीन प्रकार के ज्ञान समुदाय में सब से प्रथम 'आप्तोपदेश' से ज्ञान होता है। इसके पीछे प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा परीक्षा होती है। यदि पूर्व आप्तोपदेश न हो तो परीक्षा करता हुआ वैद्य प्रत्यक्ष और अनुमान से क्या जानेगा? कुछ भी नहीं। इसलिये आप्तोपदेश से प्राप्त ज्ञान वालों के लिये परीक्षा दो प्रकार की है प्रत्यक्ष और अनुमान। अथवा आप्तोपदेश को मिला कर तीन प्रकार की है—प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तोपदेश ॥८॥

तत्रेदमुपदिशन्ति बुद्धिमन्तः—रोगमेकैकमेव प्रकोपणमेवंयोनिमेवमात्मानमेवमधिष्ठानमेवंवेदनमेवंसंस्थानमेवंवृद्धिस्थानक्षयसमन्वितमेवमुदर्कमेवंनामानमेवंयोगं विद्यात्। तस्मिन्नियं प्रतीकारार्था प्रवृत्तिरथवा निवृत्तिरित्युपदेशाज्ज्ञायते ॥ ९ ॥

आप्तोपदेश से एक एक रोग में ऐसे प्रकोप, ऐसी योनि (प्रकृति वातादि की विषमता), ऐसी उत्पत्ति, ऐसा स्वरूप, ऐसा अधिष्ठान (मन और शरीर), ऐसी वेदना (पीड़ा), ऐसा संस्थान (लक्षण), ऐसे २ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, ऐसा उपद्रव (रोग के पीछे दूसरा होने वाला रोग), ऐसी दोषों की वृद्धि, स्थान और क्षय, उदर्क (उत्तर फल–साध्य-असाध्य), इस प्रकार का नाम, ऐसा योग ये सब बातें बुद्धिमान् लोग उपदेश करते हैं, उनके उपदेश से जानना चाहिये। इस प्रकार की व्याधि में इस प्रकार का प्रतिकार वा चिकित्सा है, अथवा इस रोग में असाध्य होने से निवृत्ति (चिकित्सा न करना), ये दोनों प्रकार की प्रवृत्ति और निवृत्ति भी उपदेश से ही जानी जाती हैं ॥९॥

प्रत्यक्षतस्तु खलु रोगतत्त्वं बुभुत्सुः सर्वैरिन्द्रियैः सर्वानिन्द्रियार्थानातुर-शरीर-गतान्परीक्षेतान्यत्र रसज्ञानात्; तद्यथा,–अन्त्रकूजनं संधिस्फोटनमङ्गुलीपर्वणां च स्वरविशेषा ये चान्येऽपि केचिच्छरीरोपगताः

शब्दाः स्युस्तान् श्रोत्रेण परीक्षेत। वर्ण-संस्थान-प्रमाण-च्छायाः शरीरप्रकृतिविकारौ चक्षुर्वैषयिकाणि यानि चान्यानि तानि चक्षुषा परीक्षेत।

प्रत्यक्ष द्वारा रोग जानने की इच्छा से वैद्य रोगी मनुष्य की इन्द्रियों के द्वारा जानने योग्य सब बातों की वह अपनी इन्द्रियों से परीक्षा करे केवल रस ज्ञान को छोड़कर। जैसे—आंतों के शब्द, अंगुली के पर्वों की सन्धियों का चटकन, रोगी शरीर के भिन्न भिन्न स्वरों को, इनके अतिरिक्त रोगी के अन्य जो (हिचकी, श्वास आदि) शब्द हों, उनकी श्रोत्र द्वारा परीक्षा करे। वर्ण, अंगों की बनावट, शरीर और अवयवों का माप (छोटाई, बड़ाई, स्थूलता, कृशता), छाया (कान्ति), शरीर के प्राकृतिक एवं वैकृतिक भावों (परिवर्त्तनों) को एवं चक्षु इन्द्रिय के ग्राह्य और जो यहां पर न कही बातें हों (मल, मूत्र आदि), उनकी भी आंख से परीक्षा करनी चाहिये।

रसं तु खल्वातुरशरीरगतमिन्द्रियवैषयिकमप्यनुमानादवगच्छेत्, न ह्यस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणमुपपद्यते, तस्मादातुरपरिप्रश्नेनैवाऽऽतुरमुखरसं विद्यात्, यूकापसर्पणेन त्वस्य शरीरवैरस्यं, मक्षिकोपसर्पणेन शरीरमाधुर्यं, लोहितपित्तसंदेहे तु किं धारिलोहितं लोहितपित्तं वेति श्वकाकभक्षणाद्धारिलोहितमभक्षणाल्लोहितपित्तमित्यनुमातव्यं, एवमन्यानप्यातुरशरीरगतान् रसाननुमिमीत। गन्धांस्तु खलु सर्वशरीरगतानातुरस्य प्रकृतिवैकारिकान् घ्राणेन परीक्षेत। स्पर्शं च पाणिना प्रकृतिविकृतियुक्तम्—इति प्रत्यक्षतोऽनुमानैकदेशतश्च परीक्षणमुक्तम् ॥१०॥

रोगी के शरीर के रस को, इन्द्रिय का विषय होने पर भी, अनुमान द्वारा ही जानना चाहिये। क्योंकि रोगी के शरीर के रस का प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता। बीमारी में मुख का स्वाद बदल जाता है, इसलिये रोगी से पूछकर ही उसके मुख का रस जानना चाहिये। यथा—शरीर पर जूं आदि के चलने से शरीर में विरसता, शरीर पर मक्खी आदि के पास भिनकने से शरीर में मधुरता समझनी चाहिये। रक्तपित्त के सन्देह में यह रक्त शुद्ध (शरीर को धारण करने वाला) है या रक्तपित्त (पित्त से दूषित रक्त) का है तो यदि इस रक्त को कुत्ते, कौवे खा लें तो शुद्ध रक्त समझना चाहिये और यदि न खायें तो रक्तपित्त रोग से दूषित रक्त समझना चाहिये। इस प्रकार से रोगी के शरीर के अन्य रसों को भी अनुमान से जानना चाहिये। रोगी के सम्पूर्ण शरीर की प्राकृतिक एवं वैकृतिक गन्धों की परीक्षा घ्राणेन्द्रिय (नासिका) द्वारा करनी चाहिये। स्पर्श, शीत, उष्ण, खर, चिकने आदि प्राकृतिक एवं वैकृतिक स्पर्शों

को हाथ के स्पर्शसे जानना चाहिये । यहाँ पर प्रत्यक्ष तथा अनुमान से एक भाग से परीक्षा कह दी ॥१०॥

इमे तु खल्वन्येऽप्येवमेव भूयोऽनुमानज्ञेया भवन्ति भावाः। तद्यथा, अग्निं जरणशक्त्या परीक्षेत, बलं व्यायामशक्त्या, श्रोत्रादीन् शब्दादिग्रहणेन, मनोऽर्थाव्यभिचरणेन, विज्ञानं व्यवसायेन, रजः सङ्गेन, मोहमविज्ञानेन, क्रोधमभिद्रोहेण, शोकं दैन्येन, हर्षमामोदेन, प्रीतिं तोषेण, भयं विषादेन, धैर्यमविषादेन, वीर्यमुत्थानेन, अवस्थानमविभ्रमेण, श्रद्धामभिप्रायेण, मेधां ग्रहणेन, संज्ञां नामग्रहणेन, स्मृतिं स्मरणेन, ह्रियमपत्रपणेन, शीलमनुशीलनेन, द्वेषं प्रतिषेधेन, उपधिमनुबन्धेन, धृतिमलौल्येन, वश्यतां विधेयतया, वयो-भक्ति-सात्म्य-व्याधि-समुत्थानानि काल-देशोपशय-वेदना-विशेषेण, गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां, दोषप्रमाणविशेषमपचारविशेषेण, आयुषः क्षयमरिष्टैः, उपस्थितश्रेयस्त्वं कल्याणाभिनिवेशेन, अमलं सत्त्वमविकारेणेति । ग्रहण्यास्तु मृदुदारुणत्वं स्वप्नदर्शनमभिप्रायं द्विष्टेष्टसुखदुःखानि चाऽऽतुरपरिप्रश्नेनैव विद्याद्—इति ॥ ११ ॥

इसके अतिरिक्त ये निम्नलिखित बातें भी अनुमान द्वारा ही जानी जाती हैं। जैसे—रोगी की परिपाक शक्ति को देखकर अग्नि (जाठराग्नि) को जाने । व्यायाम शक्ति से रोगी का बल, शब्द आदि विषयों के ग्रहण से कान आदि इन्द्रियों को, मन को अवधारण शक्ति से, विज्ञान को उद्योग से, संग (आसक्ति) से रज को, अज्ञान से मोह को, हिंसा प्रवृत्ति से क्रोध को, रोदन आदि से शोक को, गीत, वादित्र आदि से आनन्दको मुख की प्रसन्नता आदि लक्षणों से मन की प्रीति को, मुख की मलिनता आदि से भय को, अविषाद से धैर्य (विपत्ति में भी मन की स्थिरता) को, उत्साह से वीर्य (कार्य करने की शक्ति) को, अभ्रान्ति से स्थिरता को, अभिप्राय (प्रार्थना) से श्रद्धा को, श्लोक आदि को कण्ठ करने से मेधा को, नाम लेकर चेतना को, स्मरण शक्ति से स्मृति को, लजा दिलाकर लजा को, निरन्तर शीलन से स्वभाव को, वस्तु के प्रतिषेध से उस वस्तु में द्वेष को, आगे के परिणामसे छल व्यवहार को, मन की अचपलता से संतोष को, वैद्य की आज्ञा मानने से रोगी की वश्यता को, काल विशेष से आयु, देश से भक्ति (इच्छा) को, (जैसे—यह पंजाब का रहने वाला है इसलिये इसे गेहूं में इच्छा होगी, यह बंगाल का है इसकी चावलों में रुचि होगी इत्यादि), उपशय अर्थात्

अनुकूलता से सात्म्य को, वेदना-विशेष से व्याधि के समुत्थान को, उपशय (शान्ति) और अनुपशय (निदान) द्वारा गूढ़लिंग वाले रोग को, जिस रोगके लक्षण छिपे हों (जैसे विद्रधि और गुल्म के भेद), उपचार विशेष (प्रकोपनके न्यूनाधिक होने से) दोषों के प्रमाण विशेष (न्यूनाधिक) को अरिष्ट लक्षणोंसे, आयु के क्षय को हितोपसेवन से, निकटवर्त्ती आरोग्यता के लक्षणों को अविकार (काम, क्रोधादि से रहित मानसिक विकारों) से निर्मल चित्त को जाने।

ग्रहणी (अग्नि का स्थान, जठर) के मृदु दारुण भेद को रोगी के हित-अहित स्वप्न दर्शन से, भोजनादि में अभिप्राय (इच्छा) को, द्विष्ट, अप्रिय और इष्ट, प्रिय इनमें सुख और दुःख को रोगी के प्रश्नों से ही जान ले ॥ ११ ॥

भवन्ति चात्र—आप्ततश्चोपदेशेन प्रत्यक्षकरणेन च।

अनुमानेन च व्याधीन् सम्यग्विद्याद्विचक्षणः ॥ १२ ॥
सर्वथा सर्वमालोच्य यथासंभवमर्थवित्।
अथाध्यवस्येत्तत्त्वे च कार्ये च तदनन्तरम् ॥ १३ ॥
कार्यतत्त्वविशेषज्ञः प्रतिपत्तौ न मुह्यति।
अमूढः फलमाप्नोति यदमोहनिमित्तजम् ॥ १४ ॥
ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन यो नाऽऽविशति तत्त्ववित्।
आतुरस्यान्तरात्मानं न स रोगांश्चिकित्सति ॥ १५ ॥

चतुर व्यक्ति आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा रोगों की परीक्षा करे। अर्थवित् यथासम्भव सब रोगों की सब प्रकार से (तीनों प्रकार से) परीक्षा करके निश्चय करे, इसके पीछे चिकित्सा कार्य करे। कार्यतत्त्व को जाननेवाला भिषक् रोग के चिकित्सा-कार्य में कभी भी मोह को प्राप्त नहीं होता। प्रमादरहित होकर ही मोह रहित होकर किये अनुष्ठान से उत्पन्न फल को प्राप्त करता है। जो योगवित् (प्रयोगों को जानने वाला) भिषक् (वैद्य) ज्ञान, बुद्धि रूपी प्रदीप की सहायता से रोगी के अन्दर तक नहीं पहुंचता (रोगी की सम्पूर्ण बातों को नहीं जानता), वह रोगोंकी चिकित्सा नहीं कर सकता ॥१२-१५॥

तत्र श्लोकौ—सर्वरोगविशेषाणां त्रिविधं ज्ञानसंग्रहम्।
यथा चोपदिशन्त्याप्ताः प्रत्यक्षं गृह्यते यथा ॥ १६ ॥
ये यथा चानुमानेन ज्ञेयास्तांश्चाप्युदारधीः।
भावांस्त्रिरोगविज्ञाने विमानं मुनिरुक्तवान् ॥ १७ ॥

उपसंहार—सब रोगों का तीन प्रमाणों में संक्षेप, आप्तोपदेश द्वारा जो जो बातें जानी जाती हैं, प्रत्यक्ष द्वारा जो ग्रहण किया जाता है और जो बातें अनु-

मान द्वारा जानी जाती हैं इन सब बातों का उदार बुद्धि भगवान् आत्रेय ने इस 'त्रिरोग विज्ञानीय' अध्याय में व्याख्यान कर दिया ॥ १६-१७ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते तृतीये विमानस्थाने त्रिविधरोग-
विशेषविज्ञानीयविमानं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः ।

अथातः स्रोतोविमानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

जीवन के आधारभूत प्राणवह आदि स्रोतों के ज्ञान के लिये 'स्रोतोविमान' नाम अध्याय की व्याख्या करते हैं। ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है॥१-२॥

यावन्तः पुरुषे मूर्तिमन्तो भावविशेषास्तावन्त एवास्मिन् स्रोतसां प्रकारविशेषाः, सर्वभावा हि पुरुषे नान्तरेण स्रोतांस्यभिनिर्वर्तन्ते क्षयं वाऽप्यधिगच्छन्ति । स्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनामभिवाहीनि भवन्त्ययनार्थेन ॥ ३ ॥

इस पुरुष के शरीर में जितने प्रकार के मूर्तिरूप (स्थूल) भाव विशेष (पदार्थ विशेष) हैं, उतने ही इस शरीर में स्रोतों के प्रकार (विशेष भेद) हैं। पुरुष में सब भाव स्रोतों के बिना नहीं बढ़ते और न स्रोतों के बिना क्षय को प्राप्त होते हैं। ये स्रोत परिपाक हुए धातुओं को (मल और प्रसाद रूप में) ले जाने के लिये होते हैं ॥ ३ ॥

अपि चैके स्रोतसामेव समुदयं पुरुषमिच्छन्ति, सर्वगतत्वात्सर्वसरत्वाच्च दोषप्रकोपणप्रशमनानाम्, न त्वेतदेवम् । यस्य च हि स्रोतांसि यच्च वहन्ति यच्चावहन्ति यत्र चावस्थितानि, सर्वं तदन्यत्तेभ्यः ॥ ४ ॥

कुछ आचार्य स्रोतों के समुदाय को ही 'पुरुष' नाम देते हैं। क्योंकि स्रोत सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हैं। दोषों के जो प्रकोपक (अपथ्य) हैं और जो शमन (पथ्य) हैं, वे सब स्रोतों द्वारा ही सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होते हैं। परन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं है। क्योंकि जिसके स्रोत जिस वस्तु का वहन करते हैं, जिस प्रकार से अवहन करते हैं, शरीर के जिस प्रदेश में ये स्रोत स्थित हैं, यह सब इन स्रोतों से पृथक् हैं, वे स्रोत नहीं हैं। इस लिये पुरुष स्रोतों का समुदाय रूप नहीं है ॥ ४ ॥

अतिबहुत्वात्तु खलु केचिदपरिसंख्येयान्याचक्षते स्रोतांसि, परिसंख्येयानि पुनरन्ये ॥ ५ ॥

स्रोतों के बहुत अधिक होने से कुछ आचार्य इन स्रोतों को असंख्य मानते हैं । दूसरे आचार्य इन को गणना के योग्य मानते हैं ॥ ५ ॥

तेषां तु खलु स्रोतसां यथास्थूलं कतिचित्प्रकारान्मूलतश्च प्रकोपविज्ञानतश्चानुव्याख्यास्यामः, भविष्यन्त्यलमनुक्तार्थज्ञानाय ज्ञानवतां विज्ञानाय चाज्ञानवताम् । तद्यथा- प्राणोदकान्न-रस-रुधिर-मांस-मेदास्थि-मज्ज-शुक्र-मूत्र-पुरीष-स्वेदवहानि,वातपित्तश्लेष्मणां पुनः सर्वशरीरचराणां सर्वस्रोतांस्ययनभूतानि, तद्वदतीन्द्रियाणां पुनः सत्त्वादीनां केवलं चेतनावच्छरीरमयनभूतमधिष्ठानभूतं च । तदेतत्स्रोतसां प्रकृतिभूतत्वान्न विकारैरुपसृज्यते शरीरम् ॥ ६ ॥

इन स्रोतों में जो स्थूल (गणना के योग्य) हैं, उन के कुछ भेदों को मूल से, प्रकोप-विज्ञान (और उपशमन) से भी व्याख्या करेंगे स्रोतों की इतनी व्याख्या बुद्धिमान् ज्ञानवान् वैद्यों के लिये अनुक्त, सूक्ष्म स्रोतों का ज्ञान कराने और अज्ञानी, अनुमान और युक्ति से हीन पुरुषों के लिये सामान्य रूप में स्रोतों का ज्ञान कराने के लिये पर्य्याप्त होगा ।

यथा—प्राणवह, जलवह, अन्नवह, रसवह, रुधिरवह, मांसवह, मेदवह, अस्थिवह, मज्जावह, शुक्रवह, मूत्रवह, पुरीषवह और स्वेदवह ये तेरह प्रकार के स्रोत हैं । वात, पित्त, कफ ये सम्पूर्ण शरीर मे फैले हुए हैं, इस लिये इन को ले जानेवाले सब स्रोत हैं । इसी प्रकार अतीन्द्रिय (इन्द्रियों से अग्राह्य) सत्त्व आदि (मन आदि) पदार्थों का चेतना युक्त यह सम्पूर्ण शरीर मार्ग तथा आश्रय है । स्रोत शरीर के धातुओं को ले जानेवाले हैं, इसलिये स्रोतों के प्रकृति में स्थित रहने से यह शरीर विकारों अर्थात् रोगों से आक्रान्त नहीं होता स्रोतों के विकृत होने पर शरीर भी रोगी हो जाता है ॥६॥

तत्र प्राणवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं महास्रोतश्च, प्रदुष्टानां खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति, अतिसृष्टमतिबद्धं कुपितमल्पाल्पमभीक्ष्णं वा सशब्दशूलमुच्छ्वसन्तं दृष्ट्वा प्राणवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात् ॥ ७ ॥

इन से प्राणवह स्रोतों का मूल (प्रभाव स्थान) हृदय और महा स्रोत (कोष्ठ भी) है । इन प्राणवह स्रोतों के दुष्ट होने पर ये लक्षण होते हैं । जैसे—प्राण का अतिसर्पण (प्रश्वास का दीर्घ होना), अतिबद्ध (रुक रुक कर श्वास का

चलना), प्रकुपित (बहुत तेजी से चलना), थोड़ा थोड़ा चलना, अभीक्ष्ण (बार-बार रुक रुक कर आना), शब्दशूल अर्थात् वेदनायुक्त शब्द के साथ, श्वास लेते हुए रोगी को देखकर प्राणवह-स्रोत दुष्ट हुए हैं यह समझना चाहिये ॥७॥

उदकवहानां स्रोतसां तालुमूलं क्लोम च। प्रदुष्टानां खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति, तद्यथा—जिह्वा-ताल्वोष्ठ-कण्ठ-क्लोम-शोषं पिपासां चातिप्रवृद्धां दृष्ट्वा भिषगुदकवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात् ॥८॥

उदकवह स्रोतों का मूल तालु और क्लोम (पित्ताशय) है। इन उदकवह स्रोतों के दुष्ट होने पर ये लक्षण होते हैं। यथा—जिह्वा, तालु, ओष्ठ, कण्ठ क्लोम का सूख जाना, प्यास का बहुत अधिक लगना ये लक्षण देखकर उदकवह-स्रोत विकृत हुए हैं यह समझना चाहिये ॥८॥

अन्नवहानां स्रोतसामामाशयो मूलं वामं च पार्श्वम्। प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति, तद्यथा—अनन्नाभिलषणमरोचकाविपाकौ छर्दिं च दृष्ट्वाऽन्नवहानि स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात् ॥ ९ ॥

अन्नवह स्रोतों का मूल आमाशय और वाम पार्श्व है। इन के दुष्ट होने पर ये लक्षण होते हैं। यथा—अन्न की रुचि का न होना, अरुचि, अविपाक, वमन। इन लक्षणों को देखकर अन्नवह स्रोत विकृत हुए यह समझना चाहिये ॥ ९ ॥

रसवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं दश च धमन्यः। शोणितवहानां स्रोतसां यकृन्मूलं प्लीहा च। मांसवहानां च स्रोतसां स्नायु मूलं त्वक्च मेदोवहानां स्रोतसां वृक्कौ मूलं वपावहनं च। अस्थिवहानां स्रोतसां मेदो मूलं जघनं च। मज्जावहानां स्रोतसामस्थीनि मूलं संधयश्च। शुक्रवहानां स्रोतसां वृषणो मूलं शेफश्च। प्रदुष्टानां तु खल्वेषां रसादिस्रोतसां विज्ञानान्युक्तानि विविधाशितपीतीयेऽध्याये। यान्येव हि धातूनां प्रदोषविज्ञानानि तान्येव यथास्वं धातुस्रोतसाम् ॥ १० ॥

रसवह स्रोतों का मूल हृदय और हृदय से सम्बद्ध दस धमनियां हैं। शोणित (रक्त) वह स्रोतों का मूल यकृत् और प्लीहा है। मांसवह स्रोतों का मूल स्नायु और त्वचा है। मेदोवह स्रोतों का मूल दो वृक्क (दो मांसपिण्ड एक दक्षिण पार्श्व में स्थित और दूसरा वाम पार्श्व में

---

१. क्लोम को सुश्रुत में 'पिपासा-स्थान' माना है। क्लोम का स्थान गले में जरा नीचे की ओर दक्षिण पार्श्व में मना है। जिसको आज कल 'तिलक' या (कण्ठकूप) कहते हैं। वैद्य श्री हरिप्रपन्न ने 'क्लोम याथातथ्यम्' नाम एक पुस्तक लिखी है उस में पित्ताशय को यह नाम दिया है।

वृक्क) और वपावह है। अस्थिवह स्रोतों का मूल मेद और जघन हैं। मज्जावह स्रोतों का मूल अस्थियां और सन्धियां हैं। शुक्रवह स्रोतों का मूल दोनों अण्डकोश और लिङ्ग-इन्द्रिय हैं। विविधाशितपीतीय अध्याय में रसादि धातुओं के दुष्ट होने से उत्पन्न होने वाले रोगों को कह दिया है। ये ही इन रसवह आदि स्रोतों के दुष्ट होने के लक्षण हैं। जो दूषित हुए धातुओं के लक्षण हैं वे ही दुष्ट हुए धातुवह स्रोतों के भी लक्षण होते हैं ॥१०॥

मूत्रवहानां स्रोतसां बस्तिर्मूलं वङ्क्षणौ च। खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति। तद्यथा अतिसृष्टमतिबद्धं कुपितमल्पाल्पमभीक्ष्णं वा बहलं सशूलं मूत्रयन्तं दृष्ट्वा मूत्रवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात् ॥ ११ ॥

मूत्रवह स्रोतों का मूल बस्ति (मूत्राशय) और वंक्षण (वृक्क) हैं। इन के दूषित होने पर ये लक्षण होते हैं। जैसे—मूत्र का अधिक आना, रुक २ कर आना, बार बार आना, थोड़ा थोड़ा आना, मात्रा में अधिक (गाढ़ा), दर्द के साथ आना। ये लक्षण देखकर मूत्रवह स्रोत दुष्ट हुए समझने चाहियें ॥११॥

पुरीषवहानां स्रोतसां पक्वाशयो मूलं स्थूलगुदञ्च। प्रदुष्टानां खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति। तद्यथा—कृच्छ्रेणाल्पाल्पं सशूलमतिद्रवं कुथितमतिग्रथितमतिबहु चोपविशन्तं दृष्ट्वा पुरीषवहाण्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात् ॥ १२ ॥

पुरीषवह स्रोतों का मूल पक्वाशय, स्थूलांत्र और गुदा है। इन के दूषित होने पर ये लक्षण होते हैं। तथा—कठिनाई से थोड़ा थोड़ा, शब्द और वेदना के साथ, बहुत पतला (पानी जैसा), बहुत कठिन, मात्रा में मल का बहुत अधिक आना, इन लक्षणों को देखकर पुरीषवह-स्रोत दुष्ट हुए हैं यह समझना चाहिये ॥ १२ ॥

स्वेदवहानां स्रोतसां मेदो मूलं रोमकूपाश्च। प्रदुष्टानां खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति, तद्यथा–अस्वेदनमतिस्वेदनं पारुष्यमतिश्लक्ष्णतामङ्गस्य परिदाहं लोमहर्षं च दृष्ट्वा स्वेदवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात् ॥ १३ ॥

स्वेदवह स्रोतों का मूल मेद और लोमकूप हैं। इन के दूषित होने पर ये लक्षण होते हैं। जैसे—पसीने का न आना या बहुत आना, त्वचा में कठोरता या बहुत चिकास, अङ्गों में दाह और शरीर में रोमांच होना। इन लक्षणों को देखकर स्वेदवह-स्रोत दुष्ट हुए हैं यह समझना चाहिये ॥ १३ ॥

स्रोतांसि सिरा धमन्यो रसायन्यो रसवाहिन्यो नाड्यः पन्थानो मार्गाः शरीरच्छिद्राणि संवृतासंवृतानि स्थानान्याशयाः क्षया निकेताश्चेति शरीरधात्ववकाशानां लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि भवन्ति ॥ १४ ॥

स्रोतों के पर्याय—स्रोत, सिरा, धमनी, रसायनी, रसवाहिनी, नाड़ी, पन्था मार्ग, शरीरच्छिद्र, संवृत-असंवृत, स्थान, आशय, क्षय और निकेत ये शरीर के धातुओं को ले जाने के लिये जो आंख से दीखने या न दीखने योग्य छेद हैं उन स्रोतों के नाम हैं। १४ ॥

तेषां प्रकोपात्स्थानस्थाश्चैव मार्गगाश्चैव शरीरधातवः प्रकोपमापद्यन्ते। इतरेषां च प्रकोपादितराणि। स्रोतांसि स्रोतांस्येव धातवश्च धातूनेव प्रदूषयन्ति प्रदुष्टाः; तेषां सर्वेषामेव वातपित्तश्लेष्माणो दूषयितारो भवन्ति, दोषस्वभावादिति ॥ १५ ॥

इन स्रोतों (छिद्रों) के प्रकुपित होने से आशय में स्थित, मार्ग में स्रोतों से जाने वाले शरीर के धातु भी प्रकुपित हो जाते हैं। दूसरों के प्रकोप से और भ (स्रोतस्, वातादि दोष) कुपित होकर दुष्ट हुए स्रोत अन्य स्रोतों को दूषित कर देते हैं। दुष्ट हुए धातु सब धातुओं को दूषित कर देते हैं। सब स्रोतों तथा धातुओं को दूषित करने वाले वात, पित्त, कफ ही होते हैं। क्योंकि दोष स्वभाव होने से अर्थात् दूषित करना ही इनका स्वभाव है ॥ १५ ॥

भवन्ति चात्र—क्षयात्संधारणाद्रौक्ष्याद् व्यायामात्क्षुधितस्य च।
प्राणवाहीनि दुष्यन्ति स्रोतांस्यन्यैश्च दारुणैः ॥ १६ ॥
औष्ण्यादामाद्भयात्पानादतिशुष्कान्नसेवनात्।
अम्बुवाहीनि दुष्यन्ति तृष्णायाश्चातिपीडनात् ॥ १७ ॥
अतिमात्रस्य चाकाले चाहितस्य च भोजनात्।
अन्नवाहीनि दुष्यन्ति वैगुण्यात्पावकस्य च ॥ १८ ॥
गुरुशीतमतिस्निग्धमतिमात्रं समश्नताम्।
रसवाहीनि दुष्यन्ति चिन्त्यानां चातिचिन्तनात् ॥ १९ ॥
विदाहीन्यन्नपानानि स्निग्धोष्णानि द्रवाणि च।
रक्तवाहीनि दुष्यन्ति भजतां चाऽऽतपानलौ ॥ २० ॥
अभिष्यन्दीनि भोज्यानि स्थूलानि च गुरूणि च।
मांसवाहीनि दुष्यन्ति भुक्त्वा च स्वपतां दिवा ॥ २१ ॥
अव्यायामाद्दिवास्वप्नान्मेध्यानां चातिभक्षणात्।
मेदोवाहीनि दुष्यन्ति वारुण्याश्चातिसेवनात् ॥ २२ ॥

व्यायामादतिसंक्षोभादस्थ्नामतिविघट्टनात् ।
अस्थिवाहीनि दुष्यन्ति वातलानां च सेवनात् ॥ २३ ॥
उत्पेषादत्यभिष्यन्दादभिघातात्प्रपीडनात् ।
मज्जवाहीनि दुष्यन्ति विरुद्धानां च सेवनात् ॥ २४ ॥
अकालयोनिगमनान्निग्रहादतिमैथुनात् ।
शुक्रवाहीनि दुष्यन्ति शस्त्रक्षाराग्निभिस्तथा ॥ २५ ॥
मूत्रितोदक-भक्ष्य-स्त्री-सेवनान्मूत्रनिग्रहात् ।
मूत्रवाहीनि दुष्यन्ति क्षीणस्याभिक्षतस्य च ॥ २६ ॥
विधारणादत्यशनादजीर्णाध्यशनात्तथा ।
वर्चोवाहीनि दुष्यन्ति दुर्बलाग्नेः कृशस्य च ॥ २७ ॥
व्यायामादतिसंतापाच्छीतोष्णाक्रमसेवनात् ।
स्वेदवाहीनि दुष्यन्ति क्रोधशोकभयैस्तथा ॥ २८ ॥

प्रकुपित होने के कारण—धातु-क्षय से, उपस्थित वेगों को रोकने से, रूक्षता से, भूख लगी होने पर व्यायाम करने से और अन्य कठिन कार्यों से प्राणवाही स्रोत कुपित होते हैं ।

गरमी से, आम-दोष से, भय से, बहुत पानी पीने से, शुष्क अन्न (चने आदि) के अधिक सेवन से और प्यास को ज़बर्दस्ती रोकने से उदकवाही स्रोत कुपित होते हैं ।

मात्रा का अतिक्रमण करके भोजन करने से, अप्राप्त या अतीत काल में भोजन करने से, अपथ्य भोजन के सेवन से और जाठराग्नि के मन्द होने से अन्नवह स्रोत कुपित होते हैं ।

गुरु, शीत, अतिस्निग्ध पदार्थों के बहुत अधिक सेवन करने से, चिन्ता करने योग्य वस्तुओं को बहुत अधिक चिन्ता करने से रसवाही स्रोत दूषित होते हैं ।

जलन पैदा करने वाले, स्निग्ध, गरम और तरल खान-पान के सेवन और धूप और वायु का सेवन करनेवाले पुरुषों के रक्तवाही स्रोत दूषित होते हैं ।

दोष, धातु, मल और स्रोतों में कफ बढ़ाने वाले, स्थूल और गुरु (भारी) पदार्थ खाकर दिन में सोनेवालों के मांसवाही स्रोत दूषित होते हैं ।

व्यायाम के न करने से, दिन में सोने से, चर्बी वाले पशुओं के मांस (सुअर का मांस) के अधिक सेवन से, मद्य के अधिक पीने से मेदोवाही स्रोत दूषित होते हैं ।

अधिक व्यायाम से, अति संक्षोभ से, चोट आदि से, अस्थियों के अधिक

चलाने (मोड़ने माड़ने से) से, वायु वर्धक खान-पान के सेवन से अस्थिवाही स्रोत दूषित होते हैं।

उत्पेषण (पीसने) से, अभिष्यन्दी पदार्थों के अतिसेवन से, चोट से, दण्डे की चोट से तथा विरोधी अन्न-पान के सेवन से मज्जावाही स्रोत दूषित होते हैं।

अकाल (निषिद्ध तिथियों में ऋतुमती आदि से) सम्भोग करने से, अयोनि (निषिद्ध योनि) में सम्भोग करने से, उपस्थित शुक्र के वेग को रोकने से, अतिमैथुन से, शस्त्र, क्षार और अग्नि से शुक्रवाही स्रोत दूषित हो जाते हैं।

उपस्थित मूत्र-वेग के समय पानी, भोजन या स्त्री का सेवन करने से, क्षीण और अतिकृश व्यक्ति के मूत्रवेग को रोकने से मूत्रवाही स्रोत दूषित हो जाते हैं।

मल के उपस्थित वेग को रोकने से, मन्दाग्नि और निर्बल पुरुष के अतिभोजन करने से, अजीर्ण में भोजन करने से, अध्यशन से मलवाही स्रोत दूषित होते हैं।

व्यायाम से, अति संक्षोभ से, शीत और उष्ण को विना क्रम के सेवन करने से, क्रोध, शोक एवं भय से स्वेदवाही स्रोत दूषित होते हैं ॥ १६–२८ ॥

आहारश्च विहारश्च यः स्याद्दोषगुणैः समः।
धातुभिर्विगुणश्चापि स्रोतसां स प्रदूषकः ॥ २९ ॥

जो आहार विहार और कर्म वातादि दोषों के पृथक् अथवा समष्टि रूप में गुणों के समान होता है, वह समान गुण के कारण इन को बढ़ाता है और जो धातुओं से विपरीत गुणवाला हो वह आहार-विहार स्रोतों को दूषित करता है ॥ २६ ॥

अतिप्रवृत्तिः सङ्गो वा सिराणां ग्रन्थयोऽपि वा।
विमार्गगमनं वापि स्रोतसां दुष्टिलक्षणम् ॥ ३० ॥

स्रोतों के दूषित होने के सामान्य लक्षण—स्रोतों से रस आदि की अधिक प्रवृत्ति अर्थात् अधिक निकलना अथवा एकदम से रुक जाना, सिराओं में गांठ पड़ जाना, विमार्ग अर्थात् विपरीत, उल्टे मार्ग से जाने लगना, ये सब स्रोतों के दूषित होने के सामान्य लक्षण हैं ॥ ३० ॥

स्वधातसमवर्णानि वृत्तस्थूलान्यणूनि च।
स्रोतांसि दीर्घाण्याकृत्या प्रतानसदृशानि च ॥ ३१ ॥

स्रोतों के प्रकृतिसिद्ध रूप—अपने धातु के समान रंग वाले (रक्तवाही स्रोत रक्त के समान और मांसवाही स्रोत मांस के समान), वृत्त (गोल),

स्थूल और अणु (सूक्ष्म), दीर्घ और लता के समान फैले (कोई गोल, कोई लम्बे, कोई स्थूल और कोई सूक्ष्म) होते हैं ॥ ३१ ॥

प्राणोदकान्नवाहानां दुष्टानां श्वासिकी क्रिया।
कार्या तृष्णोपशमनी तथैवाऽऽमप्रदोषिकी ॥ ३२ ॥
विविधाशितपीतीये रसादीनां यदौषधम्।
रसादिस्रोतसां कुर्यात्तद्यथास्वमुपक्रमम् ॥ ३३ ॥
मूत्र-विट्-स्वेद-वाहानां चिकित्सा मौत्रकृच्छ्रिकी।
तथाऽतिसारिकी कार्या तथा ज्वरचिकित्सिकी ॥ ३४ ॥ इति।

प्राण, उदक और अन्नवाही स्रोतों के दुष्ट होने पर क्रम से श्वासिकी (अर्थात् हिक्का कास रोग में ही), श्वास को सुधारने वाली, तृष्णा-रोग नाशक और आम-दोषनाशक चिकित्सा करनी चाहिये। प्राणवाही स्रोतों में श्वासिकी उदकवाही में तृष्णाशमन और अन्नवाही में आम-प्रदोष नाशक चिकित्सा करनी चाहिये। 'विविधाशितपीतीय' अध्याय में रस से लेकर शुक्र तक दूषित धातुओं की जो चिकित्सा कही है, वही रसवह आदि दुष्ट स्रोतों की भी समझनी चाहिये। उनकी उसी प्रकार चिकित्सा करनी चाहिये। मूत्रवाही, मलवाही और स्वेदवाही स्रोतों के दूषित होने पर क्रमशः मूत्रकृच्छ्र रोग की, अतिसार रोग की तथा ज्वर की चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ३२–३४ ॥

तत्र श्लोकाः—त्रयोदशानां मूलानि स्रोतसां दुष्टिलक्षणम्।
सामान्यं नाम पर्यायाः कोपनानि परस्परम् ॥ ३५ ॥
दोषहेतुः पृथक्त्वेन भेषजोद्देश एव च।
स्रोतोविमाने निर्दिष्टस्तथा चाऽऽदौ विनिश्चयः ॥ ३६ ॥
केवलं विदितं यस्य शरीरं सर्वभावतः।
शारीराः सर्वरोगाश्च स कर्मसु न मुह्यति ॥ ३७ ॥

तेरह प्रकार के स्रोतों के मूल, प्रत्येक के दूषित लक्षण, सब स्रोतों के सामान्य दूषित लक्षण, नाम, पर्य्याय, परस्पर कोपन, दोष का कारण, पृथक् २ औषध और उपक्रम ये सब बातें इस स्रोतो-विमान अध्याय में भगवान् आत्रेय ने कह दी हैं। जो भिषक् सम्पूर्ण शरीर के स्रोतों आदि को भली प्रकार जानता है और जिस को शारीरिक और मानसिक सब प्रकार के रोग ज्ञात हैं, वह चिकित्सा में कभी मोह को प्राप्त नहीं होता ॥ ३५–३७ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते तृतीये विमानस्थाने
स्रोतोविमानं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः ।

अथातो रोगानीकं विमानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः॥ २ ॥

अब इसके आगे 'रोगानीक' नामक विमान का व्याख्यान करेंगे । जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥२॥

द्वे रोगानीके भवतः प्रभावभेदेन साध्यं चासाध्यं च, द्वे रोगानीके बलभेदेन मृदु च दारुणं च, द्वे रोगानीकेऽधिष्ठानभेदेन—मनोऽधिष्ठानं शरीराधिष्ठानं च, द्वे रोगानीके निमित्तभेदेन स्वधातुवैषम्यनिमित्तं चाऽऽगन्तुनिमित्तं च, द्वे रोगानीके आशयभेदेन—आमाशयसमुत्थं च पक्वाशयसमुत्थं च। एवमेतत्प्रभाव-बलाधिष्ठान-निमित्ताशय-भेदाद् द्वैधं सद्भेदप्रकृत्यन्तरेण भिद्यमानमथवा संधीयमानं स्यादेकत्वं वा बहुत्वं वा। एकत्वं तावदेकमेव रोगानीकं दुःखसामान्यात्, बहुत्वं तु दश रोगानीकानि प्रभावभेदादिना भवन्ति। बहुत्वमपि संख्येयं स्यादसंख्येयं वा स्यात्। तत्र संख्येयं तावद्यथोक्तमष्टोदरीये। अपरिसंख्येयं पुनर्यथा महारोगाध्याये, रुग्वर्णसमुत्थानादीनामसंख्येयत्वात् ॥ ३ ॥

प्रभाव के भेद से रोगों के समूह दो प्रकार के हैं, (१) साध्य और (२) असाध्य। बल के भेद से रोग समूह दो प्रकार के हैं (१) मृदु (अल्पबल) और (२) दारुण (महाबल)। अधिष्ठान अर्थात् आश्रय के भेद से रोग दो प्रकार के हैं (१) मानस,मन जिनका अधिष्ठान है और शारीरिक जिनका शरीर अधिष्ठान है। कारण के भेद से रोग दो प्रकार के हैं, (१) धातुओं (वात, पित्त, कफ) की विषमता से होने वाले और (२) आगन्तुक कारण से होने वाले। आमाशय के भेद से रोग दो प्रकार के हैं। (१) आमाशय से उत्पन्न होने वाले और (२) पक्वाशय से उत्पन्न होने वाले। (आमाशय पित्त और कफ का स्थान है और पक्वाशय वायु का स्थान है।) इस प्रकार प्रभाव, बल, अधिष्ठान, निमित्त और आशय के भेद से रोग दो प्रकार के होने पर भी प्रकृति आदि भेदों के कारण अनेक प्रकार के हो जाते हैं। रोग का रूप एक प्रकार का ही है। रुजा, दुःख, पीड़ा यह सब प्रकार के रोगों में सामान्य धर्म है। रोग बहुत हैं, क्योंकि प्रभाव, बल आदि के भेद से रोग बहुत प्रकार के हो जाते हैं। यह बहुत होना भी दो प्रकार का है। संख्येय अर्थात् गिनने के योग्य एवं असंख्येय अर्थात् गणना के अयोग्य। गिनने के योग्य जैसे अष्टोदरीय रोगाध्याय में

रोगों की गणना की है। असंख्य जैसे महारोगाध्याय में रुक्, वर्ण समुत्थान आदि के कारण असंख्य हो जाते हैं ॥३॥

नच संख्येयाग्रेषु भेदप्रकृत्यन्तरीयेषु विगीतिरित्यतो दोषवती स्यादत्र काचित्प्रतिज्ञा, न चाविगीतिरित्यतः स्याददोषवती। भेत्ता हि भेद्यमन्यथा भिनत्ति, अन्यथा पुरुषस्तात्रद्भिन्नं भेदप्रकृत्यन्तरेण भिन्दन् भेदसंख्याविशेषमापादयत्यनेकधा, नच पूर्वं भेदाग्रमुपहन्ति। समानायामपि खलु भेदप्रकृतौ प्रकृतानुप्रयोगान्तरमपेक्ष्यम्। सन्ति ह्यर्थान्तराणि समानशब्दाभिहितानि। सन्ति चानर्थान्तराणि पर्यायशब्दाभिहितानि। समानो हि रोगशब्दो दोषेषु च व्याधिषु च, दोषा ह्यपि रोगशब्दमातङ्कशब्दं यक्ष्मशब्दं दोषप्रकृतिशब्दं विकारशब्दं च लभन्ते। व्याधयश्च रोगशब्दमातङ्कशब्दं यक्ष्मशब्दं दोषप्रकृतिशब्दं विकारशब्दं च लभन्ते। तत्र दोषेषु चैव व्याधिषु च रोगशब्दः समानः, शेषेषु तु विशेषवान् ॥ ४ ॥

तत्र व्याधयोऽपरिसंख्येया भवन्ति, अतिबहुत्वात्। दोषास्तु खलु परिसंख्येयाः, अनतिबहुत्वात्। तस्माद्यथाचित्रं विकारा उदाहरणार्थमनवशेषेण च दोषा व्याख्यास्यन्ते।

एक ही रोग में संख्येयत्व और असंख्येयत्व ये दोनों विरुद्ध बातें किस प्रकार हो सकती हैं ? प्रकृति भेद के कारण (ज्वर, अतिसार आदि भेद से) गिने जाने योग्य रोगों में एक और अनेक भेद का कथन परस्पर विरुद्ध दोषयुक्त नहीं है। यदि ऐसा विपरीत भाव न हो तो इतने से कोई कथन दोषरहित भी नहीं होता।

भेद दर्शाने वाला पुरुष भेद्य रोग के अन्य रूप से भेद करता है। पहिले अन्य प्रकार (एक दूसरे ही रूप से) से भेद किये होते हैं। पहिले एक ही भेद-प्रकृति से एक रूप से विभक्त किये हुए रोग को पीछे प्रकृति-भेद से विभाग करके अनेक (असंख्य) भेद कर लेता है। इस प्रकार असंख्य भेद करने पर भी वह प्रथम किये हुए भेदों का लोप नहीं करता, वह तो बने ही रहते हैं।

भेद-प्रकृति में समान होने पर भी प्रकृत अर्थात् समान शब्द से कहने के बाद अन्य रूप से वर्णन करना भी अपेक्षित है। क्योंकि समान शब्द से कहने के जाने वाले भी अनेक पदार्थ हैं और नाना पर्याय शब्दों से कहे जाने वाले एक एक पदार्थ भी अनेक हैं। अर्थात् एक शब्द अनेकार्थवाचक है, और भिन्न भिन्न शब्द एक ही अर्थ को कहते हैं। जैसे—रोग शब्द व्याधि और दोष के लिये प्रयुक्त होता है। दोषों को रोग, आतंक, यक्ष्म, दोष, प्रकृति, विकार आदि

शब्दों से कहा जाता है। व्याधियां भी रोग, आतंक, यक्ष्म, दोष-प्रकृति और विकार शब्दों से कही जाती हैं। इस प्रकार से दोषों और व्याधियों में रोग-शब्द सामान्य रूप से प्रयुक्त होता है। शेष ज्वरादि में विशेष अर्थ को कहता है। इनमें व्याधियां असंख्य हैं। क्योंकि ये बहुत अधिक हैं। दोष परिसंख्येय (गणना के योग्य परिमित) हैं। क्योंकि ये बहुत अधिक नहीं हैं। इसलिये रोग के असंख्य होने से, उदाहरण के लिये कुछ थोड़े से विकारों को सम्पूर्ण रूप में और गिनने के योग्य होने से दोषों को सम्पूर्ण रूप से कहेंगे ॥ ४ ॥

रजस्तमश्च मानसौ दोषौ। तयोर्विकाराः काम-क्रोध-लोभ-मोहेर्ष्या-मान-मद-शोक-चित्तोद्वेग-भय-हर्षादयः। वातपित्तश्लेष्माणस्तु खलु शारीरा दोषाः, तेषामपि च विकारा ज्वरातीसार-शोथ-शोष-श्वास-मेह-कुष्ठादय इति। दोषाश्च केवला व्याख्याताः, विकारैकदेशश्च ॥ ५ ॥

रज और तम ये दो मानस दोष हैं। इन रज और तम के विकार काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, मान, मद, शोक, चिन्ता, उद्वेग, भय हर्ष अतिसार शोथ, शोष, मेह, कुष्ठ आदि हैं। इस प्रकार से सम्पूर्ण रूप में और विकार एकांश में कह दिये हैं ॥ ५ ॥

तत्र तु खल्वेषां द्वयानामपि दोषाणां त्रिविधं प्रकोपणम्; तद्यथा—असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः, प्रज्ञापराधः, परिणामश्चेति। प्रकुपितास्तु खलु प्रकोपणविशेषाद् दूष्यविशेषाच्च विकारविशेषानभिनिर्वर्तयन्त्यपरिसंख्येयान्। ते विकाराः परस्परमनुवर्तमानाः कदाचिदनुबध्नन्ति कामादयो ज्वरादयश्च। नियतस्त्वनुबन्धो रजस्तमसोः परस्परम्। न ह्यरजस्कं तमः प्रवर्तते ॥ ६ ॥

इन दोनों प्रकार के (मानसिक और शारीरिक) दोषों के कुपित होने के कारण तीन प्रकार के हैं। (१) असात्म्येन्द्रियार्थ-संयोग (२) प्रज्ञापराध और (३) परिणाम। ये कुपित हुए दोष प्रकोपन भेद से, और दूष्य (शरीर के धातुओं) के भेद से असंख्य रोगों को उत्पन्न करते हैं। ये उत्पन्न होकर कभी परस्पर एक दूसरे विकारों से मिल जाते हैं (शारीरिक रोग मानसिक रोगों से और मानसिक विकार शारीरिक विकारों से)। जैसे काम आदि मानसिक विकार, ज्वर आदि शारीरिक विकारों से मिल जाते हैं।

रज और तम का परस्पर सम्बन्ध नियत (सदा स्थिर) बना रहता है। क्योंकि तम रज के बिना नहीं रह सकता, किन्तु सदा रज के साथ मिला रहता है ॥६॥

प्रायः शारीरदोषाणामेकाधिष्ठानीयानां संनिपातः संसर्गो वा समानगुणत्वात्। दोषा हि दूषणैः समानाः ॥ ७ ॥

प्रायः वात आदि शारीरिक दोषों के एक स्थान में रहने से परस्पर मेल हो जाता है। तीनों दोषों के मिलने से सन्निपात और दो दोषों के मिलने से संसर्ग होता है। कारण की भिन्नता होने पर भी इन में जो परस्पर संसर्ग होता है वह इसलिये होता है कि दोष दूषित करने वाले कारणों के समान गुण वाले हैं। अर्थात् दोषों में दूषित करने वाले कारणों के समान गुण हैं ॥ ७ ॥

तत्रानुबन्ध्यानुबन्धविशेषः,-स्वतन्त्रो व्यक्तलिङ्गो यथोक्तसमुत्थान-प्रशमो भवत्यनुबन्ध्यः, तद्विपरीतलक्षणस्त्वनुबन्धः। [1]अनुबन्ध्य-(अनुबन्ध) लक्षणसमन्वितास्तत्र यदि दोषा भवन्ति तत् त्रिकं संनिपातमाचक्षते, द्वयं वा संसर्गम्। अनुबन्ध-[2]विशेषकृतस्तु बहुविधो दोषभेदः। एवमेष संज्ञाप्रकृतो भिषजां दोषेषु चैव व्याधिषु च नाना-प्रकृतिविशेषव्यूहः ॥ ८ ॥

अधिष्ठान (आश्रय) और निदान की समानता होने पर भी अनुबन्ध्य और अनुबन्ध के कारण इन में भेद होता है।

अनुबन्ध्य का लक्षण—जो स्वतन्त्र (स्वतः प्रधान), स्पष्ट लक्षणोंवाला, अपने ही कारण से उत्पन्न होने वाला तथा अपनी ही चिकित्सा से शान्त होने वाला हो, उसको अनुबन्ध्य कहते हैं। इस के विपरीत लक्षणोंवाला (परतंत्र, अस्पष्ट चिह्न, पृथक् निदान एवं चिकित्सा वाला) अनुबन्ध होता है। यदि अनुबन्ध्य के रूप से तीनों दोष मिले हों तो इसे सन्निपात और दो दोष मिले हों तो इस को 'संसर्ग' कहते है। अनुबन्ध के रूप में मिले हुए दोषों के बहुत भेद हो जाते हैं। इस प्रकार से दोषों में (अनुबन्ध्य और अनुबन्ध के भेद से) और रोगों से (प्रकोपन आदि के भेद से) वैद्योंने (सन्निपात, संसर्गादि से ज्वर अतिसार आदि) नाना प्रकार की संज्ञाएं की हैं ॥ ८ ॥

अग्निषु तु शारीरेषु चतुर्विधो बलभेदेन भवति। तद्यथा—तीक्ष्णो मन्दः समो विषम इति। तत्र तीक्ष्णोऽग्निः सर्वापचारसहः तद्विपरीतलक्षणो मन्दः। समस्तु खल्वपचारतो विकृतिमापद्यतेऽनपचारतस्तु प्रकृतावबतिष्ठते, समलक्षणविपरीतलक्षणस्तु विषमः। इत्येते चतुर्विधा भवन्त्यग्नयश्चतुर्विधानामेव पुरुषाणाम् ॥ ९ ॥

बल के भेद के कारण शरीरस्थ अग्नि चार प्रकार का है। जैसे—तीक्ष्ण मन्द, सम और विषम। इन में तीक्ष्ण अग्नि सब प्रकार के अपचारों को सहन करता है। वह विषम आहार को भी शीघ्र जीर्ण कर देता है। तीक्ष्ण अग्नि से विपरीत लक्षणों वाले अग्नि को मन्द-अग्नि कहते हैं। सम अग्नि यथासमय

1 'अनुबन्ध्य लक्षण सम'०, २. 'अनुबन्ध्यानुबन्धविशेष०' इति च पाठ भेदौ।

भुक्त अन्न को भली प्रकार पचाता है। यह अग्नि अपचार से विकृति को प्राप्त होता है। अनपचार से प्रकृति में ही रहता है। सम अग्नि के विपरीत लक्षणों वाले अग्नि को 'विषम' अग्नि कहते हैं ॥ ९ ॥

तत्र समवातपित्तश्लेष्मणां प्रकृतिस्थानां समा भवन्त्यग्नयः, वातलानां तु वाताभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने विषमा भवन्त्यग्नयः, पित्तलानां तु पित्ताभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने तीक्ष्णा भवन्त्यग्नयः, श्लेष्मलानां तु श्लेष्माभिभूते ह्यग्न्यधिष्ठाने मन्दा भवन्त्यग्नयः ॥ १० ॥

ये चार प्रकार के अग्नि चार प्रकार के पुरुषों में होते हैं। जैसे—सम-वात पित्त-कफ-प्रकृति-वाले पुरुषों में दोषों के समानावस्था में स्थित होने से अग्नि भी सम रहता है। वातप्रकृति वाले पुरुषों में अग्नि के आश्रय स्थान (ग्रहणी) के वायु से आक्रान्त होने के कारण अग्नि भी विषम रहता है। पित्तप्रकृति के पुरुषों में अग्नि के अधिष्ठान (ग्रहणी) के पित्त से आक्रान्त होने के कारण अग्नि भी तीक्ष्ण रहता है। कफप्रकृति के पुरुषों में अग्नि के आश्रय स्थान (ग्रहणी) के कफ से आक्रान्त होने के कारण अग्नि भी मन्द रहता है ॥ १० ॥

तत्र केचिदाहुः—न समवातपित्तश्लेष्माणो जन्तवः सन्ति, विषमाहारोपयोगित्वान्मनुष्याणाम्। तस्माच्च वातप्रकृतयः केचित् केचित्पित्तप्रकृतयः, केचित्पुनः श्लेष्मप्रकृतयो भवन्तीति।

इस पर कुछ आचार्यों का कथन है कि समवात-पित्त-कफ प्रकृति वाले पुरुष नहीं होते। क्योंकि मनुष्यों का आहार विषम होता है। गर्भ में ही प्रकृति बनती है। इसलिये (माता के आहार की विषमता से भी) कोई वात-प्रकृति, कोई पित्तप्रकृति और कोई कफप्रकृति होते हैं।

तच्चानुपपन्नम्। कस्मात्कारणात्? समवातपित्तश्लेष्माणं ह्यरोगमिच्छन्ति भिषजः। यतः प्रकृतिश्चाऽऽरोग्यं, आरोग्यार्था च भेषजप्रवृत्तिः, सा चेष्टरूपा, तस्मात्सन्ति समवातपित्तश्लेष्माणः। न तु खलु सन्ति वातप्रकृतयः पित्तप्रकृतयः श्लेष्मप्रकृतयो वा। तस्य तस्य किल दोषस्य ह्यधिकभावात्सा सा दोषप्रकृतिरुच्यते मनुष्याणाम्। न च विकृतेषु दोषेषु प्रकृतिस्थत्वमुपपद्यते। तस्मान्नैताः प्रकृतयः सन्ति। सन्ति तु खलु वातलाः पित्तलाः श्लेष्मलाश्च। अप्रकृतिस्थास्तु ते ज्ञेयाः ॥ ११ ॥

उनका ऐसा कथन ठीक नहीं हैं, क्योंकि वैद्य लोग वात, पित्त, कफ इन तीनों की समान अवस्था वाले को ही नीरोग (रोग-रहित) कहते हैं और उसी को प्रकृति मानते हैं। रोगों से रहित रहने के लिये ही औषध की ओर मनुष्य की प्रवृत्ति है और यह सब को इष्ट है। यह अभिवाञ्छित अर्थ ही प्रवृत्ति में

हेतु है। इसलिये समान-वात-पित्त-कफ प्रकृति के भी मनुष्य होते हैं। परन्तु वातप्रकृति, पित्तप्रकृति, और कफप्रकृति के मनुष्य नहीं होते हैं। उस उस दोष की अधिकता से मनुष्यों की २-वह दोष-प्रकृति कही जाती है। विकृत (विषम) हुए दोषों को 'प्रकृति' नहीं कहा जा सकता, (क्योंकि दोषों की समान अवस्था का नाम 'प्रकृति' है)। इसलिये वातप्रकृति आदि प्रकृतियां नहीं हैं। हां, वातल, पित्तल, और श्लेष्मल (वात-बहुल, पित्त-बहुल, श्लेष्म-बहुल) मनुष्य हैं। इन को 'अप्रकृतिस्थ' (प्रकृति में न रहने वाले) समझना चाहिये, ये 'विकृतिस्थ' हैं ॥ ११ ॥

तेषां तु खलु चतुर्विधानां पुरुषाणां चत्वार्यनुप्रणिधानानि श्रेयस्कराणि। तत्र समसर्वधातूनां सर्वाकारसमं. अधिकदोषाणां तु त्रयाणां यथास्वं दोषाधिक्यमभिसमीक्ष्य दोषप्रतिकूलयोगीनि त्रीण्यनुप्रणिधानानि श्रेयस्कराणि भवन्ति यावदग्नेः समीभावात्, समेतु सममेव कार्यम्, एवं चेष्टा भेषजप्रयोगाश्चापरे, तान् विस्तरेणानुव्याख्यास्यामः ॥ १२ ॥

इन चार प्रकार के (सम प्रकृति, वात, पित्त, कफ एवं तीक्ष्ण, मन्द, विषम और समाग्नि) प्रकृति वाले पुरुषों को आगे कहे जाने वाले चार प्रकार के अन्न पान का सेवन करना हितकारी होता है। इन में सम सर्वधातु (दोषों) वाले पुरुषों को सब प्रकार का सेवन समान रूप में करना श्रेयस्कर है। शेष अधिक दोषों वाले वातल, पित्तल, श्लेष्मल तीनों को उन २ के दोषों की अधिकता को देखकर दोष के प्रतिकूल वस्तुओं का तब तक सेवन करना चाहिये जब तक अग्नि समान अवस्था में न आये। समान अवस्था में आने पर बन्द कर सब का समान रूप में सेवन करना चाहिये। इसी प्रकार धातुओं को समान करनेवालेअन्यान्य भेषज प्रयोग भी अभीष्ट हैं। उन का विस्तार से वर्णन करेंगे ॥

त्रयस्तु पुरुषा भवन्त्यातुराः, ते त्वनातुरास्तन्त्रान्तरीयाणां भिषजाम्। तद्यथा—वातलः पित्तलः श्लेष्मलश्चेति। तेषां विशेषविज्ञानं—वातलस्य वातनिमित्ताः, पित्तलस्य पित्तनिमित्ताः, श्लेष्मलस्य श्लेष्मनिमित्ता व्याधयः प्रायेण बलवन्तश्च भवन्ति ॥ १३ ॥

वातल, पित्तल और श्लेष्मल ये तीन प्रकार के रोगी होते हैं। अन्य तन्त्र-कर्त्ताओं के मत से ये रोगी नहीं हैं। यथा—वातल, पित्तल और श्लेष्मल। इन के मत में ये भी प्रकृतियां हैं। इस प्रकार से सात प्रकृतियां हैं। इन में यह बात विशेषकर जानने योग्य है कि वातप्रकृति को वायुजन्य, पित्तल को पित्त-जन्य और श्लेष्मल को कफजन्य रोग प्रायः और बलवान् रूप में होते हैं ॥१३॥

तत्र वातलस्य वातप्रकोपणोक्तान्यासेवमानस्य क्षिप्रं वातः प्रकोपमापद्यते, न तथेतरौ दोषौ। स तस्य प्रकोपमापन्नो यथोक्तैर्विकारैः शरीरमुपतपति बलवर्णसुखायुषामुपघाताय। तस्यावजयनं—स्नेहस्वेदौ विधियुक्तौ, मृदूनि च संशोधनानि स्नेहोष्ण-मधुराम्ल-लवण-युक्तानि, तद्वदभ्यवहार्याण्युपनाहनपोवेष्टनोन्मर्दन-परिषेकावगाहन-संवाहनावपीडन-वित्रासन-विस्मापन-विस्मारणानि, सुरासवविधानं, स्नेहाश्चानेकयोनयो दीपनीय-पाचनीय-वातहर-विरेचनीयोपहिताः तथा शतपाकाः सहस्रपाकाः सर्वशश्च प्रयोगार्थां बस्तयः, बस्तिनियमः, सुखशीलता चेति॥ १४॥

इन में वातप्रकृति का मनुष्य जब वायु को प्रकुपित करने वाले कारणों का सेवन करता है तब वायु शीघ्र प्रकुपित हो जाता है, शेष दोनों दोष पित्त और कफ इतना शीघ्र कुपित नहीं होते। वायु प्रकुपित होकर पूर्वोक्त अस्सी प्रकार के वात रोगों (विकारों) में बल, वर्ण, सुख और आयुष्य को नष्ट करने के लिये शरीर को पीड़ित करता है। इस वायु को शान्त करने के लिये स्नेह विधि और स्वेद-विधि हैं। एवं मृदु (तीक्ष्ण नहीं) स्नेह, उष्ण, मधुर, अम्ल, लवण युक्त संशोधन, मृदु, स्नेहन, उष्ण, मधुर, अम्ल, लवण से युक्त शोधन द्रव्य और आहार-द्रव्य, उपनाह (वातहर द्रव्यों का बन्धन), उद्वेष्टन (वेष्टन लपेटना), उन्मर्दन (हाथों से मालिश), परिषेक (वातहर क्वाथों से परिसेचन), अवगाहन (वात हर क्वाथों में डुबकी), संवाहन (कोमलता से हाथ फेरना), अवपीडन (ताडन), वित्रासन (डराना), विस्मापन (विस्मय उत्पन्न करना), विस्मारण (भुलाना), सुरा और आसव (वारुणी यंत्र से तैयार किया पदार्थ सुरा, न तैयार किया हुआ आसव) का देना, स्थावर और जंगम योनि के स्नेहों को दीपनीय, पाचनीय और विरेचनीय औषधियों से मिलाकर सौ बार या हज़ार बार (अर्थात् बार-बार) पकाये हुए स्नेह, सब प्रकार की बस्ति विधि, (बहुत बार पकाये तैलों की बस्ति भी उपयुक्त है), और निरन्तर सुखी जीवन व्यतीत करना उत्तम है॥ १४॥

पित्तलस्यापि पित्तप्रकोपणोक्तान्यासेवमानस्य क्षिप्रं पित्तं प्रकोपमापद्यते, तथा नेतरौ दोषौ। तदस्य प्रकोपमापन्नं यथोक्तैर्विकारैः शरीरमुपतपति बल-वर्ण-सुखायुषामुपघाताय। तस्यावजयनं—सर्पिष्पानं, सर्पिषा च स्नेहनमधश्च दोषहरणं, मधुर-तिक्त-कषाय-शीतानां चौषधाभ्यवहार्याणामुपयोगो मृदु-मधुर-सुरभि-शीत-हृद्यानां गन्धानां चोपसेवा, मुक्तामणिहारावलीनां च परम-शिशिर-वारि-संस्थितानां धार-

णमुरसा क्षणे क्षणे चाप्रथ-चन्दन-प्रियङ्गु-कालीय-मृणाल-शीतवात-वारिभिरुत्पल-कुमुद-कोकनद-सौगन्धिक-पद्मानुगतैश्च वारिभिरभिप्रोक्षणं, श्रुति-सुख-मृदुमधुर-मनोनुगानां च गीतवादित्राणां श्रवणं, श्रवणं चाभ्युदयानां, सुहृद्भिश्च संयोगः, संयोगश्चेष्टाभिः स्त्रीभिः शीतोपहितांशुक-स्रग्दामहारधारिणीभिर्निशाकरांशु-शीतल-प्रवात-हर्म्यवासः, शैलान्तर-पुलिन-शिशिरसदन-वसन-व्यजन-पवनानां सेवा, रम्याणां चोपवनानां सेवा, सुख-शिशिर-सुरभि-मारुतोपवातानामुपसेवनं, सेवनं च नलिनोत्पल-पद्म-कुमुद-सौगन्धिक-पुण्डरीक-शतपत्र-हस्तानां सौम्यानां च सर्वभावानामिति॥ १५ ॥

पित्त-प्रकृति का मनुष्य जब पित्त-प्रकोपक वस्तुओं का सेवन करता है उस समय पित्त शीघ्र कुपित होजाता है, शेष अन्य दो धातु इतनी जल्दी कुपित नहीं होते। तब इस पुरुष के पूर्वोक्त चालीस पित्तजन्य रोगों से शरीर आक्रान्त हो जाता है, जिससे उसके बल, वर्ण, सुख और आयु का नाश होता है। इस पित्त को शान्त करने के लिये घी का सेवन करना श्रेयस्कर है। शोधन के लिये घी से स्नेहन (तैलादि से नहीं), अधोदोषहरण अर्थात् विरेचन का देना, मधुर, तिक्त, कषाय, और शीत औषधियों से युक्त खान-पान का उपयोग, मृदु-मधुर, सुगन्धित, शीतल और हृदय को प्रिय लगने वाले गन्धों (सुगन्धों) का सेवन, अति ठण्डे पानी में रक्खे मोती, मणियों की मालाओं को छाती पर धारण करना, थोड़ी देर में श्वेत चन्दन, प्रियंगु, कालीयक, (चन्दन का भेद) मृणाल, शीतल वायु, शीतल पानी, उत्पल, कुमुद, कोकनद, सौगन्धिक और पद्म (ये सब कमल के भेद हैं) इनसे हाथ-पांव धोना या छींटे डालना, कान के लिये प्रिय, मृदु, मधुर एवं मन के अनुकूल गाना-बजाना सुनना, उत्सव (नाच-रंग) आदि देखना, मित्रों से मिलना शीतल द्रव्यों से लिप्त वस्त्र, माला, और हारों को धारण की हुई अभिलषित स्त्रियों से मिलना-जुलना, चन्द्रमा की शीतल किरणों से शीतल खुली वायु में, महल की छतों पर ठंडे, पहाड़ों के बीच में, नदियों के तटों पर, ठंडे घरों (धारागृहों) में, ठण्डे पंखों की शीतल वायु का सेवन, सुखस्पर्श, शिशिर, सुगन्धित वायु से युक्त रम्य उपवनों का सेवन करना, पद्म, उत्पल, नलिन, कुमुद, सौगन्धिक, पुण्डरीक, शतपत्र इन नाना प्रकार के कमलों से भरे तालाबों का सेवन और अन्य सब सौम्य शीतल वस्तुओं का सेवन करना पित्त को शान्त करता है ॥ १५ ॥

श्लेष्मलस्यापि श्लेष्मप्रकोपणोक्तान्यासेवमानस्य क्षिप्रं श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते, न तथेतरौ दोषौ। स तस्य प्रकोपमापन्नो यथोक्तै-

विकारैः शरीरमुपतपति बलवर्णसुखायुषामुपघाताय । तस्यावजयनं—विधियुक्तानि तीक्ष्णोष्णानि संशोधनानि, रूक्षप्रायाणि चाभ्यवहार्याणि कटु-तिक्त-कषायोपहितानि, तथैव धावन-लंघन-प्लवन-परिसरण-जागरणानि युद्ध-व्यवाय-व्यायामोन्मर्दन-स्नानोत्सादनानि, विशेषतस्तीक्ष्णानां दीर्घकालस्थितानां मद्यानामुपयोगः, सधूमपानः सर्वशश्चोपवासः, तथोष्णवासः सुखप्रतिषेधश्च सुखार्थमेवेति ॥ १६ ॥

कफप्रकृति के मनुष्य का कफ प्रकोपक वस्तुओं को सेवन करने से शीघ्र प्रकुपित हो जाता है, शेष अन्य दोनों धातु इतनी जल्दी कुपित नहीं होते। कुपित कफ पूर्वोक्त बीस प्रकार के कफ-रोगों से शरीर को पीड़ित करता है, जिससे उसके बल, वर्ण सुख और आयु का ह्रास होता है। इस कफ को शमन करने के लिये शास्त्रोक्त विधि से तीक्ष्ण-उष्ण संशोधन और संशमन, रूक्ष गुण-वाले कटु, तिक्त, कषाय रस युक्त आहार-द्रव्य प्रयोग करने चाहियें। इसी प्रकार भागना, उपवास (लंघन), प्लवन (कूदना या पानी में तैरना), परिसरण (परिक्रमण, चारों ओर घूमना), रात्रि में जागना युद्ध व्यायाम (शरीर को परिश्रम देने वाला कर्म, कुश्ती आदि), उन्मर्दन (रूक्ष मालिश), स्नान, उत्सादन (उबटन लगाना), खासकर तीक्ष्ण और पुराने मद्य का उपयोग, और धूमपान करना, सब प्रकार से उपवास, गरम वस्त्रों का उपयोग, और सुख (आराम) का परित्याग, दुःख सहना, सुख प्राप्ति के लिये सेवन करना चाहिये ॥१६॥

भवति चात्र—सर्वरोगविशेषज्ञः सर्वकार्यविशेषवित् ।
सर्वभेषजतत्त्वज्ञो राज्ञः प्राणपतिर्भवेत् ॥ १७ ॥

सब रोगों में (दोष, अग्नि, वात आदि को) जानने वाला, सब कार्यों के अनुष्ठान को भली प्रकार जानने वाला, सब औषधियों के तत्त्व (सार) का समझने वाला वैद्य राजा का प्राणपति (प्राणों का पालक) होगा ॥ १७ ॥

तत्र श्लोकाः—प्रकृत्यन्तरभेदेन रोगानीकविकल्पनम् ।
परस्पराविरोधश्च सामान्यं रोगदोषयोः ॥ १८ ॥
दोषसंख्याविकाराणामेकदोषप्रकोपणम् ।
जरणं प्रतिचिन्ता च कायाग्नेर्धुक्षणानि च ॥ १९ ॥
नराणां वातलादीनां प्रकृतिस्थापनानि च ।
रोगानीके विमानेऽस्मिन् व्याहृतानि महर्षिणा ॥ २० ॥

प्रकृति (प्रभाव आदि) भेद से, रोगों के भेद, नानाविध संख्या होने पर भी परस्पर अविरोध, रोग और दोष में समानता, दोषों की संख्या, रोगों का

एक देश, दोषों के प्रकोप का कारण, अग्नि का विशेष कथन, शरीरस्थ अग्नि के चार रूप, वातल आदि तीन पुरुषों को प्रकृति में लाने वाली भेषज, ये सब बातें इस 'रोगानीक' अध्याय में महर्षि आत्रेय ने कह दी हैं ॥ १६–२० ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते तृतीये विमानस्थाने रोगानीक-विमानं नाम षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

अथातो व्याधितरूपीयं विमानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब 'व्याधितरूपीय' विमान का व्याख्यान करेंगे जैसा कि भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १–२ ॥

इह खलु द्वौ पुरुषौ व्याधितरूपौ भवतः। तद्यथा—गुरुव्याधित एकः सत्त्वबलशरीरसंपदुपेतत्वाल्लघुव्याधित इव दृश्यते, लघुव्याधितोऽपरः सत्त्वादीनामधमत्वाद् गुरुव्याधित इव दृश्यते, तयोरकुशलाः केवलं चक्षुषैव रूपं दृष्ट्वाऽध्यवस्यन्तो व्याधिगुरुलाघवे विप्रतिपद्यन्ते ॥ ३ ॥

दो प्रकार के पुरुष रोगी की भाँति दीखते हैं (१) गुरु व्याधि से पीड़ित एक मनुष्य और सत्त्व, बल, और शरीर इनके उत्कर्ष से गुरु व्याधि वाला होने पर भी लघुव्याधि से पीड़ित सा दिखाई देता है। दूसरा सत्त्व, बल, शरीर इनके न्यून होने से लघु व्याधि होने पर भी गुरु व्याधि से पीड़ित दिखाई देता है। इनमें अकुशल वैद्य केवल आंख से ही देखकर गुरु व्याधि और लघु व्याधि के ज्ञान में मोह या धोखे में पड़ जाते हैं। वे गुरु व्याधि को लघु-व्याधि और लघु-व्याधि को गुरु-व्याधि समझ लेते हैं ॥ ३ ॥

न हि ज्ञानावयवेन कृत्स्ने ज्ञेये ज्ञानमुपपद्यते; विप्रतिपन्नास्तु खलु रोगज्ञाने, उपक्रमयुक्तिज्ञाने चापि विप्रतिपद्यन्ते। ते यदा गुरुव्याधितं लघुव्याधितरूपमासादयन्ति, तदा तमल्पदोषं मत्वा संशोधनकालेऽस्मै मृदुसंशोधनं प्रयच्छन्तो भूय एवास्य दोषानुदीरयन्ति। यदा तु लघुव्याधितं गुरुव्याधितरूपमासादयन्ति, तं महादोषं मत्वा संशोधनकालेऽस्मै तीक्ष्णं संशोधनं प्रयच्छन्तो दोषानतिनिर्हृत्यैव शरीरमस्य क्षिणवन्ति; एवमवयवेन ज्ञानस्य कृत्स्ने ज्ञेये ज्ञानमिति मन्यमानाः

परिस्खलन्ति, विदितवेदितव्यास्तु भिषजः सर्वं सर्वथा यथासंभवं परीक्ष्यं परीक्ष्याध्यवस्यन्तो न क्वचिदपि विप्रतिपद्यन्ते, यथेष्टमर्थमभिनिर्वर्तयन्ति चेति ॥ ४ ॥

क्योंकि ज्ञान के एक देश (भाग) से सम्पूर्ण ज्ञेयवस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता। इस प्रकार से रोग-ज्ञान में धोखा खाने पर चिकित्सा-युक्ति ज्ञान में भी धोखा खाजाते हैं। जिस समय ये अकुशल वैद्य गुरु-व्याधि से पीड़ित मनुष्य को लघु-व्याधि से पीड़ित अर्थात् अल्प-दोषयुक्त समझ कर इस रोगी को संशोधन के लिये मृदु संशोधन देते हैं, उस समय इसके दोषों को वे और भी अधिक बढ़ा देते हैं और जब लघु-व्याधि से पीड़ित व्यक्ति को महादोषयुक्त, गुरु-व्याधि वाला समझकर संशोधन के लिये तीक्ष्ण संशोधन देते हैं, तब दोषों को बहुत अधिक मात्रा में बाहर निकाल कर इस रोगी के शरीर को निर्बल करते हैं। इस प्रकार से ज्ञान के एक ही भाग से सम्पूर्ण ज्ञेय वस्तु का ज्ञान करके काम करने पर ये सब स्थानों पर धोखा खाते हैं। इसके विपरीत तीनों प्रमाणों द्वारा परीक्षा करने वाले, सर्व प्रमाण-कुशल वैद्य सत्त्व आदि सब बातों की परीक्षा करके कार्य करते हैं, इसलिये चिकित्सा कार्य में वे कहीं भी धोखा नहीं खाते। इससे इनको मनोवाञ्छित प्रयोजन (आरोग्य) मिल जाता है।४।

भवन्ति चात्र—सत्त्वादीनां विकल्पेन व्याधीनां रूपमातुरे।
दृष्ट्वा विप्रतिपद्यन्ते बाला व्याधिबलाबले ॥ ५ ॥
ते भेषजमयोगेन कुर्वन्त्यज्ञानमोहिताः।
व्याधितानां विनाशाय क्लेशाय महतेऽपि वा ॥ ६ ॥
प्राज्ञास्तु सर्वमाज्ञाय परीक्ष्यमिह सर्वथा।
न स्खलन्ति प्रयोगेषु भेषजानां कदाचन ॥ ७ ॥

मूर्ख वैद्य गुरु-व्याधित पुरुष में सत्त्व आदि के उत्कर्ष और अपकर्षको न समझ कर रोग के बल और अबल (गुरु-लाघव ज्ञान) में धोखा खा जाते हैं। इस प्रकार अज्ञान के कारण रोग-ज्ञान में धोखा खाये हुए रोगियों के नाश या बड़े भारी कष्ट के लिये, अयुक्ति से (दोष-दूष्य की अपेक्षा न करके) चिकित्सा कर्म करते हैं। बुद्धिमान् वैद्य सब (सत्त्व आदि) की परीक्षा तीनों प्रमाणों द्वारा करके औषध का प्रयोग करते हैं, इसलिये वे चिकित्सा कर्म में कभी भूल नहीं करते ॥ ५-७ ॥

इति व्याधितरूपाधिकारे श्रुत्वा व्याधितरूपसंख्याप्रसंभवं व्याधितरूपहेतुं विप्रतिपत्तौ च कारणं सापवादं संप्रतिपत्तिकारणं चानपवादं, भगवन्तमात्रेयमग्निवेशोऽतः परं सर्वक्रमीणां पुरुषसंश्रयाणां

समुत्थान-स्थान-संस्थान-वर्ण-नाम-प्रभाव-चिकित्सित-विशेषान् पप्रच्छो-पसंगृह्य पादौ ॥ ८ ॥

इस प्रकार से इस व्याधित रूपाधिकार में रोगी के रूप, संख्या, परिमाण, गुरु व्याधित, लघु व्याधित, संख्या गुरु-व्याधित और लघु-व्याधित में कारण (सत्त्वादि का उत्कर्ष और अपकर्ष), रोग के बलाबल ज्ञान में प्रमाद (मोह), इस प्रमाद के कारण (एक प्रत्यक्ष प्रमाण से ही ज्ञान करना), सापवाद (दोष सहित,) सम्प्रतिपत्ति (सम्यक् ज्ञान तीनों प्रमाणों से परीक्षा करने का ज्ञान), और अनपवाद (निर्दोष), इनको सम्पूर्ण रूप में सुनकर अग्निवेश ने भगवान् आत्रेय के चरणों में नमस्कार कर, सब प्रकार के कृमियों के समुत्थान (निदान), स्थान संस्थान (लक्षण), वर्ण, नाम, प्रभाव और चिकित्सा को पूछा ॥ ८ ॥

अथास्मै प्रोवाच भगवानात्रेयः—इह खल्वग्निवेश ! विंशतिविधाः कृमयः पूर्वमुद्दिष्टा नानाविधेन प्रविभागेनान्यत्र सहजेभ्यः, ते पुनः प्रकृतिभिर्भिद्यमानाश्चतुर्विधा भवन्ति । तद्यथा—पुरीषजाः श्लेष्मजाः शोणितजा मलजाश्चेति ॥ ९ ॥

अग्निवेश को भगवान् आत्रेय ने कहा, हे अग्निवेश ! पीछे अष्टोदरीय अध्याय में सहज (सहजन्य) कृमियों को छोड़ कर नाना प्रकार के विभाग से बीस प्रकार के (मलजन्य दो प्रकार के, रक्तजन्य छः प्रकार के, कफजन्य सात प्रकार के और पुरीषजन्य पांच प्रकार के) कृमि कहे हैं। ये बीस प्रकार के कृमि प्रकृति की भिन्नता के कारण चार प्रकार के हैं। यथा—पुरीषजन्य, श्लेष्मजन्य, रक्तजन्य और मलजन्य ॥ ९ ॥

तत्र मलो बाह्यश्चाऽऽभ्यन्तरश्च । तत्र बाह्ये मले जातान्मलजान्संचक्ष्महे । तेषां समुत्थानं—मृजावर्जनम् । स्थान—केश-श्मश्रु-लोम-पक्ष्म-वासांसि । संस्थानं-अणवस्तिलाकृतयो बहुपादाः । वर्णः कृष्णः शुक्लश्च । नामानि-यूकाः पिपीलिकाश्च । प्रभावः कण्डूजननं कोठपिडकाभिनिर्वर्तनं च । चिकित्सितं त्वेषामपकर्षणं मलोपघातो मलकराणां च भावानामनुपसेवनमिति ॥ १० ॥

इनमें मल दो प्रकार का है—(१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर। इनमें शरीर के बाह्यमल (पसीना आदि से) उत्पन्न होने वाले कृमियों को मलजन्य कृमि कहते हैं। इनकी उत्पत्ति का कारण शरीर शुद्धि का न करना है। इनका स्थान केश (शिर के बाल), दाढ़ी मूंछ, शरीर के लोम, आंखों की पलकों के बाल और वस्त्र हैं।

इनका संस्थान अर्थात् (रूप या आकृति) ये अणु (सूक्ष्म), तिल के समान आकृति और बहुत पांव वाले होते हैं । इनका वर्ण (रंग) काला और श्वेत है । इनके नाम यूक (जूं) और पिपीलिका (लिखा), लीख है ।

इनका प्रभाव—खाज उत्पन्न करना और कोठ, पिडका आदि फुन्सियों को शरीर पर उत्पन्न करना है ।

इनकी चिकित्सा—इनको चिमटी से पकड़ कर खींचना, मल का नाश करना और मलोत्पादक वस्तुओं का परित्याग करना है ॥१०॥

शोणितजानां तु खलु कुष्ठैः समानं समुत्थानम्, स्थानं रक्तवाहिन्यो धमन्यः। संस्थानं अणवो वृत्ताश्चापादाश्च सूक्ष्मत्वाच्चैके भवन्त्यदृश्याः। वर्णस्ताम्रः। नामानि केशादा लोमादा लोमद्वीपाः सौरसा औदुम्बरा जन्तुमातरश्चेति। प्रभावः केश-श्मश्रु-नख-लोम-पक्ष्मापध्वंसो व्रणगतानां च हर्ष-कण्डू-तोद-संसर्पणान्यतिवृद्धानां च त्वक्-शिरा-स्नायु-मांस-तरुणास्थि-भक्षणमिति, चिकित्सितमप्येषां कुष्ठैः समानं तदुत्तरकालमुपदेक्ष्यामः॥ ११ ॥

रक्तजन्य कृमियों का निदान कुष्ठ रोग के निदान के समान ही है। कृमियों का स्थान—रक्तवाहिनी धमनियां (शिरायें भी) हैं। इनका रूप सूक्ष्म होने से कुछ कृमि अदृश्य होते हैं। वे आंख से नहीं देखे जाते, इनका रंग ताम्र वर्ण है; इनके नाम केशाद (केशों को खाने वाला), लोमाद, लोमद्वीप, सौरस, औदुम्बर और जन्तुमाता हैं। इनका प्रभाव केश श्मश्रु, लोम और पलक के बालों को नाश करना है, व्रण में प्रवेश करके ये हर्ष *, खाज, तोद (चुनचुना) और संसर्पण की सी प्रतीति कराते हैं। बहुत बढ़के ये त्वचा शिरा, स्नायु, मांस और तरुण अस्थि को भी खाने लगते हैं। इनकी चिकित्सा भी कुष्ठ-रोग के समान है, इसका वर्णन आगे कुष्ठ-चिकित्सा में करेंगे॥ ११ ॥

श्लेष्मजाः क्षीर-गुड-तिल-मत्स्यानूपमांस-पिष्टान्न-परमान्न-कुसुम्भ-स्नेहाजीर्ण-पूति-क्लिन्न-संकीर्ण-विरुद्धासात्म्य-भोजनसमुत्थानाः। तेषामामाशयः स्थानं। ते प्रवर्धमानास्तूर्ध्वमधो वा विसर्पन्त्युभयतो वा। संस्थानवर्ण-विशेषास्तु श्वेताः पृथुब्रध्नसंस्थानाः केचित्, केचिद्वृत्तपरिणाहा गण्डूपदाकृतयश्च श्वेतास्ताम्रावभासाः, केचिदणवो दीर्घास्तन्त्वाकृतयः श्वेताः। तेषां त्रिविधानां श्लेष्मनिमित्तानां कृमीणां नामानि—

* हर्ष—जिस प्रकार दाद में खुजाने से आनन्द, हर्ष वा रोमाञ्च होता है। इस को भी कृमि उत्पन्न करते हैं।

अन्त्रादाः, उदरादाः, हृदयचराः, चुरवः, दर्भपुष्पाः, सौगन्धिकाः, महागुदाश्चेति । प्रभावो हृल्लासास्यसंस्रवणमरोचकाविपाकौ ज्वरो मूर्च्छा जम्भा क्षवथुरानाहोऽङ्गमर्दश्छर्दिः कार्श्यं पारुष्यमिति ॥ १२ ॥

कफजन्य कृमि—क्षीर-भोजन, गुड़, तिल मछली, जलचर प्राणियों के मांस पिष्टान्न और परमान्न (खीर आदि) का भोजन, कुसुम्भ का तेल, अजीर्ण में भोजन, पूति (सड़े), क्लिन्न (क्लेदकारक द्रव्यों के) संकीर्ण (हित और अहित बेमेल मिले भोजन) और विरुद्ध एवं असात्म्य भोजनों से उत्पन्न होते हैं। इनका स्थान आमाशय है । ये आमाशय स बढ़ कर यहीं से ही ऊपर या नीचे अथवा दोनों तरफ़ फैल जाते हैं । इनका रूप और वर्ण श्वेत तथा कुछ बड़ी मांसपेशी के से, बद के आकार के, कुछ गोल आकार वाले, (वेष्टन) वाले, गिंडोये की आकृति के, श्वेत और लाल रंग की आभा वाले होते हैं । कुछ अणु (पतले), लम्बे और सूत के समान आकृति वाले, श्वेत होते हैं । इन तीनों प्रकार के कफजन्य कृमियों के नाम ये हैं । जैसे—अन्त्राद, उदराद, हृदयचर, चुरु, दर्भपुष्प, सौगन्धिक और महागुद । इन का प्रभाव—हृल्लास वमनकी रुचि होना, मुख से लार का बहना, अरुचि, अविपाक, ज्वर, मूर्च्छा, जम्भाई का आना, छींकें आना, अफरा, शरीर के अंगों का टूटना, वमन, कृशता और शरीर में रूक्षता वा कठोरता होना है ॥ १२ ॥

पुरीषजास्तुल्यसमुत्थानाः श्लेष्मजैस्तेषां स्थानं पक्वाशयः । प्रवर्धमानास्त्वधो विसर्पन्ति, यस्य पुनरामाशयाभिमुखाः स्युर्यदन्तरम्; तदन्तरं तस्योद्गारनिश्वासाः पुरीषगन्धिनः स्युः; संस्थानवर्णविशेषास्तु सूक्ष्मवृत्तपरीणाहाः श्वेता दीर्घा ऊर्णांशुकसंकाशाः केचित्, केचित्पुनः स्थूलवृत्तपरीणाहाः श्यावनीलहरितपीताः । तेषां नामानि ककेरुका मकेरुका लेलिहाः सशूलकाः सौसुरादाश्चेति । प्रभावः पुरीषभेदः कार्श्यं पारुष्यं लोमहर्षाभिनिर्वर्तनं च, त एवास्य गुदमुखं परितुदन्तः कण्डूं चोपजनयन्तो गुदमुखं पर्यासते, त एव जातहर्षा गुदनिष्क्रमणमतिवेलं कुर्वन्ति–इत्येष श्लेष्मजानां पुरीषजानां च क्रमीणां समुत्थानादिविशेषः ॥ १३ ॥

पुरीषजन्य (मल से उत्पन्न) कृमियों का निदान कफजन्य कृमियों के समान है । इन कृमियों का स्थान पक्वाशय है । ये कृमि बढ़कर नीचे की ओर फैलते हैं । जिस पुरुष में ये कृमि आमाशय की ओर जाने लगते हैं, उस पुरुष के उद्गार (डकार) और श्वास में मल की गन्ध आती है । इनका रूप वर्ण—सूक्ष्म, गोल वेष्टन वाले तथा श्वेत और भेड के लम्बे बालों के समान

होते हैं। कुछ स्थूल, गोल वेष्टन वाले, काले, नीले, हरे या पीले रंग के होते हैं। इन के नाम—ककेरुक, मकेरुक, लेलिह, सशूलक, सौसुराद हैं। इनका प्रभाव—मल का पतला आना, शरीर में कृशता, परुषता और रोमांच होना है। ये कृमि रोगी की गुदा के मुख पर रहते हैं। ये हर्ष उत्पन्न होने पर बार बार गुदा से बाहर (मल के साथ) निकलते हैं। यह कफजन्य और पुरीष-जन्य कृमियों में उत्पत्ति आदि का भेद है ॥ १३ ॥

चिकित्सितं तु खल्वेषां समासेनोपदिश्य पश्चाद्विस्तरेणोपदेक्ष्यामः। तत्र सर्वकृमीणामपकर्षणमेवाऽऽदितः कार्यं; ततः प्रकृतिविघातोऽनन्तरं निदानोक्तानां भावानामनुपसेवनमिति ॥ १४ ॥

कफ और मल से उत्पन्न कृमियों की चिकित्सा संक्षेप में कहकर फिर पीछे से विस्तार से कहेंगे। इन कृमियों का प्रथम अपकर्षण (खींचना शोधन) करना चाहिये, फिर प्रकृति-विघात (उपशम) और पीछे से निदान-रूप पदार्थों का अनुपसेवन अर्थात् त्याग करना चाहिये ॥ १४ ॥

तत्रापकर्षणं हस्तेनाभिगृह्य विमृश्योपकरणवताऽपनयनमनुपकरणेन वा, स्थानगतानां तु कृमीणां भेषजेनापकर्षणं; न्यायतस्तु तच्चतुर्विधम्। तद्यथा—शिरोविरेचनं वमनं विरेचनमास्थापनमित्यपकर्षणविधिः ॥ १५ ॥

अपकर्षण विधि—उपकरण (संदंश, चिमटी आदि) से अथवा विना उपकरण के हाथ से पकड़ कर बाहर निकालने का नाम 'अपकर्षण' है। यह कार्य बाह्य मलजन्य (पुरीषजन्य) और श्लेष्मजन्य कृमियों के स्थान से निकले होने पर ही हो सकता है और जो कृमि अपने स्थान में स्थित हों, उनको औषध द्वारा निकालना उचित है और यह औषध चार प्रकार का है। यथा—शिरोविरेचन, वमन, विरेचन और आस्थापन। यह अपकर्षण-विधि है ॥ १५ ॥

प्रकृतिविघातस्त्वेषां—कटु-तिक्त-कषाय-क्षारोष्णानां द्रव्याणामुपयोगो यच्चान्यदपि किंचिच्छ्लेष्मपुरीषप्रत्यनीकभूतं तत्स्यादिति प्रकृति-विघातः ॥ १६ ॥

प्रकृति-विघात—प्रकृति (कफ और पुरीष) का उपघात अर्थात् नाश वा शमन करना। इस के लिये कटु, तिक्त, कषाय, क्षार और उष्ण पदार्थों का उपयोग करना चाहिये। इसके अतिरिक्त और भी जो कुछ श्लेष्मा और मल के विरुद्ध आहार-विहार हो उसका सेवन करना चाहिये। यह प्रकृति-विघात-विधि है ॥ १६ ॥

अनन्तरं निदानोक्तानां भावानामनुपसेवनमिति यदुक्तं निदानविधौ तस्य विसर्जनं तथाप्रायाणां चापरेषां द्रव्याणामिति लक्षणतश्चिकित्सितमनुव्याख्यातमेतदेव पुनर्विस्तरेणोपदेक्ष्यते ॥ १७ ॥

इसके आगे निदान में कहे पदार्थों का सेवन का त्यागना आवश्यक है। ऐसा निदान विधि में जिन जिन द्रव्यों को निदान रूप से कहा है, उनका परित्याग करना चाहिये। इसी प्रकार न कहे हुए निदान के अनुरूप द्रव्यों का भी परित्याग करना चाहिये। इस प्रकार संक्षेप से चिकित्साक्रम कह दिया है, अब इसी को विस्तार से कहते हैं ॥ १७ ॥

अथैनं कृमिकोष्ठमातुरमग्रे षड्रात्रं सप्तरात्रं वा स्नेहस्वेदाभ्यामुपपाद्य श्वोभूते एनं संशोधनं पाययितास्मीति क्षीर-दधि-गुड-तिल-मत्स्यानूपमांस-पिष्टान्न-परमान्न-कुसुम्भस्नेह-संयुक्तैर्भोज्यैः सायं प्रातश्चोपपादयेत्समुदीरणार्थं चैव कृमीणां कोष्ठाभिसरणार्थं च भिषक्। अथ व्युष्टायां रात्रौ सुखोषितं सुप्रजीर्णभुक्तं च विज्ञायाऽऽस्थापन-वमन-विरेचनैस्तदहरेवोपपादयेदुपपादनीयश्चेत्स्यात्सर्वान् परीक्ष्यविशेषान् परीक्ष्य सम्यक्।

इस कृमि-कोष्ठ वाले रोगी को संशोधन देने से पूर्व छः या सात रात तक स्नेहन और स्वेदन देना चाहिये। फिर सातवें वा आठवें दिन (अगले दिन) इस को संशोधन दूंगा ऐसा निश्चय करके सायं-प्रातः दोनों समय क्षीर (दूध), गुड़, दही, तिल, मछली, जलचर प्राणियों का मांस, पिष्टान्न, कुसुम्भ तैल से बने भोजन खिलावे। इस प्रकार के भोजनों से कोष्ठ के क्रिमि भली प्रकार से उत्क्लेशित हो जाते हैं (निकल आते हैं) और अन्यत्र गये हुए कृमि भी कोष्ठ की ओर आने लगते हैं। इस के अनन्तर रात्रि के बीतने पर (प्रातः काल होने पर) भली प्रकार नींद आई तथा खाया हुआ भोजन भली प्रकार जीर्ण हो गया यह देखकर उस दिन (नवम दिन) आस्थापन, वमन, विरेचन (इन में से कोई एक क्रिया) देना चाहिये। क्रिया करने से पूर्व रोगी की सब प्रकार से (प्रकृति-सात्म्य, सत्त्व आदि से) परीक्षा कर लेनी चाहिये।

अथाऽऽहरेति ब्रूयात् मूलक-सर्षप-लशुन-करञ्ज-शिग्रु-मधुशिग्रु-कमठ-खर पुष्पा-भूस्तृण-सुमुख-सुरस-कुठेरक-गण्डीर-कालमालक-पर्णास-क्षवक-फणिज्झकानि सर्वाण्यथवा यथालाभं, तान्याहृतान्यभिसमीक्ष्य खण्डशश्छेदयित्वा प्रक्षाल्य पानीयेन सुप्रक्षालितायां स्थाल्यां समावाप्य गोमूत्रेणार्धोदकेनाभ्यासिच्य साधयेत् सततमवघट्टयन् दर्व्या। तस्मिन् शीतीभूते तूपयुक्तभूयिष्ठेऽम्भसि गतरसेष्वौषधेषु स्थालीमवतार्य, सुपरिपूतं कषायं सुखोष्णं मदनपिप्पलीफलं विडङ्गकल्कतैलोपहितं, स्वर्जि-

कालवणितमभ्यासिच्य बस्तौ विधिवदास्थापयेदेनं, तथाऽर्कालर्क-कुट-जाढकी-कुष्ठ-कैडर्य-कषायेण वा, तथा शिग्रु-पीलु-कुस्तुम्बुरु-कटुकासर्षप-कषायेण, तथाऽऽमलक-शृङ्गवेर-दारुहरिद्रा-पिचुमर्द-कषायेण मदनफल-संयोगसंयोजितेन त्रिरात्रं सप्तरात्रं वाऽऽस्थापयेत् ॥ १८ ॥

आस्थापन आदि क्रिया करने की विधि—अनन्तर कहे कि निम्न सब वस्तुओं को अथवा इन में से जितनी प्राप्त हो सकें उन वस्तुओं को लावे—मूलक (मूली), सरसों, लशुन, नाटा करञ्ज, शिग्रु (शोभांजन), मधुशिग्रु (मीठा सहजन), कमठ (कोई लाल फूल का कचनार मानते हैं), खर-पुष्पा (अजवायन), भूस्तृण, सुमुख, सुरस, कुठेरक, गण्डीर, कालमाल, पर्णास, क्षवक और फणिज्जक (ये सब तुलसी के भेद हैं) इन सब को अथवा इन में से जो मिलें उनको लाकर, टुकड़े टुकड़े करके, पानी से भली प्रकार धोकर, अच्छी प्रकार धुली हांडी में रखकर, आधे, पानी मिले गोमूत्र में भिगो कर (डालकर) निरन्तर कड़छी (खोंचे) से चलाते हुए अग्नि पर पकाना चाहिये। जब औषधियों का सम्पूर्ण रस जल में आ जाय तब हांडी को उतार कर वस्त्र में से भली प्रकार छान ले। इस कुछ गरम क्वाथ में मैनफल, पिप्पली, बायविडंग इन का कल्क और तैल मिश्रित सर्जक्षार (सज्जी खार) एवं नमक मिलाकर विधिपूर्वक इस रोगी को आस्थापन बस्ति देनी चाहिये। इसी प्रकार आक, अलर्क (मदार), कुटज, आढ़की, (अरहर), कुष्ठ (कूठ) और कैटर्य (पर्वतनिम्ब) कषाय से बस्ति देनी चाहिये, (तैल मिश्रत नमक एवं मैनफल आदि पूर्व की भाँति डाले)। इसी प्रकार शिग्रु, पीलु, कुस्तुम्बरु, कुटकी और सरसों के कषाय से, इसी प्रकार आंवला, अदरख (सोंठ), दारुहल्दी, पिचुमर्द (नीम) के कषाय से, मैनफल आदि डालकर लवण युक्त तैल मिलाकर तीन बार अथवा सात बार आस्थापन-कर्म करना चाहिये ॥ १८ ॥

प्रत्यागते च पश्चिमे बस्तौ प्रत्याश्वस्तं तदहरेवोभयतोभागहरणं संशोधनं पाययेद्युक्त्या। तस्य विधिरुपदेक्ष्यते। मदनफलपिप्पलीकषा-यस्यार्धाञ्जलिमात्रेण त्रिवृत्कल्काक्षमात्रमालोड्य पातुमस्मै प्रयच्छेत्, तदस्य दोषमुभयतो निर्हरति साधु, एवमेव कल्पोक्तानि वमनविरे-चनानि संसृज्य पाययेदेनं बुद्ध्या सर्वविशेषानवेक्षमाणो भिषक् ॥१९॥

शेष बस्ति के गुदा द्वारा बाहर निकल आने पर रोगी को आश्वासन देकर उसी दिन (जिस दिन बस्ति दी है) दोनों ऊर्ध्व एवं अधोमार्गों से

दोष निकालने के लिये वमन, विरेचन रूपी संशोधन, देश, काल, मात्रादि की अपेक्षा से देना चाहिये।

विधि—मदनफल, पिप्पली कषाय की आधी अंजलि, को त्रिवृत् (निशोथ) के कल्क की एक अक्ष मात्रा में मिलाकर रोगी को पीने के लिये देना चाहिये। इस प्रकार से रोगी के दोष दोनों मार्गों से भली प्रकार निकलते हैं। इस प्रकार से कल्प-स्थान में कहे जाने वाले वमन, विरेचन योगों को परस्पर मिला कर रोगी की सब बातों को देख कर बुद्धि से भली प्रकार विचार कर रोगी को पीने के लिये देवे॥ १९॥

अथैनं सम्यग्विरिक्तं विज्ञायापराह्णे शैखरिककषायेण सुखोष्णेन परिषेचयेत्, तेनैव च कषायेण बाह्याभ्यन्तरान् सर्वोदकार्थान् कारयेच्छश्वत्। तदभावे वा कटुतिक्तकषायाणामौषधानां क्वाथैर्मूत्रक्षारैर्वा परिषेचयेत्। परिषिक्तं चैनं निर्वातमागारमनुप्रवेश्य पिप्पली-पिप्पलीमूल-चव्य-चित्रक-शृङ्गवेर-सिद्धेन यवाग्वादिना क्रमेणोपक्रामयेत्। विलेप्याः क्रमागतं चैनमनुवासयेद्विडङ्गतैलेनैकान्तरं द्विस्त्रिर्वा॥ २०॥

इसके पश्चात्(दोनों मार्गों से संशोधन होने पर) भली प्रकार संशोधन हुआ जान कर शैखरिक कषाय (अपामार्ग के थोड़े गरम कषाय) से परिषेचन करे। इसी कषाय को पानी के स्थान पर पीने के लिये और बाह्य (स्नान आदि में) निरन्तर बरतना चाहिये। इस अपामार्ग के कषाय के अभाव में कटु, तिक्त, कषाय रसवाली औषधियों के क्वाथों से, मूत्रमिश्रित यवक्षार (जवाखार) आदि से परिषेचन करना चाहिये। परिषिक्त इस रोगी को वायु-रहित घर में प्रविष्ट करके पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक और सोंठ इस पंचकोल द्वारा सिद्ध यवागू को उपकल्पनीय अध्याय में कहे पेयादि क्रम से देना चाहिये। विलेपी तक पहुंच जाने पर रोगी को विडंग-तैल द्वारा एक दिन के अन्तर से दो बार तीन बार अनुवासन देना चाहिये। (अनुवासन में पेया का निषेध है, क्योंकि पेया अभिष्यन्दी है)॥ २०॥

यदि पुनरस्यातिप्रवृद्धाञ्छीर्षादान्कृमीन्मन्येत शिरस्येवाभिसर्पतः काँश्चित्, ततः स्नेहस्वेदाभ्यामस्य शिर उपपाद्य विरेचयेदपामार्गतण्डुलादिना शिरोविरेचनेन॥ २१॥

शिरो-विरेचन—इस रोगी के शिर को खाने वाले कृमियों को बहुत बढ़ा हुआ जाने और देखे कि कृमि शिर में फिरते हों, ऐसा वैद्य को अनुभव हो तो रोगी के शिर को स्नेहन और स्वेदन देकर अपामार्ग के तण्डुलों (चावलों) आदि शिरो-विरेचन योग्य द्रव्यों से शिरोविरेचन देवे॥ २१॥

यस्त्वन्यवहार्यविधिः प्रकृतिविघातायोक्तः क्रिमीणां, सोऽनुव्याख्यास्यते—मूषिकपर्णीं समूलाग्रप्रतानामाहृत्य खण्डशश्छेदयित्वा, उलूखले क्षोदयित्वा पाणिभ्यां पीडयित्वा रसं गृह्णीयात्, तेन रसेन लोहितशालितण्डुलपिष्टं समालोड्य पूपलिकाः कृत्वा विधूमेष्वङ्गारेषु विपाच्य विडङ्गतैललवणोपहिताः कृमिकोष्ठाय भक्षयितुं प्रयच्छेत्; अनन्तरं चाम्लकाञ्जिकमुदश्विद्वा पिप्पल्यादिपञ्चवर्गसंसृष्टं सलवणमनुपाययेत् ॥ २२ ॥

अनेन कल्पेन मार्कवार्क-सहचर-नीप-निर्गुण्डी-सुमुख-सुरस-कुठेरक-गण्डीर-कालमालक-पर्णास-क्षवक-फणिज्जक-बकुल-कुटज-सुवर्णक्षीरी-स्वरसा नामन्यतमस्मिन्कारयेत्पूपलिकाः, तथा किणिही-किरात-तिक्तक-सुवहामलक-हरीतकी-बिभीतक-स्वरसेषु कारयेत्पूपलिकाः । स्वरसांश्चैतेषामेकैकशो द्वन्द्वशः सर्वशो वा मधुविलुलितान् प्रातरनन्नाय पातुं प्रयच्छेत् ॥ २३ ॥

कृमियों के प्रकृति-विघात के लिये जो आहार-विधि कही है, उस को व्याख्या करते हैं । जड़ और कोमल पत्तों के साथ मूषापर्णी को लाकर इसको टुकड़े २ करके, ऊखल में कूटकर, हाथों से दबाकर रस निकाल ले । इस रस में लाल धानों के चावलों की पिट्ठी को मिलाकर इससे पूरी (पूए) बनावे । इन पूरियों को धूम रहित अंगारों पर पकावे । फिर विडंग तैल और लवण के साथ मिलाकर कृमि कोष्ठवाले रोगी को खाने के लिये दे । पूरी खाने के पीछे खट्टी कांजी (धान्य-काञ्जिक) में या उदश्वित् (आधे विलोये मठे, या छाछ) में पिप्पली आदि पंचकोल को लवण के साथ मिला कर पीने के लिये दे । इसी विधि से मार्कव (भृंगराज), अर्क (आंक), सहचर (झण्टि), नीप (कदम्ब), निर्गुण्डी (सिन्धुवार सम्हालु), सुमुख, सुरस, कुठेरक, गण्डीर, (सेहुण्ड), कालमाल (कुठेरक के भेद), पर्णास, क्षवक, फणिज्जक (तुलसी के भेद), बकुल (मौलसरी) कुटज, स्वर्णक्षीरी (सत्यानाशी) इन में से किसी एक के रस के साथ पूरी तैयार करनी चाहिये । इसी प्रकार किणिही (अपामार्ग), किराततिक्त (चिरायता), आम की, हरड़, बिभीतक (बहेड़ा), सुवहा (शेफालिका) इनके रसों में पूरियां बनानी चाहियें । इन (मण्डूकपर्णी आदि) में से एक एक को या दो दो को अथवा सब को मिलाकर स्वरस निकाल कर इस स्वरस में मधु मिला कर प्रातःकाल खाली पेट पीने के लिये दे ॥ २२–२३ ॥

अथाश्वशकृदाहृत्य महति किलिञ्जके प्रस्तीर्याऽऽतपे शोषयित्वोलूखले

क्षोदयित्वा दृषदि पुनः सूक्ष्माणि चूर्णानि कारयित्वा विडङ्गकषायेण त्रिफलाकषायेण वाऽष्टकृत्वो दशकृत्वो वाऽऽतपे सुपरिभावितानि भावयित्वा दृषदि पुनः सूक्ष्माणि चूर्णानि कारयित्वा नवे कलशे समावाप्यानुगुप्तं निधापयेत्। तेषां तु खलु चूर्णानां पाणितलं चूर्णं यावद्वा साधु मन्येत, तत् क्षौद्रेण संसृज्य कृमिकोष्ठाय लेढुं यच्छेत् ॥ २४ ॥

इसके पीछे घोड़े की शकृत् (लीद) को लाकर बड़ी चटाई पर फैलाकर धूप में सुखा ले। फिर ऊखल में कूटकर शिला पर पीसकर बारीक बनाले इस चूर्ण को विडंग के कषाय से या त्रिफला-कषाय से आठ बार अथवा दस बार धूप में भावना देकर शुष्क कर ले। फिर इसको पत्थर पर पीसकर नये घड़े में रखकर, वायु आदि न जा सके इस प्रकार से मुख को ढांप कर गुप्त स्थान पर रख दे। इसमें से कर्ष परिमाण (चार मासा) अथवा रोग के अनुसार जितनी मात्रा उचित समझे उतनी मात्रा को शहद में मिलाकर कृमि रोगी को खाने के लिये दे ॥ २४ ॥

तथा भल्लातकास्थीन्याहृत्य कलशप्रमाणेन संपोथ्य स्नेहभाविते दृढे कलशे सूक्ष्मानेकच्छिद्रब्रध्ने शरीरमुपवेष्ट्य मृदावलिप्ते समावाप्योलपेन पिधाय भूमावाकण्ठं निखातस्य स्नेहभावितस्यैवान्यस्य दृढस्य कुम्भस्योपरि समारोप्य समन्ताद् गोमयैरुपचित्य दाहयेत्; स यदा जानीयात् साधु दग्धानि गोमयानि गलितस्नेहानि भल्लातकास्थीनीति, ततस्तं कुम्भमुद्धाटयेत्। अथ तस्माद् द्वितीयात्कुम्भात्तं स्नेहमादाय विडङ्गतण्डुलचूर्णैः स्नेहार्धमात्रैः प्रतिसंसृज्याऽऽतपे सर्वमहः स्थापयित्वा ततोऽस्मै मात्रां प्रयच्छेत्पानाय, तेन साधु विरिच्यते, विरिक्तस्य चाऽऽनुपूर्वी यथोक्ता ॥ २५ ॥

दूसरा प्रयोग—घड़े में जितने भिलावे के फल आ सकें, उतने फलों को कूट कर तैलादि स्नेह से चिकने, मजबूत एक घड़े में भरे। इस घड़े के निचले भाग में अनेक सूक्ष्म छिद्र बना दे तथा घड़े पर मिट्टी का लेप कर दे। इस घड़े में भिलावे भर कर ढकन से मुंह ढांप दे। फिर स्नेह से भावित एक दूसरे घड़े को ले कर जमीन में गले तक गाड़ दे। इस गड़े हुए घड़े के ऊपर भिलावे वाला घड़ा रख कर चारों ओर उपले रख कर जलावे। जब उपले भली प्रकार जल जावें, तब ऊपर के घड़े को पृथक् करे। अब इस दूसरे घड़े में से तेल (स्नेह) ले कर स्नेह से आधी मात्रा में विडंग-तण्डुल चूर्ण को स्नेह में मिला कर धूप में चार प्रहर तक रखे। पीछे इस स्नेह को

कृमि-कोष्ठ रोगी को पीने के लिये दे। इससे भली प्रकार विरेचन होता है। विरेचन के पीछे पूर्व की भांति पेया आदि देने का क्रम है ॥२५॥

एवमेव भद्रदारु-सरलकाष्ठस्नेहानुपकल्प्य पातुं प्रयच्छेत्। अनुवासयेच्चैनमनुवासनकाले ॥ २६ ॥

इसी भल्लात के स्नेह-विधि से देवदार, सरल (साल-सर्ज), वृक्षों से स्नेह बना कर रोगी को पीने के लिये देना चाहिये और अनुवासन के योग्य समय में कहे हुए स्नेहों से अनुवासन देना चाहिये ॥ २६ ॥

अथ 'आहर' इति ब्रूयात् शारदान्नवांस्तिलान्संपदुपेतान्। तानाहृत्य सुनिष्पूय सुशुद्धान् शोधयित्वा विडङ्गकषाये सुखोष्णे निर्वापयेदाक्षेपगमनात्, गतदोषानभिसमीक्ष्य सुप्रलूनान्प्रलुच्य पुनरेव सुनिष्पूतान् सुनिष्पूय सुशुद्धान् शोधयित्वा विडङ्गकषायेण त्रिःसप्तकृत्वः सुपरिभावितान्भावयित्वाऽऽतपे शोषयित्वोदूखले संक्षुद्य दृषदि पुनः श्लक्ष्णपिष्टान्कारयित्वा द्रोण्यामभ्यवधाय विडङ्गकषायेण मुहुर्मुहुरवसिञ्चन् पाणिमर्दमेव मर्दयेत्। तस्मिन्खलु प्रपीड्यमाने यत्तैलमुदियात्तत्पाणिभ्यां पर्यादाय शुचौ दृढे कलशे समासिच्यानुगुप्तं निधापयेत्।

अन्ययोग—वैद्य रोगी से कहे कि 'आगे कहे पदार्थ लाओ'। अच्छी प्रकार पके, रस-वीर्य युक्त, शरद ऋतु में होने वाले नये तिलों को ला कर, भली प्रकार मिट्टी आदि से साफ़ करके सुखा ले। फिर सुखोष्ण, कुछ गरम बिडंग-कषाय में भिगो दे, जब तक कि छिलके में लगा मैल दूर न हो जाय तब तक भिगो कर रखे। दोष निकलने पर इन तिलों को तुष रहित करके, सुखा लेवे। फिर छाज से साफ़ करके धोले। फिर सूखने पर बिडंग कषाय में इक्कीस बार भावना दे कर धूप में सुखा लेवे। इन तिलों को ऊखल में कूट कर पत्थर की शिला पर रख बारीक पीस लेवे। अब इनको द्रोणी (थाली, कड़ाही) में रखकर विडंग कषाय को थोड़ा थोड़ा डालते हुए हाथों से खूब मले, इस प्रकार हाथों से मलने पर जो तैल निकलता है, हाथ पर लगे हुए तस तैल को ले कर पवित्र, दृढ़ घड़े में रखकर गुप्त स्थान में सुरक्षित रख देवे। इस को खाने के लिये कहे।

अथ 'आहार' इति ब्रूयात्–तिल्वकोद्दालकयोर्द्वौ बिल्वमात्रौ पिण्डौ श्लक्ष्णपिष्टौ विडङ्गकषायेण, ततोऽर्धमात्रौ श्यामात्रिवृतयोरतोऽर्धमात्रौ दन्तीद्रवन्त्योरतोऽर्धमात्रौ चव्यचित्रकयोरित्येतं सम्भारं विडङ्गकषायस्याऽऽढकमात्रेण प्रतिसंसृज्य ततस्तैलप्रस्थमावाप्य सर्वमालोड्य महति पर्योगे समासिच्याग्नावधिश्रित्य महत्यासने सुखोपविष्टः सर्वतः स्नेह-

मवलोकयन्नजस्रं मृद्वग्निना साधयेद्दर्व्या सततमवघट्टयन् । स यदा जानीयाद्विरमति शब्दः, प्रशाम्यति च फेनः, प्रसादमापद्यते स्नेहो यथास्वं गन्धवर्णरसोत्पत्तिः, संवर्तते च भेषजमंगुलिभ्यां मृद्यमानमतिमृद्वनतिदारुणमनंगुलिग्राहि चेति, स कालस्तस्यावतारणाय । ततस्तमवतीर्णशीतीभूतमहतेन वाससा परिपूय शुचौ दृढे कलशे समासिच्य पिधानेन पिधाय शुक्लेन वद्धपट्टेनावच्छाद्य सूत्रेण सुबद्धं सुनिगुप्तं निधापयेत् । ततोऽस्मै मात्रां प्रयच्छेत्पानाय, तेन साधु विरिच्यते, सम्यगपहृतदोषस्य चास्याऽऽनुपूर्वी यथोक्ता । ततश्चैनमनुवासयेदनुवासनकाले ।

फिर वैद्य आगे कहे पदार्थ लाने को कहे—तिल्व और उद्दालक ये दो बिल्व भर (पल भर, ४ तोला) लेकर विडंग कषाय के साथ खूब बारीक पीस ले । इनसे आधी मात्रा (२ तोला) श्यामा (काली निशोथ) और त्रिवृत् (सफेद निशोथ), इन से आधी (१ तोला) दन्ती और द्रवन्ती, इनसे आधे (½ तोला) चव्य और चित्रक इन सबको अर्धाढक (दो प्रस्थ) विडंग कषाय, में तथा एक प्रस्थ पूर्वोक्त तिलों से तैयार किये तैल के साथ मिलाकर एक बड़े कड़ाहे में रख कर आग पर रख कर आराम से बैठ कर, चारों ओर स्नेह को देखते हुए कि गिरे नहीं, निरन्तर मृदु अग्नि से पकावे । और पकाते समय कड़छी द्वारा बराबर हिलाता रहे । जिस समय शब्द होना बन्द हो जाय, झाग उठना भी रुक जाय, तथा स्नेह (तैल) भी स्वच्छ हो जावे, एवं तैल में उचित गन्ध, वर्ण और रस की उत्पत्ति हो जाय तब समझे कि तैल बन गया । औषध (कल्क) अंगुली से मलने पर न तो बहुत कोमल और न बहुत कठोर हो तथा अंगुली पर चिपटे नहीं, (कल्क की बत्ती बन जावे) । तब समझ ले कि तैल सिद्ध हो गया यह समय है, तैल उतारने का; अब इसको उतार कर ठण्डा होने पर बड़े भारी वस्त्र से छान कर एक शुद्ध, मजबूत पात्र में डाल कर, ढक्कन से ढांप कर, सफेद वस्त्र से बांध कर तागे से कस कर, गुप्त (सुरक्षित) स्थान पर रख देवे । इस तैल की मात्रा को रोग के अनुसार पीने के लिये (कृमि-रोगी को) देवे । इससे भली प्रकार विरेचन होता है । दोषों के भली प्रकार निकल जाने पर पहिले कही विधि करनी चाहिये । अनुवासन योग्य समय में उस तैल से अनुवासन देना चाहिये ।

एतेनैव च पाकविधिना सर्षपातसी-करञ्ज-कोषातकी-स्नेहानुपकल्प्य पाययेत्सर्वविशेषानवेक्ष्यमाणः । तेनागदो भवतीति ॥ २७ ॥

इसी पूर्वोक्त विधि से सरसों, अलसी, करञ्ज, कोषातकी (तुरई) का तैल बना कर सब परीक्षणीय वस्तुओं को देख कर कृमि-रोगी को तैल पिलावे। इस से रोगी नीरोग हो जाता है ॥ २७ ॥

इत्येतत् द्वयानां श्लेष्मपुरीषसंभवानां कृमीणां समुत्थान-संस्थान-स्थान-वर्ण-नाम-प्रभाव-चिकित्सित-विशेषा व्याख्याताः सामान्यतः ॥२८॥

इस प्रकार से कफजन्य और पुरीषजन्य कृमियों के निदान, संस्थान, स्थान, वर्ण, प्रभाव और चिकित्सा सामान्य रूप में कह दी है ॥ २८ ॥

विशेषतस्त्वल्पमात्रमास्थापनानुवासनानुलोमहरणभूयिष्ठं तेष्वौषधेषु पुरीषजानां कृमीणां चिकित्सितं कार्यमिति। मात्राधिकं पुनः शिरोविरेचन-वमनोपशमन-भूयिष्ठं तेष्वेवौषधेषु श्लेष्मजानां कृमीणां चिकित्सितं कार्यमिति। एष कृमिघ्नो भेषजविधिरनुव्याख्यातो भवति ॥ २९ ॥

विशेष रूप से पुरीषजन्य कृमियों के लिये कही हुई वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, शिरोविरेचन, औषधियों में अल्पमात्रा में आस्थापन, अनुवासन और अनुलोम-हरण, विरेचन बरतना चाहिये। मलजन्य कृमियों में बस्ति, विरेचन अधिक बरतना चाहिये। कफजन्य कृमियों में शिरोविरेचन, वमन और शमन अधिक देना चाहिये ॥ २९ ॥

तमनुतिष्ठता यथास्वहेतुवर्जने प्रयतितव्यम् ॥ ३० ॥

यथोद्देशमेवमिदं कृमिकोष्ठचिकित्सितं यथावदनुव्याख्यातं भवतीति ॥ ३१ ॥

इस विधि को बरतते हुए वैद्य को चाहिये कि रोगी को कृमि निदान से भी बचाये। इस प्रकार से पूर्व कथितानुसार कृमि-कोष्ठ चिकित्सा (शोधन-शमन रूप) को यथावत् पूर्ण रूप से कह दिया है ॥ ३०–३१ ॥

भवन्ति चात्र—अपकर्षणमेवाऽऽदौ कृमीणां भेषजं स्मृतम्।
ततो विघातः प्रकृतेर्निदानस्य च वर्जनम् ॥ ३२ ॥
अयमेव विकाराणां सर्वेषामपि निग्रहे।
विधिर्दृष्टस्त्रिधा योऽयं कृमीनुद्दिश्य कीर्तितः ॥ ३३ ॥
संशोधनं संशमनं निदानस्य च वर्जनम्।
एतावद्भिषजा कार्यं रोगे रोगे यथाविधि ॥ ३४ ॥

कृमियों को प्रथम खींच कर निकालना ही औषध है। फिर प्रकृति का नाश, निदान का छोड़ना है यह विधि सब प्रकार के कृमियों के लिये है। इतना ही नहीं, अपितु सब रोगों के लिये है। इसलिये वैद्य को चाहिये कि

प्रत्येक रोग में सब विकारों में संशोधन, संशमन और निदान का त्याग यह तीन प्रकार की चिकित्सा करे ॥ ३२-३४ ॥

तत्र श्लोकौ—व्याधितौ पुरुषौ ज्ञाज्ञौ भिषजौ सप्रयोजनौ ।
विंशतिः कृमयस्तेषां हेत्वादिः सप्तको गणः ॥ ३५ ॥
उक्तो व्याधितरूपीये विमाने परमर्षिणा ।
शिष्यसंबोधनार्थं च व्याधिप्रशमनाय च ॥ ३६ ॥

व्याधि से पीडित दो प्रकार के पुरुष विज्ञ (जानने वाले) और अज्ञ (मूढ), इनका प्रयोजन (जानने वाले से सिद्धि और मूढ से रोगवृद्धि या मृत्यु), बीस प्रकार के कृमि, इन के हेतु, संस्थान वर्ण, प्रभाव, नाम और चिकित्सा ये सात बातें, भगवान् आत्रेय ने शिष्य को समझाने के लिये तथा रोग की शान्ति के लिये इस विमान स्थान में कह दी हैं ॥ ३५-३६ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते तृतीये विमानस्थाने
व्याधितरूपीयविमानं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः ।

अथातो रोगभिषग्जितीयं विमानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इस के आगे 'रोगभिषग्जितीय' नामक अध्याय को व्याख्यान करेंगे । जैसा कि भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

बुद्धिमानात्मनः कार्यगुरुलाघवे कर्मफलमनुबन्धं देशकालौ च विदित्वा युक्तिदर्शनाद् भिषग्बुभूषुः शास्त्रमेवाऽऽदितः परीक्षेत । विविधानि हि शास्त्राणि भिषजां प्रचरन्ति लोके । तत्र यन्मन्येत सुमहद्यशस्विधीरपुरुषासेवितमर्थबहुलमाप्तजनपूजितं त्रिविधशिष्यबुद्धिहितमपगतपुनरुक्तदोषमार्षं सुप्रणीतसूत्रभाष्यसंग्रहक्रमं स्वाधारमनवपतितशब्दमकष्टशब्दं पुष्कलाभिधानं क्रमागतार्थमर्थतत्त्वविनिश्चयप्रधानं संगतार्थमसंकुलप्रकरणमाशुप्रबोधकं लक्षणवच्चोदाहरणवच्च, तदभिप्रपद्येत शास्त्रम् । शास्त्रं ह्येवंविधममल इवाऽऽदित्यस्तमो विधूय प्रकाशयति सर्वम् ॥ ३ ॥

शास्त्र-परीक्षा—बुद्धिमान् पुरुष अपने कार्य के गौरव (बहुत प्रयास से साध्य) एवं लाघव (अल्प प्रयास से साध्य), कर्मों के फल, अनुबन्ध

(कर्मजन्य शुभ-अशुभ फल), देश एवं काल को जान कर तथा युक्ति को देख कर यदि वैद्य बनने की इच्छा करे तो सब से प्रथम शास्त्र की ही परीक्षा करे, क्योंकि वैद्यों के नाना प्रकार के शास्त्र लोक में प्रचलित हैं। इन में से जो शास्त्र निम्नलिखित गुणों वाला हो, उसे पढ़ने के लिये स्वीकार करे।

शास्त्र के गुण—शास्त्र खूब बड़ा, असंक्षिप्त, यशस्वी, धीर पुरुषों से उपसेवित, माननीय, थोड़े से शब्दों में बहुत अर्थ को बतलाने वाला, आप्त जनों से अनुमत (निर्दोष), उत्तम, मध्यम और अधम इन तीन प्रकार के शिष्यों की तीनों प्रकार की बुद्धि के लिये योग्य, सब जिस को समझ सकें, पुनरुक्ति दोष से रहित, ऋषियों से बनाया, सुप्रणीत (अच्छी प्रकार ग्रथित किया हो), जिस में सूत्र (संक्षेप में अर्थों का ग्रहण) भाष्य (विस्तार से वर्णन), और प्रतिपाद्य विषयों को क्रम से कहा हो, सुन्दर अधिकरणों वाली, ग्राम्य शब्दों से रहित, कठिन दुर्बोध या बोलने में कठिन शब्दों से रहित, भली प्रकार से बहुत तत्त्व बतलाने वाला, (क्रम से उद्देश्य क्रम से अर्थों को बतलाने वाला), वस्तुतत्त्व को सन्देह से रहित, निश्चित तत्त्व को बतलाने वाला, संगतियुक्त अर्थों को बतलाने वाला, अव्यवस्थित, बेमेल मिले हुए प्रकरणों से रहित; सुनते ही स्पष्ट अर्थज्ञान कराने वाला, लक्षण और उदाहरण वाला हो, ऐसा शास्त्र अध्ययन के लिये चुनना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार बादल आदि से रहित, निर्मल सूर्य अन्धकार को दूर करके सब पदार्थों को प्रकाशित कर देता है उसी प्रकार शास्त्र अज्ञान को दूर करके सब अर्थ-तत्त्व को प्रकाशित कर देता है ॥ ३ ॥

ततोऽनन्तरमाचार्यं परीक्षेत । तद्यथा—पर्यवदातश्रुतं परिदृष्टकर्माणं दक्षं दक्षिणं शुचिं जितहस्तमुपकरणवन्तं सर्वेन्द्रियोपपन्नं प्रकृतिज्ञं प्रतिपत्तिज्ञमनुपस्कृतविद्यमनहङ्कृतमनसूयकमकोपनं क्लेशक्षमं शिष्यवत्सलमध्यापकं ज्ञापनसमर्थं चेति । एवंगुणो ह्याचार्यः सुक्षेत्रमार्तवो मेघ इव सस्यगुणैः सुशिष्यमाशु वैद्यगुणैः संपादयति ॥ ४ ॥

आचार्य का लक्षण-शास्त्र की परीक्षा करने के अनन्तर आचार्य की परीक्षा करे। यथा-वह निर्मल शास्त्रज्ञान से सम्पन्न हो, जिसने कर्म को उचित रीति से देखा हो, केवल शास्त्र ही न पढ़ा हो, प्रत्युत वह कर्म में कुशल, शुचि (पवित्र), शस्त्र आदि क्रिया में वशी, सिद्धहस्त, नाना उपयोगी उपकरणों वाला सब इन्द्रियों से युक्त, रोगी की प्रकृति को पहिचानने वाला, उत्तम सूझ वाला, रोगों की चिकित्सा को समझने वाला, अन्य शास्त्रों के ज्ञान से प्रकट स्वच्छ विद्या वाला, अभिमान से रहित, गुणों में दोष न देखने वाला, क्रोध-

रहित क्लेश सहन करने वाला, शिष्य से प्रेम-भाव रखने वाला, शास्त्र के तत्त्व को बतलाने में समर्थ आचार्य होना चाहिये। जिस प्रकार ठीक ऋतु अनुसार बरसा हुआ मेघ उत्तम क्षेत्र को धान्यों से सम्पन्न कर देता है उसी प्रकार उक्त गुणों वाला आचार्य शिष्य को निर्मल ज्ञान आदि वैद्य के गुणों से शीघ्र सम्पन्न कर देता है ॥ ४ ॥

तमुपसृत्यारिराधयिषुरुपचरेदग्निवच्च देववच्च राजवच्च पितृवच्च भर्तृवच्चाप्रमत्तः। ततस्तत्प्रसादात्कृत्स्नं शास्त्रमधिगम्य, शास्त्रस्य दृढतायामभिधानसौष्ठवेऽर्थस्य विज्ञाने वचनशक्तौ च भूयो भूयः प्रयतेत सम्यक् ॥ ५ ॥

उपरोक्त गुणों वाले आचार्य के पास जाकर सेवा करने की इच्छा से शिष्य अग्नि, देव, राजा, माता, पिता और स्वामी के समान प्रमादरहित होकर उस की सेवा करे। तब उस की प्रसन्नता से सम्पूर्ण शास्त्र को जान कर शास्त्र को दृढ़ करने में, शास्त्र को उत्तम रीति से प्रवचन करने में, शास्त्र के अर्थ जानने में और वाक्-चातुर्य (बोलने की पटुता प्राप्त करने) में लगातार भली प्रकार से प्रयत्न करे ॥ ५ ॥

तत्रोपाया व्याख्यास्यन्ते—अध्ययनमध्यापनं तद्विद्यसंभाषा चेत्युपायाः ॥ ६ ॥

शास्त्र को दृढ़ करने आदि के उपायों का वर्णन करते हैं। वे उपाय ये हैं—(१) अध्ययन (पढ़ना), (२) अध्यापन (पढ़ाना) और (३) उस विद्या के विद्वानों से वार्तालाप करना ॥ ६ ॥

तत्रायमध्ययनविधिः—कल्यः कृतक्षणः प्रातरुत्थायोपव्यूषं वा कृत्वाऽऽवश्यकमुपस्पृश्योदकं देव-गो-ब्राह्मण-गुरु-वृद्ध-सिद्धाचार्येभ्यो नमस्कृत्य समे शुचौ देशे सुखोपविष्टो मनःपुरःसरीभिर्वाग्भिः सूत्रमनुपरिक्रामन्पुनःपुनरावर्तयेद् बुद्ध्या सम्यगनुप्रविश्यार्थतत्त्वं स्वदोषपरिहारपरदोषप्रमाणार्थम्। एवं मध्यन्दिनेऽपराह्णे रात्रौ च शश्वदपरिहापयन्नध्ययनमभ्यस्येदित्यध्ययनविधिः ॥ ७ ॥

इस शास्त्र की अध्ययन विधि यह है—नीरोग, समय में, नियम-पूर्वक प्रातःकाल उषःकाल में उठ कर शौचादि आवश्यक कर्मों को करके, पानी का आचमन स्नान आदि जलकार्य करे, पीछे देव, परमेश्वर ऋषि, गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध, सिद्ध एवं आचार्य इनको नमस्कार करके समान (न ऊंचे और न नीचे) एवं पवित्र स्थान पर सुखपूर्वक बैठकर मनोयोग पूर्वक वाणी से बार-बार सूत्रों का उच्चारण करता हुआ खूब समझ कर, अर्थ-तत्त्व में बुद्धि द्वारा

प्रवेश करके, (भली प्रकार समझ कर) अपने अध्ययन के दोष को त्यागने और दूसरे के अध्ययन के दोषों के ज्ञान लिये एकान्त में बैठ कर अध्ययन करे। इस प्रकार से मध्याह्न और रात्रि में निरन्तर अध्ययन (किसी दिन को भी बिना त्याग किये,) प्रतिषिद्ध दिनों को छोड़कर, अभ्यास करे ॥ ७ ॥

अथाध्यापनविधिः—अध्यापने कृतबुद्धिराचार्यः शिष्यमादितः परीक्षेत । तद्यथा—प्रशान्तमार्यप्रकृतिमक्षुद्रकर्माणमृजुचक्षुर्मुखनासावंशं तनुरक्तविशदजिह्वमविकृतदन्तौष्ठममिण्मिणं धृतिमन्तमनहङ्कृतिं मेधाविनं वितर्कस्मृतिसंपन्नमुदारसत्त्वं तद्विद्यकुलजमथवा तद्विद्यवृत्तं तत्त्वाभिनिवेशिनमव्यङ्गमव्यापन्नेन्द्रियं निभृतमनुद्धतवेशमव्यसनिनं शील-शौचाचारानुराग-दाक्ष्य-प्रादक्षिण्योपपन्नमध्ययनाभिकाममर्थविज्ञाने कर्मदर्शने चानन्यकार्यमलुब्धमनलसं सर्वभूतहितैषिणमाचार्यं सर्वानुशिष्टिप्रतिकरमनुरक्तमेवंगुणसमुदितमध्याप्यमेवमाहुः ।

अब अध्यापन-विधि कहते हैं—पढ़ाने की इच्छा करने वाले आचार्य को सबसे प्रथम शिष्य की परीक्षा करनी चाहिये। यथा—शिष्य सौम्य आकृति, शान्त, नीच स्वभाव से रहित, कमीने स्वभाव का न हो, नीच कर्म न करने वाला, सरल मुख, आंख और नासिका वाला, पतली लाल वर्ण, स्पष्ट जिह्वा वाला, दांत और ओष्ठों के विकार से रहित, नाक से अनुनासिक न बोलने वाला, संतोषी या धैर्यवान्, अहंकार रहित, मेधावी, वितर्क (ऊहापोह) स्मृति (याददास्त) से युक्त, उदारचित्त वाला, वैद्यकुल में या वैद्य वृत्ति करने वाले माता पिता से उत्पन्न, वैद्य के समान आचार वाला, तत्त्व के ग्रहण में दत्तचित्त, अविकल अंगों वाला, सम्पूर्ण इन्द्रियों से युक्त, निभृत (विनीत), अनुद्धत, अर्थ-तत्त्व को विचारने वाला, अक्रोधी, व्यसनरहित, शील (सच्चरित्रता) शौच (शुद्धि) आचार, अनुराग (पढ़ने से स्नेह) रखने वाला, दक्षता, प्रादक्षिण्य सर्वत्र अनुकूलता इन गुणों से युक्त, कर्म दर्शन और अर्थ के जानने में अन्य कर्म रहित, दत्तचित्त लोभरहित, अप्रमादी, सब प्राणियों में मंगल कामना करने वाला, आचार्य के सब उपदेशों को यथावत् करने वाला और भक्तिमान् हो; इन गुणों से युक्त शिष्य को पढ़ाना चाहिये। (इन गुणों से रहित शिष्य को पढ़ाने में आचार्य को भी यश नहीं मिलता।)

एवंविधमध्ययनार्थमुपस्थितमारिराधयिषुमाचार्यश्चानुभाषेत—अथोदगयने शुक्लपक्षे प्रशस्तेऽहनि तिष्य-हस्त-श्रवणाश्वयुजामन्यतमेन नक्षत्रेण योगमुपगते भगवति शशिनि कल्याणे; कल्याणे च करणे मैत्रे मुहूर्ते मुण्डः स्नातः कृतोपवासः कषायवस्त्रसंवीतः समिधोऽग्निमाज्य-

मुपलेपनमुदकुम्भांश्चगन्धहस्तो माल्य-दाम-प्रदीप-हिरण्य-हेम-रजत-मणि-मुक्ता-विद्रुम-क्षौम-परिधि-कुश-लाज-सर्षपाक्षतांश्च शुक्लाश्च सुमनसोग्रथिताग्रथिताश्च मेध्यांश्च भक्ष्यान् गन्धांश्च घृष्टानादायोपतिष्ठस्वेति । अथ सोऽपि तथा कुर्यात् ॥ ८ ॥

इन उपरोक्त गुणों से युक्त अध्ययनार्थ शिष्य के सेवा में उपस्थित होने पर आचार्य उसे कहे—कि "तू उत्तरायण (माघ आदिके शुक्ल पक्ष में, प्रशस्त दिव्य उत्तम तिथि, वार से युक्त दिन में, तिष्य, हस्त, श्रवण, अश्विनी इनमें से किसी एक नक्षत्र के साथ कल्याणकारी करण और सुखप्रद मुहूर्त के अनुकूल होने पर, मुण्डन करा, उपवास और स्नान करके, कषाय वस्त्र धारण करके, हाथों में सुगन्ध (धूप), समिधा, अग्नि, घी, उपलेपन (चन्दन आदि), जल के घड़े, माला, हार, स्वर्ण, रजत, मोती, प्रवाल (मूंगा), क्षौम (रेशम), हवनकुण्ड के चारों पार्श्वों में रखने योग्य हस्तप्रमाण के पलाशादि समिधा, कुशा, लाजा, सरसों, अक्षत, श्वेत, गुंथे और ग्रन्थन रहित (छुटे, अनबिंधे) पुष्प-माला, पवित्र खाद्य पदार्थ (तिल से बने लड्डू आदि), घिसे हुई चन्दन, आदि सुगन्धों को लेकर उपस्थित हो।"

वह शिष्य उसी प्रकार से करे ॥ ८ ॥

तमुपस्थितमाज्ञाय शुभे शुचौ देशे प्राक्प्रवणे उदक्प्रवणे वा चतुष्किष्कुमात्रं चतुरस्रं स्थण्डिलं गोमयोदकेनोपलिप्तं कुशास्तीर्णं सुपरिहितं परिधिभिश्चतुर्दिशंयथोक्त-चन्दनोदक-कुम्भ-क्षौम-हेम-हिरण्य-रजत-मणि-मुक्ता-विद्रुमालङ्कृतं मेध्य-भक्ष्य-गन्ध-शुक्ल-पुष्प-लाज-सर्षपाक्षतोपशोभितं कृत्वा, तत्र पालाशीभिरैङ्गुदीभिर्माधुकीभिर्वा समिद्भिरग्निमुपसमाधाय प्राङ्मुखः शुचिरध्ययनाविधमनुविधाय मधुसर्पिर्भ्यां त्रिस्त्रिर्जुहुयादग्निमाशीःसंप्रयुक्तैर्मन्त्रैर्ब्रह्माणमग्निं धन्वन्तरिं प्रजापतिमश्विनाविन्द्रमृषींश्च सूत्रकारानभिमन्त्रयमाणः पूर्वं स्वाहेति ॥ ९ ॥

दीक्षा—जिस समय अध्ययनार्थी शिष्य समिधा आदि वस्तुओं को लेकर आचार्य के पास उपस्थित हो उस समय एक समान एवं पवित्र स्थान में पूर्व या उत्तर दिशा में चार हाथ प्रमाण चौकोर जगह को गोबर और पानी से लेप कर इस पर कुशा बिछा दे। इसके चारों ओर से भली प्रकार वेष्टित कर दे। इसके चारों ओर चन्दन, पानी के घड़े, रेशम, स्वर्ण, चांदी, मणि, मुक्ता, मूंगा आदि पवित्र भक्ष्य, गन्ध, श्वेतपुष्प, लाजा, सरसों, अक्षत आदि वस्तुएं सजा देवे। इसमें पलाश (ढाक), इंगुदी (हिंगोट), गूलर,

महुए आदि किसी एक वृक्ष की समिधाओं से अग्नि प्रज्वलित करके पवित्र एवं पूर्वमुख बैठ कर अध्ययन विधि (वेदारम्भ विधि) के अनुकूल आशीर्वाद में प्रयुक्त मन्त्रों द्वारा ब्राह्मण, अग्नि, धन्वन्तरि, प्रजापति, दो अश्वी, इन्द्र, और सूत्रकार ऋषियों (भरद्वाज आदि) को पहिले मन्त्रों से आह्वान करके स्वाहा शब्द के साथ मधु (शहद) और घी प्रत्येक से तीन तीन बार आहुति दे ॥ ९ ॥

शिष्यश्चैनमन्वालभेत, हुत्वा च प्रदक्षिणमग्निमनुपरिक्रामेत् । ततोऽनुपरिक्रम्य ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयेत्, भिषजश्चाभिपूजयेत् ॥ १०॥

आचार्य के होम कर चुकने पर पीछे शिष्य भी होम करे । हवन करके अग्नि की तीन परिक्रमा करे । पीछे ब्राह्मणों की परिक्रमा करके स्वस्तिवाचन करे और वैद्यों की पूजा करे ॥ १० ॥

अथैनमग्निसकाशे ब्राह्मणसकाशे भिषक्सकाशे चानुशिष्यात्— ब्रह्मचारिणा श्मश्रुधारिणा सत्यवादिनाऽमांसादेन मेध्यसेविना निर्मत्सरेणाशस्त्रधारिणा च भवितव्यं, न च ते मद्वचनात्किंचिदकार्यं स्यादन्यत्र राजद्विष्टात्प्राणहराद्विपुलादधर्म्यादनर्थसंप्रयुक्ताद्वाऽप्यर्थात् मदर्पणेन मत्प्रधानेन मदधीनेन मत्प्रियहितानुवर्तिना च शश्वद् भवितव्यं, पुत्रवद्दासवदर्थिवच्चोपचरताऽनुवस्तव्योऽहमनुत्सुकेनावहितेनानन्यमनसा विनीतेनावेक्ष्यकारिणाऽनसूयकेन, न चानभ्यनुज्ञातेन प्रविचरितव्यं, अनुज्ञातेन प्रविचरता पूर्वं गुर्वर्थोपान्वाहरणे यथाशक्ति प्रयतितव्यं, कर्मसिद्धिमर्थसिद्धिं यशोलाभं प्रेत्य च स्वर्गमिच्छता त्वया गोब्राह्मणमादौ कृत्वा सर्वप्राणभृतां शर्माऽऽशासितव्यमहरहरुत्तिष्ठता चोपविशता च, सर्वात्मना चाऽऽतुराणामारोग्यं प्रयतितव्यं, जीवितहेतोरपि चाऽऽतुरेभ्यो नाभिद्रोग्धव्यं, मनसाऽपि च परस्त्रियो नाभिगमनीयास्तथा सर्वमेव परस्वं, निभृतवेशपरिच्छदेन भवितव्यमशौण्डेनापापेनापापसहायेन च श्लक्ष्ण-शुक्ल-धर्म्य-धन्य-सत्य-शर्म्य-हित-मित-वचसा देशकालविचारिणा स्मृतिमता ज्ञानोत्थानोपकरणसंपत्सु नित्यं यत्नवता, नच कदाचिद्राजद्विष्टानां राजद्वेषिणां वा महाजनद्विष्टानां महाजनद्वेषिणां वाऽप्यौषधमनुविधातव्यं तथा सर्वेषामत्यर्थ-विकृत--दुष्ट- दुःख-शीलाचारोपचाराणामनपवादप्रतीकाराणां मुमूर्षूणां च तथैवासंन्निहितेश्वराणां स्त्रीणामनध्यक्षाणां वा, नच कदाचित्स्त्रीदत्तमामिषमादातव्यमननुज्ञातं भर्त्राऽथवाऽध्यक्षेण, आतुरकुलं चानुप्रविशता त्वया विदितेनानुमतप्रवेशिना सार्धं पुरुषेण

सुसंवीतेनावाक्शिरसा स्मृतिमता स्तिमितेनावेक्ष्यावेक्ष्य मनसा सर्वमाचरता बुद्ध्या सम्यगनुप्रवेष्टव्यं, अनुप्रविश्य च वाङ्मनोबुद्धीन्द्रियाणि न क्वचित्प्रणिधातव्यान्यन्यत्राऽऽतुरादातुरोपकारार्थादाऽऽतुरगतेष्वन्येषु वा भावेषु, न चाऽऽतुरकुलप्रवृत्तयो बहिर्निश्चारयितव्याः, ह्रसितं चाऽऽयुषः प्रमाणमातुरस्य न वर्णयितव्यं जानताऽपि तत्र यत्रोच्यमानमातुरस्यान्यस्य वाऽप्युपघाताय संपद्यते, विज्ञानवताऽपि च नात्यर्थमात्मानो ज्ञाने विकत्थितव्यं, आप्तादपि हि विकत्थमानादत्यर्थमुद्विजन्त्यनेके ॥ ११ ॥

आचार्य का शिष्य को उपदेश—इसके अनन्तर आचार्य उस शिष्य को अग्नि, ब्राह्मण और वैद्यों के समक्ष (इनके साक्षि रूप में) निम्न उपदेश देवे। तुझको ब्रह्मचारी, श्मश्रुधारी, सत्यवादी, पवित्रभोजी, मात्सर्यरहित, निरामिषभोजी, निःशस्त्र होकर रहना चाहिये। तुझको मेरी आज्ञा से ही सब कुछ करना चाहिये, परन्तु राजविरुद्ध, प्राणनाशक, बहुत बड़ा अधर्म या अनर्थ का काम हो तो वह काम मेरी आज्ञा से भी नहीं करना चाहिये। तुझको मुझको अर्पण करके, मेरी प्रधानता से, मेरे अधीन रह कर, मेरे प्रिय और मेरे हितकारी रह कर सदा बरतना चाहिये। पुत्र पिता की, भृत्य स्वामी की, अर्थी धनी की जिस प्रकार से सेवा करते हैं, वैसे तुझे मेरी सेवा करनी चाहिये। उत्सुकतारहित, दत्तचित्त, सावधान, एकाग्र मन से, नम्र होकर, बार २ देख कर कार्य करना चाहिये। तुझे निन्दा से रहित और मेरी आज्ञा से विचरना-घूमना चाहिये। मेरी आज्ञा से या बिना मेरी आज्ञा के घूमने पर भी तुझे प्रथम मुझ गुरु के लिये अर्थ (धन) लाने का प्रयत्न करना चाहिये। चिकित्सा कर्म में सफलता, धनप्राप्ति, यश-लाभ और परलोक में स्वर्ग की कामना से तुझे गौ-ब्राह्मण का प्रथम संस्कार कर अन्य सब प्राणियों की मंगल कामना करनी चाहिये। प्रति दिन उठते-बैठते, जागते सब अवस्थाओं में, सब समय मे, सम्पूर्णरूप से रोगियों के कल्याण के लिये यत्नवान् रहना चाहिये (रोगी को दुःखित करके जीविका नहीं कमानी चाहिये)। मन से भी पर स्त्री की चाह न करनी चाहिये। इसी प्रकार दूसरे के धन को मन से भी नहीं चाहना चाहिये। विनीत (नम्र वेश) वस्त्रों वाला होना चाहिये (उद्धत वेश नहीं पहिनना चाहिये)। प्रमाद रहित, स्वयं पापरहित, तथा पापकर्म में साथी नहीं होना चाहिये। कोमल, निर्दोष, धर्मानुकूल, सुखकारक, सत्य, हितकारी, परिमित वाणी बोलने वाला तथा, देशकाल को विचार कर काम करने वाला,

स्मृतिमान् होना चाहिये। ज्ञान और अभ्युदय के उपकरणों को प्राप्त करने में सदा यत्नवान् रहना चाहिये। राजा जिनसे द्वेष करता है, अथवा जो राजा से द्वेष करते हैं, महाजन (बड़े आदमी), जिनसे द्वेष करते हैं, अथवा जो महाजनों से द्वेष करते हैं, उनकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिये। इसी प्रकार जिनके शील (स्वभाव) और आचार अत्यन्त निकृष्ट और दुष्ट हों, अल्पवाद, प्रतिकार, धनरहित (जनपदोद्ध्वंस में कहे हुए) लोगों की तथा मरणोन्मुख रोगियों की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये। इसी प्रकार जिन स्त्रियों का पति अथवा संरक्षक पास में न हों, उन की भी चिकित्सा नहीं करनी चाहिये। स्त्रियों से दिये धन को पति या संरक्षक के पूछे बिना कभी भी ग्रहण नहीं करना चाहिये, (उनकी आज्ञा से ही ग्रहण करना चाहिये)। रोगी के घर जाते समय चेतावनी देकर, आज्ञा मिलने पर दूसरे पुरुष के साथ उत्तम विनम्र वेश को पहिने हुए शिर को नीचे किये जाना चाहिये। जाते समय स्मृतिमान्, स्थिर मन से भली प्रकार-सोच विचार कर जो कुछ करना हो, भली प्रकार से घर में पहुंच कर करना चाहिये। घर में जा कर रोगी के उपकार के सिवाय रोगी से सम्बन्धित अथवा चिकित्सा से अतिरिक्त अन्य स्थानों में वाणी, मन, बुद्धि और इन्द्रियों को नहीं लगाना चाहिये। रोगी के घर के रहस्यों को बाहर नहीं करना चाहिये। जहाँ पर कहने से किसी अन्य प्राणी के मरने की सम्भावना हो, वहाँ पर मरणोन्मुख लक्षणों से रोगी की आयु का क्षय जानने पर भी नहीं कहना चाहिये। ज्ञानवान् होने पर भी अपने ज्ञान की प्रशंसा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि सत्यभाषी, आप्त, विद्वान् होकर भी अपने मुख से अपनी प्रशंसा करने वाले से अनेक लोग बहुत उद्विग्न हो जाते हैं॥ ११॥

न चैव ह्यस्ति सुतरमायुर्वेदस्य पारं, तस्मादप्रमत्तः शश्वदभियोगमस्मिन् गच्छेत्। एतच्च कार्यं, एवं भूयश्च वृत्तसौष्ठवमनसूयता परेभ्योऽप्यागमयितव्यं, कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः। शत्रुश्चाबुद्धिमताम्, अतश्चाभिसमीक्ष्य बुद्धिमताऽमित्रस्यापि धन्यं यशस्यमायुष्यं पौष्टिकं लोकमभ्युपदिशतो वचः श्रोतव्यमनुविधातव्यं चेति।१२।

आयुर्वेद ज्ञान की कहीं पर समाप्ति नहीं है। इसलिये इस आयुर्वेद के ज्ञान उपलब्ध करने में सदा प्रमादरहित होकर निरन्तर मनोयोग देवे। यहां कहे हुए कार्य सम्पूर्ण रूप से करने चाहिये। इस प्रकार करते हुए निन्दारहित होकर दूसरे लोगों से भी (शास्त्र के सिवाय) अन्य ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। क्योंकि बुद्धिमानों का सम्पूर्ण संसार आचार्यवत् है और मूर्खों का वह शत्रु है। अतः

ठीक २ जान कर बुद्धिमान् मनुष्य को शत्रु के भी धन्य, यशकारी, आयुष्य, पौष्टिक और लौकिक वचन को सुनना चाहिये और तदनुसार करना चाहिये॥१२॥

अतः परमिदं ब्रूयात्—देवताग्नि-द्विजाति-गुरु-वृद्ध-सिद्धाचार्येषु ते नित्यं सम्यग्वर्तितव्यम् । तेषु ते सम्यग्वर्तमानस्यायमग्निः सर्वगन्धरस-रत्नबीजानि यथेरिताश्च देवताः शिवाय स्युः । अतोऽन्यथा वर्तमानस्या-शिवायेति ।

इसके आगे निम्न प्रकार से उपदेश देवे—'देवता, अग्नि, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध, सिद्ध और आचार्य इनकी प्रतिदिन भली प्रकार से सेवा करनी चाहिये। इन देवताओं की भली प्रकार से सेवा करने पर यह तेरे सामने उपस्थित अग्नि सब प्रकार के गन्ध, रस, रत्न, बीज और पूर्वोक्त देवता आदि सब तेरे लिये मंगलकारी होंगे।'

एवं ब्रुवति चाऽऽचार्ये शिष्यस्तथेति ब्रूयात् । तद्यथोपदेशं च कुर्वन्न-ध्याप्यो ज्ञेयः, अतोऽन्यथा त्वनध्याप्यः । अध्याप्यमध्यापयन् ह्याचार्यो यथोक्तैश्चाध्यापनफलैर्योगमाप्नोत्यन्यैश्चानुक्तैः श्रेयस्करैर्गुणैः शिष्यमा-त्मानं च युनक्ति । इत्युक्तावध्ययनाध्यापनविधी यथावत् ॥ १३ ॥

इस प्रकार से आचार्य के कहने पर शिष्य भी 'तथास्तु' कह कर स्वीकार करे। आचार्य उपदेशानुसार करने वाले शिष्य को पढ़ावे और न करने वाले को नहीं पढ़ावे। पढ़ाने के योग्य शिष्य को पढ़ाने से ही आचार्य को अध्या-पन-कार्य का योग्य फल उचित लाभ मिलता है और यहाँ न कहे हुए दूसरे, अनेक श्रेयस्कर गुणों से शिष्य को और अपने को भी युक्त करता है। इस प्रकार अध्ययन और अध्यापन विधि कह दी ॥ १३ ॥

अध्ययनाध्यापनविधिवत्संभाषाविधिमत ऊर्ध्वं व्याख्यास्यामः— भिषक् भिषजा सह संभाषेत, तद्विद्यसंभाषा हि ज्ञानाभियोगसंहर्षकरी भवति, वैशारद्यमपि चाभिनिर्वर्तयति, वचनशक्तिमपि चाऽऽधत्ते, यशश्चा-भिदीपयति, पूर्वश्रुते च संदेहवतः पुनः श्रवणात् संशयमपकर्षति, श्रुते चासंदेहवतो भूयोऽध्यवसायमभिनिर्वर्तयति, अश्रुतमपि च कंचिदर्थं श्रोत्रविषयमापादयति, यद्वाचाऽर्थः शिष्याय शुश्रूषवे प्रसन्नः क्रमेणो-पदिशति गुह्याभिमतमर्थजातं तत्परस्परेण सह जल्पन् पिण्डेन विजि-गीषुराह संहर्षात्, तस्मात्तद्विद्यसंभाषामभिप्रशंसन्ति कुशलाः ॥ १४ ॥

संभाषणविधि—अध्ययन अध्यापन विधि के समान ही अब संभाषणविधि का वर्णन करते हैं। वैद्य वैद्य के साथ संभाषण करे। क्योंकि उसी विद्या को

जानने वाले के साथ संभाषण करने से ज्ञान और हर्ष को प्राप्त करता है, ज्ञान की चतुरता उत्पन्न करता है, बोलने की शक्ति पैदा करता है, यश को बढ़ाता है, अध्ययन काल में पहिले सुने शब्द या अर्थ में जरा संदेह होता है, उसको मिटाता है। और संदेह रहित वस्तु में और भी अधिक दृढ़ निश्चय कर लेता है अध्ययन काल में गुरुमुख से न सुना हुआ भी कुछ विषय यहां पर सुनने में आता है और आचार्य की सेवा करने वाले शिष्य के लिये जो गोपनीय वस्तु (अर्थ) प्रसन्न होकर गुरु बताता है, उस गोपनीय बात को यह दूसरे के साथ शास्त्रार्थ करते हुए अपनी विद्वत्ता दिखाने के लिये, जीतने की इच्छा से सार रूप में प्रसन्नतापूर्वक प्रकट कर देता है। इसलिये बुद्धिमान् लोग उस विद्या में निपुण विद्वान् से संभाषण करने की प्रशंसा करते हैं ॥ १४ ॥

द्विविधा तु खलु तद्विद्यसंभाषा भवति—संधाय संभाषा, विगृह्य सम्भाषा चेति ॥ १५ ॥

'तद्विद्य- संभाषण' अर्थात् उस विद्या के वेत्ता पुरुष से भाषण दो प्रकार का है। (१) संधाय संभाषा—संधि अर्थात् परस्पर मेल करके प्रेमपूर्वक संभाषण करना, अनुलोम संभाषण है। (२) विगृह्य संभाषा—विग्रह करके, दूसरे को पराजित करने के अभिप्राय से संभाषण करना प्रतिलोम-संभाषण है ॥ १५ ॥

तत्र ज्ञान-विज्ञान-वचन-प्रतिवचन-शक्ति-संपन्नेनाकोपनेनोपस्कृतविद्येनानसूयकेनानुनेयेनानुनयकोविदेन क्लेशक्षमेण प्रियसंभाषणेन च सह संधाय संभाषा विधीयते। तथाविधेन सह कथयन्विस्रब्धः कथयेत्, पृच्छेदपि च विस्रब्धः, पृच्छते चास्मै विस्रब्धाय विशदमर्थं ब्रूयात्, न च निग्रहभयादुद्विजेत, निगृह्य चैनं न हृष्येन्न च परेषु विकत्थेत, नच मोहादेकान्तग्राही स्यात्, न चाविदितमर्थं तमनुवर्णयेत्;सम्यक् चानुनयेनानुनयेच्च, अनुनये तत्र चावहितः स्यादित्यनुलोमसंभाषाविधिः ॥ १६ ॥

अनुलोम संभाषण की विधि—ज्ञान (शास्त्रज्ञान), विज्ञान, वचन (पूर्वपक्ष), प्रतिवचन (उत्तरपक्ष) कहने में समर्थ, क्रोध से रहित, अविकृत विद्या वाले, अनिन्दक, अनुनय के योग्य, अनुनय को जानने वाले, क्लेशसहिष्णु, प्रिय बोलने वाले पुरुष के साथ सन्धि करके संभाषण करते हुए विश्वासपूर्वक (विना संकोच या भय के) बातचीत करे और जो कुछ पूछना हो वह विश्वासपूर्वक पूछे। इस प्रकार के पुरुष के आगे पराजय के भय से न घबराए और

स्वयं भी प्रतिवादी का पराजय करके प्रसन्न न हो। दूसरों के आगे अपनी डींग न करे, अपनी प्रशंसा नहीं करे। मोहवश केवल लेने वाला ही न बने। न जाने हुए विषय का वर्णन नहीं करे। प्रतिवादी से किये अनुनय के सामने विनीत होवे। दूसरे के अनुनय में सावधान रहे। यह 'अनुलोम-संभाषण विधि' है ॥ १६ ॥

अत ऊर्ध्वमितरेण सह विगृह्य संभाषायां जल्पेत् श्रेयसा योगमात्मनः पश्यन्; प्रागेव च जल्पाज्जल्पान्तरं परावरान्तरं परिषद्विशेषांश्च सम्यक्परीक्षेत। सम्यक् परीक्षा हि बुद्धिमतां कार्यप्रवृत्तिनिवृत्तिकालौ शंसति, तस्मात्परीक्षामभिप्रशंसन्ति कुशलाः। परीक्षमाणस्तु खलु परावरान्तरमिमाञ्जल्पकगुणान् श्रेयस्करान् दोषवतश्च परीक्षेत सम्यक्। तद्यथा—श्रुतं विज्ञानं धारणं प्रतिभानं वचनशक्तिरित्येतान् गुणान् श्रेयस्करानाहुः। इमान्पुनर्दोषवतः, तद्यथा-कोपनत्वमवैशारद्यं भीरुत्वमधारणत्वमनवहितत्वमिति। एतान्द्वयानपि गुणान् गुरुलाघवतः परस्य चैवाऽऽत्मनश्च तोलयेत् ॥ १७ ॥

विगृह्य-संभाषा—इसके अनन्तर 'विगृह्य संभाषा' का वर्णन करते हैं। पुरुष अपना श्रेय (विद्योत्कर्ष आदि) योग देखता हुआ प्रतिवादी के साथ 'विगृह्य संभाषण' करे। इसमें जल्प (वाद-विवाद) से पूर्व ही जल्प के लक्षण, जल्प के गुण दोष, प्रतिवादी और अपने गुण दोष, और परिषद् के गुण दोषों को भली प्रकार से देख लेवे। क्योंकि भली प्रकार की हुई परीक्षा बुद्धिमानों को कार्य में प्रवृत्त होने और निवृत्त होने का काल बता देती है। इसलिये कुशल लोग परीक्षा की प्रशंसा करते हैं।

अपने और प्रतिवादी के गुण-दोषों की परीक्षा करने में, इन श्रेयस्कर और अश्रेयस्कर जल्पगुणों की परीक्षा करनी चाहिये। जैसे—गुरुमुख से शास्त्र का श्रवण, विज्ञान, (अवबोध), धारण (मन से धारण करना), प्रतिभान (प्रतिभा, प्रत्युत्पन्नमति) और बोलने की शक्ति का होना—इन गुणों को श्रेयस्कर कहते हैं और इन निम्नलिखित गुणों को अश्रेयस्कर अर्थात् दोषयुक्त कहते हैं। जैसे—क्रोध करना, अपाण्डित्य, भीरुता, अनभ्यास दत्तचित्त न होना, ये दोष हैं। इन दोनों प्रकार के गुणों को अपने में तथा प्रतिवादी में तुलना करके न्यून-अधिक रूप से देखना चाहिये ॥१७॥

तत्र त्रिविधः परः संपद्यते,-प्रवरः प्रत्यवरः समो वा गुणविनिक्षेपतः, नत्वेव कार्त्स्न्येन ॥ १८ ॥

इनमें प्रतिवादी तीन प्रकार का होता है—(१) प्रवर (उत्तम), (२) प्रत्यवर (हीन) और (३) सम (समान)। ये भेद श्रुत, विज्ञान आदि गुणों के परिमाण से होते हैं, कुल, शील आदि भेद से नहीं ॥ १८ ॥

परिषत्तु खलु द्विविधा,–ज्ञानवती, मूढपरिषच्च; सैव द्विविधा सती त्रिविधा पुनरनेन कारणविभागेन–सुहृत्परिषद्, उदासीनपरिषत्, प्रतिनिविष्टपरिषच्चेति ॥ १९ ॥

परिषद् अर्थात् सभा दो प्रकार की होती है, ज्ञानवती और मूढ। यही दो प्रकार की परिषद् शत्रु, मित्र और उदासीन कारण से तीन प्रकार की हो जाती है। (१) सुहृत्परिषद्, (२) उदासीन-परिषद्, (३) प्रतिकूल-निविष्टपरिषत् (विरोधियों की परिषद्) ॥ १९ ॥

तत्र प्रतिनिविष्टायां परिषदि ज्ञान-विज्ञान-वचन-प्रतिवचन-शक्तिसंपन्नायामपि मूढायां वा न कथंचित्केनचित्सह जल्पो विधीयते, मूढायां तु सुहृत्परिषदि उदासीनायां वा ज्ञान-विज्ञान-वचन-प्रतिवचन-शक्तिमन्तरेणाप्यदीप्तयशसा महाजनद्विष्टेन सह जल्पो विधीयते, तद्विधेन च सह कथयता आविद्धदीर्घसूत्रसंकुलैर्वाक्यदण्डकैः कथयितव्यं, अतिहृष्टं मुहुर्मुहुरुपहसता परं,निरूपयता च परिषदमाकारैः,ब्रुवता चास्य वाक्यावकाशो न देयः। कष्टशब्दं च ब्रुवता वक्तव्यो 'नोच्यते' इति,अथवा पुनः 'हीना ते प्रतिज्ञा'इति,पुनश्चाऽऽहूयमानः प्रतिवक्तव्यः–'परिसंवत्सरो भव,शिक्षस्व तावत्, पर्याप्तमेतावत्ते', सकृदपि हि परिक्षेपिकं निहतं निहतमाहुरिति नास्य योगः कर्तव्यः कथंचित्;अप्येवं श्रेयसा सह विगृह्य वक्तव्यमित्याहुरेके; न त्वेवं ज्यायसा सह विग्रहं प्रशंसन्ति कुशलाः ॥ २० ॥

इनमें से शत्रु-परिषद् अथवा मूढ-परिषत् में ज्ञान-विज्ञान, वचन-प्रतिवचन की शक्ति होने पर भी किसी उत्तम, हीन वा समान व्यक्ति के साथ किसी भी प्रकार से जल्प (विवाद) नहीं करना चाहिये। मूढपरिषद् में, वा मित्रपरिषद् में, या उदासीन-परिषद् में ज्ञान-विज्ञान और वचन-प्रतिवचन शक्ति के विना भी, प्रज्वलित कीर्ति से रहित और अनेक जनों के द्वेषपात्र (जिसका पक्ष कोई नहीं करे) ऐसे पुरुष के साथ जल्प किया जा सकता है। इस प्रकार के पुरुष के साथ संभाषण करते हुए, टेढ़ेमेढ़े लम्बे सूत्रों से युक्त लम्बे २ वाक्यों से भाषण करना चाहिये। खूब प्रसन्न होते हुए, प्रतिवादी की बार-बार हंसी करते हुए, आकार-चेष्टा आदि से परिषद् का ध्यान खींचते हुए और बोलनेको उद्यत हुए प्रतिवादी को बोलने का अवसर नहीं देना चाहिये। दुर्बोध अर्थ या

वाक्य को कहते हुए उससे बोलने के लिये कहना चाहिये कि 'नहीं कहते अथवा तेरी प्रतिज्ञा हीन है।' और यदि वह फिर वाद-विवाद के लिये बुलावे तो उसको कहना चाहिये कि—"एक साल और अधिक गुरु के पास पढ़, तेरे लिये इतना ही पर्याप्त है।" एक बार पराजित हुए प्रतिवादी को पराजित ही कहते हैं। अतः फिर इसके पक्ष का ग्रहण नहीं करना चाहिये। एक बार प्रतिपक्षी को पराजित करके पुनः उसे अवसर नहीं देना चाहिये। कुछ आचार्यों का मत है कि इस प्रकार अपने से श्रेष्ठ से भी प्रतिलोम जल्प कर लेना चाहिये परन्तु बुद्धिमान् मनुष्य अपने से श्रेष्ठ के साथ प्रतिलोम (विगृह्य) संभाषण की इच्छा नहीं करते ॥ २० ॥

प्रत्यवरेण तु सह समानाभिमतेन वा विगृह्य जल्पता सुहृत्परिषदि कथयितव्यं, अथवाऽप्युदासीनपरिषदि अवधान-श्रवण ज्ञान-विज्ञानोपधारण-वचन-शक्ति-संपन्नायां कथयता चावहितेन परस्य साद्गुण्यदोषबलमवेक्षितव्यं; समवेक्ष्य च यत्रैनं श्रेष्ठं मन्येत, नास्य तत्र जल्पं योजयेदनाविष्कृतमयोगं कुर्वन्; यत्र त्वेनमवरं मन्येत तत्रैवेनमाशु निगृह्णीयात्।

अपने से हीन या अपने समान प्रतिवादी के साथ सुहृत्परिषद्, उदासीन परिषद् या मूढ़ परिषद् में विगृह्य संभाषण करना चाहिये। अथवा उदासीन परिषद् में अवधान, श्रवण, ज्ञान, विज्ञान, उपधारण, वचन, प्रतिवचन शक्ति, आदि गुणों तथा क्रोध आदि दोषों को अपने में और दूसरे में तुलना करके सावधानी से संभाषण करना चाहिये और परीक्षा करके जिस बात में प्रतिवादी को अपने से श्रेष्ठ समझे, उस विषय में अपनी अयोग्यता को प्रकट न करते हुए जल्प का प्रयोग नहीं करना चाहिये और जिस विषय में प्रतिवादी को अपने से हीन समझे, उसमें इसको शीघ्रता से पकड़ लेना चाहिये।

तत्र खल्विमे प्रत्यवराणामाशु निग्रहे भवन्त्युपायाः; तद्यथा—श्रुतहीनं महता सूत्रपाठेनाभिभवेत्, विज्ञानहीनं पुनः कष्टशब्देन वाक्येन, वाक्यधारणाहीनमाविद्धदीर्घसूत्रसंकुलैर्वाक्यदण्डकैः, प्रतिभाहीनं पुनर्वचनेनैकविधेनानेकार्थवाचिना, वचनशक्तिहीनमर्धोक्तस्य वाक्यस्याऽऽक्षेपेण, अविशारदमपत्रपणेन, कोपनमायासनेन, भीरुं वित्रासनेन, अनवहितं नियमनेन। इत्येवमेतैरुपायैः परमवरमभिभवेत् ॥ २१ ॥

प्रतिवादी को शीघ्र निग्रह करने के लिये निम्न उपाय हैं। जैसे—जिसने शास्त्र न पढ़ा हो उसको बड़े लम्बे २ सूत्र सुना कर पराजित करे। विशेष ज्ञान से हीन अतिदुर्बोध अर्थ वाले, क्लिष्ट शब्दों से बने वाक्यों का प्रयोग करे।

अनभ्यस्त शास्त्र वाले या अल्पबुद्धि के लिये वक्र, लम्बे २ सूत्रों से बने वाक्यों का प्रयोग करे। प्रतिभा से हीन के लिये अनेकार्थवाची, अनेक प्रकार के वचनों का प्रयोग करे। वचन-शक्ति से हीन को आधे ही वाक्य पर टोक दे। अपण्डित या अचतुर को (जिसने कभी पहिले सभा नहीं देखी हो) लज्जाजनक वाक्यों से पराजित करना चाहिये, क्रोधी व्यक्ति को तंग करके, डरपोक को भय दिखला कर, जो सावधान न हो उसको मन के नियमन करने वाले वचनों से पराजित करे। इन नाना उपायों द्वारा प्रतिवादी का शीघ्र पराजय करे ॥२१॥

तत्र श्लोकौ—विगृह्य कथयेद्युक्त्या युक्तं च न निवारयेत्।
विगृह्यभाषा तीव्रं हि केषांचिद् द्रोहमावहेत् ॥ २२ ॥
नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यमपि विद्यते।
कुशला नाभिनन्दन्ति कलहं सहिताः सताम् ॥ २३ ॥
एवं प्रवृत्ते वादे कुर्यात् ॥ २४ ॥

प्रतिलोम संभाषण करने का प्रकार—दूसरे के साथ विगृह्य-संभाषण करते हुए युक्तिपूर्वक भाषण करे। युक्ति प्रमाणानुकूल दूसरे के वचन का निषेध नहीं करे। जल्प कई पुरुषों में तीव्र क्रोध उत्पन्न कर देता है। क्रुद्ध व्यक्ति के लिये कुछ भी अकार्य नहीं होता, वह कुछ भी कर सकता है। उसके लिये कुछ भी अवाच्य नहीं, वह सब कुछ बुरा-भला भी कह सकता है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष सज्जनों की सभा में कलह को अच्छा नहीं समझते। वाद चलने पर इस प्रकार करे ॥ २२–२४ ॥

प्रागेव तावदिदं कर्तुं यतेत—संधाय परिषदाऽयनभूतमात्मनः प्रकरणमादेशयितव्यं यद्वा परस्य भृशदुर्गं स्यात्, पक्षमथवा परस्य भृशं विमुखमानयेत् परिषदि, परिषदि चोपसंहितायामशक्यमस्माभिर्वक्तुम्, एषैव ते परिषद्यथेष्टं यथायोगं यथाभिप्रायं वादं वादमर्यादां च स्थापयिष्यतीत्युक्त्वा तूष्णीमासीत ॥ २५ ॥

वाद प्रारम्भ होने से पूर्व निम्न बातें करने का यत्न करे। यथा—परिषद् (सभ्यों) से मिलकर अपने अभ्यास किये हुए प्रकरण या विषय का निर्देश करे। अथवा जो प्रकरण वा विषय दूसरे को बहुत दुर्बोध हो उसे कहे अथवा दूसरे का पक्ष जो बहुत अधिक झगड़ा उत्पन्न करने वाला हो, वहां पर सभ्यों के बीच कहे। यदि परिषद् अपने विरोध में जान पड़े तो कहे कि—'इस परिषद् को तो तुमने पहिले ही मिलकर अपने पक्ष में कर लिया है, इसलिये हमारा बोलना असम्भव है। यह तो तुम्हारी घर की ही सभा है। जैसा चाहोगे, जैसा

बने, जैसा अभिप्राय हो, वह वैसा वाद, और वैसी वाद-मर्यादा को स्थापित करेगी,—ऐसा कह कर चुप हो जाये॥ २५॥

तत्रेदं वादमर्यादालक्षणं भवति—इदं भवति वाच्यमिदमवाच्य-मेवं सति पराजितो भवतीति॥ २६॥

वाद की मर्यादा—यह कहना, यह नहीं कहना, इस प्रकार से पराजय होता है. यह तीन वाद-मर्यादा के लक्षण कहाते हैं॥२६॥

इमानि तु खलु पदानि वादमार्गज्ञानार्थमधिगम्यानि भवन्ति। तद्यथा—वादः, द्रव्यं, गुणाः, कर्म, सामान्यं, विशेषः, समवायः, प्रतिज्ञा, स्थापना, प्रतिष्ठापना, हेतुः, दृष्टान्तः, निगमनं, उत्तरं, सिद्धान्तः, उपनयः, शब्दः, प्रत्यक्षं, अनुमानमैतिह्यमौपम्यं, संशयः, प्रयोजनं, सव्यभिचारं, जिज्ञासा, व्यवसायः, अर्थप्राप्तिः, संभवः, अनुयोज्यं, अननुयोज्यं, अनुयोगः, प्रत्यनुयोगः, वाक्यदोषः, वाक्यप्रशंसा, छलमहेतुरतीतकालमुपालम्भः, परिहारः, प्रतिज्ञाहानिरभ्यनुज्ञा, हेत्वन्तरमर्थान्तरं, निग्रहस्थानमिति॥ २७॥

वाद के मार्ग को समझने के लिये वैद्यों को निम्न चवालीस बातें समझ लेनी चाहियें। यथा—वाद, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, प्रतिज्ञा, स्थापना, प्रतिष्ठापना, हेतु, दृष्टान्त, उपनय, निगमन, उत्तर, सिद्धान्त, शब्द, प्रत्यक्ष, अनुमान, ऐतिह्य, औपम्य, संशय, प्रयोजन, सव्यभिचार, जिज्ञासा, व्यवसाय, अर्थप्राप्ति, संभव, अनुयोज्य, अननुयोज्य, अनुयोग, प्रत्यनुयोग, वाक्यदोष, वाक्यप्रशंसा, छल, हेतु, अतीतकाल, उपालम्भ, परिहार, प्रतिज्ञाहानि, अभ्यनुज्ञा, हेत्वन्तर, अर्थान्तर और निग्रहस्थान॥ २७॥

तत्र वादो नाम—यत् परः परेण सह शास्त्रपूर्वकं विगृह्य कथयति। स वादो द्विविधः संग्रहेण—जल्पो वितण्डा च। तत्र पक्षाश्रितयोर्वचनं जल्पः, विपर्ययो वितण्डा। यथा—एकस्य पक्षः—पुनर्भवोऽस्तीति, नास्तीत्यपरस्य। तौ च हेतुभिः स्वस्वपक्षं स्थापयतः, परपक्षमुद्भावयतः, एष जल्पः। जल्पविपर्ययो वितण्डा, वितण्डा नाम—परपक्षे दोष-वचनमात्रमेव॥ २८॥

वाद का लक्षण—शास्त्र के अनुसार जो परस्पर विगृह्य भाषण है वह वाद* कहाता है। यह संक्षेप से दो प्रकार का है। जल्प और वितण्डा। इनमें

* वाद का लक्षण—'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चा-वयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः। न्यायदर्शन १। २। ४२।

पक्ष और प्रतिपक्ष का आश्रय करके जो वाद किया जाता है, उसका नाम 'जल्प' है। इससे विपरीत 'वितण्डा' है। जैसे एक व्यक्ति का पक्ष है कि पुनर्जन्म होता है, और दूसरे का पक्ष है कि पुनर्जन्म नहीं होता है। ये दोनों नाना हेतुओं से अपने अपने पक्ष की स्थापना करते हैं और प्रतिबाधक प्रमाणों से दूसरे के पक्ष का निराकरण करते हैं। इसका नाम 'जल्प' है। जल्प से विपरीत वितण्डा है, परपक्ष में केवल दोष दिखाना 'वितण्डा' होता है † ॥२८॥

द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः स्वलक्षणैः श्लोकस्थाने पूर्वमुक्ताः ॥ २९ ॥

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इनमें से प्रत्येक का लक्षण सूत्रस्थान में कह आये हैं ॥ २९ ॥

अथ प्रतिज्ञा। प्रतिज्ञा नाम साध्यवचनम्। यथा नित्यः पुरुष इति ॥ ३० ॥

प्रतिज्ञा—साध्य वचन का नाम 'प्रतिज्ञा' *है। जैसे पुरुष नित्य है ॥३०॥

अथ स्थापना। स्थापना नाम तस्या एव प्रतिज्ञाया हेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनैः स्थापना। पूर्वं हि प्रतिज्ञा पश्चात्स्थापना, किं ह्यप्रतिज्ञातं स्थापयिष्यति। यथा नित्यः पुरुष इति प्रतिज्ञा। हेतुः—अकृतकत्वादिति। दृष्टान्तः-अकृतकमाकाशं तच्च नित्यम्। उपनयो यथा-चाकृतकमाकाशं तथा पुरुषः। निगमनं-तस्मान्नित्य इति ॥ ३१ ॥

स्थापना—इसी प्रतिज्ञा के हेतु, दृष्टान्त, उपनय, और निगमन द्वारा सिद्ध करने का नाम 'स्थापना' है। प्रथम प्रतिज्ञा होती है, फिर उसकी स्थापना की जाती है। विना प्रतिज्ञा के किस वस्तु को स्थापना करेगा। जैसे पुरुष नित्य है यह प्रतिज्ञा है। इसमें हेतु—उत्पत्ति न होने से। दृष्टान्त-आकाश, जिसे किसीने उत्पन्न नहीं किया और वह नित्य है। उपनय—जिस प्रकार अनुत्पन्न आकाश है इसी प्रकार पुरुष है। निगमन-इसलिये पुरुष भी नित्य है ॥३१॥

अथ प्रतिष्ठापना—प्रतिष्ठापना नाम या परप्रतिज्ञाया विपरीतार्थस्थापना, यथा—अनित्यः पुरुष इति प्रतिज्ञा। हेतुः-ऐन्द्रियकत्वात्, दृष्टान्तः—घट ऐन्द्रियकः, स चानित्यः, उपनयो-यथा घटस्तथा पुरुषः। निगमनं—तस्मादनित्य इति ॥ ३२ ॥

---

† 'यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः। स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा। न्याय द० १। २। ४३। ४४।

* साध्यस्य वचनं प्रतिज्ञा। न्याय द० १। १। ३३।

प्रतिष्ठापना--दूसरे वादी की प्रतिज्ञा के विपरीत अर्थ की स्थापना करना प्रतिष्ठापना कहलाता है। पुरुष अनित्य है, यह विपरीतार्थ प्रतिज्ञा है। इसमें हेतु—इन्द्रियग्राह्य होने से। दृष्टान्त—घड़ा इन्द्रियग्राह्य है, वह अनित्य है। उपनय-जिस प्रकार घड़ा है उसी प्रकार पुरुष भी अनित्य है। निगमन—इसलिये पुरुष अनित्य है॥ ३२॥

अथ हेतुः—हेतुर्नामोपलब्धिकारणं, तत्प्रत्यक्षमनुमानमैतिह्यमौपम्यमिति। एभिर्हेतुभिर्यदुपलभ्यते, तत्तत्त्वम्॥ ३३॥

हेतु-साध्य के उपलब्धि अर्थात् ज्ञान का कारण हेतु है *। प्रत्यक्ष, अनुमान, ऐतिह्य और उपमान ये भी उपलब्धि (ज्ञान) के साधन हैं। इन हेतुओं (प्रमाणों) से जो ज्ञान उपलब्ध होता है, वह तत्त्व अर्थात् ज्ञान है॥ ३३॥

उपनयो निगमनं चोक्तं स्थापनाप्रतिष्ठापनाव्याख्यायाम्॥ ३४॥

उपनय और निगमन को स्थापना और प्रतिष्ठापना की व्याख्या में कह दिया है॥ ३४॥

अथोत्तरं—उत्तरं नाम साधर्म्योपदिष्टे वा हेतौ वैधर्म्यवचनं,वैधर्म्योपदिष्टेवा साधर्म्यवचनं। यथा-हेतुसधर्माणो विकाराः, शीतकस्य हि व्याधेर्हेतुसाधर्म्यवचनं-हिमशिशिरवातसंस्पर्श इति ब्रुवतः परो ब्रूयात्-हेतुविधर्माणो विकाराः, यथा शरीरावयवानां दाहौष्ण्यकोथप्रपचने हेतुवैधर्म्यं हिमशिशिरवातसंस्पर्श इति; एतत्सविपर्ययमुत्तरम्॥ ३५॥

उत्तर—हेतु में साधर्म्य दिखाने पर वैधर्म्य दिखाना अथवा हेतु में वैधर्म्य दिखाने पर साधर्म्य दिखाना 'उत्तर' है। कोई कहे—विकार (रोग) हेतु (कारण) के समान धर्म (तुल्य धर्म) वाले होते हैं। यथा शीतजन्य रोगों में कारण के तुल्य धर्म हेमन्त शिशिर की वायु का शीत संस्पर्श हो इस पर प्रतिपक्षी कहे कि रोग हेतु के विरुद्ध धर्म (अतुल्य धर्म) वाले होते हैं। जैसे-शरीरावयवों के जलने में, गरम होने में, सड़ने में, पकने में हेतु (कारण) से असमान धर्म वाले हेमन्त, शिशिर की वायु का स्पर्श है। यह विपरीत उत्तर है॥ ३५॥

अथ दृष्टान्तः—दृष्टान्तो नाम यत्र मूर्खविदुषां बुद्धिसाम्यं, यो वर्ण्यं

* 'उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः। तथा वैधर्म्यात्। न्याय० ११।१।३४-३५।

वर्णयति, यथा-अग्निरुष्णो द्रवमुदकं स्थिरा पृथिवी आदित्यः प्रकाशक इति,यथा वाऽऽदित्यः प्रकाशकस्तथा सांख्यवचनं प्रकाशकमिति ॥३६॥

दृष्टान्त—जिसमें विद्वान् अविद्वान् दोनों की बुद्धि समान हो, उसका नाम दृष्टान्त है * । जिस वस्तु का वर्णन करना होता है, उसका उसी प्रकार की वस्तु से वर्णन करते हैं । यथा-अग्नि उष्ण है, जल द्रव है, पृथिवी स्थिर है, सूर्य प्रकाशक है, इन बातों को मूर्ख भी उसी प्रकार समझता है, जिस प्रकार एक विद्वान् समझता है । जिस प्रकार सूर्य प्रकाशक है, उसी प्रकार सांख्य ज्ञान भी प्रकाशक है । यहां पर सांख्य ज्ञान साध्य 'वर्ण्य' है । इसको आदित्य के दृष्टान्त से सिद्ध करते हैं ॥३६॥

अथ सिद्धान्तः—सिद्धान्तो नाम यः परीक्षकैर्बहुविधं परीक्ष्य हेतुभिः साधयित्वा स्थाप्यते निर्णयः स सिद्धान्तः, स चोक्तश्चतुर्विधः,—सर्वतन्त्रसिद्धान्तः, प्रतितन्त्रसिद्धान्तः, अधिकरणसिद्धान्तोऽभ्युपगमसिद्धान्त इति ।

सिद्धान्त—जिस को परीक्षकों ने बहुत प्रकार से परीक्षा कर हेतुओं द्वारा सिद्ध कर निर्णय रूप से स्थापित कर दिया है वह निर्णय 'सिद्धान्त' है । यह सिद्धान्त चार प्रकार का है । (१) सर्वतन्त्र सिद्धान्त, (२) प्रतितंत्र सिद्धान्त, (३) अधिकरण सिद्धान्त और (४) अभ्युपगम सिद्धान्त ।

तत्र सर्वतन्त्रसिद्धान्तो नाम—सर्वतन्त्रेषु यत्प्रसिद्धम् । सन्ति व्याधयः सन्ति सिद्ध्युपायाः साध्यानामिति ।

(१) सर्वतन्त्र सिद्धान्त—सब तंत्रों (शास्त्रों) में (उस सम्बन्ध के) जो सिद्धान्त प्रसिद्ध हों, उनका नाम सर्वतंत्र सिद्धान्त है । यथा—निदान हैं, साध्य रोग हैं, रोगों को दूर करने के भी उपाय हैं, ये बातें सब तत्रों में प्रसिद्ध हैं ।

प्रतितन्त्रसिद्धान्तो नाम तस्मिंस्तस्मिंस्तन्त्रे तत्तत्प्रसिद्धं, यथा—अन्यत्राष्टौ रसाः षडत्र, पञ्चेन्द्रियाणि यथाऽन्यत्रान्यत्र षडिन्द्रियाणि । वातादिकृताः सर्वविकारा यथाऽन्यत्र वातादिकृता भूतकृताश्च प्रसिद्धाः।

(२) प्रतितंत्र सिद्धान्त—उसी विशेष तंत्र में जो तत्त्व प्रसिद्ध हों और तंत्रों में अप्रसिद्ध हों, उसका नाम प्रतितंत्र सिद्धान्त है । यथा—एक तंत्र में रस आठ प्रकार के हैं, और इस तंत्र में रस छः प्रकार के हैं । एक तंत्र में पांच इन्द्रियां हैं, अन्य तंत्र में छः इन्द्रियां मानी हैं (मन को भी इन्द्रिय गिनते हैं) अन्य तंत्रों में सब रोग वात आदि दोषजन्य ही माने गये हैं । एक तंत्र में रोगों

* लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं सदृष्टान्तः ॥ न्याय० १। १। २५॥

का कारण वात आदि दोष तथा पंच महाभूत वा सूक्ष्म कीट-प्राणियों को भी माना है।

अधिकरणसिद्धान्तो नाम यस्मिन् यस्मिन्नधिकरणे संस्तूयमाने सिद्धान्यन्यान्यधिकरणानि भवन्ति, यथा–न मुक्तः कर्मानुबन्धिकं कुरुते; निस्पृहत्वादिति प्रस्तुते सिद्धाः कर्मफलमोक्षपुरुषप्रेत्यभावा भवन्ति।

(३) अधिकरण सिद्धान्त—जिस जिस अधिकरण के उपस्थित करने पर अन्य न कहे हुए अधिकरण भी अपने आप सिद्ध हो जाते हैं, उसका नाम अधिकरण सिद्धान्त है। यथा—मुक्त पुरुष निःस्पृह होने से फलजनक कर्म नहीं कर सकता। इस अवस्था में कर्मफल, मोक्ष, पुरुष और प्रेत्यभाव से प्रकरण भी स्वयं सिद्ध होते हैं। क्योंकि यदि कर्मफल न हो तो मुमुक्षु भी कर्म करें। कर्मफल से उद्विग्न होकर ही वे कर्म नहीं करते। यदि मोक्ष हो तो मुक्त ऐसा नाम हो। यदि पुरुष न हो तो बन्ध और मोक्ष किसका।

अभ्युपगमसिद्धान्तो नाम—यमर्थमसिद्धमपरीक्षितमनुपदिष्टमहेतुकं वा वादकालेऽभ्युपगच्छन्ति भिषजः। तद्यथा—द्रव्यं न प्रधानमिति कृत्वा वक्ष्यामः, गुणाः प्रधाना इति कृत्वा वक्ष्यामः, इत्येवमादिश्चतुर्विधः सिद्धान्तः॥ ३७॥

(४) अभ्युपगम सिद्धान्त—जिसको बिना सिद्ध किये, बिना परीक्षा किये और बिना हेतु आदि बतलाये ही विवादकाल में वैद्य लोग स्वीकार कर लेते हैं, वह अभ्युपगम सिद्धान्त है। यथा—द्रव्य को प्रधान न मानकर सिद्धान्त रूप से स्वीकार करके आगे विवाद करें। इसी प्रकार गुण को प्रधान मान कर, कर्म को प्रधान मानकर वाद आरम्भ करें। ये चारों प्रकार के सिद्धान्त कह दिये हैं।३७।

अथ शब्दः—शब्दो नाम वर्णसमाम्नायः, स चतुर्विधः–दृष्टार्थश्चादृष्टार्थश्च सत्यश्चानृतश्चेति।

शब्द—वर्णों के समाम्नाय (समूह) का नाम शब्द है। यह चार प्रकार का है। यथा (१) दृष्टार्थ, (२) अदृष्टार्थ (३) सत्य और (४) अनृत।

तत्र दृष्टार्थः—त्रिभिर्हेतुभिर्दोषाः प्रकुप्यन्ति षड्भिरुपक्रमैश्च प्रशाम्यन्ति, श्रोत्रादिसद्भावे शब्दादिग्रहणमिति।

(१) दृष्टार्थ—तीन कारणों (असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम) से वात आदि दोष कुपित होते हैं। वे छः उपक्रमों (बृंहण, लंघन, स्नेहन, रूक्षण, स्वेदन और स्तम्भन) से शान्त होते हैं। श्रोत्र आदि इन्द्रियों

के होने पर शब्द आदि विषयों का ग्रहण होता है। इन वाक्यों का अर्थ यहां प्रत्यक्ष होता है, देखा जाता है।

स दृष्टार्थः पुनः—अस्ति प्रेत्यभावोऽस्ति मोक्ष इति।

(२) *अदृष्टार्थ—जैसे प्रेत्यभाव अर्थात् (पुनर्जन्म) है और मोक्ष है, यह अदृष्ट अर्थ है।*

सत्यो नाम यथार्थभूतः—सन्त्यायुर्वेदोपदेशाः, सन्त्युपायाः साध्यानां, सन्त्यारम्भफलानीति, सत्यविपर्ययाच्चानृतः ॥ ३८ ॥

सत्य—यथार्थ जैसा हो वैसा कहना सत्य है। यथा आयुर्वेद का उपदेश है, साध्य रोगों की चिकित्सा के उपाय हैं। आरम्भ फल अर्थात् कर्मों के फल होते हैं। सत्य से विपरीत अनृत (मिथ्या) है ॥ ३८ ॥

अथ प्रत्यक्षं—प्रत्यक्षं नाम तद्यदात्मना पञ्चेन्द्रियैश्च स्वयमुपलभ्यते। तत्राऽऽत्मप्रत्यक्षाः सुखदुःखेच्छाद्वेषादयः, शब्दादयस्त्विन्द्रियप्रत्यक्षाः ॥ ३९ ॥

प्रत्यक्ष—आत्मा और इन्द्रियों द्वारा जो ज्ञान स्वयं प्राप्त किया जाता है, उसका नाम प्रत्यक्ष[1] है, इनसे सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष आदि आत्मा द्वारा प्रत्यक्ष होते हैं, शब्द आदि विषय श्रोत्र आदि इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष होते हैं॥३९॥

अथानुमानं—अनुमानं नाम तर्को युक्त्यपेक्षः। यथोक्तम्—अग्निं जरणशक्त्या, बलं व्यायामशक्त्या, श्रोत्रादीनि शब्दादिग्रहणेनेत्येवमादि ॥ ४० ॥

अनुमान—युक्ति की अपेक्षा करने वाला तर्क अनुमान है। कार्यकारण भाव के ज्ञान से अविज्ञात अर्थ को जानना तर्क है। यथा—जीर्ण करने की शक्ति से अग्नि का, व्यायाम शक्ति से बल का, शब्दादि के ग्रहण करने से श्रोत्रादि इन्द्रियों का अनुमान किया जाता है ॥ ४० ॥

अथैतिह्यं—ऐतिह्यं नामाऽऽप्तोपदेशो वेदादिः ॥ ४१ ॥

ऐतिह्य—ऐसा वृद्ध पुरुषों ने कहा था यह 'ऐतिह्य' है। आप्त-वचन का नाम ऐतिह्य है। यथा आप्त-वचन वेद आदि ॥ ४१ ॥

अथौपम्यं—औपम्यं नाम यदन्येनान्यस्य सादृश्यमधिकृत्य प्रकाशनं, यथा—दण्डेन दण्डकस्य, धनुषा धनुष्टम्भस्य, इष्वासिना आरोग्यदस्येति ॥ ४२ ॥

---

१ इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्। न्याय० १। १। ४।

औपम्य (उपमा)—सादृश्य को देखकर एक प्रसिद्ध वस्तु का प्रकाशन करना 'उपमा' है। जैसे दण्डे से दण्डक नाम (वातव्याधि) रोग बतलाया है। धनुष द्वारा धनुस्तम्भ (जिसमें धनुष के समान शरीर मुड़ जाता है, ऐसा धनुर्वात रोग बतलाया है) और धानुष्क (तीर चलाने वाले) का उदाहरण देकर आरोग्यता देने वाले वैद्य का प्रयोजन बतलाया है (खुड्डाक चतुष्पाद अध्याय १० में) ॥ ४२ ॥

अथ संशयः—संशयो नाम संदेहलक्षणानुसंदिग्धेष्वर्थेष्वनिश्चयः। यथा-दृष्टा ह्यायुष्यलक्षणोपेताश्चानुपेताश्च तथा सक्रियाश्चाक्रियाश्च पुरुषाः शीघ्रभङ्गाश्चिरजीविनश्च, एतदुभयदृष्टत्वात्संशयः-किन्नु खल्व-कालमृत्युरस्त्युत नास्तीति ॥ ४३ ॥

संशय—संदिग्ध अर्थों में निश्चय का न होना संशय[1] है। जैसे क्या अकाल मृत्यु है, अथवा नहीं है! आयुष्मान् पुरुषों के लक्षणों से युक्त एवं इन लक्षणों से रहित किंवा चिकित्सा क्रिया के बिना और चिकित्सा करने पर भी शीघ्र मरने वाले तथा देर तक जीने वाले दोनों प्रकार के पुरुष देखे जाते हैं। दोनों प्रकार की अवस्थाओं के देखने से संशय होता है कि क्या अकाल मृत्यु है, अथवा नहीं है ॥४३॥

अथ प्रयोजनं—प्रयोजनं नाम यदर्थमारभ्यन्त आरम्भाः। यथा—यद्यकालमृत्युरस्ति ततोऽहमात्मानमायुष्यैरुपचरिष्याम्यनायुष्याणि च परिहरिष्यामि, कथं मामकालमृत्युः प्रसहेतेति ॥४४॥

प्रयोजन—जिसके लिये कर्मों का आरम्भ किया जाता है वह 'प्रयोजन' है। जैसे यदि अकाल मृत्यु है, तो मैं आयु के लिये हितकारी पथ्यों द्वारा अपने शरीर की रक्षा करूंगा। आयु का नाश करने वाली अपथ्य वस्तु का परित्याग करूंगा। फिर किस प्रकार से मुझपर अकाल मृत्यु आक्रमण कर सकती है?॥४४॥

अथ सव्यभिचारं—सव्यभिचारं नाम यद्व्यभिचरणं; यथा—भवेदिदमौषधं तस्मिन् व्याधौ यौगिकमथवा नेति ॥४५॥

सव्यभिचार—व्यभिचार एकत्र अव्यवस्था, अनिश्चितता, अनेकों में प्रवृत्त होना ही सव्यभिचार है। यथा—इस रोग में इस औषध का यौगिक

---

१ समानानेकधर्मोपपत्तेः विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषा-पेक्षो विमर्शः संशयः ॥ न्याय० १ । १ । ४१ ॥

अर्थात् योग के अनुकूल होना वा विपरीत भी होना सम्भव है, इस प्रकार एकान्त निश्चय न होना 'सव्यभिचार'* है ॥ ४५ ॥

अथ जिज्ञासा—जिज्ञासा नाम परीक्षा; यथा भेषजपरीक्षोत्तरकालमुपदेक्ष्यते ॥ ४६ ॥

जिज्ञासा—प्रमाणों द्वारा अर्थ की परीक्षा करना 'जिज्ञासा' है। यथा भेषज परीक्षा जो आगे कहेंगे ॥ ४६ ॥

अथ व्यवसायः—व्यवसायो नाम निश्चयः, यथा वातिक एवायं व्याधिः, इदमेवास्य भेषजमिति ॥ ४७ ॥

व्यवसाय—निश्चय का नाम 'व्यवसाय' है। यथा—यह रोग वातजन्य ही है, और इस रोग की यही औषध है ॥ ४७ ॥

अथार्थप्राप्तिः-अर्थप्राप्तिर्नाम यत्रैकेनार्थेनोक्तेनापरस्यार्थस्यानुक्तस्य सिद्धिः; यथा-नायं संतर्पणसाध्यो व्याधिरित्युक्ते भवत्यर्थप्राप्तिः—अपतर्पणसाध्योऽयमिति, नानेन दिवा भोक्तव्यमित्युक्ते भवत्यर्थप्राप्तिः—निशि भोक्तव्यमिति ॥ ४८ ॥

अर्थप्राप्ति—एक कहे हुए अर्थ से दूसरे न कहे हुए अर्थ का जिससे ज्ञान होजाय उसका नाम अर्थप्राप्ति है। यथा यह रोग से तर्पणसाध्य नहीं है, यह कहने पर पता लग जाता है कि यह रोग अतर्पण साध्य है। इसको दिन में भोजन नहीं देना चाहिये, ऐसा कहने पर ज्ञात हो जाता है कि रात्रि में भोजन देना चाहिये ॥ ४८ ॥

अथ संभवः—संभवो नाम यो यतः संभवति स तस्य संभवः; यथा-षड्धातवो गर्भस्य, व्याधेरहितं हितमारोग्यस्येति ॥ ४९ ॥

संभव—जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उसका संभव अर्थात् कारण है। जैसे छः धातु (पृथिवी, अप, तेज, वायु, आकाश और चेतना) गर्भ का उत्पत्ति में कारण हैं। इसी प्रकार अहित-सेवन रोगों की उत्पत्ति में, हित-सेवन आरोग्यता की उत्पत्ति में कारण हैं ॥ ४८ ॥

अथानुयोज्यं—अनुयोज्यं नाम यद्वाक्यं वाक्यदोषयुक्तं तदनुयोज्यमुच्यते,सामान्योदाहृतेष्वर्थेषु वा विशेषग्रहणार्थं यद्वाक्यं तदनुयोज्यं;

---

* न्यायदर्शन में सव्यभिचार को हेत्वाभास माना है। यह हेतु नहीं, परन्तु हेतु के समान दीखता है। यथा-'सव्यभिचार-विरुद्ध-प्रकरणसम-साध्यसमातीतकाला हेत्वाभासाः'। न्याय० १। २। ४५॥

यथा—संशोधनसाध्योऽयं व्याधिरित्युक्ते किं वमनसाध्यः किं वा विरेचनसाध्यः ? इत्यनुयुज्यते ॥ ५० ॥

अनुयोज्य—जो वाक्य वाक्य के न्यून आदि दोषों से युक्त होता है, उसका नाम अनुयोज्य है। क्योंकि इस प्रकार का दोषयुक्त वाक्य प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। अथवा सामान्य रूप में कहे हुए वाक्यार्थ में विशेष ग्रहण के लिये जो वाक्य कहा जाता है, वह भी अनुयोज्य होता है। यथा—यह रोग संशोधन से साध्य है, ऐसा कहने पर वमनसाध्य है या विरेचनसाध्य है। यह और भी वक्तव्य शेष रह जाने से 'अनुयोज्य' है ॥ ५० ॥

अथाननुयोज्यं—अननुयोज्यं नामातो विपर्ययेण; यथा—अयमसाध्यः ॥ ५१ ॥

अननुयोज्य—अनुयोज्य के विपरीत-वाक्यदोष से रहित वचन को 'अननुयोज्य' कहते हैं। यथा—यह रोग असाध्य है ॥ ५१ ॥

अथानुयोगः—अनुयोगो नाम यत्तद्विद्यानां तद्विद्यैरेव सार्धं तन्त्रे तन्त्रैकदेशे वा प्रश्नः प्रश्नैकदेशो वा ज्ञान विज्ञान-वचन-प्रतिवचन-परीक्षार्थमादिश्यते। यथा नित्यः पुरुष इति प्रतिज्ञाते, यत्परः को हेतुरित्याह सोऽनुयोगः ॥ ५२ ॥

अनुयोग—विशेष विद्या वाले पुरुष का उसी (एक समान) विद्या वाले पुरुष के साथ ज्ञान, विज्ञान, प्रतिवचन शक्ति की परीक्षा के लिये सम्पूर्ण उसी शास्त्र में अथवा उस शास्त्र के किसी एक भाग में प्रश्न करना 'अनुयोग' कहाता है। जैसे—एक ने प्रतिज्ञा की—पुरुष नित्य है। दूसरे ने पूछा—इसमें हेतु क्या है ? यह कहना अनुयोग है ॥ ५२ ॥

अथ प्रत्यनुयोगः—प्रत्यनुयोगो नामानुयोगस्यानुयोगः; यथा—अस्यानुयोगस्य पुनः का हेतुरिति ॥ ५३ ॥

प्रत्यनुयोग—अनुयोग का अनुयोग करना प्रत्यनुयोग है। जैसे—एक ने प्रतिज्ञा की-पुरुष नित्य है, दूसरे ने प्रश्न किया इसमें क्या हेतु है ? इस हेतु में क्या हेतु है ? ऐसा प्रश्न पर प्रश्न पूछना 'प्रत्यनुयोग है ॥ ५३ ॥

अथ वाक्यदोषः—वाक्यदोषो नाम यथा—खल्वस्मिन्नर्थे न्यूनमधिकमनर्थकमपार्थकं विरुद्धं चेति। तत्र प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानामन्यतमेनापि न्यूनं न्यूनं भवतीति, बहूपदिष्टहेतुकमेकेन साध्यते हेतुना तच्च न्यूनम्, एतानि ह्यन्तरेण प्रकृतोऽप्यर्थः प्रणश्येत्।

वाक्यदोष—वाक्य में विषय की दृष्टि से निम्न दोष होते हैं जैसे—न्यून, अधिक, अनर्थक, अपार्थक और विरुद्धार्थ।

न्यून—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन इनमें से किसी एक से भी न्यून हो तो वह न्यून दोष गिना जाता है। अथवा जो वस्तु बहुत से हेतु देकर सिद्ध करनी चाहिये, उस वस्तु को केवल एक ही हेतु से सिद्ध किया जाये तो वह भी 'न्यून' दोष समझना चाहिये।

अथाधिकं—अधिकं नाम यदायुर्वेदे भाष्यमाणे बार्हस्पत्यमौशनसमन्यद्वा यत्किंचिदप्रतिसंबद्धार्थमुच्यते। यद्वा पुनः प्रतिसंबद्धार्थमपि द्विरभिधीयते तत्पुनरुक्तत्वादधिकम्। तच्च पुनरुक्तं, द्विविधम्। अर्थपुनरुक्तं शब्दपुनरुक्तं च। तत्रार्थपुनरुक्तं नाम यथा—भेषजमौषधं साधनमिति, शब्दपुनरुक्तं नाम पुनः भेषजं भेषजमिति।

अधिक-न्यून से विपरीत हेतु आदि उदाहरण अधिक हों उसको अधिक कहते हैं। अथवा आयुर्वेद के विषय में बार्हस्पत्य, औशनस आदि अन्य अप्रासंगिक बातों का कहना, अथवा प्राकृत (सम्बन्धित) वस्तु को दो बार कहना यह भी पुनरुक्त होने से 'अधिक' ही होता है। यह पुनरुक्त दो प्रकार का है। जैसे—अर्थपुनरुक्त और शब्दपुनरुक्त। इनमें 'अर्थपुनरुक्त' दो प्रकार का है। जैसे—भेषज, औषध और साधन। 'शब्दपुनरुक्त' जैसे 'भेषज भेषज' है।

अनर्थकं नाम यद्वचनमक्षरग्राममात्रमेव स्यात्पञ्चवर्गवन्न चार्थतो गृह्यते।

अनर्थक—जिनका कहना पंचवर्ग (ङ ञ ण न म) के समान केवल अक्षर समूह (वर्णमाला) के रूप में होता है, जिसका कोई अर्थ नहीं निकलता उसका नाम 'अनर्थक' है।

अथापार्थकं—अपार्थकं नाम यदर्थवच्च परस्परेण चायुज्यमानार्थकम्। यथा—चक्र-नक्र-वंश-वज्र-निशाकरा इति।

अपार्थक—जब बहुतोंमें से प्रत्येक शब्द अर्थ वाला होकर भी वे सब परस्पर मिलकर किसी भी अर्थ को न बता सकें तब 'अपार्थक' दोष होता है। जैसे—चक्र, नक्र, वंश, वज्र, निशाकर आदि। इनमें से प्रत्येक का पृथक् २ अर्थ है, परन्तु मिलने पर कोई संगत अर्थ नहीं निकलता।

विरुद्धं नाम यद्दृष्टान्तसिद्धान्तसमयैर्विरुद्धं, तत्र दृष्टान्तसिद्धान्तावुक्तौ, समयः पुनस्त्रिधा भवति, यथा—आयुर्वैदिकसमयो याज्ञिकसमयो मोक्षशास्त्रिकसमय इति। तत्रायुर्वैदिकसमयश्चतुष्पादं भेषजमिति, याज्ञिकसमयः, आलभ्याः पशव इति, सर्वभूतेष्वहिंसेति मोक्षशास्त्रिकसमयः। तत्र स्वसमयविपरीतमुच्यमानं विरुद्धं भवतीति वाक्यदोषः॥ ५४॥

विरुद्ध—जो वाक्य दृष्टान्त, सिद्धान्त और समय के विपरीत हो। यह विरुद्ध तीन प्रकार का है, दृष्टान्त-विरुद्ध, सिद्धान्त-विरुद्ध और समय-विरुद्ध। इनमें दृष्टान्त और सिद्धान्त दोनों को पीछे कह चुके हैं।

समयविरुद्ध—समय तीन प्रकार का है। यथा-(१) याज्ञिक समय, (२) आयुर्वैदिक समय और (३) मोक्षशास्त्रिक समय। इनमें आयुर्वैदिक-समय जैसे—भेषज चतुष्पाद (भिषक्, द्रव्य, उपस्थाता और रोगी) है। याज्ञिक-समय जैसे—यजमान को चाहिये कि पशुओं का आलम्भन करे। मोक्षशास्त्रिक समय जैसे—सब प्राणियों के प्रति अहिंसा वृत्ति रखे। इनमें अपने २ समय अर्थात् सिद्धान्त के विपरीत कहना 'विरुद्ध' है। ये वाक्यदोष हैं॥ ५४॥

अथ वाक्यप्रशंसा नाम यथा खल्वस्मिन्नर्थे त्वन्यूनमनधिकमर्थवदनपार्थकमविरुद्धमधिगतपदार्थं चेति यत्तद्वाक्यमननुयोज्यमिति प्रशस्यते॥ ५५॥

वाक्य प्रशंसा—जिस वाक्य में न्यून और अधिक दोष न हों, जो अर्थवान् होकर भी अपार्थक और विरुद्ध न हो और पदार्थ को कहने वाला तथा दूसरे से अनुयोज्य न हो ऐसा वाक्य प्रशंसायोग्य होता है, इसे वाक्यप्रशंसा कहते हैं।

अथ च्छलं—छलं नाम परिशठमर्थाभासमनर्थकं वाग्वस्तुमात्रमेव तद्द्विविधं वाक्छलं, सामान्यच्छलं च।

छल—शठ के प्रति वञ्चना के लिये अर्थ की भाँति दीखने वाले अनर्थक, वाणी मात्र को (दूसरे के वचन को नष्ट करने के लिये) प्रयुक्त करना 'छल' है। यह छल दो प्रकार का है * (१) वाक्छल और (२) सामान्य छल।

तत्र वाक्छलं नाम यथा-कश्चिद् ब्रूयान्नवतन्त्रोऽयं भिषगिति। भिषग् ब्रूयाद्—नाहं नवतन्त्र एकतन्त्रोऽहमिति। परो ब्रूयात्—नाहं ब्रवीमि नवतन्त्राणि तवेति, अपितु नवाभ्यस्तं हि ते तन्त्रमिति। भिषग्ब्रूयात्—न मया नवाभ्यस्तं तन्त्रमनेकधाऽभ्यस्तं मया तन्त्रमिति। एतद्वाक्छलम्।

इनमें वाक् छल—जैसे कोई कहे कि यह वैद्य तो नवतन्त्रों वाला है। वैद्य कहे कि मैं नव (नौ) तंत्रों वाला नहीं हूं। दूसरा व्यक्ति कहे कि मैं यह नहीं कहता कि तुम नौ तंत्रों वाले हो, अपितु तुमने तंत्रों का नया ही अभ्यास किया है। वैद्य कहे कि मैंने तन्त्रों का नया अभ्यास नहीं किया अपितु अनेक वार किया है; यह वाक्-छल है।

---

* न्यायदर्शन में

'तत् त्रिविधं वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलं च।' न्याय० १। २। ५२।
'धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम्' ॥ न्याय० १। २। ५५।

सामान्यच्छलं नाम यथा—व्याधिप्रशमनायौषधमित्युक्ते परो ब्रूयात्—सत् सत्प्रशमनायेति। (किंतु) भवानाह, सन् हि रोगः, सदौषधं, यदि च सत् सत्प्रशमनाय भवति, तत्र सन् हि कासः, सत् क्षयः, सत्सामान्यात्कासस्ते क्षयप्रशमनाय भविष्यतीति। एतत्सामान्यच्छलम् ॥ ५६ ॥

सामान्यच्छल—जैसे—व्याधि को शान्त करने के लिये औषध है, ऐसा कहने पर दूसरा कहे कि सत् वस्तु से सत् का प्रशमन होता है। यह आप कहते हैं। रोग भी सत् है। और औषध भी सत् है। यदि सत् वस्तु से सत् वस्तु का प्रशमन होता तो तेरे मत में सत् कास से सत् क्षय का नाश होना चाहिये, क्योंकि सत् धर्म दोनों में समान है। कास भी सत् है क्षय भी सत् है। यह सामान्य छल है ॥ ५६ ॥

अथाहेतुः—अहेतुर्नाम प्रकरणसमः संशयसमो वर्ण्यसम इति।

अहेतु—वास्तव में जो हेतु न हो। यह तीन प्रकार का है। जैसे—(१) प्रकरणसम, (२) संशयसम और (३) वर्ण्यसम।

तत्र प्रकरणसमो नामाहेतुर्यथा—अन्यः शरीरादात्मा नित्य इति पक्षे ब्रूयात्—यस्मादन्यः शरीरादात्मा तस्मान्नित्यः, शरीरं ह्यनित्यमतो विधर्मिणा चाऽऽत्मना भवितव्यमित्येष चाहेतुः, न हि य एव पक्षः स एव हेतुः।

प्रकरणसम अहेतु—जैसे कोई कहे कि आत्मा शरीर से भिन्न है। इस पर दूसरा कहे कि आत्मा शरीर से अलग है, इसलिये नित्य है; शरीर अनित्य है। इसलिये आत्मा को विधर्मी होना ही चाहिये, यह अहेतु है। क्योंकि जो पक्ष (प्रतिज्ञा वा साध्य) है वही हेतु नहीं हो सकता।

संशयसमो नामाहेतुर्य एव संशयहेतुः स एव संशयच्छेदहेतुः। यथा—अयमायुर्वेदैकदेशमाह, किन्वयं चिकित्सकः स्यान्नवेति संशये परो ब्रूयात्—यस्मादयमायुर्वेदैकदेशमाह तस्माच्चिकित्सकोऽयमिति, न च संशयहेतुं विशेषयत्येष चाहेतुः, न हि य एव संशयहेतुः स एव संशयच्छेदहेतुर्भवति।

संशयसम अहेतु—जो हेतु संशय का कारण हो, वही हेतु संशय के नाश का भी कारण हो जाय। जैसे—किसीने आयुर्वेद का कुछ भाग कहा, इसमें संशय हुआ कि यह चिकित्सक है या नहीं ? इस पर दूसरा व्यक्ति कहता है कि—चूंकि इसने आयुर्वेद का कुछ भाग कहा है, इसलिये वह चिकित्सक है।

संशय के नाश करने वाले हेतु का स्पष्टीकरण नहीं करता, इसलिये यह अहेतु है। क्योंकि जो हेतु स्वयं संशय का कारण है, वही संशय के नाश का कारण नहीं हो सकता।

वर्ण्यसमो नामाहेतुर्यो वर्ण्याविशिष्टः। यथा परो ब्रूयात्-अस्पर्शत्वाद् बुद्धिरनित्या शब्दवदिति, अत्र वर्ण्यः शब्दो बुद्धिरपि वर्ण्या, तदुभयवर्ण्याविशिष्टत्वाद्वर्ण्यसमोऽप्यहेतुः ॥ ५७ ॥

वर्ण्यसम अहेतु—जो हेतु साध्य के समान असिद्ध होने से साध्य की भांति साधने योग्य होता है। जैसे किसी ने कहा कि बुद्धि अनित्य है, स्पर्श, न होने के कारण, शब्द की भांति। इसमें बुद्धि साध्य है, शब्द भी साध्य है। इसलिये दोनों के असिद्ध होने से यह वर्ण्यसम अहेतु है ॥ ५७ ॥

अथातीतकालं—अतीतकालं नाम यत्पूर्वं वाच्यं तत्पश्चादुच्यते, तत्कालातीतत्वादग्राह्यं भवतीति। पूर्वं वा निग्रहप्राप्तमनिगृह्य पक्षान्तरितं पश्चान्निगृह्णीते तत्तस्यातीतकालत्वान्निग्रहवचनमसमर्थं भवतीति ५८

अतीतकाल—जो बात पहिले कहनी चाहिये, उसको पीछे कहना 'अतीतकाल' है। समय के व्यतीत होने के कारण वह बात अग्रहणीय होजाती है। अथवा दूसरे प्रतिवादी के निग्रह स्थान में आने पर उस समय उसको न पकड़ कर दूसरे पक्ष में पहुंचने पर पीछे से निग्रह करना, यह भी अतीत काल होने से निग्रह में असमर्थ होता है ॥ ५८ ॥

अथोपालम्भः—उपालम्भो नाम हेतोर्दोषवचनं; यथापूर्वमहेतवो हेत्वाभासा व्याख्याताः ॥ ५९ ॥

उपालम्भ—हेतु में प्रकरणसम आदि दोष दिखाना 'उपालम्भ' है। जैसे पहिले कहे अहेतु जो कि हेतु न होने पर भी हेतु की भांति दीखते हैं ॥ ५९ ॥

अथ परिहारः—परिहारो नाम तस्यैव दोषवचनस्य परिहरणम्। यथा-नित्यमात्मनि शरीरस्थे जीवलिङ्गान्युपलभ्यन्ते, तस्य चापगमान्नोपलभ्यन्ते, तस्मादन्यः शरीरादात्मा नित्यश्चेति ॥ ६० ॥

परिहार—हेतु में कहे दोष का दूर करना 'परिहार' है। जैसे—शरीरस्थ आत्मा में प्राण अपान आदि जीव के लक्षण नित्य उपलब्ध होते हैं और आत्मा के शरीर से निकल जाने पर ये लक्षण उपलब्ध नहीं होते, इस लिये आत्मा शरीर से भिन्न दूसरी वस्तु है और वह नित्य है ॥ ६० ॥

अथ प्रतिज्ञाहानिः—प्रतिज्ञाहानिर्नाम सा पूर्वप्रतिगृहीतां पर्यनुयुक्तः परित्यजति। यथा-प्राक् प्रतिज्ञां कृत्वा 'नित्यः पुरुष' इति। पर्यनुयुक्तस्त्वाह—अनित्य इति ॥ ६१ ॥

प्रतिज्ञाहानि—पहिले की हुई प्रतिज्ञा को छोड़ कर दूसरी प्रतिज्ञा को स्वीकार करना 'प्रतिज्ञाहानि' है। जैसे—प्रथम प्रतिज्ञा की—पुरुष नित्य है, अकृतक होने से, आकाशवत्। दूसरे प्रतिपक्षी ने कहा—पुरुष अनित्य है, इन्द्रिय-ग्राह्य होने से, घड़े के तुल्य। इसमें अपनी प्रतिज्ञा (नित्य पुरुष) को छोड़ कर दूसरी प्रतिज्ञा (अनित्य पुरुष है) को स्वीकार करना प्रतिज्ञाहानि है ॥ ६१ ॥

अथाभ्यनुज्ञा—अभ्यनुज्ञा नाम य इष्टानिष्टाभ्युपगमः ॥ ६२ ॥

अभ्यनुज्ञा—इष्ट (परपक्ष में दोष) और अनिष्ट (स्वपक्ष में दोष) दोनों को स्वीकार करना 'अभ्यनुज्ञा' है। दूसरे से कहे हुए दोष को अपने पक्ष में मान लेना और दूसरे के पक्ष में दोष दिखाना 'अभ्यनुज्ञा' वा 'मतानुज्ञा' है ॥६२॥

अथ हेत्वन्तरं—हेत्वन्तरं नाम प्रकृतिहेतौ वाच्ये यद्विकृतिहेतुमाह ॥ ६३ ॥

हेत्वन्तर—प्रासंगिक हेतु के स्थान पर विकृत हेतु अर्थात् अप्रसांगिक हेतु कहना 'हेत्वन्तर' है ॥ ६३ ॥

अथार्थान्तरं—अर्थान्तरं नाम एकस्मिन् वक्तव्ये परं यदाह; यथा—ज्वरलक्षणे वाक्ये प्रमेहलक्षणमाह ॥ ६४ ॥

अर्थान्तर—एक वस्तु के प्रसंग में दूसरी वस्तु का कहना 'अर्थान्तर' है। यथा—ज्वर के लक्षणों में प्रमेह के लक्षण कहने लगना ॥ ६४ ॥

अथ निग्रहस्थानं—निग्रहस्थानं नाम पराजयप्राप्तिः, तच्च त्रिरभिहितस्य वाक्यस्याविज्ञानं परिषदि विज्ञानवत्यां; यद्वा अननुयोज्यस्यानुयोगोऽनुयोज्यस्य चाननुयोगः। प्रतिज्ञाहानिरभ्यनुज्ञाकालातीतवचनमहेतवो न्यूनमतिरिक्तं व्यर्थमपार्थकं पुनरुक्तं विरुद्धं हेत्वन्तरमर्थान्तरं निग्रहस्थानम् ॥ ६५ ॥

निग्रहस्थान का दूसरा नाम पराजय-प्राप्ति है। यह विज्ञानवती परिषद् में तीन बार कहे हुए वाक्य को न जानना, या अननुयोज्य का अनुयोग, अथवा अनुयोज्य का अननुयोग है अर्थात् जहां प्रश्न न करना चाहिये वहां प्रश्न करना और जहाँ करना चाहिये वहाँ न पूछना भी निग्रहस्थान ही है। इसके अतिरिक्त प्रतिज्ञाहानि, अभ्यनुज्ञा, अतीतकालवचन, अहेतु, न्यून, अतिरिक्त, व्यर्थ, अनर्थक, पुनरुक्त, विरुद्ध, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, ये सब बातें पराजय का कारण होती हैं ॥ ६५ ॥

इति वादमार्गपदानि यथोद्देशमभिनिर्दिष्टानि भवन्ति ॥ ६६ ॥

इस प्रकार से वाद के मार्गों को पूर्व कथनानुसार कह दिया है ॥ ६६ ॥

वादस्तु खलु भिषजां वर्तमानो वर्तेतायुर्वेद एव, नान्यत्र ॥ ६७ ॥

वैद्यजनों के वाद का विषय केवल आयुर्वेद ही है, अन्यत्र नहीं ॥ ६७ ॥

अत्र हि वाक्यप्रतिवाक्यविस्तराः केवलाश्चोपपत्तयश्च सर्वाधिकरणेषु। ताः सर्वाः सम्यगवेक्ष्यावेक्ष्य सर्वं वाक्यं ब्रूयात्, नाप्रकृतकमशास्त्रमपरीक्षितमसाधकमाकुलमव्यापकं वा, सर्वं च हेतुमद् ब्रूयात्, हेतुमन्तो ह्यकलुषाः सर्व एव वादविग्रहाः चिकित्सिते कारणभूताः; प्रशस्तबुद्धिवर्धकत्वात्, सर्वारम्भसिद्धिं ह्यावहत्यनुपहता बुद्धिः ॥ ६८ ॥

इस आयुर्वेद में वाक्य, प्रतिवाक्य, इनका विस्तार, सम्पूर्ण उपपत्तियां ये सब बातें प्रकरणों में हैं। उन सबको भली प्रकार देखकर सम्पूर्ण वाक्य कहना चाहिये। अप्रकृतक (असम्बद्ध), शास्त्ररहित, अपरीक्षित, साधकरहित, बिना जाने कुछ नहीं कहना चाहिये। जो कुछ कहना हो वह सब कारण वा हेतु, युक्तिपूर्वक कहना चाहिये, क्योंकि हेतुपूर्वक कहे हुए सम्पूर्णवाद-विग्रह स्वच्छ होते हैं, तथा चिकित्सा में कारणभूत हैं, क्योंकि वे निर्मलबुद्धि सब प्रकार की सफलता को उत्पन्न करती है ॥ ६८ ॥

इमानि खलु तावदिह कानिचित्प्रकरणानि भिषजां ज्ञानार्थम्। ज्ञानपूर्वकं कर्मणां समारम्भं प्रशंसन्ति कुशलाः ॥ ६९ ॥

ज्ञात्वा हि कारण-करण-कार्ययोनि-कार्य-कार्यफलानुबन्ध-देश-कालप्रवृत्त्युपायान्सम्यगभिनिर्वर्तमानः कार्याभिनिर्वृत्ताविष्टफलानुबन्धं कार्यमभिनिर्वर्तयत्यनतिमहता प्रयत्नेन कर्ता ॥ ७० ॥

निम्न कुछ प्रकरणों को वैद्यों के ज्ञान के लिये कहते हैं क्योंकि विद्वान् लोग ज्ञानपूर्वक कर्मों का आरम्भ करने की प्रशंसा करते हैं। कारण, करण, कार्ययोनि, कार्य, कार्यफल, अनुबन्ध, देश, काल, प्रवृत्ति और उपाय, इनको भली प्रकार जान कर ही कर्म करता हुआ कर्त्ता स्वल्प प्रयत्न से ही कार्यसमाप्ति पर फल देने वाले कार्य का सम्पादन करता है ॥ ७० ॥

तत्र कारणं नाम तत्, यत्करोति, स एव हेतुः, स कर्ता ॥ ७१ ॥

कारण—जो करता है वही 'कारण' है, इसी को हेतु या 'कर्त्ता' कहते हैं ॥ ७१ ॥

करणं पुनस्तद्, यदुपकरणायोपकल्पते कर्तुः कार्याभिनिर्वृत्तौ प्रयतमानस्य ॥ ७२ ॥

करण—प्रयत्न करने वाले कर्त्ता के कार्य को पूर्ण करने के लिये जिस साधन की अपेक्षा होती है, उस साधन को 'करण' कहते हैं ॥७२॥

कार्ययोनिस्तु सा, या विक्रियमाणा कार्यत्वमेवाऽऽपद्यते ॥७३॥

कार्ययोनि—जो विकृत होकर कार्य रूप से प्रकट होती है ॥ ७३ ॥

कार्यं तु तद्, यस्याभिनिर्वृत्तिमभिसंधाय प्रवर्तते कर्ता ॥ ७४ ॥

कार्य—जिसकी सफलता को सामने रखकर कर्त्ता प्रवृत्त होता है ॥७४॥

कार्यफलं पुनस्तद्, यत्प्रयोजना कार्याभिनिर्वृत्तिरिष्यते ॥ ७५ ॥

कार्यफल—जिस मतलब से कार्य किया जाता है ॥७५॥

अनुबन्धस्तु खलु स यः कर्तारमवश्यमनुबध्नाति कार्यादुत्तरकालं कार्यनिमित्तः शुभो वाऽप्यशुभो वा भावः ॥ ७६ ॥

अनुबन्ध—कार्य करने के पीछे जो शुभ या अशुभ (कार्यजन्य) कर्म के कारण कर्त्ता को कर्म से बांधता है, उसका नाम 'अनुबन्ध' है ॥७६॥

देशस्त्वधिष्ठानम् ॥ ७७ ॥

देश—अधिष्ठान, आश्रयस्थान है ॥७७॥

कालः पुनः परिणामः ॥ ७८ ॥

काल का अर्थ परिणाम है ॥७८॥

प्रवृत्तिस्तु खलु चेष्टा कार्यार्था, सैव क्रिया कर्म यत्नः कार्यसमारम्भश्च ॥ ७९ ॥

प्रवृत्ति—प्रवृत्ति का अर्थ कार्य के लिये चेष्टा, इसीका नाम क्रिया, कर्म, यत्न और कार्य-समारम्भ (प्रारम्भ) है ॥ ७९ ॥

उपायः पुनस्त्रयाणां कारणादीनां सौष्ठवमभिविधानं च सम्यक् कार्यकार्यफलानुबन्धोपायवर्ज्यानां कार्याणामभिनिर्वर्तक इत्यतस्तूपायः, कृते नोपयार्थोऽस्ति, न च विद्यते तदात्वे, कृताच्चोत्तरकालं फलं फलाच्चानुबन्ध इति ॥ ८० ॥

उपाय—कार्य, कार्यफल और अनुबन्ध को छोड़कर कारण, करण, कार्ययोनि इन तीन का उत्तम होना, भली प्रकार करना, यह 'उपाय' है। कार्यों को पूर्ण करने वाला 'उपाय' कहाता है। कार्य हो चुकने पर उपाय का कोई प्रयोजन नहीं है। कार्य के समय भी उपाय नहीं रहता। उपाय करने के पीछे फल, और फल से अनुबन्ध (शुभ, अशुभ) होता है ॥८०॥

एतद्दशविधमग्रे परीक्ष्यं, ततोऽनन्तरं कार्यार्था प्रवृत्तिरिष्टा; तस्माद्भिषक् कार्यं चिकीर्षुः प्राक्कार्यसमारम्भात्परीक्षया केवलं परीक्ष्यं परीक्ष्याथ कर्म समारभेत कर्तुम् ॥ ८१ ॥

परीक्षा—इन दस प्रकार से प्रथम परीक्षा कर लेनी चाहिये। इसके पीछे कार्य के लिये प्रवृत्ति या चेष्टा करनी चाहिये। इसलिये कार्य करने की इच्छा

वाले वैद्य को चाहिये कि कार्य करने से पूर्व सम्पूर्ण परीक्षा से परीक्षणीय वस्तु की परीक्षा करके काम करना आरम्भ करे ॥८१॥

तत्र चेद्भिषग् अभिषग्वा भिषजं कश्चिदेवं पृच्छेत्—वमन-विरेचना-स्थापनानुवासन-शिरोविरेचनानि प्रयोक्तुकामेन भिषजा कतिविधया परीक्षया कतिविधमेव परीक्ष्यं, कश्चात्र परीक्ष्यविशेषः, कथं च परीक्षितव्यः, किंप्रयोजना च परीक्षा, क च वमनादीनां प्रवृत्तिः, क च निवृत्तिः, प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणसंयोगे च किं नैष्ठिकं, कानि च वमनादीनां भेषजद्रव्याण्युपयोगं गच्छन्तीति ॥ ८२ ॥

यदि कभी भिषग् अथवा साधारण मनुष्य, जो वैद्य नहीं, वैद्य से पूछे कि वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, शिरोविरेचन देने की इच्छा वाले वैद्य की कितनी प्रकार की परीक्षायें, कितने प्रकार का परीक्ष्य और परीक्षा में विशेषता क्या है, उसकी किस प्रकार से परीक्षा करनी चाहिये, परीक्षा का क्या प्रयोजन है ? वमन आदि का कहाँ प्रयोग करना और कहाँ नहीं करना चाहिये! प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों के लक्षण मिलें तो क्या करना ? वमन आदि कार्यों में कौन से औषध द्रव्य काम में आते हैं, इत्यादि प्रश्न करे तब निम्न प्रकार से उत्तर देना चाहिये ॥ ८२ ॥

स एवं पृष्टो यदि मोहयितुमिच्छेत्, ब्रूयादेनं—बहुविधा हि परीक्षा तथा परीक्ष्यविधिभेदः, कतमेन विधिभेदप्रकृत्यन्तरेण भिन्नया परीक्षया केन वा विधिभेदप्रकृत्यन्तरेण परीक्ष्यस्य भिन्नस्य भेदाग्रं भवान्पृच्छत्याख्यायमानं, नेदानीं भवतोऽन्येन विधिभेदप्रकृत्यन्तरेण भिन्नया परीक्षयाऽन्येन वा विधिभेदप्रकृत्यन्तरेण परीक्ष्यस्य भिन्नस्याभिलषितमर्थं श्रोतुमहमन्येन परीक्षाविधिभेदप्रकृत्यन्तरेणान्येन वा विधिभेदप्रकृत्यन्तरेण परीक्ष्यं भित्त्वाऽन्यथाऽऽचक्षाण इच्छां प्रपूरयेयमिति ॥ ८३ ॥

यदि वैद्य पूछने वाले को परेशान करना चाहे तो—परीक्षा और परीक्षा-विधि इनके अनेक भेद होते हैं। आप कौन सी विधि-भेद-प्रकृति से भिन्न परीक्षा से अथवा कौन से विधि-भेद-प्रकृति से भिन्न परीक्ष्य के भेद को पूछना चाहते हैं। वही कहा जाय ? आप से बिना यह जाने कि आप कौन से विधि-भेद-प्रकृति से भिन्न परीक्षा वा कौन से विधि-भेद-प्रकृति से भिन्न परीक्ष्य को जानना चाहते हैं, मैं और भेदों को कहकर आपकी इच्छा को पूर्ण नहीं कर सकता ॥८३॥

स यदुत्तरं ब्रूयात्तत्परीक्ष्योत्तरं वाक्यं स्याद्यथोक्तं प्रतिवचनविधिमवेक्ष्य; सम्यग्यदि तु ब्रूयात्, न चैनं मोहयितुमिच्छेद्, प्राप्तं तु वचनकालं मन्येत काममस्मै ब्रूयादाप्तमेव निखिलेन ॥ ८४ ॥

इस पर जो उत्तर वह दे, उसकी परीक्षा करके, प्रतिवचन विधि के अनुसार उचित उत्तर दे। यदि वह भली प्रकार से कहे और इसको चक्कर में डालकर चाहे तो इसके लिये सब कुछ विश्वस्त रूप से कह दे ॥८४॥

द्विविधा खलु परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षमनुमानं च, एतद्धि द्वयमुपदेशश्च परीक्षा स्यात्। एवमेषा द्विविधा परीक्षा, त्रिविधा वा सहोपदेशेन ॥ ८५ ॥

बुद्धिमानों के लिये परीक्षा दो प्रकार की है। प्रत्यक्ष और अनुमान (ये दोनों पहले कहे गये हैं) और तीसरी उपदेश भी परीक्षा है, इस प्रकार से यह दो प्रकार की परीक्षा उपदेश (आप्तोपदेश) के साथ तीन प्रकार की हो जाती है ॥ ८५ ॥

दशविधं तु परीक्ष्यं कारणानि यदुक्तमग्रे। तदिह भिषगादिषु संसार्य संदर्शयिष्यामः—इह कार्यप्राप्तेः कारणं भिषक्, करणं पुनर्भेषजम्, कार्ययोनिर्धातुवैषम्यं, कार्यं धातुसाम्यं, कार्यफलं सुखावाप्तिः, अनुबन्धस्तु खल्वायुः, देशो भूमिरातुरश्च। कालः पुनः संवत्सरश्चाऽऽतुरावस्था च। प्रवृत्तिः प्रतिकर्मसमारम्भः। उपायस्तु भिषगादीनां सौष्ठवमभिविधानं च सम्यक्। इहाप्यस्योपायस्य विषयः पूर्वेणैवोपायविशेषेण व्याख्यात इति कारणादीनि दश दशसु भिषगादिषु संसार्य संदर्शितानि, तथैवाऽऽनुपूर्व्या एतद्दशविधं परीक्ष्यमुक्तम् ॥ ८६ ॥

पहिले यह कहा है कि परीक्ष्य (कारण आदि) वस्तु दस प्रकार की हैं। इसी को भिषग् आदि में घटाकर दिखाते हैं यहां कार्यप्राप्ति में कारण भिषक् है, औषध करण है। धातुओं की विषमता कार्ययोनि है। धातुओं को समान करना कार्य है। सुख का मिलना कार्यफल है। आयु अनुबन्ध है। भूमि और रोगी देश हैं। संवत्सर और रोगी की अवस्था काल है। प्रत्येक कर्म का आरम्भ करना प्रवृत्ति है। भिषग् औषध, परिचारक और रोगी इनका भली प्रकार से मेल उपाय है। यहाँ पर भी इस उपाय के सम्बन्ध में सब बातें पूर्वोक्त उपायविशेष के साथ कह दी हैं। धातुसाम्य रूपी कार्य के करने पर आरोग्यता निश्चित है। इस प्रकार से कारण आदि दसों को भिषग् आदि में घटाकर दिखा दिया है, इसी प्रकार क्रम से यह दश प्रकार का 'परीक्ष्य' कह दिया है ॥ ८६ ॥

तस्य यो यो विशेषो यथा यथा च परीक्षितव्य; स तथा तथा व्याख्यास्यते ॥ ८७ ॥

इस दश प्रकार की परीक्षा में जो जो विशेषता है और जिस जिस प्रकार से परीक्षा करनी चाहिये उसकी उसी २ प्रकार से व्याख्या करते हैं ॥ ८७ ॥

कारणं भिषगित्युक्तमग्रे, तस्य परीक्षा—भिषङ् नाम स यो भिषति, यः सूत्रार्थप्रयोगकुशलः, यस्य चायुः सर्वथा विदितम् यथावत्सर्वधातुसाम्यं चिकीर्षन्नात्मानमेवाऽऽदितः परीक्षेत गुणिषु गुणतः कार्याभिनिर्वृत्तिं पश्यन्—कच्चिदहमस्य कार्यस्याभिनिर्वर्तने समर्थो न वेति। तत्रेमे भिषग्गुणा यैरुपपन्नो भिषग्धातुसाम्याभिनिर्वर्तने समर्थो भवति। तद्यथा,–पर्यवदातश्रुतता परिदृष्टकर्मता दाक्ष्यं शौचं जितहस्तता उपकरणवत्ता सर्वेन्द्रियोपपन्नता प्रकृतिज्ञता प्रतिपत्तिज्ञता चेति ॥ ८८ ॥

पहिले कहा है कि भिषक् कारण है। इस भिषक् की परीक्षा यह है। जो पीड़ा (रोग) को दूर करता, शमन करता है, वह भिषक् है। जो आयुर्वेदीय सूत्रार्थों में, प्रयोग में और कर्म में कुशल है, जिसे रोगी की आयु हित-अहित, सुख-असुख, प्रमाण-अप्रमाण और स्वरूप से भली प्रकार विदित है, शास्त्रज्ञ, कर्म को जानने वाला वैद्य सब धातुओं की समानता करने की इच्छा से सबसे प्रथम अपनी परीक्षा करे। जैसे गुण के योग से कार्य में सफलता को देखता हुआ वैद्य गुणियों अर्थात् भिषग्-द्रव्य, रोगी और परिचारकों में अपनी परीक्षा करे, क्या मैं इस कार्य को करने में समर्थ हूँ वा नहीं। भिषक् के निम्नलिखित गुण हैं जिन गुणों से युक्त होने पर वैद्य धातुसाम्य रूपी कार्य करने में समर्थ होता है। यथा—विमल शास्त्र-ज्ञान, सब प्रकार के कर्म का साक्षात् अनुभव, दक्षता, शस्त्रोपचार आदि में हस्तलाघव, उपकरणों का होना, सब इन्द्रियों से युक्त होना, रोगी की प्रकृति का ज्ञान और प्रतिपत्ति अर्थात् जिस रोगी की जैसी चिकित्सा करनी चाहिये उसका ज्ञान ॥ ८८ ॥

करणं पुनर्भेषजं; भेषजं नाम तद्यदुपकरणायोपकल्पते भिषजो धातुसाम्याभिनिर्वृत्तौ प्रयतमानस्य विशेषतश्चोपायान्तरेभ्यः। तद्द्विविधं व्यपाश्रयभेदात्;–दैवव्यपाश्रयं युक्तिव्यपाश्रयं चेति। तत्र दैवव्यपाश्रयं मन्त्रौषधिमणि-मङ्गलबल्युपहार-होम-नियम-प्रायश्चित्तोपवास-स्वस्त्ययन-प्रणिपात-गमनादि, युक्तिव्यपाश्रयं–संशोधनोपशमने चेष्टाश्च दृष्टफलाः। एतच्चैव भेषजमङ्गभेदादपि द्विविधं द्रव्यभूतमद्रव्यभूतं च। तत्र यद् द्रव्यभूतं तदुपायाभिप्लुतम्। उपायो नाम भयदर्शनविस्मापन-विस्मारण-क्षोभण-हर्षण-भर्त्सन-वध - बन्ध-स्वप्न - संवाहनादिरमूर्तो भावविशेषो

यथोक्ताः सिद्ध्युपायाश्चोपायाभिप्लुता इति। यत्तु द्रव्यभूतं तद्वमनादिषु योगमुपैति; तस्यापीयं परीक्षा,-इदमेवंप्रकृत्या एवंगुणमेवंप्रभावमस्मिन्देशे जातमस्मिन्नृतावेवं गृहीतमेवं निहितमेवमुपस्कृतमनया मात्रया युक्तमस्मिन् रोगे एवंविधस्य पुरुषस्यैतावन्तं दोषमपकर्षयत्युपशमयति वा यदन्यदपि चैवंविधं भेषजं भवेत्तच्चानेन विशेषेण युक्तमिति ॥ ८९ ॥

भेषज (औषध) करण है। धातुसाम्यरूप कार्य के करने में प्रयत्न करते हुए वैद्य को जो वस्तु साधन होती हैं उसका नाम 'भेषज' है। यह भेषज (औषध) आश्रय भेद से दो प्रकार की है। (१) दैव-व्यपाश्रय और (२) युक्ति-व्यपाश्रय। इनमें दैवव्यपाश्रय मंत्र, औषधि, मणि, मंगल, बलि, उपहार, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास, दान, स्वस्त्ययन, प्रणिपात (विनय), गमन आदि कार्य दैव का आश्रय करके धातुओं को समान करते हैं। युक्ति-व्यपाश्रय—संशोधन, उपशमन और दृष्टफल वाली चेष्टाएं (धावन, स्वप्न, जागरण आदि)। यही भेषज अंग भेद से दो प्रकार का है। (१) अद्रव्य और (२) द्रव्य। इनमें जो अद्रव्य औषध है वह उपाय से व्याप्त है। भय दिखाना, विस्मय उत्पन्न करना, झिड़कना, बांधना, नींद लाना, अंगमर्दन आदि (दौड़ना, तैरना आदि) अमूर्त्त पदार्थों और चिकित्सा में सफलता देने वाले भिषग् आदि गुणों का होना ये उपाय हैं और जो औषध द्रव्य रूप हैं वह वमन आदि शोधन-शमन कार्यों में काम आते हैं। द्रव्य रूप (मूर्त्त) औषधि की ऐसी परीक्षा करनी उचित है कि इस औषधि की यह प्रकृति है, यह गुण है, ऐसा प्रभाव है, इस देश में उत्पन्न हुई है, इस ऋतु में संग्रह की गई है, इस प्रकार से रक्खी गई है, इस प्रकार के पुरुष को देने से इतने दोष को बाहर करती है अथवा शमन करती है। अन्य भी जो औषध इन या अन्य गुणों से युक्त थी, उसने भी दोषों का निष्कासन अथवा शमन किया था, इसलिये यह भी करेगी, इस प्रकार अन्यत्र प्रत्यक्ष करके यहां पर अनुमान से निश्चय करना चाहिये ॥ ८९ ॥

कार्ययोनिर्धातुवैषम्यं, तस्य लक्षणं विकारागमः, परीक्षा त्वस्य विकारप्रकृतेश्चैवोनातिरिक्तलिङ्गविशेषावेक्षणं विकारस्य च साध्यासाध्य-मृदु-दारुण-लिङ्ग विशेषावेक्षणमिति ॥ ९० ॥

कार्ययोनि—धातुओं की विषमता 'कार्ययोनि' है। विकार का होना यह उसका लक्षण है। इस विकार की प्रकृति के वातादि दोषों के कम अधिक, विशेष लक्षणों को देखना। इसी प्रकार से विकार का साध्य, असाध्य, मृदु, दारुण आदि विशेष लक्षणों से परीक्षा करनी चाहिये ॥ ९० ॥

कार्यं धातुसाम्यं, तस्य लक्षणं विकारोपशमः, परीक्षा त्वस्य रुगपशमनं स्वरवर्णयोगः शरीरोपचयः बलवृद्धिरभ्यवहार्याभिलाषः रुचिराहारकालेऽभ्यवहृतस्य चाऽऽहारस्य काले सम्यग्जरणं निद्रालाभो यथाकालं वैकारिकाणां च स्वप्नानामदर्शनं सुखेन च प्रतिबोधनं वातमूत्र पुरीषरेतसां मुक्तिश्च सर्वाकारैर्मनोबुद्धीन्द्रियाणां चाव्यापत्तिरिति ॥९१॥

कार्य—धातुओं का समान करना कार्य है। विकार का शान्त होना यह इसका लक्षण है। इसकी परीक्षा दर्द का शान्त होना है। स्वर और वर्ण का प्राकृत रूप में आजाना। शरीर की वृद्धि, बलवृद्धि, भोजन में इच्छा, आहार के समय रुचि होना, खाये हुए भोजन का आहारकाल में भली प्रकार जीर्ण होना, ठीक समय पर नींद आना, विकार (रोग) जन्य स्वप्नों का न दीखना, सुखपूर्वक जागना, प्रातः उठना, वायु, मूत्र, मल और शुक्र का ठीक समय पर त्याग होना, सब प्रकार से मन, बुद्धि और इन्द्रियों में सुख होना ॥ ९१ ॥

कार्यफलं सुखावाप्तिः। तस्य लक्षणं मनोबुद्धीन्द्रियशरीरतुष्टिः॥९२॥

कार्यफल—सुख का प्राप्त होना। इसका लक्षण—मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर का प्रसन्न होना है ॥ ९२ ॥

अनुबन्धस्तु खल्वायुः, तस्य लक्षणं प्राणैः सह संयोगः ॥ ९३ ॥

अनुबन्ध—आयु है, इसका लक्षण-प्राणों के साथ शरीर का सम्बन्ध बना रहना है ॥ ९३ ॥

देशस्तु भूमिरातुरश्च। तत्र भूमिपरीक्षा—आतुरपरिज्ञानहेतोर्वा स्यादौषधपरिज्ञानहेतोर्वा। तत्र तावदियमातुरपरिज्ञानहेतोः। तद्यथा कस्मिन्नयं भूमिदेशे जातः संवृद्धो व्याधितो वेति। तस्मिंश्च भूमिदेशे मनुष्याणामिदमाहारजातमिदं विहारजातमेतद्बलमेवंविधं सत्त्वमेवंविधं सात्म्यमेवंविधो दोषो भक्तिरियमिमे व्याधय इतमिदमहितमिदमिति (प्रायोग्रहणेन)। औषधपरिज्ञानहेतोस्तु कल्पेषु भूमिपरीक्षा वक्ष्यते ॥ ९४ ॥

देश—देश भूमि और रोगी हैं। इनमें भूमि-परीक्षा के ज्ञान का प्रयोजन रोगी के देश के कारण सात्म्य को समझने के लिये और औषधि के ज्ञान के लिये है। इनमें रोगी को समझने के लिये—जैसे-किस भूमि-खण्ड पर यह रोगी उत्पन्न हुआ है? बढ़ा है? रोगी हुआ है? उस भूमि पर मनुष्यों का इस प्रकार का आहार है, इस प्रकार का विहार है, इस प्रकार का आचार है, इस प्रकार का बल, इस प्रकार का सत्त्व, इस प्रकार का सात्म्य, इस प्रकार के दोष, इस प्रकार की रुचि, इस प्रकार के रोग, यह हितकर, यह अहितकर है, यह

भूमि परीक्षा कह दी। औषधि परिज्ञान के लिये भूमिपरीक्षा कल्पस्थान (मदन-फल-कल्प) में कहेंगे ॥९४॥

आतुरस्तु खलु कार्यदेशः, तस्य परीक्षा आयुषः प्रमाणज्ञानहेतोर्वा स्याद्बलदोषप्रमाणज्ञानहेतोर्वा; तत्र तावदियं बलदोषप्रमाणज्ञानहेतोः—दोषप्रमाणानुरूपो हि भेषजप्रमाणविकल्पो बलप्रमाणविशेषापेक्षो भवति। सहसा ह्यतिबलमौषधमपरीक्षकप्रयुक्तमल्पबलमातुरमभिपातयेत्, न ह्यतिबलान्याग्नेय-सौम्य-वायवीयान्यौषधान्यग्निक्षारशस्त्रकर्माणि वा शक्यन्तेऽल्पबलैः सोढुम्। अविषह्यातितीक्ष्णवेगत्वाद्धि सद्यः प्राणहराणि स्युः। एतच्चैव कारणमपेक्षमाणा हीनबलमातुरमविषादकरैर्मृदुसुकुमारप्रायैरुत्तरोत्तरगुरुभिरविभ्रमैरनात्ययिकैश्चोपचरन्त्यौषधैः, विशेषतश्च नारीः। ता ह्यनवस्थितमृदुविवृत्तविक्लवहृदयाः प्रायः सुकुमार्योऽबलाः परसंस्तभ्याश्च। तथा बलवति बलवद्व्याधिपरिगते स्वल्पबलमौषधमपरीक्षकप्रयुक्तमसाधकं भवति ॥ ९५ ॥

कार्यदेश—धातुसाम्य कार्य का देश अर्थात् आधार रोगी है। इसकी परीक्षा आयु के प्रमाण ज्ञान के लिये है। अथवा रोगी के बल और दोष को जानने के लिये रोगी रूपी देश की परीक्षा होती है।

रोगी की बल-प्रमाण और दोष-प्रमाण की परीक्षा का प्रयोजन—औषधि का प्रमाण दोष और बल रोग और रोगी दोनों को देख कर निश्चित किया जाता है। क्योंकि यदि बहुत बलवती औषध थोड़े बल वाले रोगी को विना परीक्षा किये दे दी जाय तो यह औषध रोगी को मार देगी। क्योंकि अल्प बल वाले व्यक्ति, अति बल वाली, आग्नेय, वायवीय गुण से युक्त ओषधियों को और अग्नि, क्षार और शस्त्र के कर्मों को सहन नहीं कर सकते†। इनका वेग असह्य और अतितीक्ष्ण होने से ये वस्तुएं शीघ्र प्राणनाशक हो जाती हैं। इन कारणों को देख कर ही हीनबल वाले रोगी की, खास कर स्त्री की चिकित्सा शरीर और मन में ग्लानि उत्पन्न न करने वाली, मृदु-कोमल ओषधियों से तथा धीरे धीरे, उत्तरोत्तर वीर्य और परिमाण में गुरु होते हुए भी व्यापत्ति (विकार) न करने वाली, सम्यक् प्रकार से दी हुई ओषधियों से करते हैं। ये स्त्रियां अस्थिर, छोटे दिल की तथा भीरु हृदय वाली, प्रायः सुकुमार, अबला होती हैं और थोड़ी सी भी वेदना को सहन नहीं कर सकतीं और स्वयं अपने को कष्ट में नहीं संभाल सकतीं, उनको दूसरे ही को संभालना पड़ता है।

†देखिये सुश्रुत, सूत्रस्थान में क्षार और अग्निकर्म।

इसी प्रकार बलवान् रोगों में अथवा बलवान् रोग से आक्रान्त होने पर स्वल्प बल वाली औषधि बिना परीक्षा के दी हुई, रोग को शमन करने में समर्थ नहीं होती ॥९५॥

तस्मादातुरं परीक्षेत–प्रकृतितश्च विकृतितश्च सारतश्च संहननतश्च प्रमाणतश्च सात्म्यतश्च सत्त्वतश्चाऽऽहारशक्तितश्च व्यायामशक्तितश्च वयस्तश्चेति बलप्रमाणविशेषग्रहणहेतोः ॥ ९६ ॥

इसलिये रोगी की परीक्षा (निम्न साधनों से) करनी चाहिये। यथा—

प्रकृति से, विकृति से, सार से, संहनन अर्थात् शरीर की बनावट से, प्रमाण से, सात्म्य से, सत्त्व से, आहार शक्ति से, व्यायाम-शक्ति से, और वय से रोगी के बल, प्रमाण विशेष को जानने के लिये इन गुणों से परीक्षा करनी चाहिये ॥ ९६ ॥

तत्रामी प्रकृत्यादयो भावाः। तद्यथा—शुक्र-शोणित-प्रकृतिं काल-गर्भाशय-प्रकृतिमातुराहारविहार-प्रकृतिं महाभूतविकारप्रकृतिं च गर्भशरीरमपेक्षते। एता हि येन येन दोषेणाधिकतमेनैकेनानेकेन वा समनुबध्यन्ते तेन तेन दोषेण गर्भोऽनुबध्यते। ततः सा सा दोषप्रकृतिरुच्यते मनुष्याणां गर्भादिप्रवृत्ता। तस्माच्छ्लेष्मलाः प्रकृत्या केचित्, पित्तलाः केचित्, श्लेष्मलाः केचित्, संसृष्टाः केचित्, समधातवः प्रकृत्या केचिद्भवन्ति ॥ ९७ ॥

इनमें प्रथम प्रकृति आदि का वर्णन करते हैं। गर्भ का शरीर जैसे शुक्रएवं शोणित की प्रकृति की, काल (समय) की, गर्भाशय की प्रकृति की, माता के आहार-विहार की, शुक्र, शोणित में मिले पंच महाभूत, शरीरात्मक भूतों की अपेक्षा करता है। ये शुक्र शोणित आदि प्रकृतियां जिस जिस वातादि दोष से एक अथवा एक से अधिक दो या तीन से सम्बन्द्ध होती हैं, उसी एक या अधिक दोष से गर्भ भी सम्बन्धित हो जाता है। इससे मनुष्यों की गर्भ में बनी प्रकृति को उसी दोष की प्रकृति कहते हैं। उस उस दोष के बलवान् होने से वह वह प्रकृति होजाती है। इसीलिये कई श्लेष्मप्रकृति, कई पित्तप्रकृति और कई वात-प्रकृति और कई मिश्रित-प्रकृति, कई समधातु-प्रकृति के होते हैं। इनके लक्षण कहते हैं।

तेषां हि लक्षणानि व्याख्यास्यामः—श्लेष्मा हि स्निग्ध-श्लक्ष्ण-मृदु-मधुर-सार-सान्द्र-मन्द-स्तिमित-गुरु-शीत-पिच्छिलाच्छः, तस्य स्नेहात् श्लेष्मलाः स्निग्धाङ्गाः, श्लक्ष्णत्वाच्छ्लक्ष्णाङ्गाः, मृदुत्वाद् दृष्टिसुख-सुकुमारावदातगात्राः, माधुर्यात्प्रभूतशुक्रव्यवायापत्याः, सारत्वात् सारसंहत-

स्थिरशरीराः सान्द्रत्वादुपचितपरिपूर्णसर्वगात्राः मन्दत्वान्मन्द-चेष्टाहारविहाराः, स्तैमित्यादशीघ्रारम्भाल्पक्षोभविकाराः, गुरुत्वात्साराधिष्ठितावस्थितगतयः, शैत्यादल्पक्षुत्तृष्णासंतापस्वेददोषाः, पिच्छिलत्वात् सुश्लिष्टसारसन्धिबन्धनाः, तथाऽच्छत्वात्प्रसन्नदर्शनाननाः प्रसन्नवर्णस्वराश्च । त एवंगुणयोगाच्छ्लेष्मला बलवन्तो वसुमन्तो विद्यावन्त ओजस्विनः शान्ता आयुष्मन्तश्च भवन्ति ॥ ९८ ॥

श्लेष्मा—कफ स्निग्ध, श्लक्ष्ण, मृदु, मधुर, सार, सान्द्र, मन्द, स्तिमित (घट्ट), गुरु, शीत, पिच्छिल और निर्मल होता है । कफ के स्नेह गुण के कारण श्लेष्मप्रकृति के मनुष्य स्निग्ध अंगों वाले श्लक्ष्ण होने से चिकने अंग वाले, कोमल होने से आंखों को आनन्ददायक, सुकुमार, गौरवर्ण होते हैं । मधुरता होने से अधिक शुक्र, मैथुनशक्ति और संतान वाले होते हैं । सार के कारण इनका शरीर संहत, दृढ़, स्थिर होता है । सान्द्रता के कारण से पुष्ट, सम्पूर्ण अंगों वाले; मन्द होने से चेष्टा, आहार और विहार में धीमे; स्तैमित्य (आलस्य) होने से देर में वाणी, मन शरीर के कार्य करने वाले एवं क्षोभ तथा मानस विकार वाले, गुरु होने के कारण हाथी के समान मन्द-मस्त चाल वाले, शीतता के कारण थोड़ी, भूख, प्यास, संताप तथा पसीने के दोष वाले; पिच्छिल होने से इनके मांसादि तथा सन्धि-बन्धन अच्छी प्रकार से संयुक्त होते हैं । निर्मल होने से प्रसन्नमुख, प्रसन्न और स्निग्ध वर्ण तथा स्वर वाले होते हैं । इन गुणों के कारण कफप्रकृति के मनुष्य बलवान्, धनवान्, विद्यावान्, ओजस्वी, शान्त और दीर्घायु होते है* ॥ ९८ ॥

पित्तमुष्णं तीक्ष्णं द्रवं विस्रमम्लं कटुकं च तस्यौष्ण्यात्पित्तला भवन्ति उष्णासहाः, उष्णमुखाः, सुकुमारावदातगात्राः, प्रभूतपिप्लुव्यङ्गतिलकपिडकाः, क्षुत्पिपासावन्तः, क्षिप्रवलीपलितखालित्यदोषाः, प्रायो मृद्वल्पकपिलश्मश्रुलोमकेशाः, तैक्ष्ण्यात्तीक्ष्णपराक्रमाः, तीक्ष्णाग्नयः, प्रभूताशनपानाः, क्लेशासहिष्णवो, दन्दशूकाः; द्रवत्वाच्छिथिलमृदुसन्धिबन्धमांसाः, प्रभूतसृष्टस्वेदमूत्रपुरीषाश्च; विस्रत्वात्प्रभूतपूतिकक्षास्यशिरःशरीरगन्धाः; कट्वम्लत्वादल्पशुक्रव्यवायापत्याः; त एवंगुणयोगात्पित्तला मध्यबला मध्यायुषो मध्यज्ञानविज्ञानवित्तोपकरणवन्तश्च भवन्ति ॥ ९९ ॥

पित्त—उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, विस्र (सड़ी गन्ध वाला), अम्ल-कटु रस

---

*देखिये सुश्रुत शारीरस्थान ४र्थ अध्याय में इनके लक्षण

होता है। पित्त के उष्ण होने से पित्त-प्रकृति के मनुष्य उष्णिमा को न सहने वाले, शुष्क, कठोर, पीले शरीर वाले, बहुत पिप्लु (फुंन्सियों), व्यंग (मुख व्यंग) और तिलपिडिका वाले, अधिक भूख और प्यास वाले होते हैं, इनके बाल शीघ्र ही पक जाते, गिर जाते हैं, तथा मुंह पर झुर्रियां आजाती हैं। ये प्रायः कोमल, थोड़ी एवं धूसर वर्ण दाड़ी-मूंछ वाले, अल्प लोम तथा अल्पकेश वाले होते हैं। तीक्ष्ण गुण के कारण—तीक्ष्ण पराक्रम वाले, तीक्ष्ण अग्नि वाले, बहुत खाने पीने वाले, क्लेश को न सहन करने वाले, दन्दशूक अर्थात् बार-बार खाने वाले होते हैं। द्रव होने से—शिथिल एवं मृदु सन्धिबन्ध तथा मांस वाले होते हैं। इनको स्वेद-मूत्र और मल बहुत अधिक मात्रा में आता है। पित्त के अति दुर्गन्धयुक्त होने से इनके बाल, मुख, शिर और शरीर से बहुत दुर्गन्ध आती है। कटु अल्प होने से थोड़े शुक्र, मैथुन और न्यून संतान वाले होते हैं। इन गुणों के कारण पित्त प्रकृति का मनुष्य मध्यम बल, मध्यम आयु, मध्यम ज्ञान विज्ञान, मध्यम वित्त और मध्यम उपकरणों वाले होते हैं ॥९९॥

वातस्तु रूक्ष-लघु-चल-बहुशीघ्र-शीत-परुष-विशदः। तस्य रौक्ष्याद्वातला रूक्षापचितात्पशरीराः, प्रतत-रूक्ष-क्षाम-भिन्न-मन्द-सक्त-जर्जर-स्वराः, जागरूकाश्च भवन्ति। लघुत्वाच्च लघु-चपल-गति-चेष्टाहार-व्यवहाराः चलत्वादनवस्थित-सन्ध्यस्थि-भ्रू-हन्वोष्ठ-जिह्वा-शिरः-स्कन्ध-पाणि-पादाः बहुत्वाद् बहुप्रलाप-कण्डरा-सिरा-वितानाः। शीघ्रत्वाच्छीघ्रसमारम्भ-क्षोभविकाराः, शीघ्रोत्त्रासरागविरागाः, श्रुतग्राहिणोऽल्पस्मृतयश्च। शैत्याच्छीतासहिष्णवः, प्रततशीतकोद्वेपकस्तम्भाः। पारुष्यात्परुष-केश-श्मश्रु-रोम-नख-दशन-वदन-पाणि-पादाङ्गाः। वैशद्यात्स्फुटिताङ्गावयवाः, सततसंधिशब्दगामिनश्च भवन्ति। त एवंगुणयोगाद्वातलाः प्रायेणाल्प-बलाश्चाल्पायुषश्चाल्पापत्याश्चाल्पसाधनाश्चाधन्याश्च भवन्ति ॥ १०० ॥

वायु—रूक्ष, लघु, चल, प्रमाणादि भेद से अनेक प्रकार की, शीघ्रकारी, शीत, परुष, विशद (अपिच्छिल) होती है। वायु के रूक्ष होने से वात प्रकृति के मनुष्य भी रूक्ष, कृश, एवं छोटे शरीर वाले, निरन्तर रूक्ष, क्षीण, फटे बांस के समान जर्जर, असंहत स्वर वाले, जागरणशील (थोड़ी नींद वाले) होते हैं। लघु होने से—शीघ्रकारी, अस्थिर गति, चेष्टा, आहार, व्यवहार वाले होते हैं। वात के चल होने से उनके भी सन्धि आँख, भौं, हनु, जबाड़ा, ओठ, जीभ, कंधा, हाथ-पाँव अस्थिर होते हैं। बहुत प्रकार का होने से, बहुत बोलने वाले, बहुत सिराओं के जाल वाले; शीघ्रगामी होने से सब कामों में जल्दी करने वाले,

क्षोभ और मन के विकार वाले, जल्दी ही डरने वाले, स्नेह और द्वेष करने वाले, सुनते ही ग्रहण करने वाले, परन्तु स्मृति (याददास्त) के कच्चे होते हैं। शीतल होने से शीत को न सहन करने वाले, निरन्तर शीत, कम्प और उद्वेग तथा स्तम्भवृत्ति (जड़) बने रहते हैं। कठोरता से—कठिन केश, श्मश्रु, लोम, नख, दाँत, मुख, हाथ, पांव वाले होते हैं। वायु के विशद होने से उनके हाथ-पाँव फटते हैं, सन्धि बन्धनों में से निरन्तर शब्द निकला करता है, सन्धियाँ चलती रहती हैं, चैन से नहीं बैठते, कुछ न कुछ करते ही रहते हैं। इन गुणों के कारण वात प्रकृति के मनुष्य प्रायः अल्प बल, अल्प आयु, अल्पसंतान, अल्प साधन और अल्प धन वाले होते हैं ॥ १०० ॥

संसर्गात्संसृष्टलक्षणाः। सर्वगुणसमुदितास्तु समधातवः। इत्येवं प्रकृतितः परीक्षेत ॥ १०१ ॥

दोषों के मिश्रित होने से लक्षण भी मिले जुले होते हैं। सब गुणों के मिलने से समधातुप्रकृति के होते हैं। इस प्रकार प्रकृति से परीक्षा करनी चाहिये ।१०१।

विकृतितश्चेति—विकृतिरुच्यते विकारः। तत्र विकारं हेतु-दोष-दूष्य-प्रकृति-देश-काल-बल-विशेषैर्लिङ्गतश्च परीक्षेत, न ह्यन्तरेण हेत्वादीनां बलविशेषं व्याधिबलविशेषोपलब्धिः। यस्य हि व्याधेर्दोष-दूष्य-प्रकृति-देश-काल-बल-साम्यं भवति, महच्च हेतुलिङ्गबलं स व्याधिर्बलवान भवति। तद्विपर्ययाच्चाल्पबलः, मध्यबलस्तु दोषादीनामन्यतमसामान्याद्धेतुलिङ्गमध्यबलत्वाच्चोपलभ्यते ॥ १०२ ॥

विकृति से परीक्षा करनी चाहिये। विकृति का अर्थ विकार है। धातुओं की विषमता का नाम 'विकार' है। इसकी हेतु, दूष्य, (रक्त आदि), दोष (वात आदि), प्रकृति (वात-प्रकृति आदि), देश, काल के बल तथा पूर्वरूप से परीक्षा करनी चाहिये। हेतु आदि के बल विशेष को जाने विना रोग के विशेष बल का ज्ञान नहीं होता। जिस रोग में दोष, दूष्य, प्रकृति, देश, काल, समान हों तथा हेतु और पूर्वरूप के लक्षण भी बलवान् हों, उस रोग को बलवान् समझना चाहिये। इस लिये यह असाध्य है। इनसे विपरीत हो तो निर्बल समझना चाहिये। जिस रोग में दोष-दूष्य आदि में से कोई एक असमान हो, तथा हेतु और पूर्वरूप के लक्षण भी मध्यम बल हों तो उस रोग को मध्यम बल समझना चाहिये ॥१०२॥

सारतश्चेति—साराण्यष्टौ पुरुषाणां बलमानविशेषज्ञानार्थमुपदिश्यन्ते। तद्यथा—त्वग्रक्त-मांस-मेदोस्थि-मज्ज-शुक्र-सत्त्वानि ॥१०३॥

सार द्वारा परीक्षा करनी चाहिये—बल परिमाण को विशेष रूप से जानने के लिये पुरुषों में आठ प्रकार के सारों का उपदेश किया है, जैसे—त्वग्, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र और सत्त्व ॥१०३॥

तत्र स्निग्ध-श्लक्ष्ण-मृदु-प्रसन्न-सूक्ष्माल्प-गम्भीर-सुकुमार-लोमा सप्रभेव च त्वक् त्वक्साराणाम्। सा सारता सुख-सौभाग्यैश्वर्योपभोग-बुद्धि-विद्यारोग्य-प्रहर्षणान्यायुश्चानित्वरमाचष्टे ॥ १०४ ॥

इनमें—त्वक् सार वाले पुरुष की त्वचा स्निग्ध, चिकनी, मृदु, प्रसन्न, सूक्ष्म, अल्प, गम्भीर, कोमल लोमवाली और प्रभा (कान्ति) से युक्त होती है। इस प्रकार की सारता, सुख, सौभाग्य, ऐश्वर्य उपभोग, बुद्धि, विद्या, आरोग्य, प्रहर्ष और दीर्घ आयुष्य को बतलाती है ॥१०४॥

कर्णाक्षि-मुख-जिह्वा-नासौष्ठ-पाणि-पादतल-नख-ललाट-मेहनं स्निग्ध-रक्तं श्रीमत् भ्राजिष्णु रक्तसाराणाम्। सा सारता सुखमुदग्रतां मेधां मनस्वित्वं सौकुमार्यमनतिबलमक्लेशसहिष्णुत्वमुष्णासहिष्णुत्वं चाऽऽचष्टे १०५

रक्तसार वाले पुरुषों के कान, आंख, मुख, जिह्वा, नाक, ओष्ठ, हाथ, पांव के तलुवे, नख, मस्तक, लिंग स्निग्ध और रक्त वर्ण के, शोभा और दीप्ति से युक्त होते हैं। इस प्रकार की रक्त-सारता, व्यक्ति के सुख, विपुल बुद्धि, मनस्विता, सुकुमारता, मध्यम बल, क्लेश न सहन करने का स्वभाव और गर्मी न सह सकने की प्रकृति को बतलाती है ॥१०५॥

शङ्ख-ललाट-कृकाटिकाक्षि-गण्ड-हनु-ग्रीवा-स्कन्धोदर-कक्ष-वक्षः-पाणि-पादसंधयः गुरुस्थिरमांसोपचिता मांससाराणाम्। सा सारता क्षमां धृतिमलौल्यं वित्तं विद्यां सुखमार्जवमारोग्यं बलमायुश्च दीर्घमाचष्टे ॥१०६॥

मांस-सार वाले पुरुषों में शंख (कनपटी), मस्तक, कृकाटिका (घाटा, गलघंटी), आंख, गण्डस्थल, ठोढ़ी, ग्रीवा, स्कन्ध, पेट, कांख, छाती, पांव, हाथ तथा सन्धियां-स्थिर, गुरु और मांस से भरी होती हैं। यह मांस-सारता क्षमा, धृति, निर्लोभता, वित्त, विद्या, सुख, सरलता, आरोग्य, बल और दीर्घ-आयु को बतलाती है ॥१०६॥

वर्ण-स्वर-नेत्र-केश-लोम-नख-दन्तौष्ठ-मूत्र-पुरीषेषु विशेषतः स्नेहो मेदःसाराणाम् ।सा सारता वित्तैश्वर्यसुखोपभोगप्रदानान्यार्जवं सुकुमारोपचारतां चाऽऽचष्टे ॥ १०७ ॥

मेदःसार वाले पुरुषों में—वर्ण, स्वर, नेत्र, केश, लोम, नख, दांत, ओठ, मूत्र, पुरीष और विशेष कर स्नेह (चिकनाई) होता है। यह सारता वित्त, ऐश्वर्य्य सुखकर उपभोग सरलता और सुकुमारता को बतलाती है ॥१०७॥

पार्ष्णि-गुल्फ-जान्वरत्नि-जत्रु-चिबुक-शिरः-पर्व-स्थूलाः स्थूलास्थि-नख-दन्ताश्चास्थिसाराः। ते महोत्साहाः क्रियावन्तः क्लेशसहाः सार-स्थिर-शरीरा भवन्त्यायुष्मन्तश्च ॥ १०८ ॥

अस्थिसार वाले पुरुषों में एडी, टखना, घुटना, कलाई, हंसली, चिबुक (ठोडी), शिर, पोरू (पर्व) मोटे होते हैं; नख, दांत और अस्थियां मोटी होती हैं। अस्थिसार वाले मनुष्य बड़े उत्साह वाले, क्रियावान्, क्लेश सहने वाले, सार के कारण स्थिर शरीर वाले और आयुष्मान् होते हैं ॥ १०८ ॥

तन्वङ्गा बलवन्तः स्निग्धवर्णस्वराः स्थूल-दीर्घ-वृत्त-संधयश्च मज्जसाराः। ते दीर्घायुषो बलवन्तः श्रुत-वित्त-विज्ञानापत्य-संमान-भाजश्च भवन्ति ॥ १०९ ॥

मज्जासारवाले पुरुष छोटे या मृदु अंगवाले बलवान्, स्निग्ध वर्ण और स्वर वाले, स्थूल, लम्बी, गोल सन्धिवाले होते हैं। ये पुरुष दीर्घायु, बलवान्, श्रुतवान्, विज्ञानवान्, वित्तवान्, अपत्यवान् और संमानवान्, होते हैं ॥ १०९ ॥

सौम्याः सौम्यप्रेक्षिणश्च क्षीरपूर्णलोचना इव प्रहर्षबहुलाः स्निग्ध-वृत्त-सार-समसंहत-शिखरि-दशनाः प्रसन्नस्निग्धवर्णस्वरा भ्राजिष्णवो महास्फिचश्च शुक्रसाराः। ते स्त्रीप्रियाःप्रियोपभोगा बलवन्तः सुखैश्वर्यारोग्य-वित्त-संमानापत्य-भाजश्च भवन्ति॥ ११० ॥

शुक्रसार वाले पुरुष सौम्यमूर्ति, सौम्य दृष्टि, देखने से ही तृप्त करने वाले, दूध से पूर्ण आंख वाले, अत्यन्त कामोत्तेजना वाले, स्निग्ध वृत्त वाले, सारवान्, एक समान मिले अंगों और उन्नत दांतों वाले, प्रसन्नस्निग्ध वर्ण स्वर वाले; दीप्तिमान्, बड़े नितम्ब प्रदेश वाले होते हैं। ये पुरुष स्त्रियों के प्रिय, उपभोग को चाहने वाले, बलवान्, सुख, ऐश्वर्य, आरोग्यता, धन और संतान वाले होते हैं ॥ ११० ॥

स्मृतिमन्तो भक्तिमन्तः कृतज्ञाः प्राज्ञाः शुचयो महोत्साहा दक्षा धीराः समरविक्रान्तयोधिनस्त्यक्तविषादाः स्ववस्थित-गति-गम्भीर-बुद्धि-चेष्टाः कल्याणाभिनिवेशिनश्च सत्त्वसाराः। तेषां स्वलक्षणैरेव गुणा व्याख्याताः ॥ १११ ॥

सत्त्व (ओज) सार वाले पुरुष—स्मृतिमान्, भक्तिमान्, कृतज्ञ, प्राज्ञ, शुचिस्वभाव, महोत्साही, दक्ष, धीर, लड़ाई में पराक्रम पूर्वक लड़ने वाले, शोकरहित, सुव्यवस्थित गति वाले, गम्भीर बुद्धि एवं चेष्टाशील, शुभ कार्यों में ध्यान लगाने वाले होते हैं। इनके लक्षणों से ही इनके गुण कह दिये हैं ॥ १११ ॥

तत्र सर्वैः सारैरुपेताः पुरुषा भवन्त्यतिबलाः परमगौरवयुक्ताः क्लेशसहाः सर्वारम्भेष्वात्मनि जातप्रत्ययाः कल्याणाभिनिवेशिनः स्थिरसमाहितशरीराः सुसमाहितगतयः सानुनाद-स्निग्ध-गम्भीर-महास्वराः सुखैश्वर्यवित्तोपभोगसंमानभाजो मन्दजरसो मन्दविकाराः प्रायस्तुल्यगुणविस्तीर्णापत्याश्चिरजीविनश्च भवन्ति ॥ ११२ ॥

[इनमें सब सारों की विशेषता से बल प्रमाण तीन प्रकार का है। यथा—उत्तम, मध्यम और अधम।] इनमें जो पुरुष उपरोक्त आठों प्रकार के उत्तम सारों से युक्त होते हैं, वे अति बलवान्, अत्यन्त सुख से युक्त, क्लेश सहने वाले, सब कार्यों में समर्थ होने से प्रयत्नवान्, शुभ कार्यों में मन लगाने वाले, स्थिर और संहत शरीर वाले, सुधीर गतिवाले, प्रतिध्वनि से युक्त स्निग्ध, गम्भीर एव महान् स्वर वाले, सुख-ऐश्वर्य, वित्त, संमान का भोग करने वाले, अल्प जरा वाले, थोड़े रोग वाले, प्रायः अपने ही समान तुल्य गुण वाले, बहुत से चिरंजीवी पुत्रोंवाले होते हैं ॥ ११२ ॥

अतो विपरीतास्त्वसाराः ॥ ११३ ॥

इन उपरोक्त लक्षणों से विपरीत लक्षणों वाले पुरुष सारहीन होते हैं ॥११३॥

मध्यानां मध्यैः सारविशेषैर्गुणविशेषा व्याख्याता भवन्ति इति साराण्यष्टौ पुरुषाणां बलप्रमाणविशेषज्ञानार्थान्युपदिष्टानि भवन्ति॥११४॥

प्रवर और अवर के मध्यस्थ सार विशेषों से मध्यमसार के पुरुष होते हैं। इस मध्यम सार से ही इनके गुण समझ लेने चाहियें। इस प्रकार से बलप्रमाण को विशेष रूप में जानने के लिये इन सारों की व्याख्या कर दी है ॥११४॥

कथं नु शरीरमात्रदर्शनादेव भिषङ् मुह्येदयमुपचितत्वाद् बलवान्, अयमल्पबलः कृशत्वात्, महाबलवानयं महाशरीरत्वात्,अयमल्पशरीरत्वादल्पबल इति; दृश्यन्ते ह्यल्पशरीराः कृशाश्चैके बलवन्तः, तत्र पिपीलिकाभारहरणवत्सिद्धिः। अतश्च सारतः परीक्षेतेत्युक्तम् ॥११५॥

वैद्य केवल शरीरमात्र के दर्शन से धोखा भी खा जाता है, भरा पूरा शरीर होने से यह बलवान् है, यह मनुष्य कृश होने से अल्पबलवाला है, इसका शरीर बड़ा है, इससे यह मनुष्य बड़ा भारी बलवान है। यह अल्प शरीर होने से अल्पबलवाला है इत्यादि। परन्तु देखा जाता है कि अल्प शरीर वाले और पतले दुबले व्यक्ति भी बलवान् होते हैं। जिस प्रकार चिउंटी अपने से तिगुने चौगुने बोझ को भी उठा लेती है, उसी प्रकार पतले व्यक्ति भी सार के कारण बलवान् होते हैं और वे अनेक कार्य कर लेते हैं। इस कारण सार से परीक्षा करनी चाहिये यह कहा है ॥११५॥

संहननतश्चेति—संहननं संघातः संयोजनमित्येकोऽर्थः । तत्र सम-सुविभक्तास्थि-सुबद्धसंधि-सुनिविष्ट-मांस-शोणितं सुसंहतं शरीरमित्युच्यते। तत्र सुसंहतशरीराः पुरुषा बलवन्तो विपर्ययेणाल्पबलाः, प्रवरावर-मध्यत्वात्संहननस्य मध्यबला भवन्ति ॥ ११६ ॥

संहनन अर्थात् शरीर की बनावट से भी परीक्षा करनी चाहिये। संहनन, संघात और संयोजन ये सब शब्द समानार्थक हैं। जिसकी अस्थियां सम-अनुपात में विभक्त हों, सन्धियां खूब बंधी, मांस और रक्त अच्छी प्रकार से शरीर में भरा हो, उसको भली प्रकार से संहत शरीरवाला कहते हैं। सुसंहत शरीर वाले पुरुष बलवान् होते हैं। इसके विपरीत शरीर वाले पुरुष अल्प बल, मध्य शरीर वाले पुरुष मध्यम बल होते हैं ॥११६॥

प्रमाणतश्चेति—शरीरप्रमाणं पुनर्यथास्वेनाङ्गुलिप्रमाणेनोपदेक्ष्यते उत्सेधविस्तारायामैर्यथाक्रमम्। तत्र पादौ चत्वारि षट् चतुर्दश चाङ्गुलानि, जंघे त्वष्टादशाङ्गुले षोडशाङ्गुलपरिक्षेपे, जानुनी चतुर-ङ्गुले षोडशाङ्गुलपरिक्षेपे, त्रिंशदङ्गुलपरिक्षेपावष्टादशाङ्गुलावूरू, षडंगुलदीर्घौ वृषणावष्टांगुलपरिणाहौ, शेफः षडंगुलदीर्घं पञ्चांगुल-परिणाहं, द्वादशांगुलपरिमितो भगः, षोडशांगुलविस्तारा कटी, दशांगुलं बस्तिशिरः, दशांगुलविस्तारं द्वादशांगुलमुदरं, दशांगुलविस्तीर्णे द्वादशां-गुलायामे पार्श्वे, द्वादशांगुलविस्तारं स्तनान्तरं, द्व्यंगुलं स्तनपर्यन्तं, चतुर्विंशत्यंगुलविशालं द्वादशांगुलोत्सेधमुरः, द्व्यंगुलं हृदयं, अष्टांगुलौ स्कन्धौ, षडंगुलावंसौ, षोडशांगुलौ प्रबाहू, पञ्चदशांगुलौ प्रपाणी, हस्तौ दशांगुलौ, कक्षावष्टांगुलौ, त्रिकं द्वादशांगुलोत्सेधं, अष्टादशांगुलो-त्सेधं पृष्ठं, चतुरंगुलोत्सेधा द्वाविंशत्यंगुलपरिणाहा शिरोधरा, द्वादशां-गुलोत्सेधं चतुर्विंशत्यंगुलपरिणाहमाननं, पञ्चांगुलमास्यं, चिबुकौष्ठ-कर्णाक्षिमध्यनासिकाललाटं चतुरंगुलं, षोडशांगुलोत्सेधं द्वात्रिंशदंगुल-परिणाहं शिरः—इति पृथक्त्वेनाङ्गावयवानां मानमुक्तम्। केवलं पुनः शरीरमंगुलिपर्वाणि चतुरशीतिस्तदायामविस्तारसमं समुच्यते। तत्राऽऽ-युर्बलमोजःसुखमैश्वर्यं वित्तमिष्टाश्चापरे भावा भवन्त्यायत्ताः प्रमाण-वति शरीरे, विपर्ययस्त्वतो हीनेऽधिके वा ॥ ११७ ॥

प्रमाण द्वारा शरीर की परीक्षा करनी चाहिये। शरीर का प्रमाण प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अंगुलियों से माप कर जानना चाहिये। उत्सेध (ऊंचाई), विस्तार (व्यास, चौड़ाई), आयाम लम्बाई ये क्रमानुसार कहेंगे। इनमें—पांव

की ऊंचाई ४, चौड़ाई ६ और लम्बाई चौदह अंगुल हो। टांगें (घुटने से नीचे टखने तक का भाग) लम्बाई में अठारह अंगुल, घेर में १६ अंगुल, घुटने लम्बाई में ४ अंगुल और घेर में १६ अंगुल, जांघें घेर में ३० अंगुल, लम्बाई में १८ अंगुल, वृषण ६ अंगुल लम्बे और गोलाई में आठ अंगुल, शिश्न (लिंग) छ अंगुल लम्बा और गोलाई में पांच अंगुल (सुश्रुत में चार अंगुल), भग (स्त्रीगुह्यांग) १२ अंगुल, कटी १६ अंगुल चौड़ी, बस्ति का शिर (मेढ़ू को जड़ से नाभि प्रदेश तक पेडू) १० अंगुल लम्बा, नाभि से ऊपर और छाती से नीचे लम्बाई में पेट १२ अंगुल लम्बा और १० अंगुल चौड़ा, पार्श्व (दोनों पार्श्व) १० अंगुल चौड़े और १२ अंगुल लम्बे, स्तनों के बीच का अन्तर १२ अंगुल चौड़ा, स्तनप्रान्त दो अंगुल छाती १२ अंगुल ऊंची, २४ अंगुल चौड़ी, (सुश्रुत में १८ अंगुल चौड़ी छाती कही है, यह स्त्री की समझनी चाहिये), हृदय दो अंगुल, स्कन्ध ८ अंगुल, भुजासंधि (अंस) ६ अंगुल, प्रबाहू (कंधे से नीचे कोहनी तक का भाग) १६ अंगुल, प्रपाणि (कलाई से कोहनी तक का भाग, प्रकोष्ठ) १५ अंगुल, हाथ १० अंगुल, (उसमें भी मध्यम अंगुलि ५ अंगुल, प्रदेशिनी और अनामिका ४॥ अंगुल, कनिष्ठा और अंगुष्ठ ३॥ अंगुल), दोनों कक्षा ८ अंगुल, त्रिक १२ अंगुल ऊंचा, पीठ १८ अंगुल ऊंची, ग्रीवा ४ अंगुल ऊंची और घेरा २४ अंगुल, मुख (मस्तक से ठोड़ी तक) १२ अंगुल और २४ अंगुल घेर वाला, खुला मुख ५ अंगुल, चिबुक, (दाढ़ी) कान, ओष्ठ, आंखों के बीच का मध्य भाग, नासिका और ललाट ये प्रत्येक चार अंगुल, शिर १६ अंगुल लम्बा, ऊंचा और ३२ अंगुल घेर वाला होता है। इस प्रकार से पृथक् पृथक् अंगों का माप कह दिया है। सम्पूर्ण शरीर पांव से आरम्भ करके शिर तक सारा ८४ अंगुल होता है (सुश्रुत में एक सौ बीस अंगुल लम्बाई कही है। यह परिमाण पांव की अग्र-अस्थि से लेकर हाथों को ऊंचे उठाये हुए पुरुष का समझना चाहिये।)

प्रमाण तीन प्रकार का है, सम, हीन और अधिक। इनमें जो शरीर लम्बाई और विस्तार में उपरोक्त कहे हुए प्रमाण के समान हो वह 'समप्रमाण' समझना चाहिये। इस प्रकार के समप्रमाण वाले शरीर में आयु, बल, ओज, सुख, ऐश्वर्य्य, धन और अन्य शुभ भाव रहते हैं। इस समपरिमाण से हीन वा अधिक में ये गुण (आयु आदि) नहीं रहते ॥ ११७ ॥

सात्म्यतश्चेति—सात्म्यं नाम तद्यत्सातत्येनोपयुज्यमानमुपशेते। तत्र ये घृत-क्षीर-तैल-मांस-रस-सात्म्याः सर्व-रस-सात्म्याश्च, ते बलवन्तः

क्लेशसहाश्चिरजीविनश्च भवन्ति। रूक्षसात्म्याः पुनरेक-रस-सात्म्याश्च ये, ते प्रायेणाल्पबलाश्चाक्लेशसहा अल्पायुषोऽल्पसाधनाश्च। व्यामिश्रसात्म्यास्तु ये, ते मध्यबलाः सात्म्यनिमित्ततो भवन्ति ॥ ११८ ॥

सात्म्य से परीक्षा करनी चाहिये। जिसके निरन्तर अभ्यास से सुख मिलता है, उसको 'सात्म्य' कहते हैं। इसमें जो पुरुष घी, तैल, दूध, मांस रस का सेवन निरन्तर करते हैं तथा जिनको सब सात्म्य है, वे बलवान् क्लेश सहने वाले और दीर्घायु होते हैं। जिन पुरुषों की रूक्ष पदार्थ सात्म्य हैं और जो एक ही रस का अभ्यास करते हैं, वे पुरुष प्रायः करके अल्प-बल, थोड़ा कष्ट उठाने वाले, अल्पायु, अल्पक्रिया से गुजारा करने वाले होते है। प्रवर और अवर इस मिश्रित सात्म्य वाले पुरुष मध्य सात्म्य के कारण मध्यम बल होते हैं। इसलिये मध्य क्लेश सहन करने वाले, मध्यमायु होते हैं ॥ ११८ ॥

सत्त्वतश्चेति–सत्त्वमुच्यते मनः, तच्छरीरस्य तन्त्रकमात्मसंयोगात्। तत् त्रिविधं बलभेदेन–प्रवरं मध्यमवरं चेति। अतश्च प्रवर-मध्यावरसत्त्वाश्च भवन्ति पुरुषाः। तत्र प्रवरसत्त्वाः स्वल्पाः, ते सारेषूपदिष्टाः स्वल्पशरीरा ह्यपि ते निजागन्तुनिमित्तासु महतीष्वपि पीडास्वव्यथा दृश्यन्ते, सत्त्वगुणवैशेष्यात्। मध्यसत्त्वास्त्वपरानात्मन्युपनिधाय संस्तम्भयन्त्यात्मनाऽऽत्मानं परैर्वाऽपि संस्तभ्यन्ते; हीनसत्त्वास्तु नाऽऽत्मना, न च परैः सत्त्वबलं प्रति शक्यन्त उपस्तम्भयितुं, महाशरीरा ह्यपि ते स्वल्पानामपि वेदनानामसहा दृश्यन्ते, संनिहित-भय-शोक-लोभ-मोह-माना रौद्र-भैरव-द्विष्ट-बीभत्स-विकृत-संकथास्वपि च पशुपुरुषमांसशोणितानि चावेक्ष्य विषाद-वैवर्ण्य-मूर्च्छोन्माद-भ्रम-प्रपतनानामन्यतममाप्नुवन्त्यथवा मरणमिति ॥ ११९ ॥

सत्त्व से परीक्षा करनी चाहिये। सत्त्व का अर्थ मन है। यह मन आत्मा के साथ मिलकर इस शरीर को (इन्द्रियों को) प्रेरित करता है। यह सत्त्व-संज्ञा वाला मन बल के भेद से प्रवर मध्य और अवर यह तीन प्रकार का है। इसलिये प्रवर सत्त्व (शुद्ध) मध्यम सत्त्व (राजस) और अवर सत्त्व (तामस) प्रकृति के मनुष्य होते हैं। इनमें प्रवर सत्त्वों का वर्णन 'सत्त्वसार' ओज के वर्णन में (स्मृतिमान् आदि से) कह दिया है। ये प्रवर सत्त्व वाले व्यक्ति छोटे शरीर के होने पर भी शारीरिक एवं आगन्तुज, बड़े रोगों में भी(तीव्र दर्दों में भी) व्यथारहित दीखते हैं, बड़ी पीड़ा को भी कुछ नहीं मानते। इसका कारण सत्त्वगुण की अधिकता है। ये अपने आत्मा से ही अपने को सम्भाल

होते हैं। मध्यम सत्त्व पुरुष तीव्र वेदना को असह्य देख कर वेदना में अपने को अपने आप रोकते हैं, अथवा दूसरे पुरुष इनको सम्भालते हैं। हीन सत्त्व वाले पुरुष स्वयं अपने को सम्भाल नहीं सकते और नहीं दूसरे इनको सम्भाल सकते हैं। ये हीनसत्त्व पुरुष बड़े शरीर वाले होकर भी थोड़ी सी पीड़ा को भी सहन नहीं कर सकते। ये पुरुष भय, शोक, लोभ, मोह, अपमान, रौद्र, भैरव, द्विष्ट, बीभत्स और विकृत कथाओं में, और पशु-मनुष्य के मांस-रक्त आदि को देख कर विषाद, विवर्ण, मूर्च्छा, उन्माद, भ्रम, पतन इनमें से किसी एक के वश हो जाते हैं, अथवा मर जाते हैं ॥११९॥

आहारशक्तितश्चेति—आहारशक्तिरभ्यवहरणशक्त्या जरणशक्त्या च परीक्ष्या, बलायुषी ह्याहारायत्ते॥ १२० ॥

आहार शक्ति से परीक्षा करनी चाहिये—आहार शक्ति की परीक्षा भोजन करने और उसको पचा लेने की शक्ति से करनी चाहिये। क्योंकि बल और आयु आहर के ही अधीन हैं ॥१२०॥

व्यायामशक्तितश्चेति—व्यायामशक्तिरपि कर्मशक्त्या परीक्ष्या कर्मशक्त्या ह्यनुमीयते बलत्रैविध्यम्॥ १२१ ॥

व्यायाम शक्ति से परीक्षा करनी चाहिये—व्यायाम शक्ति की परीक्षा शरीर में परिश्रम उत्पन्न करने वाले कर्म से करनी चाहिये। कर्म शक्ति से तीनों प्रकार का प्रवर, मध्यम और अवर बल जाना जाता है ॥१२१॥

वयस्तश्चेति, कालप्रमाणविशेषापेक्षिणी हि शरीरावस्था वयोऽभिधीयते। तद्वयो यथास्थूलभेदेन त्रिविधं—बालं मध्यं जीर्णमिति। तत्र बालमपरिपक्वधातुमजातव्यञ्जनं सुकुमारमक्लेशसहमसंपूर्णबलं श्लेष्मधातुप्रायमाषोडशवर्षं, विवर्धमानधातुगुणं पुनः प्रायेणानवस्थितसत्त्वमात्रिंशद्वर्षमुपदिष्टं,मध्यं पुनः समत्वागत-बल-वीर्य-पौरुष-पराक्रम-ग्रहण-धारण-स्मरण-वचन-विज्ञान-सर्वधातु-गुणं बल-स्थितमवस्थितसत्त्वमविशीर्यमाण-धातु-गुणं पित्त-धातु-प्रायमाषष्टिवर्षमुपदिष्टं अतः परं परिहीयमानधात्विन्द्रिय-बल-वीर्य-पौरुष-पराक्रम-ग्रहण-धारणस्मरण-वचन-विज्ञानं भ्रश्यमानधातुगुणं वातधातुप्रायं क्रमेण जीर्णमुच्यते आवर्षशतं, वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमस्मिन्काले। सन्ति पुनरधिकोनवर्षशतजीविनो मनुष्याः। तेषां विकृतिवर्जैः प्रकृत्यादिबलविशेषैरायुषो लक्षणतश्च प्रमाणमुपलभ्य वयसस्त्रित्वं विभजेत्॥ १२२ ॥

आयु से परीक्षा करनी चाहिये—विशेष कालपरिमाण की अपेक्षा से शरीर

की अवस्था का नाम 'वय' कहा जाता है। यह वय अवस्था भेद से तीन प्रकार का है। (१) बाल, (२) मध्य और (३) जीर्ण, इनमें बाल वय तीस वर्ष तक है। इसमें भी १६ वर्ष तक रस, रक्त आदि धातु अपरिपक्व रहते हैं, दाढ़ी-मूंछ आदि लक्षण स्पष्ट नहीं होते, शरीर सुकुमार, क्लेश न सहने वाला, असम्पूर्ण बल वाला होता है। इस अवस्था में कफ धातु अधिक होता है। प्रायः करके मन अस्थिर, धातु लगातार बढ़ रहे होते हैं। मध्यम वय—तीस से ऊपर और ६० से नीचे तक की आयु है। बल, वीर्य, विक्रम, पौरुष, पराक्रम, अर्थ का ग्रहण, शब्द आदि का धारण, स्मरण, वचन, विज्ञान, तथा सब धातुओं के गुण, समान अवस्था में पहुंचे होते हैं। इस समय बल स्थिर रहता है मन निश्चल हो जाता है, धातुओं के गुण नष्ट नहीं होते, पित्त प्रधान रहता है। जीर्ण वय—६० वर्ष से ऊपर और १०० वर्ष के बीच के समय को जीर्ण वय कहते हैं। इस समय में धातु, इन्द्रिय, बल, वीर्य, पौरुष, पराक्रम, ग्रहण, धारण, स्मरण, वचन, विज्ञान एवं धातुओं के गुण क्रमशः क्षीण होरहे होते हैं। शरीर में वायु की प्रधानता रहती है। इसलिये इस अवस्था को जीर्ण-अवस्था कहते हैं।

इस काल में सौ वर्ष से अधिक या कम जीने वाले पुरुष भी हैं। इन पुरुषों में विकृति को छोड़ कर अन्य प्रकृति आदि बल विशेष से तथा इन्द्रिय स्थान में और शरीर स्थान में कहे हुए लक्षणों से आयु का प्रमाण जान कर आयु के तीन विभाग* करने चाहियें ॥१२२॥

एवं प्रकृत्यादीनां विकृतिवर्ज्यानां भावानां प्रवरमध्यावरविभागेन बलविशेषं विभजेत। विकृतिबलत्रैविध्येन तु दोषबलं त्रिविधमनुमीयते। ततो भैषज्यस्य तीक्ष्णमृदुमध्यविभागेन त्रित्वं विभज्य यथादोषं भैषज्यमवचारयेदिति ॥ १२३ ॥

इस प्रकार से विकृति को छोड़ कर प्रकृति से आरम्भ करके वय के अन्त तक कहे हुए गुणों से प्रवर, अवर और मध्य विभाग करके इसके अनुसार रोग के बल का प्रवर, अवर और मध्य विभाग करना चाहिये। विकृति बल के भी तीन विभाग करके उनसे दोषों के तीन प्रकार के बलों का अनुमान किया

---

* सुश्रुत ने आयु का विभाग दोषों के संचय काल की दृष्टि से किया है। चरक में धातुओं की वृद्धि, साम्य और क्षय की दृष्टि से किया है, यह ध्यान रखना चाहिये।

जाता है। इसके अनन्तर औषध का भी तीक्ष्ण, मृदु और मध्य रूप से विभाग करके दोष एवं बल के औषध का प्रवर, मध्य और अवर रूप से प्रयोग करे ॥ १२३ ॥

आयुषः प्रमाणज्ञानहेतोः पुनरिन्द्रियेषु जातिसूत्रीये च लक्षणान्युपदेक्ष्यन्ते ॥ १२४ ॥

आयु के प्रमाण को जानने के लिये लक्षण इन्द्रियस्थान में तथा शारीर स्थान के जातिसूत्रीय अध्याय में कहेंगे ॥ १२४ ॥

कालः पुनः संवत्सरश्चाऽऽतुरावस्था च। तत्र संवत्सरो द्विधा त्रिधा षोढा द्वादशधा भूयश्चाप्यतः प्रविभज्यते तत्तत्कार्यमभिसमीक्ष्य। तं तु खलु तावत्षोढा प्रविभज्य कार्यमुपदेक्ष्यते—हेमन्तो ग्रीष्मो वर्षाश्चेति शीतोष्णवर्षलक्षणास्त्रय ऋतवो भवन्ति। तेषामन्तरेष्वितरे साधारणलक्षणास्त्रय ऋतवः प्रावृट्शरद्वसन्ता इति। प्रावृडिति प्रथमः प्रवृष्टः कालः, तस्यानुबन्धो हि वर्षाः। एवमेते संशोधनमधिकृत्य षड् विभज्यन्ते ऋतवः ॥ १२५ ॥

काल—संवत्सर और रोगी की अवस्था का नाम 'काल' है। इनमें संवत्सर अयन भेद से दो प्रकार का; शीत, उष्ण, वर्षा भेद से तीन प्रकार का, ऋतु विभाग से छः प्रकार का, मास भेद से बारह प्रकार का, पक्ष भेद से चौबीस प्रकार का, और दिन, प्रहरादि के भेद से अनेक प्रकार का है। कार्य की दृष्टि से इसका विभाग किया जाता है। यहां पर वर्ष का ऋतु विभाग से छः प्रकार का विभाग करके इसके कार्य को कहेंगे। हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा रूप से शीत, उष्ण और बरसात के लक्षणों वाली मुख्यतः तीन ऋतुओं के बीच में भी दूसरी साधारण लक्षणों वाली तीन ऋतुएं होती हैं। यथा—प्रावृट्, शरद् और वसन्त अर्थात् प्रवृष्टि इसका प्रथम प्रारम्भ काल होना 'प्रावृट्' है। इसका पिछला भाग वर्षा-ऋतु। इस प्रकार से संशोधनाधिकार में हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म, प्रावृट् वर्षा और शरद् ये ऋतुएँ कह दी हैं ॥ १२५ ॥

तत्र साधारणलक्षणेष्वृतुषु वमनादीनां प्रवृत्तिर्विधीयते, निवृत्तिरितरेषु। साधारणलक्षणा हि मन्दशीतोष्णवर्षत्वात् सुखतमाश्च भवन्त्यविकल्पकाश्च शरीरौषधानां, इतरे पुनरत्यर्थशीतोष्णवर्षत्वाद् दुःखतमाश्च भवन्ति विकल्पकाश्च शरीरौषधानाम् ॥ १२६ ॥

इनमें साधारण लक्षणों वाले समय में जब न बहुत शीत और न बहुत गरमी हो, जैसे प्रावृट्, शरद् और वसन्त ऋतु में वमन आदि कार्यों के करने

का विधान है । अन्य तीन, अधिक शीत, अधिक उष्ण, अधिक वृष्टि, हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा इन ऋतुओं में वमनादि कार्य नहीं किये जाते । क्योंकि साधारण लक्षणों वाली ऋतुएं मन्द शीत, मन्द उष्ण और मन्द वर्षा वाली होने से शरीर के लिये अति सुखकारक एवं ओषधियों का नाश न करने वाली होती हैं । इसलिये उनमें वमन आदि कार्य किये जाते हैं । अन्य तीन (हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा) ऋतुएँ अति शीत, अति गरमी और अति वर्षा वाली होने से शरीर के लिये दुःखदायक और ओषधियों का नाश करने वाली होती हैं । इसलिये इन ऋतुओं में वमन आदि उपाय नहीं किये जाते ॥१२६॥

तत्र हेमन्ते ह्यतिमात्रशीतोपहतत्वाच्छरीरमसुखोपपन्नं भवत्यतिशीतवाताध्मातमतिदारुणीभूतमाबद्धदोषं च, भेषजं पुनः संशोधनार्थमुष्णस्वभावं शीतोपहतत्वान्मन्दवीर्यत्वमापद्यते, तस्मात्तयोः संयोगे संशोधनमयोगायोपपद्यते, शरीरमपि च वातोपद्रवाय ।

इनमें से हेमन्त ऋतु में अधिक शीत होने के कारण शरीर को सुख नहीं मिलता । अति शीत और अति वायु से शरीर विक्षुब्ध, अति कठोर और बहुत भारी दोष युक्त एवं अतिस्तब्ध दोष वाला हो जाता है । उष्ण स्वभाव वाली संशोधनकारी औषध भी शीत के अधिक होने से हीनवीर्य रहती है । इसलिये इस अवस्था में शरीर और औषध का संयोग अयोग अर्थात् अनुचित रहता है। शरीर में भी प्रायः वायु के उपद्रव होने लगते हैं ।

ग्रीष्मे पुनर्भृशोष्णोपहतत्वाच्छरीरमसुखोपपन्नं भवत्युष्णवातातपाध्मातमतिशिथिलमत्यन्तप्रविलीनदोषं, भेषजं पुनः संशोधनार्थमुष्णस्वभावमुष्णानुगमनात्तीक्ष्णतरत्वमापद्यते, तस्मात्तयोः संयोगे संशोधनमतियोगायोपपद्यते, शरीरमपि विपासोपद्रवाय ।

ग्रीष्म ऋतु में गरमी के अधिक होने से शरीर को सुख नहीं मिलता । इसलिये उष्ण वायु और उष्ण धूप से शरीर फूल जाता अति शिथिल तथा गरमी के कारण दोष बहुत अधिक छिपे (घुले) रहते हैं । संशोधन के लिये जो औषध दी जाती है, उसका स्वभाव उष्ण होता है । यह उष्ण स्वभाव की औषध सूर्य की किरणों के योग से अति उष्ण होकर अति तीक्ष्ण हो जाती है । इसलिये इस अवस्था में शरीर और औषध का संयोग 'अतियोग' हो जाता है । शरीर में भी प्यास के उपद्रव होने लगते हैं ।

वर्षासु तु मेघजालावतते गूढार्कचन्द्रतारे धाराकुले वियति भूमौ पङ्क-जल-पटल-संवृतायामत्यर्थोपक्लिन्नशरीरेषु भूतेषु विहतस्वभावेषु च

केवलेष्वौषधग्रामेषु तोयतोयदानुगतमारुतसंसर्गाद् गुरुप्रवृत्तीनि वमनादीनि भवन्ति, गुरुसमुत्थानानि च शरीराणि। तस्माद्वमनादीनां निवृत्तिर्विधीयते वर्षाभागान्तेष्वृतुषु न चेदात्ययिकं कर्म, आत्ययिके पुनः कर्मणि कामृतुं विकल्प्य कृत्रिमगुणोपधानेन यथर्तुगुणविपरीतेन भेषज्यं संयोग-संस्कार-प्रमाण-विकल्पेनोपपाद्यं प्रमाणवीर्यसमं कृत्वा ततः प्रयोजयेदुत्तमेन यत्नेनावहितः ॥ १२७ ॥

वर्षा ऋतु में आकाश बादलों से भरा रहता है, सूर्य, चन्द्रमा और तारे छिपे रहते हैं। इस समय आकाश से पानी बरसता है, भूमि कीचड़से भरी होती है। प्राणियों का शरीर अत्यन्त क्लिन्न (आर्द्र) होता है। इसलिये स्वाभाविक गुण घट जाता है। सम्पूर्ण ओषधियों में जल, बादल और इनसे मिली वायु का संसर्ग होने से रस, वीर्य आदि का नाश हो जाता है। इसलिये वमन आदि गुरु कार्यों को ये ओषधियाँ नहीं कर सकती। इस ऋतु में जो रोग शरीर में होते हैं, उनका निदान महान् होता है। इसलिये हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा में वमन आदि कार्यों का निषेध किया जाता है।

यदि वमन आदि कार्य करना आवश्यक (अनिवार्य) ही हो तो हेमन्त आदि ऋतुओं में भी ऋतु के विपरीत कृत्रिम ऋतु (हेमन्त में गर्भगृह आदि, ग्रीष्म में धारागृह आदि) बनाकर, भेषज को संयोग संस्कार के अनुसार तीक्ष्ण या मृदु वीर्य करके पूर्ण सावधानी के साथ प्रयोग करे जिससे हेमन्त में अयोग और ग्रीष्म में अतियोग न हो ॥ १२७ ॥

आतुरावस्थास्वपि तु कार्याकार्यं प्रति कालाकालसंज्ञा। तद्यथा-अस्यामवस्थायामस्य भेषजस्याकालः कालः पुनरन्यस्येति एतदपि हि भवत्यवस्थाविशेषेण, तस्मादातुरावस्थास्वपि हि कालाकालसंज्ञा। तस्य परीक्षा मुहुर्मुहुरातुरस्य सर्वावस्थाविशेषावेक्षणं यथावद्भेषजप्रयोगार्थं, नह्यतिपातितकालमप्राप्तकालं वा भेषजमुपयुज्यमानं यौगिकं भवति। कालो हि भैषज्यप्रयोगपर्याप्तिमभिनिर्वर्तयति ॥ १२८ ॥

रोगी की अवस्था में भी कार्य एवं अकार्य को देखकर काल और अकाल कहा जाता है। जैसे--इस अवस्था में इस औषध का काल नहीं है और इस अन्य औषध का समय है। (यथा—ज्वर के छः दिन बीतने पर औषध देनी चाहिये यह औषध का काल है)। यह औषध देने का समय नहीं है (जैसे नव ज्वर में कषाय का देना अकाल है।) यह भी अवस्था भेद से ऐसा होता है। इसलिये रोगी की अवस्था में भी 'काल-अकाल' होता है। इसकी परीक्षा

रोगी की सब अवस्थाओं को बार-बार देखकर उचित रीति से औषध देने के लिये करनी चाहिये। क्योंकि समय के बीतने पर अथवा समय से पूर्व दी हुई औषध फलदायक नहीं होती। उचित काल ही औषध प्रयोग को सफल करता है ॥ १२८ ॥

प्रवृत्तिस्तु प्रतिकर्मसमारम्भः। तस्य लक्षणं–भिषगातुरौषधपरिचारकाणां क्रियासमायोगः ॥ १२९ ॥

प्रवृत्ति—चिकित्सा कर्म का प्रारम्भ 'प्रवृत्ति' है। भिषग्, औषध रोगी और परिचारक इन चारों का मिलकर क्रिया आरम्भ करना इसका लक्षण है ॥१२९॥

उपायः पुनर्भिषगादीनां सौष्ठवमभिविधानं च सम्यक्। तस्य लक्षणं—भिषगादीनां यथोक्तगुण-संपद्देश-काल-प्रमाण-सात्म्य-क्रियादिभिश्च सिद्धिकारणैः सम्यगुपपादितस्यौषधस्यावचारणमिति ॥ १३० ॥

एवमेते दश परीक्ष्यविशेषाः पृथक्पृथक् परीक्षितव्या भवन्ति ॥

उपाय—भिषग्, औषध, रोगी और परिचारक इन चारों का यथोक्त उत्तम गुण वाला होना एवं देश काल की अपेक्षा से इनका एकत्र होना है। खुड्डाक-चतुष्पाद अध्याय में कहे अपने-अपने गुणों से युक्त होकर, देश, काल, प्रमाण, सात्म्य और क्रिया आदि सफलता देने वाले कारणों से विचार कर भली प्रकार दी हुई औषध का प्रयोग ही उपाय का लक्षण है।

इस विधि से कारण आदि दस परीक्ष्य विषयों की पृथक् पृथक् परीक्षा करनी चाहिये ॥ १३० ॥

परीक्षायास्तु खलु प्रयोजनं प्रतिपत्तिज्ञानं। प्रतिपत्तिर्नाम—यो विकारो यथा प्रतिपत्तव्यस्तस्य तथाऽनुष्ठानज्ञानम् ॥ १३१ ॥

परीक्षा का प्रयोजन—परीक्षा का प्रयोजन 'प्रतिपत्ति' है अर्थात् जो विकार जिस प्रकार से जानना चाहिये और जिस उपाय से चिकित्सा करनी चाहिये, उस रोग को वैसी चिकित्सा का ज्ञान करना 'प्रतिपत्ति' है ॥ १३१ ॥

यत्र तु खलु वमनादीनां प्रवृत्तिर्यत्र च निवृत्तिस्तद् व्यासतः सिद्धिषूत्तरकालमुपदेक्ष्यते सर्वम्। प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणसंयोगे तु खलु गुरुलाघवं संप्रधार्य सम्यगध्यवस्येदन्यतरनिष्ठायाम्। सन्ति हि व्याधयः शास्त्रेषूत्सर्गापवादैरुपक्रमं प्रति निर्दिष्टाः। तस्माद् गुरुलाघवं संप्रधार्य सम्यगध्यवस्येदित्युक्तम् ॥ १३२ ॥

जिन रोगियों को वमन देना चाहिये और जिनको वमन आदि नहीं देना चाहिये, इन सबको पृथक् पृथक् आगे सिद्धिस्थान में कहेंगे।

यदि एक ही पुरुष में वमन आदि कार्यों की प्रवृत्ति (देने) और निवृत्ति (न देने) दोनों कार्यों के लक्षण हों तब रोगी में गुरुता और लघुता भली प्रकार देख कर एक कार्य का निश्चय करना चाहिये, प्रवृत्ति और निवृत्ति के लक्षणों में से जिसके लक्षण गुरु हों वह कार्य करना चाहिये। दूसरे लघु-लक्षणों वाले कार्य को छोड़ देना चाहिये। क्योंकि शास्त्रों में ऐसे भी रोग हैं, जिनकी चिकित्सा विधि और निषेध रूप से कही है। शास्त्र में उपक्रम की प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही कही है। इनमें से एक कार्य का निश्चय गुरु, लघु देखकर करना चाहिये ॥१३२॥

यानि तु खलु वमनादिषु भेषज-द्रव्याण्युपयोगं गच्छन्ति तान्यनुव्याख्यास्यन्ते। तद्यथा--फल-जीमूतकेक्ष्वाकु - धामार्गव-कुटज-कृतवेधन-फलानि, फल-जीमूतकेक्ष्वाकु-धामार्गव-पत्र-पुष्पाणि, आरग्वधवृक्षक-मदन-स्वादु-कण्टक-पाठा-पाटला–शार्ङ्गष्टामूर्वा-सप्तपर्ण–नक्त-माल-पिचु-मर्द-पटोल-सुषवी - गुडूची-चित्रक-सोमवल्क-द्वीपि-शिग्रु-मूल-कषायैश्च, मधुक-मधूक-कोविदार-कर्बुदार-नीप-निचुल-बिम्बी-शणपुष्पी-सदापुष्पी-प्रत्यक्पुष्पी-कषायैश्च, एला-हरेणु-प्रियंगु-पृथ्वीका-कुस्तुम्बुरु-तगर-नलद-ह्रीवेर-तालीश-गोपी-कषायैश्च, इक्षुकाण्डेक्ष्विक्षुवालिका-दर्भ-पोट-गलका-लंकृत-कषायैश्च, सुमना-सौमनस्यायनी-हरिद्रा-दारुहरिद्रा-वृश्चीर-पुनर्नवा-महासहा-क्षुद्रसहा-कषायैश्च, शाल्मलि-शाल्मलिक-भद्रपर्ण्येलापर्ण्युपोदि-कोद्दालक-धन्वन-राजादनोपचित्रा-गोपी-शृङ्गाटिका-कषायैश्च, पिप्पली-पिप्पलीमूल-चव्य-चित्रक-शृङ्गवेर-सर्षप-फाणित-क्षीर-क्षार-लवणोदकैश्च यथालाभं यथेष्टं वाऽप्युपसंस्कृत्य वर्तिक्रियाचूर्णावलेह-स्नेह कषाय-मांस-रस-यवागू-यूष-काम्बलिक-क्षीरोपधेयान्मोदकानन्यांश्च योगान् विविधाननुविधाय यथार्हं वमनार्हाय दद्याद्विधिवद्वमनार्मिति कल्पसंग्रहो वमनद्रव्याणाम्। कल्पस्त्वेषां विस्तरेणोत्तरकालमुपदेक्ष्यते ॥ १३३ ॥

वमनोपयोगी द्रव्यः—वमन आदि कार्यों में जो औषध द्रव्य काम में आते हैं उनका वर्णन करते हैं। जैसे—वमन द्रव्य फल (मदन फल) जीमूत (तुरई) इक्ष्वाकु (कड़वी तुरई), धामार्गव (कोषातकी), कुटज (कुड़ा), कृतवेधन (तुरई) इनके फल लेने चाहियें। फल, जीमूत, ईक्ष्वाकु, धामार्गव इनके पत्ते और फूल। अमलतास, कुड़ा मैनफल, विकङ्कत, पाठा, पाटला, गुञ्जा, मूर्वा, सतवन, नाटाकरञ्ज, नीम, परवल, करेला, गिलोय, चीता, खैर, शतावरी, कंटेरी (छोटी), शोभाञ्जन इनकी जड़ों का कषाय बना कर देवे। महुवा,

मुलहठी, सफेद कचनार, लाल कचनार नीम, अम्लवेतस, कन्दूरी, झनझनिया, लाल आक, अपामार्ग इनका कषाय प्रयोग करना चाहिये। बड़ी इलायची, रेणुका (मेथी के बीज), फूल प्रियंगू, छोटी इलायची, धनिया, तगर, जटामांसी, खस, तालीशपत्र, उशीर, नेत्रबाला इनके कषाय का प्रयोग करना चाहिये। गवा, काण्डेक्षु, कुश, होगल, कसोंदी, तगर इनके कषाय को देवे। चमेली, चमेली की कली, हल्दी, दारुहल्दी, श्वेत पुनर्नवा, लाल पुनर्नवा, माषपर्णी, मूंगपर्णी इनका कषाय देवे। सिम्बल, रोहेड़ा, भादाली, रास्ना, कलम्बी, बहुवार, धामन, क्षीरणी वृक्ष, पृश्नपर्णी, सारिवा, सिंघाड़ा इनका कषाय देवे। पिप्पली, पिप्पलीमूल, चविका, चीता, सोंठ, सरसों, फाणित (राब), दूध, क्षार और नमक इनका कषाय देना चाहिये। अथवा इच्छा के अनुसार, दोष दूष्य की अपेक्षा से प्रयोजनानुसार वर्त्ति, चूर्ण, अवलेह, घी, तैल आदि, कषाय, मांस रस, यवागू (लप्सी), यूष, काम्बलिक*, दूध, इनको मिलाकर बनाये लड्डू तथा अन्य खाद्य पदार्थ तैयार करके वमन के योग्य व्यक्ति को वमनविधि से खाने के लिये देना चाहिये। यह वमन द्रव्यों का कल्प संक्षेप में कह दिया है। वमन द्रव्यों के कल्प को पीछे कल्पस्थान में विस्तार से कहेंगे ॥ १३३ ॥

विरेचनद्रव्याणि तु श्यामा-त्रिवृच्चतुरंगुल-तिल्वक-महावृक्ष-सप्तला-शङ्खिनी- दन्ती-द्रवन्तीनां क्षीर-मूल-त्वक्पत्र-पुष्प-फलानि यथायोगं तैस्तैः क्षीर-मूल-त्वक्पत्र-फलैर्विक्लिप्तविक्लिप्तैरजगन्धाश्वगन्धाजशृङ्गी-क्षीरिणी-नीलिनी-क्लीतक-कषायैश्च, प्रकीर्योदकीर्या-मसूर-विदला-कम्पिल्लक-विडंग-गवाक्षी-कषायैश्च, पीलु-प्रियाल-मृद्वीका-काश्मर्य-परूषक-बदर-दाडिमामलक-हरीतकी-विभीतक-वृश्चीर-पुनर्नवा-विदारिगन्धादि-कषायैश्च, शीधु-सुरा-सौवीरक-तुषोदक-मैरेय-मेदक-मदिरा-मधु-मधूलक-धान्याम्ल-कुवल-बदर - खर्जूर-कर्कन्धुभिश्च दधि-दधिमण्डोदश्विद्भिश्च, गोमहिष्यजावीनां च क्षीर-मूत्रैर्यथालाभं यथेष्टं वाऽप्युपसंस्कृत्य वर्ति-क्रिया-चूर्णासव-लेह-स्नेह-कषाय-मांसरस- यूषकाम्बलिक-यवागू-क्षीरोप-धेयान्मोदकानन्यांश्च भक्ष्यप्रकारान् विविधांश्च योगाननुविधाय यथार्हं विरेचनार्हाय दद्याद्विरेचनमिति कल्पसंग्रहो विरेचनद्रव्याणाम्। कल्पस्त्वेषां विस्तरेण यथावदुत्तरकालमुपदेक्ष्यते ॥ १३४ ॥

---

* काम्बलिक यूष का लक्षण—

'पिष्टितेन रसस्तत्र यूषो धान्यैः खडः फलैः।

मूलैश्च तिलकल्काम्लप्रायः काम्बलिकः स्मृतः ॥ अष्टांगसंग्रह - सूत्रस्थान ॥

विरेचन द्रव्य—काली निशोथ, सफेद निशोथ, अमलतास, लोध, स्नुही, शिकाकाई, शंखपुष्पी, दन्ती, द्रवन्ती (मोगलई एरण्ड) इनके दूध, मूल, त्वचा, पत्ते, पुष्प और फूल ये छः विरेचनाश्रय द्रव्यों को मिला कर अथवा पृथक् पृथक् रूप से प्रयोग करना चाहिये। अजवायन, अश्वगन्ध, मेढ़ाश्रृङ्गी, दूर्वा, नीलनी, मुलहठी, इन के कषाय कर देवे। प्रकीर्य और उदकीर्य (दो प्रकार का करंज), श्यामलता, कमीला, वायविडंग, इंद्रायण इनके कषाय का उपयोग करे। पीलु, पियाल, मुनक्का, गम्भारी, फालसा, बेर, अनारदाना, आंवला, हरड़, बहेड़ा, श्वेत और लाल पुनर्नवा, विदारीगन्धा, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती और छोटी कटेरी (ह्रस्वपंचमूल) इनके कषाय का प्रयोग करना चाहिये। सीधु, सुरा, काञ्जी, तुषोदक (धान्याम्ल), मैरेय (सुरा और आसव को मिलाकर तैयार की सुरा), मेदक, मदिरा, मधु (द्राक्षा-सुरा), मधूलिका, धान्याम्ल, कुवल, बदर और कर्कन्धु (बेरों के भेद हैं) और खजूर, दही, दही का मण्ड मस्तु, उदश्वित् (दही में आधा पानी मिलाकर तैयार की छाछ), गाय, भैंस, बकरी और भेड़ इनमें से जिसका मूत्र या दूध मिले उनसे वर्ति, चूर्ण, अवलेह, स्नेह, कषाय, मांस रस, यूष, काम्बलिक, यवागू, क्षीर तथा लड्डू और अन्य खाद्य पदार्थों को तैयार करके विरेचन के योग्य व्यक्ति को विरेचन विधि से खाने के लिये देना चाहिये। यह विरेचन द्रव्यों का संग्रह संक्षेप में कह दिया है। विस्तार से कल्पस्थान में कहेंगे ॥ १३४ ॥

आस्थापनेषु तु भूयिष्ठकल्पानि द्रव्याणि यानि योगमुपयान्ति तेषु तेष्ववस्थान्तरेष्वातुराणां तानि द्रव्याणि नामतो विस्तरेणोपदिश्यमानान्यपरिसंख्येयानि स्युरतिबहुत्वात्, इष्टश्चानतिसंक्षेपविस्तरोपदेशस्तन्त्रे, इष्टं च केवलं ज्ञानं, तस्माद्रसत एव तान्यनुव्याख्यास्यन्ते ॥ १३५ ॥

आस्थापन द्रव्यों में जो द्रव्य प्रायः रोगियों की अवस्था भेद से अनेक प्रकार से प्रयोग में आते हैं, वे औषध द्रव्य अधिक होने से एक एक का नाम कहने पर असंख्य हो जाते हैं। शास्त्र में न तो अधिक संक्षेप और न अधिक विस्तार होना चाहिये। इसलिये शास्त्र में सम्पूर्ण, सब बातों का ज्ञान ही अपेक्षित होता है। इसलिये आस्थापन द्रव्यों को यहाँ पर रस के द्वारा (छः प्रकार से) कहेंगे ॥ १३५ ॥

रस-संसर्ग-विकल्प-विस्तरो ह्येषामपरिसङ्ख्येयः, समवेतानां रसानामंशांशबलविकल्पातिबहुत्वात्। तस्माद् द्रव्याणां चैकदेशमुदाहरणार्थं रसेष्वनुविभज्य रसैकैकश्येन रसकैवल्येन च नामलक्षणार्थं षडास्थापनस्कन्धाः समूहरसतोऽनुविभज्य व्याख्यास्यन्ते। यत्तु षड्विधमास्था-

पनमेकरसमित्याचक्षते भिषजस्तद् दुर्लभतमं, संसृष्टरसभूयिष्ठत्वाद् द्रव्याणाम् । तस्मान्मधुराणि च मधुरप्रायाणि च मधुरविपाकानि च मधुरप्रभावाणि च मधुरस्कन्धे मधुराण्येव कृत्वोपदेक्ष्यन्ते तथेतराणि द्रव्याण्यपि । तद्यथा—जीवकर्षभकौ जीवन्ती-वीरा-तामलकी-काकोली-क्षीरकाकोली-भीरु-मुद्गपर्णी-माषपर्णी-शालपर्णी-पृश्निपर्ण्यसनपर्णी-मेदा-महामेदा-दारु-कर्कट-शृङ्गी-शृङ्गाटिका-छिन्नरुहा-च्छत्रातिच्छत्रा-श्रावणी-महाश्रावण्यलम्बुषा-सहदेवा-विश्वदेवा-शुक्लाक्षीर-शुक्लाबलातिबला-विदारी-क्षीर-विदारी-क्षुद्रसह-महासहाऽर्ष्यगन्धाश्वगन्ध-पयस्या-वृक्षीर-पुनर्नवा-बृहती-कण्टकारिकैरण्ड-मोरट-श्वदंष्ट्रा-संहर्षा-शतावरी-शतपुष्पा-मधूकपुष्पी-यष्टिमधु-मधूलिका-मृद्वीका-खर्जूर-परूषकात्मगुप्ता-पुष्करबीज-कशेरुका-राजादन-कतक-काश्मर्य-शीतपाक्योदन-पाकीताल-खर्जूर-मस्त केक्षिवक्षुवालिका-दर्भ-कुश-कास-शालि-गुन्द्रेत्कटक-शरमूल-राजक्षवक-र्ष्यप्रोक्ता-द्वारदा-भारद्वाजी-वनत्रपुष्य-भीरुपत्री-हंसपादी-काकनासा-कुलिङ्गा-क्षीरवल्ली-कपोतवल्ली-गोपवल्लो-मधुवल्लयः सोमवल्ली चेति ।

छः रस होने पर भी इनके परस्पर मिलने से बहुत विस्तार हो जाता है, जिससे कि ये असंख्य बन जाते हैं । एक दूसरे में मिले रसों के अंशांश बल की विकल्पना से असंख्य भेद हो जाते हैं । इसलिये आस्थापन द्रव्यों के उदाहरण मात्र के लिये मधुर आदि छः प्रकार के रसों में एक एक का विभाग करके नाम मात्र से कहेंगे । बुद्धिमान् मनुष्य न कहे हुए द्रव्यों को भी समझ सकेंगे । अतः रस के अनुसार छः प्रकार विभाग करके नाम और लक्षण दर्शाने के लिये छः आस्थापन स्कन्धों को समूह रसों के अनुसार विभाग करके कहेंगे ।

वैद्य लोग छः प्रकार के आस्थापन स्कन्ध को शुद्ध एक रस वाला कहते हैं । यह बात अतिदुर्लभ है । क्योंकि द्रव्यों में एक अनेक रसों का परस्पर संसर्ग रहता है । इसलिये जो द्रव्य मधुर रस (प्रायः करके) बहुल मधुर विपाक और मधुर प्रभाव वाले (अचिन्त्य शक्ति वाले) हैं, उनके रसान्तर होने पर भी मधुर रस की प्रधानता होने से मधुर समझकर इस मधुर स्कन्ध में ही उपदेश करेंगे । इसी प्रकार अम्ल आदि द्रव्यों की भी व्याख्या करेंगे ।

यथा—जीवक, ऋषभक, जीवन्ती, वीरा (शतावरी), तामलकी (भूम्यामलकी), काकोली, क्षीरकाकोली, भीरु (सहस्रवीर्या, शतावरी का भेद), मूँगपर्णी, माषपर्णी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, शणपर्णी मेदा, महामेदा, देवदारु, काकड़ाशृङ्गी, सिंघाड़ा, छिन्नरुहा, (गिलोय) छत्रा, तालमखाना, अहिच्छत्रा

(सौंफ का भेद), लाल कोकिलाक्ष, श्रावणी (रक्तमुण्डेरी), महाश्रावणी (श्वेतमुण्डेरी), अलंबुषा, सहदेवी, पीतपुष्पा (बला), विश्वदेवा लालफूल-वाली, दण्डोत्पला, शुक्ला, निशोथ, बला, अतिबला, विदारी, क्षीरविदारी, क्षुद्रसहा (ऐन्द्री), लालकुरवक, श्वेत कुरवक, महासहा, कुजकतरणी, श्वेत कुरवक, ऋष्यगन्धा, असगन्ध, संहर्षा (जन्तुकारी), गोखरू, बन्दाक, शतावरी, सौंफ, महुए का भेद, मुलहठी, मधूलिका, किसमिस, खजूर, फालसा, कौंच, कमल के बीज, कसेरू, राजकसेरू, पियाल, कतक, गम्भारी, शीतला, नील झिण्टी, ताल और खजूर, मुस्तका, गन्ना, ईक्षुवालिका, दर्भ, कुश, काश, लाल चावल, गुन्द्रा (शरभेद), इत्कट, शरमूल, राज सरसों, (पीली सरसों) ऋष्यप्रोक्ता वा शतावरी भेद कपिकच्छू (कौंच), द्वारदा, (साल) भारद्वाजी (जंगली कपास), जंगली खीरा, शतावरी भेद, (हंसपादिका) हंस के पांव के समान आकार की लता, काकनासा, पेटिका, क्षीरलता, छोटी इलायची, अनन्त मूल, यष्टिमधु का भेद कपोतवल्ली (ब्राह्मी भेद) और सोमलता, गोपवल्ली और मधुवल्ली।

एषामेवंविधानामन्येषां च मधुरवर्ग-परिसंख्यातानामौषधद्रव्याणां छेद्यानि खण्डशश्छेदयित्वा भेद्यानि चाणुशो भेदयित्वा प्रक्षाल्य पानीयेन सुप्रक्षालितायां स्थाल्यां समावाप्य पयसाऽर्धोदकेनाभ्यासिच्य साधयेद्दर्व्या सततमुपघट्टयन्, तदुपयुक्तभूयिष्ठेऽम्भसि गतरसेष्वौषधेषु पयसि चानुपदग्धे स्थालीमपहृत्य सुपरिपूतं पयः सुखोष्णं घृत-तैल-वसा-मज्ज-लवण-फाणितोपहितं बस्तिं वातविकारिणे विधिज्ञो विधिवद्दद्यात्, शीतं तु मधुसर्पिर्भ्यामुपसंसृज्य पित्तविकारिणे विधिवद्दद्यादिति मधुरस्कन्धः॥ १३६॥

इन अथवा अन्य इस प्रकार के मधुवर्ग में पठित औषध द्रव्यों में जो द्रव्य छेदन के योग्य हों, उनके टुकड़े २ करके और जो फोड़ने के योग्य हों, उनको फोड़कर छोटे २ टुकड़े बनाकर पानी से भली प्रकार धोकर थाली में रखना चाहिये। डेग ताम्बा, लोहा या मिट्टी की लेनी चाहिये। डेग को नीचे से लेप देना चाहिये। इस डेग में दूध में आधा पानी मिलाकर डाल देना चाहिये। इस डेग को अग्नि पर रख कर कोमल आंच से धीरे धीरे पकाना चाहिये। पकाते समय कड़छी से निरन्तर चलाते जाना चाहिये। जिस समय पानी लगभग सुख जाये, औषधियों में से रस निकल आये, दूध का जलना आरम्भ न हो, तब डेग को उतार कर वस्त्र से छान लेना चाहिये। फिर इस दूध को कुछ गरम रखकर घी, तेल आदि चर्बी, मज्जा का मेल आदि मिला कर

वातरोगी को विधिपूर्वक आस्थापन नामक बस्ति दे। दूध के ठण्डा होने पर घी या मधु मिला कर पित्त विकार के रोगी को विधिपूर्वक बस्ति दे। यह मधुर-स्कन्ध हुआ ॥ १३६ ॥

आम्राम्रातक-लकुच-करमर्द-वृक्षाम्लाम्लवेतस-कुवल बदर-दाडिम-मातुलुङ्ग-गण्डीरामलक-नन्दीतक-शीतक-तिन्तिडीक-दन्तशठैरावतक-कोषाम्र-धन्वनानां फलानि, पत्राणि चाम्रातकाश्मन्तक-चाङ्गेरीणां चतुर्विधानां चाम्लिकानां द्वयोः कोलयोश्चाम-शुष्कयोर्द्वयोश्चैव शुष्काम्लिकयोर्ग्राम्यारण्ययोः, वासव-द्रव्याणि च सुरा-सौवीर-तुषोदक-मैरेय-मेदक-मदिरा-मधु-सीधु-शुक्त-दधि-दधिमण्डोदश्विद्धान्याम्लादीनि च ।

अम्लद्रव्यस्कन्ध—आम, आमड़ा, बड़हल (डहु), करौंदा, इमली, अम्लवेतस, कुवल और बदर (बेर के भेद), अनार, बिजौर, गण्डीर (समष्ठिल, काकाम्र) आंवला नन्दीतक (तून), जललोटक (कालमेघ), निम्बु, ऐरावतक (नारंगी), तिन्तिडीक (अमली), कच्चा आम और धन्वन (धामन), दन्तशठ (कैथ) के फल,आम्रातक, अश्मन्तक (कचनार का भेद) और चांगेरी (शाक) इनके पत्ते, चारों प्रकार का इमली, शुष्क आम, दोनों प्रकार के बेर, चार प्रकार की इमली, (ग्राम्य और जंगली शुष्क और आर्द्र भेद से चार प्रकार की) इनके पत्ते, आसव द्रव्य, सुरा, सौवीरक, तुषोदक, मेदक, मदिरा, मधु, सीधु, शुक्त, दही, मस्तु, उदश्वित् , धान्याम्ल आदि।

एषामेवंविधानां चान्येषां चाम्ल-वर्ग-परिसंख्यातानामौषधद्रव्याणां छेद्यानि खण्डशश्छेदयित्वा भेद्यानि चाणुशो भेदयित्वा द्रवैः स्थिराण्यवसिच्य साधयित्वोपसंस्कृत्य यथावत्तैल-वसा-मधु-मज्ज-लवण-फाणितोपहितं सुखोष्णं बस्तिं वात-विकारिणे विधिज्ञो विधिवद्दद्यादित्यम्लस्कन्धः ॥ १३७ ॥

अम्लस्कन्ध में गिने इन और इन के समान अन्य औषध द्रव्यों के टुकड़े करके, छोटा छोटा चूर्ण बना कर सुरा-सौवीर आदि द्रवों से सिंचन करके डेग में रख कर पूर्व की भांति सिद्ध करना चाहिये। सिद्ध होने पर इसमें तेल, वसा, मज्जा, नमक, राब मिलाकर थोड़ी गरम अवस्था में वातरोगी को विधिपूर्वक आस्थापन बस्ति देनी चाहिये। यह अम्लस्कन्ध है ॥१३७॥

सैन्धव-सौवर्चल-कालविड-पाक्यानूप-कूप्य-वालुकैल-मौलक-सामुद्र-रोमकौद्भिदौषर-पाटेयक-पांशुजानीत्येवंप्रकाराणि चान्यानि लवण-वर्ग-परिसंख्यातानि, एतान्यम्लोपहितान्युष्णोदकोपहितानि वा स्नेहवन्ति सुखोष्णं बस्तिं वात-विकारिणे विधिज्ञो विधिवद्दद्यादिति लवणस्कन्धः ॥

लवणस्कन्ध—सैन्धव, सौवर्चल, कालविड्, पाक्य (पाक द्वारा तैयार किया) कूप्य (कुप्पी के आकार में बना), बालुकैल (रेत में से बना), मौलक (मूलों से बना), सामुद्रिक, रोमक (साम्भर प्रदेश में उत्पन्न नमक), औषर (ऊषर भूमि में उत्पन्न), पांशुज (धूली से उत्पन्न) पाटेयक (लवण भेद) इस प्रकार के तथा अन्य लवण वर्ग में गिने हुए अम्लवर्ग से मिश्रित अथवा गरम पानी से मिश्रित घृत तैल आदि स्नेहों से बनी सुखोष्ण बस्ति को वात-रोगी के लिये विधिपूर्वक देना चाहिये। यह लवणस्कन्ध है ॥१३८॥

पिप्पली-पिप्पलीमूल-हस्तिपिप्पली-चव्य-चित्रक-शृङ्गवेर-मरिचाज-मोदार्द्रक-विडङ्ग-कुस्तुम्बुरु-पील-तेजोवत्येला-कुष्ठ-भल्लातकास्थि-हिंगु-किलिम-मूलक-सर्षप-लशुन-करञ्ज-शिग्रुक-खरपुष्प-भूस्तृण-सुमुख-सुरस-कुठेरकार्जक-गण्डीर-कालमालक-पर्णास-क्षवक-फणिज्जक-क्षार-मूत्र-पित्ताना-मेवंविधानां चान्येषां कटुक-वर्ग-परिसंख्यातानामौषधद्रव्याणां छेद्यानि खण्डशश्छेदयित्वा भेद्यानि चाणुशो भेदयित्वा गोमूत्रेण सह साधयि-त्वोपसंस्कृत्य यथावन्मधु-तैल-लवणोपहितं सुखोष्णं वस्तिं श्लेष्मविका-रिणे विधिज्ञो विधिवद्दद्यादिति कटुकस्कन्धः॥ १३९ ॥

कटुक स्कन्ध—पिप्पली, पिप्पलीमूल, गजपिप्पली, चविका, चीता, सोंठ, मरिच, अजवायन, आर्द्रक (अदरख), वायविडंग, हरा धनिया, पीलु, तेजबला, इलायची, कूठ, भिलावा, हींग, देवदारु, मूली, सरसों, लहसुन, करंज, शोभाञ्जन, मीठा सहजन, खुरासानी, अजवायन, (खरपुष्पा, वन तुलसी), कत्तृण, सुमुख, सुरस, अर्जक, काण्डीर, कालमालक, पर्णास, क्षवक, फणिज्जक, (ये सब तुलसी के भेद हैं,) क्षार, मूत्र और पित्त।

ये तथा अन्य कटुवर्ग में गिने हुए द्रव्यों को कूट पास कर गोमूत्र के साथ पका कर, मधु, तेल और लवण से मिश्रित करके सुखोष्ण बस्ति को श्लेष्म रोगी के लिये विधिपूर्वक देना चाहिये। यह कटुकस्कन्ध है।

चन्दन-नलद-कृतमाल-नक्तमाल-निम्ब-तुम्बुरु-कुटज-हरिद्रा-दारुह-रिद्रा-मुस्त-मूर्वाकिरात-तिक्तक-कटुरोहिणी-त्रायमाणा-कारवेल्लिका-करीर-करवीर-केबुक-कठिल्लक-वृष-मण्डूकपर्णी-कर्कोटक-वार्ताकु-कर्कश-काक-माची-काकोदुम्बरिका-सुषव्यतिविष-पटोल-कुलक-पाठा-गुडूची वेत्राग्र-वेतस-विकङ्कत-बकुल-सोमवल्क-सप्तपर्ण-सुमनार्कावल्गुज-वचा-तगरागु-रु-वालकोशीराणामेवंविधानां चान्येषां तिक्तवर्गपरिसंख्यातानामौषधद्र-व्याणां छेद्यानि खण्डशश्छेदयित्वा भेद्यानि चाणुशो भेदयित्वा प्रक्षाल्य पानीयेनाभ्यासिच्य साधयित्वोपसंस्कृत्य यथावन्मधुतैललवणोपहितं

सुखोष्णं बस्तिं श्लेष्मविकारिणे विधिवद्दद्यात्। शीतं तु मधुसर्पिर्भ्यामुपसंस्कृत्य पित्तविकारिणे विधिज्ञो विधिवद्दद्यादिति तिक्तस्कन्धः ॥१४०॥

तिक्तस्कन्ध—चन्दन, उशीर, कृतमाल, नाटा करञ्ज, निम्ब, तुम्बरु, कूड़ा, हल्दी, दारुहल्दी, मुस्ता, मूर्वा, चिरायता, कुटकी, त्रायमाणा, करीर, करवीर, पत्तूर, कर्कटक (करेला), वांसा, मण्डूकपर्णी, कांकरोला, बैंगन, परवल, काको दुम्बर, मकोय, करेला, सुषवी (जंगली करेला), अतीस, परवल, कुणक (परवल का भेद), पाठा, गिलोय, बेंत का अग्रभाग, अम्लवेतस, कुंच, मौलसरी, श्वेत खदिर, सप्तपर्ण, चमेली, आक, बाबची, त्रिफला, तगर, अगरु, उशीर, इन द्रव्यों को वा तिक्त वर्ग में गिने हुए अन्य औषध द्रव्यों को कूट पीस कर पानी से धो कर पानी के साथ पूर्ववत् विधि से पाक करना चाहिये। सिद्ध होने पर इसमें मधु, तेल और नमक मिलाकर हलके गरमबस्ति को विधिपूर्वक श्लेष्म रोगी के लिये देना चाहिये। शीतल होने पर मधु और घी मिला कर पित्त रोगी को देनी चाहिये। यह तिक्तस्कन्ध है ॥ १४० ॥

प्रियंग्वनन्ताम्रास्थ्यम्बष्ठकी-कट्वङ्ग-लोध्र- मोचरस-समङ्गा-धातकी पुष्प-पद्म-पद्मकेशर-जम्ब्वाम्र-प्लक्षप्लक्ष-वटक-पीतनोदुम्बराश्वत्थ-भल्लात-काश्मन्तक-शिरीष-पुष्प-शिंशपा-सोमवल्क-तिन्दुक-पियाल-बदर- खदिर-सप्तपर्णाश्वकर्ण-स्यन्दनार्जुनासनारि मेदैलवालुक-परिपेलव-कदम्ब-शल्लकी-जिङ्गिनी-काश-कशेरुक-राजकशेरुक-कट्फल-वंश-पद्मकाशोक-शाल धव-सर्ज-भूर्ज-शण-खरपुष्पा-पुरशमी-माची-कवरक-तुङ्गाजकर्णाश्वकर्ण-स्फूर्जक-बिभीतक-कुम्भी-पुष्कर-बीज-बिस-मृणाल-ताल-खर्जूर-तरूणामेवंविधानां चान्येषां कषायवर्गपरिसंख्यातानामौषधद्रव्याणां छेद्यानि खण्डशश्छेदयित्वा भेद्यानि चाणुशो भेदयित्वा प्रक्षाल्य पानीयेन सह साधयित्वोपसंस्कृत्य यथावन्मधुतैललवणोपहितं सुखोष्णं बस्तिं श्लेष्मविकारिणे विधिज्ञो विधिवद्दद्यात्। शीतं तु मधुसर्पिर्भ्यामुपसंसृज्य पित्तविकारिणे विधिज्ञो विधिवद् दद्यादिति कषायस्कन्धः १४१ ॥

कषाय स्कन्ध—फूल प्रियंगु, अनन्तमूल, आम की गुठली, पाठा, श्योनाक, लोध, मोचरस, मंजीठ, धाय के फूल, पद्म, कमल का केशर,जामुन, आम, पिलखन, बड़, कपीतन, गूलर, पीपल, भिलावा, पाषाणभेद, सिरस, शीशम, खैर, तिन्दुक, पियाल, बेर, खैर (लाल), सप्तपर्ण, अश्वकर्ण (पलाश), तिनिश, अर्जुन, असन, विट्, खदिर, तेजबल, कैवर्तमुस्ता, कदम्ब, शल्लकी, जिंगण, कास, कसेरु, राजकसेरु, कायफल, बांस, पद्माख, अशोक , साल, धव, सर्जवृक्ष, भोजवल्कल, वृक्ष, तुलसी, शमी, देवदारु, बोरोक, पुंनाग, शाल भेद, बड़ा

शाल, तिन्दुक, बहेड़ा, कायफल, कमल गट्टा, बिस, मृणाल, ताड़, खजूर, चौकार इन या कषाय वर्ग में गिने हुए अन्य द्रव्यों को कूट पीस कर पानी से धो कर पानी के साथ पूर्ववत् पकाना चाहिये। सिद्ध होने पर मधु-तेल और लवण मिलाकर विधिपूर्वक श्लेष्मा के रोगी को कवोष्ण बस्ति देनी चाहिये। शीतल होने पर घी और शहद मिला कर पित्तविकार के रोगी को देना चाहिये। यह कषाय स्कन्ध कह दिया ॥१४१॥

तत्र श्लोकाः—षड्वर्गाः परिसंख्याता य एते रसभेदतः।
आस्थापनमभिप्रेत्य तान् विद्यात्सार्वयौगिकान् ॥ १४२ ॥
सर्वशो हि प्रणिहिताः सर्वरोगेषु जानता।
सर्वान् रोगान्नियच्छन्ति येभ्य आस्थापनं हितम् ॥ १४३ ॥
येषां येषां प्रशान्त्यर्थं ये ये ते परिकीर्तिताः।
द्रव्यवर्गा विकाराणां तेषां ते परिकोपनाः ॥ १४४ ॥
इत्येते षडास्थापनस्कन्धा रसतोऽनुविभज्य व्याख्याताः।

आस्थापन बस्ति के अभिप्राय से रसों के भेद से जो ये छः वर्ग कहे हैं, इन छः स्कन्धों को आस्थापन बस्ति से अच्छे होने वाले सब रोगों में लागू होने वाले समझने चाहिये। क्योंकि दोष, दूष्य, देश, काल, मात्रा आदि की अपेक्षा करके औषध-उपयोग को जानने वाले वैद्य द्वारा जिन रोगों के लिये आस्थापन विधि हितकारी है, उन रोगों में प्रयुक्त किये हुए यह छः वर्ग सब रोगों का शमन करते हैं। जिन जिन विकारों की शान्ति के लिये जो जो द्रव्यवर्ग नहीं कहे हैं, वे २ उन २ रोगों को कुपित करते हैं, शान्त नहीं करते। इस प्रकार से छः आस्थापन-स्कन्धों को रसों के अनुसार विभाग करके कह दिया ॥१४२-१४४॥

तेभ्यो भिषग्बुद्धिमान् परिसंख्यातमपि यद्यद् द्रव्यमयौगिकं मन्येत तत्तदपकर्षयेत्, यद्यच्चानुक्तमपि यौगिकं वा मन्येत तत्तद् विदध्यात्। वर्गमपि वर्गेणोपसंसृजेदेकमेकेनानेकेन वा युक्तिं प्रमाणीकृत्य। प्रचरणमिव भिक्षुकस्य बीजमिव कर्षकस्य सूत्रं बुद्धिमतामल्पमप्यनल्पज्ञानायतनं भवति। तस्माद् बुद्धिमतामूहापोहवितर्काः। मन्दबुद्धेस्तु यथोक्तानुगमनमेव श्रेयः। यथोक्तं हि मार्गमनुगच्छन् भिषक् संसाधयति वा कार्यमनतिमहत्त्वाद्वा निपातयत्यनतिह्रस्वत्वादुदाहरणस्येति ॥ १४५ ॥

बुद्धिमान् वैद्य इन वर्गों में गिने हुए जिस द्रव्य को अयौगिक समझे उसको निकाल देवे और न कहे हुए जिस द्रव्य को यौगिक समझे उसको इनमें मिला लेवे। युक्ति के अनुसार दोष-दूष्य की विवेचना करके एक वर्ग को एक, अथवा

अनेक वर्ग के साथ मिला कर प्रयोग करे। भिक्षुक के विचरने के समान और किसान के बीज की तरह यह अल्प कथन भी बुद्धिमानों के लिये बड़ा ज्ञानप्रद है, क्योंकि बुद्धिमान् व्यक्ति ऊहापोह (यह इस प्रकार है, यह इस प्रकार नहीं है, इस प्रकार के तर्क) और वितर्क प्रमाण-युक्ति में कुशल होते हैं। मन्द-बुद्धि वाले व्यक्ति को कथनानुसार ही कार्य करना श्रेयस्कर है। क्योंकि इस प्रकार का मन्द बुद्धि वाला भिषक्, उपदेश के न बहुत संक्षिप्त और न बहुत विस्तार होने से, विना ऊहापोह के भी यथोक्त मार्ग का अनुसरण करता हुआ कार्य में सफलता प्राप्त कर लेता है ॥१४५॥

अतः परमनुवासनद्रव्याण्यनुव्याख्यास्यन्ते—अनुवासनं तु स्नेह एव। स्नेहस्तु द्विविधः—स्थावरो जङ्गमात्मकश्च। तत्र स्थावरात्मकः स्नेहस्तैलमतैलं च। तद् द्वयं तैलमेव कृत्वोपदिश्यते, सर्वतस्तैलप्राधान्यात्। जङ्गमात्मकस्तु—वसा, मज्जा, सर्पिरिति ॥ १४६ ॥

तेषां तु तैल-वसा-मज्ज-सर्पिषां तु यथापूर्वं श्रेष्ठं वात-श्लेष्म-विकारेष्वनुवासनीयेषु, यथोत्तरं तु पित्तविकारेषु, सर्व एव वा सर्वविकारेष्वपि च योगमुपयान्ति संस्कारविशेषादिति ॥ १४७ ॥

इसके आगे अनुवासन द्रव्यों की व्याख्या करेंगे। अनुवासन का अर्थ स्नेह है। स्नेह दो प्रकार का है स्थावर और जंगम। इनमें स्थावर स्नेह दो प्रकार का है। जैसे—तैल (तिलों से उत्पन्न हुआ) और अतैल (तिलों से न उत्पन्न हुआ), इन दोनों को तैल शब्द से ही कह देते हैं, क्योंकि सब तैलों में तिल के तैल की ही प्रधान है। जांगम स्नेह वसा, मज्जा और सर्पि (घी) हैं। तैल, वसा, मज्जा और घी इन में पूर्व की वस्तु उत्तर वस्तु से श्रेष्ठ है अर्थात् घी से मज्जा, मज्जा से वसा और वसा से तैल श्रेष्ठ है। यह नियम वात और कफ के विकारों के लिये है। पित्तजन्य विकारों में उत्तरोत्तर वस्तु (तैल से वसा; वसा से मज्जा और मज्जा से घी) श्रेष्ठ है। अथवा सब ही स्नेह सब रोगों में विशेष संस्कार से (उस उस दोषहर द्रव्य के सहयोग से) उपयुक्त बन जाते हैं ॥ १४६–१४७ ॥

शिरोविरेचनद्रव्याणि पुनरपामार्ग-पिप्पली-मरिच-विडङ्ग-शिग्रुशिरीष-कुस्तुम्बुरु-पिल्वजाज्यजमोद-वार्ताकी-पृथ्वीकैला-हरेणुका-फलानि च। सुमुख-सुरस-कुठेरक-गण्डीरक-कालमालक-पर्णास-क्षवक-फणिज्जक-हरिद्रा-शृङ्गवेर-मूलक-लशुन-तर्कारी-सर्षप-पत्राणि च, अर्कालर्क-कुष्ठ-नागदन्ती-वचा-मार्गी-श्वेता-ज्योतिष्मती-गवाक्षी-गण्डीर-पुष्पी-वृश्चिकाली-वयस्थातिविषा-मूलानि च, हरिद्रा-शृङ्गवेर-मूलक-लशुन-

कन्दाश्च, लोध्र-मदन-सप्तपर्ण-निम्बार्क-पुष्पाणि च, देवदार्वगुरु-सरल-शल्लकी जिङ्गिन्यसन-हिंगु-निर्यासाश्च, तेजोवती-वराङ्गेङ्गुदी-शोभाञ्जन-बृहती-कण्टकारिका-त्वचः।

शिरोविरेचन द्रव्य—अपामार्ग, पिप्पली मरिच, वायविडंग, शोभांजन, शिरस, हरा धनिया, बेलगिरी, अजवायन, काला जीरा, वार्ताकी, बड़ी इलायची, छोटी इलायची, रेणुका इनके फल, सुमुख, सुरस, कुठेरक, गण्डीर, कालमालक, पर्णास, क्षवक, फणिज्झक (तुलसी के भेद), हल्दी, सोंठ, मूली, लहसुन, जयन्ती और सरसों इनके पत्ते। आक, लाल फूल का आक, कूठ, नागबला, वच, अपामार्ग, मालकंगनी, इन्द्रायण, रामठ, मधुरिका (सौंफ), वृश्चकाली, ब्राह्मी, और अतीस इनके मूल। हल्दी, आर्द्रक, मूली और लहसुन इनके कन्द। लोध, मैनफल, सप्तपर्ण नीम और आक इनके फूल। देवदारु, अगर, शल्लकी, सरलवृक्ष, जिंगण, असन और हींग इनका गोंद, तेजबल, दालचीनी, इंगुदी, शोभांजन, बड़ी कटेरी और छोटी कटेरी इनकी छाल।

इति शिरोविरेचनं सप्तविधं फल-पत्र-मूल-कन्द-पुष्प-निर्यास-त्वगाश्रयभेदात्। लवण-कटु-तिक्त-कषायाणि चेन्द्रियोपशयानि तथाऽपराण्यनुक्तान्यपि द्रव्याणि यथायोगविहितानि शिरोविरेचनार्थमुपदिश्यन्त इति ॥ १४८ ॥

शिरोविरेचन * सात प्रकार का है—फल, पत्ते, मूल, कन्द, पुष्प, निर्यास (गोंद) और त्वचा भेद से। लवण, कटु और तिक्त एवं, कषाय ये रस इन्द्रिय चक्षु आदि को शान्त करने वाले हैं; उपघातक नहीं है। इस प्रकार के अन्य यहां पर न गिने हुए, द्रव्यों का दोष-दूष्य की अपेक्षा से योग के लिये अनुकूल जानकर शिरोविरेचन कार्य में उपयोग कर लेना चाहिये ॥१४८॥

तत्र श्लोकाः—लक्षणाचार्यशिष्याणां परीक्षाकारणं च यत्।
अध्येयाध्यापनविधिः संभाषाविधिरेव च ॥ १४९ ॥
षड्भिरूनानि पञ्चाशद्वादमार्गपदानि च।
पदानि दश चान्यानि कारणादीनि तत्त्वतः ॥ १५० ॥
संप्रश्नश्च परीक्षादेर्नवको वमनादिषु।
भिषग्जितीये रोगाणां विमाने संप्रदर्शितः ॥ १५१ ॥
बहुविधमिदमुक्तमर्थजातं बहुविधवाक्यविचित्रमर्थकान्तम्।

* सुश्रुत में आठ प्रकार के शिरोविरेचन द्रव्य माने हैं। इनमें आठवां 'सार' गिना है।

बहुविधशुभशब्दसंधियुक्तं बहुविधवादनिपूदनं परेषाम् ॥१५२॥
इमां मतिं बहुविधहेतुसंश्रयां विजज्ञिवान्परमतवादसूदनीम् ।
न सज्जते परवचनावमर्दनैर्न शक्यते परवचनैश्च मर्दितुम् ॥१५३॥
दोषादीनां तु भावानां सर्वेषामेव हेतुमत् ।
मानात्सम्यग्विमानानि निरुक्तानि विभागशः ॥ १५४ ॥

शास्त्र, आचार्य और शिष्य की परीक्षा, परीक्षा का कारण, अध्ययन और अध्यापन विधि, (शिष्य-आचार्य विधि), तद्विद्य संभाषाविधि, चवालीस वाद मार्ग, कारण, करण आदि दस पद, वमन आदि परीक्षायें, परीक्षा के प्रकार, तथा नौ प्रश्न इस रोग-भिषग्जितीय अध्याय में भगवान् आत्रेय ने पूर्णरूप से कह दिये हैं।

बहुत प्रकार के वाक्यों से विचित्र, अर्थ में सुन्दर, बहुत प्रकार के शुभ शब्दों की संधि योजना से बनाये, दूसरों के बहुत प्रकार के वाद को हटाने वाले नाना तत्त्व यहां पर भगवान् आत्रेय ने कहे हैं।

नाना प्रकार की युक्ति से युक्त, दूसरों के मत को निराकरण करने वाली, यहां पर कही इस बुद्धि को जान कर वैद्य, दूसरों के वचनों का विमर्दन करने में समर्थ होता है। दूसरों के वचनों से पराजित नहीं हो सकता है। इनके ज्ञान से वैद्य सभा में वाक्चातुर्य से दूसरों को परास्त करता है, उनसे पराजित नहीं होता।

विमान स्थान की निरुक्ति—

दोष आदि सब भावों के युक्तिपूर्वक समस्त मान, एक एक करके कह दिये हैं। दोष आदि का विशेष रूप से मान अर्थात् ज्ञान 'विमान' है। इस विमान का यहां पर उपदेश किया है, इसलिये इसको विमान-स्थान कहते हैं।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते विमानस्थाने रोगभिषग्जितीय-
विमानं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इति विमानस्थानं समाप्तम् ।

मु०—पं० बैकुंठनाथ भार्गव, आनन्दसागर प्रेस, गायघाट, बनारस ।

लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, पुस्तकालय
Lal Bahadur Shastri National Academy of Administration Library

मसूरी
MUSSOORIE

अवाप्ति सं०
Acc. No... ....

कृपया इस पुस्तक को निम्नलिखित दिनांक या उससे पहले वापस कर दें।

Please return this book on or before the date last stamped below.

दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No	दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No

125794
LBSNAA

H
615.536
चरक
खण्ड एक
अग्निवेश
चरक संहिता ।
14071

H
615.536
चरक
भाग-1

LIBRARY
LAL BAHADUR SHASTRI
National Academy of Administration
MUSSOORIE

Accession No 125794

1 Books are issued for 15 days only but may have to be recalled earlier if urgently required
2 An over due charge of 25 Paise per day per volume will be charged
3 Books may be renewed on request, at the discretion of the Librarian
4 Periodicals Rare and Reference books may not be issued and may be consulted only in the Library
5 Books lost, defaced or injured in any way shall have to be replaced or its double price shall be paid by the borrower

Help to keep this book fresh, clean & moving